वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प

श्री विद्यानदाचार्य प्रणीत

अष्टसहस्री

[प्रथम भाग]

हिन्दी भाषानुवाद सहित

卐

भाषानुवाद कर्त्री

परमविदुषीरत्न चतुरनुयोगममज्ञा
प्रखरप्रवक्त्री बालब्रह्मचारिणी

पूज्य आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

(आचाय श्री धमसागर जी सघस्थ प्रधान आर्यिका)

सम्पादक

मोतीचन्द जन सर्राफ
शास्त्री न्यायतीथ
(आ श्री धमसागरजी सघस्थ)

रवीन्द्रकुमार जन
शास्त्री बी ए (टिकतनगर)
(सघस्थ)
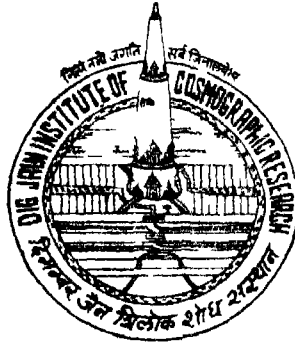
प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान

प्रथम सस्करण	द्वि भाद्रपद शुक्ला १४	मूल्य
११ प्रतिया	वीर निर्वाण सवत २५	५१) रु०
ई सन् १९७४	वि० स २ ३१	

भगवान महावीर के २५ सौवें निर्वाणमहोत्सव के मगलअवसर पर

पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी की पुनीत प्रेरणा से सस्थापित

दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान, के अतर्गत

वीरज्ञानोदय ग्रंथमाला

इस ग्रन्थमाला मे दि जन आष माग का पोषण करने वाले हिन्दी सस्कृत क नड आदि भाषाओ के न्याय, सिद्धात अध्यात्म भूगोल खगोल व्याकरण इतिहास आदि विषयो पर लघ एव वहृद ग्रन्थो का मूल एव अनुवाद सहित प्रकाशन हागा ।

समय समय पर धार्मिक- लोकोपयोगी लघ पुस्तिकाए भी प्रकाशित होती रहेगी ।

ग्रन्थमाला सपादक

मोतीचद जन सर्राफ
शास्त्री न्यायतीथ

रवी द्रकुमार जन
शास्त्री बी ए

स्थापनाब्द
कार्तिक कृष्ण अमावस्या
वीर निर्वाण स २४९८
वि स २ २६
ई० सन् १९७२

प्रकाशन कार्यालय
दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) U P

मुद्रक—एस नारायण एण्ड संस प्रिन्टिग प्रेस ७११७/१८ पहाडी धीरज दिल्ली ६

अनुक्रम दर्पण

तत्वोपप्लववाद का खण्डन

तीथच्छद सप्रदाय वालो का खण्डन

अद्व तवादियो का खण्डन

दोष आवरण के अभाव पूवक सवज्ञ सिद्धि

चार्वाक मत खडन

चर्वाक मत निरास

ज्ञान अस्वसविदित नहीं है

सांख्य द्वारा मा य मोक्ष का खडन

वैशेषिक द्वारा मा य मोक्ष का खडन

प्रस्तावना

नम श्री स्याद्वाद विद्यापतये

यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है इतना ही नही इतर सिद्धात व्याकरण साहित्य चरणानुयोग करणानुयोग प्रथमानुयोग आदि ग्रथो मे प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन हैं। द्वादशाग वाणी मे दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अग है उससे प्रसत यह यायशास्त्र है। यायशास्त्र के द्वारा सिद्धात समर्थित विषया को कसोटी म कसकर सिद्ध किया जाता है। सिद्धात प्रतिपादित तत्त्वो मे प्रामाणिकता किस प्रकार है इसे याय शास्त्र प्रतिपादन करता है। वस्तु का सर्वांश स सर्वांग से यथाथ दशन यायशास्त्र के द्वारा होता है। यायशास्त्र की आधार शिला स्याद्वाद या अनेकात है तो प्रमाण व नय उसके दा पख हैं। नय प्रमाणरूपी पखा का धारण कर स्याद्वाद यथच्छ सवत्र जल स्थल आकाश मे भ्रमण कर सकता है। उसे कोई भी किसी भी क्षत्र मे राकने के लिए समथ नही है। उसकी गति निर्बाध है उसकी गति आतक रहित वेगवती है। उसमे उपरोध करने वाली कार्ड शक्ति ससार मे नही है।

ससार म युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले हर विषय का विवादास्पद बना सकते है। उसे उस कथन को एव युक्ति का तक की कसाटी मे कसकर दखना हागा कि वह सम्यक है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र स अविरोध जो वचन है वह सम्यक तक है। तक म तक भी हाता है कुतक भी होता है। परन्तु सुतक ग्राह्य है उपादेय है परतु कुतक त्याज्य है निषध्य है सुतक या तक के द्वारा द्रव्य की प्रतिष्ठा हाती है द्रव्य म द्र यत्व की सिद्धि गुण म गुणत्व की सिद्धि पर्याय मे उत्पाद यय की सिद्धि आदि सभी तक पूण दष्टि से होती है अनुदिन के बोलन वाल वचनो मे भी याय का पुट लगना चाहिये अ याय पूण वचनो से विवाद कलह सघष उत्पन्न हाते हैं। इसलिए युक्ति शास्त्र से अविरोध वचनो से पूण याय पथ से चलने को ही बोलने क लिए मनुष्य को सीखना चाहिये। भगवान समतभद्र ने अहत्परमेश्वर भगवान महावीर की स्तुति करते हुए आप्तमीमासा मे लिखा है कि—

> स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक।
> अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धन न बायध्त ॥

हे भगवन्! आप ही युक्ति और आगम के अविरोधी वचन को बोलते है अतएव निर्दोष हैं। आपके बोलने चलने मे जो अविरोध है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नही है अर्थात स्पष्टतया
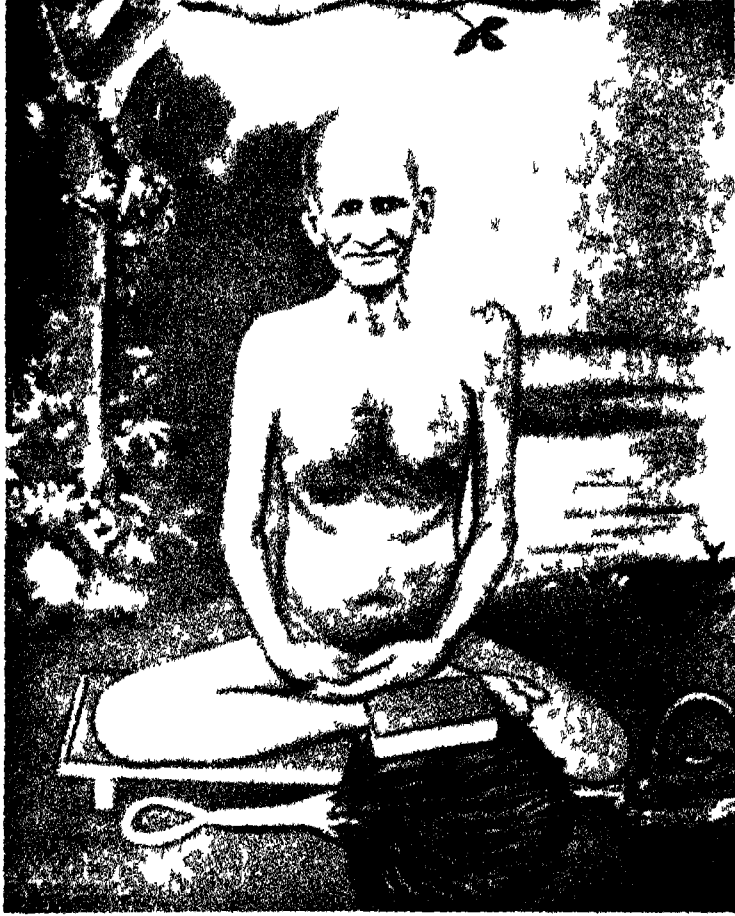
आदर्शरूप से दिखता है आप जसा बोलते हैं वसा ही चलते हैं आपको यह इष्ट है जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नही है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है।

इसलिए सिद्धात शिरोमणि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र मे स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि **प्रमाणनयरधिगम** प्रमाण व नयो से तत्त्व का ज्ञान होता है अर्थात पदार्थों का निर्दोष ज्ञान होता है इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है इस सरणि को छोडकर हम पदार्थों के ज्ञान को ही प्राप्त नही कर सकते है। हमारे ज्ञान मे प्रमाण की सत्ता रहेगी या नयविवक्षा रहेगी या नयाश रहेगा। इसके बिना हम पदार्थों का चतुमु खी ज्ञान नही कर सकते है। पदार्थों का चतुमु खी ज्ञान ही निर्दोष ज्ञान है अविकृत न्शन है।

इसलिए आगम सिद्धात की सिद्धि के लिए लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए स्वमत स्थापन परमत खडन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिए यायशास्त्रो के अध्ययन की आवश्यकता है। इसलिए जनाचार्यों ने इस विषय के भी ग्रन्थो का निर्माण कर भगवान अर्हत्परमेश्वर के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विवेचन को निर्दोष सिद्ध किया है। इन सब कार्यों को करते हुए उन्होने क ही स्याद्वाद साधन का उपयोग किया है। स्याद्वाद या अनेकात के रूप मे सब पदाथ यवस्थित हैं अतएव उनका ज्ञान भी स्याद्वाद या अनेकात से ही ठीक तरह से हो सकता है। स्याद्वाद के बिना हम पदार्थो के ज्ञान से वचित रह जाते है पदार्थों के ज्ञान मे गडबडी होती है हम सशय कल्लोल मे गोता खाते है। इसलिए वस्तु तत्त्व की निर्दोष सिद्धि के लिए स्याद्वाद का ही अवलबन करना चाहिये।

भगवान महावीर की स्तुति करते हुए महर्षि समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि—

अनवद्य स्याद्वाद तव दष्टेष्टाविरोधत स्याद्वाद ।
इतरो न स्याद्वाद सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वाद ॥

(स्वयभूस्तोत्र) १३

जिस स्याद्वाद से पदार्थों की ठीक स्थिति का ज्ञान होता है उसके सबन्ध मे आचाय कहते है कि हे भगवन ! आपका स्याद्वाद निर्दोष है क्योकि वह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणो से अबाधित है अतएव स्याद्वाद है। प्रत्यक्ष अनुमान स्मति तक आदि कोई भी प्रमाण इसे बाधित करने के लिए समथ नही हैं। दूसरे जो एकातवाद हैं उन्हे स्याद्वाद नही कह सकते है उनमें स्यात का प्रयोग नही हो सकता है। इसके अलावा उसमे प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधा भी उत्पन्न होती है। अत वह स्याद्वाद भी नही है। अस्याद्वाद है।

इसलिए न्याय शास्त्रो के निरूपण में मूलाधार स्याद्वाद है। उसके आधार से तत्त्व की वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा हो जाती है।

तत्वों को निर्दोष सिद्धि करते हुए हित प्राप्ति एव अहित परिहार के लिए न्यायशास्त्रो का अध्ययन आवश्यक है। इसी के लिए ही जैनाचार्यों ने न्याय ग्रथों की रचना की है।

इस सम्बन्ध मे विचार करने पर यायशास्त्र की परम्परा का उद्योत करने वाले निम्नलिखित आचार्य अवश्य उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

परम तार्किक श्री अकलकदेव विद्यानदि माणिक्यनदि प्रभाचन्द्र धर्मभूषण वादिराज सूरि आदि का नाम बहुत गौरव के साथ इस दिशा में लिया जा सकता है इन आचार्यों ने अपने अगाध पाँडित्य के द्वारा जैन सिद्धात की समीचोनता का दशन युक्ति और आगम के अविरोधी वचन के द्वारा एव अपने तक कौशल्य के द्वारा कराया यही कारण है कि आज जनदशन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है।

अष्टसहस्री एक महान यायग्र थ

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रन्थ है। इसका मूलाधार देवागम स्तोत्र है। स्वामी समत भद्राचार्य के द्वारा विरचित गधहस्ति महाभाष्य का यह देवागम स्तोत्र मगलाचरण कहलाता है। गंध हस्ति महाभाष्य के सम्ब ध में अन्य ग्रन्थो मे उक्त च कहते हुए उद्धरण मिलता है इसलिए स्वामी समन्तभद्राचाय के द्वारा तत्वाथ सूत्र के ऊपर एक महान भाष्य ग्रन्थ की रचना की गई है यह स्पष्ट है देवागम उसी का यदि मगलाचरण है तो निस्सदेह वह ग्र थ भी विद्यानदि के श्लोक वार्तिकालकार के समान ही महान तार्किक ग्र थ होगा इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचाय श्री ने मगलाचरण की रचना में भी इतनो तक पूण दष्टि रखो है तो मूलग्रन्थ मे न मालम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रन्थ के मगलाचरण पर अकलक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानंदि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिए कि वह ग्रथ सामान्य नही हो सकता है परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज वह अनुपल ध है।

समतभद्र की अनुपम कति

महर्षि समतभद्र की यह अनुपम कृति है इसे देवागम स्तोत्र इसलिए कहते हैं कि इसका प्रारम्भ देवागम पद से होता है जिस प्रकार भक्तामर कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र उन्ही पदों से प्रारम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते हैं इसी प्रकार यह भी देवागम स्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्त मीमांसा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिए ? आप्त मे किन गुणों की आवश्यकता है? इस बात की सुन्दर मीमांसा इस ग्रथ में की गई है अत इसका नाम आप्तमीमांसा ' साथक है।

'आप्तमीमांसा समन्तभद्र' की एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है यह ग्रन्थ आठ सौ श्लोक प्रमाण हैं अत इसका नाम अष्टशती पड गया है अकलंक देव ने यह जो ग्रथ लिखा वह गभीर तक पूर्ण एवं अर्थगर्भित है अनेक स्थानो मे विशद व्याख्या न होने के कारण ग्रन्थ गांभीर्य को विद्वान भी समझने मे असमर्थ रहे इसीलिए तार्किक चूडामणि विद्यानंदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की रचना कर अनेक गत्थियो को स्वैर शली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयो को सरल बनाकर जिज्ञासु हृदयो को आकर्षित ही नही आल्हादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनदि सिद्धातदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रथ भी है जो कि श्लोको का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने मे कोई बाधा नही है यद्यपि अकलक या विद्यानदो के समान गम्भीर तक पूर्ण भाषा से ग्रथ की रचना नही है तथापि अपने स्थान मे उसका महत्त्व है इसमे कोई सदेह नही है।

प्रकृत ग्रथ की महत्ता

यह विद्यानदि कृत अष्टसहस्री सचमुच मे देवागम का विशेष अलकार है अत इसे देवागमालकार के नाम से भी कहते है अथवा अकलकदेवकृत आप्त मीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यान रूप अलकार किया गया है इस दृष्टि से इसे आप्तमीमासालकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। शायद इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री मे विद्यानद स्वामी ने भी इस ग्रथ को अष्टसहस्री के नाम से यत्र तत्र उल्लेख किया है।

ग्रथ की शली अनूठी है। जनेतर तक ग्रथो का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष मे रखकर ग्रथ मे अकाटय युक्तियो के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रथकार ने कुमारिल भट्ट प्रज्ञाकर धमकीर्ति आदि मोमासक बौद्ध सिद्धातो का जिस तक के साथ खडन किया है वह अजोड है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमासा श्लोकवार्तिक मे सवज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

सुगतो यदि सवज्ञ कपिलो नेति का प्रमा।
तावभौ यदि सवज्ञौ मतभेद कथ तयो ॥

यदि सुगत सर्वज्ञ है तो कपिल सवज्ञ क्यो नही है। उसके निषध मे प्रमाण क्या है ? यदि वे दोनो सवज्ञ हैं तो उनमे मतभेद क्यो ? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनो सवज्ञ नही हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय वह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रथकारके सामने था इसलिए उन्होंने भावना विधि व नियोग को वाक्यार्थ निषेध करने मे उसी युक्ति का प्रयोग कर खडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतो भट्टप्रभाकरौ ।
कार्येर्थे चोदना ज्ञान स्वरूपे किन्न तत्प्रमा द्वयोश्चेद्धत तौ नष्टौ भट्टवेदांतवादिनौ ॥

यदि भावना श्रुति वाक्य का अथ है तो नियोग नहीं है इसमे क्या प्रमाण है यदि दोनो ही श्रुति वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धात नष्ट होता है । इसी प्रकार नियोग श्रु तिवाक्य का अथ है तो विधि क्यो नहीं है ? इसमे प्रमाण क्या है ? यदि दोनो श्रतिवाक्य के अथ हैं तो भट्ट व वेदाती दोनो का सिद्धात खडित हो जाता है ।

अष्टसहस्री मे स्थान स्थान पर इसी प्रकार की तकणा शैली के द्वारा स्वमत सिद्धात का मडन किया गया है । भाषा सौष्ठव सरलता युक्तियुक्त कथन गभीर शली कोमल प्रहार आदि बातो का विचार करने पर समग्र यायससार में इसकी बराबरी करन वाला अन्य ग्र थ नही है यह कहे तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

अष्टसहस्री की तकणा शैली अद्वितीय है । खडन मडन पद्धति मनोहारिणो है । सूक्ष्मतल स्पर्शी सिद्धांत का निरूपण है । विद्वत्ससार को चकित करने वाली मीमासा है ।

स्वय अष्टसहस्री मे ग्र थकार ने ग्र थ के सबध मे स्पष्ट किया है कि —

स्फुटमकलकपद या प्रकटयति परिचेतसामसमम ।
दर्शितसमन्तभद्र साष्टसहस्री सदा जयतु ॥

अर्थात अकलक के अत्यत दगम्य पदो का जो स्पष्टीकरण करती है समतभद्र की दिशाओ को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवत रहे ।

इससे स्पष्ट है कि ग्रथ मे स्थान स्थान पर समतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है । अष्टशती मे यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पक्तिया अष्टसहस्री मे उपलब्ध होती है एव उनकी विशद व्याख्या इस ग्र थ मे की गई हैं । इसकी शली अत्यत गभीर व प्रसन्न है गभीर इसलिए की वह गूढ है प्रसन्न इसलिए कि स्वय व दूसरो के लिए खदजनक नही है । सभ्य मृद मधर सतुलनात्मक शब्दो से यह ग्रथित है । इसलिए ग्र थ मे एक स्थान पर कहा गया है कि —

जीयादष्टसहस्री देवागमसगतार्थमकलकम ।
गमयन्ती सन्नयत प्रसन्नगभीरपदपदवी ॥

देवागम स्तोत्र मे समतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है जिसे अकलक देव ने समर्थन किया है जिसमे प्रसन्न गभीर पदो का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमासालकृति अष्टसहस्री सदा जयवत

रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशसा नही है अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की दिशा को प्रतिपादन करने वाला इसकी तुलना करने वाला अन्य ग्रथ नही है।

इस ग्रथ मे सशय विपर्यय वैयधिकरण्य व्यतिकर आदि दोषो का उद्भावन कर पूर्व पक्ष मे परमत का मडन कर खडन किया गया है एव स्वमत का मडन किया गया है। सर्वज्ञ अभाव वादियो को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सवज्ञ की सिद्धि करते हुए आचाय ने मनोरम शली से ग्रथ को प्रवाहित किया है। निस्सदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अन्यत्र दलभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थ समथन है। इस ग्रथ के अध्ययन से अनेक विषयो का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयो मे वह निष्णात विद्वान बन जाता है। इस गौरव मय व्याख्यान के सबध मे स्वय ग्रथकार ने वणन किया है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुत किमन्य सहस्रसख्यान।
विज्ञायेत ययव स्वसमयपरसमयसद्भाव॥

हजार शास्त्रा के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सव इष्टाथ की सिद्धि हा सकती है जिसके सुनने से स्वसमय क्या है पर समय क्या है इसका अन्यून बोध हो जाता है। यह इस ग्रथ का विषय है।

इस ग्रथ के कर्ता महर्षि विद्यानदि

इस ग्रन्थ की रचना महर्षि विद्यानदि ने को है। विद्यानदि यतिपति के ऐतिह्य का पता लगाने पर ज्ञात हाता है कि आप वदिक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होन पर जैनमाग के अकाटय तक व सयुक्तिक कथन से आकर्षित होकर इस पवित्र धम मे आये एव अपनी विद्वत्ता व तकणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रन्थो की रचना कर जन न्याय ससार की श्री वृद्धि की है।

उनके द्वारा विरचित ग्रथ सपत्ति का उल्लेख यहा पर करना अप्रस्तुत नही होगा।

(१) विद्यानद महोदय (२) तत्त्वाथ श्लोकवार्तिक (३) अष्टसहस्री (४) युक्त्यनुशासनालकार (५) आप्त परीक्षा (६) प्रमाण परीक्षा (७) पत्र परीक्षा (८) सत्यशासन परीक्षा (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र इस प्रकार ९ ग्रथो की रचना का उल्लेख मिलता है इन ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय यो कराया जाता है।

(१) **विद्यानंद महोदय**—यह विद्यानदि आचार्य के द्वारा विरचित शायद प्रथम रचना है क्योकि उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे इसका प्राय उल्लेख आता है इतना ही नही विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानदि के बाद करीब पाच सौ वर्षों तक यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिक रूप बृहद्भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य है उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस पर पूज्यपाद अकलक भास्करनदी श्रुत सागर आदि अनेक विद्वानो ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमासा श्लोकवार्तिक का यह बेजोड़ जवाब है यह विद्यानदि यतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

अष्टसहस्री—प्रकृत ग्रन्थ है। यह समतभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमासा पर टीकालकृत भाष्य है। इस ग्रन्थ मे आचाय ने अकलक ग्रन्थ की दुरूह गुत्थियो को अच्छी तरह लीलामात्र से सुलझाया है। पाठको को इसके अध्ययन से सहज ज्ञात हो जावेगा।

युक्त्यनुशासनालकार—आचाय समतभद्र के द्वारा विरचित तकपूण स्तोत्र ग्रन्थ की यह टीका ग्रन्थ है। महर्षि विद्यानदि ने अपनी ही शली से इसमे युक्ति प्रयुक्तियो स भगवत की उपासना की है।

आप्त परीक्षा—इस ग्रन्थ मे महर्षि विद्यान द ने—

> **मोक्षमागस्य नेतार भेत्तार कमभूभताम।**
> **ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वदे तवगुणलब्धये॥**

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली स आप्त की परीक्षा की है। वस्तुत अर्हत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते है इस बात की सुन्दर सिद्धि आचाय देव ने इस ग्रन्थ मे की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से ग्रन्थ के हृद्य को समझने मे बडी सहूलियत हो गई है।

प्रमाण परीक्षा—इस ग्रन्थ मे इतर दशनो के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणो के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए जनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप मे विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम साथक है।

पत्र परीक्षा—यह विद्यानदि के द्वारा विरचित गद्य पद्यमय रचना है इसमे साध्य के लिए उपयुक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए स्वमत की स्थापना एव परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानदि को जैनधम की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आसक्ति ही उत्पन्न हो गई थी।

सत्यशासन परीक्षा—यह ग्रन्थ अपूर्ण उपलब्ध होता है प्रकाशित भी है इसमे पुरुषाद्वत आदि १२ इतर शासनो की परीक्षा करने का सकल्प आचाय ने व्यक्त किया है परन्तु ६ की ही मीमासा की गई है, शायद आचाय की यह अतिम कृति है बीच मे ही आयु का अत हो गया हो इसे पूण न सके हो अनेकात शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध है शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यानदि की लेखनी से हम अत्यधिक सम्पन्न स्थिति मे देख सकते थे परतु दुर्भाग्य है।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—यह श्रीपुर 'सिरपुरअन्तरिक्ष' पार्श्वनाथ का नामांतर है। अथवा उसी का अपभ्रंश होकर सिरपुर हो गया है। इस सातिशय पार्श्वनाथ जिनबिंब की तर्कपूर्ण शैली से इस स्तोत्र में स्तुति की गई है यद्यपि यह स्तोत्र अत्यन्त लघुकाय है तथापि अर्थगर्भित है महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना कर विद्यानंद स्वामी ने अपनी सम्यक्त्व निष्ठा को व्यक्त किया है। वे जिनमत के निस्सीम व सुदृढ उपासक थे इस विषय का अनुभव उनकी पंक्तियों के अध्ययन में निश्चित रूप से हो जाता है।

स्व न्यायाचार्य प माणिकचंद जी तर्क रत्न कहते थे कि बनारस विद्यालय के न्यायाध्यापक न्याय विषय के प्रकांड विद्वान प अंबादास जी विद्यानंदि की तर्कणा शैली से अत्यन्त प्रभावित थे ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के विरोध मे उन्होंने अपने ग्रन्थों मे जो युक्तियों का प्रयोग किया है वह अन्यत्र देखने मे नहीं आते शायद विद्यानंद जी ईश्वर के पीछे डंडा लेकर ही चल पड़े थे जिससे उनके अनेक ग्रंथों मे इस विषय का अकाट्य सिद्धांत देखने को मिलता है।

स्व न्यायाचार्य प महेन्द्रकुमार जी जो हमारे सहपाठी थे उन्होंने अपने एक निबन्ध मे निबद्ध किया था कि— तर्क ग्रन्थ के अभ्यासी विद्यानंद के अतुल पाण्डित्य तलस्पर्शी विवेचन सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा (मृदुमधुर गंभीर) मे गूंथे गये युक्ति जाल से परिचित होंगे। उनके प्रमाण परीक्षा पत्र परीक्षा आप्त परीक्षा आदि प्रबंध अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबंध है ये ही निबंध एवं विद्यानंद के द्वारा विरचित अन्य ग्रंथ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे न्याय ग्रन्थ के आधारभूत है इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि श्वे न्याय ग्रन्थों पर अमिट छाप लगाये हुये है। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानंदि के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा।

स्व प महेन्द्रकुमार जी का कथन सचमुच मे विद्यानंद के ग्रन्थों पर संक्षेप मे अपितु वस्तु का दर्शक है आचार्य विद्यानंदि उसी कोटि के विद्वान् थे।

श्वेतांबर सम्प्रदाय के माने हुये विद्वान् प्रज्ञाचक्षु प्रज्ञाविवेकी प सुखलाल जी ने एक स्थान पर लिखा है कि तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक मे (विद्यानंद विरचित) जितना जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है वैसा तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी किसी की टीका मे नहीं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक मे चर्चित हुए कोई विषय छूटे नहीं बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है। राजवार्तिक मे दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक मे इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है समग्र जैन वाङ्मय मे जो थोड़ी बहुत कृतियां

महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतिया राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक भी हैं। 'तत्त्वार्थ सूत्र पर उपलब्ध श्वेतांबर साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता।'

प० सुखलाल जी का यह कथन सचमुच मे अथ पूण है। एव विद्यानद के अद्भत विद्वता को सूचित करने के लिए पर्याप्त है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर प्रभाव

यह असामान्य प्रभाव उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओ पर भी निश्चित रूप से पडा है अनेको ने विद्यानंद की शैली को अपनाया है तो अनको ने विद्यानन्द के वचनो का उद्धरण किया है अनेको ने विद्यानद के निमल आचार एव वाग्वलय की प्रशसा की है।

श्रीमद विद्यानन्द के ग्रन्थो का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे केवल न्यायशास्त्र के ही प्रकाड पडित नही थे अपितु व्याकरण साहित्य छद व सिद्धात के भी निष्णात विद्वान थ इसलिये उन्होने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनका समावेश अपने ग्र थो म किया है अत उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने उनके उद्धरण को महत्त्व दिया हो तो आश्चय की बात नही है।

उत्तरवर्ती ग्र थकार माणिक्यनदि वादिराजसूरि प्रभाचद्र अभयदेव वादिदेवसूरि हेमचद्र लघु समतभद्र धमभूषण यशोविजय आदि विद्वानो ने अपने ग्रन्था मे विद्यानन्द के ग्रन्थो से मागदशन प्राप्त किया है। इतना ही नही कही कही विद्यान द के उद्धरणो को भी स्थान दिया है। अनेक उत्तर वर्ती ग्रन्थकारो ने विद्यानद के विद्या वभव की प्रशसा करते हुए अपने ग्र थ श्री की शोभा बढाई है।

न्यायविनिश्चय मे ग्रथकार ने निम्न श्लोक के द्वारा विद्यान द भी प्रशसा की है।

देवस्य शासनमतीवगभीरमतत
तात्पयत क इह बोधमतीवदक्ष ।
विद्वान न चेत सदगुणचद्रमुनिर्न विद्या
नदोऽनवद्यचरण सदनत बोध ॥

[न्यायविनिश्चय]

भगवान अकलक देव के गभीर वचनो की गु त्थियो को अगर निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले विद्यानद न होते तो कौन समझने मे समर्थ होता ? सचमुच मे यह विद्यानद का ही प्रसाद है उन्होंने अष्टसहस्री ग्र थ में उसका रहस्योदघाटन किया है ।

---

१ प सुखलाल जी ने तत्त्वाथ सूत्र की प्रस्तावना मे यह निर्देश किया है। इसलिए विद्यानद की इसी विषय की कृति का इसमें विवेचन है।

वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित में श्री विद्यानद की प्रशसा करते हुए लिखा है कि

ऋजुसूत्र स्फुरद्रत्न विद्यानंदस्य विस्मय
शृण्वतामप्यलकार दीप्तिरंगेषु रगति ।। [अ १ श्लोक २८]

विद्यानंद के सरल सतेज दार्शनिक विचारो को सुनने मे भी बहुत बडा आनद आता है वह भी अपने शरीर में अलकार के रूप मे परिवर्तित होता है तो उसके अध्ययन व अनुभव मे न मालूम कितना आनद होता होगा ।

इस प्रकार उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारो ने विद्यानद का उल्लेख अपने ग्रथो मे गौरवपूवक किया है ।

प्रमाण परीक्षा के प्रारभ मे मगलाचरण के रूप श्री जिनेश्वर की वदना करते हुए अपने नाम का दिग्दशन करात हुए विद्यानद स्वामी ने जिनश्वर का विशेषण उस विद्यानद पद को किया है ।

जयति निर्जिताशेषसवथकालनीतय ।
सत्यवाक्याधिपा शश्वद्विद्यानदा जिनेश्वरा ।।

[प्रमाणपरीक्षा ममलाचरण]

इन उद्धरणो से विद्यानद की महत्ता सहज समझ मे आ सकती है । पत्र परीक्षा के अत मे विद्यानद की प्रशसा म निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है ।

जीयान्निरस्तनिश्शेषसवथकातशासनम
सदा श्रीवदधमानस्य विद्यानदस्य शासनम ।।

इसम विद्यान द न अपन नाम का उल्लेख करत हुए भी भगवान महावीर के लिए विद्यानद विशेषण का प्रयोग किया है ।

आप्त परीक्षा की प्रशस्ति म स्वय विद्यानन्द न लिखा कि —

स जयतु विद्यानदो रत्नत्रयभूरिभूषणस्सततम
तत्त्वार्थार्णवतरण सदुपाय प्रकटितो येन ।।

रत्नत्रय के द्वारा विभषित समथ विद्यानद सदा जयवत रह जिन्होन तत्त्वाथ समुद्र को तरन का सरल उपाय प्रकट किया है । ऐसे विद्यानद के द्वारा प्रकृत अष्टसहस्री की रचना की गई है ।

आचार्य विद्यानदिकी कृतियो से स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभा सपन्न तार्किक थे उन्होने उसी दृष्टि से अनेक गन्थ रत्नो की रचना की है ।

आचाय विद्यानदिका काल

ऐसे आचाय पु गव का समय कौन सा था इस सबध मे तार्किक जिज्ञासुओ को जानने की इच्छा होना साहजिक है । परतु आचाय ने अपने किसी भी ग्रन्थ मे अपने समय का स्पष्ट उल्लेख नही किया

है। अत उनके ग्रन्थों से हम समय निर्धारण नहीं कर सकते हैं तथापि अन्य अनेक अनुमानो से उनके समय का निर्धारण हो सकता है इस दृष्टि से अनेक ऐतिहासिक विद्वानो के द्वारा उनके समय का अनुमान किया गया है। विद्वानों ने उन्हे करीब आठवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे होने का निर्णय किया है न्याया चार्य प० दरबारीलाल जी कोठिया ने आप्त परीक्षा की प्रस्तावना लिखते हुए आप्त परीक्षा के कर्ता महर्षि विद्यानन्दि के समय का भी उल्लेख किया है समय निर्धारण मे उन्होने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये है। वह इस प्रसग मे उपयुक्त होगे।

(१) न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचेगये उद्योतकर के न्यायवार्तिक इस तीनो का तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि में सविस्तत समालोचना की है उद्योतकर का समय ई सन ६ माना जाता है।

(२) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थो में विद्यानद ने प्रसिद्ध शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरिका नाम लेकर एव अनुल्लेख से भी उनके वाक्य प्रदीप ग्रन्थ की कारिकाओ को उदघृत कर खंडन किया है भर्तृहरिका समय करीब ६ से ६५ तक सुनिर्णीत है।

(३) जैमिनि शवर कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमासक विद्वानो के सिद्धान्तो का विद्यानद ने अपने ग्रन्थो मे निरसन किया है कुमारिल भट्ट प्रभाकर का समय ई सन ६२५ से ६८ तक सुनिर्णीत है।

(४) कणाद के वशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य एव उस पर रची गई व्योम शिवाचाय की व्योमवती टीका की आचाय विद्यानद ने आप्त परीक्षा मे आलोचना की है। व्योमशिवाचाय का समय ७ वी सदी का उत्तराध माना जाता है। (अर्थात विद्यानद सातवी शती के उत्तरकालीन सिद्ध होते है)।

(५) धमकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री मे एव प्रमाण परीक्षा मे विद्यानद ने खडन किया है। प्रज्ञाकर व धर्मोत्तर का आठवी सदी का प्रारभिक काल माना जाता है।

(६) अष्टसहस्री मे मडनमिश्र का खडन किया गया है। श्लोक वार्तिक मे भी मडनमिश्र के सिद्धान्तो का खडन किया गया है मडन मिश्र का भी समय आठवी सदी का प्रारभ माना जाता है। इसी प्रकार शकराचाय के प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्र के ग्रन्थो का उल्लेख कर आचाय विद्यानद ने खडन किया है सुरेश्वर मिश्र का समय भी आठवी सदी का प्रारभ माना जाता है। इसके उत्तरवर्तिग्रथ कारो के उद्धरण आचाय विद्यानदि के ग्रन्थो मे पाये नही जाते है। इसलिए उनका समय आठवी शताब्दी के पूर्वार्धका जो विद्वाना ने निर्णय किया है वही समुचित होना है। उनके उत्तरवर्ति ग्रन्थकारों मे किसी किसी न उनकी स्तुति की है। इससे भी वे उनसे पूववर्ती हुए हैं। यह सुनिश्चित विषय है।

वादिराज सूरि ने अपने न्याय विनिश्चय विवरण व पार्श्वनाथ चरित में विद्यानद का स्मरण किया है। न्यायविनिश्चय विवरणकार १०२५ सन् में हुए हैं।

प्रशस्त पाद भाष्य पर चार टीकायें लिखी गई हैं उनमें सिर्फ व्योमवती टीका का विद्यानद ने निरसन किया है अन्य तीन टोकाओ का निरसन नहीं किया इससे ज्ञात होता है कि विद्यानद के समय वे तीन टीकायें नही थीं न्याय कन्दली के टीकाकार श्रीधर का समय १ वी सदी का माना जाता है उदयन का भी समय प्राय वही है इससे विद्यानद उदयन व श्रीधर से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

अष्टसहस्री की अतिम प्रशस्ति मे विद्यानद ने दो पद्य दिये हैं। उनमें दूसरा पद्य इस प्रकार है।

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥

इससे स्पष्ट होता है कि अकलक की अष्टशती पर कुमारसेन की कोई टिप्पणी होगी वह विद्यानद के समय अवश्य रही होगी उसको स्पष्टीकरण करने के लिए ही यह अष्टसहस्री की रचना की गई है। कुमारसेन का समय निश्चित ७८३ से पहिले है। क्योकि हरिवशकार जिनसेन ने अपने ग्रथ मे कुमारसेनका स्मरण किया है इसलिए कुमारसेन जिनसेन के भी पूववर्ती प्रतीत होते हैं। इसलिए आचाय विद्यानद किसी भी तरह ७ वी सदी के अतिम भाग म नही हो सकने हैं अगर वे होगे भी तो उनका वह प्रात काल हो सकता है ग्रथ निर्मित का काल नही माना जा सकता है। यह सुनिश्चित है।

आचाय विद्यानद ने अपने श्लोक वार्तिक के अत मे श्लेष रूप मे शिवमार राजा का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि उनके समय मे शिवमार शासक था गगवशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी शिवमार (द्वितीय) था। जिसका समय आठवी शती का प्रारभ माना जाता है। यह जन धम का अनन्य भक्त था इसने श्रवण बेलगोला के चद्रगिरि पर एक जिन मदिर बनवाया था जिसका नाम शिवमारनबसदि है कन्नड मे बसदिका अथ मदिर है। इस बसदि के पास ही चट्टान पर शिवमारन बसदि यह लेख भी अकित है। इसका समय करीब ८१० सन् का माना जाता है। उसके बाद इसका भतीजा सत्य वाक्य राजपट्ट पर आया उसका भी उल्लेख आचाय विद्यानद ने किया है वह करीब ८१६ के आसपास पट्टाधिकारी हुआ था तदनतर वर्षों उसका काय काल रहा होगा आचाय विद्यानदि ने भी उसके राजाश्रय को पाकर अपने ग्र थो का निर्माण निरातक के रूप मे किया सत्य वाक्य को धारण करने वाले कई राजा हुए है सत्य शासन परीक्षा नामक ग्र थ की रचना भी इसी सत्यवाक्य शासक के काल मे ही रची गई है।

इन सब प्रमाणो से हम निष्कष पर पहुचते हैं कि आचाय विद्यानद के ग्र थ निर्माण का समय सन् ८०० से ८४० तक रहा होगा। उसी काल मे उन्होंने अपने ग्र थो का निर्माण किया है। अष्टसहस्री

व तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार उनकी प्रौढ़ रचनायें हैं आयु के उत्तर काल में इनकी उन्होंने रचना की होगी सत्यशासनपरीक्षा विद्यानंद की अंतिम रचना प्रतीत होती है ।

अष्टसहस्री की कष्टमय हिंदी टीका

न्याय ग्रंथों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नहीं है । सिद्धान्त और काव्यों का भावांतर सरल व सरस हो जाता है परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शली का भाषानुवाद शुष्क ही नही दुरधिगम्य भी हो जाता है । तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इसकी टीका न्याय लोक में उपस्थित कर सचमुच मे एक लोकोत्तर काय किया है इसमे कोई सन्देह नही है ।

पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती जी साध्वीमणि हैं

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका ज्ञानमती जी का क्षयोपशम अलौकिक है आपने बाल्य काल से हा विरक्ति को पाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनतर परम पूज्य स्व० आचार्य वीर सागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की सघ मे निरतर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द अलकार व्याकरण न्याय सिद्धान्तो का अध्ययन जारी रहा केवल पठन की दष्टि ही नही, ग्रन्थो के अन्तस्तल मे पहुचकर उनके सूक्ष्म मर्मको समझने के नपुण्य को उन्होने प्राप्त किया विद्यालयो मे दसो वष रहकर क्रम बद्ध शास्त्रीय कक्षा तक अध्ययन करने वाले छात्रो मे वह योग्यता प्राप्त नही होती है जो योग्यता ग्रन्थ का सूक्ष्मतल स्पर्शी ज्ञान आर्यिका ज्ञानमतीजी को प्राप्त हो गई है । इससे यह श्रद्धा दृढीभूत होती है कि सम्यग्दशन के साथ सिफ ज्ञान ही पर्याप्त नही है चारित्र पूवक जो ज्ञान है उसमे विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्ति होती है तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है । इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमती माता जी ही निदशन है । बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है जिस अष्टसहस्री को कष्टसहस्री समझकर विद्यार्थी पठन से विद्वान पाठनमे उपेक्षा करते हैं उस अष्टसहस्री का बिना किसी की सहायता के स्वय अध्ययन कर अर्थ करना भाषातर लिखना सुबोध अनुवाद का निर्माण करना यह उनके तपपूत प्रज्ञातिशय का ही काम है यह सब साधारण को साध्य नही है । आचार्य शातिसागर जी की परम्परा मे प्राप्त ऐसी साध्वीरत्नो से जन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्वल है मस्तक ऊंचा है यह लिखने मे हमें जरा भी सकोच नही होता है ।

टिकैतनगर (उ प्र) सदृश छोटे से कस्बे मे जन्म होने पर सर्व भारत के कोने कोने मे विहार तत्तत्प्रान्तीय भाषाओ का प्रगाढ़ परिचय साधु सन्तो के प्रतिनितात भक्ति विद्वानों के प्रति वात्सल्य मय स्नेह गुणिजनों के प्रति धम स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है ।

कन्नड, मराठी हिंदी सस्कृत व प्राकृत ग्रन्थो में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं अपितु उन भाषाओं मे काव्यरचना की योग्यता भी माताजी मे है अनेक काव्यमय ग्रन्थ उनकी ज्ञान गंगा से प्रवाहित हुए हैं एव

सम्मानादर को पा चुके हैं। विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच मे सार्थक है।

चातुर्मास में प्राय निन्तर अध्ययन अध्यापनादि के कारण स्वपर कल्याण के महान कार्य मे वे सलग्न होती हैं उनका चातुर्मास प्राय सर्वत्र हुआ है कर्नाटक महाराष्ट्र मध्य प्रदेश राजस्थान एव उत्तर प्रदेश के भव्य वर्गों के हृदय में उन्होने अपनी अमिट छाप छोडदी है। वे सपने में जागृत अवस्था मे उनका स्मरण करते रहते हैं। उनकी कृपा से कभी उऋण नही हो सकेंगे।

पूज्य माताजी जिस प्रकार ज्ञान की धनी है उसी प्रकार वे प्रवचन मे भी पट हैं ज्ञानाराधना और चीज हैं गणधर बनकर द्वादशांग वाणीका विस्तार विवेचन करना और बात है सबको यह सिद्धि प्राप्त नही होती है। पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती म यह विशेषता है कि वे अपने हस्तगत ज्ञान को दूसरो के सामने करतलामलकवत सुस्पष्ट रूप से रख सकती हैं। कठिन से कठिन विषयो को सरल बनाकर लोक के सामने रखने मे आप सिद्ध हस्त हैं।

भारत की राजधानी देहली मे उन्होने भगवान महावीर निर्वाण रजत शती वष मे जो त्रिलोक शोध सस्थान सदृश आवश्यक व अनिवाय काय का जो नेतृत्व किया है वह अभिनन्दनीय है। उस त्रिलोक शोध-सस्थान भवन का यह महान कार्य कलश के रूप मे सिद्ध होगा माताजी का काय अनुपम है। दुरूह है दु साध्य है सवजनोपयोगी है। केवल उनके प्रति अनन्य भक्ति होने से ही दो शब्दपुष्प उन्हें समर्पित किये है।

कल्याण भवन
शोलापुर (महाराष्ट)
१ जन १९७४

वधमान पाश्वनाथ शास्त्री

प्राक् कथन

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यो का अपने ग्रन्थो मे उद्धरणादिरूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो के समुल्लेखो तथा विद्यानन्द की स्वय की रचनाओ पर से जो उनका सक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उस पर से विदित है[1] कि विद्यान द वतमान मसूर राज्य के पूववर्ती गगराजाओ—शिवमार द्वितीय (ई ८१) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्य वाक्य प्रथम (ई ८१६) के समकालीन विद्वान हैं। इनका कायक्षत्र मुख्यतया इ ही गगराजाओ का राज्य मैसूर प्रान्त का वह बहु भाग था जिसे 'गगवाडि प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसवी चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवी शती मे श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्यकाल मे वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखो तथा दानपत्रो से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जनधर्म का घनिष्ठ सम्ब ध रहा है। जैनाचाय सिंहनन्दि ने इसकी स्थापना मे भारी सहायता की थी और आचाय पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्य के गग नरेश दुर्विनीत (लगभग ई ५) के राजगुरु थे। अत आश्चय नही कि ऐसे जिनशासन और जनाचाय भक्त राज्य मे विद्यान द ने बहुवास किया हो और वहा अपने बहुत समय साध्य विशाल तार्किक ग्र थो का प्रणयन किया हो। काय क्षत्र की तरह सभवत यही प्रदेश उनकी ज मभूमि भी रहा ज्ञात होता है क्योंकि अपनी ग्र थ प्रशस्तियो मे उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओ की उन्होने पर्याप्त प्रशसा एव यशोगान किया है।[2] इन्ही तथा दूसरे प्रमाणो से विद्यानन्द का समय इन्ही राजाओ का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई ७७ से ८४६ के विद्वान् निश्चित होते हैं।[3]

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य सूक्ष्म प्रज्ञा विलक्षण प्रतिभा गम्भीर विचारणा अद्भूत अध्ययनशीलता अपूव तकणा आदि के सुन्दर और आश्चयजनक उदाहरण उनकी रचनाओ म पद पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थो मे प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना तर्कागम वादचर्चा प्रमाणपूण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शि जिन शासन भक्ति उन्ह नि सन्देह उत्कृष्ट वयाकरण श्रेष्ठतम कवि अद्वितीय वादी महान् सद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करने में पुष्कल समथ हैं। वस्तुत विद्यानन्द जसा सवतोमुखी प्रतिभावान तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ मय

१ देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना।

२ वही प्रस्तावना पृ ५३ तथा ५४।

३ „ „ „

परम पूज्य १०८ आचाय श्री शिवसागरजी महाराज
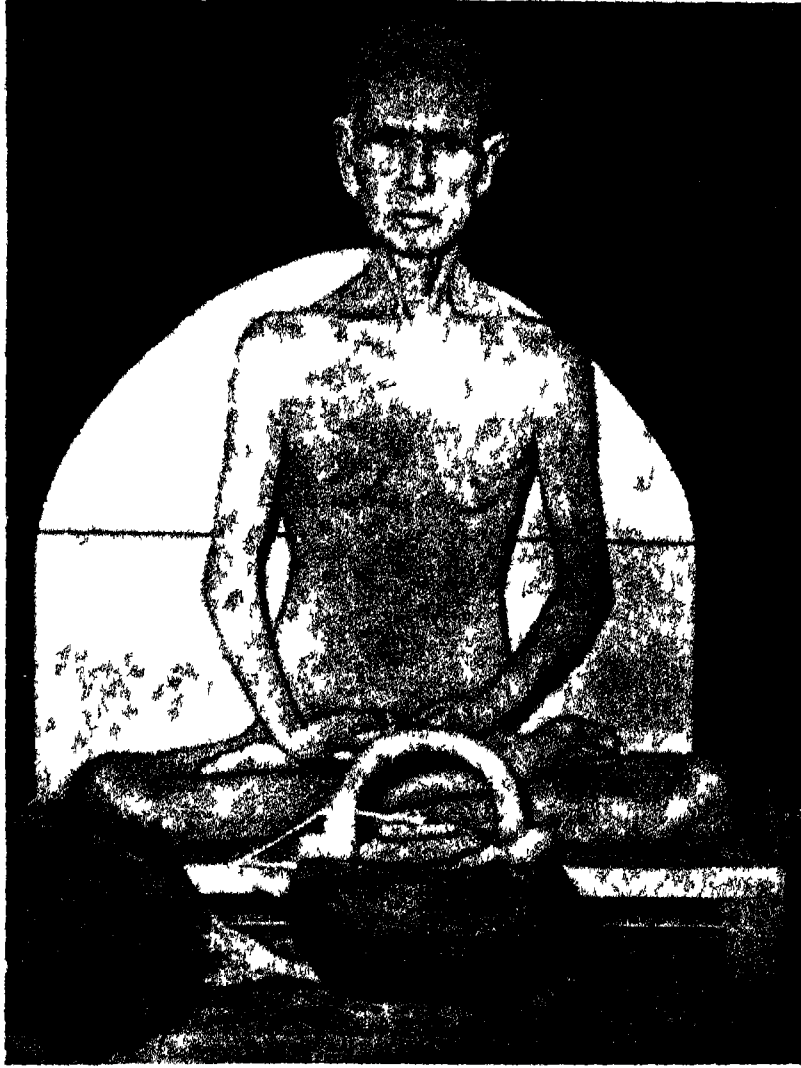
जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
अडगाँव	आचाय प्रवर श्री वीरसागरजी महाराज स	
(औरगाबाद महा) वि स १९५८	फाल्गुन शुक्ला ५ वि स २ सिद्ध क्षत्र सिद्धवरकूट (म प्र)	वि स २ ६ आषाढ़ शु ११ नागौर (राज)

आचायपट्ट—कातिक शु ११ वि स २ १४— खानिया जयपुर (राज)

स्वगवास—फाल्गुन कृष्णा ३ वि स २ २५—श्री महावीरजी

में कम-से-कम जैन परम्परा में तो दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियां उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि वादिराज प्रभाचन्द्र अभयदेव वादिदेवसूरि हेमचन्द्र लघु समन्तभद्र अभिनव धमभूषण उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एव अनुकरणीय सिद्ध हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहां अकलङ्क देव के वाङ मय का उपजीव्य है वहा वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा आदि तार्किक रचनाओ का भी आभारी है । उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।[1] वादिराज सूरि[2] (ई १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्क देव के वाङ मय का रहस्योद् घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्द ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा अकलङ्क देव की अत्य त जटिल एव दुरूह रचना अष्टशती के तात्पर्य को अष्टसहस्री व्याख्या मे उद घाटित किया है। पाश्वनाथ चरित में भी वादिराजने विद्यानन्द के तत्वाथालङ्कार (तत्वाथश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशसा करते हुए यहा तक लिखा है—'आश्चय है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान अलङ्कारो की चर्चा करने कराने और सुनने सुनाने वालो के भी अङ्गो में कान्ति आ जाती है तब फिर उ हें धारण करने वालो की तो बात ही क्या है। प्रभाच द्र अभयदेव देवसूरि हेम च द्र और धमभूषण की कृतियां भी विद्यान द के तार्किक ग्र थों की उपजीव्य हैं। उन्होने इनके ग्रन्थो से स्थल के स्थल उद्धत किए और अपने अभिधय को उन से पुष्ट किया है। विद्यान्द की अष्टसहस्री को जिसके विषय मे उ होने स्वय लिखा है कि हजार शास्त्रो को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए उसी से ही समस्त सिद्धान्तो का ज्ञान हो जायेगा पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एव मुग्ध हुए कि उन्होने उस पर अष्टसहस्री तात्पय विवरण नाम की नव्य न्यायशली प्रपूण विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ विद्यान द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दाशनिक एव तार्किक थे तथा उनकी अनूठी दाशनिक कृतिया भारतीय विशेषत जनवाङ मयाकाशकी दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जन दशन को उनकी अपूव देन—

विद्यानन्द ने जन दशन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियो के निर्माण से और दूसरे उनमे कई विषयो पर किए गए नये चिन्तन से। हम यहा उनके इन दोनो प्रकारो पर कुछ विस्तार से विचार करेंग।

(क) कृतियां

जैन दशन के लिए विद्यानन्द की जो सबसे बड़ी देन है वह है उनकी नौ महत्वपूण रचनाए। वे ये हैं—

---

१ प्रमाण परीक्षा और परीक्षा मुख की तुलना देख—आ० प प्रस्तावना पृ २८–२९।

२ न्यायविनिश्चयविवरण भाग २ पृ १३१।

(१) विद्यानन्द महोदय (२) तत्वार्थ श्लोकवार्तिक (३) अष्टसहस्री (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा (६) प्रमाण परीक्षा (७) पत्र-परीक्षा (८) सत्यशासन परीक्षा और (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र। इनमे तत्वाथ श्लोकवार्तिक अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनलङ्कार ये तीन व्याख्या-ग्रन्थ हैं और शेष उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) भावना-विधि-नियोग—इसमे सन्देह नहीं कि आ० विद्यानन्द का दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक न्याय मीमासा चार्वाक, साख्य और बौद्ध दर्शनो के वे निष्णात विद्वान थे। उन्होंने अपने ग्रन्थो मे इन दर्शनो के जो विशद पूर्व पक्ष प्रस्तुत किए हैं और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है उससे स्पष्टतया विद्यानन्द का समग्र दर्शनो का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमासा दर्शन की भावना नियोग और वेदान्त दर्शन की विधि सम्बन्धी दुरूह चर्चा को जब हम उन्हे अपने तत्वाथ श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री मे विस्तार के साथ करते हुए देखते हैं तो उनकी अगाध विद्वत्ता असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञा पर आश्चय चकित हो जाते हैं। उनका मीमासा और वेदान्त दर्शनो का कितना गहरा और तलस्पर्शी पाडित्य था यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है। जहा तक हम जानते हैं जैन वाङ्मय मे यह भावना नियोग विधि की दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शन को यह उनकी अपूर्वदेन है। मीमासा दर्शन की जैसी और जितनी सबल मीमासा तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे है वैसी और उतनी जैन वाङ्मय की अन्य कृतियो मे नही है।

(२) सह-क्रमानेकान्त की परिकल्पना—आचार्यमूर्धन्य गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्याय युक्त प्रतिपादित किया है यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके है। इस पर शङ्का की गई कि गुण सज्ञा तो इतर दार्शनिको (वैशेषिको) की है जैनो की नहीं। उनके यहा तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयो का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहां मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नय की भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान सिद्धसेन अकलङ्क और विद्यानन्द तीनो तार्किको ने किया है। सिद्धसेन ने[1] बतलाया कि गुण पर्याय से भिन्न नही—पर्याय में ही गुण सज्ञा जैनागम मे स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणार्थिक नय पृथक उपदिष्ट नहीहै। अकलङ्क कहते हैं कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य उत्सर्ग अन्वय और गुण ये सब उसके पर्याय शब्द हैं। तथा विशेष भेद पर्याय ये तीनो विशेष के पर्यायवाची हैं। अत सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतै किमन्यै सहस्रसख्यानै।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भाव॥ अष्टस पृ १५७।

१ देखिए सन्मतिसूत्र ३ ९ १ १२।
२ देखिए तत्वार्थवार्तिक ५ ३७।

करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुण का ग्राहक द्रव्यार्थिक नय ही है उससे जुदा गुणार्थिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं है—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानो के बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नही है तो द्रव्य लक्षण मे गुण और पर्याय दोनो का निवेश क्या किया ? गुणवद् द्रव्यम् या पर्यायवद् द्रव्यम् इतना ही लक्षण पर्याप्त था ? इसका उत्तर विद्यानन्द ने[1] जो दिया वह बहुत ही महत्वपूर्ण एव सूक्ष्म प्रज्ञता से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तो का रूप (पिण्ड) है—१ सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अत द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनो पदो का निवेश युक्त एव सार्थक है।

जहा तक हम जानते हैं विद्यानन्द से पूव अकलक देव ने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तो का तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकाल इन दो तरह के अनेकान्तो का कथन विद्यान द से पूव उपलब्ध नही होता। इन अनेका तो के कथन और उनकी सिद्धि के लिए द्रव्य लक्षण मे गुण तथा पर्याय दोनो शब्दो के निवेश का समाधान विद्यानन्द की अद्भुत प्रतिभा का सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दो मे सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तो की परिकल्पना इतनी सजीव एव सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वादसिद्धिकार आ वादीभसिंह ने[2] उससे प्ररणा पाकर उक्त अनेकान्तो की प्रतिष्ठा के लिए सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नाम से दो स्वत त्र प्रकरणो की सृष्टि स्याद्वादसिद्धि मे की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(३) **व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन**—अध्यात्म के क्षत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया हो जाता है पर तक के क्षत्र मे भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है यह दृष्टि हमे विद्यानन्द से प्राप्त होती है। उन्होने इन दोनो नयो से अनेक स्थलो मे वस्तु विवेचन किया किया है। निष्क्रियाणि च (त सू० ५ ७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वे तत्वार्थश्लोकवार्तिक [पृ ४०] में लिखते हैं कि निश्चयनय से सभी वस्तुए कथचित निष्क्रिय हैं और व्यवहारनय से कथ चित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्र यो मे आधाराधयता का विचार करते हुए वे कहते है कि व्यवहारनय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्र यो मे आधाराधयता है तथा निश्चयनय से उनमे उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने मे अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य की स्थिति अन्य द्रव्य मे नही होती अ यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमे स्वरूप-साकय हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यो मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था करते हुए वे त० सू ५ १६

---

१ गुणवद् द्रव्यमित्युक्त सहानेकान्त सिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्त सिद्धये ॥ तत्वा श्लो पृ ४३ ।

२ स्याद्वाद सिद्धि ३ १ से ३ ७४ तथा ४ १ से ४ ८६ ।

टीका में लिखते हैं[1] कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों की उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावत) है। व्यवहारनय से उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अत व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझ कर द्रव्यो की आधाराधेयता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहां जिस नय से की गई हो उसे उसी नय से जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु विचार भी जैन दर्शन के लिए उनकी एक अनन्यतम उपलब्धि है।

(४) उपादान और निमित्त का विचार—यो तो कारणो का विचार सभी दशनो मे है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु जैन दशन में उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। काय की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है इस सम्बन्ध मे न्याय तथा वैशेषिक दशन का मन्तव्य है कि समवायि असमवायि और सहकारी इन तीन कारणो का व्यापार कार्योत्पत्ति मे होता है। बौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणो से काय उत्पन्न होता है। साख्य दशन भी कारणो का विचार करता है लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पय केवल उपादान से है। जो भी सरूप अथवा विरूप काय उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृति रूप उपादान से होता है उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नही है। जैन दशन यद्यपि बौद्ध दशन की तरह प्रत्येक काय मे उपादान और निमित्त इन दो कारणो को स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दशन की मान्यता से जैन दशन की मान्यता मे बडा अतर है। बौद्ध दशन पूव रूपादिक्षण को उत्तररूपादि क्षण मे उपादान तथा रसादि को सहकारी मानता है। पर जनदशन अव्यवहित पूव पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। यहा हम विद्यानन्द के सूक्ष्म चिन्तन के दो उदाहरण प्रस्तुत करते है—

प्रश्न है [2]कि उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है। सम्यक दशन सम्यकज्ञान का उपादान है। अत सम्यकज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्यकदशन का नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तर मे विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेय की उत्पत्ति मे उपादान का नाश कथचित् इष्ट है सवथा नही अन्यथा कार्य की उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दशन परिणाम से परिणत आत्मा ही वस्तुत दशन है और वह विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। अन्वय रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नही है क्योकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कमरोम आदि की तरह अवस्तु है। इसो तरह दशन ज्ञान परिणत जीव दर्शन-ज्ञान है और दशन-ज्ञान चारित्र का उपादान है क्योकि पर्याय विशेष परिणत द्रव्य उपादान है जिस प्रकार घट परिणमन मे समथ पर्यायरूप मिट्टी द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द[3] उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं— जो पूर्व रूप को छोडता हुआ तथा अपूव रूप को न छोडता

---

१ त श्लो पृ ४ ८४११।

२ त श्लो पृ ४१।

१ तत्त्वार्थश्लोकवा पृ ६८ ६६।

हुआ तीनो कालो मे भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है। किन्तु जो सवथा अपने रूप को छोड देता है अथवा जो बिल्कुल नही छोडता वह किसी भी वस्तु का उपादान नही है। जसे सर्वथा क्षणिक या सवथा नित्य। विद्यानन्द ने उपादान के इसी लक्षण को सामने रखकर सवत्र उपा दानोपादेय की व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादान का विचार।

इसी प्रकार उन्होने[1] निमित्त सहकारि कारण का भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारी सामग्री के उपादान कायजनन मे समथ नही है। जब तक अयोग केवलि गुणस्थान का उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नही होता तब तक नामादिक कर्मों के निजरण की शक्ति प्रकट नही होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अत अयोग केवली का अन्त्य क्षण ही शेष कर्मों के क्षय मे कारण है। इस तरह सहकारी सापेक्षित उपादान कायजनक है अकेला नही। इस प्रकार आचाय विद्यानन्द का यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जन दशन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है।

इस तरह आचाय विद्यानन्द की जन शन को कितनी ही नयी देन हैं जो उसे गौरवास्पद और सर्वादरणीय बनाती हैं।

---

१ त्यक्तात्यक्तात्मरूप यत्पूर्वापूवण वतते।
कालत्रयऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
य स्वरूप त्यजत्येव यन्न त्यजति सवथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिक शाश्वत यथा ॥२॥ अष्ट स पृ २१ ।
स्वसामग्र्या बिना काय न हि जातुचिदीक्षत।
कालादिसामाग्रीको हि मोहक्षयस्तद्व पाविर्भावहेतुन केवल तथाऽप्रतीते ।
क्षीणऽपि मोहनीयाख्ये कमणिप्रथम क्षण।
यथा क्षीणकषायस्स शक्तिरन्त्यक्षण मता ॥
ज्ञानावरत्यादि कर्माणि हन्तु तद्वदयोगिन ।
पर्यन्त क्षण एव स्याच्छेषकमक्षयेऽप्यसौ ॥ त श्लो पृ ७ ७१।

अष्टसहस्री का प्रस्तुत संस्करण

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों का पीछे उल्लेख कर आये हैं। अष्टसहस्री उन्ही मे से एक महनीय कृति है। इसका सन् १९१५ मे सेठ नाथारङ्ग जी गाधी द्वारा आज से ५९ वर्ष पूर्व एक बार प्रकाशन हो चुका है। किन्तु उसका हिन्दी रूपान्तर अब तक नही हो सका था। अत्यन्त प्रमोद की बात है कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग मे ही नहीं चारित्राचारादि पचाचार मे सतत निरत पूज्या माता श्री ज्ञानमती जी ने इस अभाव की पूर्ति का सफल एव स्तुत्य प्रयत्न किया है। अष्टसहस्री कितना जटिल और दुरवगाह दार्शनिक ग्रन्थ है इसे तज्ज्ञ विद्वान जानते हैं। एक ही स्थल पर बौद्धदर्शन की चर्चा करते-करते अन्य दर्शनो की भी चर्चा आ जाती है जिसे समझना साधारण बुद्धि का कार्य नही है। उसे समझने समझाने के लिए बुद्धि का बहु-आयाम करना पडता है। जिसका सभी भारतीय दर्शनो मे गहरा प्रवेश होगा वही अष्टसहस्री का मर्मोद्घाटन कर सकता है। माता जी ने इस दुरवगाह ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करके जिस साहस एव बुद्धि वैभव का परिचय दिया है वह निःसन्देह स्तुत्य है।

ज्ञानानुरागी श्री मोतीचद जी सर्राफ द्वारा प्रेषित माता जी के अष्टसहस्री अनुवाद के कुछ मुद्रित फर्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हे स्थाली पुलाक न्याय से देखकर हम अनुभव करते हैं कि माता जी ने गहराई से ग्रन्थ का अध्ययन कर यह हिन्दी रूपान्तर लिखा है। भारतीय दर्शनो का उनका तलस्पर्शी अभ्यास भी स्पष्टतया अवगत होता है। बुद्धि वैभव और सत्साहस से भरे माता जी के इस महान प्रयत्न की हम सराहना करते हैं। इसके लिए हम ही नही समस्त समाज एव विद्वद्वर्ग उनका उपकृत है। उनके द्वारा जिनशासन की अधिक काल तक प्रभावना हो यही मगल-कामनाएं हैं।

वीर-शासन-जयन्ती
श्रावण कृष्णा १ वी नि स २५
५ जुलाई १९७४
वाराणसी ५

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
[रीडर जैन-बौद्ध दर्शन]
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सपादकीय

प्रस्तुत अष्टसहस्री का मूल श्री तत्त्वार्थ सूत्र शास्त्र का मोक्ष मार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम । ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वदे तद्गुणलब्धये ।। यह मगलाचरण हैं । इस मगलाचरण मे स्तुति को प्राप्त भगवान आप्त की मीमांसा रूप देवागम स्तोत्र है जिसका प्रादुर्भाव समतभद्राचाय द्वारा भगवद भक्ति करते हुये सच्चे आप्त की परीक्षा रूप मे हुआ । इस देवागम स्तोत्र को आधार बनाकर अकलक देव द्वारा अष्टशती का निर्माण हुआ । जसे माला मे रग बिरगे पुष्प अथवा अनेक प्रकार के मोती माणक पन्ना आदि पिरोकर अधिक आकषक बनाया जाता है उसी तरह विद्यानद महोदय ने देवागम स्तोत्र की टीका रूप मे अष्टसहस्री का सृजन किया । अष्टसहस्री मे देवागम स्तोत्र को ऐसा गू था कि जिसने न्याय दशन का सेहरा बनकर जिनागम के मस्तक को गौरवान्वित किया ।

न्याय दशन की शृ खला मे समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान जैनाचार्यों द्वारा कडियां जोडते रहने से विशाल अगल बन गई जिससे उन्मत्त वादियो को बाधना (परास्त करना) सुगम हो गया । कालचक्र निरतर चलते हुये भी इस फौलादि साकल को काट नही सका । यही कारण है कि इस विलासिता के दुगम समय मे भी जिनमत का प्रसार व प्रचार है ।

अनुवाद का बीजारोपण

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दाशनिक जगत के लिये एक अनठी उपलब्धि है । किसी भी मिष्ठान्न को खा लेना और खाकर उसका आनद प्राप्त करना बहुत ही सुगम है किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है अथवा आद्योपात जिसने बनते देखा है व बनाने मे सहयोग दिया है ।

किसी भी चीज को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमे तन्मय होता है तब वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है । बल्कि यहा तक देखने मे आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनद निर्माता को प्राप्त होता है ।

ठीक यही स्थिति ग्रन्थ निर्माता आचार्यों की रही है । परम निग्र न्थ गुरू भगवान् कदकुद पूज्यपाद समतभद्र अकलक देव जिनसेन पुष्पदंत भूतबली अमृतचद्र विद्यानद आदि ने आत्मानद में निमग्न हो होकर उसी को जंगलो मे बैठकर ताडपत्रो पर लिपी बद्ध कर दिया । जिनका स्वाध्याय करके हम भी अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं । जो आनद उन्होंने प्राप्त किया उसका शतांश भी हमको

अनुपलब्ध है।

जिस कार्य के बारे मे इस वतमान समय मे सोचना भी कठिन है उस अष्टसहस्री का भाषा अनुवाद पू० श्री ज्ञानमती माताजी ने सहज मे करके एक आश्चय जनक कार्य किया है। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थो का सृजन शिष्यों के अध्यापन अथवा प्रश्नो के निमित्त से हुआ है। इसी प्रकार से इस ग्रन्थ के भाषांतर का शुभारभ भी माताजी ने साधुओ और शिष्यो को अध्ययन कराते हुये किया।

राजस्थान की जैन नगरी जयपुर को इस बात का गौरव प्राप्त है कि जहां से इसके अनुवाद कार्य का बीजारोपण हुआ। वसे प्राचीन समय से इस नगरी का महान सौभाग्य रहा है जहा अनेको विद्वानो ने ग्रन्थो का निर्माण अनुवाद आदि करके जिनवाणी की महिमा को दिगदिगत व्यापी बनाया है। इस पुण्यशाली नगरी मे सवदा दिगबर मुनि सघो का आवागमन बना रहता है।

वि० स २०२५ मे शान्तिवीर नगर श्री महावीर जी (राज) मे हुई पचकल्याणक प्रतिष्ठा के अनतर नवीन आचाय श्री धमसागर जी महाराज विशाल सघ को लेकर स्व आचाय प्रवर श्री वीर सागर जी महाराज की निषीधिका के दशनाथ जयपर (खानिया) पधारे एव जयपुर वासियो के अत्याधिक आग्रह पर श्री १ ८ आदिनाथ जिन मदिर (मेहदी वालो का चौक रामगज बा जार बडी चौपड) में चातुर्मास की स्थापना की।

अनुवाद का शुभारम्भ —

वर्षायोग मे एक स्थान पर लगातार चार महीने तक निश्चित ठहरन के निमित्त से साधुओ का ध्यान अध्ययन विशेष होता है। वरिष्ठता के कारण माताजी ने आर्यिका सघ सबधी अनक दनिक व्यवस्थाओ को सम्हालने के साथ साथ अध्ययन आदि कराते हुए प्रस्तुत अष्टसहस्री के अनुवाद काय मे भी थोडा थोडा समय लगाना प्रारभ किया। समय बीतता गया और काय को तीव्र गति प्राप्त होती गई। अनुवाद काय की समाप्ति से पूर्व वि स २ २७ का आगामी चातुमास आ गया इस बार के चातुर्मास का सुयोग टोक (राज) को प्राप्त हुआ। चातुर्मास समाप्ति तक अनुवाद कार्य भी चरम सीमा को प्राप्त हो चका था किंतु निर्विघ्न काय समाप्ति का श्रय टोडारायसिंह (टोक राज०) (आ० श्री वीरसागर जी महाराज के शिष्य मुनि सन्मति सागरजी की जन्मभूमि) को प्राप्त हुआ।

अनुवाद काय तो हो चका था किंतु मध्य का कुछ प्रकरण देखे बिना ही क्लिष्ट समझकर छोड दिया था वह था भावना नियोग अधिकार। यह प्रकरण अतिक्लिष्ट एव गहन होने से परीक्षा कोर्स मे भी छोड दिया गया है। इसी वजह से माताजी ने भी उतने पृष्ठो को प्रारभ मे ही छोड़कर अनुवाद किया। एव यह विचार किया कि न्याय दशन के किसी विशिष्ट जैन विद्वान के सहयोग से चर्चा के उपरात इसका अनुवाद करना उचित होगा।

कई विद्वानो से पत्र व्यवहार किया गया किंतु बहुतो न तो यह कहकर असमथता प्रकट की कि न्याय दशन हमारा विषय ही नही है, किन्ही का कहना रहा कि अब न्याय का विषय हमारी स्मृति से

ओझल हो गया है। जो कुछ थोड़े से विद्वान इस विषय के ममज्ञ हैं उन्होने वृद्धावस्था के कारण शारीरिक एवं मानसिक कमजोरी वश इस कठिन कार्य को करने में असमर्थता प्रकट कर दी।

ऐसी स्थिति में एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई थी। किंतु आत्म विश्वास के साथ भगवान के चरण सानिध्य मे बैठकर छोड हुये भाग का अनुवाद कार्य स्वयं माताजी ने प्रारंभ किया एवं यथाशीघ्र (लगभग १० दिन मे) उसे भी पूर्ण कर लिया। मनमें कृति को अपूर्ण न रहने देने की जो अपूर्व लगन थी उसी के फल स्वरूप दुरूह् काय भी सुगमता से हो गया। उक्त प्रकरण का अनुवाद करने के उपरात माताजी ने बताया कि यह प्रकरण भी उतना क्लिष्ट नही है जितना समझा गया है।

अनुवाद समापन समारोह —

पौष माह की पूर्णिमा का वह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सानद सम्पन्न हुआ। इसी दिन आचाय श्री धमसागर जी महाराज का ५७ वां जन्म दिन भी मनाया गया। अनुवाद कार्य की समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य मे शाति विधान पूवक समाप्ति की गई एव विशाल रथयात्रा के साथ अनुवादित हस्तलिखित प्रतियो को सुन्दर पालकी मे विराजमान करके आरती पूजनादि के द्वारा महती प्रभावना की गई।

माताजी ने तो अनुवाद पूण कर दिया एव आचार्यों के मनोभावो का रसास्वादन प्राप्त कर लिया। किन्तु हमारे भाव यह हुए कि इसे शीघ्र ही प्रकाशित किया जावे। जिससे जन न्याय के पाठक विद्यार्थी एव स्वाध्याय प्रमी अष्टसहस्री के मम को हृदयगम कर सक। भाव करन मे न तो कुछ शक्ति लगानी पडती है नही कुछ खच करना पडता है। अनुवाद के अनन्तर १ वष का समय व्यतीत हो गया।

प्रकाशन से पूर्व समस्यायें —

प्रकाशन के पूव जो सबसे पहली समस्या आई वह थी पुनसशोधन की। इसके लिये फिर विद्वानो का सहयोग लेने के लिये प्रयास किया गया किन्तु कुछ भी सार नही निकला। बडी आशाए थी परम तपस्वी पू आचाय श्री महावीर कीर्ति महाराज से किन्तु वे असमय मे ही स्वगस्थ हो गए। अतिम एक और सहारा थे पू० आचाय श्री ज्ञानसागर जी महाराज। उन्होने प्रारंभिक कुछ पृष्ठ पढाकर सुने एव यथावश्यक दो चार जगह प्रकरण को कुछ अधिक स्पष्ट भी कराया किन्तु अतिवृद्धावस्था से इन्द्रियो की शिथिलता के कारण और अधिक सशोधन नही करा सके और उन्होने कई बार ये शब्द कहे कि हिन्दी अनुवाद बहुत ही सरल स्पष्ट और सुन्दर हुआ है। अततोगत्वा पुन माताजी से ही निवेदन करना पडा कि स्वय एक बार फिर सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर दें। पू माताजी ने अन्य अनेक जरूरी कामों को भी गौण करके अपना अमूल्य समय एवं सपूर्ण शक्ति इसी मे लगाकर कृति को पूर्ण विशुद्ध बना दिया।

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति —

अनुवाद के समय छपी हुई मूल अष्टसहस्री के अलावा आधार था केवल देव गुरु शास्त्र की अगाढ़ श्रद्धाभक्ति का। जब वि० स० २०२९ के अजमेर चातुर्मास के उपरात ब्यावर आये तो० पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री से अष्टसहस्री के विषय में कुछ चर्चा हुई उन्होंने भी कुछ पृष्ठों का अवलोकन किया था व्यस्तता के कारण वे भी पूर्ण रूप से नहीं देख सके किन्तु उन्होंने इस अनुवाद पर सतोष व्यक्त करते हुये माताजी के कार्य की प्रशसा की थी। पडित हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावर के विशाल ग्रथ भण्डार से लगभग ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री प्राप्त हुई इस प्रति मे छपी हुई से कुछ अधिक टिप्पणिया एव पाठान्तर दे रखे थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है। यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद मे जितना श्रम लगा उसमे सहायता मिलती। इसकी विशेष टिप्पणियो एव पाठान्तरो को माताजी ने इस ग्रन्थ मे जोड लिया है।

प्रकाशन का निश्चय —

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकी तो प्रेस की समस्या सामने आई। ब्यावर मे तो कोई ऐसा प्रेस उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें सस्कृत का कार्य हो सके। तब प० अभय कुमार जी अजमेर (प्रबन्धक जैन गजट साप्ताहिक) के सहयोग से केशव आर्ट प्रिंटर्स हाथी भाटा अजमेर के यहां छपना प्रारभ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एव पेज कटिंग के लिये कई लोगो से बात की गई किंतु अततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पडा। कटिंग एव फाइनल प्रूफ रीडिंग का कार्य भार माताजी पर ही छोडा गया क्योंकि और कोई करने मे सक्षम भी नहीं था।

प्रकाशन-व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बडी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि सघ का विहार दिल्ली के लिये हो गया। पुन यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना अशक्य है अत दिल्ली मे सस्कृत का काम करने वाले अनुभवी प्रेस की तलाश की गई। सम्राट प्रेस पहाडी धीरज इसके लिये सक्षम रहा। अजमेर से छपे हुये फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गये एव प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में ३ माह और निकल गये। पुन वि स २०२९ मे भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मंदगति से चलने लगा।

सरल न्यायसार—

छपाई का कार्य चलते हुये कई बार यह विचार धारा मन मे चला करती थी कि इस अष्टसहस्री को सिवाय परीक्षार्थियो एव विशिष्ट विद्वानो के और कौन पढ़ेगा। क्योंकि न्याय शास्त्र के स्वाध्याय

की प्रथा बिल्कुल नहीं के बराबर रह गई है और खास करके न्याय के इस सर्वोपरि महान ग्रंथ को जन सामान्य का समझना वैसे भी दुरूह है। इन विचारों के निराकरणार्थ पू माताजी ने न्यायसार नाम से एक स्वतंत्र कृति का सृजन किया जो कि इस अष्टसहस्री के पीछे सलग्न है। जन न्याय दर्शन के प्रारंभिक रुचि के (जिज्ञासु) पाठक वृंद यदि न्यायसार को पढ़कर अष्टसहस्री का स्वाध्याय अध्ययन प्रारंभ करेंगे तो निश्चय ही सुगमता पूर्वक स्याद्वादामृत का पान कर सकेंगे।

पू० माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम—

माताजी ने अनुवाद करने मे जितना श्रम किया है उसके विषय मे कलम से लिखना कठिन है। मूल एव हिंदी प्रकरणो के शीर्षक बनाना प्रत्येक पृष्ठ के प्रकरण का पृष्ठ के ऊपर शीर्षक देना मूल पंक्तियो के अर्थ के साथ टिप्पणियो के अर्थ को खोलना अर्थ के अनन्तर स्थान-स्थान पर भावार्थ एव विशेषार्थ के द्वारा अतिस्पष्ट रूप मे प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना सामान्य श्रम नही है। इन सबके बावजूद भी समस्त प्रतिवादियो की विचार धारा को मस्तिष्क मे रखकर सार रूप मे विषय विभाजन करते हुये ५४ साराश बनाये हैं। जिसकी सहायता से प्रारभ मे थोड़ा पढकर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने एव सघ के अन्य छात्र-छात्राओ ने इन्ही साराशो के आधार से शास्त्री एव न्यायतीर्थ की परीक्षाए उत्तीर्ण की हैं। बहुत सी बातो को एक सूत्र मे गर्भित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक ग्रन्थ तयार कर देना—ये दोनो बात अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखती हैं।

एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

जब प्रस्तुत प्रथम भाग के लगभग ३ पृष्ठ छप गए तब दि जैन नयामदिर धर्मपुरा दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भडार से एक और प्राचीन हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालालजी जन अग्रवाल दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई। इसमे विस्तार पूर्वक टिप्पणिया दी गई हैं। उपयुक्त समझकर इस प्रति की भी अधिक टिप्पणिया एव पाठांतर लिये गये हैं। इसकी टिप्पणिया अलग दिखाने की दृष्टि से (दि० प्र = दिल्ली प्रति) सकेत अकित किया है।

पू माताजी की अपार क्षमता एव कार्य कुशलता—

नीतिकारो ने कार्य करने वाले तीन तरह के बतलाये हैं। एक तो वे होते हैं जो कठिनता आदि कारणो से कार्य को करते ही नही हैं दूसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाए आने पर प्रारभ किये हुये कार्य को मध्य मे ही अधूरा छोड़ देते हैं किन्तु तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओ की परवाह न करके अनेक कष्टों को सहन करके भी कार्य को पूर्ण करते हैं। अथवा पूर्ण करने मे सलग्न रहते हैं।

पूज्य माताजी भी तीसरी प्रकार के व्यक्तियो में से हैं जिन्होने अपने जीवन मे कभी भी यह नही सोचा कि यह काम नहीं हो सकता है। सदा आत्मीक बल से सोचे हुये अनेक कार्य पूर्ण किये आपका

अलौकिक अपार है। उत्साह हीनता को आप के जीवन मे प्रश्रय नही मिला। कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा। इसी के फलस्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवाद सहित प्रकाशित होकर आपके हाथो मे पहुच सका है।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की महानता के विषय मे स्व प जुगलकिशोर जी मुख्त्यार द्वारा लिखित देवागम अपरनाम अप्तमीमासा नामक पुस्तक की प्रस्तावना मे जो भाव प्रगट किये हैं उनको उन्हीं के शब्दो मे देना अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा। लिखते है एक बार खुर्जा क सेठ प० मेवारामजी ने बतलाया कि जमनी क एक विद्वान ने उनसे कहा है कि—जिसने अष्टसहस्री नही पढी वह जनी नहीं और जो अष्टसहस्री पढ़कर जनी नही हुआ उसन अष्टसहस्री को समझा ही नही। कितने महत्व का यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान क मुख से निकला हुआ अष्टसहस्री क गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूव कृति है और यह देवागम क मम का उदघाटन करती है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्व की कृति का कोई हिंदी अनुवाद गौरव क अनुरूप होकर प्रकाशित नही हो सका।

काश! अगर आज प जुगलकिशोर जी मुख्त्यार होते तो उन्हे इस अनुवाद ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती।

स्वय आचाय विद्यानद जी ने अष्टसहस्री के द्वितीय अध्याय के मगलाचरण मे लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्रीश्रत किमन्य सहस्र सख्यानै।
विज्ञायेत ययव स्वसमयपरसमय सदभाव ॥

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये हजारो ग्रन्थो के सुनने पढ़ने से क्या प्रयोजन है। जबकि एक मात्र अष्टसहस्री से ही स्वसमय अर्थात आत्मा जन सिद्धात और उनके तलस्पर्शी रहस्यो का बोध हो जाता है। तथा परसमय अर्थात अनात्मा अन्य मतावलबियो के सिद्धात और भ्रात धारणाओ का एव कपोल कल्पनाओ का सवथा निराकरण हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता—

कुछ लोगों की यही धारणा है कि न्याय शास्त्रो मे आत्मा का वणन नही है किन्तु ऐसा नहीं है। प्रमाण-सम्यक ज्ञान का एव आप्त—कर्ममल रहित आत्मा का ही विशद वर्णन है और आत्मा को या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान आधार है और यह अष्टसहस्री स्याद्वाद कथनमय है।

माताजी कहा करती हैं कि अष्टसहस्री मे सप्तभगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्थल-स्थल पर जितना अधिक एव विशद विवेचन है उतना वर्तमान के उपलब्ध जैन सिद्धांत ग्रन्थों मे से अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है। अत. यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि-ग्रथराज है।

अभिमत—

अष्टसहस्री के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके प० परमेष्ठीदास जी ललितपुर-सपादक और पं० लालबहादुर जो शास्त्री सपादक-जैनदशन प० कैलाशचद जो सिद्धात शास्त्री सपादक-जन संदेश, पं० गुलाबचद जी जैन जैनदशनाचाय प्रिंसिपल-सस्कृत महाविद्यालय जयपुर प० बाबूलाल जो जमादार-बडौत प० मूलचद जी शास्त्री श्री महावीरजी प० ए एन० उपाध्याय प पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानो ने बडी प्रसन्नता एव गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टस हस्री जैसे न्याय के महान ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ही नही अपितु इनके अनुवाद जैसे महान काय को करने वाली पू श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परमविदुषी आर्यिका विद्यमान हैं जिनके हमे साक्षात दर्शन हो रहे हैं।

युग की अनुपम देन —

अनेक विद्वानो को सुनकर विश्वास नहीं होता है कि किसी आर्यिका ने इतने विशेष रूप में अष्ट सहस्री का अनुवाद किया हो। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ रचना काल के प्रारभ से अब तक किसी भी आर्यिका द्वारा कोई जन ग्रन्थ लिखा अथवा अनुवाद नही किया गया था।

इस युग की यह एक बडी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय जैसे क्लिष्ट विषयक ग्रथ का अनु वाद दि जन समाज की आर्यिका द्वारा प्रथम बार किया जाकर इतनी सुन्दरता एव विशेषता के साथ प्रकाशित किया गया है।

हस्तलिखित प्रति से टिप्पणियो को निकालने मे पू मुनिराज १०८ श्री वधमानसागर जी महा राज श्री रवीन्द्र कुमार जन शास्त्री बी ए० टिकतनगर व उनकी लघु सहोदरा कु मालती शास्त्री धर्मालकार कु० त्रिशला शास्त्री कु माधुरी शास्त्री एव सघस्थ कु कला ने विशेष सहयोग प्रदान किया तथा प्रस कापी भी तयार की है।

मुद्रित प्रति की प्रस्तावना से उद्धृत—

बबई से प्रकाशित मूल अष्टसहस्री की प्रस्तावना मे प० वशीधर जी ने लिखा है—

श्री विद्यानद स्वामी ने श्री अकलक देव की अष्टशती को अन्तर्गभित करके इस अष्टसहस्री ग्रन्थ को बनाया है स्वामी जी ने इस प्रकार से पूरी की पूरी अष्टशती को अश-अश करके अपने ग्रन्थ मे अत र्भूत कर लिया है कि बिना पृथक सकेत क उसे पृथक् करना शक्य नही है। इसलिए अष्टशत के अशो को पृथक् जानने की इच्छा रखने वालो को पृथक् मुद्रित अष्टशती ग्रन्थ देखना चाहिये। हमने भी ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ छप जाने के अनतर आगे वत्ति ग्रन्थ जहां-जहा आया है वहां वहा गहरे काले अक्षरो मे दे दिया है। प्रारंभ में कुछ पृष्ठो में जो वैसा नहीं किया है उसका कारण वृत्ति ग्रथ का देर से मिलना है।

इसलिये पूव मुद्रित मूल प्रति में पृष्ठ ४६ तक पृथक अक्षरो में नहीं लिया है किन्तु हमने इस प्रस्तुत प्रति मे प्रारभ से ही अष्टशती को गहरे काले अक्षरो में लिया है। अष्टशती की हिन्दी को भी गहरे काले अक्षरों मे लिया है।

आगे पुन मुद्रित मूल प्रति की प्रस्तावना में पं० वंशीधरजी ने लिखा है कि— एक पुस्तक पूना नगर के सहकारी पुस्तकालय से उपलब्ध हुई जो अतीव शुद्ध थी लघ समतभद्रादि सकेतित टिप्पणी सहित थी। किंतु उसमे अभी टिप्पणिया अशुद्ध थी। एक-एक टिप्पणी अनेक बार भी आ गई थी। किसी किसी टिप्पणी के संकेत नही थे कि किस शब्द की टिप्पणी है। एव कोई-कोइ टिप्पणियां अनुप योगी भी थीं। अत जितनी टिप्पणिया उस पुस्तक से लेना आवश्यक प्रतीत हुआ उतनी ले ली। शेष बहुभाग मात्र टिप्पणिया मैंने नियोजित कर दी हैं। अन्य तीन पुस्तके भी मुझ मिली किंतु वे शुद्ध नहीं थी अत पहली पुस्तक से ही बहुत कुछ उपयोग हुआ है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुद्रित प्रति की टिप्पणिया श्री लघसमतभद्र द्वारा बनाई हुइ हैं। एव कुछ टिप्पणियाँ प वशीधर जी द्वारा बनाइ गइ हैं।

मुद्रित ग्रथ मे जितनी भी टिप्पणिया छपी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ मे उन सभी टिप्पणियो को ज्यो की त्यो लिया है। तथा हस्तलिखित दोनो प्रतियो की टिप्पणियों को और पाठातरो को नीचे अलग दे दिया है।

आवश्यक सकेत—

इस ग्रन्थ मे सस्कृत और हिंदी मे जो शीषक हैं उन्हे पू श्री ज्ञानमती माताजी ने बनाये हैं जिनका सकेत [ ] यह है प्रारभ मे अष्टशती को सस्कृत एव हिन्दी मे गहरे काले अक्षरो मे लिया है।

ब्यावर सरस्वती भवन की हस्तलिखित प्रति की टिप्पणियो को पृथक दिखाने के लिये अग्र जी अको द्वारा सकेत किया है।

पाठान्तर के लिये इतिपा सकेत दिया है दिल्ली से उपलब्ध प्रति की टिप्पणी और पाठातरो मे दि प्र० सकेत दिया है जो कि पृष्ठ ३०२ मे स्पष्ट है।

यदि कही सुधार मिला है और वह उपयुक्त प्रतीत हुआ है तो इति वा क्वचित् पाठ सकेत देकर उसे भी टिप्पणी मे सम्मिलित कर लिया है। धरमपुरा दिल्ली के नया मदिरजी से श्री पन्नालाल जी अग्रवाल के सौजन्य से तीन प्रतिया हस्तलिखित अष्टशती की प्राप्त हुइ हैं जिनका साकेतिक नाम अ ब स दिया है जिसके पाठातर का पृष्ठ २९१ २९२ पर खलासा है तथा अन्यत्र भी है।

परिशिष्ट—

परिशिष्ट मे मूलकारिका के साथ अष्टशती को दिया है। उस अष्टशती की एक मुद्रित प्रति है जो कि भारतीय जैन सिद्धात प्रकाशित सस्था से प्रकाशित हुइ है। तीन प्रतिया दिल्ली की हैं जोकि अ ब स से सकेतित हैं तथा ब्यावर व दिल्ली की हस्तलिखित अष्टसहस्री मे भाष्य पद से अष्टशती को पृथक किया है। उन सभी के आधार से पाठभेद भी परिशिष्ट में नीचे दिया गया है।

इस प्रथम भाग मे जितने भी उद्धृत श्लोक आये हैं उन्हें भी अकारादि के अनुक्रम से दिया है। अनतर पारिभाषिक शब्दो के अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है।

न्याय कुंजिका—

अष्टसहस्री आदि सभी न्याय ग्रन्थो मे प्रवेश कराने के लिये कुंजी के समान न्यायसार नामक स्वतन्त्र संकलित ग्रन्थ को परिशिष्ट मे जोड दिया गया है।

अन्य दार्शनिक (दर्शन शास्त्र) प्रमाण के लक्षण और भेदो को किस रूप मे मानते हैं उसका भी वर्णन है। इसी प्रकार जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के भेद प्रभेदो का भी सकलन किया गया है। ससार मोक्ष आत्मा एव ज्ञान आदि के विषय मे अन्य दर्शनो की मान्यता के साथ-साथ जैनाचार्यों की समीचीन मान्यता को भी दर्शाया गया है।

इन सभी विषयो से यह ग्रन्थ मूल म कठिन होते हुए भी सरल एव उपयोगी बन गया है।

आभार—

सोलापुर (महा) निवासी विद्यावाचस्पति श्री मान प वर्धमान जी पार्श्वनाथ जी शास्त्री ने प्रस्तावना लिखकर तथा बनारस निवासी प दरबारी लालजी कोठिया न्यायाचार्य ने प्राक्कथन के द्वारा ग्रन्थ का रहस्योदघाटन करके ग्रथ की महत्ता को द्विगुणित कर दिया ह एव अपने निजी उदगार व्यक्त करके न्याय दर्शन के प्रति जो सबका आकृष्ट किया है उसके लिये हम उभय विद्वानो के अत्यन्त आभारी है। विशेष परिश्रम के द्वारा मोक्षशास्त्र के मगलाचरण को श्री उमास्वामी कृत सिद्ध करने म जो प्रमाण सकलित करके दिये है वह वास्तव म सराहनीय है।

इस भाग के प्रकाशन मे सर्वप्रथम बिना किसी की प्रेरणा के स्वरूचि से गुरू भक्ति एव जिनवाणी की सेवा के भावो से ओतप्रोत होकर श्रीमान सेठ हीरालाल जी जयपुर (फर्म—चपालाल रामस्वरूप न्यावर) ने जो विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उनके भी हम अत्यन्त आभारी हैं। (परिचय आगे दिया गया है।)

एस० नारायण एड सस प्रिंटिंग प्रेस पहाडी धीरज के मालिक श्री नारायणसिंह जी ने इस महान ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण किया है अत हम उनके आभारी हैं।

हमारा प्रथम प्रयास होने से सपादन मे अनेक त्रुटिया एव कमिया रही हैं उसे विद्वदजन एव पाठक वृन्द सुधारकर हमारी अल्पज्ञता के कारण मध्यस्थ भाव धारण करगे। वास्तव मे इस सपादन कार्य मे हमारा श्रम नगण्य है। जिस रूप मे यह प्रथम भाग आपके समक्ष है वह सब पू माताजी के ही अथक परिश्रम का फल है हम तो नाम मात्र के हैं।

हम यथा शीघ्र इसका दूसरा तीसरा एव चौथा भाग प्रकाशित करने का प्रयत्न करगे। कागज

एवं छपाई के दाम निरन्तर तेजी से बढ़ने के कारण उत्पन्न कठिनाई के बावजूद भी हम अविलम्ब प्रकाशन कार्य चालू रखेंगे।

सभी नरनारी इस ग्रन्थ का पठन-पाठन करके स्याद्वाद के रहस्य को अच्छी तरह समझकर सच्चे ज्ञानी बनें यही हमारी भावना है।

दिल्ली

१५ अगस्त १९७४

मोतीचन्द जैन सर्राफ

शास्त्री न्यायतीर्थ

मङ्गल-स्तोत्र

यह अष्टसहस्री आप्तमीमासा की व्याख्या है। अब प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने यह आप्त मीमांसा जिस मोक्षमार्गस्य नेतारम् मङ्गल-स्तोत्र मे स्तुत आप्त की मीमासा (समीक्षा) में लिखी है और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी स्तोत्रगत आप्त की परीक्षा मे आप्त परीक्षा रची है वह महत्त्वपूर्ण मगल स्तोत्र तत्त्वार्थ सूत्र का मगलाचरण है या सर्वार्थसिद्धि का ? इस प्रश्न पर भी विचार लेना आवश्यक है।

इस विषय मे पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। कुछ विद्वानो का मत रहा कि उक्त मगल-पद्य सर्वार्थ सिद्धि के आरम्भ मे उपलब्ध होने और उस पर सर्वार्थ सिद्धिकार की व्याख्या न होने से उसी का मगलाचरण है तत्त्वार्थ सूत्रका नही। सर्वार्थसिद्धि मे तत्त्वार्थ सूत्र के अवतरण की जो प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गई है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ मे मगलाचरण किये बिना ही उसकी रचना की है।

इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानो का स्पष्ट अभिमत है कि सूत्रकार ने जिन्हे शास्त्रकार भी कहा गया है तत्त्वार्थ सूत्र के आदि मे मगलाचरण किया है और वह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम' मगल-स्तोत्र है। सर्वार्थसिद्धि मे वही से वह लिया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ परम आस्तिक थे। वे मगलाचरण की प्राचीन परम्परा का जो षट्खण्डागम कषायपाहुड आदि आगम ग्रन्थो मे भी उपलब्ध है उल्लघन नहीं कर सकते। अत उक्त पद्य उन्ही द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ मे रचित मगल स्तोत्र है। वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने उसे अपनी टीका सर्वार्थ सिद्धि मे अपना लिया है और अपना लेने से उन्होने उसकी व्याख्या नही की।

इस सम्बन्ध मे डाक्टर दरबारीलाल कोठिया ने ऊहापोहपूर्वक सूक्ष्म एव गम्भीर विचार किया है और तत्त्वार्थसूत्र का मगलाचरण शीर्षक अपने दो विस्तृत निबन्धो मे[1] आचार्य विद्यानन्द के प्रचुर ग्रन्थोल्लेखो एव अन्य प्रमाणोसे सबलताके साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्रके आरम्भ मे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग [१ १] सूत्र से पहले मगलाचरण किया है और वह उक्त मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मगल-स्तोत्र है जिसे विद्यानन्द ने[2] शास्त्रकारकृत स्तोत्र बतलाते हुए 'तीर्थोपम

---

१ अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६ ७ तथा १० ११ वीर सेवा मन्दिर सन् १९४४।

२ आप्तपरीक्षा कारिका ३ व १२३ वीर सेवा मन्दिर-सस्करण सन् १९४९।

'प्रथित-पृथु-पथ' और स्वामिमीमांसित जैसे अर्थगर्भ महत्त्वपूर्ण विशेषणों से युक्त किया है[1]। विद्यानन्द का उसे शास्त्रकारकृत बतलाना तीर्थोपम कहना प्रथित पृथु-पथ—प्रसिद्ध-महानमार्ग प्रकट करना और स्वामी द्वारा मीमांसित निरूपित करना ये सभी बातें विशेष महत्त्वपूर्ण एव साथ हैं। आगे डाक्टर कोठिया ने बल देते हुए लिखा है कि विद्यानन्द के[2] इन तथा अन्य उल्लेखो से स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र ने इसी मगल-स्तोत्र पर उसके व्याख्यान मे आप्तमीमासा लिखी और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी की व्याख्या मे अष्टसहस्री के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा रची। सूत्रकार एव शास्त्रकार पदो से विद्यानन्द का स्पष्ट अभिप्राय तत्त्वाथ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ से है तत्त्वाथ वृत्तिकार आचाय पूज्यपाद-देवनन्दि से नही है। सर्वार्थसिद्धिम उक्त मगल-स्तोत्र को अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या नही की गयी। सर्वार्थसिद्धि मे जो तत्त्वार्थशास्त्र के अवतरण की प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गयी है उसका यह अथ नही कि प्रश्नकर्ता भव्य प्रश्न करने पर आचार्य ने सारा व्याख्यान देकर उसे तत्काल निबद्ध किया है। अपितु उसने मोक्ष और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा प्रकट की तदनुसार आचाय ने उसकी या उस जसे अनेक भव्यो की जिज्ञासा शांति के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ निर्माण की आवश्यकता अनुभव करके तत्त्वाथ सूत्र शास्त्र की रचना की और उसके आरम्भ में पूर्व परम्परानुसार उक्त स्तोत्र को मंगलाचरण के रूप मे निबद्ध किया।

अत मगल-स्तोत्र के विषय मे अधिक न लिखकर अब इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वह आचाय गृद्धपिच्छरचित तत्त्वाथ सूत्र का ही मगलाचरण है सर्वाथ सिद्धि का नही।

इस विषय मे पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी ने अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से अनेकों प्रमाण निकाले हैं। उनमें से कुछ उद्धरण बानगी के रूप मे यहा दिये जा रहे हैं—

अष्टसहस्री के मंगलाचरण में ही प्रारभ मे शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्त मीमांसित कृतिरलं क्रियते मयास्य इस उत्तराध मे श्री विद्यानंदि महोदय ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्रावतार—तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र के प्रारम्भ मे रचित स्तुति के गोचर जो आप्त है उनकी मीमासा रूप यह कृति मेरे द्वारा अलकृत की जाती है।

---

१ श्री मत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानाऽऽरम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृत यत्।
स्तोत्र तीर्थोपमान प्रथित-पथ-पथं स्वामि-मीमांसित तद्
विद्यानन्द स्वशक्त्या कथमपि कथित सत्यवाक्यार्थसिद्धय ॥

२ इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्र गोचरा।
प्रणीताऽऽप्तपरीक्षय विवाद-विनिवृत्तये ॥

—आप्त परीक्षा का १२३१२४ पृ २६५।

टिप्पणीकार श्री लघु समन्तभद्र ने भी इसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है—

'इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्या सपदा गणधर प्रत्येक बुद्ध श्रुत केवलि दशपूर्वाणा सूत्र कृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात कुर्वद्भिरुमास्वामिपादराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्ष शास्त्रस्य गधहस्त्याख्य महाभाष्यमुपनिबध्नत स्याद्वादविद्याग्रगुरव श्री स्वामि समतभद्राचार्यास्तत्र मंगलपुरस्सर स्तवविषयपरमाप्त गुणातिशय परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचन तीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे ।

तत्त्वार्थाधिगमरूपमोक्षशास्त्र के ऊपर गधहस्ति नाम का महाभाष्य लिखते हुए श्री समतभद्र स्वामी ने मगलाचरण मे स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणो के अतिशयों की परीक्षा करते हुये देवागम' नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि को बनाया है।

स्वय श्री विद्यानद महोदय ने छठी कारिका की उत्थानिका में— नवस्तु नामैव कस्यचित्कम भूभद्भित्वमिव विश्व तत्त्व साक्षात्कारित्व प्रमाण सदभावात । स तु परमात्माह नेवेति कथ निश्चयो यतोहमेव महानभिवद्यो भवतामिति ।

कम पर्वत भेदन करने वाले के समान कोई महापुरुष विश्व तत्त्व को साक्षात् करने वाले हो जावें किन्तु वह परमात्मा अहत ही हैं ? यह निश्चय कसे हुआ कि जिससे मैं ही आपके द्वारा अभिवद्य होऊ मानो ऐसा प्रश्न श्री समतभद्र ने स्वय भगवान के सामने रखा है। आगे सातवी कारिका की उत्थानिका मे भी कहते हैं कि— [४]भगवतोऽहत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासभवदबाधक प्रमाणत्वेन च सवज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात । ततस्त्वमेव महान मोक्षमागस्य प्रणता नान्य कपिलादि ।

इन वाक्यो से यह बात स्पष्ट है कि मोक्ष माग के नेता कर्म पवत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता इन तीन विशेषणो से ही अहत को सच्चा आप्त सिद्ध किया जा रहा है अथवा अहत मे ये तीन विशेषण घटित होते हैं इसलिये ही वे सच्चे आप्त हैं। यह सिद्ध किया गया है।

आगे और देखिये—अतिम ११४ वी कारिका की टीका मे श्री अष्टसहस्रीकार क्या कहते हैं—

शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमाग प्रणतृतया कमभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वाना ज्ञातृतया च भगवदहत सवज्ञस्यवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेय विहिता ।

शास्त्र के आरम्भ में स्तुति को प्राप्त जो आप्त हैं वे मोक्षमाग के प्रणता कम पवत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन 'विशेषणो से युक्त भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ ही हैं अन्य कोई नही हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य योग का व्यवच्छेद करके भगवान अर्हंत में ही इन विशेषणो की व्यवस्था को करने में तत्पर यह परीक्षा की गई है। यह है सारे अष्टसहस्री ग्रन्थ का अंतिम उपसहार। यह मगलाचरण श्री उमास्वामी आचार्यकृत ही है इस बात को सिद्ध करने के लिये इससे बढ़कर सबल प्रमाण और क्या हो

सकता है ? पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी आश्चर्यपूर्वक कहा करती हैं कि यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी कृत है या नहीं ? विद्वानो में ऐसी शंका कहाँ से उत्पन्न हो गई ?

[1] श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ में भी श्री विद्यानंद महोदय ने स्थल-स्थल पर इस बात को स्पष्ट किया है । देखिये [1]

[1]प्रबुद्धाशेष तत्त्वार्थ साक्षात्प्रक्षीणकल्मष ।
सिद्ध मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मन ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्त सूत्रमादिदम ॥२॥

कल्याणमार्ग के अभिलाषी अनेक शिष्यो की मोक्षमार्ग जानने की इच्छा होने पर ही मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार' । इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मगलाचरण की भित्ति पर ही श्री उमास्वामी महाराज ने पहला सूत्र लिखा है । जिन्होने केवल ज्ञान के द्वारा सपूर्ण पदार्थ जान लिये हैं ज्ञानावरण आदि घाति कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा मोक्षमार्ग का प्राप्त करने और कराने वाले मुनि पुगवो द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के सिद्ध होने पर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप और मोक्ष से युक्त होने वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की तीव्र अभिलाषा होने पर यह पहला सूत्र सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग उमास्वामी आचार्य ने प्रचलित किया है ।

' [2]सिद्ध मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रवचन वक्त सूत्रमादिम शास्त्रस्येति ।
ततो[3] नि शेषतत्त्वार्थवेत्ता प्रक्षीणकल्मष ।
श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स सस्तुत्यस्तदर्थिभि ॥४६

इन सभी प्रमाणो से सर्वथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मगलाचरण श्री सूत्रकार उमामी आचार्य कृत ही है ।

श्री उमास्वामी आचार्य ने गागर मे सागर को भरने वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है । उनके इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेको बड बड ग्रन्थ तयार हो गये हैं । जब एक मगलचरण के ऊपर आप्त मीमांसा अष्टशती और अष्टसहस्री जैसे जैनदर्शन के सर्वोपरि ग्रन्थ बन गये । आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बन गया । तब उस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता की जितनी भी गौरव गाथाय गाई जावें थोडी ही हैं । यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में दक्षिण उत्तर आदि प्रातो मे सर्वत्र नर-नारी इस

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार प्रथम खड प ४
२ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार प्र ख प १८
३ तत्त्वार्थ श्लोक प १४५

तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ बड़ी भक्ति से करते हैं और एक उपवास करने का फल समझते हैं। बहुत-सी महिलाओं का तो नियम ही रहता है कि तत्त्वार्थसूत्र सुने बिना भोजन नहीं करना । कहा भी है–

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवै ॥

दश अध्याय से परिपूर्ण इस तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा श्री मुनियों में श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है।

इस ग्रन्थ का यह मंगलाचरण सच्चे आप्त देव को सिद्ध करने में सर्वोपरि मान्य अमोघ उपाय है। ऐसा समझना चाहिए।

कु० मालती शास्त्री धर्मालंकार
(संघस्थ)

पू आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन दर्शन

बहुतों ने रोका पुरुषार्थ किया समझाया लेकिन स्वातन्त्र्य
प्रिय मना को रोकने में सफलता कैसे मिलती,
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने में सफलता नहीं मिली
आखिर लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया अन्तमन से जयकारा बोला।

\+ \+ \+

न्याय शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ अष्टसहस्री जिसको बनाने वाले आचार्य श्री विद्यानन्दि ने स्वय १२ ० वष पूव ही इसे कष्टसहस्री की सज्ञा प्रदान करदी है ऐसे महान क्लिष्ट ग्रन्थ का सरल भाषा मे हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर देना यह कोई महान व्यक्तित्व का ही काय है—साधारण जन तो उसके हिन्दी अभिप्राय को समझने मे ही अपनी शक्ति का निरीक्षण पहले कर लते हैं। जिस महान मस्तिष्क ने इस स्याद्वाद अनेकान्त एव सप्तभगी से ओतप्रोत ग्रन्थ मे मनरूपी मथानी से सारे ग्रन्थ का आद्योपान्त एक-एक अक्षर एक एक शब्द का मन्थन करके उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिप्राय को हृदयगम कर लिया है—उस महान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत थोड शब्दो द्वारा मैं आपको जानकारी प्रदान कर रहा हू।

सस्कृत मे प्रसिद्ध उक्ति— गुणा पूजास्थानम गुणिष न वय न च लिङ्ग ।

जन्मतिथी —

आध्यात्मिक क्षत्र मे स्त्रीपर्याय के सर्वोत्कृष्ट आर्यिका के व्रतो से विभूषित विदुषी माता ज्ञान मती जी के नाम से प्रसिद्ध व्यक्तित्व का जन्म सम्पूर्ण शुभ्र ज्योत्स्ना से प्रसरित शरदपूर्णिमा (आसोज शुक्ला १५) वि स १९९१ सन १९३४ की शभ रात्रि मे तीथकरो की जन्म भूमि आयोध्या के निकट बाराबंकी जिल के एक छोटे से गाव टिकतनगर मे हुआ था। माता पिता मे धार्मिक वत्ति होन से पुत्री का शभ नाम रखा मना।

बाल्यावस्था —

टिकतनगर निवासी अग्रवाल जातिय श्रेष्ठि श्री छोटेलाल जी जन को सौभाग्य प्राप्त हुआ कु० मैना के पिता बनने का। मन मे बहुत प्रसन्नता थी सवप्रथम सतान पुत्री को जन्म देकर माता मोहिनी देवी को। वसे कन्या का जन्म साधारणतया घर मे कुछ समय के लिए क्षोभ उत्पन्न कर देता है किन्तु विश्व में अनादि काल से पुरुषों के समान नारियो ने भी महान काय कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतियों के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

भारतीय परम्परा में वैदिक संस्कृति ने कन्या को १४ रत्नो में से एक रत्न माना है। माता पिता दोनों धीमान्, सज्जन, सरल एव धर्म परायण थे। प्रथम सन्तान होने से कुमारी मैना को माता पिता का सर्वाधिक प्यार एव वात्सल्य मिला। घर के पास ही जिनेन्द्र देव का विशाल मदिर एव पार्श्वनाथ दिगम्बर जन माध्यमिक विद्यालय होने से मैना' ने धार्मिक सस्कारो का आदर किया।

ब्रह्मचर्य —

सस्कारो का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है। ११ वष की अवस्था मे कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पडी। अकलक निकलक नाटक के दृश्यों की। विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने माता पिता से कही थी कि कीचड में पैर रखकर धोने की अपेक्षा नही रखना ही श्रेयस्कर है।' तदनुसार आपनें भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचय व्रत रखने का मन में सकल्प कर लिया।

कुमारी मैना का व्यक्तित्व बाल्यकाल से ही बडा आकषक था सभी लोग आपके ज्ञान एव दिन चर्या से बहुत प्रसन्न रहते थे। कुशाग्रबुद्धि सहनशीलता वात्सल्य काय करने की उत्सुकता एव काय को पूरा करने की दृढ़ता तथा सयमित जीवन आपके विशेष गुण थे।

साधना की ओर —

समय बीतता गया। इधर कुमारी मैना जीवन के मधुर क्षण में प्रवेश कर रही है—माता पिता एक कुटम्बीजन कुमारी मैना के विवाह-बन्धन की तैयारी मे लगे हुए हैं उधर आचायरत्न १ ८ श्री देशभूषण जी महाराज का विहार उत्तर भारत मे हो रहा था। दवयोग से आचाय श्री का बाराबकी में मगल आगमन हुआ। बाराबकी मे आचार्य श्री के केशलोच की सूचना टिकैतनगर गाव में भी पहुची। कुमारी मैना भी अपने लघ भ्राता श्री कैलाशचन्द के साथ बाराबकी केशलोच देखने आयी। आचार्य श्री के केशलोच देखने के लिए एक विशाल जन समुदाय उमड पडा था – विशाल जन समुदाय के मध्य मे ही कुमारी मना न आचय श्री से क्षुल्लिका दीक्षा की याचना कर दी। समाचार पाकर घर से कुटम्बी जन माता पिता तथा गाव के अय बहुत से लोग आ गये। लोगो ने कुमारी मना को बहुत समझाया—तरह-तरह की घोर यातनाए दीक्षित जीवन मे सहन करना पडती हैं एकबार भोजन करना पैदल चलना आदि बहुत कठिन एव दुरूह कार्य हैं—फिर घर मे विवाह की सारी तयारिया चल रही हैं। लेकिन कुमारी मैना के मन पर किसी के समझाने का कोई असर नही हुआ। अन्ततोगत्वा कुमारी मैना ने भाई कैलाशचन्द आदि को यह कह कर विदा किया—कि हमारा और आप लोगो का सम्बन्ध अब तक रहा और आगे भी रहेगा। अन्तर केवल इतना आयेगा कि अब तक हमारा आपका मोह का संबंध था और आगे अब धर्म का सम्बन्ध रहेगा। विवश होकर कु० मैना के सामने सबको झुकना पडा।

समय था २२ वर्ष पूर्व का। लोगों के अत्यन्त आग्रह एवं उग्र रूप धारण कर लेने से आचार्य श्री ने उस समय क्षुल्लिका दीक्षा न देकर सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार करा दिये तब यहीं से कुमारी मैना के जीवन ने आध्यात्मिक मोड ले ली।

क्षुल्लिका दीक्षा —

बहुतो ने रोका समझाया लेकिन स्वातन्त्र्य प्रिय कु मैना को रोकने मे सफलता नही मिली।

६ माह बाद चांदनपुर श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर आचार्य श्री ससघ पदार्पण करते हैं। पुन कुमारी मैना दीक्षा की याचना करती है आचार्य श्री ने योग्यता एव दृढता को देखकर शुभ मिती चैत्रकृष्ण १ स० २० ९ के दिन क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान कर दी तथा त्याग एव निश्चय की दृढता को देखकर नाम रखा— वीरमती।

अब आपका सारा समय ध्यान अध्ययन मनन चिन्तन मे व्यतीत होने लगा। धीरे धीरे २ वर्ष बीत गये। अभी आपके कदम त्याग के अन्तिम चरण की ओर बढने के प्रयास मे थे।

आर्यिका दीक्षा —वीरमती से ज्ञानमती

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की कुन्थलगिरि मे सल्लेखना हो रही है। महसघ चातुर्मास के मध्य ही आप भी कुन्थलगिरि आइ और आचार्य श्री की विधिवत सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि वीरसागरजी को आचार्य पट्ट की घोषणा कर दी है। आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार वीरमति ने आचार्य वीर सागर जी महाराज के सघ मे पदार्पण किया। धीरे २ कुछ समय बीता—तदनन्तर वीरमति ने आ वीर सागर जी से स्त्री पर्याय मे सर्वोत्कृष्ट आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली–वह दिन था वि स २ १३ बसाख कृष्णा २ का। राजस्थान की प्रसिद्ध नगरी माधोराजपुरा को इस समय का सौभाग्य प्राप्त हुआ। माता जी के ज्ञान की प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य श्री वीरसागर जी ने दीक्षोपरात वीरमति का नाम परिवतन कर नामकरण कर दिया— ज्ञानमती'।

अध्ययन अध्यापन —

आचार्य श्री के सान्निध्य में सबसे छोटी (२० वष) आयु की आर्यिका एव ज्ञान मे अत्यन्त तीक्ष्ण होने से स्थान-स्थान पर प्रवचन रूपी ज्ञान गगा प्रवाहित होने लगी—लकिन दुर्भाग्य से आचार्य श्री २ वर्ष पश्चात इस नश्वर देह को त्याग कर गये। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात लगभग ६ वर्ष तक पूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के सानिध्य में रह कर ध्यानाध्ययन किया।

अग्रेजी की एक सुप्रसिद्ध कहावत है— The Power Study of mankind is man' मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय मनुष्य ही है।

प्रारम्भ से ही अध्ययन-अध्यापन आप का प्रमुख व्यसन सा रहा है। दीक्षोपरांत सारे भारत में भ्रमण करके अनेकों प्राणियो को आपने त्याग के उत्कृष्ट व्रत आर्यिका एवं मुनि मार्ग पर आसीन कराया है। तथा शिष्यों को स्वयं ही न्याय व्याकरण छंद अलंकार सिद्धांत एवं अध्यात्म आदि विषयों के उच्च कोटि का ज्ञान प्रदान किया है। आपकी ओजस्वी वाणी ने न जाने किन २ पर मधुर प्रहार करके जीवन को परिवर्तित कर दिया है। दिन प्रतिदिन आपकी ज्ञानगरिमा की मधुर सौरभ जन २ में उत्तरोत्तर व्याप्त हो गई।

तीर्थ यात्रा —

वि स २ १६ मे तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा हेतु आपने ३ आर्यिका एव १ क्षुल्लिका के साथ आचाय श्री की आज्ञा लकर सघ से अलग विहार किया । सम्मेदशिखर दशनोपरात दक्षिण भारत का भ्रमण कर कलकत्ता हैदराबाद श्रवणबेलगोला तथा सोलापुर जसे भारत के विशाल एवं प्रमुख शहरो में चातुर्मास करके अतीव धर्म की प्रभावना की। स्थान स्थान पर सावजनिक सभाओ द्वारा आपने भगवान महावीर की वाणी का महान उद्यात किया है।

दक्षिण भारत की यात्रानतर पूज्य माताजी ने मध्य भारत को भी अपन पावन पद रज से सुशोभित किया। अनेक छोटे बड शहरो म विहार करके धम की वर्षा करते हुए पूज्य माता जी का मगल पदापण इन्दौर निकटस्थ सनावद मे होता है। शुभ वष स २ २४ का चातुर्मास पूज्य माता जी ने सनावद मे करने का निणय न्यिा। सनावद मे पूज्य माताजी का चातुमास होता है तथा ४ महोने निरतर अनेको प्रकार से धम वाय के द्वारा समाज को एक नई दिशा प्राप्त होती है। आपके वात्सल्यपूण विद्वत्तापूण एव मार्मिक उपदेशो का श्रवण कर सनावद निवासी कालज के विद्यार्थी श्री यशवत कुमार तथा श्री मोतीचद जी सराफ के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पडा इधर पू`य माताजी की सदप्ररणा का आश्रय मिला—दोनो नवयुवको के जीवन मे एक नया मोड आया।

सघ समागम —

आचाय श्री शिवसागरजी महाराज विशाल संघ सहित सलूम्बर निकटस्थ ग्राम करावली (राज०) मे विराजमान थे—सनावद चातुर्मासोपरात पूज्य माताजी आचाय सघ मे पदापण करने की मगल कामना करके सनावद से विहार कर देती हैं। शीघ्र ही आचाय सघ से माताजी का मगल मिलन होता है। साथ मे बालब्रह्मचारी श्री मोतीचन्द जी सर्राफ एव श्री यशवतकुमार भी पूज्य माताजी की छत्र छाया मे विद्याध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। पूज्य माताजी ने अन्य विद्यार्थियो के साथ इन्हे भी व्याकरण न्याय सिद्धान्त आदि ग्रन्थो का अध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतापगढ़ चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद आचाय श्री शिवसागर जी महाराज का विशाल संघ समुदाय के साथ श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा की सानद समाप्ति के लिए

[illegible] होता है। उस समय श्री महावीर जी क्षेत्र पर आ० शिवसागर जी महाराज के विशाल संघ समेत कुल ७२ साधुओं के विशाल समुदाय का दृश्य कई शताब्दियों के बाद प्रथम अवसर था। [illegible] भक्ति में झूम रहे थे। लेकिन कर्मों की विचित्रता से ही मानुष के तुच्छ कमल के वैराग्य के अंकुर निकलते हैं। कर्मों के आगे किसी का वश नहीं चलता—आ शिवसागर जी महाराज प्रतिष्ठा से पूर्व ही विपुल साधु समुदाय के मध्य इस नश्वर शरीर का परित्याग करके हम सबकी दृष्टि से अविद्य मान हो गये। अगर उस समय की करुण गाथा को हम आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करें तो एक विशाल ग्रन्थ तयार हो जावेगा।

महान प्र रणा —

आचाय श्री शिवसागर जी महाराज की समाधि के पश्चात विशाल समुदाय के मध्य बालब्रह्मचारी महातपस्वी त्यागमूर्ति पूज्य मुनि धमसागर जी महाराज को आचाय पट्ट प्रदान किया गया।

यशवंतकुमार एव श्री मोतीचद जी को भौतिक युग (गृह पिंजरे) से आचार्य सघ रूपी गुरुकुल मे आये १ वष ही बीते होंगे—कि ससार की नश्वरता को देखकर यशवत कुमार मे वराग्य के तीव्र भाव बढ़े और पूज्य वात्सल्यमूर्ति ज्ञानमती माताजी की सदप्रेरणा प्राप्त कर नवीन आचाय श्री के चरण—कमलो मे यथा जात दीक्षा की य चना कर दी—शुभ मिती फाल्गुन शक्ला ८ स २ २५ के दिन बिना किसी पूर्वाभ्यास के ५० ६० हजार विशाल जन समुदाय के मध्य दगम्बरी दीक्षा धारण कर ली—सबसे अल्प आयु (१९ वष) की प्रथम दीक्षा प्रदानकर आचाय श्री धम सागर जी महाराज ने तदनुरूप यश वंत कुमार का नाम रखा—वर्धमानसागर। जो कि आज हम सबके समक्ष आ सघ के सान्निध्य मे रत हैं—यह महान उदाहरण जो आपके सामने प्रस्तुत किया—पू य माताजी के अथक प्रयास एव प्रतिभा का ही द्योतक है।

प्रस्तुत ग्र थ अष्टसहस्री के सपादन कार्य मे जिन मोतीचद जी ने अपने समय का सदुपयोग किया है—ये वही मोतीचन्द जी है जो पूज्य माताजी के र्मार्मिक प्रवचनो से प्रभावित होकर ६ वष पूव गृह पिंजरे से निकलकर आचाय सघ रूपा पाठशाला मे माताजी से अध्ययनाथ आये। आपके पिता श्री अमोलकचद जी सा एवं मा रूपाबाई ने बहुत ही विचार पूर्ण दष्टि से बच्चे का नाम मोतीचन्द रखा था। धनाढ्य परिवार होने से सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी वराग्यपूर्ण भावनाओ के कारण आपने बिना किसी की प्ररणा के १८ वष की अल्पायु में सन १९५८ मे आजीवन ब्रह्मचय व्रत ले लिया था। १० वष घर पर ही बडी कशलता स व्यापार करते हुए धर्माराधन मे सलग्न रहकर सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अग्रसर रहकर व्यतीत किये।

पश्चात् पूज्य माताजी के साथ आकर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त करके शास्त्री एव [illegible] स० वि० परिषद की न्यायतीथ परीक्षा उत्तीण करके आपके समक्ष अनेको ग्रन्थोंके सपादन [illegible]

अन्य धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कर रहे हैं। आपके घर सोने चांदी का व्यापार होता है आपकी प्रेरणा से आपके पिताजी ने ४ वर्ष पूर्व पचीस हजार रु० का दान निकालकर एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की—जिसके माध्यम से सनावद में ही आज २ धार्मिक पाठशालाएं चल रही हैं। दो छोटे भाई आपके द्वारा छोड़े हुए व्यापार को सम्हाल रहे हैं।

अभी पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी की सदप्रेरणा से स्थापित दि जैन त्रिलोक शोध संस्थान के निर्माण काय मे भी आपने पचीस हजार रु की राशि दान में घोषित की है। इस प्रकार आपके पिताजी धर्म कार्यों में समय-समय पर विपुल धन राशि व्यय करते आ रहे हैं।

शास्त्री एव न्यायतीथ के अलावा आपने पूज्य माता जी से जन भूगोल का बडा ही गहन अध्ययन प्राप्त किया है। इस प्रकार ६ वर्ष से सघ की सेवा मे रहकर व्याकरण याय सिद्धा त भूगोल अध्यात्म आदि के ग्रन्थो का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आपके सहिष्णता एव वात्सल्य जसे अनुकरणीय गुणों से हर व्यक्ति प्रभावित रहता है। ऐसे महान व्यक्तित्व से समाज एव धर्म को अनेक आशाए हैं यह भी पूज्य माताजी की ही प्रतिभा का परिचायक है।

पूज्य मुनिराज सभवसागर जी पूज्य मुनिराज वधमान सागर जी स्व पूज्य आर्यिका पद्मावती जी पू आ० जिनमतीजी पू आ आदिमतीजी पू आ श्रेष्ठमतीजी पू आ अभयमतीजी पू० आ जयमतीजी पू आ रत्नमतीजी तथा पू आ यशोमतीजी पू क्ष मनोवतीजी आदि ने आप से ही ज्ञान एवं त्याग की प्रेरणा प्राप्त की है।

श्री मोतीचद जी के अतिरिक्त मुझ तथा कु मालती कु शीला कु सुशीला कु कला कु माधुरी कु त्रिशला कु मजू आदि विद्यार्थियो को शास्त्री एव न्यायतीथ का अध्ययन करा कर पूज्य माताजी ने अनेको होनहार छात्रो एव छात्राओ को ज्ञान दान प्रदान किया है। आपकी लघु सहोदरा कु त्रिशला एव कु माधुरी ने १२ एव १४ वष की अल्पायु मे राजवार्तिक गोमट्टसार सर्वार्थसिद्धि अष्टसहस्री आदि ग्रथो का अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा उत्तीण कर एक नया उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। यह सब पू माताजी की उच्चकोटि की प्रतिभा एव ज्ञान गरिमा का ही फल है। पू माताजी की मातेश्वरी मोहनी देवी ने भी सन १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनन्तर आपकी प्रेरणा से आपके ही पदानुकूल आर्यिका के सर्वोत्कृष्ट व्रत अगीकार करके भारतीय जैन इतिहास को गौरवान्वित किया है। जिस-जिस बगीचे मे आपने उपदेशामृत एव ज्ञान रूपी बीज डाला है वह प्रत्येक बगीचा एक न एक दिन मधुर सुवासो से युक्त पुष्पित एव पल्लवित नजर आया है। आपकी छत्र छाया मे रहने वाली अनेक कु० बालिकाए ज्ञान एव त्याग मे उत्तरोत्तर बढती जा रही हैं। यह है आपका जीवन एव आपकी छत्र छाया मे रहने वालो के जीवन के ज्ञान एव त्याग मे बढते कदम।

चिन्तनात्मक संकलन :—

लेखन 'चिन्तन' का प्रसाद है । पू माताजी ने जैन भूगोल का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन किया है। 'त्रिलोक भास्कर', 'जैन ज्योतिर्लोक एवं जम्बूद्वीप नामक पुस्तको में आप दृष्टि डालकर देखें तो आपको इस तप पूत जीवन के महान क्षणो द्वारा अन्वेषित सामग्री प्राप्त होगी ।

जिस समय हम न्यायदर्शन की ओर दृष्टि डालते हैं तो प्रस्तुत ग्र थ अष्टसहस्री (भाषानुवाद सहित) एव न्यायसार से आपके गहन अध्ययन एव प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है ।

पू० माताजी बहुमुखी प्रतिभा मे युक्त हैं । प्रथमानुयोग चरणानुयोग करणानुयोग एव द्रव्यानुयोग मे माताजी का समान अधिकार है । व्याकरण छद अलकार आदि मे आप अच्छी तरह सिद्ध हस्त हैं । आपके द्वारा अनुवादित कातन्त्रव्याकरण वीरज्ञानोदयग्रथमाला के प्रकाश्य विभाग मे विद्यमान है । सस्कृत की स्तुतिया बनाना आपके लिए बहुत ही साधारण सा काय लगता है । हि दी की रचना मे आपकी रूचि कम ही है फिर भी उषावदना' ग्रामोफोन रिकाड आपक द्वारा रचित स्तुति का ही सुफल है । कई ग्रामो एव शहरो के बालक बालिकाओ की जिह्वा पर गुनगुनाते हुए स्वर मे आने वाली 'मंगलस्तुति भी आपकी बहुमूल्य देन है ।

इसके अतिरिक्त ग्र थमाला के प्रकाश्य विभाग मे भगवान महावीर कसे बन सचित्र पुस्तक को देखने से भगवान महावीर के पूव पर्यायी अनेको भवो का स्पष्टीकरण आपको प्राप्त होगा । चित्रो से पुस्तक को अतीव रोचक बनाने का परुषाथ किया है । यह भी पू माताजी के सौज य से ही प्राप्त हुई है ।

पू माताजी हि दी सस्कृत प्राकृत एव कन्नड भाषा की उदभट विद्वान हैं । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भाषाए आशिक रूप से आपकी प्रायोग्य हैं ।

प्रेरक स्तम्भ —

'दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान की स्थापना करवा कर आप जन समाज के लिए ही नही वरन समग्र भारत को एक अभूतपूव अद्वितीय एव दशनीय चीज प्रदान कर रही हैं । इस सस्थान के अतगत सचालित वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला से अनेका ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे है ।

उपरोक्त सस्थान के अ तगत मासिक मुख पत्र के रूप मे सम्यग्ज्ञान भी आपके समक्ष विपुल सामग्री सहित प्रस्तुत करके हमें गौरव का अनुभव हो रहा है । क्योकि प्रस्तुत पत्रिका मे सारे लेखो का संग्रह इसी तप पूत व्यक्तित्व के सौज य से प्राप्त हो रहा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि २२ वष के दीक्षित जीवन मे पू० माताजी ने स्व एव पर सम्बन्धी अनेकों कार्य किये—दर्शन एव ज्ञान को चारित्र से अलकृत किया ।

वह भी समय था—जब बहुतों ने रोका था समझाया था, पर स्वातन्त्र्य
प्रिय कुमारी मैना को रोकने में सफलता कैसे मिलती
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने मे सफलता नहीं मिली थी
जब लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया—धन्नमन से जयकारा बोला।

एक हैं अष्टान्हिका के महान व्रतों को याद दिलाने वाली मना। आज यह मानव जीवन के सर्वोत्कृष्ट व्रत त्याग वृत्ति को याद दिलाने वाली मना (ज्ञानमती) हैं। दोनो ही मना वीतराग भगवान की भक्ति एवं धर्म में सम्यक श्रद्धा ज्ञान तथा चारित्र के कारण ससार मे क्रमश मान्य एव वन्दनीय बन गई हैं।

पू माताजी के चरणो मे शतश नमन।

दिल्ली
२० अगस्त १९७४

रवीन्द्र कुमार जन
शास्त्री बी० ए०

दो शब्द

३ फरवरी १९७१ टोंक (राज) मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर की बात है। लखनऊ विश्वविद्यालय से केवल बी ए० तक ही अध्ययन प्राप्त करके पूज्य मातुश्री के चरणो मे दर्शनार्थ उपस्थित हुआ था—पूज्य मातुश्री ने लौकिक अध्ययन एव जीवन की नश्वरता के अनेक उदाहरणो द्वारा हृदय को परिवर्तित कर दिया। अन्तत पूज्य मातुश्री के चरणो मे रहकर कुछ काल तक धार्मिक शिक्षण लेने का मन मे निणय लेना पडा। सौभाग्य था—पुण्योदय था पूज्य मातुश्री ने ३ माह के अन्दर मुझ शास्त्री परीक्षा के सारे पाठयक्रम का अध्ययन करा दिया। अध्ययन करके मैंने परीक्षा दी और अच्छे अंकों से उत्तीणता प्राप्त हुई सफलता से उत्साह बढा और मुझ अनुभव हुआ कि जो अध्ययन पूज्य मातुश्री ने ३ माह मे मुझ अथक परिश्रम से कराया है। वह मैं किसी विद्यालय या कालेज में ३ वष से कम मे नही कर सकता हू। धीरे धीरे धार्मिक अध्ययन एव साध सेवा मे निरन्तर इच्छा बढती गई तथा विश्वविद्यालय के अध्ययन की ओर से रुचि घटती गई। जिसके परिणाम स्वरूप ५ मई सन १९७२ को पूज्य माता जी की सदप्ररणा एव भाई श्री मोतीच द जी के अथक प्रयास से मैंने नागौर (राज) मे विराजमान आचाय श्री १ ८ धमसागर जी महाराज से आजीवन ब्रह्मचय व्रत ग्रहण करके जीवन को मोड देने का निणय लिया। पश्चात कुछ समय गहप्रवास मे और बिताकर पूज्य माता जी के दिल्ली चातुर्मासान्तगत दिल्ली आकर मातुश्री की प्ररणा से स्थापित दि जन त्रिलोक शोध सस्थान तथा संस्थान के अन्तगत सचालित वीर ज्ञानोदय ग्र थमाला एव सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका के सपादन काय मे सहयोग करने का मुझ सौभाग्य प्राप्त हुआ –यह सब पूज्य मातुश्री की ही कृपा का प्रसाद है। जो इतने उच्चकोटि के ग्रन्थ आदि के सम्पादन काय मे सहयोग देने की मुझ मे क्षमता प्राप्त हुई। अन्त मे पूज्य मातुश्री के चरणो मे श्रद्धा सुमन समपण करता हुआ—आप सब के समक्ष अष्टसहस्री का प्रथम भाग उपस्थित कर रहा हू आशा है आप सब लोग पूज्य माता जी की साधना से पूण रूप मे लाभान्वित होंगे।

२० अगस्त १९७४ रवीन्द्र कुमार जैन

ब्यावर निवासी जयपुर प्रवासी, सेठ सा० हीरालाल जी (रानी वालों) का पुनीत सहयोग

प्रस्तुत अष्टसहस्री प्रथम भाग के पुनीत सहयोगी सेठ हीरालाल जी के पूर्वज मूल से खर्जा निवासी रहे हैं। किन्तु प्रसिद्धि रानी वालों' के नाम से हुई। आपके पिता रायबहादुर सेठ चपालाल जी सन १८७५ के आस पास ब्यावर आये एव रुई का व्यापार प्रारम्भ किया। इस व्यापार मे इनकी बडी ख्याति हुई तथा बगाली देशी रुई के व्यापार मे काटनकिंग नाम से प्रसिद्ध हुए।

सन् १९ ६ मे सेठ चम्पालाल जी ने राजस्थान की तीसरी और ब्यावर की दूसरी कपडा मिल— दी एडवर्ड मिलस की स्थापना ६ लाख चालीस हजार की अधिकृत पू जी से की। सेठ चम्पालाल रामस्वरूप फम की उन दिनो भारतवष मे करीब ५२ दुकान चलती थी। यह फम अपनी व्यापारिक प्रतिष्ठा के लिए सवत्र विख्यात थी। सेठ सा अजमर जिले के सरकारी खजाची थे तथा यावर मे आनरेरी मजिस्ट्रट भी थे।

उदार मनोवत्ति वाला धमनिष्ठ परिवार होने से वि स १९४८ (सन १८९२) मे सेठ चपा लाल जी तथा उनके पाच भाइयो ने ब्यावर मे अजमरीगेट के बाहर एक विशाल नशिया का निर्माण कराया। नशिया मे बना मदिर पूणतया सगमरमर का बना हुआ है। मदिर मे कुछ मूर्तिया मूल्यवान रत्नो की भी है। इस मदिर की बिम्ब प्रतिष्ठा के समय लगभग एक लाख व्यक्ति एकत्रित हुए थे।

वि स १९९ मे चा च आचाय श्री शातिसागर जी (दक्षिण) तथा आचाय शातिसागर जी (छाणी) के युगल सघ का चातुर्मास आपकी ही नशिया मे हुआ। एक वष बाद आ कल्प श्री चद्र सागर सागर जी का एव सन १९५८ मे १ ८ आ श्री शिवसागर जी का ससघ चातुर्मास हुआ। इसी प्रकार लगभग सभी आचाय सघो त्यागियो का आगमन समय समय पर होता रहता है। साघ सघो की सेवा मे एव नगर मे होने वाले धार्मिक समारोहो मे आपके परिवार का विशेष सहयोग रहता है।

आपकी नशिया मे सन १८९५ मे ऐलक पन्नालाल दि जन विद्यालय की स्थापना हुई जिसमे वर्तमान व पूव के अनेक विद्वानो ने अध्ययन प्राप्त कर सरस्वती का वरद हस्त प्राप्त किया। इसी प्रकार इसके एक विशाल भवन मे ऐलक पन्नालाल दि जैन सरस्वती भवन भी स्थापित है जिसम लगभग ७०० (हस्तलिखित एव मुद्रित) ग्रथो का सग्रह है।

सेठ हीरालाल जी ने बाल्यकाल से अपने पिता जी का अनुसरण करके धार्मिक जीवन बिताया है। आपके घर मे भी एक चत्यालय है। आपके ८ भाइयो मे भी धार्मिक मनोवत्ति है।

स्वय आपने भी समय समय पर विशेष दान गुप्त रूप मे किया है। अनेक सस्थाओ मे भी आप पदाधिकारी रहे हैं। महान् व्यक्तित्व होते हुए भी आप निरभिमानी है। धर्मात्माओ को देखकर आज भी आपका वात्सल्य उमड पडता है।

सन् १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनन्तर जब प० श्री ज्ञानमती माता जी का ब्यावर पदार्पण हुआ तब आपने सघ की बड़ी सेवा की तथा माता जी की प्ररणा से ब्यावर मे ही बनने वाली जम्बूद्वीप रचना (माडल) के निर्माण मे भी आर्थिक सहयोग प्रदान किया। इन दिनो अष्टसहस्री प्रकाशन के विषय में विचार विमर्श चल ही रहा था और आपके चारो पुत्र श्री देवेन्द्रकुमार जी मधुकुमार जी वीरेन्द्र कुमार जी एव सुरेन्द्रकुमार जी तथा दोनो सुपुत्रिया शारदाबाई एव सुशीलाबाई ब्यावर आये हुए थे। आपके ही समान आपके पुत्र पुत्रियो के भी धार्मिक सस्कार है। उस समय श्री देवेन्द्रकुमार जी ने स्वेच्छा से ५००१) नकद देकर अष्टसहस्री के प्रकाशन का शुभारभ कराया। अनतर ५) और भेजकर प्रकाशन को तीव्रगति प्रदान करने मे पुनीत सहयोग प्रदान किया। पश्चात इस प्रथम भाग म होने वाले पूर्ण व्यय के लिए स्वीकृति प्रदान कर जिनवाणी की सेवा का एक महान एव अनुकरणीय काय आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है।

आपके दो पुत्र— श्री देवेन्द्रकुमार जी एव मधु कुमार जी बबई मे तथा दो पुत्र श्री वीरेन्द्रकुमार जी एव सुरेन्द्रकुमार जी जयपुर मे व्यापार क निमित्त से आ गये है। स्वास्थ लाभ की दृष्टि से आप भी पिछले २ ३ वर्षों से जयपुर ही रहने लगे है।

पूव की भाति भविष्य मे भी आपका परिवार धमनिष्ठ रहकर धर्मायतना की तन मन धन से सेवा करता रहे यही शुभ कामना है।

मोतीचन्द जन सर्राफ

*

— ० —

न्यायसार

परिशिष्ट मे न्यायसार दिया गया है। न्यायशास्त्र मे प्रवेश करने के इच्छक जन सव प्रथम ही इसका मनन कर लेवें पुन अष्टसहस्री ग्रन्थ के स्वाध्याय मे अधिक आनद आयेगा। और सर्वत्र सभी विषय सरलतया समझ मे आ जावग। प्रत्येक मतावलम्बियो की क्या क्या मान्यताय हैं एव जनाचायो की क्या मान्यता है। इस बात का इस न्यायसार मे बहुत ही सक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन है।

ग्रन्थमाला परिचय

भगवान महावीर स्वामी क परिनिर्वाणोत्सव क पुनीत अवसर पर स्थापित दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध सस्थान क अन्तगत ग्र थ प्रकाशन हेतु वीर ज्ञानोदय ग्र थमाला की स्थापना वीर नि स २४९८ मे हुई है। ग्र थमाला का प्रथमपुष्प अष्टसहस्री प्रथमभाग (भाषानुवादसहित) श्रीमान सेठ हीरालाल जी (रानी वाल) जयपुर (राज०) क द्रव्य से प्रकाशित हो रहा है।

अन्य ग्रन्थो क प्रकाशन की सुविधा क लिए १ १) एक हजार एक रुपये प्रदान करने वाले इस ग्रन्थमाला क सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। कई ग्रन्थो का प्रकाशन काय चल रहा ह। ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रन्थ की एक एक प्रति ग्रन्थमाला क सदस्यो को भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहेगी। इस पुनीत काय हेतु निम्नलिखित धर्मानुरागी ब धओ ने १ १) की स्वीकृति प्रदान करक ग्रन्थ प्रकाशन म सहयोग प्रदान किया है।

१ डा श्री कलाशचद जी जैन [राजा टाइज] दिल्ली।
२ श्री नेमीचद जी जन रोहतक रोड दिल्ली।
३ जवाहर लाल जी जन रोहतक रोड दिल्ली।
४ छोटेलाल कलाशचद जैन टिकतनगर [बाराबकी उ प्र०]।
५ फूशूशाह प्रद्युम्न कुमार जन टिकतनगर [बाराबकी उ प्र]।
६ श्रीमती शान्ति बाई जी जन कश्मीरी गेट दिल्ली।
७ श्रीमती इलाइची बाई जी जन कश्मीरी गट दिल्ली।
८ श्री अमोलकचद जी फूलचद सा जी जन सर्राफ सनावद [म प्र]।
९ श्रीमती कतकी देवी धमपत्नी सेठ श्रीपत जी जैन (भा व महासभा क मत्री) अजमेर।
१० श्री उमेशचद जी जैन नजफगढ दिल्ली।

११ मागीलाल जी पहाडिया हैदराबाद (आ प्र)।
१२ ,, मिन्नी लाल जी कलकत्ता १२।
१३ श्री मती सौ जीउ बाई हैदराबाद (आ प्र)
१४ श्री बालचन्द च द्रकुमार सन्तकुमार जैन टिकैतनगर।
१५ रामचन्द्र जी ठकेदार जयपुर (राज)।
१६ मूलचन्द राधलाल जी जैन बाण वाले जयपुर (राज)।
१७ श्याम लाल जी ठेकेदार दिल्ली।
१८ बहादुर सिंह जी जौहरी दरीबाकला दिल्ली ६।
१९ भूपाल भीमगोडा पाटिल बम्बई।
२० सुन्दर लाल जैन (सरूरपुर वाले) गाधीनगर दिल्ली।
२१ श्रीमती मगनमाला देवी जन ध प डा नरे द्र प्रसाद जी जन दरियागज दिल्ली।
२२ श्री हीरालाल जी कमलचद जी [हाथरस वाले] गाधीनगर दिल्ली।
२३ अजित प्रसाद जी जैन [हाथरस वाले] गाधीनगर दिल्ली।
२४ श्रीमती मायावती जन धमपत्नी रघनाथ प्रसाद जी जैन गाधीनगर दिल्ली।
२५ श्रीमती सुमित्रा दवी एव महे द्रा देवी जन रूपनगर दिल्ली।
२६ श्री विजयकुमार जी वद्य गाधी नगर दिल्ली।
२७ सुखानद जी प्रमचन्द जी जैन पखरपुर (बहराईच उ प्र)।
२८ , महेश चद जी जन रामनगर लोनी रोड शाहदरा दिल्ली।
२९ बीजालाल जी रतनलाल जी जन किशनगढ़ (राज)।
३० जयकुमार मूलचद जी जन सर्राफ मेरठ।
३१ लल्लूमल जी शीतल प्रसाद जी जन सर्राफ मेरठ।
३२ जोधामल जी कलाशचद जी जन सर्राफ मेरठ।
३३ रघुनन्दन प्रसाद जी राजकुमार जी मेरठ।
३४ सौ कुसुमलता जन ध प महेशचद जी जन हस्तिनापुर (मेरठ)।
३५ रोशनलाल जी जयपाल जी जन बिनोली मेरठ।
३६ श्रीमती कुसुमलता देवी जैन ध प स्व लाला श्री कल्याणसिंह जी जैन शाहदरा दिल्ली।

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
तद्गुणातिशय	तद्‌गुणातिशय	६	५
निश्श्रेयस	नि श्रयस	७	१
वाक्यार्थो	वाक्यार्थौ	१७	१
बुध्यारुढस्य	बुद्धयारूढस्य	३३	१
वक्त्रप्रत	वक्त्रभिप्रत	३३	२
अविपयस्त्वात	अविपययस्त्वात	३६	२९
अकुर्वन	अकुवन	३९	८
निराकणम	निराकरणम्	४०	३
अथ भाट्ट	भाट्ट	४३	१३
लिङ्ग	लिङ्ग	५२	६
प्रतिमास	प्रतिभास	५७	२७
व्यापार	व्यापार	५९	२८

पेज ६ ६४ पर टिप्पणी मे गडबडी हुई है ६४ पेज की विधिकथन की टिप्पणी ६३ पर रह गई है उसमे नम्बर नही है आग धमत्वेन की टिप्पणी न होनें ये ६४ पेज पर ७ वी टिप्पणी से सुधार हुआ है।

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
सिद्धयेत ?	सिद्धयेत् ?	६९	५
अथा	अश	६९	२
ही	नही	७३	१७
मतव	मतमव	७६	२८
सौगतमत	सौगतमत	९०	१
स्वपक्ष	स्वपक्ष	९	१
रहितनामर्थ	रहितानामथ	९२	२८
यजथादि	यजनादि	९३	२८
व्यापृतता	व्यापृता	९९	२२
स्नान	स्नान	१०२	२५

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
व्यक्तंयथ	व्यक्तयथ	१ ७	३
जुहूया	जुहुया	१ ७	२४
कतूक	कत क	११४	२२
गाण	गौण	१३१	६
कथमस्तथाहि	कथ तथाहि	१३५	२५
सुदर	सुदूर	१३६	२
चोद्धवता	चोद्ध वता	१४१	६
तांद्रूप	ताद्रूप्य	१४१	६
स्वातत्र्येण	स्वातत्र्येण	१४४	३
यापारस्य	व्यापारस्य	१४६	२६
वाक्य रथ	वाक्यस्थ	१४७	१
अश	अश	१४७	८
अभाव न होने से अनवस्था आ जायेगी	अभाव होने से अनवस्था नही आवेगी	१४६	१० ११
पाको	पाचको	१५३	१२
'जैन भवति	जैन भवति	१५३	१३
याग	याग	१५८	१२
प्रत्यद दूमवर	प्रत्ययवददूर	१६०	५
धवलयो	धवलयो	१६१	२६
परिष्पदात्मक	परिस्पदात्मक	१६३	२
परब्रह्मादा	परब्रह्मादौ	१७३	१
भ्रमती	भ्रमती	१७५	२६
भवदमि	भवद्भि	१८४	१
नाम	नाम	१८४	४
वैकल्प	वकल्य	२	३
स्नान	स्नान	२ ५	२७
सिद्धि	सिद्धिका	२१५	२६
किञ्चिद् निणीत	यह अष्टशती मे नही है। श्लोक है	२२२	५

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
अनक	अनेक	२३८	३०
चतुथ	चतुर्थ	२५२	६
भ्यासर्त	भ्यासशतै	२५५	५
सर्वज्ञो ज्ञायते	सवज्ञो न ज्ञायते	२५८	१
प्रत्यासत्त ज्ञाना	प्रत्यासत्तेर्ज्ञाना	२७४	१
व्यापार व्याहृा	व्यापारव्याहार	२६१	२४
सस्कतृणां	सस्कत णा	२६२	३
पथ्वी	पथ्वी	२६३	१२
सर्थस्य	समर्थस्य	२६४	१
याशी	यादशी	२६६	८
सावाद	सद्भावाद	३०४	५
सन्निश	सन्निवेश	३ ८	२
कवल	केवल	३११	७
परमाप्वा	परमाण्वा	३१८	२
क्ष्माद्यर्थाना	सूक्ष्माद्यर्थानां	३१८	३
बुद्ध्यूत्पादक	बुद्धयुत्पादक	३१८	३
नुमेयेर्थे	अनुमेयेथ	३२	८
प्रत्यक्षेयण	प्रत्यक्षेण	३२	२८
नणास्ति	नास्ति	३२५	२८
नियाकरण	निराकरण	३३५	२२
ध्याानोम्द्भूत	ध्यानोदभूत	३३६	२३
गृण्हाति	गह्णाति	३३६	२८
विकल्पोघ	विकल्पोघ	३४५	३
लाला	वाला	३५०	४
तप्सिद्धे घटीयत्र	तत्सिद्धघटीयत्र	३५२	६
भ्रांति निवृत्तिवत्	भ्रातिनिवृत्तिवत्	३५२	६
वसन	विसेन	३५५	२६
प्यचेन	प्यचेतन	३७७	६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
युक्तिमे	युक्तमे	३७७	८
स्यद्वादी	स्याद्वादी	३७७	२८
मित्वथ	मित्यर्थ	३८१	२५
वर्ण	वर्णे	३८३	२८
शत्या	शक्त्या	३८५	४
कृत्स्न	कृत्स्ने	३८८	६
साख्यादिमान	सांख्यादिमान्य	३९२	४
कोपिल	कपिल	३९२	१७
साख्या	सांख्या	३९५	१
लभेयहि	लभेमहि	४ ३	६
प्रायसो	प्रायशो	४ ६	४
मिच्छ विषयी	मिच्छाविषयो	४१	२४
निराकुत	निराकृत	४१०	२५
योहीनि	योर्हीनि	४१	२७
व्यावहार	व्यवहार	४११	१४
वाव्यापारो	वाग्व्यापारो	४११	२९
शास्त्राणा	शास्त्राणा	४१६	७
समर्थयमन	समथयमान	४१६	२९
कठोष्ठा	कठौष्ठा	४१७	८
परित्छित्तौ	परिच्छित्तौ	४२२	३
अप्रामाणोक	प्रामाणीक	४२३	७
स्वार्थाधिगम	स्वार्थाधिगम	४२४	८

समर्पण

श्रीमद परम पूज्य प्रात स्मरणीय

चारित्र तपोनिधि

१०८ आचार्य
श्री धर्मसागर जी
महाराज

एवं

१०८ आचार्य
श्री देशभूषण जी
महाराज

के

कर कमलों में

❀ सादर समर्पित ❀

—आर्यिका ज्ञानमती

परम पूज्य तपोनिधि पट्टाधीश १०८ आचाय श्री धम सागर जी महाराज

का

शुभाशीर्वाद

शिक्षा प्रधान वतमान युग मे लौकिक अध्ययन के साथ साथ धार्मिक पठन-पाठन भी बढा है। जहां पाश्चात्य भाषा सर्वाधिक प्रचलन मे आई है वहाँ सस्कृत प्राकृत भाषा के ज्ञान मे अधिक ह्रास हुआ है। हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रथ सस्कृत प्राकृत भाषा मे लिख हुए हैं। अनेक विद्वानो ने समय समय पर बहुत से ग्रथो का सरल हिन्दी भाषा मे अनुवाद करके जिनागम के मम को समझने मे सव साधारण को सुलभता प्रदान की है जिसके लिए सभी स्वाध्यायी उनके इस महान् उपकार से उपकृत हैं।

कुछ वर्षों पूव तक तो न्याय ग्रथो को पढ़ाने व पढने वाले विशेष सख्या मे थे किन्तु अब अत्यल्प मात्रा मे रह गया है। वत मान मे जन समाज मे तो न्याय ग्रथो के स्वाध्याय की प्रथा उठ सी गई है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्मिक ग्र थो को समझने एव हृदयगम करने के लिए भी न्याय दशन का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुत्व का सच्चा एव दृढ निश्चय याय को कसौटी पर कसकर ही किया जा सकता है।

न्याय के कतिपय ग्र थो का हिदी भाषानुवाद तो हो चका है किन्त विशिष्ट ग्र थ अष्टसहस्री का क्लिष्टता के कारण अनुवाद नही हो पाया था। प्रसन्नता है कि उस कमी की पूर्ति भी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी द्वारा हो गई है। इस अनन्य कार्य के लिए हमारा शुभ आशीर्वाद है

आशा है विद्वद्वृ द इसी प्रकार से अ य आष प्रणीत प्राचीन ग्र थो के अनुवाद मे भी पूण रुचि रखकर जिनवाणी की सेवा मे अग्रसर रहेग।

परम पूज्य १ ८ आचाय श्री धमसागरजी महाराज

जन्म—	क्षल्लक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
गम्भीरा (राज)	ग्रा कल्प श्री च द्रमागरजी से	ग्रा श्री वीरसागर जी
वि स १६७	बालूज (ग्रौरगाबाद महाराष्ट्र)	फुलेरा (राज)
पौष शुक्ला १५	वि स २ चत्र कृष्णा ७	वि स २ ८ का शु १४

ग्राचायपट्ट—फा गुन शुक्ला वि स २ २५ —श्री महावीर जी

प० पू० १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज

जन्म	ऐलक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
कोथली (बनगाँव महा ाष्ट्र)	आचार्य श्री जयकीर्तिजी महाराज से	
वि स १९	स्थान—अतिशयक्षेत्र रामटेक	वि म १९ ५
मगसिर शुक्ला २	(महाराष्ट्र)	स्थान कुंथलगिर
	आचार्यपद सूरत (गुजरात)	

परम पूज्य १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की ओर से

आशीर्वाद रूप में

दो शब्द

आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी उत्तर प्रदेश के जिला बाराबकी—टिकत नगर की रहने वाली हैं। इनका गहस्थावस्था का नाम मैना था। इनके पिता का नाम छोटेलाल एव माता का नाम मोहनी देवी था। गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए छोटी उम्र मे भी इनका धार्मिक ज्ञान विशेष था। इनकी भावना एव रुचि धम के प्रति अगाध थी।

माता पिता द्वारा विवाह की तयारिया की जाने पर इन्होने इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने स्त्री पर्याय का नाश करन के लिए दीक्षा लेने की ठान ली है। ससार के बन्धनो मे न फसने के लिए शादी की बात ठकरा दी। इस प्रकार वराग्य की जागति तो हो चकी थी परन्तु अपने मनोरथ की सिद्धि अर्थात् गहपरित्याग गुरु के हस्तावलम्बन के बिना नही हो पाया था।

जब हम वि स २ १ मे इनके गाँव टिकत नगर मे पहुचे तब इन्होने घर से निकलने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नही मिली। अनतर उसी साल बाराबकी चातुर्मास होने पर दर्शन हेतु घर से हमारे पास आई एव पुन घर जान से इन्कार कर दिया।

एक दिन हमारे केशलोच के प्रसग पर इन्होन भी अपन हाथ से अपने लोच करना प्रारम्भ कर दिया। छोटी उम्र होने के कारण समाज के लोगो ने दीक्षा देने मे बडा विरोध प्रस्तुत किया। तब हमने इन्हें सातवी प्रतिमा के व्रत देकर लोगो को शात किया।

उस अवस्था मे भी इनकी बुद्धि अत्यत तीक्ष्ण थी एव स्मरण शक्ति भी प्रबल थी। कोई भी पाठ या विषय एक बार बतला देने पर कठस्थ कर लेती थी। गोमट्टसार आदि कई विषयों को पढाते समय देखा कि १५ दिन में ३० गाथाय याद कर ली बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता को देखकर बडा आश्चर्य होता था। एक बार जब दश भक्ति पाठ याद करने के लिए कहा तो सस्कृत होते हुए भी १ १५ दिन में एकदम पक्की याद कर ली।

चातुर्मास के पश्चात् बिहार करके जब हम श्री महावीर जी आये तो इनकी उत्कृष्ट भावना को देखकर शुभमुहूर्त में चैत्रकृष्णा वि स २ ०९ को क्षुल्लिका दीक्षा दे दी। इनकी दीक्षा के पुरुषार्थ को देखकर ही हमने इनका दीक्षित नाम वीर मती रखा।

जब हम यहाँ से वापस कानपुर लखनऊ होते हुए दरियाबाद पहुचे तब इनके पिता जी आदि कई लोगों ने आकर टिकैत नगर चातुर्मास करने की प्राथना की। मेरे न चाहते हुए भी समाज के आग्रह पर इनकी जन्मभूमि पर ही पहला चातुर्मास हो गया।

चातुर्मास के बाद वापस महावीर जी आगमन हुआ। आगामी चातुर्मास (वि० स० २ ११ मे) जयपुर होना निश्चित हुआ। जयपुर चातुर्मास मे इन्होने मात्र दो माह मे प दामोदर जी शास्त्री से कातत्र व्याकरण पढ़ ली। इस प्रकार शीघ्र ही सस्कृत का अध्ययन अच्छी तरह कर निपुणता प्राप्त कर ली। एक व्याकरण के अध्ययन के आधार से अनेको बड़ बड ग्र थो का मूल सस्कृत से स्वाध्याय कर लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी बुद्धि अत्य त तीक्ष्ण तथा एक पाठी थी। ज्ञान से अपनी चारित्रिक उन्नति कर समाज मे एक अच्छी विदुषी शिरोमणी की पदवी पाई। हमारे कहने का तात्पय यह है कि ऐसी स्त्री रत्न और छोटी अवस्था मे घर छोड कर इतने उच्च स्थान को प्राप्त करना मामूली बात नहीं है। लोग कहेंगे कि शिष्य होने से प्रशसा लिख दी है सो बात नही है किन्तु गुणो के कारण प्रशसा की गई है।

आर्यिका दीक्षा मागने पर हमने थोड दिन ठहरने को कहा। कुछ समय बाद बिहार करत हुए आचार्यवर श्री वीरसागर जी महाराज से वि स २ १३ मे आर्यिका दीक्षा ले ली। तत्पश्चात अनेको धर्मशास्त्रो का अध्ययन करते कराते हुए वक्तृत्व कला को भी सम्प न कर लिया। आज कई बड-बड सस्कृत के मूल ग्रन्थो का अध्ययन करके उनका अनुवाद करना भी प्रारम्भ किया है उनमे से एक ग्र थ यह अष्टसहस्री है जो कि बारह सौ वष पूव आचाय विद्यान द द्वारा रचित है। इस महान ग्र थ के अनुवाद मे बड-बड़ विद्वान भी हार मान गये ऐसे ग्र थ का इन्होने परिश्रम करके हिन्दी अनुवाद किया है जिससे अब इसके स्वाध्याय मे भी सुगमता हो गई है। सभी स्त्री पुरुष इसका रसास्वादन ले सकगे।

इसलिए हम अपनी शिष्या ज्ञानमती को बार बार आशीर्वाद देते हैं। एव इस ग्रथ के अध्ययन से सभी जैन अजैन जनता को सच्चे आत्म क याण का माग प्राप्त हो यही सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।

विदुषीरत्न पू० आ० श्री १०५ ज्ञानमती माताजी

जन्म

टिकतनगर (लखनऊ उ प्र)
सन् १९३४ वि स १९९१
आसोज शु १५ (शरद पू)

क्षुल्लिका दीक्षा—

आ श्री ेशभषणजा स
श्री महावीर जी मे
वि स २ ९ चत्र कृ १

आर्यिका दीक्षा –

आ श्री वीरसागरजी स
माधाराजपुरा (राज०) मे
स २ १३ बैसाख कृ २

मगल स्तवः

तीर्थेशं श्रीत्रिभुवनपति   वीरनाथ प्रणम्य ।
श्रीतत्त्वार्थ जिनवरवच पूतपीयूषगर्भम्   ॥
तत्कर्तार यतिपतिजगत्पत्युमास्वामिन च ।
वदे नित्य भुवनमहित सूत्रकर्तारमीड ॥१॥

श्रीमत्सूत्रावतरणविधौ श्लोकमादौ कृत यत ।
श्रोमान स्वामी मुनिगणपति स्तौत्रमाश्रित्य तर्कात ॥
मीमासा या जिनपतिमहाप्तस्य सामतभद्री ।
कृत्वा लोके जयति नितरा त त्रिशुद्धया प्रवदे ॥२॥

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत् । तस्योपरि प्रकटिताष्टशती सुटीका ॥
येनेह त विजितवादिगण मुनीन्द्र । वदे कलकरहित ह्यकलक देवम् ॥३॥

देवागमस्तव ह्यष्टशतीयुक्त प्रपद्य य कृता टीकाष्टसाहस्री तान विद्यानदिन स्तुवे ॥४॥
अष्टसहस्रा वदे सप्तसुभगस्वर गिरामृतसराणम । यामत्राह्य वव मे समराम ह्यकनक नगुभूरात् ॥५॥
रत्नत्रयपवित्रागा शातिसिधगणोश्वरा । धमधर्या जगत्पूज्यास्तान वदे भवशातये ॥६॥
जातरूपधर स्तौमि गणिन वीरसागर । शिवसागरसूरिं च नौमि भक्त्या त्रिशुद्धित ॥७॥
धमध्यानरतो नित्य सूरिर्योधमसागर । त वदे भक्तिभावेन धमवृद्धि सदा क्रियात ॥८॥
एतान परपराचार्यान रत्नत्रयविभूषितान् गुरुभक्त्या प्रवदेह रत्नत्रयविशुद्धये ॥९॥
श्री देशभूषणाचाय क्षुल्लिका व्रतदायिन । शातिक्षमागुणोपेत वदे त भवहानये ॥१ ॥
श्रो वोरसागराचाय महाव्रत प्रदायिन । गभोर धोरवोर त वदे दीक्षागुरु मुदा ॥११॥
यायसिद्धातसज्ज्ञान लब्ध यत्प्रसादत । विद्यागुरु महावोर कोर्त्याचाय नमामि त ॥१२॥

क्वाय ग्रन्थ क्व मे बुद्धिस्तथापि गुरुभक्तित ।
अहो ! ह्यष्टसहस्रीय भाषयानद्यते मया ॥१३॥
पचमहागुरून् भक्त्या चित्त धृत्वा लिखाम्यह ।
सता चेतो हरेन्नित्य त्वत्प्रसादेन म कृति ॥१४॥
सरस्वति ! नमस्तुभ्य प्रसीद वरदा भव ।
त्वत्प्रसादेन म भूयात् वाक्शुद्धि सवसिद्धिदा ॥१५॥

ग्रन्थ रत्न का आधारभूत मंगलाचरण

वदना

उमास्वामिकृत पूत महत्सस्तवमगल ।
महेश्वराश्रिय दद्यात् महादेवपदस्थित ।।१।।
मूलाधार स्तुतेराप्त—मीमासाकृतेरिद ।
मूलमष्ट सहस्र्याश्च मगल मगल क्रियात् ।।२।।
देवागमस्तवोद्भता समतात् भद्रकारिणी ।
अकलकवच पूता विद्यानद तनोतु मे ।।३।।
महापूज्या जग माता स्याद्वादामृतवर्षिणी ।
अनेकातमयीमूर्ति सप्तभगतरगिणी ।।४।।
स्वपर समयज्ञान प्रकटीकुरुते सदा ।
सर्वथैकातदुर्दातान विमदीकुरुते क्षणात ।।५।।
जिनशासन माहात्म्य-वधने पूर्णचद्रवत ।
मिथ्यामतमहाध्वात—ध्वसने सूयवत सदा ।।६।।
जीयात कष्टसहस्रैर्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा ।
पुष्यात्साष्टसहस्री मे वाञ्छा शतसहस्रिकाम ।।७।।

आर्यिका ज्ञानमती

श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

मंगलाचरणम्

श्री[1]वर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ।।१।।

मंगलाचरण का अर्थ—जो समंत-सवप्रकार स भद्र-कल्याणस्वरूप हैं जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी है—जो विद्यानंदमय हैं जिनके वचन अनिंद्य अकलकरूप अनेकातमय हैं ऐसे श्री-अतरंग-अनन्तचतुष्टयादि एव बहिरग—समवसरणादि विभूति से सहित अतिम तीर्थंकर श्री वधमान भगवान् को नमस्कार करके महाशास्त्र तत्वाथसूत्र के प्रारम्भ मे मोक्षमार्गस्य नेतारम् इत्यादि मगलरूप से रचित स्तुति के विषयभूत आप्त भगवान् की मीमासा स्वरूप जो देवागमस्तोत्र है उसे भाष्यरूप से मैं—विद्यानंदि स्वामी अलकृत करता हूँ ।

[श्री लघुसमतभद्रकृत टिप्पणी का **भावार्थ**—इसमे मगलाचरण से सर्वप्रथम श्री वर्धमान भगवान् को एव सपूर्ण अर्हत्समुदाय को नमस्कार किया है । पुन इसी श्लोक से श्री समतभद्रस्वामी को एव आप्तमीमासा स्तोत्र को नमस्कार किया है ।]

उत्थानिका—इसी भरतक्षेत्र मे पहले अपनी निर्दोष विद्या एव निर्दोष संयमरूपी संपत्ति से गणधरदेव, प्रत्येकबुद्ध श्रुतकेवली दशपूर्वधारी आदि सूत्र की रचना करने वाले महर्षियो की महिमा को आत्मसात् (स्वयं प्रत्यक्ष) करते हुए भगवान् श्री उमास्वामी आचायवर्य ने तत्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र की रचना की है। स्याद्वादविद्या के अग्रणी श्री समंतभद्रस्वामी ने उस तत्वाथ सूत्र महाशास्त्र की 'गंधहस्ति महाभाष्य रूप टीका रचते हुए मंगलाचरण मे "मोक्षमार्गस्य नेतारम् इत्यादि की टीका में मंगल

---

१ ॐ नम । इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्त स्याद्वादविद्याग्रगुरव श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्त

स्वरूप स्तुति के गोचर परम आप्त भगवान् के गुणो की मीमांसा (परीक्षा) को करते हुए प्रवचनमय तीर्थ की सृष्टि की पूर्ति स्वरूप इन 'देवागम नभोयान' इत्यादि पदो द्वारा 'देवागमस्तोत्र' नाम के ग्रन्थ की रचना की है।

इसके पश्चात् जिनके चरणनख की किरणें सकल तार्किक जनो के चूडामणि की किरणो से चित्र विचित्र शोभा को प्राप्त हैं ऐसे भगवान भट्टाकलङ्कदेव ने इसी देवागम-स्तोत्र की 'अष्टशती' नामक टीका रची है।

इसी प्रकार महाभाग तार्किकजनो से मान्य 'वादीभसिंह' इस पदवी से अलंकृत **श्री विद्यानन्दि स्वामी** स्याद्वाद से प्रगट सत्यवचनो का प्रवाह है जिसमे ऐसी अपनी वाणी की चतुरता को प्रगट करते हुए 'आप्त मीमासा' को अलंकृत करने की इच्छा करते हुए 'श्री वर्द्धमानम्' इत्यादि प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं।

'मया अलक्रियते' मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है–इस पद से अलकार का महत्व प्रगट किया है अर्थात् जिस प्रकार सौंदर्यशालिनी कन्या की भी अलकार आदि से शोभा द्विगुणित हो जाती है उसी प्रकार से यह टीका भी इस स्तोत्र के लिए अलकार स्वरूप इस स्तोत्र के पदो के अर्थों को अत्यथ रूप म स्पष्ट करते हुए श्रोता जनों के मन को हरण करने वाली है।

मेरे द्वारा क्या अलंकृत की जाती है? 'कृति'–रचना। वह किस रूप है? शास्त्र के प्रारम्भ मे रचित स्तुति के विषय को प्राप्त जो परम आप्त भगवान हैं उनकी मीमासा परीक्षा की जाती है। 'अस्य' यह निर्देश विशेष्य विशेषण सम्बन्ध से युक्त होने से स्वामी समनभद्राचाय व माहात्म्य को प्रगट करता है अर्थात् स्वामी समतभद्राचार्य की रचना 'अभिवद्य' नमस्कार करके–मन वचन काय से वदना करके मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है। इस नमस्कार पद से आस्तिक्य भावना के अस्तित्व को दिखलाया है। किसको नमस्कार करके? 'श्री वर्द्धमानम्' सब तरफ से वृद्धि को प्राप्त है मान केवलज्ञान जिनका ऐसे वर्द्धमान भगवान को। श्री–समवसरणादि लक्षण एव परम आर्हत्य लक्षण स विभूषित श्री

गुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणि मरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत। तदेव महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातो श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमासामलचिकीर्षव स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यसर्गं गिरा चातुरीमाविर्भावयन्त प्रतिज्ञाश्लोकमाहु 'श्रीवर्धमानमि'त्यादि अस्यार्थ।—अलङ्क्रियते विभूष्यते। केन? मया विद्यानन्दिसूरिणा। अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुद्द्योतितम्। का? कृति सन्दर्भ। किंरूपा? शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितम्। विशेष्यविशेषणयोराविष्टलिङ्गत्वादय निर्देशो यथा।—रमणीरत्नमुर्वशीति। कस्य? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य। माहात्म्यमावेदितम्। श्रीवर्द्धमान समन्तभद्र सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्तस्यास्येत्यनेन परिग्रहप्रसक्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात। किं कृत्वा? प्रागभिवन्द्य अभित समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वन्दित्वा। अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम्। कम्? श्रीवर्द्धमानम्। अव समन्तादृद्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथोक्त। श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हन्त्यलक्ष्म्या लक्षितो वर्द्धमान श्रीवर्द्धमान परमजिनेश्वरसमुदयस्तम्। अर्थसमुदयस्यार्थं कथम्? अव समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं

वर्द्धमान भगवान् अंतिम तीर्थंकर अथवा संपूर्ण अर्हंत्परमेष्ठी समुदाय को नमस्कार करके। पुन कैसे हैं भगवान् ? समन्तभद्र भद्र अर्थात् जिनके शतेन्द्रवंदित गर्भावतरण आदि कल्याणक हुये हैं ऐसे भगवान् ही समन्तभद्र हैं। पुन कैसे है भगवान् ? उद्भूतबोध महिमानम् जिनके केवलज्ञान की महिमा-यथावत् संपूर्ण वस्तुतत्व के प्रकाशन की महिमा प्रगट हुई है। इस विशेषण से अचल ज्योति स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को अवलोकन करने वाले हैं यह प्रगट किया है। पुन कैसे हैं भगवान् ? अनिंद्यवाचम् अनेकान्त की नीति वही हुआ गगाप्रवाह उसमे अवगाहन करने वाली है वाणी–दिव्य ध्वनि जिनकी ऐसे भगवान् को। इस विशेषण से धम तीथ की प्रवृत्ति स्वरूप भगवान् के वचन हैं–यह स्पष्ट किया है।

[अथवा इसी श्लोक स आचाय समतभद्र स्वामी को नमस्कार करते हैं—]

दूसरा अर्थ—श्री समतभद्र स्वामी को नमस्कार करके। कैसे हैं समतभद्र स्वामी ? श्री वद्धमानम् निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वभव की आधिपत्य लक्षण लक्ष्मी से जो वृद्धि को प्राप्त हैं। पुन कैसे है ? उद्भूत बोध महिमानम् भ-य जीवो को इस कलिकाल मे भी कलक रहित निर्दोष विद्या को प्रगट करने के लिए स्याद्वाद तत्व को प्रगट करने मे जिनका ज्ञान समथ है। पुन कसे हैं ? अनिंद्यवाचम् सप्तभंगी से युक्त

यस्यासौ वद्ध मान । अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोप । श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टय लक्षणया चोपलक्षितो वद्ध मान श्रीवद्ध मानोऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्त । अनेन परमाहता समुदयमिति वत्तिकारोक्त प्रतिज्ञाश्लोकानमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम्। कथम्भूतम् ? समन्तभद्रम्। समन्ताद्भद्राणि शतमखशताभिवन्दितानि गर्भावतरण-महिमादिकल्याणानि यस्य तम्। अनेनाखिलरिद्रादिभिवन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम्। भूय कथम्भूतम् ? उद्भ त प्रसिद्धो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामथ्यलक्षणो यस्य तम् । अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलो कालोकमिति विशेषण स्वीकृतम्। अचलनिर्बाधज्योतिर्भिर्निर्भासज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदशनेनालोकितौ लोकालोको येन तमिति प्रतिपादनात । भूयोपि कथम्भूतम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनि द्यानेकान्तनीतिगङ्गाप्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम्। अनेनोद्दीपीकृतधमतीथमिति विशेषणमात्मीकृतम्। उद्दीपीकृत धमप्रतिपादक तीथ शास्त्र येनेति व्युत्पादनात । भगवान् श्रीवद्ध मान क याणसम्पदाशंसिनामभिवन्द्य सकलकल्याणसम्पदभिरामत्वात्। यथा सकललक्ष्मी सम्पदभिराम सार्वभौमो लक्ष्मासम्पदाशसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम्। सकलकल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भ त बोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनित केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीथकरपुण्योदयात सकलकल्याणाभिरामपर माहंन्त्यलक्ष्मीसम्पत्संयुत सर्वथोद्भ तमहिमाय तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यथवागदङ्कारकमणि युक्तिशास्त्रा विरोधिवाग्भिषग्वरस्तथोद्भ तमहिमेति कायलिङ्गजनित महीयसा वचनातिशयस्य प्रज्ञातिशयनिबन्धनत्वादिति। एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भव हेतूपन्यास प्रतिपत्तव्य ।

अथवा अभिवन्द्य। कम् ? समन्तभद्र समन्तभद्राचार्यम्। कीदृशम् ?* श्रीवर्धमान श्रिया निखिलविद्यालङ्कार निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वद्ध मानमेधमानम्। साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविदा वरवैयर्थ्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्यागुरोर्महामुने श्रीवद्ध मानताया विवादाभावात्। भूय कीदृशम् ? उद्भ तबोध महिमानम्। उद्भ तो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कायाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची है ऐसे श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

[अथवा तीसरा अर्थ—यहाँ आप्तमीमांसा को नमस्कार करते हैं।]

इस आप्त मीमासा स्तुति को मैं नमस्कार करता हूँ। कैसी है वह स्तुति ? अनिन्द्यवाच प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित एव पूर्वापर विरोध से रहित वचन जिसमे हैं। पुन कैसी है ? श्री वर्धमान जो स्यात्कार लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त–अभ्युदयशील है। पुन कैसी है ? समन्तभद्र सब तरफ से भद्र–कल्याण स्वरूप है सभी के हृदय को आल्हादकारी तत्व स्वरूप आगम वो ही अमृत उसके निझर से जो रमणीय है।

पुन यह स्तुति कसी है ? उद्भूत बोध महिमान। जिसमे अनेकात तत्व की महिमा प्रगट है अर्थात् पाप रूप एकान्तवाद वही हुआ अधकार, उसको नाश करने मे प्रचड सूय के समान जिसमे ज्ञान है। इन विशेषणो से विशिष्ट इस आप्तमीमासा स्तुति को नमस्कार करके शास्त्र जो तत्वाथ सूत्र है उसके प्रारम्भ मे रचित जो मगलाचरण स्तुति– मोक्षमागस्य नेतार भेत्तार कम भूभृता आदि इस स्तुति के विषय को प्राप्त जो आप्त—भगवान उनकी मीमासा-परीक्षा जिसमे है ऐसी यह आप्तमीमासा नामक स्तोत्र की टीका मेरे द्वारा अलकृत की जाती है।

तम्। भूयोपि कीदृशम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागाप्तमीमासास्तुतियस्य तम्। अनन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्याकलङ्कभावाविर्भावनावदग्ध्य तीर्थप्रभावनाप्रागल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वेत्येतदन्ते वृत्तासे वाक्यत्रयोपदर्शित सूरेर्विशेषणत्रय संबोधितम्। तत्राद्य न विशेषणेन सवपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वाद पुण्योदधेरुद्ध त्यतद्वाक्यमाश्लिष्ट भगवानयमाचाय स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्ध त्य प्रकरणमारचयितृत्वात्। यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्ध त्योत्तराध्ययनप्रकरणमारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात्। द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये काले कलावित्येतदिष्ट स्पृष्टम्। तृतीयेन तीथ प्राभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति। विशेष्य तु प्रसिद्धमेव।

अथवाभिवन्द्य। कम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या प्रमाणाबाधा पूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसाव निन्द्यवाक प्रस्तुतत्वात् समन्तभद्राचायकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम्। अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गितम्। कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानम्। श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्या स्यात्कारलक्ष्म्या वद्धमानमभ्युदयमानम्। अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणमुपगूढम्। भूय कीदृशम् ? समन्तभद्र समन्तात्सर्वतो भद्र महृदयहृदयाल्हादितत्त्वागमसुधासारनिष्यन्दिसूक्ति रमणीयमिति यावत्। अनेन स्याद्वादामृतगर्भिणीमिति विशेषण परिरब्धम्। अनेकान्ततत्त्वाकलनात्मना पीयूषेण कान्तत्वादर्थमिति गोशब्दस्य धेन्वर्थवर्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात। भूयोपि कीदृशम् ? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम्। अनेन प्रतिहतै कान्तान्धकारोदयामिति विशेषण परिष्वक्तम्। गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामाकलय्य निवेदनात्। शास्त्र तत्त्वार्थसूत्र तस्यावतार, प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता याऽसौ स्तुति मोक्षमार्गस्य नेतार कर्मभूभृता भेत्तार मित्यादिस्तस्या गोचरो विषयं सावाप्तस्तस्य मीमासित या। अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धेन भाष्याविपदद्वयाय उत्तरार्द्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्गृहीत. समस्त। सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैं सूत्रानुसारिभि। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु।

[मंगलाचरणस्य महत्व ग्रन्थकर्तुरुद्देश्यञ्च]

श्रेय [1] श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदयस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च [2]संस्तवनमाप्त मीमांसितस्यालङ्करणे [3]तदाश्रयत्वाद् [4]यतमासम्भवे तदघटनात् । तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात् । [5]देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्त-गुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव[6] स्वय [7]श्रद्धागुणज्ञतालक्षण[8] प्रयोजनमाक्षिप्त[9] लक्ष्यते । [10]तदन्यतरापायेऽर्थ[11] [12]स्यानुपपत्ते [13]। शास्त्रन्यायानुसारितया [14]तथैवोपन्यासात् [15]। इत्यनेन[16]

[मगलाचरण का महत्व और ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य]

श्री वधमान भगवान समस्त तीर्थंकरो का समुदाय श्री समन्त भद्र स्वामी और उनके निर्दोष वचन रूप स्तुति का सस्तवन ही कल्याणकारी है क्योकि आप्तमीमासा की टीका करने मे वे सब आश्रय भूत हैं। इनमे से एक किसी की भी स्तुति न करने से इसकी टीका नही हो सकती है। इस आप्तमीमासा की प्रथमत वृत्ति (टीका) करने वाले श्री भट्टाकलक देव ने भी इसी विषय को अष्टशती नामक टीका करते समय उद्दीपीकृत इत्यादि श्लोक के द्वारा मगलाचरण किया है। तथैव **देवागम इत्यादि मगल-पूर्वक स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त भगवान के गुणातिशय की परीक्षा को स्वीकार करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वय अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन को सूचित किया है ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनों मे से किसी एक के अभाव में देवागमस्तव मे परीक्षा लक्षण ग्रथ नहीं बन सकता है। अत आचार्य पूर्वशास्त्र के आधार से ही अर्थात् तत्वार्थसूत्र का अवलबन लेकर ही टीका करते हैं *।** इस कथन से ग्र थकार ने स्वरचित एवं स्वरुचि विरचित शास्त्र का परिहार किया है।

---

१ ननु चेष्टदेवतामभिष्टुत्यैव सर्वेपि शास्त्रकृत शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुन स्तुत्यस्तोतृस्तुतीस्त त्रयस्तोत्रमिद शास्त्रादौ भगवता सूचित कथ सौन्दयमास्कन्दतीत्याशङ्कायामाह श्रेय इत्यादि। २ इद साध्यम्। अनेन श्लोकवर्त्यभिवन्धशब्द संस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनाथ इति प्रकाशित (तम्)। अनेनोपकारकरणाथ स्तुत्यादित्रयसस्तवन कृतमिति प्रकाशित श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादौ तथैव श्रवणात्। अतएव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् अनेन सम्मितिर्दर्शिता भाष्यादिपदद्वयस्याभिप्रायश्च सूचित भाष्यानुसारेणैवालङ्कार क्रियते इति च प्रकाशित (तम्)। ३ पक्ष। ४ ननु चास्यालङ्करणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाव्यमिति काथ नियम इत्याशङ्कायामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि। भट्टाकलङ्कदेव। ५ नन्वस्य भगवत समतभद्रस्य समन्तभद्रादयस्तित्र एव कृतय श्रूयन्ते न तु शास्त्रावतारर[?]चितस्तुतिगोचराप्तमीमासित नाम कृतिस्तस्मात्कथमिय प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति देवागमेत्यादि। मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि। ६ स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना। ७ स्वस्य समन्तभद्रस्य। ८ प्रेरकत्व वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञात प्रतिज्ञातात्यन्तमनुराग श्रद्धा। ९ कटाक्षितसूचितमित्यर्थं। प्रतिज्ञातम्। स्वीकृतम्। सामर्थ्यनोपपन्नम्। सङ्गृहीतम्। १० (यत) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात्। ११ तयो श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे। १२ परीक्षालक्षणस्य। देवागमस्तवस्य। १३ प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते। १४ अनुपपत्ति कुत इत्याह पूर्वशास्त्रानुसारितया। १५ ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपक्रान्तत्वस्वरुचिविरचितत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषये-त्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात्। अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा। १६ वृत्तिग्रन्थेन।

ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे [1]प्रयोजने साध्ये[2]शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणा[3]तिशय[4]परीक्षो-पक्षेपस्य[5] [6]साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णय । [8]मङ्गलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मंगलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचित स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात् । तद्विषयो य [1] परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

इस प्रकार से ग्रंथकार ने श्रद्धा गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन रूप साध्य में शास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तव के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणातिशय की परीक्षा की स्वीकारता को हेतु बनाया है। शास्त्र के आदि में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त आप्त की मीमांसा रूप यह शास्त्र देवागमस्तोत्र इस नाम का है—यह निर्णय हुआ क्योंकि मंगल पूर्वक स्तव ही शास्त्र के आदि में रचित स्तुति कहलाती है। मंगल है पूर्व में जिसके उसे मंगलपुरस्सर कहते हैं। शास्त्र रचना के प्रारम्भ में रचित मंगलपुरस्सर स्तव कहलाता है उस स्तुति के विषयभूत परम आप्त भगवान् उनके मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वादि गुणातिशयों की परीक्षा ही तद्विषयक आप्तमीमांसा है।

भावार्थ—श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि श्री वर्धमान भगवान् सभी तीर्थंकरों का समुदाय एवं देवागम स्तोत्र के कर्त्ता श्री समंतभद्र स्वामी तथा उनके निर्दोष वचन इन सबकी मंगलाचरण के द्वारा मैंने स्तुति की है क्योंकि इनमें से किसी एक की भी स्तुति न करें तो इस आप्तमीमांसा की टीका को करने में हम समर्थ नहीं हो सकेंगे। एवं श्री भट्टाकलंक देव ने तो अष्टशती भाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है कि इस ग्रंथ में आप्त अर्हंत भगवान् की परीक्षा करने में श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो ही प्रयोजन मुख्य हैं। यदि

---

१ ग्रन्थकार' पक्ष । २ प्रेरकत्वे । ३ मोक्षमार्गस्येत्यादि । ४ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि । ५ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य (घटमानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त्तमानो विचार परीक्षा । सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्त्तते । ६ स्वीकारस्य । ७ श्रद्धागुणज्ञतालक्षण प्रयोजन पक्ष धर्मित्व समन्तभद्राचार्यस्यास्ति । आप्तगुणातिशय परीक्षोपक्षेपान्यथानुपपत्त । ८ अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यास्यैव तावद् वागमाभिधानमिति निर्णय' । कथमिति चेदुच्यते । अस्य देवागमत्वानिर्णये ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिदं न भवत्येव स्वरूपासिद्धत्वात् । कथमिति चेद् वागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित मोक्षमार्गस्य नेतार मित्यादिस्तवनविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षारूपाया समन्तभद्राचार्यकृते सर्वथाप्यसम्भवात् । निश्श्रेयसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थोऽयम् । ९ एतच्च विभावयति । १ नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति देवागमेत्यादि मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात न पुन शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति । तत कथमिदमुक्तम् ।—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम् । देवागमाभिधानमित्युक्तं तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य तयोरेकत्वसमर्थनायमाह ।—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि । ११ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि ।

[1]तदेव निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया[2] मंगलार्थतया च [3]मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छता[4] [5]सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष प्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसा [6]विदधाना, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनस, कस्माद् देवागमादि विभूतितोऽहं[8] महान्नाभिष्टुत[9] इति स्फुटं पृष्टा[10] इव स्वामिसमन्तभद्राचार्या प्राहु —

हमारे मे श्रद्धा और भगवान के गुणो का ज्ञान नही है तो कथमपि उनकी परीक्षा नही की जा सकती है। यदि श्रद्धा या गुणज्ञता इन दोनो गुणो मे से एक गुण नही हो तो भी आप्त की परीक्षा नही हो सकती है। इस कथन से यह जाना जाता है कि श्री समतभद्र स्वामी भगवान के गुणो मे विशेष रूप से अनुरक्त हो करके ही व्यंग्यात्मक शैली से आप्त की परीक्षा के बहाने से उनके महान गुणो की स्तुति कर रहे हैं। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि जो व्यक्ति किसी देव शास्त्र या गुरुओ की परीक्षा को करने मे रुचि रखते हैं तो सबसे पहले उन्हे श्रद्धालु एव गुणग्राही होना चाहिये न कि अश्रद्धालु अथवा दोषज्ञ क्योकि मात्र दोषग्राही व्यक्ति किसी के गुणो की परीक्षा करने मे या किसी के गुणो का मूल्यांकन करने मे समर्थ नही हो सकते है क्योकि दोषग्राही बुद्धि से तो सामने वाले के गुणो मे भी दोषारोपण कर दिया जाता है अत परीक्षा करने मे कुशल अधिकारी व्यक्ति को ही किसी की परीक्षा मे कदम उठाना चाहिये क्योकि सभी को सभी की परीक्षा का अधिकार नही है।

उत्थानिका—इस प्रकार से नि श्रेयस शास्त्र (मोक्षशास्त्र) के आदि मे मोक्ष के लिये जो कारण भूत है और श्री उमास्वामी आचार्य के द्वारा स्तुति को प्राप्त अतिशय गुण सहित जो भगवान आप्त है उन्होने श्री समंतभद्र स्वामी से प्रश्न किया है। कैसे हैं समन्तभद्र स्वामी ? मोक्षमार्ग ही आत्मा का हित है इस प्रकार स्वीकार करने वाले शिष्यो को सम्यक उपदेश और मिथ्या उपदेश की जानकारी के लिये आप्तमीमासा को करते हुये श्रद्धा और गुणज्ञता से जिनका मन युक्त है—उनसे भगवान ने प्रश्न किया कि हे समन्तभद्र ! देवागम आदि विभूति से मैं महान हूं पुन आप मेरी स्तुति क्यो नहीं करते हैं ? इसप्रकार स्पष्टतया भगवान के प्रश्न करने पर ही मानो समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

१ ननु च मीमासित परीक्षा विचार इत्यनर्थान्तर तच्च वादिप्रतिवादिभ्या भवितव्यम्। तथा च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिन प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्र सम्भवत्येव (अवटुतटमटति झटिति स्फुटतटवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषां सकथा तत्र) तत कथमाप्तमीमासाविधानमुपपद्यते इति पृष्ट सन्नाचष्टे तदेवमित्यादि। तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थ। २ तत्त्वार्थसूत्रस्य। ३ मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्या शास्त्र कुर्वन्ति। ४ उमास्वामिपादै गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेय आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति। एलाचार्यो गृद्धपिच्छ पद्मनन्दी वितन्यते ॥१॥ तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसन्मत। उमास्वामिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ २ ॥ (टिप्पण्यन्तरम्)। ५ विनेयानाम्। ६ अस (द्वन्द्वसमास)। ७ अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति पूर्वोक्त भाष्यांशविवरणमिदम्। एव यथायोग्य ज्ञातव्यम्। ८ कुर्वाणा समन्तभद्राचार्या। ९ जिन परमेष्ठी। १० तत्त्वार्थसूत्रकारै। ११ मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृता भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाहं स्तुत सूत्रकृता भो समन्तभद्राचार्यो देवागमादिविभूत्या त्व महानिति कुतोहं नाभिष्टुत इति पृष्टा इव।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते [1]नातस्त्वमसि नो[3]महान् ॥१॥

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धनाद्देवागमादयो नभोयानादय[4]श्चामराद यश्च[5] विभूतय परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मस्करिप्रभतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया[1] भगवन्नोस्माक परीक्षाप्रधानाना महाश्च स्तुत्योसि । आज्ञाप्रधाना हि त्रिद शागमादिक परमेष्ठिन परमात्मचिन्ह प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो[6] मायाविष्वपि [7] आज्ञावित्यागमाश्रयोय[1] स्तव ❀ । श्रेयोमागस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमन भोयानचामरादिविभूतिमत्वाद्यन्यथानुपपत्तरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात[1] । तस्य च प्रति वादिन प्रमाणत्वेनासिद्ध तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात । तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्ध ।

कारिकार्थ—आप के जन्म कल्याणक आदिको मे देवो का आगमन आप का आकाश माग में गमन एवं समवसरण मे चामर छत्र आदि अनेक विभूतियो का होना आदि यह सब बाह्य वैभव मायावी विद्याधर मस्करी आदिको मे भी पाया जा सकता है अत हे भगवन् ! हम लोगो के लिए आप महान नहीं है स्तुति करने योग्य नही हैं ॥१॥

इस कारिका के आदि पद को प्रत्येक पद के साथ लगाना चाहिए । इसमे देव चक्रवर्ती आदिकों का आगमन आकाश मे गमन चतुमुख आदि चामर छत्र पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ ग्रहण की जाती हैं—ये विभूतियाँ जिस प्रकार अहन्त भगवान मे देखी जाती है उसी प्रकार मायावी मस्करी पूरण आदिकों मे भी पाई जा सकती हैं। इसलिए हे भगवन् ! हम जैसे परीक्षा प्रधानी महापुरुषो के लिए आप स्तुति करने योग्य नही हैं। **हाँ ! जो आज्ञा प्रधानी हैं वे ही अर्हंत भगवान के देवागम नभोयान आदि वैभव को परमात्मा का चिह्न समझ कर नमस्कार करते हैं न कि हम जसे परीक्षा प्रधानी जन क्योंकि वसा वैभव मायावी जनों में भी पाया जाता है। अत इस प्रकार का स्तवन आगम के आश्रित है ।**❀

यथा— मोक्ष मार्ग के प्रणेता भगवान स्तुति करने योग्य महान हैं क्योंकि देवागम नभोयान चामरादि विभूतियो का अन्यथा होना संभव नही है।

---

१ इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतित । २ वर्द्धमान । ३ अस्माक परीक्षाप्रधानाना समन्तभद्रादीनाम् । ४ चक्रवर्त्यागमादि । ५ चतुरास्यत्वादि । ६ सुरपुष्पवृष्ट्यादि ७ परीक्षाप्रधानाना स्तुत्यो नासीत्यादि भावयति । ८ आज्ञाप्रधानवर्तिन नान्यथाभाषितमिति वदति शास्त्रविचार न जानतीति आज्ञासम्यक्त्ववशवर्तिन । ९ देवागमा दिविशिष्टस्य । १ इति हेतो । ११ देवागमादिविभूतितस्त्व महानित्ययम् । १२ महत्त्वाभावे । १३ अनागमसत्यवादिनां स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मस्करिप्रभृतिषु प्रवर्तमानत्वाद्ध तो साधकत्वासम्भवात ।

---

1 देवागमादिविभूतियुक्तितया 2 मीमांसकस्य ।

[विभूतिमत्त्वहेतोर्निर्दोषत्व-साधने युक्ति]

परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मायो पदर्शिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिन व्यभिचार सत्यधूमवत्त्वादे पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनानैकान्तिकत्वप्रसगात सर्वानुमानोच्छेदात्[1] ।

[तटस्थ जनेन समाधान जनक प्रत्युत्तर कारिकाया द्वितीयोऽर्थश्च]

इति चेत तर्हि मा भूदस्य हेतोर्व्यभिचार पारमार्थिक्य पुर दरभेरीनिनादादिकृत प्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थंकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्य[4]तस्त्व[6] महानस्माकमसीति व्याख्यानादग्रन्थविरोधाभावादिति कश्चित[9]

यह हेतु भी आगमाश्रित है इसलिए यह हेतु प्रतिवादी को प्रमाण रूप से मान्य नही है क्योकि वे लोग भी अपने आगम को प्रमाण मानते है। अत विपक्ष मे चले जाने से यह हेतु गमक (अपने साध्य को सिद्ध करने वाला) नही हो सकता है। उनके आगम मे भी चले जाने से इस हेतु मे विपक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है।

[विभूतिम व हेतु को निर्दोष मानने मे युक्ति]

अब कोई प्रश्न करता है कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् जो हेतु है वह माया से उपदर्शित विभूति वाले मायावी जनो के साथ व्यभिचारी नही है क्योकि मायावी जनो मे उस प्रकार की विभूतियाँ नही पाई जाती हैं यदि ऐसा नही मानोगे तो सत्य धूमवत्वादिक हेतु से अग्नि आदि साध्य के सिद्ध करने मे स्वप्न मे उपलब्ध हुए धूमादिमान प्रदेशादिक से भी व्यभिचार मानना पड़ेगा और पुन सभी अनुमानो का उच्छेद हो जायेगा।

[तटस्थ जनी द्वारा समाधान जनक उत्तर एव कारिका का द्वितीय अर्थ]

अब यहाँ कोई तटस्थ जैनी उत्तर देता है कि यदि ऐसी बात है तो इस देवागमत्व हेतु को व्यभिचारी मत मानिये किन्तु ऐसा अर्थ कर लीजिए कि देवादिको के भेरी निनाद आदि के द्वारा होने वाली एव विनाश को न प्राप्त होने वाली ऐसी वास्तविक यथोदित (शास्त्र मे कही गई) विभूतियाँ जिस प्रकार की आप तीर्थंकर भगवान मे है उस प्रकार की मायावी जनो मे नही हैं। अतएव आप हम लोगों के लिए महान हैं—इस श्लोक का ऐसा अर्थ करने पर ग्रन्थ में भी विरोध नही आता है।

१ माययोपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषा मायाविना ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तै । २ अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती हे समन्तभद्राचार्या ! मायाविभि कृत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्य-धूमवत्त्वादेरित्यादिना कथयति । ३ देवागमादिमत्त्वस्य । ४ विनाश । ५ मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते । ६ इति हेतो । ७ देवागमादिश्लोकस्यैव व्याख्यानादित्यर्थ । ८ व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह ग्रन्थविरोधाभावात् । ९ तटस्थ स्वमतवर्ती पृच्छति ।

१ सर्वानुमानोच्छेदापत्ते —इति पाठांतरम् ।

[पुनरप्याचार्यस्तर्केण हेतोर्व्यभिचारं साधयति]

कोऽपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतु[1] [2]विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्[3] ? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा [4]तस्य [5]तदविषयत्वात् । नाप्यागमादसिद्ध[6]प्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसंगात् । [7]प्रमाणात्[1] सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु [8]परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं[9] प्रतिपत्तुः स्यात् । ततः[11] सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महांस्तस्यागमाश्रयत्वादिति ।

[पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं]

इस पर श्री विद्यानन्दि स्वामी प्रश्न करते हैं कि आप किस प्रमाण से प्रकृत हेतु (देवागमनादि) को विपक्ष में असंभवी निश्चित करते हैं—प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

इन दोनों प्रमाणो से भी चामरादि विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि नही हो सकती है और सिद्ध नहीं है प्रमाणता जिसकी ऐसे आगम से भी यह हेतु विपक्ष-व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हैं। यदि आप कहें अनुमान प्रमाण से सिद्ध है प्रमाणता जिसकी ऐसे आगम से इस हेतु को सिद्ध करेंगे तो इस आगम से महानपने रूप साध्य की ही सिद्धि हो जावे जिससे कि प्रतिपत्ता ज्ञाता के परपरा से होने वाले परिश्रम का परिहार हो जाता है। अर्थात् आगम से विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि पुनः इस हेतु से भगवान के महान पने रूप साध्य की सिद्धि होती है। अतः इस परंपरा परिश्रम से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु स्वयं आगम से ही साध्य की सिद्धि कर सकते हैं इसलिए यह ठीक ही कहा है कि सर्वथा इस विभूतिमत्वादि हेतु से आप हम लोगों के लिए महान नहीं हैं क्योंकि यह हेतु आगमाश्रित है।

भावार्थ—ग्रन्थकर्ता का कहना है कि विभूतिमत्व हेतु से हम भगवान को महान समझकर नमस्कार नहीं करते हैं। इस पर कोई जैन ही कह देता है कि जैसी विशेष एवं सच्ची विभूतियाँ अर्हंत भगवान में हैं वैसी अन्य मायावी जनो मे हो ही नही सकती हैं। इस पर कोई दूसरा तटस्थ जैन उत्तर देता है कि पुनः इस हेतु को व्यभिचारी मत मानिये एवं कारिका के अर्थ में न शब्द को 'मायाविष्वपि' के साथ लगाकर अर्थ कर लीजिये जिससे भगवान अर्हत इन विभूतियो से ही महान् हैं

---

१ देवागमादिहेतुम् । २ मस्करिष्वसम्भविनम् । ३ निश्चीयात् । ४ विभूतिमत्त्वादिहेतोः । ५ तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् प्रत्यक्षाच्चामरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न । ६ असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्गः । ७ अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात् । ८ महानिति । ९ आगमाद्धेतुप्रतिपत्तिस्ततः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्यपरिहारः । १ आगमात्साध्यप्रतिपत्तिप्रकारेण । ११ निर्विशेषे सति विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रितत्वं यतः ।

---

1 यदि प्रमाणादागमसिद्धिरागमात्साध्यसिद्धिर्हेतुना किं प्रयोजनम् ।

तर्ह्यन्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना[1] सत्येन[2] स्तोतव्योऽहं[3] महानिति भगवत्पर्यनुयोगे[4] सतीव आहु ।—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदय ।
दिव्य सत्यो[5] दिवौकस्स्वप्यस्ति[6] [7]रागादिमत्सु स ॥२॥

आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरगो विग्रहादिमहोदय शश्वन्नि स्वेदत्वादि

अत हम लोगो के लिये पूज्य है क्योकि मायावीजनो मे ये विभूतियाँ नही पाई जाती हैं ऐसा अर्थ करके परस्पर में समाधान कर देने पर श्री विद्यानद स्वामी कहने लगे कि यह विभूतिमत्व हेतु अन्य के भी आगम मे चला जाता है। अत विपक्ष मे चले जाने से यह व्यभिचारी है क्योकि सभी मतावलंबी जन अपने अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। जो हेतु पक्ष सपक्ष और विपक्ष तीनो में रहे वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है जैसे कि आकाश नित्य है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है' अब यहाँ ज्ञान का विषय रूप ज्ञेयत्व हेतु व्यभिचारी है। क्योकि यह घट पट आदि अनित्य पदार्थों मे भी पाया जाता है। तथा इस पवत पर अग्नि है क्योकि धूमवाला है यहाँ यह धूमवत्व हेतु पक्षरूप पर्वत पर है एवं सपक्ष रूप रसोईघर मे भी है तथा विपक्षभूत तालाब मे नहीं है अत यह हेतु व्यभिचारी नहीं है। उपर्युक्त व्यभिचारी हेतु का दूसरा नाम अनैकांतिक भी है।

उत्थानिका—पुन मानो साक्षात् भगवान ही समन्तभद्र स्वामी से प्रश्न कर रहे हैं–कि हे समन्तभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमे नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु अन्य मस्करी पूरण आदि जनो मे नही पाये जाने वाले ऐसे वास्तविक अन्तरग बहिरग विग्रहादि महोदय है उनके द्वारा तो मैं तुम्हारे स्तवन करने योग्य महान अवश्य ही हूँ।

इस प्रकार के प्रश्न करने पर ही मानो समन्तभद्र स्वामी कहते हैं —

कारिकार्थ—अतरंग विग्रह आदि महोदय-निरंतर पसीना रहितपना आदि एवं बहिरंग गन्धोदक वृष्टि आदि महोदय जो कि दिव्य है सत्य अर्थात् वास्तविक हैं। इस प्रकार अन्तरंग बहिरग शरीर आदि महोदय भी मस्करीपूरण आदि मे न होते हुए भी रागद्वेष-युक्त देवो मे पाये जाते हैं इसलिए भी हे भगवन् ! आप महान् नही है ॥२॥

---

१ मस्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता। २ परमार्थभूतेन। ३ अहं पक्ष महान् भवामीति साध्यो धर्म अन्तरङ्ग बहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्ते। ४ प्रश्ने। ५ अक्षीणकषायेषु देवेषु। ६ वर्तते यस्मात्तस्मात्त्व महान्। अथवा किमस्तीति काकु नास्तीत्यर्थ। अतस्त्व महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवत। ७ आदिशब्दान्मोहाहंकारादीनां ग्रहणम्।

परानपेक्षत्वात् । तथा बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरंगो देवोपनीतत्वात् । स च सत्यो मायाविष्वसत्त्वात् । दिव्यश्च [1]मनुजेन्द्राणामप्यभावात । स एष बहिरन्तः शरीरादिमहोदयोपि[1] पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावावक्षीणकषायेषु । [3]ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते* ।

[अथ कश्चित्तटस्थजन महोदयत्वहेतु निर्दोष साधयति]

अथ[4] यादृशो घातिक्षयज स[5] भगवति न तादृशो देवेषु [6]येनानकान्तिक स्यात । [7]दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते

[पुनरपि आचार्या हेतु सदोष साधयति]

तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतु पूर्ववत । ननु प्रमाणसम्प्लववादिनां[8] प्रमाणप्रसिद्ध

आत्मा का आश्रय लेकर जो होवे उसे अध्यात्म कहते है अर्थात् अन्तरग शरीरादि महोदय हमेशा मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित अवस्था विशेष जो कि पर मंत्रादि किसी की भी अपेक्षा नही रखते हैं उससे भिन्न बाह्य-गन्धोदक पुष्प वृष्टि आदि बहिरग महोदय होते है जो कि देवो के द्वारा किये जाते हैं। ये दोनो प्रकार के महोदय सत्य (वास्तविक) हैं क्योकि ये मायावी जनो मे नही पाये जाते है और दिव्य हैं क्योकि चक्रवर्ती आदि महापुरुषो मे भी इनका अभाव है। इस प्रकार ये बहिरग अन्तरग शरीरादिक महोदय भी मस्करीपूरण आदि मे असम्भव हैं तो भी रागादिमान्–कषाय सहित देवो मे पाये जाते हैं अत व्यभिचारी हैं इसलिए इस हेतु के द्वारा भी आप परमात्मा नही है अत मेरे द्वारा स्तुत्य नही हैं।

[यहा कोई तटस्थ जनी विग्रहादि महोदयत्वात हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है]

अब कोई तटस्थ जनी कहता है कि जिस प्रकार का घातिया कम के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान मे है उस प्रकार का देवो मे नही है जिससे कि यह विग्रह आदि महोदय हेतु अनेकान्तिक होवे, अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी नही है तथा यह विग्रहादि महोदय रागादिमान देवो मे हैं? अर्थात् नही हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति रूप व्याख्यान के द्वारा अर्थ करने से आगम मे भी बाधा नही आती है।

[पुन आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं]

इस पर आचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी कहते है कि यह हेतु भी पूर्ववत् आगमाश्रय होने से अहेतु है क्योकि यह हेतु विपक्ष मे नही रहता है यह कैसे जाना जाय। कोई कहता है कि आप जैनी तो

१ मन्त्राद्यनपेक्षत्वात् । २ चक्रवर्त्यादीनाम् । ३ हेतोर्व्यभिचारित्वात् । ४ यदि । आह स्वमतवर्ती । ५ विग्रहादिमहोदय । ६ न केनापि । ७ किमस्तीति काकु नास्तीत्यर्थ । ८ सोपि प्रकृतहेतु विपक्षासम्भविन कुत प्रतीयादित्यादिसम्बन्धनीयम् । ६ बहूना प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्ति प्रमाणसम्प्लव । जनानाम् ।

1 अहं धर्मी महान् भवामि अतरगबहिरगमहोदयसद्भावा यथानपपत्त ।

प्रामाण्यादागमात्साध्यसिद्धावपि[1] तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेन्न, [2]उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरुपयोग विशेषे [3]देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतस स पुनरनुमानात्प्र तिपित्सते । तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात [5]पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते । तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेष[7]प्रतिभाससिद्धे [8] । न [9]चैवमागममात्रगम्ये साध्ये साधने च [10] तत्प्रतिपत्तिविशेषोस्तीति [11]किमकार [12]णमत्र [13] प्रमाणसप्लवोभ्युपगम्यते [14]प्रत्यक्ष निश्चतेग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसगात । सर्वथा विशेषाभावात । ततो देवागमनभोयानचा मरादिविभूतिभिरिवान्तरगबहिरगविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्र भगवान् परमात्मार्हति ।

प्रमाण सम्प्लववादी हैं अत प्रमाण से प्रसिद्ध है प्रमाणता जिसकी ऐसे आगम से साध्य की सिद्धि अर्थात् भगवान का महत्व सिद्ध हो जाने पर भी आगम से प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से पुनरपि साध्य की सिद्धि होने मे कोई बाधा नही है । आचाय कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नही है । क्योकि उपयोग विशेष के अभाव मे हमने प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार नही किया है ।

जानने वाले ज्ञाता का उपयोग प्रयोजन विशेष होने पर ही देश कालादि विशेष से निर्णीत आगम से निश्चित जाने गये भी अग्नि का अनुमान विशेष से जानना चाहता है एव साध्य से सम्बद्ध धूमादि के साक्षात् करण से ज्ञान विशेष होता है पुन वह ज्ञाता उस साध्य अग्नि आदि को प्रत्यक्ष से जानना चाहता है क्योकि साध्य अग्नि का चक्षु इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उनका विशेष पीत वर्ण रूप भासुराकार प्रतिभास सिद्ध होता है । इस प्रकार प्रमाण संप्लव के द्वारा आगम मात्र गम्य साध्य और साधन मे साध्य का परिज्ञान विशेष नही हो सकता है ।

अत यहाँ पर व्यर्थ ही प्रमाण सम्प्लव को स्वीकर करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ भी नही है । यदि कारण के बिना भी प्रमाण-संप्लव स्वीकार करगे तो प्रत्यक्ष से निश्चित हुई अग्नि और धूम मे भी प्रमाण-सम्प्लव मानने का प्रसग आयेगा । सवथा यहाँ पर भी विशेष का अभाव है इस लिए देवागम नभोयान चामरादि विभूतिमत्व के समान अन्तरग बहिरग विग्रहादि महोदय के द्वारा भी आप भगवान-परमात्मा स्तवन करने योग्य नही हैं ।

भावार्थ—पुनरपि ग्रथकर्त्ता विग्रहादि महोदयत्व हेतु से भी भगवान् को महान् मानने को तैयार नही है । इस पर भी कोई तटस्थ जैन कहता है कि घाति कर्म के क्षय से होने वाले जो दिव्य

---

१ महत्ता । २ परिच्छित्ति । ३ कालस्वरूपम् । ४ निर्णयात् । ५ पुन स प्रतिपत्ता त हिरण्यरेतसं साक्षाबोद्ध मिच्छति । कस्मात् ? अग्निनेत्रेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभास सिद्धयति यत । ६ इन्द्रियेण । ७ पिङ्गभासुराकार । ८ विशेषप्रतिभाससिद्ध रिति वा पाठ । ९ अग्निप्रकारेण । १ प्रमाणसप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति । ११ किमिति निरर्थम् । १२ कारणं विना । १३ साध्ये । १४ अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षं निश्चिते सति तस्य प्रमाणसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो भवेत् ।

तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन[1] स्तुत्योऽहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव[2] साक्षादाहु —

तीर्थकृत्समयानां[3] च परस्परविरोधत[4] ।
[5]सर्वेषामाप्तता[6] नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरु ॥३॥

अतिशय हैं वे रागादिमान् देवो में असंभव हैं अत कारिका के अर्थ मे वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ करके प्रश्न वाचक कर देने से मतलब ये विग्रहादि महोदय रागादिमान देवो मे हो सकते हैं क्या ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं ऐसा अर्थ कर देने से आगम मे भी बाधा नही आती है। इस समाधान पर भी श्री विद्यानद स्वामी कहते हैं कि यह हेतु आगमाश्रित होने से अनकातिक ही है। इस पर किसी का कहना है कि आप जन प्रमाण संप्लव को मानते हैं अत प्रमाण से प्रसिद्ध प्रमाणता वाले आगम प्रमाण से भगवान् का महत्व सिद्ध करो पुन प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण से भी भगवान का महत्व सिद्ध करो इस प्रकार से आप जैनों के यहाँ तो कोई भी बाधा नही है अर्थात् बहुत से प्रमाणो का एक ही साध्य को सिद्ध करने मे प्रवृत्त हो जाना प्रमाण संप्लव कहलाता है। जैसे किसी पुस्तक मे पढा कि जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। पुन सामने के पवत पर धूम को देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य है तदनंतर कदाचित् उसी पवत पर चढ़ गये अथवा रसोई घर मे गये एव अग्नि को प्रत्यक्ष चक्षु इंद्रिय से देखा। इस अग्निरूप साध्य को सिद्ध करने मे आगम अनुमान एवं प्रत्यक्ष ऐसे तीन प्रमाण प्रवृत्त हुये हैं। कोई-कोई इस विषय मे आगे के प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही न होने से दोष मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इसे दोष नही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रमाण आगे आगे कुछ विशेष विशेष अशों को ग्रहण करने वाले होने से अपूर्वार्थग्राही ही है इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम प्रयोजन के बिना ही प्रमाण सप्लव को नही मानते हैं। जहाँ प्रयोजन विशेष होता है वही पर मानते है नही तो एक बार अग्नि को प्रत्यक्ष से देखकर भी उसका अनुमान लगाते बैठेंगे।

उत्थानिका—तब तो देवो मे भी असंभवी ऐसे आगम रूप तीर्थकृत सप्रदाय के द्वारा तो मैं अवश्य ही स्तुति करने योग्य महान हूँ इस प्रकार मानो भगवान के साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समन्तभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान ही कहते हैं —

कारिकार्थ—परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं। उनके समय

---

१ त्रिवौकस्स्वप्यसम्भविना आगमेन। २ प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम्। ३ तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिन कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम्। ४ स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण। ५ मीमासक सांख्य सौगत नैयायिक चार्वाक तत्त्वोपप्लववादि योग ब्रह्माद्वैतवादि पुरुषाद्वैतवादि चित्राद्वैतवादी शब्दाद्वैतवादि ज्ञाना द्वैतवादिप्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयिणाम्। ६ यथाभूतार्थोपदेष्टत्वम्। ७ परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यानं कश्चिदपि गुरुर्भवेदपितु न कश्चिद्गुरुर्भवेदिति। जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्या कारिकाया क परमात्मा त्रिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवेत्। भवं यन्ति ये ते भवेत संसारिणस्तेषां गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपदं ज्ञेयम्। चार्वाकमते बृहस्पतेर्गुरुत्वं ज्ञेयम्।

इति भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थंकरत्व साधनं कुत प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तस्य [1]तदविषयत्वात्साध्यवत् । नाप्यनु[2]मानात्तदविनाभाविलिंगाभावात । [3]समयात्सिद्धमिति चेत् पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । न[4] हि तीर्थंकरत्वमाप्ततां साधयति, अन्यत्राविश्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात्* **।** यथव[5] हि भगवति तीर्थंकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुमतस्तीर्थंकर कपिलस्तीथकर इत्यादिसमया [6]सन्तीति सर्वे **महान्त स्तुत्या स्यु । न च सर्वे सवदर्शिन परस्परविरुद्धसमयाभिधायिन***। तदुक्तम् ।

सुगतो यदि सवज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभो यदि सवज्ञो मतभेद कथ तयो ॥

अर्थात् आगमो मे परस्पर मे भिन्न भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अत सभी को आप्तपना (सवज्ञपना) नही है अर्थात् मीमासक साख्य सौगत नैयायिक चार्वाक तत्वोपप्लववादी यौग ब्रह्माद्वैतवादी ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलबी वादियो मे सभी के ही सवज्ञता नही हो सकती है इसलिए कोई एक गुरु-परमात्मा अवश्य है ॥३॥

इस प्रकार भगवान मे महानपना साध्य करने मे तीथकरत्व हेतु भी किस प्रमाण से सिद्ध है ?

यह हेतु प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नही है क्योकि साध्य के समान यह हेतु भी प्रत्यक्ष का विषय नही है न अनुमान से सिद्ध है क्योकि साध्य जो महान है उसके साथ अविनाभावी लिंग नही पाया जाता है। यदि आप कहे—आगम से सिद्ध है तो यह भी ठीक नही है क्योकि पूववत् आगमाश्रय होने से यह हेतु अगमक है—साध्य को सिद्ध करने वाला नही है। और विपक्ष मे जाने से व्यभिचारी भी है।

देखिये—**यह 'तीथकरत्व हेतु आप्तपने को सिद्ध नहीं कर सकता है। यद्यपि यह तीर्थंकरत्व हेतु वैनायिकों में असभवी है फिर भी बुद्ध आदिकों मे पाया जाता है।*** क्योकि जिस प्रकार भगवान–तीर्थंकर का आगम मौजूद है उसी प्रकार सुगत आदि मे भी अपने अपने तीथ को करने वाला आगम पाया जाता है। सुगत भी तीर्थंकर है कपिल भी तीर्थंकर हैं इस प्रकार आगम मौजूद है। अत सभी ही महान एवं स्तुति के योग्य हो जावेंगे।

किन्तु वे सभी सवदर्शी सवज्ञ नहीं हैं क्योंकि परस्पर मे विरुद्ध आगम का कथन करने वाले हैं।*

जसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा—

श्लोकार्थ—बुद्ध यदि सवज्ञ है और कपिल (साख्य का गुरु) नहीं है इसमे क्या प्रमाण है

---

१ प्रत्यक्षागोचरत्वात् । २ भगवान् धर्मी महान् भवतीति साध्यस्तीर्थंकरत्वान्यथानुपपत्त रिति हेतु । यो महान्न भवति स तीर्थंकरो न भवति यथा रथ्यापुरुष तीर्थंकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति । ३ आगमात् । ४ व्यभिचारमेव भावयति । ५ एतावास्तीत्युक्त आह । ६ आगकूप । ७ कुमारिलेन । ८ सर्वथा क्षणिक सर्वथा नित्यमित्यादि ।

इति । ततोऽनैकान्तिको हेतु * तीर्थकरत्वाख्यो न [1]कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत् ? नैव भवेदित्यायातम्[2] । [3]अत एव न कश्चित्पुरुष सर्वज्ञ * स्तुत्य श्रेयोर्थिनां श्रुतेरेव[4] श्रेय साधनोपदेशप्रसिद्धेरित्यपर[5] । तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या । तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसका [6]सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात । तेषां [7]समयास्तीर्थकृतसमया स्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादि[8]वाक्यार्थप्रवादा इत्यर्थ । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता[9] [10]नास्तीति कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरु [11]संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् ।

और यदि दोनो सर्वज्ञ है तो उन दोनो मे मत भेद क्यो पाया जाता है क्योकि बुद्ध तो सर्वथा वस्तु को क्षणिक ही मानते हैं और सांख्य सर्वथा सभी वस्तु को नित्य ही मानते है ।

इसलिए **यह तीर्थंकरत्व हेतु अनैकांतिक है** * यह किसी भी पुरुष को महान् सिद्ध नहीं कर सकता है । अत कोई गुरु महान हो सकता है क्या ? अर्थात् नही हो सकता है ।

अब मीमासक कहते हैं कि **इसीलिए मोक्षाभिलाषी के द्वारा कोई भी पुरुष–विशेष सर्वज्ञ स्तुति योग्य नहीं है ।*** श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधन भूत उपदेश की प्रसिद्धि है । ऐसा कहने वाले उन मीमासको के प्रति भी इस कारिका का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए–

तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमासका अर्थात् मीमासकजन तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत् हैं क्योकि वे सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का निराकरण करने वाले हैं । उनके आगम (उपदेश) तीर्थकृत् आगम है अर्थात् तीर्थ के नाशक सम्प्रदाय वाले है–भावना विधि और नियोग रूप वेद वाक्यो के प्रतिपादक अर्थ करने वाले है । अर्थात् वेद वाक्यो का अर्थ कोई तो भावना रूप करते हैं कोई उससे विरुद्ध विधिरूप करते है एवं कोई उससे विरुद्ध नियोगरूप करते है । इसलिए उनमे परस्पर मे विरोध होने से आप्तपना–संवादकपना सम्भव नही है । अत कोई भी सम्प्रदाय गुरु संवादक नही है ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए ।

भावार्थ—पुनरपि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान को तीर्थकृत्व हेतु से भी महान सिद्ध नही कर रहे हैं । इस पर मीमासक चार्वाक और शून्यवादी को बोलने का मौका मिल जाता है । वे कहते हैं कि कारिका के कश्चिदेव भवेद्गुरु इस अंतिम चरण का वक्रोक्ति के द्वारा प्रश्न वाचक अर्थ कर दीजिये कि सभी आगमो मे परस्पर मे विरोध पाया जाता है अत क्या कोई गुरु भगवान् हो सकता है ?

---

१ पुरुष । २ यत एव ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति । ३ सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यत । ४ श्रेयोर्थिना कथं श्रेय इत्युक्त आह वेदात् । ५ मीमांसक । ६ सर्वज्ञप्रतिपादक । ७ उपदेशा । ८ आदिशब्देन विधिनियोगौ । ९ संवादकताप्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम् । १० संवादकता नास्ति यत । ११ भावनाख्ये ।

तदेवं वक्तव्यम् ।

भावना[1] यदि वाक्यार्थो नियोगो[1] नेति का प्रमा[2] । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥१॥ इति कार्येऽर्थे[3] चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥२॥ इति

अर्थात् नहीं हो सकता है। बस ! ऐसा अर्थ कर देने पर हम मीमांसकों का मत पुष्ट हो जाता है कि जगत मे कही पर भी कोई सर्वज्ञ भगवान है ही नही। हमारे द्वारा अपौरुषेय वेद से ही धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अत किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने इस अन्तिमचरण का प्रथम तो यह अर्थ किया है कि कोई एक ही गुरु हो सकता है पुन उसी से यह अर्थ भी कर दिया है कि क—परमात्मा चित्–अर्हत भगवान एव–ही भवेत् भव–ससार को जो इत्–प्राप्त है वे भवेत् हैं उन ससारी जीवो के गुरु–भगवान महान केवली आप्त ही हो सकते है अन्य कोई भी नही हो सकते हैं।

श्लोकार्थ—यदि वेद वाक्य का अर्थ भावना है नियोग नही है इसमे क्या प्रमाण है ? यदि वे दोनो ही वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनो ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ नियोगरूप कार्य के अर्थ मे वेद का ज्ञान प्रमाण है तो स्वरूप–विधि मे वह प्रमाण क्यो नही है ? यदि कार्य और स्वरूप दोनो मे ही वह वेद वाक्य प्रमाण होवे तब तो खेद है कि भट्ट और वेदातवादी दोनो ही नष्ट हो गये ॥२॥

विशेषार्थ—जैनाचार्य अपौरुषेय वेद मे भी परस्पर विरोध को दिखलाते हुये दूषण देते है। अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग काम इत्यादि वाक्यो मे जो यजेत पद विधि लिङ् है अद्वैतवादी लोग इसका अर्थ विधिरूप एक अद्वितीय परमब्रह्म ही करते है नियोगवादी प्रभाकर इसी का अर्थ मैं इस वाक्य से यज्ञ कार्य मे नियुक्त हुआ हूँ ऐसा नियोग रूप करते हैं तथा भावनावादी भाट्ट इसी वेद का अर्थ भावना रूप करते हैं। *य सर्वज्ञ स सर्ववित्* इन वेद वाक्यो से नैयायिक लोग ईश्वर का सर्वज्ञत्व अर्थ निकालते हैं एवं इसी वाक्य से मीमासक लोग कर्मकाड की स्तुति करने वाला अर्थवाद वाक्य मानते है और चार्वाक प्रज्ञाढ्य पुरुष आदि श्रुतियो से अपना मत पुष्ट करते हुये कहते हैं कि अग्न्यादि भूत चतुष्टय से ही आत्मा का निर्माण होता है। कामधेनु के समान इन वेदवाक्यो से भिन्न भिन्न मतावलंबी जन भिन्न भिन्न ही अर्थ की कल्पना करके अपना-अपना मत पुष्ट कर रहे है। इस प्रकार सभी के मतो मे परस्पर मे एक दूसरे से विरोध आता है। मीमासक तो सर्वज्ञ को मानते ही नही हैं। ये वेदवाक्य स्वयं तो कहते नही है कि मेरा यह अर्थ प्रमाण है एव यह अर्थ अप्रमाण है। तथा उस वेद

१ नियुक्तोहमित्याकूतं यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थं । २ सर्वं व खल्विद ब्रह्म त्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्यं कथ न प्रमाणम् । ३ कार्यस्वरूपयो ।

1 किं केन कथमित्यंशत्रयवती भावना–भाव्यकरण कर्तव्यता रूपमंशत्रय । 2 भावनारूपे । यागे ।

के व्याख्याता पुरुष भी रागी द्वेषी ही मिलेंगे। इसलिये 'ये ही अर्थ प्रमाण हैं' ऐसी अंध परम्परा से अर्थ का निर्णय होना नहीं बनेगा। एक अंधे ने दूसरे अंधे का एवं दूसरे ने तीसरे का इत्यादि रूप से सैकड़ों अंधे हाथ पकड़कर पंक्ति से खड़ हो जावें तो क्या सबको दीखने लगेगा ? अर्थात् नहीं दीखेगा और न वे अंधे अभीष्ट स्थान को ही प्राप्त कर सकेंगे और यदि उन अंधो की पंक्ति मे आगे एक चक्षुष्मान् व्यक्ति जुड़ जावेगा तो कदाचित सभी को अभीष्ट स्थान तक पहुँचा भी सकता है। तथैव यदि आप मीमांसक इस अनादि निधन वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ को मान लवे तो सभी अल्पज्ञो असर्वज्ञो को भी सच्चा अर्थ बोध हो सकता है हम जनो ने भी द्रव्यार्थिक नय से श्रुत को अनादि निधन माना है एवं पर्यायार्थिक नय से ही सादि सान्त भी माना है। किंतु सर्वज्ञ को मानने से हमारे यहाँ अर्थकर्त्ता तो सर्वज्ञ ही हैं किंतु ग्रंथकर्त्ता चार ज्ञानधारी गणधर हैं। उन्ही की परम्परा से अविच्छिन्न परंपरा तक ग्रंथ प्रमाण माने जाते हैं। इसका श्लोकवार्तिक मे अच्छा स्पष्टीकरण है।

यहाँ पर तो अपौरुषेय वेद मे प्रभाकर भाट्ट एवं अद्वैतवादी इन तीनो ने ही नियोग भावना और विधिरूप से वेदवाक्यो का अर्थ किया है तथा जैनाचार्यों ने एक दूसरे के द्वारा ही उनका खंडन करा दिया है।

आप्त परीक्षण का सारांश

मोक्षशास्त्र की आदि मे मोक्ष के लिये कारणभूत एवं मंगल के लिये कारणभूत श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा जो अतिशय गुण सहित भगवान आप्त हैं उनकी स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी भगवान से प्रश्न उत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके जन्मकल्याणकादिको मे देव चक्रवर्ती आदि का आगमन आकाश मे गमन छत्र चामर पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतिया तो मायावी आदिको मे भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्–पूज्य नहीं हैं। अर्थात्– श्रेयोमार्ग प्रणेता भगवान स्तुत्यो महान्, देवागमनभोयान–चामरादि–विभूतिमत्वाद्यन्यथानुपपत्ते इसमें देवागमनभोयान चामरादि विभूतिमान् की अन्यथानुपपत्ति होने से यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है क्योंकि सभी लोग अपने अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। यदि कोई तटस्थ जैनी यो कहे कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् हेतु मायावीजनो मे संभव नहीं है क्योकि साधारण मे असंभवी असाधारण विभूतियाँ तीर्थंकर भगवान की हैं इसलिये इस श्लोक का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि "देवागम आदि विभूतियाँ जो आप में हैं सो मायावीजनो में नहीं देखी जाती हैं अतएव आप हमारे लिये महान् हैं इस पर श्री विद्यानंद स्वामी कहते हैं कि इस "विभूतिमत्वात् हेतु को विपक्ष से असंभवी आप किस प्रमाण से

निश्चित करते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? इन दोनो से तो आप सिद्ध नही कर सकते। यदि आगम प्रमाण से सिद्ध कर तब तो हमने पहले कहा ही है कि यह हेतु आगमाश्रय होने मे असिद्ध है।

इस पर भगवान मानो पुन प्रश्न करते है कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमे नमस्कार नही किया तो न सही किन्तु अन्य मस्करी आदि मे असभवी ऐसे अतरग मे पसीना आदि से रहितपना एवं बहिरग गधोदक की वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य हैं सत्य है वे मुझमे है अत आप स्तुति करिये। इस पर स्वामी समतभद्राचार्य कहते हैं कि ये महोदय भी रागादिमान् देवो मे पाये जाते है अत इनसे भी आप महान् नही है।

इस पर कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जसा घाति कम के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान म है वसा देवो मे नही है। अत विग्रहादि महोदयत्वात् हेतु व्यभिचारी नही है इसलिये कारिका का अथ ऐसा करना कि ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवो मे हैं ? अर्थात् नही है इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा अथ करन से आगम मे बाधा नही आती है। इस पर श्री विद्यानद स्वामी कहते है कि पूववत् ही यह हेतु आगमाश्रय होने से अहेतु है। अत पूववत् आप विग्रहादि महोदय के द्वारा भी हमारे लिये महान् पूज्य नही हो सकते हैं।

तब तो देवो मे भी असभवी ऐसे आगमरूप तीथकृत सप्रदाय महोदय के द्वारा तो मैं अवश्य स्तुति करने योग्य हूँ इस प्रकार स मानो भगवान् के द्वारा साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन्! आगमरूप तीथ को करने वाले तीर्थंकरो मे परस्पर मे भिन्न भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अत सभी तो आप्त हो नही सकते अर्थात् मीमासक साख्य सौगत नयायिक चार्वाक तत्वोपप्लववादी यौग ब्रह्माद्वतवादी चित्राद्वैत वादी शब्दाद्वैतवाती विज्ञानाद्वतवादी आदि अनेक एकान्त मतावलबियो मे सभी के सवज्ञता सिद्ध नही हो सकती है इसलिये कोई एक ही गुरु परमात्मा हो सकता है।

यहाँ भी तीर्थकृत्व हेतु देवो मे असभवी होते हुये भी बुद्धादिको मे पाया जाता है क्योकि सभी अपने अपने बुद्ध कपिल आदि को तीथकृत मानते हैं किन्तु सभी सवदर्शी नही हो सकते है। कुमारिलभट्ट ने कहा है कि यदि बुद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं साख्य के गुरु कपिल सवज्ञ नही है इसमे क्या प्रमाण है और यदि दोनो ही सवज्ञ है तो उनमे मतभेद क्यो पाया जाता है ? इसपर मीमासक कहता है कि—

कोई विशेष पुरुष सवज्ञ स्तुति करने योग्य नहीं है अत अपौरुषय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधनभूत उपदेश की एवं अतीन्द्रिय पदाथ की सिद्धि हो जाती है। उनके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थं कृन्ततीति तीर्थकृत् मीमांसक तीथ का नाश करने वाले आप मीमासक है क्योकि आपके आगम तीर्थ के नाशक हैं एव आपके वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना करते हैं कोई उससे विरुद्ध विधिरूप एवं कोई नियोग रूप करते हैं इसलिये इनमे परस्पर विरोध होने से आप्तता नही है।

विशेष सूचना

यद्यपि आगे नियोगवाद विधिवाद एव भावनावाद ये तीनों प्रकरण क्लिष्ट एव नीरस है
ये प्रकरण वेद से संबधित हैं एव इनमें व्याकरण का सबध भी अधिक है
तथापि भावार्थ और विशेषार्थ द्वारा उसे सरल एव सरस बनाने का प्रयत्न किया
गया है फिर भी स्वाध्याय प्रेमी जनों को इन विषयों में रूचि न हो तो
आगे चार्वाक शून्यवादी के प्रकरण से स्वाध्याय कर । अनन्तर ये
तीनों प्रकरण भी सरल मालूम पडेंगे। किन्तु इनके समान सारे
ग्रथ को ही कठिन समझकर स्वाध्याय न छोड क्योकि
आगे-आगे इस ग्रथ में प्रकरण सरल सरस एव
अतीव रुचिपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर
पाठकों को स्वय ही अनुभव
आता रहेगा।

[अत्र भाट्टो नियोगवादं निराकरणार्थं तस्य पूर्वपक्षं स्पष्टयति]

ननु च[1] भावनावाक्यार्थ इति सम्प्रदाय श्रेयान् नियोगो न नियोगे बाधकसद्भावात्। नियुक्तोहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य[2] सम्भवाभावात् स चानेकविध [3]प्रवक्तृमतभेदात ।

[एकादशधा नियोगस्य क्रमश वर्णनम्।]

(१) केषाञ्चिल्लिङादि[4]प्रत्ययार्थ [1] शुद्धोन्यनिरपेक्ष [5]कार्यरूपो नियोग ।

[यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं।

भाट्ट—वेदवाक्यो का अर्थ भावना ही है नियोग नही है और यही सप्रदाय श्रेयस्कर है क्योकि यदि आप वेदवाक्य का अर्थ नियोग करगे तब तो नियोग मे बाधा का सद्भाव देखा जाता है। इस अग्निष्टामादि वाक्य स मैं नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकार निरवशष योग को नियोग कहते है क्योकि वहाँ पर किंचित् भी अयोग (अप्रेरकत्व असघटमान चिद्भावना रूप) कार्य सभव नहा है और वह नियोग अनेक प्रकार का है क्योकि नियोग के कथन करने वाल प्रवक्ता लोग भिन्न भिन्न अभिप्राय को लिये हुये है।

भावार्थ— अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम मैं इस वाक्य से नियुक्त हो गया हूँ इस प्रकार नि निरवशष तथा योग अर्थात् मन वचन काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है। नियुक्त किये गये व्यक्ति का अपने नियोज्य काय मे परिपूर्ण योग लग रहा है जसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरु-भक्त शिष्य को स्वामी या गुरु विवक्षित कार्य करन की आज्ञा दे देते है कि तुम जयपुर से पुखराज रत्न लते आना अथवा तुम अष्टसहस्री पढ़ो तो सेवक एव शिष्य उन कार्यों मे परिपूर्ण रूप से नियुक्त हो जाते हैं। काय होने तक उनको उठते बैठते सोते जागते शाति नही मिलती है सदा उसी काय मे परिपूर्ण योग लगा रहता है। इसी प्रकार प्रभाकर लोग यजेत इत्यादि वाक्यो को सुनकर नियोग स आक्रात हो जाते है। जन्मोत्सव विवाह प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर पुरोहित

---

१ अत्राह भावनावादी भट्ट। २ अग्निष्टोम स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङलोटतव्यप्रत्ययस्वरूप। ३ अप्ररकत्वस्य असघटमानस्य चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य। ३ अभिप्राय। ४ अनेन लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययार्थ सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थ। ५ जातिर्व्यक्तिश्च लिङ्ग च प्रकृत्यर्थोभिधीयते। सख्या च कारक चति प्रत्ययार्थ प्रतीयते ६ अग्निहोत्रादिविशेषणरहित। ७ वाक्यार्थनिरपेक्ष। ८ अवश्य करणीय।

---

1 पूर्वकारिकायां वाक्यार्थ एव नियोग प्रतिपादित इदानी प्रत्ययार्थ प्रतिपाद्यते। तर्हि विरोधमिति नाशङ्कनीय गुण मुख्यभावात् नियोगस्तावत्प्रत्ययेन विहित तस्मात्तदर्थमुख्यत्व प्रत्ययार्थरूपस्येति सूत्रेण नियोगार्थे लिङादिप्रत्यया भवन्ति।

[1]प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत शुद्ध प्रतीयते । [2]कार्यरूपश्च तेनात्र[3] शुद्ध कार्यमसौ मत ॥१॥
विशेषण तु यत्तस्य[4] किञ्चिदन्यत्[5] प्रतीयते । [6]प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थ स्वर्गकामवत् ॥२॥
प्रेरकत्वं तु [7]यत्तस्य[8] [9]विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्ध[1] कार्ये नियोगता ॥३॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ २१]

इति वचनात् ।

(२) [1] परेषां शुद्धा[11] प्रेरणा[12] नियोग इत्याशय [13] ।

नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्य को पूरा करते है तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है। वह नियोग अनेक प्रकार का है मीमासको के प्रभाकर भट्ट और मुरारि ये तीन भेद हैं प्रभाकरों की भी अनेक शाखायें हैं ये प्रभाकर लोग यजेत इस विधिलिङ प्रत्यय यजताम् इस लोट प्रत्यय एवं यष्टव्यं इस तव्य प्रत्यय का अर्थ नियोग रूप से करते हैं।

[एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन]

(१) कोई-कोई कहते हैं कि जो लिङ लोट और तव्य प्रत्यय का अर्थ है शुद्ध है अन्य निरपेक्ष है एव कार्यरूप है वही नियोग है। अर्थात् पहले वेदवाक्य के अर्थ को नियोग कहा था इस समय प्रत्यय के अर्थ को नियोग कहते हैं इस तरह से तो परस्पर मे विरोध आता है ऐसी शंका नही करना चाहिये क्योंकि गौण मुख्य कथन है। प्रत्यय के द्वारा नियोग का कथन होता है। कहा भी है—

श्लोकार्थ— जो प्रत्यय का अर्थ शुद्ध अग्निहोत्रादि विशेषण से रहित प्रतीति मे आता है उसे नियोग कहते हैं और वह कार्यरूप ही है इसलिये इस वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध कार्यरूप है ॥१॥

श्लोकार्थ—एव जो उस कार्यरूप नियोग का अग्निहोत्रादि कुछ अन्य विशेषण प्रतीति मे आता है वह प्रत्यय का अर्थ नही है किन्तु वह धातु का अर्थ है जैसे स्वर्गकाम ॥२॥

श्लोकार्थ—जो उस कार्यरूप नियोग का कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रेरकत्व—प्रवर्तकत्व विशेषण है वह प्रत्ययो से वाच्य अर्थ नही है क्योंकि शुद्धकार्य मे ही नियोगता होती है ऐसा कहा गया

---

१ कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातन श्लोकत्रयमाह । २ एव । ३ वेदवाक्ये । ४ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ५ अग्निहोत्रादिकम् । ६ वचनमात्र: ७ कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्व प्रवर्त्त कत्वम् । ८ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ९ यागकर्मणि । १ नियोग वादिनाम् । ११ वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षारहिता । १२ प्रेरकत्वम् । १३ सिद्धान्त ।

---

1 प्रत्ययार्थप्रतिपादकाभावादन्यथा करणीये ।

यह नियोगवाद का प्रकरण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूलग्रन्थ के २६२ पेज पर एव हिंदी सहितग्रन्थ की चौथी पुस्तक के १६१ पर है। तथा न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रन्थ के ५८३ पेज पर है।

प्रेरणैव नियोगोऽत्र [1]शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तः स्वं प्रबुध्यते ।।४।।

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ २१]

(३) प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते ।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । [2]स्वसिद्धौ [3]प्रेरकं तत्स्यादन्यथा[4] तन्न सिद्धयति ।।५।।

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ २१]

(४) कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

प्रर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह बिना क्वचित्[1] । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ।।६।।

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ २१]

है । अर्थात् जैसे यजि पचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग पाक हैं स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला धात्वर्थ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक नहीं है ।।३।।

(२) तथा अन्य किन्हीं नियोगवादियों का ऐसा कहना है कि वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों की अपेक्षा से रहित शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ऐसा सिद्धांत है।

श्लोकार्थ—शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है और वह सर्वत्र जानी जाती है क्योंकि प्रेरित नहीं हुआ कोई भी पुरुष अपने को नियुक्त हुआ नहीं समझता है । अर्थात् जाति व्यक्ति और लिंग तो जिस प्रकृति में प्रत्यय किये जाते हैं उस प्रकृति के अर्थ कहे जाते हैं और संख्या एवं कारक ये प्रत्यय के अर्थ हैं इस मन्तव्य की अपेक्षा शुद्ध प्रेरणा को ही प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिये । वह प्रेरणा जिस धात्वर्थ के साथ लग जावेगी उस क्रिया में नियुक्त जन प्रवृत्ति करता रहेगा ।।४।।

(३) कोई प्रेरणा सहित कार्य को नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ— यह मेरा कर्त्तव्य—कार्य है ऐसा जब पहले ज्ञान हो जाता है तभी वह वाक्य अपने कार्य की सिद्धि में—पुरुष को याग कर्म में प्रेरक हो सकता है अन्यथा—यदि यह मेरा कार्य है ऐसा पहले नहीं जाना है तब वह अपने कार्य की सिद्धि में प्रेरक नहीं हो सकता है । अर्थात् अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है किन्तु प्रेरणा सहित कार्य नियोग है ।।५।।

(४) कोई कार्यसहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं । तथाहि—

श्लोकार्थ—कार्य के बिना कोई पुरुष यज्ञ क्रिया में प्रेरित नहीं किया जाता है इसलिये कार्य

---

१ नियोगरहिता । २ वाक्यस्य । ३ पुरुषस्य यागकर्मणि । ४ ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्धयति ।

---

1 यागकर्मणि ।

(५) कार्यस्यैवोपचारत [1] प्रवर्तकत्व नियोग इत्यन्ये ।

[2]प्रेरणाविषय [3]कार्य न तु तत्प्रेरक स्वत । [4]व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय[5] उपचर्यते ॥७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ ३]

(६) कार्यप्रेरणयो [6] सम्बन्धो नियोग इत्यपरे ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्य वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन[7] सम्मत ॥८॥

[प्रमाणवार्तिकालकार पृ ३]

(७) तत्समुदायो[8] नियोग इति चापरे ।

परस्पराविनाभत द्वयमेतत्प्रतीयते[9] । नियोग समवायोस्मात कार्यप्रेरणयोमत ॥९॥

[प्रमाणवार्तिकालकार पृ ३]

सहित प्रेरणा ही नियोग कही जाती है । अर्थात् तृतीय पक्ष मे कार्य की प्रधानता थी और यहा प्रेरणा की मुख्यता है जैसे गुरु से सहित शिष्य या शिष्य स सहित गुरु इन वाक्यो मे विशेषण विशेष्य भाव से प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है उसी प्रकार यहा भी विशषण को गौण और विशष्य को मुख्य समझना चाहिये ॥६॥

(५) कोई काय को ही उपचार से प्रवतक कहकर उसे नियोग कहते है अर्थात् वेदवाक्य का जो मुख्य प्रेरकत्व है वह यागलक्षण कार्य मे उपचरित किया जाता है उसका नाम उपचार है । काय को ही उपचार से प्रवतक मानते है और उसे नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—वेदवाक्य का व्यापार—याग प्रेरणा का विषय काय है (प्रवत्तक है) किंतु वह स्वत प्रेरक नही है । प्रमाण का व्यापार प्रमेय मे उपचरित किया जाता है (वेदवाक्य का जो व्यापार है उस यागादि काय रूप प्रमेय मे प्रमाण का उपचार किया जाता है) ॥ ७ ॥

(६) कार्य और प्रेरणा का सबध नियोग है अर्थात् याग और वेदवाक्य का संबध नियाग है ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—काय के बिना प्रेरणा किसी पुरुष को प्रेरणा नही करती है अथवा काय और प्रेरणा का योग ही नियोग है ऐसा सम्मत है अर्थात् प्रेरणा के बिना काय भी किसी का प्रेरक नहीं है इसलिये प्रेरणा और कार्य का सबध ही नियोग है ॥ ८ ॥

---

१ मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्व तद्यागलक्षणकाय उपचर्यते इत्युपचार । २ वेदवाक्यव्यापार । याग । ३ प्रवत्त कत्वम् । ४ वेदवाक्यस्य । ५ यागादौ कार्ये । ६ यागवेदवाक्ययो सम्बन्ध । ७ प्रेरणा विना कार्यं कस्यचित्प्रेरक नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययो सम्बन्धो नियोग प्रतिपादित । ८ तयो प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । ९ तादात्म्यम् । १० यतः कारणात् ।

(८) तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो[1] नियोग इति चान्ये ।

[2]सिद्धमेकं [3]यतो ब्रह्म गतमाम्नायत[4] सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं [5]कुत एव तत ॥१०॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ ३]

(९) [6]यंत्रारूढो[7] नियोग इति कश्चित् ।

[8]कामी यत्रव[9] य कश्चिन्नियोगे[10] सति तत्र स । [11]विषयारूढमात्मान मन्यमान प्रवर्तते ॥११॥

[प्रमाणवार्तिकालकार पृ ३]

---

(७) उन प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है' ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—परस्पर मे अविनाभूत ये दोनो तादात्म्य रूप से प्रतीति मे आते हैं अत कार्य और प्रेरणा का समुदाय ही नियोग माना गया है ॥ ९ ॥

(८) कार्य और प्रेरणा इन उभय स्वभाव से विनिमक्त ही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—क्योकि एक ब्रह्म आम्नाय से सदा सिद्ध है और सिद्ध होने से ही नियोग उसका काय नही हो सकता है पुन वह प्रेरक कैसे होगा ? अर्थात् काय रूप ही जो कुछ होता है वह अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरक होता है किंतु यह ब्रह्म तो नित्य रूप होने से काय रूप नही है अत प्रेरक भी नही है । अग्निष्टोमादि वाक्य मे काय एवं प्रेरणा से निरपेक्ष होकर जो अवभास है अथवा जो परमात्म स्वभाव है वही एक ब्रह्म रूप से सिद्ध है निरश है और वेदवाक्य से जाना जाता है एव सदा सिद्ध रूप होने से वह काय नही है पुन वह प्रेरक कैसे होगा ? ॥ १० ॥

(९) यन्त्रारूढ़—याग कम मे लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—स्वग की इच्छा करने वाला पुरुष (प्रवतक वाक्य रूप) नियोग के होने पर जिस यज्ञ कार्य मे नियुक्त है वह वहाँ पर—यागलक्षण विषय मे अपने को आरूढ मानता हुआ प्रवृत्त होता है वही नियोग है । अर्थात् यन्त्रों मे आरूढ होने के समान यज्ञादि कार्यों मे आरूढ हो जाना नियोग है जैसे झूला या यन्त्र से चलने वाले घोड आदि पर आरूढ हुआ पुरुष उन्हीं भावों में रंगा हुआ प्रवत रहा है उसी प्रकार से जिस पुरुष को जिस विषय की लगन लग रही है वह पुरुष उसी मे अपने को रगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है ॥ ११ ॥

---

१ कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्य प्रेरक स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थ । २ अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभास परमात्मस्वभावो वा । ३ निरशम् । ४ वेदात् । ५ कुत ? यत । ६ यागकर्म । ७ पुरुष । ८ स्वर्गकामी । ९ यागकर्मणि । १० प्रवर्त्तकवाक्ये सति । ११ यागलक्षण । स्वर्ग ।

(१०) [1]भोग्यरूपो नियोग इत्यपर ।

ममेदं भोग्यमित्येव भोग्यरूप प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञान भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥१२॥
स्वामित्वेनाभिमानो[2] हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्य तदेव विज्ञ य तदेव [3]स्व निरुच्यते ॥१३॥
[4]साध्यरूपतया येन[5] ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रुपेण भोग्य स्वं व्यपदिश्यते ॥१४॥
सिद्धरूप हि यद्भोग्य न नियोग स तावता । साध्यत्वेनेह[6] भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥१५॥

[प्रमाणवार्तिकालकार पृ ३]

(११) पुरुष एव नियोग इत्यन्य ।

ममेद कार्यमित्येव मन्यते पुरुष सदा । पु सः कार्यविशिष्टत्व नियोगोस्य[9] च वाच्यता ॥१६॥
कार्यस्य[10] सिद्धौ जातायां तद्युक्त [11] पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येव पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥१७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ ३]

---

(१०) कोई कहते हैं कि भोग्यरूप—भविष्य मे होने वाला जो भोग्य है वही नियोग है ।

श्लोकार्थ—मेरा यह भोग्य है इस प्रकार से जो भोग्य का रूप प्रतीति मे आता है और ममत्व रूप से जो विज्ञान है वह भोक्ता मे ही व्यवस्थित है ॥ १२ ॥ जहाँ पर स्वामीपने से भोक्ता का अभिप्राय है उसी को भोग्य समझना चाहिये । इस प्रकार वह स्वकीय कहलाता है ॥ १३ ॥ साध्य रूप से जिस पुरुष के द्वारा यह मेरा है इस प्रकार से जाना जाता है वह प्रसाध्य रूप से स्वकीय भोग्य कहलाता है ॥ १४ ॥ और सिद्ध रूप भोग्य है वह नियोग नही है वह उतने साध्य रूप से इस वेदवाक्य मे भोग्य का प्रेरक होने से नियोग रूप है ॥ १५ ॥

भावार्थ—काय कर चुकने पर भविष्य में जो भोगने योग्य अवस्था होगी उसे भोग्य कहते हैं जैसे कि अपराधी को कठोर कारावास की आज्ञा के वचन सुनकर भोग्य रूप का अनुभव हो रहा है । जिस पदार्थ का जो स्वामी है उसके लिए वही पदाथ भोग्य है अत आत्मा का स्वरूप ही स्व शब्द से कहा जाता है । आत्मा अपने स्वभावो का भोक्ता है । मेरे द्वारा यह काय साध्य है इस प्रकार से जान लेने पर निज स्वरूप भोग्य नियोग है किंतु जो आत्मा का स्वरूप सिद्ध हो चुका है वह भोग्य नही है अपितु भविष्य में करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप ही भोग्य है वही नियोग है ।

(११) कोई पुरुष—आत्मा को ही नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—यह मेरा काय है इस प्रकार से पुरुष हमेशा मानता है वह परुष का काय विशिष्ट

---

१ भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह । २ अभिप्राय । ३ स्वकीयम् । ४ स्वर्गादिक साध्यम् । ५ पु सा । ६ वेदवाक्ये । ७ यत । ८ यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम् । यज्ञकर्ता । भोग्यतामात्रेण । ९ नियोग स्यादबाधित इति वा पाठ । १० यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात् कथ साध्यरूपो भवतीत्याशङ्कायामाह । ११ साध्यकार्यविशिष्ट ।

[अथत्याद् भाट्टः नियोगं निराकरोति]

[1]सोयमेकादशप्रकारोपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते ।
प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात् । [2]तदुक्तम् ।—

[3]प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः ॥१॥
शब्दव्यापाररूपो वा [4]व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥२॥

[नियोगस्य प्रमाणप्रमेयादिरूपाभ्युपगमे दोषारोपणम्]

(१) [5]तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं[6] तदा विधिरेव[7] वाक्यार्थ इति वेदान्तवाद प्रवेश प्रभाकरस्य स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्,[9] चिदात्मन प्रतिभासमात्रत्वात्

ही नियोग है और यही इसकी वाच्यता है ॥ १६ ॥

[एव कोई कहे कि यदि पुरुष ही नियोग है तब तो वह नित्य है साध्य रूप कैसे होगा ? इस पर समाधान]

काय की सिद्धि हो जाने पर उस साध्य-कार्य से विशिष्ट पुरुष ही उस समय साधित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष ही वेदवाक्य का अर्थ है ॥ १७ ॥

किन्तु यह ११ प्रकार का नियोगवाद भी विचार करने पर प्रमाण प्रमेयादि वक्ष्यमाण आठ विकल्पो से पार नही पा सकने के कारण बाधित हो जाता है।

[इस प्रकार से अब विधिवाद का आश्रय लेकर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर संबंधी नियोगवाद को दूषित करते हैं।]

रविगुप्त नाम के आचार्य ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—यह आप प्रभाकरवादी का नियोग प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप है दोनो से रहित है या उभयरुप है शब्द-व्यापार रूप है अथवा पुरुष के व्यापार रूप दोनो के व्यापार रूप है या दोनो के व्यापार से रहित है ? ॥

[नियोग को प्रमाण प्रमेयादि रूप मानने मे दोषारोपण]

इन आठ प्रकार के विकल्पो में से यदि पहला विकल्प लेव कि उपयक्त ग्यारह प्रकार का नियोग भी प्रमाण है तब तो विधि ही वाक्य का अथ सिद्ध हो जावेगी पुन आप नियोगवादी प्रभाकर का वेदातवाद में प्रवेश हो जाता है क्योकि प्रमाण तो चिदात्मक ह एवं चिदात्मा प्रतिभास मात्र है तथा वह प्रतिभास परब्रह्मस्वरूप ही है। उस प्रतिभास मात्र से पृथक विधि काय-कतव्यरूप से प्रतीति मे नही आता

---

१ अथ विधिवादमाश्रित्य भट्ट प्राभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवाद दूषयति । २ रविगुप्त न । ३ भाट्ट प्राभाकर प्रतिपृच्छति । ४ वाङ्मयमात्रकथनो व्यापार । ५ अष्टप्रकारविकल्पमध्ये । ६ प्रथम प्रमाणस्वरूपो विकल्प । ७ कर्तव्यार्थोपदेशो विधि । ब्रह्म । ८ नियोगवादिन । ९ अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वशङ्कायां तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणमुत्तर द्रष्टव्यम् ।

तस्य[1] च परब्रह्मत्वात्[2]। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधि [3]कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्[4]। प्रेरकतया वा [5]नानुभूयते [6]वचनादि[7]वत्[8]। [9]कर्मकरणसाधनतया हि [10]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययौ युक्तौ [11]नान्यथा। किं [12]तर्हि [13]द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्यो ऽनुमंतव्यो[1] [14]निदिध्यासितव्य[2] इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[15] प्रेरितोऽहमिति

है। जैसे घट प्रतिभासमात्र से कार्य रूप से पृथक अनुभव में आता है वैसे ही विधि प्रतिभास मात्र स्वरूप से भिन्न रूप–पृथक अनुभव मे नही आती है।

अथवा प्रेरक रूप से भी वह विधि अनुभव में नही आती है वचनादि के समान। अर्थात् जैसे वचनादि प्रेरक रूप से प्रतिभास मात्र से पृथक अनुभव मे आते है उस प्रकार विधि अनुभव मे नही आती है क्योकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि का अनुभव मानने पर तो कार्यता प्रत्यय और प्रेरकता प्रत्यय मानना युक्त है अन्यथा नही। अर्थात् जो किये जावे बनाये जाव वे कम हैं जसे घटादि। जो पुरुष अपने कार्य में जिसके द्वारा प्रेरित किया जावे—नियुक्त किया जावे वह प्रेरक वचन करण है। इन कम और करण रूप से यदि विधि का अनुभव आवे तब तो उसे काय और प्रेरकपना मानना अ यथा कस मानना? मतलब विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन इस प्रकार से निरुक्ति द्वारा विधि श द कर्म साधन या करण साधन मे नही बनता है अत कम करण साधन के बिना ही शुद्ध स मात्र विधि का ज्ञान पाया जाता है पुन उसे काय या प्रेरक नही माना जा सकता है। तब तो उस विधि का स्वरूप क्या है? एसा प्रश्न होने पर सुनिये! अरे! यह आत्मा देखने योग्य है सुनने योग्य है और ध्यान करने योग्य है इत्यादि शब्दो के सुनने से अवस्थातर विलक्षण—अन्य अवस्थाओ से विलक्षण दशनादि के द्वारा मै प्रेरित हुआ हूं इस प्रकार के अभिप्राय से सहित अहकार रूप से स्वय आत्मा ही प्रतिभासित हाती है और वही

---

१ प्रतिभासमात्रस्य। २ प्रतिभासस्यान्यो विधिस्त्वान्य इत्युक्त आह। ३ क र्व्य। ४ व्यतिरकदृष्टान्त। यथा घट प्रतिभासमात्रात् कायरूपतया पृथक प्रतीयते न तथा विधि प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक प्रतीयते। ५ नानुमीयते इत्यपि खपाठ। ६ व्यतिरेकदृष्टान्त। ७ अगुलिसज्ञा। ८ यथा वचनादि प्ररकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयते। तथा विधिर्नानुभूयते। ६ उभयरूपतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्त आह। क्रियते निष्पाद्यत इति कर्म घटादि। प्रेर्यते नियुज्यते पुरुष स्वकृत्येऽनेनेति प्रेरक वचन करणम्। १ विधिप्रतीतौ। ११ कमकरणसाधनत्वाभावन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञान युक्त न स्यात्। १२ तर्हि कि स्वरूप विधेरित्युक्त आह द्रष्टव्येत्यादि। १३ श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तित। मत्वा च सतत ध्येय एते दशनहेतव। १४ परब्रह्मस्वरूपेण ध्यातव्य। १५ अवस्था दशनादि अवस्थान्तरमदर्शनादिस्तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन।

---

1 आचार्यात् तात्पर्यविचारेण श्रोतव्य। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणमनुमन्तव्यम्।
2 श्रवणमननाभ्या निश्चितार्थमनवरत मनसा परिचिंतन निदिध्यासितव्यम्।

[1]आताकूतेना[2]हङ्कारेण[1] स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् ।

(२) प्रमेयत्व तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्-प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य[3] प्रमाणमन्यद्वाच्यम्[4] –तदभावे प्रमेयत्वायोगाद् । श्रुतिवाक्य [5]प्रमाणमिति चेन्न– [6]तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात् । सविदात्मकत्वे श्रुति

विधि है ऐसा वेदातवादियो का कहना है। ब्रह्मा मे तात्पय का निश्चय करना श्रोतव्य है। सुने हुये अर्थ का युक्ति से विचार करना अनुमन्तव्य है और सुने गये एव मनन किये गये निश्चित अथ का हमेशा ही मन से परिचिंतन करना निदिध्यासितव्य है। ऐसा तीनो का अथ समझना चाहिये।

भावार्थ—विधि क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अरे मत्रय ! यह आत्मा दशन करने योग्य है और आत्मा का दर्शन यो होता है कि पहले उस आत्मा का वेदवाक्यो के द्वारा श्रवण करना चाहिये तभी ब्रह्म ज्ञान मे तत्परता हो सकती है। पुन श्रुत आत्मा का युक्तियो स विचार कर अनुमनन करना चाहिये। श्रवण और मनन स निश्चित किये गये अथ का मन से परिचितन करना चाहिये अथवा तत्त्वमसि वह प्रसिद्ध ब्रह्म तू ही है इत्यादि वदिक शब्दो के श्रवण स मैं पहली अदशन अश्रवण आदि अवस्थाओ की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओ स इस समय प्रेरित हो गया हूँ इस प्रकार से अह शब्द का दशन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने रूप अहकार अथवा आकार वाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित हो रही है और वह आत्मा ही तो विधि है इस प्रकार वदातवादियो का कथन है। अत नियोग को प्रमाण रूप मानने पर आप प्रभाकर को वेदातवादी बनना ही पड गा।

(२) इस पर यदि आप कहे कि नियोग को हम प्रमेय मानगे क्योकि आपने उसको प्रमाण मानने से अनेक दोष दिये हैं सो यह कथन भी असत् है क्योकि नियोग को प्रमेय सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नही है। नियोग को प्रमेय मान लेने पर तो उसको ग्रहण करने वाला अन्य कोई प्रमाण आप प्रभाकर को कहना ही चाहिये क्योकि प्रमाण के अभाव मे प्रमेय है यह कसे कहा जावेगा ? प्रमाणेन ज्ञातु योग्यम् प्रमेय जो प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है वही तो प्रमेय है।

---

१ अप्रेरितावस्थाविलक्षणेनाकारेण प्रेरितोऽहमित्यभिमानरूपेण। २ दशनादिना। ३ प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहक प्रमाणम्। ४ प्रभाकरेण। ५ श्रुतिवाक्य प्रमाण नियोग प्रमेयमिति चेत्। ६ अत्राह भावनावादी भट्ट । –भो नियोगवादिन् प्रभाकर तावकं श्रुतिवाक्य चिदात्मकमचिदात्मक वेति। तत्र विकल्पद्वय खण्डयति। ७ चन्द्रव मुखमित्यादिवदुपचार। ८ ज्ञानात्मकत्वे सति।

---

1. आताकूतेनाकारेण इति पा.।

वाक्यस्य पुरुष[1] एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम् । तत्संवेदनविवर्त्तस्तु[2] नियुक्तोह मित्यभिमानरूपो[3] नियोग प्रमेयत्वमिति नाय पुरुषादन्य प्रतीयते यतो वेदान्तवादिमत प्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत् ।

(३) तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम् संविद्विवर्त्तत्वापत्ते अन्यथा[4] प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्ते । तथा च स एव [5]चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमा[6]दर्शयन्नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवाद ।

प्रभाकर—श्रुति-वेदवाक्य तो प्रमाण हैं और नियोग प्रमेय है हम ऐसा मानते हैं ।

भाट्ट—ऐसा भी आप नही कह सकते क्योकि वेदवाक्यो के अचिदात्मक होने से उनमे प्रमाणता घटित नहीं होती है और यदि मानेंगे भी तो उपचार के सिवाय वस्तुत वे प्रमाण नही हो सकेंगे। यदि उन वेदवाक्यो को आप चिदात्मक-ज्ञानात्मक मानोगे तब तो पुरुष ही श्रुति वाक्य है इस प्रकार से वह पुरुष-परब्रह्म ही प्रमाण सिद्ध हुआ और उस संवेदन की पर्याय-ब्रह्म की पर्याय ही नियुक्तोऽहं इस प्रकार के अभिमान-अभिप्राय रूप नियोग है और वही प्रमेय है इस प्रकार से तो यह प्रमेय रूप नियोग पुरुष मे भिन्न कोई प्रतीति मे नही आता है कि जिससे इस पक्ष के मानने पर भी वदातवादी के मत मे प्रवेश न हो जावे अर्थात् यदि आप नियोग को प्रमेय रूप मानते हैं तो भी आप वेदातवादी बन जावगे ।

(३) प्रभाकर—तब तो प्रमाण और प्रमेय इन उभय रूप नियोग को मानना यह तृतीय पक्ष ही उचित है ।

भाट्ट—यह कथन भी अयुक्त है क्योकि वह नियोग ज्ञान की पयाय हो जावेगा अन्यथा प्रमाण और प्रमेय रूपता ही घटित नहीं होगी। अर्थात् नियोग ज्ञान की पर्याय हो जाता है क्योकि सामान्य से मै नियुक्त हूँ इस प्रकार के अभिप्राय को स्वीकार किया है अन्यथा ज्ञान पर्याय न मानने पर वह नियोग प्रमाण नहीं हो सकेगा और अप्रकाशमान होने से प्रमेय रूप भी नही हो सकेगा क्योकि जो वस्तु प्रमाण प्रमेय रूप से उभयरूप है वह चैतन्यात्मक अवश्य है। पुन वह सत्, चिद् आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय रूप सिद्ध होता है और यही तो ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धान्त है। इसलिये वह चिदात्मा ही उभय स्वभाव रूप से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ नियोग कहलाता है। इस प्रकार से नियोग ब्रह्मवाद रूप ही सिद्ध हो जाता है।

---

१ परब्रह्म पश्चात् कार्यं कुर्यात् । २ पर्याय । ३ विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम् । ४ ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वान्नियोगस्य सामान्येन नियुक्तोहमित्यभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्त्यभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भाव । ५ स्वरूपम् । ६ प्रकाशयन् ।

(४) अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्तर्हि[1] सवेदनमात्रमेव[2] पारमार्थिक[3] तस्य[4] कदाचिदप्यहेयत्वा[5]दनुभयस्वभावत्वसम्भवात् । [6]प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्र देहतया[7] तस्य[8] वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्त मतप्रवेश एव ।

(५) यदि पुन [9]शब्दव्यापारो नियोग इति मत तदा भट्टमतानुसरणमस्य[10] दुर्निवारम् शब्दव्यापारस्य[11] शब्दभावनारूपत्वात् ।

(६) अथ पुरुषव्यापारो [12]नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्-पुरुषव्यापारस्यापि [13]भावनास्वभावत्वात् शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनाया परेण [14]द्वविध्याभिधानात् ।

---

(४) प्रभाकर—अनुभय स्वभाव ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपका नियोग प्रमाण और प्रमेय इन दोनो रूपो का त्याग कर देने से तो केवल शुद्ध सवेदन मात्र ही पारमार्थिक रूप होगा क्योकि वह सवेदन मात्र कदाचित् भी अहेय—त्यागने योग्य न होने से वही अनुभय स्वभाव हो सकता है । उस सवेदन मात्र को छोडकर अन्य कोई अनुभय स्वभाव हो ही नही सकता है । वेदातवादियो ने भी ऐसा ही निरूपण किया है कि प्रमाण प्रमेय भेद की व्यवस्था से रहित सन्मात्र देहरूप से वह सवेदन मात्र परमब्रह्म रूप सिद्ध है । इसलिये चतुर्थ पक्ष के मानने पर भी आप उस वेदातवादी के मत मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् न उभय अनुभय मे नञ समास का पर्युदास अर्थ करने से सवथा प्रमाण प्रमेय रूप उपाधियो से रहित शुद्ध प्रतिभास ही ग्रहण हो जाता है जो कि सत्स्वरूप इतने मात्र शरीर को धारण करने वाले ब्रह्म का ही द्योतक है ।

(५) प्रभाकर— अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादि रूप स शब्द का व्यापार ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपको हमारे मत का ही अनुसरण दुर्निवार है क्योकि हमारे यहाँ शब्द का व्यापार शब्द की भावना रूप है । शब्द भावक हैं और उसका व्यापार भावना स्वरूप है ।

(६) प्रभाकर—तब तो हम पुरुष के व्यापार को नियोग कहेगे ।

भाट्ट—तो भी आपको पर—हमारे मत का ही अनुसरण करना पडेगा क्योकि पुरुष का व्यापार भी भावना स्वभाव है । हम भाट्टो ने शब्द-व्यापार और आत्म-व्यापार के भेद से भावना के दो भेद मानें हैं ।

---

१ प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे । २ सवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात् । ३ पारमार्थिकत्व कुत ? । ४ सवेदनमात्रस्य । ५ कुत । ६ अनुभयस्वभावत्व कुत । ७ सत्स्वरूपतया । ८ सवेदनमात्रस्य । ९ अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापार । १ प्रभाकरस्य ११ शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वधा । १२ तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति पुस्तकपाठः । १३ अर्थभावना । १४ शब्दभावना आत्म (अर्थ) भावना च ।

(७) । तदुभयरूपो[1] नियोग इति चेत्तर्हि पर्यायेण युगपद्वा ? यदि पर्यायेण स[2] एव दोष —क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात् । युगपदुभयस्वभावत्व पुनरेकत्र विरुद्ध[3] न शक्यं व्यवस्थापयितुम्[4] ।

(८) । तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोङ्गीकर्त्तव्य इति चेत् सोपि [5]विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्निस्स्वभावो[6] वा ? गत्यन्तराभावात् । विषयस्वभाव इति चेत् । क पुनरसौ विषय ? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्[7] स [8]तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानस्तदा [9]तत्स्वभावो

---

(७) प्रभाकर—शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार ऐसे उभय के व्यापार को हम नियोग कहते हैं।

भाट्ट—तब तो आप पर्याय से-क्रम से कहते है या युगपत् ? यदि पर्याय-क्रम से कहे तब तो वही पूर्वोक्त हमारे मत का अनुसरण करने रूप दोष आता है क्योकि कही पर किसी काल मे आपने शब्द व्यापार रूप और कही पर पुरुष व्यापार रूप भावना के स्वभाव को ही नियोग यह नाम कर दिया है। यदि युगपत् उभय स्वभाव कहो तो एक जगह विरुद्ध दो धर्मों को व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है अर्थात् शब्द-व्यापार प्रेरणा रूप है और पुरुष व्यापार क्रिया रूप है एव प्ररणा तो अतीतकाल संबधी है तथा क्रिया भविष्यत्काल संबंधी है। जसे प्रकाश और अधकार एक जगह नही रह सकते है वैसे ही ये दोनो विरुद्ध धम एक जगह एक काल मे नही रह सकते हैं।

(८) प्रभाकर—तब तो उन दोनो के अनुभय व्यापार को नियोग मानना ठीक है। अर्थात् आठवे पक्ष के अनुसार वह नियोग शब्द व्यापार और पुरुष यापार इन दोनो ही व्यापारो मे रहित है।

भाट्ट—यदि आप ऐसा कहे तो भी हम आपसे नञ समास का पयु दास पक्ष लेकर प्रश्न करते हैं कि वह अनभय व्यापार रूप भी नियोग विषय (यज्ञादि कर्म रूप) स्वभाव है या फल (स्वर्गादि) स्वभाव है अथवा (प्रसज्य निषेध पक्ष लेने पर) नि स्वभाव है ? इन तीनो विकल्पो के सिवाय और अन्य कोई प्रकार संभव नहीं है। यदि विषय स्वभाव मानो तब तो यह विषय क्या है ? यह पहले बतलाइये।

प्रभाकर— स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम से यज्ञ करे इत्यादि वाक्य का अर्थ जो यागादि रूप है वही विषय है।

---

१ शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च । २ तर्हि । भट्टमतानुसरणलक्षण पूर्वोक्त । ३ प्रेरणाया अतीतकालत्व क्रियाया भविष्यत्कालत्व यत पूर्वं प्रेरित पश्चात् कार्यं करोति । ४ यथा तेजस्तमसोरक्यमेकत्र स्यात् न शक्यम् । ५ विषयो यागादिकर्म । ६ पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेक (नि स्वभाव) । ७ विषय । ८ वेदवाक्यकाले । ९ विषयस्वभाव ।

नियोगोप्यविद्यमान एवेति [1]कथमसौ वाक्यार्थ खपुष्पवत्। [2]बुध्यारूढस्य भाविनस्तस्य[3] वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्ग[4]। अथ [5]तद्वाक्यकाले [6]विद्यमानोसौ तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थ -तस्य [7]यागादिनिष्पादनार्थत्वात्[8] --निष्पन्नस्य च यागादे पुनर्निष्पादनायोगात्[9] पुरुषादिवत्। अथ [10] तस्य किञ्चिदनिष्पन्न रूप तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम् तर्हि [11]तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथ वाक्यार्थ ? [12]स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स[13] एव सौगतमतप्रवेश। फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षी कर्तव्य -तस्य[14] नियोगत्वाघटनात्। न हि स्वर्गादिफल नियोग [15]फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्

भाट्ट—पुन वह विषय उस वेदवाक्य के काल मे स्वय अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि अविद्यमान रूप प्रथम पक्ष लेव तब तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। पुन ऐसी स्थिति म वह नियोग आकाश-कुसुम के समान वेदवाक्य का अथ कैसे हो सकता है ? बुद्धि से परिणत (वर्तमान काल मे कल्पित विषय रूप) भावी—विषय स्वभाव नियोग को वेदवाक्य का अथ मानने पर नो सौगत मत के अनुमरण का प्रसग आ जावेगा क्योंकि सौगत के मत मे प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल्पनिक है। उनके यहाँ वचनो को वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक माना है। यदि कहो कि वेदवाक्य के काल मे वह विषय स्वभाव विद्यमान है तब तो वह नियोग वाक्य का अथ नही हो सकेगा क्योकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है और निष्पन्न हुये यागादि का पुरुषादि के समान पुन निष्पादन करना बनता नही है। अर्थात् जिस प्रकार निष्पन्न परमब्रह्म पुरुष का संपादन करना नही बन सकता उसी प्रकार निष्पन्न यागादिको का सपादन करना भी नही बन सकेगा। यदि आप कहें कि उस यागादि का किंचित्–कुछ अनिष्पन्न रूप है इसलिये उस शेष अनिष्पन्न के निष्पादन के लिये नियोग है तब तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न है इस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? स्वयं असन्निहिन–भावी विषय स्वभाव कल्पनारूढ़ को वेदवाक्य का अथ मानने पर वही सौगत मत मे आपका प्रवेश हो जावेगा उसका रोकना दुर्निवार है।

फल स्वभाव नियोग है यह पक्ष भी तुम्हे स्वीकार नही करना चाहिये क्योकि वह नियोग फल स्वभाव भी घटित नहीं होता है। स्वर्गादि के फल नियोग नही है अन्यथा फलांतर की कल्पना का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि निष्फल–फल रहित नियोग का अभाव है। एवं फल स्वभाव नियोगवादियों के यहाँ फलांतर को नियोग मानने पर उसके लिए अन्य फल की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आ

---

१ नियोग। २ बुद्धिपरिणतस्य। वर्त्तमानकाले कल्पितविषयस्य। ३ विषयस्वभावनियोगस्य। ४ प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते। वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं स्थितीदं हि सौगतमतम्। ५ वेद। ६ यागादि विषयो नियोगो याग्मुत्पादयति। ७ आकाशादि। ८ यागादिनिष्पादन वाक्यकाले जातमेव। ९ पुरुषादिविषयस्य। १० यागादेः। ११ यागादिविषयस्वभाव। १२ भाविनो विषयस्य। १३ पूर्वोक्तः। १४ फलस्वभावस्य। १५ अन्यथा।

निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्ग[1] । [2]फलस्य [3]वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वात्त [4]तत्स्वभावो नियोगोप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? [5]तस्य वाक्यार्थत्वे [6]निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षिप्तः[7] ।

जावेगा । तथा स्वर्गादि फल अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः इत्यादि वाक्य के काल में स्वयं असन्निहित–अविद्यमान हैं पुनः वह फल स्वभाव रूप नियोग भी असन्निहित–अविद्यमान ही रहेगा । इस प्रकार से वह वेदवाक्य का अर्थ कैसे सिद्ध होगा ? यदि आप अविद्यमान फल स्वभाव वाले नियोग को वेदवाक्य का अर्थ मान लेवो तो निरालंब शब्दवाद का आश्रय लेने से आप प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् शब्द को अन्यापोह मात्र का कहने वाला मानने से बौद्ध का अर्थ शून्यवाद सिद्ध होता है । बौद्ध के मत में शब्द अन्यापोह रूप हैं अर्थ को कहने वाले नहीं हैं ।

यदि आप निःस्वभाव को नियोग कहें तो यह पक्ष भी इसी कथन से निराकृत हो जाता है क्योंकि निःस्वभाव अन्यापोह रूप ही है ।

भावार्थ—प्रभाकर ने नियोग का लक्षण करके भिन्न भिन्न वक्ता के अभिप्राय से उन्हें ११ प्रकार से सिद्ध किया है । इस प्रकार भाट्ट ने उन ११ विकल्प रूप नियोगों को दूषित ठहराने के लिये प्रमाण प्रमेय आदि रूप आठ विकल्प उठाकर उस प्रभाकर को वेदांतवादी होने का दूषण दिखाया है । उसी में अंतिम अनुभय व्यापार रूप आठवें पक्ष में तीन विकल्प उठाये हैं । उसमें विषय और फल स्वभाव को पर्युदास पक्ष से एवं निःस्वभाव नियोग को प्रसज्य निषेध पक्ष में लिया है । उसमें विषय स्वभाव और फल स्वभाव नियोग में दूषण दिया है कि अग्निष्टोम से यज्ञ करना चाहिये इस वाक्य के उच्चारण काल में यज्ञादि कर्म नहीं है अतः यज्ञ रूप नियोग भी संभव नहीं है । जो कार्य भविष्य में होने वाला है उस कार्य के साथ तादात्म्य संबंध रखने वाला धर्म वर्तमान काल में नहीं है और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की वर्तमान में संभावना मानी जावे तो पुनः वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह नियोग तो कर्त्तव्य कार्यों को भविष्य में बनाने के लिये हुआ करता है । जो किया जाकर बन चुका है उसका पुनः बनाना नहीं हो सकता है जैसे कि अनादि काल के बने हुए (अकृत्रिम) नित्य द्रव्य–आत्मा आकाशादि नहीं बनाये जा सकते हैं । एवं उस नियोग को स्वर्गादि फल स्वभाव मानने पर वे स्वर्गादि फल तो स्वयं उस यज्ञ के अंतिम परिणाम हैं । फल का पुनः फल होता नहीं है किन्तु नियोग तो फल से सहित है । यदि अन्य फलों की कल्पना करो तो अनवस्था तैयार खड़ी है । यदि फल को भविष्य में होने वाला माना जावे तो

१ प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठः । २ स्वर्गादेः । ३ अग्निष्टोमेन यजेतेति वाक्यकाले । ४ फलस्वभावः । ५ असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य । ६ शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः । सौगतमते शब्दस्त्वन्यापोहरूपो नत्वर्थाभिधायी ७ निःस्वभावस्यान्यापोहत्वानतिक्रमात् ।

[नियोगस्य सदसदादिविकल्पस्वीकारे दोषारोपणम्]

किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव। द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः[1]। तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः[2]। चतुर्थपक्षे [3]व्याघातः [4]सत्त्वासत्त्वयो[1] परव्यवच्छेद[5]रूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्ते– सकृदेकत्र [6]प्रतिषेधायोगात्। सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेपि कथञ्चित्सद[7]सत्त्वा[8]विरोधाददोष इति चेत् स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य।

वर्तमान काल का नियोग नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारण के समय में उन स्वर्गादि फलों का सन्निधान नहीं है। यदि उस अविद्यमान फल को भी वाक्य का अर्थ मानोगे तो निरालंब शब्द पक्ष को लेने से आप बौद्ध बन जावेंगे क्योंकि बौद्धों के यहाँ शब्द का अर्थ वस्तुभूत कुछ भी नहीं है। अविद्यमान–अवास्तविक अर्थों को ही शब्द कहा करते हैं किंतु आपने तो आगम को प्रमाण माना है अतः यह मान्यता ठीक नहीं है। तथा यदि आप तृतीय निःस्वभाव पक्ष को अनुभय के नञ् समास का प्रसज्य प्रतिषेध करके मानें तब तो सभी स्वभावों से रहित नियोग खर–विषाण के समान असत् ही हो जावेगा एवं बौद्धों ने शब्दों का वाच्य असत्–अन्यापोह ही माना है। उन्हीं के मत में आपका प्रवेश हो जावेगा अतः आठों विकल्पों की कसौटी पर कसने से आपका नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग को सत् असत् आदि मानने में दोषारोपण]

दूसरी बात यह है कि यह आपका नियोग सत् रूप ही है या असत् रूप ही है या उभयरूप है अथवा अनुभय रूप है ? प्रथम पक्ष में तो विधिवाद ही आता है अर्थात् वेदांती संपूर्ण जगत् को सत् रूप ही मानते हैं। द्वितीय पक्ष के लेने पर निरालंबनवाद–शून्यवाद ही आता है अर्थात् शून्यवादी संपूर्ण जगत को असत् रूप ही मानते हैं। तृतीय पक्ष में उभयपक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है। एवं चतुर्थ पक्ष के मानने पर व्याघात–विरोध नाम का दोष आता है क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे के व्यवच्छेद–विरोध रूप हैं अतः इन दोनों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान हो जाता है। एक साथ एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है अर्थात् सत् नहीं है ऐसा कहने पर असत् स्वयं ही आ जाता है एवं असत् नहीं है ऐसा कहने पर सत् स्वयमेव आ जाता है। तथा सर्वथा सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध करने पर भी कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध न होने से कोई दोष नहीं है यदि आप ऐसा कहें तो आप प्रभाकर स्याद्वाद मत का आश्रय ले लेंगे।

---

१ अन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन। २ तदुक्तम्।—प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न स इति वचनात्। ३ विरोधः। ४ कथम् ?। ५ यथा सन्नित्युक्तेऽसत्त्वमेवायाति असन्नित्युक्ते सत्त्वमेवायाति। ६ सत्त्वासत्त्वयोः। ७ सदसत्त्वविधानाददोष इति वा पाठः। ८ सर्वेषां पदार्थानां क्रमवर्तित्वात् शब्दानां च।

---

1 परस्परव्यवच्छेदयोः'। इतिपाठान्तरं।

[नियोगस्य प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वीकारे दोषारोपणं]

किञ्च[1] नियोग सकलोपि[2] प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत् प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तक स्यात्—तस्य सर्वथा[3] प्रवर्त्तकत्वात् । [4]तेषां [5]विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् [6]परेषामपि [7]विपर्यासाद[8]प्रवर्त्तकोस्तु[1] । शक्य हि वक्तु, प्राभाकरा [9]विपर्यस्तत्वाच्छब्द[1] नियोगात्प्रवर्त्तन्ते [11]नेतरे[2]—तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो[12] विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् । न पुन प्राभाकरा इत्यपि[13] पक्षपातमात्रम्-तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथन

[नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने मे दोष]

दूसरी बात यह है कि यह ग्यारह प्रकार का भी नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तो आप प्रभाकर के समान ही वेदवाक्य का अर्थ बौद्धो के लिये भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योकि वह वेदवाक्य सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव वाला है। यदि आप कहे कि वे सौगतादि विपरीत बुद्धि वाले हैं अत वह नियोग उनके लिये अप्रवर्तक है तब तो आप प्रभाकरो को भी विपर्यास होने से वह अप्रवर्तक हो जावे । हम ऐसा कह सकते है कि प्रभाकर विपयस्त-विपरीत बुद्धि वाले होने से शब्द नियोग से प्रवृत्ति करते हैं इतर बौद्धादि नही करते है क्योकि वे विपर्यस्त बुद्धि वाले नहीं हैं। टिप्पणी मे अप्रवर्तक की जगह 'प्रवर्तक ऐसा पाठ है उसका ऐसा अर्थ करना कि आप प्रभाकर को भी विपरीत बुद्धि होने से ही वह नियोग प्रवृत्ति कराता है। अर्थात् आपकी ही बुद्धि विपरीत है।

प्रभाकर—सौगतादि विपर्यस्त-विपरीत बुद्धि वाले है क्योकि उनका मत प्रमाण से बाधित है किंतु हम प्रभाकर का मत प्रमाण से बाधित नही है।

भाट्ट—यह आपका कथन पक्षपात मात्र को सूचित करता है क्योकि आपका मत भी प्रमाण से बाधित ही है अत दोनो ही मत प्रमाण से बाधित हैं। जिस प्रकार से सभी पदार्थों को प्रतिक्षण विनश्वर कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है उसी प्रकार से नियोक्ता-यज्ञकर्ता नियोग-वेदवाक्य और उसका विषय-यज्ञादि रूप से भेद की परिकल्पना भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणो से बाधित ही है

१ भाट्ट २ एकादशप्रकारोपि । ३ सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण । ४ सौगतादीनाम् । ५ प्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्त्तकतया मनन विपर्यास । ६ युष्माकं प्राभाकराणां विपरीतवादप्रवर्त्तकोस्तु । ७ अप्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेप्रवर्त्तकतया मनन विपर्यास । ८ प्रवर्त्तकोस्त्विति खपाठ । ९ अप्रवर्त्तकत्वात् (खपुस्तके) । १ शब्दाधिकारात् । ११ ताथागतादय । १२ अभाह नियोगवादी प्रभाकर । १३ अभाह भावनावादी भट्ट ।—भो प्रभाकर इति ते वचन स्वमतपक्षपातमात्रम् । कस्मात् ? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यत ।

1 विपर्यासात्प्रवर्तकोऽस्तु । इति पा । 2 बौद्धा अविपर्यस्तत्वाच्छब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते ।

प्रत्यक्षादिविरुद्ध तथा [1]नियोक्तृनियोग[2]तद्विषयादि[3]भेदपरिकल्पनमपि सर्वप्रमाणानां [4]विधि[1]विषयता[2]व्यवस्थापनेन[5] [6]तद्बाधकस्योपपत्त । यदि पुनरप्रवर्त्त कस्वभाव [6] शब्दनियोग स्तदा सिद्ध एव तस्य[7] प्रवृत्तिहेतुत्वायोग । स[8] च वाक्यार्थत्वाभाव साधयति ।

क्योंकि सभी प्रमाण विधि के विषय को व्यवस्थापित करते हैं अत नियोग की सिद्धि बाधित ही है। अर्थात् प्रमाण चेतन रूप है और विधि-ब्रह्म भी चेतन रूप है। अत विधि में ही सभी प्रमाण घटित हो जाते हैं किन्तु नियोग में घटित नही होते हैं। इसलिये नियोग बाधित हो जाता है क्योकि जब सभी प्रमाण विधि–परब्रह्म मे अतभू त हो जाते हैं तब यह नियोक्ता है यह नियोग है इत्यादि भेद कल्पना प्रत्यक्षादि से ही विरुद्ध हो जाती है।

पुन यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि शब्द नियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है तब तो वह शब्द नियोग प्रवृत्ति हेतुक नही है अत उसमे प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है। वह शब्दनियोग उपरोक्त विधि से सिद्ध होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवाद का आश्रय लेकर प्रभाकरो से प्रश्न करते है कि आपका नियोग प्रवृत्ति करा देने रूप स्वभाव वाला है या प्रवृत्ति नही कराने रूप ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो वह नियोग जैसे आप प्रभाकरो को यज्ञादि कम मे प्रवृत्ति कराता है वसे ही बौद्धो को भी क्यो नही कराता है ? क्योकि यदि अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो वह पक्षपात रहित काष्ठ वस्त्र मूख के शरीर पडित के शरीर रत्न तृण आदि सभी को भस्म कर देती है। यदि आप कहे कि बौद्ध मिथ्या बुद्धि वाले हैं अत उन्हे वेदवाक्य प्रवृत्ति नही करा सकते हैं जसे कि सुवर्ण अभ्रक आदि को अग्नि नही भी जलाती है तब तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आप प्रभाकर विपरीत बुद्धि वाले है अत वेदवाक्य के अथ नियोग से अपने आपको यज्ञकार्य मे नियुक्त होना अथ मान लेते है और कमकाडो मे प्रवृत्ति भी करते हैं किन्तु बौद्धादि विपरीत बुद्धि वाले नही है अत वे नियोग को प्रवृत्ति कराने वाला नही मानते हैं एव उसके अनुकूल यज्ञादि मे प्रवृत्ति भी नही करते हैं। यह हमारा कथन भी आप किसी तरह से बाधित नही कर सकते हैं। यदि आप बौद्ध चार्वाकादि के मतो को बाधित कहें ता जैसे उनके मत प्रत्यक्षादि से बाधित हैं वैसे ही आपका नियोग पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित ही है क्योकि सभी प्रमाणो

१ नियोगकृद्-यज्ञकृद्-यज्ञकर्त्ता। अयं यज्ञकर्त्तायं नियोग इदं फलमिति भेदापादनं प्रत्यक्षादिप्रमाणाद्विरुद्ध मतभेद साधयितुं न शक्यते। २ वेदवाक्य। ३ आदिशब्दात् पुरुषफले। ४ विधिमध्यपतितस्वव्यवस्थापनेन। ५ प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति सम्बन्ध। ६ तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यत। ७ शब्दनियोगस्य। ८ शब्दनियोग सिद्ध सन्।

1 प्रमाणं चेतनं विधिश्चेतनो विधिमध्ये सर्वाणि प्रमाणानि घटते न च नियोगे। 2 व्यवस्थापने इति पा। सति यदा सर्वेषां प्रमाणानां विधौ परमब्रह्मण्यिंतर्भावे नियोक्तृनियोगादिभेदकल्पन प्रत्यक्षादिविरुद्ध भवतीति भाव। 3 अग्निष्टो-मादिवाक्यनिबंधन:।

[नियोगः फलरहितः फलसहितो वेत्युभयपक्षे दोषारोपणम्]

किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः[1] प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः प्रप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्[1] प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते इति प्रसिद्धश्च । [2]प्रसिद्धचण्ड[3]नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेन्न तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात् । [4]तन्नियोगादप्रवर्त्तने तदाज्ञोल्लङ्घन[5]कृतामपायोवश्य[6] सम्भवतीति ।

से विधिवाद–सत्–चित् परमब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। यदि आप द्वितीय पक्ष मे उस नियोग को प्रवृत्ति नहीं कराने वाला मानेंगे तब तो उन यजेत आदि वाक्यो से यज्ञादि कार्य मे कभी भी प्रवत्ति ही नही कर सकेंगे पुन आप कर्मकाडी मीमासक कसे रहेगे ? अत उपयु क्त विकल्पो से भी वेदवाक्य का अर्थ नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग फल रहित है या फल सहित]

प्रकारातर से यह भी प्रश्न होता है कि वह नियोग फल रहित है या फल सहित है ? यदि फल रहित मानों तब तो उस फल रहित नियोग मे बुद्धिमान् पुरुषो की प्रवृत्ति नही हो सकेगी अन्यथा वे बुद्धिमान भी मूर्ख ही हो जावेंगे क्योकि प्रयोजन के बिना मद मूढ भी प्रवृत्ति नही करते हैं यह बात प्रसिद्ध है। अर्थात् बुद्धिमान जन फल की अभिलाषा से ही प्रवृत्ति करते हैं। यदि फल के अभाव मे भी प्रवृत्ति करेंगे तब तो विद्वान् नही कहे जा सकगे।

प्रभाकर—प्रसिद्ध अत्यंत क्रोधी राजा के वचन के नियोग से–फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है अत कोई दोष नही है।

भाट्ट—ऐसा भी नही कहना वह प्रवृत्ति भी अपाय (कष्ट) से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि उस क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर तो उस राजा की आज्ञा का उलघन करने वाले मनुष्यो का धनापहरण आदि अपाय अवश्यंभावी है।

प्रभाकर—तब तो वेदवाक्य से भी नियुक्त हुआ मनुष्य प्रत्यवाय विघ्नो को दूर करने के लिये प्रयत्न करे क्योकि हमारे यहां कहा भी है कि विघ्नो को दूर करने के लिए नित्य और नमित्तिक अनुष्ठानो को करे अर्थात् 'त्रिकाल सध्या उपासना जप देव ऋषि पित–तपरण आदि अनुष्ठान नित्य कम कहलाते हैं एव अमावस्या, पौर्णमासी ग्रह ग्रहण आदिको मे किया गया अनुष्ठान नमित्तिक कहलाता है। इन नित्यनैमित्तिक क्रियाओ को विघ्नो का नाश करने के लिए करे ।

१ फलरहितान्नियोगाद्विचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते। घटते चेत्तदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं सजतीति। २ प्रसिद्ध इत्ययं शब्दः पुस्तके नास्ति। ३ चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः। ४ चण्डनरपतिवचनादेशात्। ५ जनानाम्। ६ वित्तापहारादि।

1 अन्यथा। प्रेक्षावंत फलमभिलष्य प्रवर्तंते यदि फलाभावे प्रवतते तर्हि—।

तर्हि[1] वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय[2] प्रवर्त्तताम्—"[3]नित्यनैमित्तिके[4] कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये[5]" ति वचनात्। [6]कथमिदानीं स्वर्गकाम इति वचनमवतिष्ठते—[8]जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्त[1] निर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात् [1]। यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगः [12]तमन्तरेणापि फलार्थिना प्रवृत्तिदर्शनात्। [13]पुरुषवचनान्नियोगे[14]—यमुपालम्भो[15] [16]नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, "सर्वं वै

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते॥

ऐसा श्रुतिवाक्य है।

भाट्ट—पुनः विघ्नों के परिहार रूप फल का प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकाम" यह वचन कैसे सिद्ध हो सकेगा? अर्थात् यदि विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष" इस शब्द से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

"जुहुयात् जुहोतु होतव्य" इस प्रकार से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय जिसके अंत में हैं ऐसे शब्द के निर्देश कर देने मात्र से ही नियोग मात्र सिद्ध है और उसी से ही प्रवृत्ति संभव है। अर्थात् इस संसार में लौकिक विघ्नों को दूर करने की इच्छा रखता हुआ पुरुष होम क्रिया में प्रवृत्त होवे न कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला मनुष्य क्योंकि लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय स्वरूप ही नियोग है इसलिए स्वर्ग की इच्छा के बिना ही यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति संभव है अतः आप नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध दो प्रकार के वचन नहीं कहना चाहिये क्योंकि पाप का परिहार करने के लिये यज्ञादि कर्म हैं पुनः वे यज्ञादि कर्म स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करावेंगे? अतः "स्वर्गकाम" यह शब्द संभव है ऐसा नहीं कहना चाहिये। यदि पुनः आप दूसरा पक्ष लेवें कि फल सहित ही नियोग है तब तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तिका प्रवर्तन कराने वाली है न कि नियोग क्योंकि उस नियोग के बिना भी फलार्थी—फल की इच्छा करने वाले जनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

१ प्रभाकरः। २ पापपरिहारफलाय। अवश्यं विघ्न आयाति धर्मकार्ये तन्निवारणाय। ३ त्रिकालं सन्ध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम्। ४ दर्शपौर्णमासीग्रहग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम्। ५ अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते इति श्रुतेः। ६ भावनावादी। ७ प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले। ८ यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन वचनेन किं प्रयोजनम्? ९ इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थी पुमान् जुहुयादिति प्रवर्त्तां, न तु स्वर्गकाम इति। १ प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः। ११ ततः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्त्तता नाम। १२ नियोगं विनापि। १३ अत्राह नियोगवादी। १४ पूर्वोक्तः सर्वः। १५ दूषणम्। १६ अग्निष्टोमे स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यपौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न—तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात्।

1 अनुपालम्भ्यत्वात् इति पा०। अदूष्यत्वात्।

खल्विद ब्रह्म[1]" त्यादि[1] वचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालम्भमस्तु[2] तत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थं [3]कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत्[4] ।

[पूर्वकथितैकादशप्रकारस्य नियोगस्य क्रमशः निराकरणम्]

सर्वेषु[5] च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि ।—न तावत्कार्यं शुद्ध नियोग इति पक्षो घटते [6]प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य[7] नियोगस्या सम्भवात । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य [8]कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्र स्यात । न च तावता [9]स्वेष्टसिद्धि । शुद्धा प्रेरणा[10] नियोग इत्यप्यनेनापास्त[11]–[12]नियोज्यफल[13]

नियोगवादी प्रभाकर—यदि हम पौरुषेय वचन–पुरुष के वचन से नियोग का अर्थ करे तब तो उपर्युक्त दोष आ सकते हैं किंतु हम तो अपौरुषेय वेद के अग्निहोत्रादि वाक्य से नियोग मानते है अतएव उस मान्यता में आप उलाहना नही दे सकते हैं।

भावनावादी-भाट्ट—तब सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । आराम तस्य पश्यति न तं पश्यति कश्चन ॥ इस विधि मात्र के प्रतिपादक वचन भी निर्दोष सिद्ध होवें क्या बाधा है ? क्योकि अपौरुषेयत्व हेतु दोनो जगह समान है और उस प्रकार से तो वेदातवाद की सिद्धि हो जाती है। इसलिये वेदवाक्य का अर्थ नियोग नही है क्योकि उसमे किसी भी पुरुष की प्रवत्ति का अभाव है जैसे विधि–परब्रह्म में किसी की प्रवृत्ति नही है।

[प्रारम्भ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं उनका क्रमश भाट्ट द्वारा खडन किया जा रहा है]

उपर्युक्त सभी एकादश प्रकार के पक्षो मे प्रत्येक का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नही होता है अत वेदवाक्य का अथ नियोग करना ठीक नही है। तथाहि—

(१) 'शुद्ध काय नियोग है यह पक्ष भी घटित नही होता है क्योकि यजेत स्वर्ग काम इस प्रकार से प्रेरणा और नियोज्य—स्वर्ग की इच्छा करने वाले श्रोतापुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है। और उसकी नियोग सज्ञा करने पर तो अपने कम्बल को 'कुर्दालिका–कुदालि ऐसा एक भिन्न नाम रख दिया गया मात्र ही हो जाता किन्तु उतने से अपन इष्ट अथ की सिद्धि नही हो सकती है। अर्थात् नियोग पक्ष मे स्वर्ग है और कुर्दालिका–कुदाली पक्ष में खोदना आदि है। अर्थात् कुछ का कुछ नाम रख देने से कार्य की सिद्धि नही हो सकती। प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित केवल शुद्ध कार्य रूप नियोग से स्वर्ग नही मिल सकता है जैसे कि

१ नेह नानास्ति किञ्चन । आराम (विस्तार) तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥ २ अदूष्यत्वस्याविशिष्टत्वात् । ३ पुरुषस्य । ४ परब्रह्म यथा ५ एकादशभेदनियोगेषु । ६ यजेतेति । प्रवर्त्तकस्व । ७ स्वर्गकाम । ८ कुदाली । ९ स्वर्ग । स्वर्गो नियोगपक्षे कुर्दालिकापक्षे खननादि । १ अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि । ११ पूर्वोक्तन्न कल्पमानेन च । १२ नियोज्यः पुमान् । १३ स्वर्गं ।

1 अपौरुषेयत्वाविशेष ।

रहिताया [1]प्रेरणाया [2]प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्ते । प्रेरणासहित काय नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारत प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य [3]प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्क्वचित्परमाथतस्तस्य[4] तथानुपलम्भाच्च[5] । [6]कार्यप्रेरणयो [7] सम्बन्धो नियोग इति [8]वचनमसङ्गतम्–[9]ततो भिन्नस्य[1] सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य [11]नियोगत्वाघटनात [1] सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्[2]

कम्बल को कुदाली कह देने से उससे सडक का खोदना नही हो सकता है ।

(२) और जो आपने कहा था कि शुद्ध प्ररणा ही नियोग है अर्थात् अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इस कथन का भी पूर्वोक्त कथन से ही निरसन हो जाता है । नियोज्य—पुरुष और उसका फल–स्वग इन दोनो से रहित प्ररणा प्रलाप मात्र ही है इसलिये वह प्रेरणा नियोग रूप नही हो सकती है ।

(३) प्ररणा सहित काय नियोग है यह पक्ष भी असम्भव है क्योकि नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है ।

(४) काय सहित प्रेरणा ही नियोग है इसका भी इसी कथन से निरसन हो जाता है ।

(५) काय ही उपचार से प्रवतक होने से नियोग है यह पक्ष भी असार है । नियोज्य–पुरुष आदि से निरपेक्ष काय मे प्रवर्तक का उपचार ही नही हो सकता है क्योकि कदाचित् क्वचित् परमाथ से वह नियोज्यादि निरपेक्ष काय प्रवर्तक प्रकार से उपलब्ध नही होता है । अर्थात् नियोज्य—श्रोतापुरुष नियोजक—शब्दादि की अपेक्षा रहित काय उपचार से भी यज्ञादि मे प्रवृत्ति नही करता है । मुख्य रूप से सिह के प्रसिद्ध होने पर वीर पुरुषो मे सिह का उपचार कर दिया जाता है किन्तु यहाँ कभी कही नियोज्यादि से रहित केवल काय उस प्रकार से प्रवतक नही हो सकता है ।

(६) 'यागादि काय और वेदवाक्य रूप प्रेरणा का सम्बन्ध ही नियोग है । यह वचन भी असंगत है क्योकि कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से घटित नही हो सकता है । संबध्यात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी दुरन्वय–गलत ही है क्योकि प्रेयमाण पुरुष से निरपेक्ष सबध्यात्मक भी कार्य और प्रेरणा नियोग नही हो सकते है ।

भावार्थ—सम्बन्धियो से सवथा भिन्न पडा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदाथ के समान उनका नियोग

---

१ प्रेरकत्वस्य । २ निरर्थकत्वात् । ३ निरर्थकत्वादिति भाव । ४ नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कायस्य । ५ प्रवत्तकत्व प्रकारेण । ६ यागादि । ७ वेदवाक्य । ८ इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठ । ९ कायप्ररणारूपेभ्य सम्बन्धिभ्य । १० सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयमवलोक्य क्रमेण निराकुर्वन्नाह । ११ नियोगत्वेनाघटनादिति खपुस्तकपाठ । १२ सम्बन्धिनामात्मानो स्वरूपे यस्य ।

---

१ दुरवबोध ।

प्रेर्यमाणपुरुष[1]निरपेक्षयो [1]सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्त । [2]तत्समु दायनियोगवादोप्यनेन[3] प्रत्याख्यात । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते[4] । यत्पुन स्वर्गकाम पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षण विषयमारूढमात्मान म य मान: प्रवर्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचन तदपि न [5]परमात्मवादप्रतिकूलम्—[6]पुरुषाभिमान मात्रस्य[2] नियोगत्ववचनात्, [7]तस्य चाविद्योदयनिब धनत्वात् । भोग्यरूपो नियोग इति चायु क्तम्— [8]नियोक्तु [9]प्रेरणाशून्यस्य [1] भोग्यस्य तद्भावानुपपत्ते । पुरुषस्वभावो हि[11] न नियोगो घटते [2]तस्य [13]शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात । [1] पुरुषमात्रविधेरेव [15]तथा-भिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्ते [16] कुतो नियोगवादो नाम ।

नही हो सकता एव काय और प्रेरणा रूप सम्बन्धियो से अभिन्न तदात्मक हो रहा सम्बन्ध जब तक श्रोता पुरुष की अपेक्षा नही रखेगा तब तक कथमपि नियोग नही हो सकता । शिष्य की अपेक्षा नही रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा करना बहुत ही कठिन है सम्बन्धियो के साथ सम्बन्ध का भेद अथवा अभेद इन दोनो पक्षो मे नियोग व्यवस्थित नही होता है ।

(७) उन दोनो का तादात्म्य समुदाय ही नियोग है उपयुक्त भिन्न अभिन्न पक्ष उठाने से यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योकि पुरुष के बिना उन दोनो के समुदाय को नियोग कहना उचित नही है ।

(८) कार्य और प्रेरणा से रहित भी नियोग विधिवाद का उलघन नही कर सकता है किन्तु विधिवाद ही आ जाता है । तुच्छाभाव को न मानने से आप प्रभाकरो के यहाँ कार्य और प्ररणा से रहित नियोग वेदान्तवादी के ब्रह्माद्वैतवाद का ही आश्रय ले लेता है ।

(९) जो आपने कहा है कि स्वग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्रादि वाक्यो से नियुक्त होने पर अपने को याग लक्षण विषय मे आरूढ मानता हुआ प्रवत्ति करता ह इस प्रकार से यन्त्रारूढ नियोग वचन ही नियोग है यह कथन भी परमात्म—ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नही है । वहाँ विधिवाद में भी पुरुष के अभिप्राय मात्र को नियोग कहा है और पुरुष का अभिमान—अभिप्राय भी तो अविद्या के उदय से ही होता है ।

(१०) 'भोग्य रूप नियोग है यह कथन भी अयुक्त ह क्योकि नियोक्ता—वेदवाक्य और

---

१ यस (कर्मधारय) । २ तादात्म्यम् । ३ ततो भिन्नस्येत्यादिना । ४ नातिशय प्राप्नोति । नातिक्रामति । किन्तु विधिवाद एवायात । ५ विधिवाद । ६ अभिप्राय । ७ पुरुषस्याभिमानाभावादित्युक्त आह । पुरुषाभिमानमात्रस्य । ८ वेदवाक्य । ९ प्रवत्तकलक्षणो वाक्यधर्म । १ स्वर्गस्य । ११ पुरुषस्वभावोपीति सपुस्तकपाठः । १२ अन्यथा । तस्य पुरुषस्वभावस्य । १३ नित्यत्वेन । १४ अस्तित्वस्य । १५ नियोग इति । १६ प्राप्ते ।

---

1 संबंधात्मनो इति पा । 2 तत्संवेदनविवर्तस्तु नियुक्तोहमिति अभिमानरूपो नियोग इति नाम पुरुषाभिमा॰ अर्थः ।

प्रेरणा-प्रवर्तक लक्षण वेदवाक्य का धर्म इन दोनो से रहित भोग्य-स्वर्ग (भविष्यत्काल में भोगने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

(११) एवं ग्यारहवें पक्ष में माना गया पुरुष का स्वभाव नियोग है यह कथन भी घटित नही होता है। अन्यथा यदि पुरुष के स्वभाव को ही नियोग मानोगे तो पुरुष का स्वभाव तो शाश्वतिक है पुन वह नियोग भी शाश्वतिक हो जावेगा। पुरुषमात्र के अस्तित्व को ही नियोग कहने पर तो वेदान्तवाद की प्राप्ति हो जाने से नियोगवाद नाम ही कैसे रह सकेगा ?

इस प्रकार आप प्रभाकर द्वारा मान्य ११ प्रकार का नियोग कथमपि सिद्ध नही होता है विचार कोटि मे रखने पर वह विधिवाद मे ही चला जाता है एवं आगे विधिवाद का भी निराकरण कर देने से अपौरुषेय वेदवाक्य एवं उसमे मान्य नियोग विधि आदि सभी समाप्त हो जाते हैं।

नियोगवाद के खंडन का साराश

मीमासक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और उन्ही के यहा जो भेद प्रभेद हैं उनके अर्थ में अनेक की कल्पना करके परस्पर मे विसवाद करते है। प्रभाकर मतानुयायी वेदवाक्य का अर्थ नियोग करते हैं अर्थ भाट्ट भावना अर्थ करते है और वेदान्ती वेदवाक्य का अर्थ विधि करते हैं।

सर्वप्रथम नियोगवादी का पक्ष स्थापित करके भावनावादी भाट्ट दोष दिखाता है—

भावनावादी—आप प्रभाकर ने वेदवाक्य का अर्थ नियोग किया है सो ठीक नही है उसमें अनेक बाधायें सम्भव है अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते है वहाँ भी किंचित् चिद् भावना रूप कार्य सम्भव नही है क्योकि आपके यहाँ नियोग का अर्थ अनेक वक्ताओ ने ग्यारह प्रकार से किया है।

(१) कोई कहते हैं कि जो लिङ लोट और तव्य प्रत्यय का अर्थ है शुद्ध है अन्यनिरपेक्ष है एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है वही नियोग है।

(२) वाक्यान्तगत कर्मादि अवयवो से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है।

(४) कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं क्योकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नही होता है।

(५) कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं।

(६) प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है।

(७) प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है।

(८) इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है।

(९) यंत्रारूढ—यागलक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है।

(१०) भोग्य—भविष्यत् रूप ही नियोग है।

(११) पुरुष ही नियोग है।

इन एकादश पक्षों का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नही होता है यथा—

(१) 'शुद्ध कार्य नियोग है' यह पक्ष असंभव है क्योंकि 'यजेत स्वर्गकाम' इस प्रकार प्रेरणा और नियोज्य से रहित नियोग असंभव है।

(२) जो आपने कहा था 'शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है' क्योंकि नियोज्य—पुरुष और उसका फल–स्वर्ग उससे रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र है।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है इसमे भी नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) 'कार्य सहित प्रेरणा' का इसी से निरसन हो गया।

(५) काय को ही उपचार से प्रवतक कहना भी असार है क्योंकि पुरुषादि से निरपेक्ष काय (यज्ञ) में प्रवतक का उपचार ही असम्भव है।

(६) कार्य और प्रेरणा का संयोग अथ करने पर तो इन दोनो सम्ब धी से भिन्न सम्ब ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से नही घटता है।

(७) उन दोनो का समुदाय अर्थ कहने पर वह उससे भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्पों से दूषित हो जाता है।

(८) काय और प्रेरणा से रहित नियोग विधिवाद मे ही प्रविष्ट हो जाता है।

(९) यत्रारूढ़ नियोग वचन ही नियोग है इस कथन से भी विधिवाद ही आता है।

(१०) भोग्य को नियोग कहने से वेदवाक्य और प्रेरणारूप वाक्य का धर्म इन दोनो से रहित भोग्य–स्वर्ग की व्यवस्था ही असम्भव है।

(११) 'पुरुष का स्वभाव नियोग है' ऐसा अथ करने पर तो पुरुष का स्वभाव शाश्वतिक होने से नियोग भी शाश्वत हो जावेगा।

इस प्रकार से ११ विकल्पो मे कहा गया नियोग सिद्ध नही होता तथा इनमे आठ विकल्प और उठते है कि ये ग्यारहो विकल्प रूप नियोग प्रमाण है या प्रमेय उभय रूप है या अनुभय रूप तथा शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापार रूप दोनो के व्यापार रूप है या दोनो के व्यापार से रहित ?

यदि आप प्रथम पक्ष लेवे तो विधिवाद आ जावेगा क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है। यह आत्मा द्रष्टव्य श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि वाक्यो के सुनने से अवस्थातर से विलक्षण मैं प्रेरित हुआ हूँ ऐसी अहकार बुद्धि से आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रमेय को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण मानना होगा अन्यथा प्रमाण के अभाव मे प्रमेय कैसे रहेगा ? एवं प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न न होने से आप वेदान्ती बन जावेंगे।

यदि उभयरूप को नियोग कहें तब तो नियोग को ज्ञान पर्याय–चिदात्मक मानने से विधिवाद ही सिद्ध हो जाता है यदि अनुभय स्वभाव कहो तो उभयरूप से रहित संवेदनमात्र ही पारमार्थिक होने से विधिवाद ही आवेगा। यदि शब्द व्यापार को नियोग कहो तो अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि शब्द का व्यापार नियोग होने से आप हमारे–भाट्ट के मत मे प्रवेश कर जावेंगे क्योकि हमने शब्द भावना' को नियोग कहा है। एव छठे पक्ष मे भी आप भाट्ट ही हो जावेंगे कारण हमने पुरुष के व्यापार को भी भावना स्वभाव कहा है। हमारे यहाँ भावना के २ भेद है–शब्द भावना और अर्थभावना। यदि उभय के व्यापार को नियोग कहो तो क्रम से कहोगे या युगपत्? क्रम से कहो तो वही भाट्टमत प्रवेश नाम का दोष आता है। यदि युगपत् कहो तो एक जगह एक साथ उभय स्वभाव की व्यवस्था नही होगी। अनुभय स्वभाव को नियोग कहो तो वह यागादि कर्म रूप विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा नि स्वभाव?

यदि विषय स्वभाव कहो तो यागादि अर्थ के विषय विद्यमान हैं या नही? यदि वेदवाक्य के काल मे विषय अविद्यमान हैं तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। यदि विद्यमान कहो तो वह वेदवाक्य के काल मे विषय स्वभाव विद्यमान होने से वाक्य का अर्थ नही होगा क्योकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है। निष्पन्न हुये यागादि का पुन निष्पादन शक्य नही है। यदि यागादि का रूप किंचित् अनिष्पन्न है उसे निष्पादन करने के लिये नियोग है कहो तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न होने से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा? यदि फल स्वभाव नियोग है कहो तो स्वर्गादि का फल नियोग नही है क्योकि वह स्वर्गादि फल वाक्य के काल मे अविद्यमान है यदि असन्निहितफल को भी नियोग कहो तो निरालंबवाद–बौद्ध के मत मे प्रवेश हो जावेगा क्योकि वे शब्द को निरालंब—अन्यापोह अर्थवाला कहते हैं यदि नि स्वभाव कहो तो भी अन्यापोहवाद ही आवेगा।

दूसरी बात यह है कि यह नियोग सत् है या असत् उभयरूप है या अनुभयरूप? प्रथम पक्ष मे विधिवाद है। द्वितीय मे निरालंब–शून्यवाद है उभयपक्ष मे उभय पक्षोपक्षिप्त दोष है एव चतुर्थ पक्ष मे विरोध दोष आता है क्योकि सत् के निषेध मे असत् का विधान होगा ही। यदि सर्वथा सत् असत् का निषेध करो तो कथंचित् सत् असत् आ जाता है जो कि स्याद्वाद का आश्रय ले लेता है वह आपको इष्ट नही है। पुन नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो आप प्रभाकर के समान ही यह बौद्धों को भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योकि सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव है यदि दूसरा पक्ष लेवो तो वह नियोग प्रवृत्ति का हेतु न होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को ही सिद्ध करेगा। तथा यह नियोग फल रहित है या फल सहित? यदि प्रथम विकल्प कहो तो फल रहित नियोग से कोई भी बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नही करता है यदि कहो कि अत्यन्त क्रोधी राजा के फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है सो भी प्रवृत्ति कष्ट से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर धनापहरण मृत्यु दंड आदि अवश्यभावी हैं।

इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य से नियुक्त हुआ पुरुष विघ्नों को दूर करने के लिये ही प्रवृत्ति करता है क्या बाधा है ? त्रिकाल संध्योपासन पितृऋषितर्पण आदि नित्य कर्म और पौर्णमासी आदि तिथियों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है । कहा भी है—

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहित कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ।।

परन्तु यह कथन भी विरुद्ध है। विघ्नो के परिहार रूप फल को प्रतिपादन करते समय स्वर्गकाम यह वचन कैसे सिद्ध होगा ? जब विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब 'स्वर्गकाम इस शब्द से क्या प्रयोजन है ? अतएव जुहुयात् जुहोतु होतव्यं इन लिङ लोट तव्य प्रत्यय को अन्त मे रखकर निर्देश कर देने से नियोग मात्र सिद्ध हो गया उसी से प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये स्वर्ग की इच्छा के बिना भी याग कर्म में प्रवत्ति हो गई ।

यदि फल सहित नियोग है ऐसा कहो तो फल की इच्छा होना ही प्रवतक है न कि नियोग क्योकि नियोग के बिना भी फलार्थीजनो की प्रवृत्ति देखो जाती है ।

नियोगवादी—ये सभी दोष तो तब आवगे जब हम वेद को पौरुषय-पुरुषकृत माने । हमारे यहाँ अपौरुषेय वेदवाक्य से नियोग अथ मानने मे कोई दोष नही आते हैं ।

भाट्ट—तब तो आपको 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन इत्यादि विधि वचन को भी प्रमाण मानना होगा । अत एकादश प्रकार के सभी पक्षो मे प्रत्येक का विचार करने पर वह नियोग सिद्ध नही होता है ।
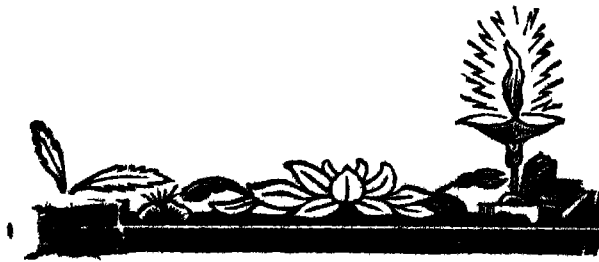
[भाट्टो नियोगवाद निराकृत्याधुना विधिवादं निराकरोति]

[1]नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि [2]विधेर्वाक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थ सिद्धो भट्टस्येति न [3]चेतसि विधेयम्[1] —विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात । सोऽपि हि प्रमाण रूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा [4]शब्द व्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति । तथाहि ।

[विधे प्रमाणरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

प्रमाण विधिरिति [5]कल्पनाया प्रमेय किमपर स्यात् ? [6]तत्स्वरूपमेवेति चे न—सर्वथा निरशस्य स मात्रदेहस्य विधे प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात । कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य

[प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी का खडन कराया है । अब जैनाचाय पन विधिवादी वेदान्ती का भी खडन भाट्ट के द्वारा ही करा रहे हैं ।]

विधिवादी [*वेदांतवादी*]—इस प्रकार से नियोग का निराकरण हो जाने पर भी वेद का अथ विधि ही घटित होता है किन्तु आप भाट्टो के द्वारा मान्य वेदवाक्य का भावना अथ सिद्ध नही हो सकता है।

भाट्ट—ऐसा भी तुम्हे मन मे नही समझना चाहिये क्योकि विधिवाद को भी विचार की कोटि मे रखने से वह बाधित हो जाता है । उस विधि अथ मे हम प्रश्न करगे कि वह विधि प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप उभयरूप है या अनुभयरूप पुरुष व्यापार रूप है या शब्द व्यापार रूप द्वय–इन दोनो के व्यापार रूप है या अद्वय–इन दोनो से रहित व्यापार रूप है ? इन आठ विकल्पो का उलघन वह विधि—ब्रह्मवाद भी नही कर सकता है ।

[विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खडन]

(१) तथाहि—विधि को प्रमाण मानने पर आप ब्रह्माद्वैतवादियो के यहाँ अन्य प्रमेय नाम की और क्या वस्तु होगी ? यदि आप कहो विधि (ब्रह्म) का स्वरूप ही प्रमेय है तब तो सवथा निरश स मात्रदेहवाले विधि–परब्रह्म के प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप नही हो सकते हैं क्योकि विरोध आता है ।

वेदान्ती—कल्पित होने से वे प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप वहाँ पर विधि मे अविरुद्ध हैं ।

१ अथ नियोगवादिन निराकृत्य भट्टो विधिवादिन दूषयति । २ वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठ । ३ त्वया विधिवादिनेति शेष । ४ यदि शब्द सद्भावस्वरूप नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभिदधाति चेत्तदभावे क्वचिद्वस्तुनि प्रवृत्तिन स्यात् । ५ ब्रह्माद्वैतवादिनाम् । ६ विधिस्वरूपमेव । ७ ननु स एव चिदात्मोभयस्वभावतया स्वात्मान प्रकाशयतीत्युक्त तावत् सम्यक् निरशस्यैवोच्यतेऽन पूर्वापरविरोध इति चेन्न, प्रमेयस्वभाव काल्पनिक प्रतिपाद्यायमुच्यते न तु वास्तव स्तद्विवर्तत्वात्तस्य ।

1 निषेध इति वा पाठ ।

तत्राविरोध इति चेत्, [1]कथमिदानीमन्यापोह शब्दार्थ प्रतिषिध्यते[2]—संविन्मात्रस्या प्रमाणत्व[3]व्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति । [4]परैरभिधातु शक्य त्वात् । [5]वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहा[6]भिधायकत्वेऽपि [7]क्वचित्[1] प्रवर्त्त कत्वायोगान्नान्यापोह शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोपि शब्दस्यान्यापोहान[8]-

भाट्ट—तब तो बौद्धाभिमत शब्द का अर्थ अन्यापोह है उसका आप निषेध कैसे करते हैं ? क्योंकि 'अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण और अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय है इस प्रकार से संविन्मात्र को ही विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध ने स्वीकार किया है ।

भावार्थ—शका यह हुई थी कि चिदात्मा प्रमाण एवं प्रमेयरूप उभयस्वभाव से अपने को प्रकाशित करता हुआ युक्त है ऐसा विधिवादी का कहना था पुन ऐसा कह दिया वह परमब्रह्म निरश ही है इसलिये परस्पर विरुद्ध हो गया ऐसा कहने पर उसने कहा कि प्रमेय स्वभाव तो काल्पनिक है और वही प्रतिपाद्य अर्थ है वह वास्तविक नही है वह तो उस ब्रह्म की ही पर्याय है । तब उस भाट्ट ने कहा कि प्रमाण और प्रमेय दोनो रूपो को कल्पित कहने पर तो बौद्ध भी शब्द का अथ अन्यापोह करता है उसका निषेध आप क्यो करते हैं क्योकि बौद्धो के यहा भी संविन्मात्र-विज्ञानमात्र तत्त्व अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण रूप है और प्रमेय भी अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय रूप है ऐसा संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध भी कह सकते हैं क्या बाधा है ? मतलब—आप विधिवादी प्रमाण प्रमेय दोनो को कल्पना रूप से विधि मे विरुद्ध नही मानते हो तब तो अगोर्व्यावृत्तिर्गौ अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादि लक्षण अभावात्मक-अन्यापोह रूप शब्द का अर्थ क्यों नहीं मान लेते हो उसका निषध क्यों करते हो क्योकि कल्पित रूप तो प्रमाण और अन्यापोह दोनों में समान है ? जैसे आप वेदातवादी प्रमाण को कल्पित मानते हो वैसे ही बौद्ध अन्यापोह को कल्पित मानते हैं इसलिये दोनो मे कोई अन्तर नही दीखता है ।

विधिवादी—आप बौद्ध की मान्यतानुसार शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले भले ही हो किन्तु वस्तु के स्वभाव का कथन करने वाले नही हैं । अत उन शब्दों की क्वचित्-विधि मे प्रवृत्ति नही होती है इसीलिये शब्द का अथ अन्यापोह नहीं है ।

१ प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले । २ विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वय घटते चेत्कल्पित किमन्यापोह ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात् । ३ अभाह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादिन प्रति ।—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोर्व्यावृत्तिर्गौ अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षण सौगताभ्युपगतशब्दार्थ अन्यापोह अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयो कल्पितत्वाविशेषात् । ४ शून्य । ५ सौगतै संविन्मात्रपक्षग्राहकै । ६ विधिवादी । ७ तथा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात् स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थ । ८ विधौ । ९ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् ।

1 सर्वत्र निवर्तकत्वात् ।

भिधायित्वे[1]ऽन्य[2]परिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनतापा[3]याद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत् । [4]परमपुरुषस्यैव [5]विधेयत्वात्तदन्य[6]स्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण [7]प्रवृत्तिरिति चेत् कथमिदानीं दृष्टव्यो[8]ऽरेऽयमात्मे[9]त्यादिवाक्या नैरात्म्यादि[10]परिहारेणात्मनि [1] प्रवृत्तिर्नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात् । [11]नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न [12]तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्[13] कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत् ? [14]परमब्रह्मणो [15]विधिरेवान्य[16]स्यानाद्य

बौद्ध—यदि ऐसा कहो तब तो वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले भी शब्द अन्यापोहका कथन करने वाले नही हैं ऐसा मानने पर तो आपके यहां ब्रह्म को छोडकर अन्य कोई है ही नही अत अन्य का परिहार करके वे शब्द कहीं पर भी प्रवत्ति के निमित्त नही हो सकेंगे इसलिये विधि भी शब्द का अर्थ मत होवे । अर्थात् विधि तो प्रवतनस्वभाव वाली ही है तो फिर अन्य का निषेध करके एक ब्रह्म के विषय मे ही नियम रूप से वह प्रवत्ति कैसे करावेगी ?

विधिवादी—परम पुरुष ही विधेय है क्योकि ब्रह्म को छोडकर कोई भिन्न वस्तु है ही नही इसलिये अन्य का परिहार करने से विधि मे प्रवत्ति ही नही होगी ।

बौद्ध—यदि ऐसा कहो तो अन्य का परिहार करके प्रवत्ति के न होने रूप समय मे दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य अरे मत्रेय ! यह आत्मा देखने योग्य है श्रवण करने योग्य है अनुमनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है इत्यादि वाक्यो से नैरात्म्य दर्शनादिको का परिहार करके आत्मा मे प्रवृत्ति कसे हो सकेगी ? अन्यथा—यदि नैरात्म्यादि दर्शन का परिहार नही मानोगे तो उनका भी प्रसंग आ जावेगा अर्थात् नैरात्म्यादि सिद्धान्त भी मानने पडेंगे ।

भावार्थ—यहा यदि आप वेदाती के वचन केवल विधि वाक्य को ही कहते हैं निषेधवाक्य को नही कहते हैं तो फिर आप क्षणिकवाद शून्यवाद आदि का परिहार भी कसे करगे ? पुन आपके ब्रह्मवाद मे शून्यवाद आदि आ घुसेंगे आप किसी को भी नही रोक सकगे ।

वेदांती—नैरात्म्यादि दर्शन तो अनादिकालीन अविद्या से ही उपकल्पित हैं अत उन दर्शनो मे

१ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् । २ अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते । ३ विधिवादी । ४ प्राप्यत्वात् । ५ परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्न वस्तु नास्ति यत । ६ विधौ । ७ अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले । ८ दृष्टव्योयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुति । ९ सौगत आह ।—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादि परिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिघटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम् । १ अन्यथा । ११ विधिवाक्याद्धानात्म्यवादिकम् ।—अनाद्यज्ञानोपरूढं यतस्तस्मा नैरात्म्यादिदर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते । १२ नैरात्म्य । १३ बौद्धः । १४ विधिवादी (परब्रह्मण) । १५ विधानम् । १६ अन्यापोहस्य ।

(1) अनियामकत्वाद् विधे प्रवर्तनस्वभावत्वादन्यपरिहारेण क्वचिद् प्रवृत्ति कथ स्यात ।
(2) दृष्टव्य श्रुतवाक्येभ्यो मंतव्यश्चोपपत्तित । मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतव । इति स्मृति वाक्य ।

विद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादे परिहार[१] इति चेत् [२]कथमेवमन्यापोह[३]वादिनोपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न [४]भवेत् ? [५]तस्या यापोहवादविरोधा[1]नवमिति चेत् [६]विधिवादिनोपि तथा विधिवादविरोधाद यापोहाभ्युपगमो मा भूत् । परमाथतो यापोहो विधिवादिना नवाभ्युपगम्यते तस्य प्रनिभास[९]समानाधिकरणत्वेन[2] प्रतिभासान्त प्रविष्टत्वसिद्धे परम पुरुषत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत । तस्याप्रतिभासमानत्वे[3] व्यवस्थानुपपत्तेर यथातिप्रसङ्गात्[१] ।

शब्द की प्रवृत्ति नही होती है ।

भाट्ट—यदि ऐसा मानते हो तो पुन अ य का परिहार करके शब्द की प्रवृत्ति कसे नही होगी ?

वेदांती—परब्रह्म की विधि ही तो अनादि अविद्या से उपकल्पित—माने गये नरात्म्यादि अ यदशना का परिहार है ।

भाट्ट—तब तो अ यापोह वादी बौद्ध शून्यवादियो के द्वारा पर का अपोहन—अभाव करना भी स्वरूप की विधि क्यो न हो जावेगा अर्थात् हो ही जावेगा । मतलब यह है कि शू यवादियो के अन्यापोह से भी स्वरूप का ही विधान होता है ऐसा मान लेना चाहिये ।

विधिवादी—उस विधि का अ यापोहवाद स विरोध है इसलिये वह अ यापोह स्वरूप का विधान करने वाला नही हो सकना है । अर्थात् बौद्धो के यहा सभी वस्तुए अपन स्वभाव स शू य ही हैं क्योकि स्वरूप की विधि—अस्तित्व को उ होने स्वीकार ही नही किया है और अ य के अभाव स वस्तु के स्वरूप का विधान तो होता ही नही है ।

भाट्ट—तब तो आप विधिवादियो के यहा भी विधि कथन के प्रकार स अ यापोह मे विधिवाद का विरोध होने स अ यापोह की स्वीकृति नही होनी चाहिये ।

विधिवादी—हम वेदातियो ने तो परमाथ से अ यापोह को स्वीकार ही नही किया है वह अन्यापोह तो प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट सिद्ध है क्योकि वह परम पुरुष रूप है जसे कि प्रतिभास का स्वरूप । यदि उस अ यापोह को प्रतिभासमान नही मानोग तब तो व्यवस्था ही नहीं हो

१ निषेध । २ सौगत । भाट्ट । ३ शून्यवादिन । ४ अपि तु भवेदेव (विधिवादे दूषण न्स्तम्) । ५ विधिवाद्याह ।—तस्य विधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्ध सौगत ! यदुक्त त्वया अ यापोहनमेव विधिस्तदेव न स्यात । ६ सौगत । भाट्ट । ७ अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण । ८ विधिवादी । ९ विधि प्रतिभासतेऽपोह प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यम् । विधिवादिनोऽनुमानम् ।–अन्यापोह पक्ष प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन कृत्वा प्रतिभासान्त प्रविष्टो भवतीति साध्यो धम –प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासमान त प्रतिभासान्त प्रविष्टम् । प्रतिभासते चाय तस्मात्प्रतिभासान्त प्रविष्ट । विधिवाद्याह ।—अ यापोह प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्ट । न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति । १ अप्रतिभासमान वेध्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्ग स्यात् । असत स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु ।

(1) सर्वेषां वस्तूना नि स्वभावत्व बौद्धाना मते यत । स्वरूपविधेरनगीकारादन्यस्यापोहन स्वरूपविधिरिति नास्ति वल । (2) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां एकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्ति समानाधिकरणत्वं । (3) असावन्यापोह इति ।

'शब्दज्ञानेस्यानु'मानज्ञाने[1] चान्यापोहस्य प्रतिभासनेपि तत्समानाधि'करणतया प्रतिभासनान्न 'ततोन्यत्वम्। तस्य[2] च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्ना'र्थान्तरत्वमिति चेत् कथमिदा'नीमुपनिषद्वाक्यं प्रतिभासमात्राद्न्यल्लिङ्ग' वा[3] यतस्तत्प्रतिपत्ति'प्रेक्षावत स्यात्। तस्य'' परमब्रह्म''विवर्त्तत्वाद्विवर्त्तस्य च ''विवर्त्तिनोऽभेदेन[4]

सकेगी अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा।

भावार्थ—विधि प्रतिभासित होती है अन्यापोह प्रतिभासित होता है। इस प्रकार से अन्यापोह प्रतिभास समानाधिकरण है विधिवादियो के अनुमान मे अन्यापोह पक्ष है प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट है यह साध्य है प्रतिभासमानत्वात् यह हेतु है। वे विधिवादी प्रश्न करते हैं कि अन्यापोह प्रतिभासित होता है या नही ? यदि होता है तो विधि मे ही प्रविष्ट है यदि नही होता है तो उसकी स्थिति ही नही हो सकती है। एव प्रतिभासमान न होने पर भी यह अन्यापोह है इस प्रकार से उसकी स्थिति मानो तो असत खर विषाणादि की भी स्थिति माननी पडगी।

शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान मे इस अन्यापोह का प्रतिभास होने पर भी तत्समानाधिकरण अभेद रूप स प्रतिभासित होने स वह अन्यापोह प्रतिभास से भिन्न नही है। एव वह शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्रात्मक स्वरूप वाला होने से प्रतिभास से भिन्न नही है।

भाट्ट—प्रतिभास का समानाधिकरण होने से अन्यापोहादि प्रतिभास से भिन्न नहीं है ऐसा कहने पर तो सव व खल्विद ब्रह्म इत्यादि उपनिषद्वाक्य अथवा प्रतिभासमानत्वात् हेतु प्रतिभासमात्र—परमब्रह्म से भिन्न कसे हो सकगे कि जिससे उनका ज्ञान विद्वानो को हो सके अर्थात् ऐसी मान्यता मे तो विद्वानो को उपनिषद्वाक्य अथवा हेतु का ज्ञान भी नही हो सकेगा।

विधिवादी—वह हेतु परमब्रह्म की पर्याय है तथा पर्याय अपने पर्यायी परमब्रह्म से अभिन्न मानी गई हैं अत उनका ज्ञान होता है। अथवा पाठातर ऐसा भी है कि ये हेतु आदि परब्रह्म से भेद रूप कल्पित किये जाते है वास्तव मे उस ब्रह्म स उनमे भेद नही है। अत भेद रूप स माने जाने स ही उनका ज्ञान होता रहता है।

---

१ अन्यापोह इति। २ अन्यापोहोस्ति–अमुकत्वात्। ३ अभेदतया। ४ प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्व न। ५ प्रतिभासात्। विधे। ६ प्रतिभाससामानाधिकरण्या प्रतिभासान्न्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले। ७ सव व खल्विद ब्रह्म त्यादि। ८ ब्रह्मण। ९ प्रतिभासमानत्वम्। १ परमब्रह्मपरिज्ञान विचारकस्य कुत स्यात् ? न कुतोपि। ११ विधिवादी प्राह।–लिङ्गस्य। १२ पूर्वाकारापरित्यागादपर प्रतिभाति चेत्। विवत्त स परिणामो दपणे प्रतिबिम्बवत् (पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठ)। १३ ब्रह्मण।

(1) शब्दज्ञानऽनुमानज्ञान इ पा। (2) शब्दज्ञानानुमानज्ञानसमानाधिकरणत्वे न ह्यतप्रसग इति शका परिहरति। (3) कथं। (4) भेदेन कल्पनमेव न तु परमार्थता भेद। भेदेन इति पा।

परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत [1]कथ तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थ पथावतारिण परमब्रह्मण प्रतिपत्ति—परिकल्पिताद्धूमादे पारमार्थिकपावकादि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । [2]पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्य लिङ्ग च परमब्रह्मत्वेनेति[1] चेत् तर्हि[3] यथा तत्पारमार्थिक [4]तथा साध्यसम[2] कथ पुरुषाद्वैत व्यवस्थापयेत्[3] ? यथा[5] च प्रतिपाद्य [6]जनस्य प्रसिद्ध न तथा पारमार्थिक—द्वैत[7]प्रसङ्गात् । इति कुत परमार्थसिद्धि । [10]तत स्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्य लिङ्ग च[11] प्रतिपत्तव्यम । [12]तच्चाचित्स्वभाव

भाट्ट—परिकल्पित उपनिषद्वाक्य स अथवा कल्पित हेतु स परमार्थ-पथावतारी—वास्तविक परम ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा परिकल्पित धूमादि स वास्तविक अग्नि आदि का भी ज्ञान होने लगेगा ।

विधिवादी—उपनिषद्वाक्य और हेतु ये दोनो पारमार्थिक ही हैं क्योकि वे परमब्रह्म रूप ही हैं ।

भाट्ट—तब तो जसे वे पारमार्थिक हैं वसे ही कल्पितरूप से साध्यसम असिद्ध पुरुषाद्वैत को कैसे व्यवस्थापित कर सकेंगे ? क्योकि जिस प्रकार स कल्पित रूप स प्रतिपाद्य जनो को प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार से वे पारमार्थिक नही है अन्यथा द्वैत का प्रसग आ जावेगा इस प्रकार स परमार्थ की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये उपनिषद् वाक्य और हेतु स परमार्थ सिद्धि को स्वीकार करते हुये आप विधिवादी को उपनिषद्वाक्य और हेतु को भी पारमार्थिक रूप ही स्वीकार करना चाहिये ।

वे उपनिषद्वाक्य एव हेतु अचित्स्वभाव हैं । यदि आप इन उपनिषद वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानेंगे तब तो उपयुक्त अनुमान के अनुसार पर के द्वारा सवेद्य का विरोध हो जाएगा क्योकि वे प्रति पादक—गुरु के चित्स्वभाव हैं । जसे कि उस प्रतिपादक के सुखादि का अनुभव स्वय उसी को होता है पर

---

१ भाट्ट । सौगत । २ विधिवाद्याह । ३ भाट्ट । सौगतो वदति ।—यथा तथेद वाक्य लिङ्ग वा सत्यभूत तथा सत्यभूतपरब्रह्मसमानमनुमान च कतृ पुरुषाद्वैत कथ व्यवस्थापयेद् ? अपि तु न । ४ कल्पितत्वप्रकारेण । ५ कल्पितत्वप्रकारेण । ६ येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्य लिङ्ग च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्ध तेन प्रकारेण प्रसिद्ध पारमार्थिक न पारमार्थिकम् । भवति चेत् तदा द्वैत प्रसज्यते इति कुत पारमार्थिकसिद्धि ? न कुतोपि । उपनिषद्वाक्य स्येति शेष । ७ कोर्थ पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्य लिङ्ग चेति त्वयोक्त तथा चेत्साध्यसम यथाप्रसिद्ध तथोपनिषद्वाक्य मप्यसिद्धम् । असिद्ध साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरधिकरणात् । ८ अन्यथा । ९ पारमार्थिकत्व प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्ध किल तर्हि कुत चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । १ तत उपनिषद्वाक्याल्लिङ्गाच्च परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्य लिङ्ग च परमार्थभूत ज्ञातव्यम् । ११ च अङ्गीकर्त व्य प्रतिपत्तव्यमिति कपुस्तकपाठ । १२ विकल्पचतुष्टय मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह ।

---

(1) ब्रह्मरूपत्वेन । (2) असिद्ध ।

(3) प्रतिपाद्यमेदेन सिद्धमुपनिषद्वाक्यमित्याशकायामाह ।

[1]चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् तत्सुखादिवत् । प्रतिपाद्य चित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसवेद्यत्व प्रतिपाद्यसुखादिवत । तस्य[2] तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसवेद्यत्वविरोधस्तदुभयसुखादिवत । [3]सकलजनचित्स्वभावत्वे [4]प्रतिपादकादिभावानुपपत्ति —[5]अविशेषात । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत [6]एव प्रतिपाद

को नही होता है अथवा प्रतिपाद्य—शिष्य का चित्स्वभाव स्वीकार करने पर प्रतिपादक के सवेद्य नही होगे उस प्रतिपाद्य के सुखादि के समान । यदि उन उपनिषद् वाक्य और लिंग को गरु और शिष्य दोनो का चित्स्वभाव मानोग तब तो प्राश्निक—प्रश्न करने वाले मनुष्यादिको के द्वारा सवेदन का विरोध हो जाता है उन दोनो गुरु शिष्यो के सुखादि के समान । अर्थात् गरु और शिष्य के सुख दु ख का अनुभव गुरु और शिष्य को ही होगा किन्तु प्रश्न करने वाले एव सुनने वाले लोगो को गुरु शिष्य के सुख दु ख का अनुभव नही होता है । तात्पय यह है कि उपनिषद्वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानने पर दूसरो के द्वारा ये सवेद्य ग्राह् य नही हो सकते है । तथा इन दोनो को गरु का चित्स्वभाव कहने पर गुरु के सुख दु खादि के समान उनका भी अन्य शिष्यो क द्वारा सवेदन विरुद्ध होता है । अथवा इन दोनो को यदि शिष्य का चित्स्वभाव कहोग तो शिष्य क सुखादि क समान गरु क द्वारा उनका सवेदन विरुद्ध हो जावेगा । यदि उन गरु और शिष्य का ही चित्स्वभाव न उपनिषद्वाक्य और हेतु को कहोग तब तो ये प्रश्न करने वालो क ज्ञान के द्वारा ग्राह् य नही हो सकग ।

सभी प्रतिपाद्यजनो का चित्स्वभाव कहने पर तो प्रतिपादक आदि भाव ही नही बन सकगे क्योकि सभी समान हैं अर्थात् सभी जनो का चित्स्वभाव इन आगमवाक्य और हेतु को मान लेने पर उसका यह गुरु है यह शिष्य है ये प्रश्न करन वाले लोग हैं इत्यादि भाव नही बन सकग क्योकि ये दोनो तो सभी के

---

१ सौगतो वदति हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्य लिङ्ग च) अचित्स्वभाव चित्स्वभाव वेति प्रश्नविकल्प । अचित्स्वभाव चेत्तदा परब्रह्मणो द्वत व्यवस्थापयति । चित्स्वभाव चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति । प्रतिपादकवाक्य पक्ष प्रतिपाद्यसंवेद्य न भवतीति साध्यो धम प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभाव तत्प्रतिपाद्यसवेद्य न यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभाव चेद तस्मात्प्रतिपाद्यसवेद्य न भवति । एवमग्रपि । २ उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषा ग्राह्यत्व विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदु खादिवत्तस्यापि परषां प्रतिपाद्यादीना संवेद्यत्व विरुध्यते । तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेयथा तथा तस्यापि गुरो सवेद्यत्व विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेयथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां सवेद्यत्व ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते । ३ प्रतिपाद्यादि । ४ सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्याय गुरु, अयं शिष्य अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशषाभावात् । ५ या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सव शिष्यादे सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्व व्यवस्थापयेत् । ६ सकलजनचित्स्वभावत्वाविशेषात् ।

कस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्व मुपकल्पयेत् । प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रति पाद्यत्व परिकल्पयेत प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्[1] । भेदे[2] वा प्रतिपाद

चित्स्वभाव हैं पुन भेद कैसे होगा ?

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि आप विधिवादी सव व खल्विद ब्रह्म इस उपनिषद्वाक्य रूप आगम को एव प्रतिभासमानत्वात् इस हेतु को अचेतन स्वभाव मानते हो या चेतन स्वभाव ? यदि कहो कि इन्हें हम अचेतन स्वभाव कहते है तब तो चेतन स्वरूप परमब्रह्म से ये भिन्न ही रहेगे पुन आप अद्वैत वादी क यहा द्वैत का प्रसग आ जावेगा और यदि आप इन्हे चेतन स्वभाव कह तो चार विकल्प उठाये जा सकते हैं कि ये आगम वाक्य और हेतु गरु क चेतन स्वभाव है या शिष्य क प्राश्निकजनो क या सभी जनो के चेतन क स्वभाव हैं ? गरु क कहन पर तो शिष्य को उनका अनुभव नही होगा अर्थात् गरु के चेतनस्वभाव रूप आगम और हेतु गरु क ही सवेदन योग्य है शिष्य के सवेदन करने योग्य नही है क्योंक वे गरु के ही चतन्य स्वभाव है । जो जो गरु का स्वभाव होता है वह वह शिष्य को सवेद्य नहीं होता है जैसे कि गुरु के सुख दु खादि का अनुभव गुरु को ही होता है शिष्यो को नही हो सकता है । इसी प्रकार से यदि दूसरे पक्ष मे आप इन आगम और हेतु को शिष्य का चतन्य स्वभाव कहो तो भी वे गरु के द्वारा अनुभव करने योग्य नही रहेंगे एव तीसरे विकल्पानसार यदि इन्हे प्रश्न करने वालो का चेतन स्वभाव कहो तो गुरु और शिष्य दोनो को ही इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा । तथा इन्हे सभी का चेतन स्वभाव माना जावेगा तब तो ये गरु है ये शिष्य हैं ये प्राश्निक लोग हैं एव ये सुनने वाले है इत्यादि रूप से कुछ भी भेदभाव नहीं बन सकेगा और यदि अविद्या से ही आप यह सब भेद स्वीकार करोगे तो भी आपके यहाँ अविद्या भी सवथा नि स्वभाव—स्वभाव से शून्य ही है उसके द्वारा इन कल्पित भेद भावो की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी जसे कि आकाश के गलाब पुष्पो से माला बना कर वंध्या के पुत्र को पहनाना शक्य नहीं है तद्वत् आपके द्वारा कल्पित अविद्या से असत् रूप गुरु शिष्यादि भेद करना सवथा असभव ही है । इस अविद्या के विषय में आगे स्वय ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

विधिवादी—प्रतिपादक प्रतिपाद्य आदि भाव तो अविद्या से ही उपकल्पित हैं अत कोई दोष नही आता है ।

भाट्ट—तब तो जो अविद्या प्रतिपादक—गुरु मे प्रतिपादकपने को कल्पित कराती है वही अविद्या प्रतिपाद्य—शिष्य और प्राश्निकजनो मे समान रूप से है अत उन्हे भी प्रतिपादक—गुरु बना देने मे क्या बाधा है ? अर्थात् जो अविद्या गुरु में गरुत्व की व्यवस्था करती है वही अविद्या शिष्यादिको से अभिन्न

---

१ प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्ग । प्रसङ्ग इति कपाठ । २ अविद्याभेदकृत प्रतिपादकादीनां भेद इति ।

कादीनां भेदसिद्धि —[1] विरुद्धधर्माध्यासात् । अनाद्यऽविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत् परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्ग[2] । यदि पुनरविद्यापि[3] प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव न भेदाभेद विकल्पसहा [4]नीरूपत्वादिति मत तदा परमार्थपथावतारिण प्रतिपादकादय इति बला दायातम्— तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात । तथा च प्रति

होती हुई शिष्यादिका को भी गरु रूप से यवस्थापित कर सकती है। शिष्य की अविद्या शिष्य मे शिष्य की उपकल्पना करने मे तत्पर हुई प्रतिपादक गरु आदि मे समान रूप से विद्यमान है पुन उन गरुओ में शिष्य की कल्पना भी करा देगी। एव प्रतिपादको मे अभेद होने से उस अविद्या मे भी अभेद का प्रसग आ जावेगा पुन सभी प्रतिपादकादिको मे सकर का प्रसग आ जावेगा अर्थात् गरु जी शिष्य बन जावगे एव शिष्य गरु जी बन बठेगे। अथवा अविद्या क भेद से उन प्रतिपादको मे भेद की सिद्धि माननी पडगी तब तो अभेद को ि द्ध करने मे प्रवृत्त हुये आप भद को सिद्ध कर दगे तो विरुद्धधर्माध्यास हो जावेगा।

विधिवादी – उन अविद्याओ का जो भेद है वह भी अनादि अविद्या से उपकल्पित ही है पारम थिक नही ह।

भाट्ट—तब तो परमाथ स वह अविद्या अभिन्न ही रही। अत प्रतिपादक आदिको मे वही सकर दोष आ जावेगा अर्थात् गुरु और शिष्यादि का भेद न रहने स गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु बन बठगे।

विधिवादी—प्रतिपादकादिको की अविद्या भी अविद्या स ही उपकल्पित ह अर्थात् प्रतिपादक आदि केवल अविद्या से ही उपकल्पित है ऐसा ही नही है कि त अविद्या भी अविद्या स ही उपकल्पित ह। अत वह भेद और अभेद के विकल्प को सहन हो नही कर सकती है क्योकि वह नीरूप–नि स्वभाव–तच्छाभाव रूप है अर्थात् अविद्यमान रूप ह।

[यहा पर भाट्ट जन मत का आश्रय लेकर विधिवाद का खडन करता है]

भाट्ट—यदि आप ऐसा मानते है तब तो प्रतिपादकादि– गरु शिष्य आदि परमाथ पथावतारी ही हैं यह बात बलपूवक आ गई क्योकि उन प्रतिपादकादिको की अविद्या को अनादि अविद्या से कल्पित मानने पर विद्या की विधि ही अवश्यभावी है और इस प्रकार से प्रतिपादकादिको से उपनिषदवाक्य भिन्न है क्योकि युगपत् उन गरु शिष्यादिको के सवेदन करने योग्य सवेद्य की अन्यथानुपपत्ति ह

१ अभेदसाधने प्रवृत्तत्वे भेद साधित इति विरुद्धधर्माध्यास (अध्यास साहित्यम्)। २ य एव प्रतिपादक स एव प्रतिपाद्य इति। ३ न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिता। ४ तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वा दित्यर्थ ५ प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽवश्यमेव सम्भवति।

पादिकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्य 'सकृत[1]त्संवेद्यत्वान्यथानुपपत्ते[1] इत्यचित्स्वभाव,[1] सिद्ध[2] बहिर्वस्तु तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्व तव्यवस्था प्रतिभास्य[4]स्यापि सुप्रसिद्ध त्वात् । '[5]प्रतिभास[6]समानाधिकरणता पुन प्रतिभास्यस्य[7] कथञ्चिद्भेदेपि न विरुध्यते ।

इसलिये वह अचित्स्वभाव रूप बहिर्वस्त सिद्ध ह अर्थात् यदि उपनिषदवाक्य प्रतिपादकादिको स भिन्न नहीं होवे तो उन सभी को युगपत् सवेदन नहीं हो सकेगा किन्त एक साथ सबको उसका सवेदन देखा जाता है अत उपनिषदवाक्य अचेतन स्वभाव है और बाह्यवस्त रूप ह यह बात सिद्ध हो गई ।

उसी प्रकार से घटादि वस्तुए भी बाह्यवस्त है इसलिए प्रतिभासाद्व त—ब्रह्माद्व त की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योकि प्रतिभासित होने योग्य—प्रतिभास्य बाह्य पदाथ सुप्रसिद्ध है । अर्थात् उपनिषदवाक्य और घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेय भी जगत् में प्रसिद्ध ह न कि प्रतिभास मात्र एक पुरुष । प्रतिभाससमानाधिकरणता भी प्रतिभास्य से कथंचित् भेद होने पर विरुद्ध नही ह अर्थात् घट प्रतिभासित होता ह पट प्रतिभासित होता है यह समानाधिकरणता ह । यदि कोई कहे कि घटादि पदार्थ ज्ञान स अर्थान्तरभूत हैं पुन घटादिपदार्थों की ज्ञान से समानाधिकरणता कैसे घटेगी ? अर्थात् घट और ज्ञान मे विषय विषयी भाव ह घट तो विषय है और ज्ञान विषयी ह तब घट प्रतिभासित होता ह ऐसा कैस कह सकेंगे ? इसका उत्तर तो यही है कि प्रतिभास की समानता ह । ज्ञान स ज्ञ य पदाथ उपचार स अभिन्न हैं कि त परमाथ स भिन्न हैं । इस प्रकार से प्रतिभास से प्रतिभासित होने योग्य अन्यापोह लक्षण मे कथचित् भेद होने पर भी प्रतिभास की समानाधिकरणता विरुद्ध नहीं है । प्रतिभास हैं समानाधिकरण जिसका उसे प्रतिभास समानाधिकरण कहते हैं ।

घट प्रतिभासित होता है । मतलब घट प्रतिभास का विषय होता ह ऐसा कहने से विषय और विषयी मे उपचार से अभेद माना है । अर्थात् घट प्रतिभासित होता है यह उपचरित समानाधिकरण ह सवदन—ज्ञान प्रतिभासित होता ह यह मुख्य समानाधिकरण है सवेदन का प्रतिभासन यह उपचरित वयधिकरण्य है और पट का प्रतिभास यह मुख्य वयधिकरण्य है । घट और प्रतिभास मे विषय विषयी

१ उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिभ्यो भिन्न न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीना युगपदेव सवषा सवेद्यत्व न भवेत् । २ तेषां प्रतिपादकादीनाम् । ३ उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभाव सद्बहिर्वस्तु सिद्ध यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्व सिध्यति । ४ उपनिषद्वाक्य घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम् । (प्रतिभासस्यापीति खपाठ) । ५ घट प्रतिभासते ज्ञान प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता । ६ यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथ ज्ञानसामानाधिकरण्य घटादेघटेतेत्युक्ते आह प्रतिभाससमानेति । ७ प्रतिभासस्येति खपाठ । ८ ज्ञानाज्ज्ञेयमुपचारादभिन्न परमाथतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुध्यते । प्रतिभास समानमधिकरण यस्य स समानाधिकरणस्तस्य भाव प्रतिभाससमानाधिकरणता ।

(1) प्रत्यक्षरूपतया । (2) बस्सिद्ध । इतिपा ।

'घट प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते[1] विषयविषयिणोरभेदोपचारात्[1], प्रस्थप्रमित धान्य प्रस्थ इति यथा । तत सामानाधिकरण्यादुपचरितान्नानुपचरितकत्व-सिद्धि । मुख्य सामानाधिकरण्य क्व सिद्धमिति चेत् सवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्ती त्यादि व्यवहारे मुख्यम् । ततो 'वयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र[4] सवेदनस्य प्रतिभासन मिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य[6] मुख्यत्वप्रसिद्ध । कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामाना धिकरण्यानुपपत्तेश्च[2] । तत[8] एव [3]कथञ्चिदभेदसिद्धि । 'शुक्ल पट इत्यत्र सवथा शुक्ल पटयोरक्ये हि न समानाधिकरणता[4] पट [5] पट इति यथा । नापि सवथा भेदे हिमवन्मकरा

भाव है घट प्रतिभासित होता है इसमे अभेदोपचार है जसे प्रस्थ प्रमाण धा य को प्रस्थ कह देत हैं इसलिये उपचरित समानाधिकरण से अनुपचरित—वास्तविक एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ह ।

शका—मुख्य समानाधिकरण कहा पर सिद्ध है ?

समाधान—संवेदन प्रतिभासित होता ह सवेदन प्रतिभासते भाति चकास्ति इत्यादि व्यवहार मे मुख्य ह । इसलिए वयधिकरण व्यवहार गौण ह मुख्य समानाधिकरण मे सवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमिति सवेदन का प्रतिभासन पट का प्रतिभासन इस प्रकार से यहाँ प्रतिभासन मे वैयधि करण्य व्यवहार मुख्य ह । कथचित् भेद को माने बिना समानाधिकरण बन नही सकता इसलिये उस समानाधिकरण से ही कथचित् भेद की सिद्धि होती ह । अर्थात् प्रतिभासित होने योग्य पदाथ और प्रति भास रूप ज्ञान के प्रकार से भेद सिद्ध ही ह । शुक्ल पट इसमे यदि सर्वथा शुक्ल और पट में ऐक्य मानो तो समानाधिकरण नही बनेगा जसे पट पट मे समानाधिकरण नहीं ह । अर्थात् पट पट इस प्रकार से दो पट श[illegible] हैं वे दोनो एक अर्थ के वाचक हैं या अनेक अथ के वाचक हैं ? यदि एक अर्थ के वाचक हैं तो भिन्न प्रवृत्ति मे निमित्त नहीं हो सकगे और यदि भिन्न भिन्न अथ के वाचक हैं तो एक

१ घट प्रतिभासत इत्युपचरित सामानाधिकरण्य सवेदन प्रतिभासते इति मुख्य सामानाधिकरण्य सवेदनस्य प्रतिभासन मिति उपचरित वयधिकरण्य पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्य वयधिकरण्यम् । २ यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथ घट प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह । मुख्यबाधाया सति हि प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवत्तते इतिन्यायानुसाराद् घट प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचयते तत्र घटस्याप्रतिभासत्व मुख्यबाधाप्रतिभासत्व निमित्त तद्व्यवहार प्रयोजनमिति । ३ घट प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम् । ४ यत एव तत उपचारभूतादन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यान्न परमार्थभूतकत्वसिद्धि । ५ भिन्नाधिकरण्यव्यवहार । ६ मुख्ये सामानाधिकरण्ये । ७ वैयधिकरण्यव्यवहारस्य । ८ सामानाधिकरण्यादेव । ९ सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह ।

(1) यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथ घट प्रतिभासते इत्याशक्याह । (2) सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च । (3) प्रतिभास्यप्रतिभासकप्रकारेण (4) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तत्व । (5) एकस्मिन । पटशब्दद्वयस्यैकार्थवाचकत्वमनेकार्थवाचकत्व वा इति विकल्प्य दूषणान्तरयोरेकार्थवाचकत्वे भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाघटनात् । भिन्नार्थवाचकत्वे एकार्थवृत्तित्वाघटनात् ।

कारवत् । [1]तथान्यापोहस्य[2] प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेपि प्रतिभासादभेदव्यवस्थितेस्तद्विषय शब्द कथ विधिविषय एव [3]समवतिष्ठते । [4]तथाभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्त्तक शब्दो यतो विधिविषय स्यादिति सूक्तम्—विधे प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानु[5]प्रवेशो[6]ऽन्यथा यत्प्रमेय वाच्यमिति ।

[विधि प्रमेयादिस्वरूपाभ्युपगमेऽपि दोषा सभव ीत्याह]

प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यवोभय स्वभावत्व

अर्थ की वृत्ति नही बन सकेगी। तथैव सवथा भेद मे भा हिमवान पवत और समुद्र के समान समानाधिकरण नही ह उसी प्रकार से अन्यापोह प्रतिभासमान का प्रतिभास समानाधिकरण होने पर भी प्रतिभास से वह अन्यापोह भिन्न ही सिद्ध होता ह पुन तदविषयक शब्द विधि को ही विषय करता ह यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर तो शब्द कही पर भी अन्य का परिहार करके कस प्रवृत्ति करेगा कि जिसमे वह विधि को ही विषय करने वाला हो सके ? अर्थात् अन्यापोह विषयक शब्द विधि—विषयक होता है ऐसा स्वीकार करने पर तो नराश्म्यादि शून्यवादी जनो का परिहार करके परब्रह्म में अथवा अविवक्षित वस्तु का परिहार करके किसी विवक्षित वस्तु मे शब्द प्रवृत्ति कसे कर सकेगा ? जिससे कि वह शब्द विधि को विषय करने वाला ही होवे अर्थात् नही होगा। अतएव शब्द परार्थ—अन्य के अर्थ को छोड़कर स्व अर्थ मे प्रवृत्ति करता हुआ भावाभावात्मक है यही स्याद्वाद प्रक्रिया है। इसलिये यह बात बिल्कुल ठीक कही है कि—विधि को प्रमाण रूप स्वीकार करके पुन उसी मे ही प्रमेय की कल्पना भी कर लेने पर अन्यापोहवाद में अनुप्रवेश हो जाता है। अन्यथा आपको अन्य कोई प्रमेय है ऐसा कहना चाहिये।

[वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है ऐसी मान्यता मे भाट्ट ने प्रश्न उठाये थे कि आपका यह ब्रह्माद्वैत वाद प्रमाण रूप है या प्रमेय रूप इत्यादि ? उसमे से विधि को प्रमाण रूप मानने से उस भाट्ट ने यहा तक उस विधिवादी को दूषण दिया है अब आगे उस विधि को प्रमेय रूप मानने पर दूषण दिखाते हैं।]

(२) द्वितीय पक्ष में विधि प्रमेय रूप है ऐसी कल्पना के करने पर भी किसी भिन्न को प्रमाण

---

१ तत्प्रकारेण । २ समानाधिकरणता इति सम्बन्ध । ३ कथञ्चिद्भेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोन्यापोह समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासादभिन्नो व्यवतिष्ठते यतस्तस्मादन्यापोहविषय शब्दो विधिविषय एव कथ समवतिष्ठते ? न कथमपि । ४ अन्यापोहविषय शब्दो विधिविषयो भवतीत्यगीकारे कृते सति नराश्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा क्वचिद्ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्द कथ प्रवर्त्तको यत कुतो विधिविषय स्यान्न कुतोपि । एव शब्द परार्थं परिहृत्य स्वार्थे प्रवर्त्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया । ५ अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतार । ६ अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे । ७ अन्यापोहवादानुप्रवेशन ।

विरोधात्—[1] कल्पनावशाद्विधे प्रमेयप्रमाणरूपत्वेन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् । प्रमाण प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता । तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खर शृङ्गादिवदवस्तुतापत्ति—प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधे स्वभावान्तरेण व्यवस्थाना-[2] योगात । [3]प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्ते[4] । अन्यथा तत्र[5] प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा वस्तुत्वहानि ।

[विध शब्दादिव्यापाररूपाभ्युपगमे दोषानाह]

श ्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत् सा श ्दभावनव । पुरुषव्यापार स इति चेत् सार्थ

कहना पडगा क्योकि वह विधि प्रमाण प्रमेय रूप उभय स्वभाव वाली नही हो सकती है विरोध आ जाता है । अर्थात प्रमाण को माने बिना विधि —ब्रह्म को प्रमेय रूप कैसे कहोगे ? और यदि आप ब्रह्म को प्रमाण प्रमय रूप से उभय रूप कह दोगे तब तो एक ही निरश परमब्रह्म अद्वत रूप है पुन वही दो रूप कसे बन सकेगा ? कल्पना के निमित्त से विधि को प्रमेय और प्रमाण रूप से उभय रूप कहने पर तो अयापोहवादी होने का प्रसग समान ही है । अर्थात् बौद्धो ने श दो से वाच्य अथ को कल्पना से ही अन्यापोह रूप माना है उसी के समान आपकी मायता भो कल्पना से होने से आपके यहा भी अन्यापोहवाद आ जावेगा ।

(३) तृतीय पक्ष मे विधि प्रमाण और प्रमेय से उभय रूप है यह कल्पना भी इस उपयुक्त विवेचन स ही निरस्त कर दी गई है ।

(४) चतुर्थ विकल्प मे विधि को आप इन प्रमाण प्रमेय से रहित अनुभय रूप कल्पित करोगे तब तो खरविषाणादि के समान वह विधि अवस्तु ही हो जावेगी क्योकि प्रमाण और प्रमेय से रहित विधि का भिन्न किसी भी स्वभाव से रहना ही असभव है । यदि आप कहे कि विधि प्रमाण प्रमेय से भिन्न प्रमाता-ज्ञाता एव प्रमिति-जानने रूप क्रिया रूप से यवस्थित होगी सो भी ठीक नही है क्योकि प्रमाता—आत्मा आदि भी प्रमेय रूप ही हैं । अयथा—उन प्रमाता—आत्मा अथवा प्रमिति रूप ज्ञप्ति मे प्रमाणवृत्ति का अभाव होने से सर्वथा वस्तुत्व की हानि हो जावेगी अर्थात् पुन वे प्रमाता प्रमिति वस्तुभूत ही नही रह सकेगे क्योकि आपके यहा तो एक परम ब्रह्म ही ज्ञाता ज्ञय ज्ञान और ज्ञप्ति रूप से अभेद रूप ही ह पुन आप उस ज्ञान ज्ञय रूप स नहीं मानकर यदि ज्ञाता और ज्ञप्ति रूप स मानग तो प्रमाण-ज्ञान रूप न मानने स वह विधि—ब्रह्म वास्तविक सिद्ध नही हो सकगा ।

---

१ तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । २ स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभाव कुतो [illegible] प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याशङ्कयाह । ३ प्रमिति । ४ विधिवाद्याह ।—विधि प्रमाणं प्रमेय च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहा यापोहवादी ।—प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्व घटते अन्यथा प्रमेयत्व न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । ५ प्रमातरि प्रमितौ वा ।

भावना[1] स्यात् । [2]एतेनोभय[3]व्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम् । [4]तदनुभयव्यापाररूप स्तु[5] विधिर्विषय[6]स्वभावश्चेत् तस्य[7] वाक्य[8]कालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेश[9] । [1]फल [10]स्वभावश्चेत स[11] एव दोष —तस्यापि तदाऽसन्निधानाद यथा[2] विधेरनवतारात् । नि स्व-भावो विधिरिति कल्पनाया तु विधिर्वाक्याथ इति न किञ्चिद्वाक्याथ इत्युक्त स्यात ।

[विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने मे हानि]

(५) यदि विधि को शब्द का व्यापार रूप मानोगे तब तो वह हमारे द्वारा मान्य शब्दभावना रूप ही सिद्ध होगी ।

(६) यदि पुरुष का व्यापार कहो तो वह ब्रह्म अर्थभावना रूप (पुरुष भावना) ही होवेगा ।

(७) इसी कथन से उभय व्यापार रूप सातवें पक्ष का भी खडन कर दिया गया है अर्थात् पूव मे जसे नियोग पक्ष का निराकरण करने मे—क्रम से या युगपत् ? इत्यादि अनेक विकल्प उठाये है वे सभी यहा पर भी समझना चाहिये ।

(८) यदि उन दोनो के व्यापार से रहित अनुभय रूप कहो तब तो प्रश्न उठगे कि वह विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है या नि स्वभाव है ? यदि विषय का स्वभाव मानो तब तो सव व खल्विद ब्रह्म' इत्यादि वाक्य के काल मे असनिहित—निकट न होने से निरालबन शब्दवाद (सौगत के अन्यापोहवाद) मे प्रवेश हो जावेगा ।

यदि फल स्वभाव मानो तो भी अथ रहित फल का स्वभाव भी निरालबन शब्दवाद ही हो जावेगा क्योकि वह विधि वेदवाक्य के समय विद्यमान नही है अन्यथा विधि का (मनन निदिध्यासन आदि का) अवतार ही नहीं होगा। यहा फल स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होना रूप अर्थ समझना चाहिये।

तथा विधि को नि स्वरूप मानने पर तो विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा कहने पर तो कुछ भी वेदवाक्य का अर्थ नही है' ऐसा ही कहा गया हो जावगा क्योकि विधि तो स्वभाव से शून्य है। अर्थात् आपने ही तो विधि को स्वभाव से शून्य कह दिया है ।

पुनरपि ये प्रश्न उठेंग कि वह विधि सत् रूप है या असत् रूप उभय रूप है या अनुभय रूप ?

---

१ पुरुषभावना । २ प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन । ३ पर्यायेण युगपद्वा इत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्त दूषणमत्रापि ज्ञातव्य दृष्टव्येत्यादिना । ४ तदुभयाव्यापाररूप इति वा पाठ । ५ ब्रह्मदशनादि । ६ शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्नि स्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति । ७ विषयस्वभावस्य विधे । ८ सर्वं वै खल्विद ब्रह्म त्यादिवाक्यकाले । ९ सौगतमते निरालम्बनशब्दवादोभिप्र त १ अथरहित । ११ फलस्वभावस्य विधे स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेश । कस्मात् ? तदा वाक्यकाले विधेरसामीप्यात् ।

---

(1) ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति (2) मननिदिध्यासनादिविधानस्य ।

[विधेः सदसदादिरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

किञ्च[1] यदि विधिः सन्नेव तदा न [2]कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत् । अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्[3] । अथ पुरुषरूपतया सन् [4]दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्[5] 'तदोभयरूप[6]तापत्ति[1] । न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत् तदिदं व्याहतम्— सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसंगात्[9]—तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात् ।

[विधि को सत् असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण]

(१) यदि सर्वथा सत् रूप ही विधि होगी तब तो विधि किसी भी पुरुष को विधेय–करने योग्य नहीं होगी पुरुष के स्वरूप के समान । अर्थात् विधि कस्यचित् मनुष्यस्य विधेयो न भवति सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचित् विधेयो यथा पुरुषः सश्चायं तस्माद् न कस्यचिद् विधेयः इत्यर्थः । विधि—ब्रह्म किसी को करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सत् रूप ही है जो सत् रूप है वह किसी का विधेय नहीं होता है । जैसे आत्मा सत् रूप है अतः वह किसी के लिये करने योग्य—विधेय नहीं है और यह ब्रह्म सत् रूप है इसलिये किसी को विधेय नहीं है । अर्थात् जो सर्वथा सत् रूप होता है वह किसी के करने योग्य नहीं हो सकता है ।

(२) असत् ही मानो तो भी वह विधि खरविषाण के समान किसी के लिये भी विधेय नहीं होगी । अर्थात् असत् रूप होने से वह विधि किसी को विधेय—करने योग्य नहीं हो सकती । जैसे खरशृंग किसी का विधेय—करने योग्य नहीं है ।

(३) यदि कहो कि पुरुष रूप से तो वह विधि सत् रूप है किंतु द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा इत्यादि दृश्यत्व कर्तव्य आदि रूप से असत् रूप है इसलिये वह विधेय हो जावेगी तब तो उस विधि के उभय रूप हो जाने से द्वैत का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् स्वसिद्धांत का भी व्याघात हो जावेगा क्योंकि वेदांतवादियों ने तो विधि को सर्वथा सत् रूप माना है असत् रूप से माना ही नहीं है । एवं सर्वथा निरंश सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म के दो रूप की प्राप्ति का विरोध स्पष्ट है ।

(४) वह विधि न सत् रूप है न असत् रूप । ऐसा चतुर्थ पक्ष लेने पर तो विरुद्ध ही हो जाता है

---

१ विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति । २ विधिः पक्षः कस्यचिन्नुर्विधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः—सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः । सश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्तव्यः) । ३ द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यं—असत्त्वात् । यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम् । असश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः । ४ द्रष्टव्यो रेयमात्मेत्यादिदृश्यत्वकर्तव्यत्वादिना । ५ विधिरिति शेषः । ६ ततः स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्—असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिनानभ्युपगमात् । ७ द्वैतापत्तिः । ८ विरुद्धम् । ९ सर्वथा असत्त्वनिषेधे ।

(1) सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः रूपद्वयप्राप्तिर्विरोधः ।

सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात्[1] कुतो विधिरेव वाक्यार्थ ।

[विधेः प्रवर्तकाविस्वभावस्वीकारे हानि]

किञ्च विधि प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि[2] प्रवर्त्तक स्यात्[3] । तेषां[4] विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्तत[5] एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि शक्येत[6] । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानाना न पुन प्रवर्त्तमानाना विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम् —उभयेषा समानाक्षेपसमाधानत्वात्[7] । यदि पुनरप्रवर्त्त कस्वभाव एव विधिस्तदा कथ वाक्यार्थ स्यान्नियोगवत ।

सर्वथा सत्त्व का प्रतिषेध करने पर सवथा असत्त्व की ही विधि हो जावगी अथवा सवथा असत्व का निषेध करने पर सत्त्व का विधान अवश्यंभावी हो जावेगा और एक साथ दोनो का प्रतिषेध करने से कथचित् सत्त्व असत्त्व का विधान हो जाने से मतांतर—स्याद्वाद के आश्रय का प्रसग आ जावगा । पुन विधि ही वदवाक्य का अथ है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

[विधि को प्रवतक स्वभाव या अप्रवतक स्वभाव मानने मे दोष]

दूसरी तरह से भी प्रश्न होगे कि विधि प्रवतक स्वभाव है या अप्रवतक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तब तो वह विधि आप वदातवादियो के समान बौद्धादिको के लिये भी प्रवतक स्वभाव हो जावगी क्योंकि वह सवथा ही प्रवतक स्वभाव वाली है । यदि कहो कि बौद्धादिको को प्रवतक नही होती है क्योकि वे विपर्यास रूप—विपरीत बुद्धि वाले है तब तो विपर्यास होने से ही वदातवादियो को भी प्रवतक नही होगी ऐसा भी हम कह सकते है । अर्थात् यदि विधि प्रवत्ति कराने रूप स्वभाव वाली है तब तो आपको और बौद्धो को दोनो को ही प्रवतक होवे अथवा किसी को भी प्रवतक न होवे । एक को प्रवतक और एक को अप्रवर्तक कहने से तो कथचित्वाद आ जाता है । यदि आप कहो कि अप्रवतमान—प्रवत्ति न करने वाले सौगतादिको को ही विपर्यास ह किन्तु प्रवर्तमान विधिवादियो को नहीं ह । आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही ह आप विधिवादी और सौगत दोनो के प्रति दोष और समाधान सदश ही लागू होते हैं । अर्थात् आप वेदवाक्य का अर्थ ब्रह्म रूप करते हैं और उसे प्रवतक मानते हैं तब वह परम ब्रह्म आप ब्रह्माद्व तवादी एवं अन्य सौगत आदि सभी को यज्ञादि क्रियाकाण्ड में प्रवत्ति करावे अथवा किसी को भी प्रवत्ति न करावे । यदि आप विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाली मानोगे तब तो वह विधि वेदवाक्य का अथ कैसे हो सकेगा नियोगवाद के समान । अर्थात् आप जैसे नियोगवाद को अप्रवर्तक स्वभाव मान करके वाक्य का अर्थ नहीं

---

१ जैनमता (स्याद्वाद) श्रयणात् । २ तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकत्वात् । ३ ताथागतादीनाम् । ४ प्रवर्त्तकस्वभावे विधावप्रवर्तकतया गमन विपर्यास । ५ विपर्यासादेव । ६ वक्तुमिति शेष । ७ इति स्याद्वादी वदति ।—उभयेषां सौगतादीना वेदान्तवादिनां चेष्ट प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्ध भवति । कस्मात् ? सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात् ।

[विधि फलरहितः सहितो वा इत्याद्यभ्युपगमे हानि]

किञ्च विधि फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्त्तको नियोगवदेव[1] । [2]पुरुषाद्वैते न कश्चित्[1]कुतश्चित्प्रवर्त्तक इति चेत् कथमप्रवर्त्तको विधि सर्वथा वाक्यार्थ [3]कथ्यते ।—तथा[4] नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात । तथा द्रष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यादात्मनि[5] दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ [6]किमर्थ स्तद्वाक्याभ्यास ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्ध व्यर्थं

मानते हो तथैव आपका परमब्रह्म भी वेदवाक्य का अर्थ नही हो सकेगा ।

[विधि को फल रहित या सहित मानने मे दोषारोपण]

प्रकारातर से यह भी प्रश्न होता है कि वह विधि फल रहित है या फल सहित ?

फल रहित कहो तो नियोग के समान ही प्रवर्तक नहीं होगी । अर्थात् आपके मत से नियोग फल शून्य होने से ही प्रवर्तक नही है अत वेदवाक्य का अर्थ भी नही है ।

विधिवादी—हमारे यहां पुरुषाद्वैतवाद मे कोई भी किसी—वेदवाक्य प्रकार से प्रवर्तक है ही नहीं ।

भाट्ट—तब तो सर्वथा अप्रवर्तक विधि वेदवाक्य का अर्थ है यह भी कैसे कहा जावेगा ? अन्यथा—अप्रवर्तक होते हुये नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा और उस प्रकार से द्रष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि वाक्यो से ब्रह्मरूप आत्मा का दर्शन श्रवण अनुमनन और ध्यान करने मे प्रतिपत्ता—मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी पुन उन वेदवाक्यो का अभ्यास भी किसलिये किया जावेगा ? अर्थात् द्रष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि वाक्यों से परमब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन श्रवण ध्यान करना आदि प्रवृत्ति रूप ही तो है पुन विधि को फल रहित या अप्रवर्तक मानने पर तो उपर्युक्त प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकेगी ? यदि विधि को फलसहित मानो तब तो फलार्थी होने से ही लोक की प्रवृत्ति सिद्ध है पुन विधि को प्रवर्तक कहना नियोग के कथन के समान व्यर्थ ही हो जाता है । तथापि—अप्रवर्तक होने पर भी यदि आप विधि को वेदवाक्य का अर्थ कहोगे तब तो नियोग भी वाक्य का अर्थ क्यो नही होगा ? अर्थात् प्रमाण और प्रमेयादि अनेक विकल्पो के निरसन द्वारा विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा सिद्ध नही हुआ फिर भी विधिवादी यदि हठपूर्वक विधि को वेदवाक्य का अर्थ मान ही लेवे तो नियोग भी वेद वाक्य का अर्थ क्यो नहीं होगा ?

---

१ विधि पक्ष वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्म —अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत् । २ अत्राह विधिवादी ।—कश्चिद्विधि कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्तको न स्यात् । ३ अन्यथा । ४ अप्रवर्तकत्वेन । ५ ब्रह्मणि । ६ किंप्रयोजनक । द्रष्टव्येत्यादि । विधि प्रवर्तक इति प्रतिपादनम् ।

---

(1) वाक्यात् ।

¹विधिकथनं नियोगकथनवत् । तथापि² विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न भवेत् । ¹ पटादिवत्² ³पदार्थान्तरत्वेना⁴प्रतिभासना⁵न्नियोज्य⁶मानविषय⁷नियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानाच्च नियोगो ⁶वाक्यार्थ इति चेत् ⁷तदितरत्रापि समानम् —विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्—विधाप्य⁸मानविषय⁹ विधायक¹⁰धर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च ।

विधिवादी— नियोग वस्त्रादि (या घटादि पाठ भेद भी है) के समान भिन्न रूप होने से प्रतिभासित नहीं होता है और नियोज्यमान पुरुष के यागादि विषय मे अग्निष्टोमेन इत्यादि नियोक्ता के धम रूप से व्यवस्थित न होने से नियोग वेदवाक्य का अथ नही हो सकता है । अर्थात घट श द से जसे पृथु बुध्नो दराकार-गोलमटोल रूप घट अन्य ही प्रतीति में आता है वसे ही अग्निष्टोमादि वाक्य से अ य रूप नियोग प्रतीति में नही आता है । इस रीति से अप्रवर्तक स्वभाव में भी विधि ही वाक्य का अथ है नियोग है ऐसा नियम है । यहा "घटवत यह दृष्टात व्यतिरेक मे है ।

भाट्ट—यह बात तो आपके विधिपक्ष में भी समान ही है—विधि भी घटादि के समान भि न होने से प्रतिभासित नहीं होती है सर्वं व खल्विद ब्रह्म इत्यादि वाक्य से विधीयमान—यागादि रूप विषय विधायक—आत्मा के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से वह विधि भी वेदवाक्य का अथ नही हो सकती है ।

भावार्थ—अद्वैतवादी का कहना है कि जस आत्मा से भि न कल्पित किये गये घट पटादि पदाथ भिन्न २ प्रतिभासित होते हैं व से न तो भिन्न पदार्थ रूप से नियोग ही प्रतिभासित है न वेदवाक्य रूप नियोग से नियुक्त हुये श्रोता पुरुष ही प्रतिभासित हैं और न यज्ञ आदि विषय का धम रूप नियोग ही प्रत्यक्ष है अत 'भिन्न पदार्थ रूप हेतु' से एव श्रोता पुरुष के यज्ञादि विषय मे नियोक्ता (वेदवाक्य) के धम रूप हेतु से इन दोनो ही हेतुओ से नियोग प्रतिभासित नही है अत वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है । इस पर भाट्ट कहता है कि इसी आक्षप का हम आपके ऊपर भी आरोप कर सकते

१ अप्रवर्तकत्वेपि । यद्यपि प्रमाणप्रमेयाद्यनेकधा विकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो बलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत् ? इत्याशय । २ व्यतिरेकदृष्टा त । विधिवाद्याह ।— यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रयमाणपुरुषविषयप्ररकधमरूपेण घटादि प्रतिभासते तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो न भवति । ३ भिन्न वेन । ४ पुरुष । ५ यागादि । ६ अग्निष्टोमेत्यादि । ७ विधिपक्षे । ८ विधिर्न वाक्यार्थं इत्यादि । ९ अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमान । सर्व वै खल्विद ब्रह्मेत्यादिवाक्याद्विधाप्यमान । १ यागादिरूप । ११ आत्मा ।

(1)घटादिवत् इति पा । यथा घटशब्दात्पृथुबुध्नोदराकाररूपो घटोऽन्य प्रतीयते तथाग्निष्टोमादिवाक्यादन्यो नियोग प्रतीयते इति नियामकमनया रीत्याप्रवर्तकस्वभावेऽपि विधिरेव वाक्यार्थो न नियोग । घटवदिति व्यतिरेकदृष्टात । (2) नियोगो वाक्यार्थो न भवेदत कारणात् (3) नियुज्यमान इति पा० । (4) अग्निष्टोमेत्यादि । (5) दूषण ।

[अधुना जनमतमाश्रित्य भाट्ट विधिवादिनं दूषयति]

'यथैव[1] हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽन[3]नुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वाद्— अन्यथा[1] तदनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्[4]—'कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्[2]। 'असिद्धरूपतायां[3] वाऽनियोज्यत्वविरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत्। [4]सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण[5] वा नियोज्यतायामेकस्य पुरुषस्य[6] सिद्धासिद्धरूप[7]सङ्कराान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः। 'तद्रूपा

हैं। अर्थात् आपका परमब्रह्म भी घट पटादि के समान पुरुष से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता है तथा विधान करने योग्य दर्शन श्रवण मनन आदि या द्रष्टव्य विषय का धर्म अथवा ब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों के द्वारा भी विधिरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकती है अतः आपके द्वारा मान्य वेदवाक्य का विधि अर्थ भी सिद्ध नहीं हो पाता है।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है]

जिस प्रकार से नियोज्य पुरुष का नियोगधर्म में अनुष्ठेयपना न होने से अकर्तव्यता है क्योंकि नियोग की सिद्धि है। अन्यथा उसके अनुष्ठान के उपरम समाप्ति का अभाव ही हो जावेगा क्योंकि उसका कुछ भी रूप असिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि सिद्ध रूप नियोग की कर्तव्यता है तब तो नियोग को करने में अनवस्था का प्रसंग आता है क्योंकि उस नियोग में कोई भाग असिद्ध नहीं है।

यदि कहो कि असिद्ध रूप भी नियोग नियोज्य है तब तो वंध्या के पुत्रादि भी नियोज्य हो जावेंगे किन्तु ऐसा तो है नहीं लोक में विरोध देखा जाता है। सिद्ध रूप से पुरुष रूप से नियोज्य को मानने पर अथवा उसी को असिद्ध रूप से नियोज्य कहने पर तो सर्वथा निरंश रूप एक पुरुष में सिद्ध और असिद्ध दो रूप से संकर दोष आ जावेगा। पुनः नियोज्य और अनियोज्य रूप से विभाग ही सिद्ध नहीं हो सकेगा।

---

१ एतदेव क्रमेण विव्रियते। २ अतो नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति। ३ अकर्तव्यता। ४ सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसंगः—यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागो असिद्धो नास्ति। ५ पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह कस्यचिदिति। ६ असिद्धरूपोपि नियोगः नियोज्यो भवतीति चेत्तदा वन्ध्यास्तनन्धयादेरपि नियोज्यत्वप्रसंगः। तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात्। ७ नियोगस्यैकरूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यतायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योऽयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति। अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति। कस्मात्? उपकाराकरणात्। ८ तद्रूपासंकरे एव भेदप्रसंगादिति वा पाठः।

---

(1) पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह। (2) पुरुषस्य। (3) वा नियोज्यत्वविरोधात्। इति पा। तद्रूपं प्रतिभाति। (4) पुरुषरूपतया। (5) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यसिद्धरूपेण। (6) सर्वथा निरंशस्ये स्वर्ग। (7) अभेद।

सङ्करे वा[१] [1]भेदप्रसङ्गादात्मन[2] सिद्धासिद्धरूपयो सम्बन्धाभावोनुपकारात् । उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे[२] नित्यत्वहानि । तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य[3] सर्वथोपकार्यत्व व्याघात । असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्ग । सिद्धासिद्धरूपयोरपि[4] कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्था[३]नुषङ्गादित्युपालम्भ[४] ।

[भावनावादिना भाट्टेन प्राग्यथा नियोगवादो निराकृतस्तथैवाधुना विधिवादोपि निराक्रियते]

[५]तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे [६]विधावपि सिद्धस्य पुसो दर्शनश्रवणानमननध्यानवि

अर्थात् नियोग का एक रूप सिद्ध है अन्य रूप असिद्ध है सिद्ध रूप से नियोज्य मानने पर वही नियोग असिद्ध रूप से अनियोज्य हो जाता है । इस प्रकार से एक पुरुष मे सिद्ध असिद्ध रूप का मिश्रण हो जाने से यह नियोज्य है और यह अनियोज्य है ऐसा भेद सिद्ध नही हो सकेगा । अथवा उन दोनो रूपो का मिश्रण न होने पर भेद घटित हो जाने से आत्मा मे पर पर मे सिद्धासिद्ध रूप सबध नही रहेगा ।

अथवा उन रूपो का सकर न होने पर भेद का प्रसग आ जाने से आत्मा के सिद्ध असिद्ध रूप मे संबंध का अभाव है क्योकि कोई भी उपकार सबध नही है और यदि आप उपकार की कल्पना करोगे तो उन सिद्ध और असिद्ध के द्वारा आत्मा का उपकार मानने पर आत्मा के नित्यत्व की हानि हो जावेगी । एव उन दोनों सिद्ध असिद्ध रूप नियोगो पर आत्मा के द्वारा उपकार मानने पर जो सिद्ध रूप है उसके तो सर्वथा उपकारपने का विरोध आता है । तथा असिद्ध रूप का भी उपकार मानने पर आकाश फूल आदि के भी उपकारित होने योग्य का प्रसग आ जावेगा । अर्थात् आत्मा सिद्ध रूप का उपकारक है या असिद्ध रूप का ' इन दो विकल्पो को उठाकर उन दोनो में दोष दिखाया है ।

सिद्धासिद्ध रूप नियोग को भी कथचित् असिद्ध रूप स्वीकार करने पर प्रकृत के उपयुक्त प्रश्न दूर नहीं किये जा सकेंगे प्रश्नो की अनवस्था ही आ जावेगी ।

[पूर्व मे भावनावादी भाट्ट ने जसे नियोग का खण्डन किया है उसी प्रकार स विशेषरूप स अब विधिवाद का भी खण्डन करता है]

भाट्ट—जिस प्रकार से नियोग पक्ष मे दूषण आते हैं तथव विधाप्यमान—जिसके लिए विधि की जाव अर्थात् अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इस वाक्य के द्वारा जिसके लिये यज्ञ का विधान किया गया है

---

१ आत्मन सकाशात् सिद्धासिद्धरूपयोभेदप्रसङ्गात् । २ ताभ्या सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषण स्यात् ? आत्मनो नित्यत्वहानि । ३ प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम् ? अनवस्थानाम दूषण स्यात् । ४ अत्र प्रभृति नियोगखण्डनवद्विधे खण्डन करोति भावनावादी । ५ यथव हीत्यादिनियोगपक्ष । ६ अवश्यकरणीयदर्शनश्रवण मननादिरूपे ।

---

(1) आत्मन सकाशात्सिद्धासिद्धरूपयोभेदप्रसगादित्यर्थ । (2) ता (3) आत्मा सिद्धरूपस्यापकारकोऽसिद्धरूपस्य वेति विकल्पद्वयं कृत्वा निराचष्टे । (4) किंचित् इत्यपि पाठ प्रतिभाति ।

धातविरोध[1]। [2]तद्विधाने वा सवदा [3]तदनुपरतिप्रसक्ति। दशनादिरूपेण [4]तस्यासिद्धौ [4]विधानव्याघात कूर्मरोमादिवत्। सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धि । तद्रूपासङ्करे वा भेद प्रसङ्गादात्मन[5] सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्सब धाभावादि दोषासङ्ग[6]नस्याविशेष । [7]तथा विषयस्य

ऐसे उस पुरुष के विधि (अवश्यकरणीय दशन श्रवण मननादि) रूप धर्म मे भी परमब्रह्म रूप सिद्ध पुरुष के दर्शन श्रवण अनुमनन ध्यान के विधान का विरोध आता है।

अथवा उस सिद्ध पुरुष के भी यज्ञ करने का विधान मान लेने पर हमेशा उसके यज्ञ करने की उपरति नही हो सकेगी एव उस विधि रूप ब्रह्म को असिद्ध मानन पर उसके दशन श्रवण आदि के विधान का विरोध हो जाता है। जसे कम रोमादि है नही तो उससे वस्त्रादि बनान का विरोध ही है एव सिद्ध रूप से विधाप्यमान—ब्रह्म का विधान करन पर और उसी का असिद्ध रूप से विधान न करने पर सिद्धा सिद्ध रूप का सकर हो जान से विधाप्यमान और अविधाप्यमान रूप विभाग की सिद्धि नही हो सकेगी। अथवा उन दोनो रूपो का सकर न मानन से भेद का प्रसग आ जान पर आत्मा से सिद्धासिद्ध का सबध न हो सकना आदि दोषो का प्रसग समान ही है।

भावार्थ— यहा पर भाट्ट विधिवादी को दूषण देते हुये कहते हैं कि जसे आप विधिवादी नियोग मे दूषण देते हो वसे ही आपके यहा विधिवाद मे भी दूषण समान ही है। अर्थात् जसे प्रभाकर का मान्य नियोग नियोज्य पुरुष का धम तथा याग लक्षण विषय का धम एव नियोक्ता शब्द का धम नही हो सकता है वसे ही विधि भी विधीयमान पुरुष का धम तथा विधेय विषय का धम एव विधायक शब्द का धर्म नही हो सकता है। देखिये! जिस प्रकार नियुक्त होने योग्य पुरुष का धर्म यदि नियोग माना जावे तो आप अद्वतवादियो ने प्रभाकर के ऊपर अनुष्ठान नही करने योग्य आदि दोषो का आरोप किया है मतलब नियुक्त होने योग्य पुरुष अनादिकाल से स्वत सिद्ध है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूवकालो से सिद्ध है और यदि सिद्ध हो चुके पदाथ का अनुष्ठान माना जावगा तो अनुष्ठान का कभी भी अत ही नही हो सकेगा कृत का पुन करना होते रहने से पुन पुन उसी किये हुये को करते चलिये चर्वित का चबण अनंत काल तक करते रहिये। अत यही अच्छा है कि बन चुके को पुन न बनाया जाव। नित्य पुरुष के धर्म रूप नियोग का कोई भाग असिद्ध तो है नहीं। हा! यदि किसी असिद्ध रूप को नियुक्त होने योग्य माना जावेगा तब तो सवथा असिद्ध वध्यापुत्र अश्वविषाण आदि को भी नियोज्य मानना पडगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म नियोग किसी एक सिद्ध रूप से नियोज्य एव किसी एक असिद्ध रूप से अनियोज्य

१ तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा। २ अविश्रान्तिरनवस्था वा। ३ विधे। ४ यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य। ५ सकाशात्। ६ अनुषङ्गस्य। ७ हे विधिवादिन्!

(1) अनुष्ठेयतेत्यर्थ।

है तब तो एक ही आत्मा मे दोनों का सकर हो जाने से नियोज्य और अनियोज्य रूप दो प्रकार का विभाग भी नहीं हो सकेगा। यदि सिद्ध असिद्ध इन दोनो रूपो का आत्मा मे सकर न मानो तब तो इन दोनो स्व भावो से अभिन्न एक आत्मा के भेद का प्रसग आ जावगा अथवा नित्य आत्मा से ये दोनो रूप पृथक् हो जावेंगे ऐसी दशा में ये दोनो सिद्ध असिद्ध रूप आत्मा के हैं ऐसा नियामक बताने वाला कोई सबध आपके यहां है ही नहीं क्योंकि राजा का पुरुष गरु का शिष्य या पुरुष का राजा शिष्य का गरु यहा परस्पर मे आजीविका देना चाकरी देना पढ़ाना सेवा करना आदि उपकार करने से स्वामी भृत्य सबध गरु शिष्य सबध राजा प्रजा सबध माने जाते है किन्तु उपकार नही होने से उन सिद्ध असिद्ध रूप और कटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नही हो पाता है।

यदि उपकार की कल्पना करो तो प्रश्न यह होता है कि इन सिद्ध असिद्ध दोनो रूपो से आत्मा के ऊपर उपकार किया जाता है या आत्मा के द्वारा दो रूपो पर उपकार किया जाता है ? प्रथम विकल्प मानो तो आत्मा नित्य नही माना जा सकेगा क्योकि जो उपकृत होता है वह काय होता है और कार्य अनित्य ही होता है। यदि दूसरे विकल्पानुसार सिद्धासिद्ध रूपो पर आत्मा के द्वारा उपकार मानो तब तो जो सिद्ध रूप हो चुका है उसमे उपकार को धारण करने योग्य कोई अश शेष नही है। यदि दूसरे असिद्ध रूप को भी उपकार प्राप्त करने योग्य माना जावे तब तो आकाश पुष्प आदि भी उपकार झेलने वाले हो जायेंगे। यदि कथचित् सिद्धासिद्ध रूप कहो तो उपयु क्त दोषो की ही अनवस्था चलती रहेगी। इस प्रकार से विधिवादी ने नियोगवादी पर दूषण दिया है अब भाट्ट इ ही सभी दूषणो को विधिवादी पर आरोपित करते हैं।

देखिये ! विधान कराये जा रहे पुरुष का धम विधि है और परिपूर्णतया सिद्ध हो चुका श्रोतापुरुष भी नित्य है वह नित्य पुरुष परमब्रह्म का दशन श्रवण आदि कसे कर सकेगा क्योकि जो पहले दशन आदि से रहित है वह परिणामी पदार्थ ही दशनादि का विधान अनुष्ठान कर सकता है नित्य कृतकृत्य नहीं हैं। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी दशन श्रवणादि का विधान करेगा तो सवदा ही उन दशन मनन आदि से विराम नही हो सकेगा क्योकि दो-चार बार दशन कर चुकने पर भी पुन पुन सिद्ध हो चुके पुरुष भी यदि दर्शनादि मे प्रवृत्ति करते रहेगे तो पूववत् चर्वित चवण ही होता रहेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म रूप जो विधि है उसका दर्शन श्रवण आदि स्वरूप असिद्ध नही है तब तो कछुवे के रोम के समान उस असिद्ध स्वरूप आदि से असत् रूप विधि का विधान नही हो सकेगा। यदि उस विधि को सिद्ध असिद्ध ऐसे दो रूप मानोगे तब तो एक ही परम ब्रह्म सिद्ध रूप होने से विधान करने योग्य होगा और असिद्ध रूप से विधान के योग्य नही होगा तो सकर दोष आ जावेगा एव विधान करने के योग्य अयोग्य का विभाग नहीं हो सकेगा। तथा एक ब्रह्म मे स्वरूप संकर न मानने से दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जावेगा एव सर्वथा भिन्न सिद्धासिद्ध दोनो रूपो का आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नही बनेगा। यदि उपकार की कल्पना करोगे तब तो पूववत् दोष आते ही

यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् [1]स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्य त्वस्य [2]विधावपि [3]विषयधर्मे समानत्वात्कुतो [4]विषयधर्मो विधि ? [5]पुरुषस्यैव [1]विषय तयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य[7] च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य विधेरसम्भव इति चेत [8]तर्हि यजनाश्रयस्य [2]द्रव्यादे सिद्धत्वात्तस्य[10] च विषयत्वात्कथ तद्धर्मो नियोगोपि न सिद्ध्येत ? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति तदनुष्ठानाभावे[11] [3]विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधे कथमनुष्ठानम् ?

रहेंगे। अत नियोग के समान आपका ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध नही हो सकता है। यहा नियोगवादी के ऊपर विधि वादी के द्वारा कटाक्षवर्षा किये जाने पर भट्ट मीमासको ने विधिवादी को आड हाथ लिया है एव श्लोकवार्तिकालकार में आचार्यों ने नियोगवादी की ओर से विधिवादी के ऊपर दोषारोपण किया है।

तथा हे विधिवादिन् ! यदि आप नियोगवादी को ऐसा कहे कि यागलक्षण विषय का नियोग रूप धम मानने पर उसके परिनिष्पन्न होने से उसके स्वरूप का अभाव ही है अत वाक्य के द्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है तब तो यह बात विषय के धम रूप विधि मे भी समान है अत विषय का (आत्मा का) धम विधि है यह बात कसे सिद्ध होगी ?

विधिवादी—पुरुष ही विषय रूप से अवभासित होता है क्योकि वह विषय है और वह पुरुष निष्पन्न है इसलिये उस पुरुष का धम विधि है यह कथन असभव नही है।

भाट्ट—तब तो यजन—यज्ञ के आश्रयभूत द्रव्यादि सिद्ध है और वे विषय भी है। पुन उन द्रव्यादिक का धम भी नियोग है यह बात भी क्या नही सिद्ध हो जावेगी ? क्योकि जिस रूप से विषय रहता है उस रूप से उसका धम नियोग भी रहता है यदि कहो कि उस नियोग के अनुष्ठान का अभाव है तब तो विधि का विषय जिस रूप से है उस विषय के धम रूप विधि का भी अनुष्ठान कसे हो सकेगा।

विधिवादी—जिस अश—दशन आदि रूप से विधि नही है उस अश से विधि का अनुष्ठान घटित होता है।

भाट्ट—ऐसा अनुष्ठान तो नियोग मे भी समान है।

भावार्थ—विधिवादी कहते हैं कि यदि नियोग को याग स्वरूप विषय का धर्म माना जाता है तो मान लीजिये किन्तु वह यज्ञ अभी बनकर पूर्ण तो हुआ नही है। उपदेश सुनते समय तो उस यज्ञ का स्वरूप है ही नही पुन वेदवाक्य के द्वारा उसका निर्णय कसे हो सकेगा ? इस पर भाट्ट कहता है कि

---

१ प्रत्येतुमशक्यत्व कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपर प्रथम साधनम्। २ दूषणस्य। ३ अवश्यकरणीयदर्शनादौ। ४ दर्शनादि। ५ आत्मन धम। ६ विधिवादी। ७ पुरुषस्य। ८ अवश्यकरणीयदर्शनादे। ९ नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति। १० द्रव्यादे। ११ तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठान मा भूत्।

---

(1) दर्शनादिरूपेण। (2) पुरुष। रूपादि। (3) पुरुष।

[1]येनांशेन[1] [2]नास्ति [3]तेनानुष्ठानमिति [4]चेत् [5]तन्नियोगेपि समानम् । [6]कथमसन्नियोगोनुष्ठीयते—अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवदिति [7]चेत्तत एव विधिरपि नानुष्ठेय । प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया[8] चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेन्नियोगोपि [9]तथास्तु ।[10] न चानुष्ठेय[11]तयैव[3]

'दृष्टव्योरेऽयमात्मा' इत्यादि वाक्य के सुनने के अवसर पर जब दर्शन श्रवण है ही नही तब उनका धर्म विधि भी विद्यमान नही है पुन उस असदभूत विधि का अनुभव भी वाक्य के द्वारा कैसे हो सकेगा ? अत जैसे यज्ञ रूप विषय का धर्म नियोग सिद्ध नही है वैसे ही विधि भी सिद्ध नही है ।

इस पर विधिवादी कहता है कि—हम दर्शन श्रवण आदि को विधि का विषय नही मानते हैं किन्तु विषय रूप से प्रतिभासित परम ब्रह्म को ही हम विधि का विषय मानते है और पुरुष तो पहले से ही बना बनाया नित्य रूप सिद्ध है इसलिये विधि को पुरुष रूप विषय का धर्म मानना ठीक ही है। इस पर पुन भाट्ट कहता है कि तब तो नियोगवादियो के यहा यज्ञ पूजन आदि के अधिकरण रूप द्रव्य आत्मा पात्र, स्थानादि पदार्थ भी पहले से ही सिद्ध हैं अत उन द्रव्य आदिको का विषय होने से नियोग भी क्यो नहीं सिद्ध हो जावेगा ? पुनरपि विधिवादी आरोप उठाता है कि जिस रूप से द्रव्यादि विषय पहले से विद्यमान हैं उसी रूप से उनका धर्म नियोग भी पहले से ही मौजूद है अत बन चुके सिद्ध रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ?

इस पर भाट्ट कहता है कि परमब्रह्म का विषय भी जिस रूप से विद्यमान है उसी स्वरूप से उसके धर्म रूप विधि का भी सद्भाव है अत उसका विधान भी कैसे किया जा सकेगा ? यदि आप कहे कि जिस स्वरूप से विधि अविद्यमान है उस रूप से उसका अनुष्ठान होता है तो नियोग मे ऐसा ही समझिये कि जिस अंश से नियोग विषयी अविद्यमान है उसी अंश से कर्मकाडी मीमासक उसका अनुष्ठान करते हैं।

विधिवादी—असत् रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जायेगा क्योकि वह तो अप्रतीयमान है खर विषाण के समान ।

भाट्ट—उसी हेतु से विधि भी अनुष्ठेय नही हो सकेगी ।

विधिवादी—वर्तमान काल मे विधि प्रतीयमान होने से प्रतीत हो रही है किन्तु दर्शन श्रवण आदि अनुष्ठेय रूप से असिद्ध रूप है अतएव वह विधि अनुष्ठेय है । अर्थात् भविष्यत्काल मे उस विधि का विधान करना योग्य है ।

---

१ अत्र विधिवादी वदति । २ विधिर्नास्ति । ३ विधे करणं घटते । ४ अनुष्ठानम् । ५ विधिवादी । ६ उत्तरम् । अप्रतीयमानत्वादेव । ७ विधिवादी । ८ दर्शनश्रवणादिरूपतया । ९ विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठ्यो भवतु । १ विधिवादी भावनावादिनं प्रति । ११ कर्तव्यतया ।

---

(1) दर्शनादिना । (2) उत्तर । (3) करणीयतया एव ।

नियोगोवतिष्ठते[1] न प्रतीयमानतया तस्या [2]सकलवस्तुसाधारणत्वात् । [3]अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोन्यो [1]नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत् तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति[4] किंतु [2]विधीयमानतया[5] । सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य

भावनावादी—तब तो नियोग को भी ऐसा ही मानो क्या बाधा है ?

विधिवादी—अनुष्ठेय-कर्त्तव्य रूप से ही नियोग है किन्तु प्रतीयमान रूप से नहीं है क्योंकि वह सकल वस्तुओं में साधारण रूप से है। और प्रश्न यह होता है कि उस नियोग की अनुष्ठेयता—कर्त्तव्यता प्रतिभात है या अप्रतिभात ? यदि प्रतिभात है तो प्रतिभास के अंतः प्रविष्ट ही है। यदि अप्रतिभात है तब तो उसकी अवस्थिति ही नहीं है इसलिये कर्त्तव्यता यदि प्रतिभात है तब तो नियोग नाम की अन्य क्या चीज है कि जिसका अनुष्ठान होवे ?

भावनावादी—तब तो विधि भी प्रतीयमान रूप से व्यवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती है किंतु विधीयमान रूप से ही व्यवस्थित हो सकती है क्योंकि वह भी सकल वस्तु में साधारण रूप से है। अन्यथा अन्यापोह को भी विधिरूप का प्रसंग आ जावेगा। यदि कहो कि वह अनुभूत है तो विधि अन्य और क्या चीज है कि जिसका विधान उपनिषद वाक्य से आप वेदांती सुन लेते हैं।

भावार्थ—यदि विधिवादी कहे कि कुछ अंश रूप से असत् नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सत् रूप नहीं है और गगनकुसुमवत् जिसकी प्रतीति ही नहीं है उसका अनुष्ठान असंभव है। तब यह दोष तो आप अद्वैतवादी पर भी लागू हो जाता है क्योंकि आपने भी विषय के असद्भूत अंश वाली विधि का ही अनुष्ठान माना है। यदि आप कहें कि हमारे यहां विधि की प्रतीति हो रही है अतः उस विधिरूप ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है पुनः उसके अनुष्ठान में क्या बाधा है ? तब तो हम भाट्ट भी ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर के यहां वह नियोग भी प्रतीति में आ रहा है वे भी उसको अनुष्ठान करने योग्य मानते हैं।

इस नियोग की पुष्टि के कथन पर पुनरपि विधिवादी अपना ही पक्ष पुष्ट करते हुये कहते हैं कि नियोग अनुष्ठान करने योग्य तो है किंतु उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि केवल वह अनुष्ठेयता मात्र तो संपूर्ण वस्तुओं में सामान्य रूप से पाई ही जाती है और यदि वह अनुष्ठेयता आप प्रभाकर को प्रतिभासित हो चुकी है तब तो आपका यह कथित नियोग भी प्रतिभास के अंतरंग में प्रविष्ट हो जाने से नित्य ब्रह्म रूप ही सिद्ध हो गया समझना चाहिये। पुनः ब्रह्म से भिन्न दूसरा नियोग कुछ रहा ही नहीं कि जिससे आप उसके अनुष्ठान का विधान कर सकें और यदि आप उस नियोग को

१ अयं नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भवति । २ जुहुयादित्यादिष । ३ अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव । अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति । ४ तस्या सकलवस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः । ५ द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादिकर्त्तव्यतया ।

(1) वाक्यात्प्रतीयमानः । (2) अन्यथान्यापोहस्यापि विधित्वप्रसंगात् ।

विधानमुपनिषद्वाक्यादनुकर्ण्यते[1] । [1]ननु द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिक विहित[2] ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधि कथमपाक्रियते[4] ? [5]किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये

प्रतिभासित नहीं मानोगे तब तो उसका अस्तित्व ही नही रहेगा क्योकि हम अद्वैतवादियो के यहाँ तो नर प्रतिभासते पट प्रतिभासते इत्यादि रूप से मनुष्य घट पट आदि सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म स्वरूप बनाकर ब्रह्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आकाश के समान विशाल उदर वाला सबसे सुदर प्रतिभासमानत्वात् हेतु मौजूद है जो कि सभी पदार्थों को बिना श्रम के ब्रह्म स्वरूप बना देता है तथाहि सर्वेऽपि चेतनाचेतनात्मकपदार्था प्रतिभासान्त प्रविष्टा संति प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत् अर्थात् सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभास रूप परम ब्रह्म के अत प्रविष्ट है क्योकि वे प्रतिभासित हो रहे है जसे कि प्रतिभास—ब्रह्म का स्वरूप उस ब्रह्म के ही अत प्रविष्ट है। इस कारण से नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभासित हो चुका है और जो प्रतिभासित हो जाता है उसकी वतमान काल मे प्रतीति नही होती है अत यदि आप ब्रह्माद्वैतवादी नही बनना चाहते हैं तब तो आप नियोग को अप्रतीयमान ही रहने दीजिए। इस पर भाट्ट अपने भाई नियोगवादी को सहारा देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार से आप की विधि का भी तो वतमान काल में अनुभव नहीं आ रहा है किन्तु वह वतमान मे विधीयमान विधान किए जाने रूप से ही जानी जाती है क्योकि वह विधीयमानता भी तो सभी पदार्थों मे साधारण रूप से पाई जाती है और जब विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका है तो फिर उससे अन्य कौन सा अश विधि नाम का शेष रह गया है कि जिसका 'दृष्टव्योरेयमात्मा इत्यादि वाक्यो से विधान कराया जा सके इसलिए विधि भी अप्रतीयमान है ऐसा मान लेना चाहिए अन्यथा उसका विधान नही किया जा सकेगा। इस प्रकार से भाट्ट ने विधिवादी पर दोषारोपण किया है। यहा पर अनुष्ठेयता भविष्यत्कालीन है प्रतीयमानता वतमान कालीन है एवं प्रतिभासित्व भूतकाल का वाचक है इस प्रकार से कालो का व्यतिकर (भेद) दिखलाते हुए विद्वानों का अच्छा सघर्ष हो रहा है।

विधिवादी— दृष्टव्यादि वाक्यो से आत्मदर्शनादि अवश्यकरणीय कहे गए है क्योकि मम इद कर्तव्य यह मुझे करने योग्य है इस प्रकार से प्रतीति होती है अत विधि प्रतिक्षप—निषेध के योग्य नहीं है पुन नियोगवादी प्रभाकर उसका निराकरण कसे करते हैं ?

भाट्ट—तो क्या विधि की प्रतीति के समय अग्निहोत्रादि वाक्य से यज्ञादि के विषय में मैं नियुक्त हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं आती है कि जिससे नियोग का खडन आप करते हैं। अर्थात आप नियोग का खंडन भी नहीं कर सकेंगे।

---

१ वेदान्तवादिना। २ विधिवादी। ३ अवश्यकरणीयम्। ४ प्रभाकरेण। ५ विधै प्रतीतिकाले।

---

(1) उपवर्ण्यते इति पा।

नियुक्तोहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोग प्रतिक्षिप्यते ? सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत् विधिप्रतीति कथमप्रमाण न स्यात ? विधिप्रतीते पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाण मा भूत—सर्वथाप्यविशेषात्[1]। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भव । [1]शब्दस्य[2] [3]विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतु शक्यम्[4]—नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावात्

विधिवादी—वह प्रतीति अप्रमाण है।

भाट्ट—पुन विधि की प्रतीति भी अप्रमाण क्यो नही हो जावे ?

विधिवादी—विधि की प्रतीति तो पुरुष के दोष से रहित अपौरुषेय वदवाक्यो से उत्पन्न होती है है अत प्रमाण है।

भाट्ट—उसी हेतु से ही नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण मत होव सर्वथा भी दोनो मे समानता है अर्थात् विधि की प्रतीति और नियोग की प्रतीति दोनो भी अपौरुषेय वदवाक्यो से उत्पन्न होती हैं अत दोनो ही प्रमाण हो सकती हैं दोनो मे कोई अतर नही है फिर भी यदि आप कह कि नियोग विषय का धर्म नही है तो विधि भी विषय का धर्म नही है।

भावार्थ—विधिवादी कहता है कि दृष्ट य मन्तव्य सोह इत्यादि वाक्यो से मुझको आत्मदर्शनादि की विधि हो चुकी है अत उसका खडन नही किया जा सकता है इस पर भाट्ट कहता है कि अग्निहोत्र विश्वजित आदि यज्ञो के कहने वाले वाक्यो से मैं यज्ञादि विषयो मे नियुक्त हुआ हूँ इस प्रतीति को आप अप्रमाण ही कह सकते है यदि आप विधिवादी कह कि राग द्वेष अज्ञानादि दोषा से रहित अनादि अनिधन वदवाक्यो से उत्पन्न हुई विधि प्रमाणभूत है तब तो अपौरुषेय वदवाक्यो से ही तो प्रभाकर नियोग को प्रमाण मानता है। यहाँ तक तो नियुक्त होने योग्य पुरुष को नियोग कहना या यज्ञ स्वरूप पुरुष के धम को नियोग कहने मे आप विधिवादी जो बाधा देते है आपके यहाँ भी विधि कराने योग्य—पुरुष को विधि कहने मे या विधेय के धम को विधि ब्रह्मरूप करने मे व ही बाधायें सामान रूप से आ जाती हैं अत नियोग और विधि मे यहा तक सपूर्ण अशो मे सदश दोषारोपण किया गया है।

विधिवादी—शब्द—विधायक का धम विधि है।

भाट्ट—यह निश्चय करना भी शक्य नही है अन्यथा नियोग भी नियोक्ता शब्द का धम हो जावेगा उसका आप अभाव नहीं कर सकेंगे शब्द तो सिद्ध रूप है पुन उनका धम नियोग असिद्ध कसे रहेगा कि जिससे यह वेदवाक्य से अनुष्ठेय है ऐसा प्रतिपादन किया जा सके। ऐसा भी नही मानना चाहिए क्योकि

१ विधिप्रतीतिनियोग प्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात्। २ विधिलक्षणार्थप्रतिपादकस्य। ३ विधिवाद्याह।—विदधातीति विधायको द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादिवाक्यरूप शब्दस्तस्य धर्मे विधिरपि विधायक इति। ४ अन्यथा।

(1) दृष्टव्योरेयमित्यादिकस्य।

नुष्यते । शब्दस्य [1]सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोग कथमसिद्धो येनासौ [2]सम्पाद्यते [3]कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम[2]—विधिसम्पादनविरोधात्—तस्यापि[1] सिद्धोपनिषद्वाक्य धर्मत्वाविशेषात् । [4]प्रसिद्धस्यापि[3] सम्पादने पुन पुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात्[4] कथमु पनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता—तदपूर्वार्थताविरहात्स्मतिवत्[5] । तस्य वा प्रमाणत्वे नियोग वाक्यं प्रमाणमस्तु—विशेषाभावात् ।

विधि में भी ऐसा प्रतिपादन करना विरुद्ध है वह विधि का सपादन भी प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य का धर्म है दोनो जगह कोई अन्तर नहीं है । प्रसिद्ध—निष्पन्न को भी सपादित करन मे पुन पुन उसके सपादन की प्रवत्ति का विराम अभाव ही नही होगा पुन उपनिषद्वाक्य में प्रमाणता कसे आवगी क्योकि वह अपूर्वार्थपन से रहित हैं जैसे कि स्मति अपूर्वार्थ का प्रतिपादन नही करती है अथवा उसको प्रमाण मानोगे तो नियोग वाक्य को भी प्रमाण मानो कोई अतर नही है ।

भावार्थ—अब तीसरे प्रकार से विधायक शब्द के धम को विधि मानने पर नियोजक श द के धम को भी नियोग कहना पडगा इसका स्पष्टीकरण करते है कि दृष्टव्योरे यमात्मा इत्यादि वाक्यो के द्वारा विधायक शब्द के धर्म को विधि कहने पर तो अग्निष्टोमेन यजेत स्वगकाम इ यादि वाक्यो के द्वारा नियोक्ता शब्दों के धर्म को भी नियोग मानना पडगा । इस पर विधिवादी यो कहता है कि शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमासको के भाई आप प्राभाकरो के यहा श द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है अत उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कसे रहेगा कि जिससे उस नियोग को कमकाड वाक्यो के द्वारा कोई भी श्रोता संपादित कर सके । इस पर भाट्ट का कहना है कि आप विधिवादी के यहाँ भी अनादि काल से परिपूर्ण सिद्ध वैदिक उपनिषद् वाक्यो का धम विधि है इस मा यता में भी वेदवाक्य का धम विधि भी नित्य ही ठहरी । यदि सर्व अशो में परिपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुके पदाथ का भी सपादन करना माना जावेगा तो पुन सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जावेगा तो कभी भी अनुष्ठान का अ त ही नहीं हो सकेगा । इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अथ के ग्राही न होने से आत्म प्रतिपादक वदिक उपनिषद् वचनो को प्रमाणता नहीं आ सकती है । यहा पर स्मृति का दष्टात नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है क्योकि स्याद्वाद सिद्धात मे स्मृति को अपूर्वार्थग्राही मानकर प्रमाणीक माना है यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनो को प्रमाण मानेंगे तो नियो वाक्य भी प्रमाण हो जावगे ।

---

१ शब्दस्याग्निहोत्र जुहुयादित्यादि सिद्धरूप शब्दधम एव नियोग कथमसिद्धो यतो यागादि कत्तव्य स्यात् । २ वेद वाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते । ३ विधिसम्पादनस्य । ४ ज्ञातस्यापि । ५ वेदस्य उप समीपे निषदनमुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्यं पक्ष प्रमाण न भवतीति साध्यो धम तस्यापूर्वार्थताविरहात् । यथा स्मृति । यथा स्मृतेरपूर्वार्थ साप्रतिपादन नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यथ ।

---

(1) मु । (2) मन्यथा । (3) निष्पन्नस्यापि । (4) अनुपरमाकाङ्क्षाकारे ।

[विधेर्ग्राहकं वाक्यमप्रधानतया विधिं विषयीकरोति प्रधानतया वा ? इति विकल्पयोभय दूषयति]

किञ्च तद्विधिविषय वाक्य गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाण स्यात् ? यदि गुण-भावेन तदाग्निहोत्र जुहुयात्स्वगकाम इत्यादिरपि 'तादस्तु[1] —गुणभावेन[1] विधिविषयत्वस्य भावात्—'तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात—प्राभाकरश्च नियोगगोचर त्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात[2] । तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ[4] प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सवथाप्यसतो प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्त[5] । [3]सद्रूपतया[6] च तयोर्विधि [4]नान्तरीयकत्वसिद्ध सिदध गुणभावेन विधिविषयत्व वाक्यस्य[5] । इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कमकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत् । प्रधानभावेन विधिविषय चोदनावाक्य प्रमाणमिति

[विधि को ग्रहण करन वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनो विकल्पो का निराकरण ।]

दूसरी बात यह है कि उस विधि को विषय करने वाले वाक्य गौण भाव से विधि को ग्रहण करने मे प्रमाण है या प्रधान भाव से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो अग्निहोत्र जुहुयात् स्वगकाम इत्यादि वाक्य भी उस नियोग भावना रूप हो जावें क्योकि विधि का विषय गौण रूप से है । विधि मे हम भाट्टो ने भावना की प्रधानता से स्वीकार किया है और प्राभाकरो ने नियोग का विषय प्रधान माना है । वे भावना और नियोग असत् के विषय नही है न असत् रूप से प्रतीत ही हैं क्योकि सवथा भी असत् की प्रतीति मान लेने पर शशविषाणादि की प्रतीति और उनमे प्रवृत्ति होने लगेगी । सत् रूप से वह भावना और नियोग विधि से भिन्न नही है इसलिये वेदवाक्य विधि को गौण रूप से विषय करते है यह बात सिद्ध हो गई । अत अप्रमाणिकता का प्रसंग नही आता है जिससे कि कमकांड (क्रियाकाड) को पारमार्थिकपना न होवे अर्थात् कमकाण्ड पारमार्थिक ही सिद्ध हो जाते है यदि आप कहे कि हम द्वितीय पक्ष ले करके वेदवाक्य को प्रधान भाव से विधि को विषय करने वाला मानते हैं इसलिये वे प्रमाण है । यह कथन भी अयुक्त है क्योकि विधि को सत्यरूप मान लवेगे तब तो द्वत का प्रसग आ जावेगा । अर्थात् श्रोतव्य और श्रोता आदि के भेद से विधायक और विधेय से भी भेद होने से द्वत हो जावगा और यदि उस विधि को असत्य मानगे तब तो वह प्रधान नहीं हो सकेगी । तथाहि विधि प्रधानाभाव का अनुभव नहीं करती है क्योकि वह असत्य है

१ नियोगभावनास्तित्वम् । २ नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात् । ३ विधौ । ४ असतौ च तौ विषयौ च । ५ सवथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयो प्रतीतिप्रवृत्तिकयोरनुषङ्गात् । ६ भावना नियोगयोर्नान्तरीयकत्व (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्व वा) तस्य सिद्धघटनात् । ७ वेदवाक्य मुख्य विधिरपि मुख्य इति चेन्न—तथा —सति द्वताभावात् । * वध्यते इत्यपि पुस्तकान्तरे।

(1) विधौ प्रमाणत्वमस्तु । (2) प्रधानताङ्गीकरणात् । इति पा । (3) सद्रूपस्य ब्रह्मत्वस्य प्रतिपादनात् । (4) अस्तित्व । अविनाभाव । (5) अग्निहोत्रादे ।

वायुक्तम्—विधे[1] 'सत्यत्वे द्वैतावतारात्'। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथा[3] हि। यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति। यथा [2]तदविद्याविलासः। तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन [3]तद्विषयत्वोपपत्तिः। स्यान्मतम्।—न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूप

जो जो असत्य है वह वह प्रधानभाव का अनुभव नहीं करता जैसे उसकी अविद्या का विलास और उसी प्रकार से विधि असत्य है इसलिये प्रधानभाव से वह विधि वदवाक्य का विषय नहीं है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मरूप विधि को विषय करने वाला वाक्य गौण रूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है या प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण समझा जाता है? यदि गौण रूप से विधि को कहने वाला वाक्य प्रमाण हो जावे तब तो प्रभाकरों के यहाँ स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा यज्ञ को करे इत्यादि रूप से कर्मकांड के प्रतिपादक वचन भी प्रमाणिक हो जावेंगे क्योंकि इन अग्निहोत्रादि वाक्यों का अर्थ भी गौण रूप से विधि को विषय कर रहा है। इन कर्मकांड वाक्यों में प्रभाकरों ने नियोग अर्थ प्रधान माना है तथा भट्ट ने भावना अर्थ प्रधान माना है एवं प्रभाकर और भट्ट के द्वारा मान्य नियोग और भावना रूप अर्थ अभाव रूप नहीं है अथवा स्ववक्तव्य के द्वारा ये दोनों भावना और नियोग असत् पदार्थ की प्रतीति कराते हों ऐसा भी नहीं है अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये भावना और नियोग सत् रूप से (सत्सामान्य की अपेक्षा से) विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखते हैं इसलिये प्रभाकरों के द्वारा मान्य अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्य प्रमाणभूत ही सिद्ध हो जाते हैं अतः गौण रूप से विधि को कहने वाले इन प्रभाकरों के कर्मकांड वाक्य भी आप अद्वैतवादियों को प्रमाण मानने पड़ेंगे। यदि आप विधिवादी इन दोषों को दूर करने के लिये प्रधान रूप से विधि को विषय करने वाले वाक्य को प्रमाण मानो तब तो वाक्य का अर्थ विधि है ऐसा परमार्थ कथन मान लेने पर एक विधि और दूसरा ब्रह्म इस प्रकार से द्वैतवाद आ जाता है और उस श्रोतव्य, दृष्टव्य आदि रूप विधि को असत्य कहोगे तो विधि को प्रधानता नहीं रहेगी क्योंकि जो असत्य है वह प्रधान नहीं हो सकता है अतः यह विधि प्रधान रूप से भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं होती है।

विधिवादी—आपने विधि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझा ही नहीं है क्योंकि वह विधि ही व्यवस्थित है। प्रतिभास मात्र से पृथक् वह विधि घटादि के समान कार्यरूप से प्रतीति में नहीं आती है और वचनादि के समान प्रेरक रूप से भी वह जानी नहीं जाती है क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि की प्रतीति के मानने पर तो कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त हैं अन्यथा नहीं—अर्थात् कर्म

१ उपचरितत्वाभावे। २ श्रोतव्यश्रोतृ वादिभेदेन विधायकतया विधेयतया च। ३ अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतमवलम्ब्याह।— विधिः प्रधानभावं नानुभवति—असत्यत्वात्। यो योऽसत्यः इत्यादि।

(1) तव्यप्रत्ययविषय आत्मा विधिः। (2) सा प्रसिद्धा। (3) वाक्यस्य।

[1]भवता[1] [2]तस्यैव[2] [3]यतो व्यवस्थितत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग विधि कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्[4] प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्[5] । कर्मकरणसाधनतया हि [6]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकता[7]प्रत्ययो युक्तो नान्यथा ।

[वेदांतवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद समर्थयति]

किंतर्हि ? द्रष्टव्यो रेयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिश दश्रवणादव स्था तर[3]विलक्षणेन[8] प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मव प्रतिभाति । स एव विधिरित्युच्यते । [1] तस्य च ज्ञान[4] विषयतया[5] [11]सम्ब धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना[6] विधेन[12] विह यते—[7]तथाविधवेदवाक्यादात्मन[13] एव विधायकतया[8] प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य[9] विधीयमानतयानुभवात् । तथा[14] च स्वयमात्माऽऽत्मान

और करण रूप साधन के अभाव मे विधि का ज्ञान मानने पर कायता और प्रेरकता प्र यय युक्त नही है ।

[यहा विधिवादी पुनरपि ब्रह्मा नवाद का समथत करते हैं ।]

भाट्ट—पुन वह विधि किस रूप है ?

विधिवादी—सो हम बताते है । 'दृष्ट योरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि शब्दो के सुनने से अवस्थातर से विलक्षण—अप्रेरितावस्था से विलक्षण—अदष्टव्यादि से विलक्षण रूप से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार के अभिप्राय और आकार से सहित होकर स्वय आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वही विधि है इस प्रकार से कहा जाता है । उस विधि का ज्ञान विषय रूप से सबध को प्राप्त कर लेता है इसलिये विधि का प्रधान भाव मानना विरुद्ध नही है अर्थात् दशन मनन आदि विधीयमान रूप से विधि ब्रह्म स सबंध को प्राप्त होते हैं । वृक्ष की शाखा के समान अभेद अथ मे षष्ठी होती है किन्तु ब्रह्म रूप से एकत्व ही है । वह ब्रह्म ही विषयी है और वही विषय है । देखने योग्य और दशन करन वाले से उसमे भेद नही है । अत वह विधि मुख्य ही सिद्ध हो जाती है पुन उस

१ प्रभाकरेण । २ (वेदा त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्ट न त्वया । ३ विधे । ४ यथा घटादि कायतया पृथक प्रतीयते तथा विधि प्रतिभासमात्रात् पथङ्न प्रतीयते । ५ यथा प्ररकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिन । ६ विधि । ७ कायता प्ररकता (विधे) न युक्त त्येव खपाठ । ८ कमकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कायताप्ररकताप्र ययो युक्तो न । ९ अप्ररितावस्थाविलक्षणेन । अद्रष्टव्यादिविलक्षणेन । १ विधे । ११ दशनादिक विधीयमानतया विधे सम्ब धमधिति ष्ठतीति यावत् । वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यथ । १२ विधेमु ख्यत्वनिश्चयो न विरुध्यते । १३ वेदवाक्यादात्मान्य एव न तद्दर्शयति । वेदवाक्य ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोत कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति । १४ विधायकविधीयमानयोरभेदे ।

(1) तस्यैवमव्यवस्थितत्वात् । इति पा । (2) असत्यत्वप्रकारेण । (3) दशनादिरूपेण । (4) दशनादिक विधीयमा नतया विधे सबधमधितिष्ठतीति यावद् वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठी विधिमकत्वमेवेत्यथ (5) स एव विषयी स एव विषय । दृश्यदृष्टृत्वाभावो । (6) निश्चय (7) सबंधमधितिष्ठतीत्येतस्य समथनात् । (8) दृष्टृत्वादितया । (9) आत्मस्वरूपस्य ।

द्रष्टु श्रोतुमनुमन्तु ध्यातु वा प्रवर्त्तते । तथा प्रवर्त्यसम्भवे [1]ह्यात्मन प्रेरितोहमित्यव[1] गतिरप्रामाणिकी[2] स्यात् । ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते । नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धि — आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण [3]तदभावात्—तस्यकस्यव तथा[3] प्रतिभासनादिति ।

[भाट्टो नियोगपक्षमाश्रित्य पुनरपि विधिवादिन दूषयति]

[4]तदप्यसत्यम्—नियोगादि[5]वाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात् । तथा हि ।—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव दृष्ट योऽरेयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव । नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो [6]योग [3]प्रतिभाति—[4]मनागप्ययोगाशङ्कानवतारा दवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्[5] । कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य[7] प्रवत्तिरुपपद्यते— मेघध्व

प्रकार के विधिरूप वेदवाक्य से आत्मा ही विधायक रूप से प्रतिभासित होता है एव उसका दशन श्रवण अनुमनन और ध्यान रूप आत्मस्वरूप ही विधीयमान रूप से अनुभव मे आता है । उस प्रकार स विधायक-आत्मा और विधीयमान दशन श्रवण आदि काय मे अभद के हो जाने पर स्वय आत्मा ही आत्मा को देखने सुनने अनुमनन करने अथवा ध्यान करने के लिये प्रवत्त होता है उस प्रकार की प्रवत्ति के सभव न होने पर मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार का आत्मा का ज्ञान अप्रमाणिक हो जावेगा इसलिये विधि असत्य नही है कि जिससे उसकी प्रधानता विरुद्ध हो जावे । एव सत्यरूप मानने पर द्वत की सिद्धि भी नहीं होती है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को छोडकर अन्य कोई विधि असभव ही है । वह एक ही विधि विधायक और विधेय रूप से प्रतिभासित होती है ।

[यहा भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोगपक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है]

भाट्ट—यह आपका कथन भी असत् है क्योंकि नियोग और भावना भी वेदवाक्य के अथ है वे भी निश्चायक रूप से प्रतीति मे आ रहे है । तथाहि —अग्निहोत्रादि वाक्य के समान ही दष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीति मे आ रहा है ।

मैं इन वाक्यो से नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकार से निरवशेष योग रूप नियोग ही प्रतिभासित होता है क्योंकि किंचित् भी अयोग की आशका की गुजाइश ही नही है । अवश्यकतव्यता का ही ज्ञान हो रहा है एव वही स्वीकार की गई है । अन्यथा उन वाक्यो के सुनने से ही इस मनुष्य की प्रवत्ति कसे हो सकेगी ? यदि आप कतव्यता के ज्ञान का अभाव होने पर भी उस वाक्य के सुनने से प्रवत्ति होना मानोगे तब तो मेघ के शब्दादिको से भी प्रवत्ति का प्रसग हो जाना चाहिये ।

भावार्थ—जैसे घट पटादि पदार्थ भिन्न प्रतिभासित होते हैं उस प्रकार से प्रतिभासमात्र परमब्रह्म से भिन्न कार्य रूप से विधि का अनुभव नही होता है एव वचन चेष्टा आदि के समान प्रेरक रूप—करणरूप

१ अमिति । २ विधेरभावात् । ३ विधायकतया विषयतया च । ४ भाट्ट । ५ आदिशब्देन भावना । ६ दशनश्रवणा द्यात्मसम्बन्ध । ७ नु । ८ अन्यथा । कतव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरुपपद्यते चेत् ।

(1) ता । (2) प्रामाणिका स्यात् । इति पा । (3) यत । (4) असबध (5) अभ्युपगमात् ।

न्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

से भी वह विधि नही जानी जाती है। कर्म साधन मे विधीयते य स विधि जो विधान किया जावे वह विधि है एव विधीयतेऽनेन स विधि जिसके द्वारा विधान किया जावे वह विधि है इस प्रकार से करण साधन है। निरुक्ति के अनुसार कम साधन मे कार्यता प्रत्यय के द्वारा एव करण साधन मे प्रेरकता प्रत्यय के द्वारा विधि का अनुभव नही आता है। यदि कोई कहे कि विधि का क्या स्वरूप है ? तो हम अद्वैत वादियो का कहना है कि अरे ससारी जीव ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य श्रवण करने योग्य मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है ब्रह्मविद् ब्रह्म व भवति ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। ब्रह्मविदाप्नोति पर नाह खल्वयमेव सप्रत्यात्मान जानामि अहमस्मि इति नो हवेमानि भूतानि इत्यादि शब्दो के सुनने से अन्य अवस्थाओ से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा रूप आकार से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वह आत्मा ही विधि इस शब्द के द्वारा कहा जाता है अर्थात् विधि का ज्ञान विधि मे ज्ञान ये सब अभेद होने से विधि स्वरूप ब्रह्म ही है। अत विधि को प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ कहने से उन विधिवाचक (विधायक) वाक्यो से आत्मा का ही विधान हो जाता है और उस आत्मा के दर्शन श्रवण आदि से विधि ही कर्मरूप हो जाती है। पुन स्वय आत्मा ही अपने को देखने के लिये सुनने के लिये अनुमनन करने के लिये एव ध्यान करने के लिये प्रवृत्ति करता है। आत्मा ही वेदवाक्य है कर्ता कर्म क्रिया भी स्वय आत्मा ही है अतएव मैं स्वय आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ ऐसा अनुभव हो रहा है क्योकि विधायक विधीयमान और भाव विधि रूप से वह परमब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है एव आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस परमब्रह्म का अभाव ही है अतएव यह विधि सत्य ही है इत्यादि रूप से विधिवादी ने अपना पक्ष रखा है।

अब भाट्ट प्रभाकर का मत पुष्ट करते हुये उसका निराकरण करते हैं अर्थात् अव्यक्त रूप से प्रभाकर के द्वारा विधिवाद का खडन कराते हैं। भाट्टो का कहना है कि—आप विधिवादी के कथनानुसार वाक्य के अर्थ नियोग भावना आदि भी अनुभव मे आ रहे है। जैसे अग्निष्टोमेन यजेत आदि शब्दो से नियोग प्रतीत हो रहा है वैसे ही दृष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि शब्दो के द्वारा भी मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त—प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से परिपूर्ण रूप से योग हो जाना उसमे लीन हो जाना ही तो नियोग है जो कि इस वाक्य से भी प्रतिभासित हो रहा है क्योकि इस वाक्य से भी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान हो जाने से किंचित् मात्र भी शका नही रह जाती है और यदि आप दृष्टव्यो रे इत्यादि वाक्यों से पूर्ण योग लीनता प्रेरित अवस्था नहीं मानोगे तो इन वाक्यो के सुनने से श्रोता मनुष्यों की उस ब्रह्म के विषय में दर्शन श्रवण मनन ध्यान आदि की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? यदि

---

१ का (पञ्चमी)।

[विधिप्रतिपादकवाक्यमन्यार्थस्यापोहं करोति न वेति विकल्प्य दूषयति]

किञ्च शब्दाद् द्रष्टव्योऽयमात्मेत्यादे[1]रात्मद्रष्टव्यतादिविधि[2]स्तदद्रष्ट[1]व्यतादि[3]व्यवच्छेदरहितो[4] यदीष्यते तदा न [4]कस्यचित्प्रवृत्ति[5]हेतु[5]—[6]प्रतिनियतविषय[7]विधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः । तस्य चातद्विषय[4]परिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्तव्य इति यथा । न हि कटे कर्तव्यताविधिरत[4]दव्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमागमवतारयितुं शक्यः । [7]परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत् [7]तर्हि विधिप्रतिषेधात्मक[8] शब्दार्थः

इति कर्तव्यता यह मेरा करने योग्य कार्य है इस रूप नियोग ज्ञान के बिना ही चाहे जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघ की गर्जना समुद्र की फूत्कार आदि शब्दो से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति होने लगेगी किन्तु ऐसा तो किसी ने भी नही माना है। मेघ की गर्जना सुनकर कोई भी मनुष्य परमब्रह्म के दर्शन श्रवण आदि का अर्थ करके उसमे प्रवृत्ति नही करता है।

[विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं]

दूसरी बात यह है कि "दृष्टव्योऽयमात्मा" इत्यादि शब्द से आत्मा को देखने योग्य आदि की विधि तो होती है किन्तु यदि आप उस विधि को—आत्मा को नहीं देखने योग्य आदि रूप के व्यवच्छेद—निराकरण से रहित मानते हैं तब तो वह विधि किसी को भी प्रवृत्ति मे हेतु नही हो सकेगी अर्थात् अन्य का परिहार करके किसी भी विषय मे वह प्रवृत्ति का निमित्त नही है। क्योकि प्रतिनियत विषय की विधि का अविनाभाव होने से ही प्रेक्षावान् प्रवृत्ति करते हैं और वह अप्रतिनियत रूप—अतत् विषय के परिहार के साथ अविनाभावी है जैसे चटाई बनाना चाहिये चटाई मे जो कर्तव्यता विधि है वह पट कर्तव्यता आदि अतद् विषय का परिहार किये बिना व्यवहार मार्ग मे नही आती है। यदि आप कहें कि पर के परिहार से सहित ही विधि वेदवाक्य—शब्द का अर्थ है। तब तो विधि प्रतिषेधात्मक ही शब्द का अर्थ सिद्ध हो गया पुनः विधिरूप एकांतवाद की प्रतिष्ठा-व्यवस्था कहाँ रही जैसे कि सर्वथा प्रतिषेध—अन्यापोहरूप एकांत की व्यवस्था नही बनती है।

भावार्थ—यहाँ भाट्ट विधिवादी से प्रश्न करता है कि "दृष्टव्यो" इत्यादि शब्द से आत्मा के दर्शन श्रवण मनन आदि रूप जो विधि है वह विधि आत्मा की अदर्शन अश्रवणादि अवस्थाओं का निषेध नहीं करते हुये आत्मा के दर्शन आदि रूप से होती है या आत्मा के अदर्शनादि का परिहार करते हुये भी होती है ? यदि आप कहें कि यह विधि तो आत्मा के दर्शन मनन आदि रूप से ही होती है अन्य अदर्शन आदि

१ अश्रोतव्यतादि। २ वेदान्तिना त्वया। ३ आत्मद्रष्टव्यतादौ। ४ अप्रतिनियतविषय ५ पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना। अकटकर्तव्यतानिराकरणं विना। ६ विधिवादी वदति। ७ भाट्ट। अस्तित्व।

(1) ईप्। (2) विधानं। (3) परिहार। (4) नु। (5) अन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनापायात्। (6) विषया अनेके संति एकं एकं विषयं प्रति प्रेक्षावता प्रवृत्तिरतद्विषयपरिहाराविनाभूता कथमदृष्टव्यादिव्यवच्छेदाभावे विवक्षिते प्रवृत्तिरिति भाव। (7) वस। (8) इद।

इति कुतो विध्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा प्रतिषेधैकान्तवादवत्[1] । स्यान्मतम्[2] ।—परपरिहारस्य[3] गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यङ्गत्वेन[4] प्राधान्याद्विधि शब्दार्थ इति । 'कथमिदानीं[5] शुद्धकार्यादि[7]रूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ?—कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवर्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः—[8]नियोज्यादेस्तत्रापि[9] गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिना प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोग शब्दार्थ ।

का परिहार नहीं करती है तब तो यह विधि किसी भी श्रोता की प्रवृत्ति मे हेतु नहीं बन सकेगी क्योंकि हिताहित को जानने वाले विद्वानों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत विषय की विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखती हैं जैसे घट की विधि यदि अघटों की व्यावृत्ति करेगी तब तो बुद्धिमान् नियत घट को लाने की प्रवृत्ति करेंगे अन्यथा शयन रुदन अध्ययन आदि जो भी कार्य कर रहे हैं उनको ही करते हुए कृतकृत्य हो जावेंगे उनको घट लाने या बनाने का कार्य आवश्यक ही नहीं रहेगा क्योंकि पर का परिहार तो नहीं किया गया है। जब इसने अपने से भिन्न अन्य का निषेध नहीं किया तब आत्मा के दर्शन मनन के समान आत्मा के अदर्शन अश्रवण अध्ययन आदि मे भी प्रवृत्ति कराने वाली हो जावेगी मतलब दर्शन श्रवण आदि मे प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने कहा कि आपको चटाई बनाना चाहिये यदि इस चटाई की कर्तव्य विधि मे वस्त्र के बनाने रूप कर्तव्य का निषेध नहीं है तब तो वह श्रोता मनुष्य या तो चटाई वस्त्र मकान आदि सभी कुछ बनाने लग जावेगा अथवा कुछ भी नहीं करेगा क्योंकि कट कर्तव्य यह वाक्य जब अन्य का निषेध नहीं करता है तब उस श्रोता के सिर पर सभी काम आ पड़ेंगे। यदि दूसरा पक्ष लेकर आप कहें कि द्रष्टव्यो रे इत्यादि वाक्य आत्मा के अदर्शन अश्रवण आदि का निषेध करने वाले हैं तब तो आपने वेद वाक्य का अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक रूप से उभय रूप ही मान लिया है पुनः आपका विधि-अस्तित्व रूप ही एकांतवाद कहाँ रहा ? अतएव जैसे शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है ऐसा बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है वैसे ही आपका विधि रूप एकांत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

विधिवादी—पर का परिहार रूप अन्यापोह गौण रूप है विधि ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान है इसलिये विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है।

भाट्ट—इस प्रकार से प्रधानता का आश्रय लेकर विधि को वेदवाक्य का अर्थ करते समय शुद्ध कार्यादि रूप ग्यारह प्रकार के नियोग की व्यवस्था क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि शुद्ध कार्य ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान रूप होता है नियोज्यादि—पुरुषादि वहां शुद्ध कार्य रूप नियोग—वाक्य मे भी गौण हैं। उसी प्रकार से प्रेरणादि स्वभाव नियोगवादियों के यहां प्रेरणादि मे प्रधानता का अभिप्राय होने से विद्यमान

१ यथा सर्वथा प्रतिषेधकान्त (अन्यापोह) वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । २ विधिवादी । ३ अन्यापोहस्य । ४ हेतुत्वेन । ५ भाट्ट । ६ प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । ७ शुद्धकार्याद्येकादशप्रकार । ८ पुरुषादे । ९ शुद्धकार्यरूपे नियोगे। वाक्ये ।

(1) परपरिहारस्य यथा गुणीभूतत्वं तथा विधेरपि भविष्यतीत्याशंक्य योजनीयमिदं साधनं ।

¹शुद्धकार्यप्रेरणादिषु[1] ²स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात। ³तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेन⁴कस्यापि[2] शब्दार्थत्वमिति चेत ⁵तर्हि पुरुषाद्वैतवादाशयवशाद्विधे प्रधानत्वेपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात सोपि न प्रतिष्ठामापद्यत विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्⁶ ।

उससे भिन्न मे गौण भाव का निश्चय होने से नियोग को वेदवाक्य का अर्थ कहना युक्त ही है।

विधिवादी—शुद्धकार्य प्रेरणादिको मे स्व प्रभाकर के अभिप्राय से किसी को प्रधान कर देने पर भी पर के—हमारे अभिप्राय से प्रधानता का अभाव है। उन दोनो प्रधान और अप्रधान मे से किसी एक शुद्धकार्यादि नियोग स्वभाव की भी व्यवस्थिति न होने से प्रधान या अप्रधान रूप कोई भी एक प्रेरणादि नियोग वेदवाक्य का अर्थ नही हो सकेगा।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं]

भाट्ट—तब तो आप—पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय के निमित्त से विधि को प्रधान मानने पर भी बौद्ध मत का आश्रय लेने से तो विधि की अप्रधानता ही घटित होती है अत वह विधि भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होगी क्योंकि विधिवादी और सौगत दोना में विवाद का सद्भाव होने से समानता ही है।

भावार्थ—विधिवादियो का यह मन्तव्य है कि यद्यपि पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है किन्तु वह पर का परिहार गौण है। प्रधान रूप से तो विधि ही प्रवृत्ति का हेतु है क्योकि पर पदार्थ अनन्त हैं अनत जन्मो तक भी उनका निषेध शब्दो के द्वारा नही किया जा सकता है। हा! कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की तत्काल वहाँ प्रवृत्ति हो जाती है अत शब्द का प्रधान अर्थ विधि ही है। इस पर भाट्ट कहता है कि पुन आप अद्वैतवादीजन प्रभाकर द्वारा मान्य शुद्धकार्य शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की भी व्यवस्था क्यो नही मान लेते हो क्योकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अग होने से शुद्ध कार्य ही प्रधान हो जावेगा और पुरुष शब्द फल आदि के विद्यमान होते हुये भी उनका अर्थ गौण मान लिया जावेगा। तथैव शुद्ध प्रेरणा कार्य सहित प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग भी प्रभाकरो के यहाँ प्रधान हैं और उनसे भिन्न पुरुष फल आदि के मौजूद होते हुये भी उनको गौणरूप से शब्द के द्वारा जाना जाता है। अत नियोग को शब्द का अर्थ मानना ठीक ही है। इस पर विधिवादी कहते हैं कि शुद्धकार्य शुद्धप्रेरणा आदि में प्रभाकरो के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानता होते हुये भी भट्ट वेदाती बौद्ध आदिको के अभिप्राय से प्रधानता नही मानी गई है अत शब्द के उन प्रधान अप्रधान दोनो अर्थों मे से किसी एक स्वभाव रूप भी नियोग सिद्ध नही हो सकता है अत एक भी शब्द का अर्थ नही हो सकता है। ऐसा कहने

१ विधिवादी। २ प्राभाकराभिप्रायात्। ३ अत्र विधिवादी वदति।—तयो प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य। ४ प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा। ५ भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह। ६ विधिवादिसौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात्।

(1) नियोगेषु (2) शुद्धकार्यादिनियोगस्य प्रधानभूतस्य।

[विधिरेव वाक्यस्यार्थ सर्वत्र प्रधानमिति मन्यमाने दोष]

स्या मतिरेषा ते[१] विधेरेव [२]सवत्र प्रधानता–प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तो[1] । न पुन प्रतिषेधस्य सर्वथा [३]प्रवृत्त्यङ्ग[४]तानुपपत्तो । [५]क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि [2]सवस्तद्विधि[६]म वेषते [७]तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे[८] परिनिष्ठा[९]नुपपत्तो —[१०] पर[११]रूपाणामानन्त्यात् [१२]क्वचि[3]त्प्रतिषेद्धुम शक्तेश्च[१३] । [१४]तद्धि पररूप न [4]तावत्स्वयमप्रतिपद्य[5] क्रमश प्रतिषेद्धु शक्यम—प्रतिषेधस्य[6] निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । नापि प्रतिपद्य[१५]—तत्प्रतिपत्तोरपि [7]पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्—[१६]तस्यापि

पर तो आप पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय से विधि अर्थ को प्रधानता होते हुये भी बौद्ध के मत से विधि को अप्रधानता घटित हो जाती है अत यह विधि भी अपनी प्रतिष्ठा को कसे रख सकेगी क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादो के उपस्थित हो जाने पर विधि और नियोग दोनो मे समाधान और निषेध में कोई अतर नही दीखता है अतएव या तो आप विधिवादी विधि और नियोग इन दोनो को ही वेदवाक्य का अर्थ मान लीजिये या तो एक को भी न मानिये पक्षपात करने मे कोई सार नहीं है। आगे इसी का और भी स्पष्टीकरण ग्रथकार स्वय करते हैं।

[वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने मे दोष]

विधिवादी—हमारे यहाँ विधि ही सवत्र–वेदवाक्य मे प्रधान है क्योंकि वही प्रवत्ति का अग है किन्तु प्रतिषेध प्रवत्ति का अग नही है अत वह प्रधान भी नही है। कही जलादि मे प्रवत्ति करने की इच्छा करते हुये सभी पुरुष विधि—जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं वहाँ जलादि मे पर रूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नही होती है क्योंकि पर रूप तो अनत हैं उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु मे पर रूप के अभाव का विचार करने पर कही भी परिसमाप्ति होना सभव नही है क्योंकि पर रूप तो अनत है अतएव उनका किसी भी वस्तु मे प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है।

[हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है कहो तो भी वहा पररूप को जान करके उसका निषध करते हैं या बिना जाने ही ?]

---

१ विधिवादिन । २ वाक्ये । ३ सवथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठ । ४ कारणता । ५ जलादौ । ६ जलाद्यस्तित्वम् । ७ जलादौ । ८ सति । ९ परिसमाप्ति । १ परिनिष्ठानुपपत्ति कुत ? ११ अग्निरूपाणाम् । १२ जलादौ । १३ तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिन सम्भवति । कस्मात् ? पररूपाण्यनन्तानि यत क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेध कर्तु न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम् । १४ विधिवादी पृच्छति ।—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन् ! त्वया यत्पररूप प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा ? क्रमशश्चेत्तदा तत्रापि पररूप तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते ? इति विकल्पमेव विधिवादी खण्डयति । १५ पररूप ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितु न शक्यते । कस्मात् ? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात् । १६ पररूपस्यापि ।

---

(1) प्रवृत्त्यगतोपपत्ते । इति पाठ. । (2) जन । तत्-जल । (3) जलादौ पररूपाणा प्रतिषेद्धुमशक्तश्च । (4) स्वरूपेण । (5) अज्ञात्वा । (6) अन्यथा । (7) अपरापररूपस्य ।

च प्रतिपक्षस्यैव [1]प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात्। युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे [1]प्रतिपित्सि[3]तविधिसिद्धि[2]स्तत्सिद्धौ च [4]तत्परिहारेण[2] तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति।

[सर्वथा विधिरेव प्रवृत्त्यङ्ग नास्तीति प्रतिपादयन् भाट्टो विधिवाद परिहरति]

[5]तदेतदनालोचिताभिधानम्—मण्डनमिश्रस्य[6]। सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्ते। सर्वो ह्यष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तितुमना जनोनिष्टपरिहार [7]तत्रान्वेषते—अन्यथानिष्टेपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्त[3]। अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत् कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्य

यदि आप कहे कि पररूप को स्वय बिना जाने ही उसका प्रतिषध करते है ऐसा कहना तो शक्य नहीं है अन्यथा प्रतिषध विषयशून्य—निर्विषयक हो जावेगा। यदि आप कहो कि हम पर रूप को जान करके उसका क्रम से निवारण करते हैं तो भी पर रूप का निश्चय—ज्ञान होने पर भी अन्य पररूप के प्रतिक्षेप निषेध की अपेक्षा रहेगी ही और उस अन्य पररूप को भी जानकर उसका निषध करने पर तो अनवस्था का प्रसंग आ ही जावेगा।

यदि कहो कि एक साथ सभी पर रूप का प्रतिषध करते है तब तो परस्पराश्रय दोष का प्रसग आ जावेगा। सकल पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होने पर प्रतिपित्सित—जानने योग्य का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा एव जानने योग्य विधि का सद्भाव सिद्ध होने पर उसका परिहार करके उसकी प्रतिपत्ति—ज्ञान पूर्वक सकल पररूप के प्रतिषध की सिद्धि होगी।

[सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति मे हेतु नही है ऐसा कहते हुये भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं]

भाट्ट—आप मडनमिश्र (विधिवादी) का यह सब कथन अविचारित ही है क्योकि सवथा विधि भी प्रवृत्ति का अग नही हो सकती है। इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति करने की इच्छा रखने वाले सभी जन वहा इष्ट में अनिष्ट का परिहार खोजते ही हैं अन्यथा—यदि ऐसा न मानो तो अनिष्ट मे भी प्रवत्ति के हो जाने पर सभी के हित—इष्ट के व्याघात का प्रसग आ जावेगा एव प्रत्यक्षादि के समान अनिष्ट का प्रतिषेध भी किन्हीं वेदवाक्यो से जानना शक्य है क्योकि केवल विधि का ज्ञान ही अन्य के प्रतिषेध निषेध की प्रतिपत्ति—ज्ञान रूप है अर्थात् केवलभूतल का ज्ञान होने से ही घट के अभाव का ज्ञान सिद्ध है। यह जानने

---

१ प्रतिषेधनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। २ सद्भाव। ३ प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ ४ प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्यरूपनिषेधसिद्धि। ५ भावनावादी भाट्ट। ६ विधिवादिन। ७ इष्टे। ८ प्रत्यक्षादेरिव।

---

(1) प्रतिपत्त मिष्ट। (2) सकल पररूपेषु विधिर्नास्तीति विधिपरिहारस्तेन। (3) अनिष्टप्रतिषधो ज्ञातुमशक्यो नन्विरयाशंकायामाह।

प्रतिपत्तुम[1] —केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्—केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्ध । न ह्ययं प्रतिपत्ता [१]किञ्चिदुपलभमान पररूप [२]सङ्कीर्णमुप लभते[2]—यत प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेध [३]साध्यते । न[४] च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव[3]— [५]सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे [4]तस्यासत्त्वप्रसङ्गात । [६]परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यव्यावृत्त्यात्मक[5] च कुतश्चित्प्रमा[७]णादुपलभमानोर्थी [6]परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्त्तते [7]विधि द्वारेण वेति । विधेरिवान्यापोहस्यापि प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेन विधेरेव प्रधान्यम–[८] विधात्रेव प्रत्यक्ष मुपनिषद्वाक्य चेति नियमस्यासम्भवात—[११]अन्यथा [१२]ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात[8] ।

वाला पुरुष कुछ जलादि वस्तु को प्राप्त करता हुआ पररूप से सकीर्ण—सहित वस्तु को प्राप्त नही करता है कि जिससे भिन्न प्रमाण से उसका प्रतिषेध सिद्ध किया जावे अर्थात् केवल भूतलादि को जानता हुआ अथवा देखता हुआ मनुष्य पररूप घटादिको से सहित उसको नही देखता है कि जिससे अन्य प्रमाण से पररूप का प्रतिषेध सिद्ध किया जावे मतलब स्वय ही पर रूप का प्रतिषेध हो जाता है ।

[इस पर किसी की शका यह है कि हे स्याद्वादिन् ! शुद्ध भूतल घटादि पररूप से सर्वथा असकीर्ण—रहित ही रहेगा । इस पर आचार्य कहते हैं कि]—

सर्वथा घटादिको से रहित हो हो ऐसा एकात नही है अन्यथा सत्त्व प्रमेयत्व वस्तुत्व आदि से भी उसका सकर न मानने पर तो वे (भूतलादि) भी असत् रूप हो जावेगे । पररूप से कथचित् व्यावृत्ति अव्यावृत्ति स्वरूप वस्तु को किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त करता हुआ प्रयोजनार्थी मनुष्य पर की व्यावृत्ति रूप से अथवा विधि रूप से प्रवृत्ति करता है अर्थात् जलादि मे यह मरीचिका नही है अथवा जल है इस प्रकार से प्रवृत्ति करता है इसलिए विधि के समान ही अन्यापोह—प्रतिषेध भी प्रवृत्ति का अग सिद्ध हो गया है अत विधि ही प्रधान नही है क्योकि विधाता—ब्रह्म ही प्रत्यक्ष और उपनिषद्

---

१ जलादिकम । २ सहितम । ३ किञ्चित्केवलभूतलादिक जानन पश्यन वाय प्रमाता पुमान पररूपघटादिक सङ्कुल न पश्यति यत कुतान्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेध साध्यते ? अपि तु न कुतोपि । ४ पर आह ।—तर्हि हे स्याद्वादिन ! शुद्धभूतलघटादिपररूप सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति ।—नैवम् । कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूप सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यत । ५ अन्यथा । ६ इष्टेतरात् । पररूपात् । ७ प्रत्यक्षात् । ८ सदाद्यात्मना । ९ प्रतिषेधस्यापि । १ (प्रथमान्तम) आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष न निषद्ध विपश्चित । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते इति विधिवादिप्रतिपादित वाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात् । ११ अन्यथा नियम. सम्भवति चेत्तदा ततो विधातु सकाशादविद्याविधानमनुषजति । १२ प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा ।

---

(1) कुत । (2) पश्यति । (3) अन्यथा । (4) जलादिवस्तुनि सत्ताया अभावो जायते यत । (5) व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं इति पा । पररूपव्यावृत्त सदाद्यात्मनाऽव्यावृत्त च । (6) इद मरीचिकादिक न भवतीति । (7) इद जल भवतीति । (8) विधायकमेवोपनिषद्वाक्य यत ।

सो[1]ऽयमविद्या[2]विवेकि[3]सन्मात्र [1]कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धृ प्रत्यक्षमन्य[4]देवेति ब्रुवाण कथ स्वस्थ[2] ? कथ वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभाव प्रतीयात[5] ? [6]यतस्तत्प्रतिपत्ति—तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धे[3] । प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्तर्हि सिद्ध भावाभावविषयत्व तस्येति न [4]परोदितो विधिर्वाक्यार्थ सिद्ध्यति । नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तो प्रभाकरमतसिद्धि ।

वाक्य हैं ऐसा नियम करना असभव है अन्यथा उस प्रत्यक्ष अथवा उपनिषद् वाक्य से विद्या के समान अविद्या का भी विधान हो जावेगा। तथा च आप विधिवादी अविद्या का परिहार करके स मात्र को किसी प्रमाण से प्रतीतिगत करते है एव प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नही है अथवा अन्य उपनिषद्वाक्य निषेध करने वाले नही हैं ऐसा कहते हुये स्वस्थ कसे है ? क्योकि अन्य का निषेध करके ही आप विधि मे प्रवत्त हैं। अथवा प्रत्यक्षादि से निषध करने वाले के अभाव को कसे प्रतीत करगे ? अर्थात् प्रत्यक्ष निषध करने वाला नहीं है यह वचन विरुद्ध है क्योकि जो विधि का ज्ञान है वही अभाव को विषय करने वाला है मतलब जिस प्रमाण से विधि का ज्ञान होता है उसी से ही प्रतिषध का ज्ञान सिद्ध है। इसलिये प्रत्यक्ष निषध करने वाला नही है ये आपके वचन विरुद्ध ही है।

विधिवादी—प्रत्यक्षादि से विधाता का ज्ञान होना ही निषद्ध त्व के अभाव का ज्ञान है।

भाट्ट—ऐसा कहो तब तो यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय भावाभावात्मक है इसलिये वेदातवादी के द्वारा कही गयी विधि हो वेदवाक्य का अथ है यह कथन सिद्ध नही हो सकता है। एवं नियोग ही वेदवाक्य का अथ सिद्ध हो जाने से नियोगवादी प्रभाकर के मत की सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ— विधिवादी का कहना है कि प्रधान रूप से वेदवाक्य का अथ विधि ही है और वही प्रवत्ति का अग है कि तु किसी भी शब्द का अर्थ निषध नही है जसे किसी को जल मे स्नान करने की या उसे पीने की इच्छा है तो वह जल चाहता है और जल इस श द के सुनने से जल को ही खोजता है। यदि वह व्यक्ति जल मे पररूप का निषध करने लगे तो पररूप तो अनत हैं यह जल है इस श द मे यह

---

१ स्याद्वाद्याह ।—सोय विधिवादी अविद्यापथग्भूत सन्मात्र कुतश्चि प्रमाणा जानन्नेव निषद्ध प्रत्यक्ष नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्ष न) इति जल्पन् कथ स्वस्थ स्यात् ? अपि तु न। अविद्याया विवेक पथग्भाव अविवेक सोस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम्। अविद्याया सन्मात्र शून्यत्वमित्यत्रैव प्रतिषेध प्रतीयते। २ अविद्याविवेकेन (अविद्यापरिहारेण) सन्मात्रमिति पाठ खपुस्तकीय । ३ प्रमाणात्। ४ उपनिषद्वाक्यम्। अन्यद्वे ति खपाठ । ५ ततश्च न निषद्ध प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत। ६ यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषधप्रतिपत्ति सिद्ध्यति। ७ विधिवादी। ८ प्रत्यक्षादे प्रमाणस्य ।

---

(1) विवेकेन इति पा । व्यावृत्त्या (2) अन्यव्यावत्तिरूपेण सन्मात्र प्रवृत्त । (3) ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वाचो विरुध्यत इ। (4) वेदांतवादि ।

पुस्तक नहीं है चौकी नहीं है इत्यादि रूप से निषेध करते करते सारा जीवन ही समाप्त हो जायेगा किंतु पररूप का अभाव नहीं हो सकेगा ।

पुनरपि विधिवादी सौगत से प्रश्न करता है कि आप पररूप का निषेध करते हुए क्रम क्रम से उस जल में एक एक वस्तु का निषेध करते हैं या एक साथ ? यदि क्रम क्रम से कहें तो भी उन अनंतरूपों को समझकर उनका निषेध करते हैं या बिना समझे ? यदि बिना जाने ही उन पररूपों का निषेध करेंगे तो निषेध का विषय क्या रहेगा ? शून्यमात्र ही तो रहेगा । यदि जानकर निषेध करना कहो तो भी एक एक को जान जानकर उनका निषेध करने में कहीं पर भी अंत न आने से अनवस्था ही आ जावेगी । यदि आप कहें कि हम एक साथ ही सभी पररूपों का निषेध कर देंगे तब तो परस्पराश्रयदोष आ जावेगा पहले सभी पररूपों का प्रतिषेध हो जावेगा पुनः जानने योग्य जल का ज्ञान हो सकेगा और जब जल का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा तब अनंत पररूपों का प्रतिषेध एक साथ ही सिद्ध होगा । अतः शब्द का अर्थ प्रतिषेध (अन्यापोह) नहीं है विधि ही है ऐसा सत्ताद्वैतवादी ने अपना पक्ष रखा है ।

इस पर भाट्ट का कहना है कि सर्वथा विधि ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं है क्योंकि इष्ट जल में स्नान आदि की इच्छा रखने वाले मनुष्य वहाँ इष्ट जल में अनिष्ट अग्नि आदि का परिहार खोजते ही हैं । अन्यथा अनिष्ट अग्नि आदि में भी प्रवृत्ति हो जाने से किसी को भी अपने इष्ट की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी अतएव विधि के समान निषेध भी शब्द का अर्थ है और प्रवृत्ति का हेतु है । यदि आप कहें कि आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ।। अर्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक—विधि को विषय करने वाला मानते हैं किंतु निषेधक—प्रतिषेध को विषय करने वाला नहीं मानते हैं । इसलिये एकत्व के समर्थन में जो आगम है वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है । यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो आपके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उपनिषद्वाक्य भी जैसे अपना विधान करते हैं वैसे ही अविद्या का या अन्य सांख्य सौगत जैन के सिद्धांत का भी विधान ही कर देंगे न कि निषेध । पुनः वेदवाक्य का अर्थ अविद्या का परिहार करके मात्र सन्मात्र परमब्रह्मरूप ही है ऐसा आप कैसे कह सकोगे ? एवं प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है इस वाक्य के द्वारा आप निषेध का भी निषेध कैसे करेंगे ? यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष से की गई परमब्रह्म की विधि ही तो अन्य पदार्थों का अभाव है । तब तो जैनधर्म के अनुसार आपके प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाभावात्मक ही सिद्ध हो जाते हैं पुनः एकांत से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है यह बात सिद्ध नहीं होती है । भाट्ट कहता है कि इसलिये आप नियोग को ही प्रमाण मान लीजिये ऐसे प्रभाकर का अभी तक पक्ष रखा है । अब प्रभाकर सामने आता है तब उसको बुद्धू बनाकर भाट्ट अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुये भावनावाद को पुष्ट करते हैं ।

विधिवाद के खंडन का सारांश

भाट्ट—आप कहें कि विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है तो आपके विधिवाद में भी हम प्रश्न करेंगे कि—विधि प्रमाण है या प्रमेय उभयरूप है या अनुभय रूप शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापाररूप उभय व्यापाररूप है या अनुभय व्यापाररूप है ? यदि आप विधि को प्रमाण कहेंगे तो आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहां अन्य प्रमेय और क्या होगा ? यदि आप विधि के स्वरूप को ही प्रमेय कहो तो सर्वथा निरंश सन्मात्र देह वाली विधि प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप वाली कैसे होगी ? एवं प्रमाण प्रमेय को कल्पित कहने पर तो आप बौद्ध ही हो जावोगे क्योंकि बौद्ध भी प्रमाण और प्रमेय दोनों को कल्पित—अन्यापोह रूप अर्थ से मानता है किन्तु अन्यापोह को वस्तु का कथन करने वाला नहीं मानता है एवं कल्पित उपनिषद्वाक्य से या हेतु से परब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा ? यदि इन्हें वास्तविक कहोगे तो द्वैत आ जावेगा। दूसरी बात यह है कि ये उपनिषद्वाक्य अचित्स्वभाव है या चित्स्वभाव ? यदि अचित्स्वभाव कहो तो ब्रह्म से भिन्न अचेतन रूप होने से द्वैत हो गया। यदि चित्स्वभाव कहो तो प्रतिपादक-गुरु के चित्स्वभाव हैं या प्रतिपाद्य—शिष्य के अथवा दोनों के ? यदि गुरु का कहो तो शिष्य को ज्ञान नहीं होगा। यदि शिष्य का कहो तो गुरु को ज्ञान नहीं होगा यदि दोनों का चित्स्वभाव मानो तो प्रश्न करने वाले अनेक मनुष्यों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि ये आगम वाक्य और हेतु सभी के चित्स्वभाव है तो यह गुरु है यह शिष्य है ये प्राश्निक हैं इत्यादि भेद नहीं हो सकेंगे। यदि इन भेदों को अविद्या से मानो तो अविद्या गुरु में ही गुरु का बोध न कराकर शिष्य में गुरु का एवं गुरु में शिष्य का भी ज्ञान करा देगी क्योंकि वह तो अविद्या ही है और वह एक ही है सभी में अभिन्न रूप से समान काल में रहती है एवं अविद्या को अविद्या से कल्पित कहने पर तो विद्या ही सिद्ध हो गई अतः सभी में संकर दोष हो जावेगा यदि आगमादि को ब्रह्म से भिन्न ही मानोगे तो बाह्य वस्तु के सिद्ध हो जाने से अद्वैतवाद समाप्त हो जावेगा।

यदि विधि को प्रमेय रूप मानो तो किसी भिन्न प्रमाण को मानना ही होगा पुनः द्वैत आ जावेगा। यदि उभयरूप कहो तो भी विरोध ही है। अनुभयरूप मानने पर तो खरविषाण के समान अवस्तु ही हो जावेगी। यदि पांचवां विकल्प लेवो तो भाट्ट के मत में प्रवेश होगा तथैव छठे में भी वही बात है। उभय के व्यापार से कहो तो क्रम से या युगपत् ? इन दो विकल्पों से दोष आते है। एवं अनुभय व्यापाररूप विधि को कहो तो वे ही प्रश्न मौजूद है कि विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निस्स्वभाव ? विषय का स्वभाव कहो तो निरालंबवाद में प्रवेश हो जाता है। तथैव फल का स्वभाव कहने पर भी वाक्य के काल में स्वर्गादि फल असंनिहित होने से निरालंबवाद हो जाता है। निःस्वभाव कहो तो वेदवाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं है ऐसा हो जाता है।

पुनरपि यह विधि सत् रूप है या असत् रूप उभयरूप है या अनुभयरूप ? सत्रूप कहो तो किसी को भी विधेय नहीं होगी पुरुष के समान। असत् कहो तो खरविषाण के समान हो जावेगी। उभयरूप कहो कि दृष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि से असत्रूप है और पुरुषरूप से सत्रूप है तब तो द्वैत हो जावेगा। चतुर्थ पक्ष मे सत् का निषेध होने से असत् की विधि होगी अथवा सर्वथा दोनो का निषेध होने से कथंचित् सत्त्वासत्त्व की विधि होगी तो जैनमत मे प्रविष्ट हो जावोगे।

तथैव वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक कहो तो बौद्धादिको को भी विधि प्रवर्तक हो जावेगी। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो वेदवाक्य का अर्थ वह कैसे हो सकेगी ?

इसी प्रकार वह विधि फल रहित है या फल सहित ? फल रहित कहो तो नियोग के समान प्रवर्तक नही होगी। पुनः वेदवाक्यो का अभ्यास भी क्यो किया जावेगा ? फल सहित कहो तो फलार्थीजनो की प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है पुनः विधि के अर्थ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव जिस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ नियोग करने मे अनेक दूषण आते है तथैव विधि अर्थ मानने मे अनेक दूषण आते हैं। यदि आप विधि अर्थ को प्रमाण कहोगे तो नियोग को भी प्रमाण मानना होगा। अतएव हमारे द्वारा मान्य 'भावना' ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का कथन है उसका भी जैनाचार्य खंडन करेगे।

[अत्रावधिपर्यंतं भावनावादी भाट्टो नियोगवाद सौगतमत चाश्रित्य विधिवादमदूषयत् अत प्रभृति स्वपक्ष भावनावादं पोषयति]

[1]स [2]एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्ययुक्तम्—[3]धात्वर्थवन्नियोगस्य [5]परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्—[6]सर्वत्र भावनाया[7] एव वाक्यार्थत्वप्रतीते । सा हि द्विधा शब्दभावनार्थभावना च ।

"[8]शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादय[(1)] । [9] इय [1]त्वन्यैव [9]सर्वार्था [2]सर्वाख्यातेषु [3]विद्यते ॥"

इति वचनात । तत्र शब्दभावना[4] शब्दव्यापार[5] । [12]शब्देन हि पुरुषव्यापारो [13] भाव्यते पुरुषव्यापारेण [6]धात्वर्थो[14] धात्वर्थेन [15]फलमिति ।

[यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर एवं सौगत मत का भी आश्रय करके विधिवादी—वेदांती को दूषण दिया है अब स्वयं अपना पक्ष पुष्ट करता है]

प्रभाकर—अत आपके ही कथनानुसार हमारे द्वारा मान्य वह नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे यही ठीक है । बाधा क्या है ?

भावनावादी भाट्ट—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि धातु के अर्थ के समान आप प्रभाकर द्वारा वर्णित स्वरूप वाला नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं आती है क्योंकि सर्वत्र—नियोग एवं विधि आदि के प्रतिपादक वैदिक एवं लौकिक वाक्यों में भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है । उस भावना के दो भेद हैं—(१) शब्दभावना (२) अर्थभावना । कहा भी है—

श्लोकार्थ—लिङ् लोट आदि लकार अर्थभावना से भिन्न शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं क्योंकि यह अर्थभावना सर्वार्थ—सभी लकारों के अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है अत सभी आख्यातों में विद्यमान है ॥

उसमें शब्दव्यापार को शब्दभावना कहते हैं अग्निष्टोमेन इत्यादि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार उत्पन्न किया जाता है । पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है तथा उस धातु के अर्थ से फल की सिद्धि होती है ।

१ नियोग । प्राभाकर । २ अत । ३ अत्र भावनावादी वदति ।—इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत् परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात् । ४ सन्मात्र धात्वर्थोऽत्र विधि । ५ प्रभाकर । ६ नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये । ७ तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृ व प्रतिपन्नस्य वस्तुन (द्रव्यादे) । प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविद । अर्थभावनातो भिन्नाम् । ६ लिङ्लोटतव्या कर्तार । १ अर्थभावना करोति धात्वर्थलक्षणा वक्ष्यमाणा य सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्यापूर्वोक्ताया शब्दभावनातो भिन्ना । कुत ? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात् । ११ सर्वोर्थो यजनादिर्यस्या सा । १२ अग्निष्टोमेत्यादिना । १३ उत्पाद्यते । १४ यथा शब्दव्यापार । १५ धात्वर्थस्य ।

(1) शब्दभावनात (2) लिङादिष (3) यत (4) उत्पादकत्व पुरुषव्यापारस्य । (5) प्रेरणात्पर । (6) धात्वर्था इति पा

भावार्थ—भाट्टों के यहां शब्दभावना और अर्थभावना ये दो प्रकार की भावनाएं मानी गई हैं। उनके ग्रन्थो मे कथन है कि लिङ लोट और तव्य ये प्रत्यय शब्दभावना और अर्थभावना को ही कहते हैं। सपूर्ण अर्थों मे व्याप्त करोत्यर्थ रूप अर्थभावना तो सपूर्ण लिङ त से आख्यात—दशो लकारो मे विद्यमान है। यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न ही है। इन दोनो भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द के व्यापार रूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा यज पच् आदि धातुओं का अर्थ भावनारूप किया जाता है। तथा धातु के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टो का मत है किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि शब्द का व्यापार शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम वाक्य से यज्ञ को करे इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार रूप यज्ञ प्रतिभासित नहीं होता है। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिपादक भला कैसे हो सकेगा? एक ही शब्द स्वयं प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इन दोनो रूप हो यह बात विरुद्ध है। वेदवाक्य के उच्चारण के समय प्रतिपादक शब्द का स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध है और भविष्य मे होने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो उस काल में असिद्ध है। अतएव अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम आदि की भावना कराने वाले वाक्यो से अनुष्ठाता पुरुष का यज्ञ मे प्रवृत्ति कराने रूप व्यापार कैसे भावित किया जावेगा तथा पुरुष के व्यापार से यज्ञ करने रूप धातु का अर्थ भी कैसे भावित किया जावेगा? तथैव धातु के अर्थ से चिरकाल मे होने वाला स्वर्ग नाम का फल कैसे भावनायुक्त किया जावेगा कि जिससे आप भाट्ट के कथनानुसार भावना करने योग्य भावना करने वाला तथा भावना का कारण इन तीन रूप से तीन अंशो से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जा सके अथवा तीन अंश वाली भावना आत्मा में विशेषतया भायी जा सके? अत शब्दभावना वाक्य का अर्थ नहीं है। यदि पुरुष का व्यापार भावना है तब तो पुरुष यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग को भावित करता है किन्तु इस प्रकार यज्ञ से भावित किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द के बोलते समय स्वर्ग सन्निहित नहीं है। शब्द सुनने के पश्चात् न जाने कितने दिन बाद यज्ञ किया जावेगा और बहुत दिन पीछे मरने के बाद कदाचित् स्वर्ग मिल सकेगा अत अनेक दूषणो से दूषित होने से भावना वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

इस प्रकार से पुरुष के व्यापार मे शब्द व्यापार के समान और धातु के अर्थ मे पुरुष व्यापार के समान फल में जो धातु का अर्थ है वह भावना हो ऐसा प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् पुरुष के व्यापार मे शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ मे पुरुष का जो व्यापार है वह भावना है। उसी प्रकार से फल में धात्वर्थ भावना नहीं है अन्यथा वह शुद्ध धात्वर्थ सन्मात्ररूप होने से विधि—ब्रह्माद्वैत रूप हो जावेगा किंतु ऐसा है नहीं।

न [1]चैव पुरुष[2]व्यापारे [1]शब्दव्यापार[3]वद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावना नुषज्यते[4] —[5]तस्य [6]शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात । तदुक्तम् ।—

"सन्मात्रं [7]भावलिङ्गं [2]स्यादसपृक्तं तु कारकः[3] । धात्वर्थः[4] केवलः शुद्धो[9] भाव इत्यभिधीयते ।।
[10] तां [5]प्रातिपदिकार्थं [11] च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः ।।

इति च [6]प्रतिक्षिप्तश्[13]चैवविधो विधिवादो नियोगवादिनेति नास्माक[14]मत्राति

[अर्थात् वह धात्वर्थ सन्मात्ररूप है या यजनादि रूप है अथवा क्रियारूप है ? इत्यादि रूप से भाट्ट तीन विकल्प करके क्रम से दूषण दिखाते हैं ।]

यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो वह विधिरूप ही सिद्ध होगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ— जो कारकों के संपर्क से रहित सन्मात्र भावलिंग है एवं केवल—भिन्न अर्थ से रहित शुद्ध (अपने अंतर्गत विशेषों से रहित) भाव है वह धात्वर्थ कहलाता है ।।१।।

श्लोकार्थ—ज्ञानीजन प्रातिपदिक अर्थ को और धातु के अर्थ को सत्ता कहते हैं तथा वह सत्ता ही महान् आत्मा (परब्रह्म) स्वरूप है । उस सत्ता को ही त्व और तल आदि प्रत्यय द्योतित करते हैं ।।२।।

प्रातिपदिक शब्द का अर्थ—पाणिनि व्याकरण में धातु और प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्द को 'प्रातिपदिक' कहते हैं एवं कातंत्र व्याकरण में "धातु विभक्तिवर्ज्यमर्थवल्लिंगं" सूत्र से उसे लिंग संज्ञा है एवं जैनेन्द्र व्याकरण में इसे "मृत" संज्ञा दी है ।

इस प्रकार के विधिवाद का नियोगवादी के द्वारा निरसन कर दिया गया है अतः हम भावनावादी भाट्टों को इस विधिवाद के निराकरण करने में विशेष आदर नहीं है । यदि आप कहें कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप ही धात्वर्थ है तब तो वह भी प्रत्यय के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आता है प्रत्युत प्रत्यय सहित ही वह धातु का अर्थ उस वाक्य से जाना जाता है । अर्थात् प्रत्ययार्थ विशेषणभूत का ही उससे ज्ञान होता है ।

---

१ धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण । २ कपुस्तके पुरुषव्यापार इति प्रथमान्तेन पाठः । ३ यथा शब्दव्यापारः । ४ पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा धात्वर्थः पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न । ५ धात्वर्थस्य । ६ स हि धात्वर्थः सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः । ७ भाव इति निश्चेयम् । ८ अर्थान्तररहितः । ९ स्वान्तर्गतविशेषरहितः । १० सत्ताम् । ११ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति पाणिनिकृता शब्दानां संज्ञा । १२ परब्रह्म । १३ एवं नियोगवादिना धात्वर्थभावनावादः प्रतिक्षिप्तः तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः । १४ भावनावादिना विधिवादनिराकरणे ।

---

(1) स्वेन क्रियमाणे पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा शब्दभावना (2) विधिज्ञापकः (3) यतः (4) यागादिविशेषणरहितः (5) विभक्त्यादिरहितनामार्थं (6) शुद्धधात्वर्थरूपः ।

तरामादर । [1]अथ[1] [2]ततोन्यो[2] धात्वर्थ[2] सोपि न [3]प्रत्ययार्थशून्य [4]कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते—[6]तदुपाधेरेव तस्य तत सम्प्रत्ययात । [8]प्रत्ययार्थस्तत्र[9] प्रतिभासमानोपि न प्रधान [10]कर्मादिवदन्य[11]त्रापि भावादिति चेत [12]तर्हि धात्वर्थो यजनादि प्रधान मा भूत [13]प्रत्ययान्तरेपि[3] भावात प्रकृत[14]प्रत्ययापायेपीति समान पश्याम[15] । [16]यदि पुन [1] क्रिया सकलव्यापिनी धात्वर्थ—सवधातुषु भावात तदा सव [1] भावना किं नेष्यते—[11]सर्वार्थेषु सदभावात । यथव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिडादय[4] क्रिया हवनावच्छिन्ना[2] प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यात

विधिवादी—प्रत्यय का अथ उस धातु के अथ मे प्रतिभासित होता हुआ भी प्रधान नही है क्योकि वह प्रत्यय का अर्थ कम करण आदि के समान अन्यत्र—धात्वतर (भिन्न धातुओ) मे भी विद्यमान है।

भाट्ट—तब तो धातु का अथ यजन आदि भी प्रधान नही होवे क्योकि प्रकृत प्रत्यय (लिङ लोट् तव्य) के अभाव मे भी प्रत्ययातर मे विद्यमान है। इस प्रकार से हम भावनावादो और आप विधिवादी दोना के प्रति दूषण समान ही दीखते है।

यदि पुन सकल व्यापिनी क्रिया धातु का अथ है क्योकि सभी धातुओ मे विद्यमान है तो उसी को ही भावना—पुरुषभावना रूप क्या नही स्वीकार कर लेते हो क्योकि वह क्रिया सभी यजनादि लक्षण अर्थों म मौजद है। अर्थात् भावनावादी कहता है कि हे विधिवादिन् ! आपके द्वारा स्वीकृत सन्मात्र—सत्तामात्र परम ब्रह्म ही धातु का अथ नही है क्योकि सकल व्यापिनी—सभी धातुओ मे व्याप्त करोति इस अथ के लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओ मे सभव है ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वथ यदि आप स्वीकार कर लेते हो तब तो हम लोग भी उसी सवव्यापिनी क्रिया को भावना पुरुषभावना रूप क्यो नही स्वीकार करगे अपितु करगे ही। क्योकि सभी अर्थों मे और सभी आख्यातो मे वह क्रिया सभव है।

जिस प्रकार से जुहुयात् जुहोतु होतव्य (हवन करना चाहिये) इस प्रकार के लिङ लोट तव्य

१ द्वितीयविकल्प (भाट्ट)। २ भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एव किं तवाभिप्राय । तत सन्मात्रादन्य एव धात्वथ इति तदा—सोपि धात्वथ प्रत्ययाथरहितो न दृश्यते। ३ यजनादि । ४ लिङाद्यथ करोत्यथव्याप्त । ५ अग्निहोत्रादे । ६ प्रत्ययसहितस्यव तस्य धात्वथस्य ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति। ७ स प्रत्ययाथ उपाधिर्विशेषण यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधे प्रत्ययाथविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात्। प्रभाकर । विधिवाद्याह। ९ धात्वथ। १ कमकरणादेयथान्यत्र भावो विद्यते। ११ धात्वन्तरे। १२ भाट्ट । १३ धात्वर्थान्तिरे। १४ लिङ्लोटतव्य। १५ वय भावनावादिन हे विधिवादिन् तव मम च तुल्य दूषणं पश्याम । १६ (तृतीयो विकल्प) भावनावादी प्राह।—हे विधिवादिन् भवदभ्युपगत सन्मात्रस्तावद्धात्वर्थो न। यदि पुन सकलव्यापिनी करोत्यथलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भवाद्धात्वथस्त्वयाभ्युपगम्यते तदास्माभि सव सवव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते। अपि त्वभ्युपगम्यते। कुत ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्या सम्भवात्। १७ यजनपचनादिक्रिया। १८ पुरुषभावना। १९ यजनादिलक्षणेषु लडादिषु च। २ हवनविशिष्टाम्।

(1) योगाचार. (2) यजनादि। (3) लडादौ (4) लोट् तव्य।

¹प्रत्यया अपि—पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नाया क्रियाया एव प्रतिपत्तेः । ²पाकं करोति चकार करिष्यतीति[1] । ³तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्य[2] करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम । ⁴स च ⁵भावनास्वभाव एवेति न ⁶धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते । ⁷नापि कार्यादिरूपो नियोग ।

प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को प्रतिपादित करते है उसी प्रकार से सर्वाख्यात प्रत्यय—लट लकारादि भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि पचति पपाच पक्ष्यति इस प्रकार से पचन से अविच्छिन्न—व्याप्त क्रिया ही जानी जाती है । उस क्रिया से वह पाक को करता है किया था और करेगा इत्यादि ज्ञान होना है । इस प्रकार से क्रिया को भावना मान लेने पर लिङादि प्रत्यय से जानने योग्य करोति का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ होता है यह बात सिद्ध हो जाती है और वह आत्मा शुद्ध भावना स्वभाव ही है इसलिये यह तीन प्रकार का धात्वर्थ ही वाक्यार्थ–वेद के अर्थ रूप से प्रतीति मे नही आता है और न कार्यादिरूप नियोग ही वेद के अर्थ रूप से प्रतीति मे आता है ।

विशेषार्थ—वेदवाक्यो मे विधिलिङ लोट और तव्य प्रत्यय पाये जाते है यथा अग्निष्टोमेन यजेत् । इस यजेत क्रियारूप पद मे विधिलिङ है तथैव यजताम और यष्टव्य मे लोट और तव्य प्रत्यय है । व्याकरण के नियम के अनुसार मूल मे दो तरह के शब्द होते है प्रकृति और धातु । पुरुष या धर्म शब्द प्रकृतिरूप हैं और भू पच पठि आदि धातु कहलाते है । कातन्त्र व्याकरण मे धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिंगं इस सूत्र के अनुसार धातु और विभक्ति से रहित अर्थवाले पुरुष धर्म आदि शब्दो की लिंग संज्ञा है । सिद्धांतकौमुदी मे इसकी प्रातिपदिक संज्ञा है और जैनेन्द्र व्याकरण मे इसी को मृत संज्ञा है । इस मृत संज्ञक शुद्ध प्रकृति रूप शब्दो से विभक्ति सु औ जस अम आदि आकर इस एक पुरुष शब्द को ही एकवचन द्विवचन बहुवचन एव कर्त्ता कर्म करण आदि रूप सिद्ध कर देती हैं । जैसे पुरुष का अर्थ एक पुरुष है तो पुरुषौ का अर्थ दो पुरुष हो जाता है तथा पुरुष का अर्थ पुरुष को हुआ तो पुरुषेण का अर्थ पुरुष के द्वारा हो जाता है । अतः प्रकृति और विभक्ति अर्थात् प्रत्यय मिलकर ही अर्थ को प्रकट करते हैं । उसी प्रकार से मिङन्त मे भी भू कृ आदि धातु है इनसे दश लकार से संबंधित मि वस मस् आदि विभक्तियाँ आती हैं एव कृदंत प्रकरण के अनुसार तव्य तृच आदि प्रत्यय भी आते हैं तभी इनका अर्थ स्पष्ट होता है । शुद्ध प्रकृति या धातु मे यदि प्रत्यय के द्वारा विकार उत्पन्न न होवे तो वे ज्यो के त्यों पड़े रहेंगे उन शुद्ध प्रकृति या धातु से कोई भी वाक्य रचना नही बनेगी । हा ! उनमे प्रत्यय के लग जाने पर विकार के उत्पन्न हो जाने से वे अनेक अर्थो को प्रकट करने लग जाते हैं । जैसे जिन यजेत् ¹धर्ममाश्रयामि अहं गच्छामि आदि वाक्य रचना एक एक पदो के मिलाने से ही बनी है और सुम्मिङन्त

१ आख्यातदयः । २ केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्त आह । ३ क्रियाया एव भावनात्वे च । ४ आत्मा । ५ शुद्धभावना । ६ त्रिविधोपि धात्वर्थ । ७ भाट्ट । ८ वाक्यार्थतया न प्रतीयते ।

(1) अनेन (2) प्राप्य (3) पुरुष ।

पदं इस सूत्र के अनुसार सुप् अर्थात् विभक्तियां एवं तिङादि (लिङादि) प्रत्ययों के लगने से ही शब्दों की पद संज्ञा होती है और पदों के समुदाय को वाक्य संज्ञा होती है। अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि यजेत पद में जो लिङ प्रत्यय पड़ा है उसका क्या अर्थ है। प्रभाकर तो शुद्ध मात्र प्रत्यय के अर्थ को ही नियोग कहते हैं उनका कहना है कि अग्निष्टोमेन यजेत् वाक्य सुनकर नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन इस प्रकार मैं इस वाक्य के द्वारा यज्ञ कर्म में नियुक्त हो जाता हूँ। विधिवादी कहते हैं कि शुद्ध यज धातु का जो अर्थ है वह सत्तामात्र है वही विधि अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् इस यजेत पद में जो धातु का अर्थ है उसी धात्वर्थ को यह वाक्य कहता है।

भावनावादी कहता है कि यह उपर्युक्त वाक्य न केवल धातु अर्थ को ही कहता है और न ही केवल प्रत्यय के अर्थ को ही कहता है किन्तु इसमें जो यज्ञ को करे इस रूप में करोति क्रिया का अर्थ है वही भावना है। अतः यजेत यह वाक्य भावना अर्थ को ही कहता है। उनके ग्रंथों में कथन है कि—लिङ लोट और तव्य प्रत्यय मात्र प्रत्यय के अर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही शब्दभावना और आत्म भावना को कहते हैं। हां! संपूर्ण अर्थों में व्याप्त हो रही करोत्यर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही है जो कि गच्छति पचति यजति आदि संपूर्ण तिङन्त-आख्यात दशों लकारों में विद्यमान है यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न है। इन दोनों भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष के व्यापार से यज पच आदि धातु का अर्थ भावित किया जाता है तथा धातुओं के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है। इस भाट्ट ने धात्वर्थ के विषय में तीन विकल्प उठाकर दूषण दिखाये हैं। यथा—

यह धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र रूप है यजनादि रूप है या क्रिया रूप है? यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र अर्थ ही मानो तब तो वह विधि रूप है क्योंकि जो कर्ता कर्म आदि कारकों से रहित भिन्न अर्थों से रहित अपने अन्तर्गत विशेषों से रहित केवल भावमात्र है वही धात्वर्थ है उस सत्ता को और प्रातिपदिक अर्थ—अर्थवान् शब्द को ही धात्वर्थ कहते हैं। वह सत्ता ही महान् आत्मा है परमब्रह्म स्वरूप है। त्व तल और अण् आदि प्रत्यय उसको प्रकट करते हैं जैसे ब्राह्मणता ब्राह्मणत्व पांडित्य आदि शब्द भाववाची हैं। त्व तल यण आदि प्रत्ययों से प्रगट हो रहे हैं। इस प्रकार से यदि प्रथम पक्ष रूप से धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो विधिवाद ही आ जाता है जो कि हम भाट्टों को इष्ट नहीं है। यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप धात्वर्थ है तब तो वह प्रत्ययों के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आ रहा है प्रत्युत वाक्य के द्वारा प्रत्यय से सहित ही धातु का अर्थ प्रतीति में आता है।

इसी बीच में विधिवादी बोल पड़ता है कि भले ही यज् धातु के अर्थ में लिङ प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित हो रहा हो किन्तु वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ भिन्न भिन्न

अनेकों धातुओं में भी पाया जाता है अत धात्वर्थ ही प्रधान है। इस पर पुन भाट्ट कहता है कि हम इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि यज् पच् आदि धातु का अर्थ भी प्रधान नहीं है क्योंकि प्रकरण प्राप्त लिङ् लोट और तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त भी लट लिट तृच आदि अनेकों भिन्न भिन्न प्रत्ययों में आपका यज् पच् आदि धातु का अर्थ विद्यमान है। अर्थात जसे यजेत यजता आदि मे विधिलिङ लोट प्रत्यय का अर्थ है यज्ञ करना चाहिये यज्ञ करो। किन्तु यह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है मात्र यज्ञ रूप धातु का भाव अर्थ ही प्रधान है तब यज धातु भी लिङादि प्रत्ययों के अतिरिक्त यजति इयाज यष्टा आदि के लट् लिट् तृच् आदि भिन्न भिन्न प्रत्ययों मे पाया जाता है जिसका अर्थ—यज्ञ को करता है यज्ञ किया था यज्ञ करने वाला आदि हो जाता है। यह यज धातु भी अनेकों प्रत्ययों मे चली जाती है अत धातु के प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानो क्योंकि अनेकों प्रत्ययों मे धातुएं व्याप्त रहती हैं। विधिवादी कहता है कि धातु का अर्थ तो सपूर्ण ही लिङ लिट लुट आदि प्रत्ययों म माला मे डाले हुये सूत्र के समान ओत प्रोत है अत धातु अर्थ प्रधान है इस पर भाट्ट कहता है कि इस प्रकार स तो सपूर्ण यजि पचि भू कृ आदि धातुओं के अर्थों मे पीछे पीछे चलता हुआ प्रत्यय का अर्थ भी तो अन्वय रूप हो रहा है अत प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानना चाहिये। यदि आप अद्वैतवादी या कहें कि विशेष विशेष रूप प्रत्यय का अर्थ तो सभी धातुओं के अर्थों मे अन्वय रूप नहीं है जसे एक विवक्षित तिप या तस विभक्ति (प्रत्यय) का अर्थ सभी मिप् वस् लुट क्ति तल आदि प्रत्यय वाले धातु के अर्थों मे अन्वय रूप नहीं है। इस पर हम भाट्टो का भी यही कथन है कि विशेष रूप से एक यज धातु का अर्थ भी पच गम् आदि धातुओं के साथ लगे हुये प्रत्ययों के अर्थों मे ओत प्रोत हो करके कहाँ रहता है। हाँ! सामान्य रूप स धातु का अर्थ सपूर्ण प्रत्ययों के अर्थों मे अन्वित है। इसलिये आप धातु के अर्थ को प्रधान कहेंगे तो हम प्रत्ययों के अर्थ को प्रधान कहने लगेंगे यह प्रश्नोत्तरमाला दोनो मान्यताओं मे समान ही है अतएव वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध धात्वर्थ रूप सन्मात्र है यह कथन भी गलत है एव वेदवाक्य का अर्थ धातु के प्रत्यय के अर्थ रूप ही हैं यह भी गलत है। हा! यदि आप तृतीय पक्ष लेते हो कि धातु का अर्थ क्रियारूप है तब तो ठीक ही है क्योंकि करोति अर्थ लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं मे विद्यमान है। ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप मान लेवें तब तो हमारे भावनावाद का ही पोषण हो जाता है क्योंकि सभी अर्थों मे और सभी लकारों मे वह करोति क्रिया व्याप्त है वही तो भावना है। जसे जुहोतु जुहुयात होतव्य से लिङ लोट तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को बतलाते हैं उसी प्रकार से सभी लट लिट आदि लकार भी बतलाते है। जसे याग करोति चकार करिष्यति ये क्रियायें भी अथवा पचति पाक करोति आदि क्रियायें भी सर्वत्र करोति अर्थ को ही बताती हैं। पकाता है पाक को करता है। यजति याग करोतियजता है यज्ञ को करता है इत्यादि मे करोति क्रिया ही प्रधान है वही वेदवाक्य का अर्थ है। ऐसे भावनावादी ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[शब्दव्यापाररूपेण शब्दभावनव नियोग इति प्रभाकरेण मन्यमाने सति भाट्ट तन्निराकरोति]

[1]ननु [2]शब्दव्यापाररूपो नियोग प्रतीयत[3] एव । शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण[4]लक्षणस्य प्रतिपादको[5] न पुन कारक शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोऽहमनेनेति[6] प्रतिपत्तणा प्रतिपत्तरन्यथानुपपत्तेरिति चेत तर्हि [8]भावनव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात । तदुक्तम ।—

शब्दादुच्चरितादात्मा[1] नियुक्तो गम्यत नर [1] । भावनात [11] पर को[12] वा नियोग परिकल्प्यताम ॥
इति ।

[गृहीतसकेत शब्दो थ प्रत्याययति अगृहीतसकेतो वाम्य विचार क्रियते]

[13]स्यान्मतम ।—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो[14] नवगच्छति

[शब्दव्यापाररूप ही भावना ही नियोग है ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि आपने भावना को ही नियोग नाम धर दिया है वास्तव मे भावना ही प्रतीति मे आती है ।]

प्रभाकर— अग्निहोत्रादि शब्द का व्यापार रूप नियोग ही वेदवाक्य के अर्थरूप से प्रतीति मे आता है क्योकि शब्द पुरुषव्यापारकरण लक्षण (कार्यरूप व्यापार के प्रति साधकतम लक्षण) अपने व्यापार का प्रतिपादक है— ऐसा करो इस प्रकार से शब्द ही ज्ञापक है किन्तु कारक नही है। अन्यथा उच्चारण किये गये शब्द से मै इस शब्द से नियुक्त हुआ हू इस प्रकार मे ज्ञाता पुरुषो को ज्ञान नही हो सकेगा । अन्यथा—शब्दोच्चारण के अभाव मे नियुक्तोऽहमनेन इस प्रकार की प्रतिपत्ता—ज्ञाताओ को अनुपपत्ति—प्रतीति नही होती है । यह अन्यथानुपपत्ति का स्पष्टीकरण है ।

भाट्ट—तब तो भावना ही नियोग है उसी को आपने शब्दातर— शब्दभावना इस भिन्न शब्द से कह दिया है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—उच्चारण किये गए शब्द मे आत्मा नियुक्त है ऐसा मनुष्यो के द्वारा जाना जाता है इसलिए शब्दभावना से भिन्न कोई नियोग है ऐसी कल्पना क्या करना ? अर्थात नही करना चाहिये ।

[सकेत ग्रहण किये हुए शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना सकेत ग्रहण किये हुए ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं ? इस पर विचार किया जा रहा है]

बौद्ध—यदि शब्द के व्यापाररूप भावना है तब तो सकेत को ग्रहण न करने वाला पुरुष नियुक्तो

१ प्रभाकर । २ अग्निहोत्रादि । ३ वाक्यार्थतया । ४ कृतिरूपव्यापार प्रति साधकतमलक्षणस्येति । ५ ज्ञापक । एव कुर्विति । ६ शब्देन । ७ अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोहमनेनेति प्रतिपत्तणा प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते । ८ भाट्ट । ९ शब्द भावना । १ स्वरूपम् । ११ शब्दभावनात । १२ न कोपीत्यर्थ । १३ सुगतस्य । १४ प्ररणा । १५ नावगच्छतीति पाठान्तरम् ।

(1) अत ।

नियुक्तोऽहमनेनेति स्वभावतस्तस्य[1] नियोजकत्वात् । सङ्केतग्रहणस्यानुपयोगित्वादिति तदसमीचीनमेव—सङ्केतस्य तथाऽवगतौ सहकारित्वात्[1]—सामग्री जनिका नैकं कारणमिति प्रसिद्धं । ननु च सङ्केतसामग्री न प्ररणे भावनायां वा व्याप्रियते—अर्थवेदने तस्या प्रवृत्ते[2]—[3]अर्थप्रतीतौ पुरुषस्य स्वयमेव तत्र तदर्थितया प्रवृत्तेः । इदं कुर्विति[4]

अहमनेन इस प्रकार से क्यो नही जानता क्योकि आपके मत से शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक है। अत सकेत का ग्रहण करना अनुपयोगी ही है।

भाट्ट—आप बौद्धो का जो यह कथन है वह भी समीचीन नही है। इस शब्द का यह अर्थ है ऐसा संकेत उस प्रकार के ज्ञान मे सहकारी कारण है अर्थात सकेत का ग्रहण करने की शब्द मे योग्यता नही है क्योकि सकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है न कि शब्द। सामग्री कार्य की जनक होती है तथा कोई भी कार्य एक कारण जन्य नही है यह बात प्रसिद्ध है।

बौद्ध—सकेत लक्षण सामग्री प्ररणा मे–नियोग मे अथवा भावना शब्द और पुरुषरूप भावना मे व्यापार नहीं करती है किन्तु अर्थसवेदन–अर्थ के ज्ञान मे उस सकेत सामग्री की प्रवृत्ति है अर्थात सामग्री अर्थ के ज्ञान मे ही प्रवृत्ति करती है किन्तु स्थिर स्थूल साधारण आकार रूप बाह्य पदार्थ मे प्रवृत्ति नही करती है। यदि सकेत लक्षण सामग्री अर्थ ज्ञान मे व्यापार न करे तब तो पुरुष की अर्थ मे प्रवृत्ति भी कसे हो सकेगी किन्तु जल का ज्ञान होने पर पुरुष उसमे स्नानादि की प्रवृत्ति करता है ऐसा देखा जाता है। अर्थ की प्रतीति होने पर पुरुष स्वयमेव–नियोग और भावना से निरपेक्ष रूप हो उस अर्थ मे तदर्थी रूप से प्रवृत्ति करता है क्योकि सकेत सामग्री से अर्थ का परिज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति घटित होती है। इद कुरु इस प्रकार से प्रेषण और अध्येषण रूप लिङर्थ की ही प्रतीति होती है। यदि उसकी प्रतीति न मानो तो नियुक्तत्व का ज्ञान नही होगा और नियोज्य–पुरुष का कार्य मे व्यापार

१ शब्दस्य यत स्वभावेन नियोजकत्वम्। २ कार्यस्येत्यध्याहार। ३ सौगतमाशङ्क्य भट्ट प्राह। ४ अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केत। ५ सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहक ज्ञान न तु शब्द। ६ कार्यस्य। ७ बौद्ध। ८ सङ्केतलक्षणा सामग्री। ९ प्ररणायामिति वा पाठ। नियोगे। १० उभयरूपायाम्। ११ यदिसङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थ प्रवृत्तिरित्युक्त आह। १२ मन्याम्। १३ नियोगभावनानिरपेक्षतया। १४ अर्थे। १५ सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात। १६ किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणारूपा। सा च प्रयोज्यप्रयोजक द्वयीं बिना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुत सा भावना? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम। किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्याकारूपस्यवार्थस्य शब्दवाच्यत्वादत कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इद कुर्वित्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इतिपर्यन्त माह।

(1) एतत्कुत । (2) अर्थसवेदने सामग्र्या प्रवृत्तिर्न तु स्थिरस्थूलसाधारणाकारे बाह्यार्थ। (3) सकेतसामग्री यदि न तत्र व्याप्रियेत पुरुषस्यार्थ प्रवृत्ति कथमित्युक्ते आह। (4) अनेन प्रकारेण।

[१]प्रेषणाद्धय षणायोरेव[1] हि प्रतीति —[2]तदप्रतीतौ [3]नियुक्तत्वाप्रतिपत्त । नियुक्तत्व च नाम [२]कार्ये व्यापारितत्वम[4] । कार्ये [३]व्यापृततामवस्था प्रतिपद्य[४] नियोजको[१] नियुक्तक्त[5] । सा च तस्य[१] भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्त्तु शक्या । स्वरूपसाक्षात्करण हि[6] सव तदव[७] सिद्धमिति न नियोग[7] स्यात्सफल । तत प्रयोजको[8] बाध्यमानप्रतीतिक एव । तदुक्तम ।—

यथा प्रयोजकस्तत्र[9] बाध्यमानप्रतीतिक । प्रयोज्योपि [८]तथव [१] स्याच्छब्दो [११]बुद्धयथवाचक ॥

यथव हि [१२]प्रयोजकस्य श दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण [१३]स्वव्यापारशू यमात्मान प्रतीयता प्रयोजकत्व

कराना ही नियुक्तत्व है । काय मे व्यापृत—प्रवृत्त हुई अवस्था को जान करके नियोजक—शब्द नियुक्त करता है और वह उस नियोजक की भाविनी—भविष्य मे होने वाली अवस्था है उसका स्वरूप से साक्षात कार करना शक्य नही है । क्याकि स्वरूप का साक्षात्कार कर लने पर तो सभी उस काल मे ही सिद्ध हो जावग । अर्थात अग्निष्टोम इत्यादि वाक्यो से यज्ञादि का करना और स्वग को प्राप्त कराने के लिये निमित्तभूत पुण्य का उपाजन ये सब काय उस काल मे निष्पन्न ही है पुन नियोग का मानना सफन नही हो सकगा इसनिए प्रयाजक बाध्यमान प्रतीति वाला ही है । यहा नियोग शब्द से प्ररणा रूप भावना ग्रहण करना चाहिए । कहा भी है—

श्लोकाथ—जिस प्रकार स भावीकाय स व्यापृत अवस्था वाले नियो य मे बाध्यमान प्रतीतिवाला प्रयोजक ह उसा प्रकार से प्रया य—पुरुष भी बाध्यमान प्रतीतिक—काल्पनिक ही है क्योकि श द बुद्धि से परिकल्पित ही अथ का वाचक है ॥

जिस प्रकार स प्रयोजक (प्ररक) श द मे यागविषयक स्वव्यापार से शू य आत्मा का निश्चय कराते हुए प्रयो य पुरुष के द्वारा प्रयोजकत्व की प्रतीति बाध्यमान होती हुई निरालबन है उसी प्रकार से प्रया यत्व प्रतीति भी बाध्यमान हाती हुई निरालबन है तथा यज्ञलक्षण स्वव्यापार मे अप्रविष्ट आत्मा का निश्चय न कराते हुए प्रयोज्य पुरष के द्वारा ही वह बाधित हो जाती है । अथवा टिप्पणी के आधार से ऐसा भी अथ कर सकत है कि तथा यज्ञ लक्षण स्वव्यापार मे अप्रविष्ट रूप आत्मा का निश्चय

---

१ लिङर्थयो । २ नियोज्यस्य । ३ व्यापृततामवस्थामिति खपाठ । ४ आ मना स्वीकृत्य । ५ शब्दव्यापारापर पर्यायप्ररणादिरूप शब्द । ६ नियोजकस्य । ७ अग्निष्टोमेन यागादिकरण स्वगप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जन च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नव काले । ८ पुरुष । ९ काल्पनिक । १ किञ्च शब्दान् प्रषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता । कुत इत्याह । ११ बद्धिपरि कल्पितो यत । १२ प्ररकस्य । १३ यागविषय । स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरम् ।

---

(1) सत्कारपूवकव्यापार । (2) कमणिस्वरूप । (3) नत्वथस्य । (4) नियो यस्य (5) अथ नियोज्य (6) व्यापता वस्त्वकार्ये चेति । (7) स्वव्यापारे अविशिष्ट सहितमित्यथ । नियोगे शब्देनात्र प्ररणारूपभावना ग्राह्या । (8) शब्द व्यापारापरपर्याय प्रेरणादिरूप शब्द । (9) भाविकार्यव्यापृततावति नियोज्ये ।

प्रतीतिर्बाध्यमाना[1] निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि[2] तेनव[3] स्वव्यापारा[1]विष्टमात्मा नमप्रतीयता[2] बाध्यते[4] । शब्दात् सा[5] प्रतीतिरिति च न युक्तम्[6]—तस्य [3]बुद्धयर्थख्यापन त्वात्[4] । सोपि हि शब्दो बुद्धयर्थमेव [5]ख्यापयति । एव मया प्रनिपादितमेव 'मया प्रतिप नमिति—द्वयोरपि प्रतिपादकप्रनिपाद्ययोरध्यवसायात् । पौरुषेयवचनाद्धि मयव तावत्प्रतिप न्नमस्य[7] तु वक्त र्य[11]मभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति [12]प्रतिपत्ताध्यवस्यति । अपौरुषेयादपि [13]शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोस्य[14] भवतु मा वा भूदिति वक्तव्यापारविषयो[16] योथ पौरुषेयशब्दस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेथ अपौरुषेयत्वाभिमतश दस्य तत्र[1] प्रामाण्य न

करते हुए पुरुष के द्वारा वह प्रतीति बाधित ही है।

यदि आप कहे कि वह प्रतीति शब्द स ही होती है तो ऐसा कहना भी युक्त नही है। क्योकि वह शब्द बुद्धि से कल्पित अथ को ख्यापित—प्रगट करता ह वह श द भी बुद्धि के अथ का ही ख्यापन करता है। इस प्रकार से मैंने प्रतिपादित किया ह और इस प्रकार मैने समझा है क्योकि प्रतिपादक—गुरु और प्रतिपाद्य—शिष्य इन दोनो का अध्यवसाय—ज्ञान होता है अर्थात मैंने यह प्रतिपादन किया इस प्रकार गुरु में तथा मैंने समझा इस प्रकार शिष्य मे ऐसा इन दोनो म प्रतिपादक प्रतिपाद्य सम्ब ध पाया जाता है।

प्रतिपत्ता—श्रोता ऐसा निश्चय करता है कि पौरुषय वचन से ही मैंने इस प्रकार से जाना है इस वक्ता—गुरु का यह अभिप्राय हो या न हो। इसी प्रकार से अपौरुषय वेद वाक्य से भी इस प्रकार से मैंने यह अथ जाना है इस अपौरुषय श द का यह अथ हो या न हो । ऐसा प्रतिपत्ता—पुरुष जानता है। ऐसा वक्ता के व्यापार का विषयभूत जो अथ पौरुषय श द का श्रोता की बुद्धि मे प्रकाशित होता है और इसी प्रकार से अपौरुषय रूप से स्वीकृत शब्द का जो अथ बुद्धि मे प्रकाशित होता है उसमे वह शब्द व्यापार ही प्रमाण है किन्तु बाह्याथ तत्त्व निमित्तक प्रमाणता नही है इसलिए विवक्षा मे आरूढ अर्थ ही वेदवाक्य का अथ है किन्तु भावना यह वेदवाक्य का अथ नही है।

यहां तक प्रज्ञाकर बौद्ध ने कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर बौद्धो का ऐसा आरोप है कि भाट्ट शब्द के व्यापार को भावना कहते है और प्रभाकर को खुश करने के लिए उसी भावना को नियोग कह रहे है वे कहते है कि भावना से भिन्न

---

१ सती । २ बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेष । ३ पुसा । ४ प्रयो येन । ५ प्ररणाप्रषणयो सम्बन्धिनी । ६ इतो वदति बौद्ध ।—सा भाविनी प्रतीति शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्त त्वया तद्वक्तु युक्त न । ७ शब्दस्य ८ बुद्ध्यर्थ । ९ शिष्येण । १ गुरो । ११ बुद्ध्यारूढ । १२ श्रोता । १३ वेदवाक्यात् । १४ अपौरुषयस्य । १५। प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्ब ध । १६ प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी । वक्तव्यापारो विवक्षा । १७ बुद्ध्यथ ।

---

(1) स्वव्यापारे अविष्टं यागलक्षणे व्यापारेऽप्रविष्टमित्यथ । (2) आत्मान प्रतीयता इति पा । (3) बुद्धिशब्देन कल्पना । (4) ख्यापकत्वात् इति पा । (5) कल्पनारूढत्वमुल्लिखति ।

पुनर्बाह्यार्थतत्त्वनिबन्धनम[१] । तदुक्तम् ।—

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो [२]बुद्धौ प्रकाशते । [3]प्रामाण्य तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व[४]निबन्धनम ॥

इति वचनात् । ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य न पुनर्भावनेति प्रज्ञाकर[६] ।

[प्रत्यक्षवच्छब्देनापि बाह्यपदार्थस्य ज्ञान भवति]

[७]सोपि न परीक्षक —[८]प्रत्यक्षादिव श दाद्बहिरथप्रतीतिसिद्ध [1] । यथव हि प्रत्यक्षात्प्रति पत्तप्रणिधान[2]सामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षाथ[९]प्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छ

नियोग नाम की कोई चीज ही नही है इस पर हमारा ऐसा कथन है कि अग्निष्टोमेन यजेत वाक्य से सकेत को न समझने वाला कोई बालक या मूख पुरुष भी यज्ञकाय मे नियुक्त हो जावे क्योकि शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक–प्ररक है ।

इस पर भाट्ट न उत्तर दिया कि इस शब्द का यह अथ है कि पृथुबुध्नाकार—गोल मटोल को घट कहना कागज के पन्नो से सहित को पुस्तक कहना इत्यादि सकेत के अनुसार ही काय होता है अत श द मे सकेत को ग्रहण करने की योग्यता नही है क्योकि सकत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है । अत वेदवाक्य के द्वारा यज्ञ का सकेत ज्ञान मे सहकारी कारण है । इस पर फिर बौद्ध बोल पडता है कि सकेत श दभावना और पुरुषभावना म यापार नही करता है वह सकेत अथ ज्ञान मे यापार करता है और पदाथ रूप अथ का ज्ञान होने से ही वह पुरुष जलादि मे प्रवत्ति करता है । मतलब यह है कि श द विवक्षा मे आरूढ हुए अथको कहते हैं । बौद्धो ने वही बात अपने ग थो मे कही है कि वक्ता गुरु के व्यापार का विषयभूत जो अथ श्रोता की बुद्धि मे प्रकाशित हो रहा है उसी अथ को कहने मे शब्द प्रमाणीक है किन्तु वास्तविक अथ–तत्त्व को कारण मानकर शब्द की प्रमाणता का कोई खास कारण नही है । वक्ता की बुद्धि सम्ब धी व्यापार से जाना गया अथ यदि शिष्य की बुद्धि मे प्रकाशित हो गया तो उस अश मे श द प्रमाण हैं बाह्य अथ हो या न हो कोई आकाक्षा नही है ।

[प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है

भाट्ट—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी परीक्षक नही है । प्रत्यक्ष के समान ही श द से बाह्य पदार्थ की प्रतीति होना सिद्ध है ।

जिस प्रकार से प्रत्यक्ष से ज्ञाता के उपयोग रूप अंतरग और बाह्य सामग्री की अपेक्षा से प्रत्यक्ष

---

१ बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम् । २ श्रोतुर्बुद्धौ । ३ उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थ शब्दस्य प्रामाण्यम् । ४ बुद्धयारूढेऽर्थे । ५ बाह्यतत्त्व । ६ बौद्ध । ७ इतो भाट्टो वदति । ८ प्रत्यक्षविषयाथ ।

---

(1) प्रतिपत्तिसिद्धे इति पा । (2) एकाग्रता ।

शब्दार्थे[1]प्रतिपत्ति सकलजनप्रसिद्धा—अन्यथा[2] ततो बहिरर्थे[1] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थवेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिन स्वयमेव प्रवृत्त शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वक्तु युक्तम्—[3]प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात—तदर्थेपि[4] [5]सर्वस्याभि[6]लाषादेव प्रवृत्त । [7]परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्तकमिति चेत तथा[8] वचनमपि प्रवर्तकमस्तु—विशेषाभावात[3]। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थ —तस्य तत्र प्रतीतेस्तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा तस्यैव[9] तत्र[1] प्रतीतेरबाध्यमानत्वात् ।

के विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है तथैव सकेत सामग्री की अपेक्षा रखने वाले शब्द से ही शब्द के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान सकल जनो मे सुप्रसिद्ध है। अन्यथा–यदि आप शब्द से बहिरग घट पटादि पदार्थों का ज्ञान न मानो तब तो उन शब्दो से बाह्य पदार्थ का ज्ञान उसमे प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति नही हो सकेगी और जहाँ पर बाह्य पदार्थ मे प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है वही शब्द का अर्थ है ऐसा समझना।

भावार्थ—शब्द से बाह्य पदार्थ का ज्ञान न मानने पर तो जलादि शब्द से बाह्य पदार्थ जलादि मे प्यासे पुरुष को जलादि का परिज्ञान होना उसके पास जाना स्नान करना पीना लाना आदि रूप प्रवृत्ति और प्राप्ति कुछ भी नही हो सकेगी।

पदार्थ का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ मे उसके इच्छुक जनो की स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती है इसलिए शब्द अप्रवर्त्तक ही हैं ऐसा कहना भी शक्य नही है। अन्यथा प्रत्यक्ष आदि भी इस प्रकार से अप्रवर्त्तक हो जावेंगे। क्योकि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ मे भी सभी मनुष्यो की शब्द से ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि आप कहो कि परम्परा से–प्रत्यक्ष से अर्थ का ज्ञान होता है उस अर्थ के ज्ञान से अभिलाषा होती है पुन अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है अत परम्परा से प्रत्यक्षादि प्रवर्त्तक हैं।

ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार से वचनो को भी परपरा से प्रवर्त्तक मान लो दोनो मे कोई अतर नहीं है। अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान से अभिलाषा होती है और उस अभिलाषा से

१ शब्दविषयार्थे। २ शब्दाद् घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा तत शब्दाद्बहिरर्थे जलादौ पिपासितादे पुसो जलादि परिज्ञानं तत्समीपे गमन स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते। ३ अन्यथा। ४ प्रत्यक्षार्थे। ५ पु.। ६ शब्दात्। अभिलाषादिति च क्वचित्पाठ। ७ प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्तत प्रवृत्तिरिति। ८ शाब्द। ९ भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य। १ भावनाप्रेरणयो।

(1) यत्र हि प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तय समधिगम्यते स शब्दार्थ इति वचनात्। (2) सवेदना इति पा। (3) शब्दादर्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलाषस्तत प्रवृत्तिरिति।

[वचनेन कार्यस्य साक्षात्कारो भवति न वेति विचारः]

[1]नन्विद कुर्विति वचनात्कार्ये[2] व्यापारितत्व पुरुषस्य नियुक्तत्वम् । न च कार्ये [1]व्यापृतावस्था भाविनी तेन[2] साक्षात्कर्तु शक्या—[3]तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात । ततो बाध्यमानत्व [4]तत्प्रतीतिरिति । [5]तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते—[6]अन्यत्रापि समानत्वात् ।

प्रवृत्ति होती है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के जलादि पदार्थ विषय है उसकी वहाँ प्रतीति होती है उसी प्रकार से वेदवाक्य का भावना अथवा प्ररणा अथ है उन भावना अथवा प्रेरणा रूप अथ की ही वहाँ उनमे प्रतीति होती है इसमे भी बाधा नही है ।

विशेषार्थ—भाट्ट ने कहा कि आप प्रज्ञाकर बौद्ध प्रज्ञाकर न होकर प्रज्ञाशून्य ही हैं क्योकि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है वसे ही शब्दा से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है । जिस प्रकार से पुरुष के उपयोग रूप अतरग सामग्री और इद्रिय के सन्निकट पदाथ आदि रूप बहिरग सामग्री से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वसे ही सकेत सामग्री से ही शब्द के द्वारा अथ का ज्ञान होता है । यदि श द से बाह्य पदार्थों का ज्ञान नही होवेगा तब तो जल श द से जल का ज्ञान उसमे प्रवृत्ति करना उसे लाना प्यास बुझाना स्नान आदि करना कसे हो सकेगा ? अत शब्द से बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना उचित है । एव यदि बिना सकेत ग्रहण किये गए ही शब्द वस्तु का ज्ञान करा दगे तब तो बिना सकेत के मनुष्य तिर्यंच या बालक अथवा गू गे भी कठिन शास्त्रो का अथ समझ जावगे । विद्यालयो मे पाठका की आवश्यकता नही रहेगी । अतएव 'इस शब्द का यह अथ है जल श द से वाच्य वस्तु जल एव अग्नि शब्द से वाच्य उष्ण अग्नि है । इन इशारो को सकेत कहते हैं । परीक्षामुख मे भी कहा है कि सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतव ॥९६॥ यथा मेर्वादय सति ॥९७॥ अर्थों मे वाच्य रूप तथा श दो मे वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है जिसमे सकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान मे हेतु हो जाते हैं । जसे सुमेरु आदि है ऐसा मेरु श द के कहने या सुनने मात्र से ही जबूद्वीप के मध्य स्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है क्योंकि शिष्य को मेरु का सकेत मालूम था उसी प्रकार से सर्वत्र ही शब्द से अथ का ज्ञान हो जाता है । अतएव श द सवथा प्रवृत्ति कराने वाले नही है ऐसा एकात गलत है ।

[शब्द से काय का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार]

सौगत— इद कुरु इस वचन से याग लक्षण काय मे पुरुष का व्यापार होना ही नियुक्तत्व है । एव कार्य में होने वाली व्यापार की अवस्था उस नियोज्य-पुरुषके द्वारा साक्षात् नही की जा सकती है

१ सौगत । २ यागलक्षणे । ३ भावनाप्ररणालक्षणाथस्य । ४ व्यापृतत्व । ५ भट्ट । ६ प्रत्यक्षादावपि बाध्यमान प्रतीतित्वस्य समानत्वात् ।

(1) व्यापृतावस्था इति पा । (2) नियोज्येन ।

प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थक्रियाकारी सलिलादिः । सा च तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना[1] वेदनेन साक्षात्कर्तुं शक्या[2] तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात् । ततोध्यक्षस्य प्रवर्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकं कथमेवेति न शक्यं वक्तुम् । यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि वेदने प्रतिभात्येव—एकत्वाध्यवसायात् तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्यापृतता तत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते । तथा सति बुद्ध्यारूढोर्थः शब्दस्य स्यादिति चेत्तथापि[5] प्रत्यक्षस्य

यदि भावना अथवा प्रेरणा लक्षण अर्थ को साक्षात करना मानोगे तब तो नियोग ही निष्फल हो जावेगा। इसलिए यह प्रतीति बाधित ही है।

भाट्ट—यह आपका कथन असमञ्जस ही मालम पडता है क्योंकि अन्यत्र—प्रत्यक्षादि मे भी यह बाध्यमान प्रतीति समान ही है इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना ही तो प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व कहा गया है। एवं प्रवृत्ति के विषय जलादि हैं जो कि स्नान पानादि रूप से अर्थक्रिया कारी हैं और वह जलादि की अर्थक्रियाकारिता भाविनी—भविष्यत् मे होने वाली है। स्नानपान आदि क्रिया के साधन जलादि है वे साधन जिस ज्ञान मे झलकते हैं वह ज्ञान साधनावभासी है वह भाविनी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साक्षात् नही की जा सकती है। यदि आप भाविनी अर्थक्रियाकारिता को साक्षात् करना मानोगे तब तो उसमे प्रवृत्ति ही विफल हो जावेगी इसलिए प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व बाधित प्रतीति वाला कसे है? ऐसा भी आपको कहना शक्य नही है क्योंकि प्रत्यक्ष भी बाधित प्रतीति वाला ही है।

सौगत—अनागत—भविष्य मे होने वाली भी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित ही होती है क्योंकि भाविनी अर्थ क्रियाकारिता और प्रत्यक्ष इन दोनो मे एकत्व का ज्ञान हो रहा है अर्थात् दृश्य और प्राप्य मे एकत्व का अध्यवसाय होता है। यहा दृश्य कहने से जल समझना और प्राप्य

१ स्नानपानादि। २ सलिलादे। ३ प्रत्यक्षेण। ४ भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति। ५ कुतः ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति। ६ हे सौगत त्वमेव वदसि। ७ प्रत्यक्ष। ८ भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरक्याध्यारोपात्। ९ अनागतता। १० पुरुषव्यापृततावस्थयोरेकत्वाध्यवसायादेव। ११ भवद्भिः सौगतैः। १२ बौद्ध। १३ भाट्ट।

(1) दृश्य—सलिल। स्नानपानादिक्रियायाः साधनं जलादि। (2) पुरुषस्य (3) बाध्यमानप्रतीतिकमेव इति शक्यं वक्तुं। इति पा। (4) दृश्यप्राप्ययोः। दृश्यमित्युक्ते जलं प्राप्यमित्यर्थक्रिया तयोरेकत्वाध्यवसायात्। दृश्ये अर्थे भाविन्यर्थक्रियायाः सद्भावात्। (5) तथापि इति पा।

बुद्ध्यध्यवसितार्थं किमु भवति[1]। ततो[2] निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न[3] स्यात्। [4]परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्तकम् स्वरूपस्य [1]स्वतो गतिः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति चेत् [4]पुरुषाद्वैतस्य

कहने से अर्थक्रिया लेना इन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय है। मतलब दृश्य जल में भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—स्नान पानादि का सद्भाव है।

भाट्ट—यदि आप सौगत ऐसा कहते है तब तो शब्द से भी पुरुष का अनागत कार्य—व्यापार उसी एकत्व ज्ञान रूप हेतु से प्रतिभासित ही होता है ऐसा भी आप क्यों नहीं मान लेते हो ?

यदि आप कहें कि वैसा होने पर बुद्धि से आरूढ़ अर्थ शब्द का विषय होता है तब तो उसी प्रकार से आपके यहां भी प्रत्यक्ष का भी अर्थ बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ क्यों नहीं हो जावे क्या बाधा है? क्योंकि स्नान पान आदि क्रियायें तो भाविनी ही हैं पुनः प्रत्यक्ष भी निरालंबन ही क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष भी निरालंबन रूप ही हो जावेगा।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि 'इदं कुरु' यह करो इस वचन से यज्ञ में पुरुष की प्रवृत्ति होना ही नियुक्त होना है एवं यज्ञ कार्य मे होने वाली प्रवृत्ति उस वचन से साक्षात् नहीं की जा सकती है यदि भावना या प्रेरणा लक्षण अर्थ का साक्षात्कार करना मानोगे तब तो नियोग का फल क्या रहेगा ? इस पर भाट्ट ने कहा कि ऐसी बाधा तो प्रत्यक्षादि ज्ञान में भी आ सकती है क्योंकि प्रवृत्ति के विषयभूत जलादि को दिखाना ही प्रत्यक्ष का प्रवर्तकपना है और जलादि की अर्थक्रिया—उसमें स्नान पान आदि करना वह तो कार्य और फल भविष्य मे होता है। अर्थक्रिया के साधनभूत जल को बतलाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस भविष्य की स्नान पान आदि अर्थ क्रिया को साक्षात् नहीं करता है यदि बौद्ध कहें कि भविष्य में होने वाली अर्थ क्रिया—कार्य प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक रहा है क्योंकि भविष्य के कार्यरूप अर्थक्रिया और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व दिख रहा है। तब तो आप बौद्ध ऐसा भी मान लो कि शब्द के द्वारा भविष्य मे होने वाला यज्ञ कार्य उस शब्द में झलक रहा है शब्द के बोलने पर प्रतीति में आ रहा है। यदि आप कहें कि ज्ञान मे प्रतिभासित अर्थ ही शब्द का विषय है तब तो ज्ञान मे झलकते पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं ऐसा भी मानो पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान निरालंबन हो गया अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय कुछ भी पदार्थ नहीं रहा "मात्र ज्ञान मे ही पदार्थ झलक रहे हैं कुछ बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं" ऐसी विज्ञानाद्वैत की मान्यता ही सिद्ध हो जावेगी।

बौद्ध—परमार्थ से प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' ज्ञान की स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है अथवा संवेदनाद्वैत की स्वयं ही सिद्धि मानी गयी है।

---

१ कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव। २ बौद्ध। ३ ज्ञानस्य स्वरूपादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात्। ४ भाट्ट।

---

(1) स्नानपानादि क्रिया भाविनी यत। (2) यतो इति पा।

कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य[1] संवित्त्यभावादिति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तत्सिद्धिरेव स्यात् । [2]ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेर्भेदवादे च प्रत्यक्षस्य [3]प्रवर्त्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं[4] वस्तु[5] प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्[4] ‘विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । ‘भेदस्याभेदस्य’ वा ‘सांवृतत्वे सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा[6] च शब्दात्कायव्यापृततायाः[7] व्यक्तिरूपेण

भाट्ट—ऐसा कहो तो पुरुषाद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ?

बौद्ध—उस नित्य सर्वगत एक स्वरूप परम पुरुष का ज्ञान ही नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो क्षणिक निरंश एक ज्ञानाद्वैत रूप का संवेदन—ज्ञान किसी को कदाचित् हुआ है क्या ? जिससे कि उसकी ही सिद्धि हो सके अर्थात् वह संवेदनाद्वैत भी असिद्ध ही है ।

इसलिए पुरुषाद्वैत के समान संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना सर्वथा अशक्य है एवं सर्वथा भेदवाद में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है क्योंकि प्रवर्तकत्व का अर्थ ही अपने विषय को दिखला देना है । अतः आप सौगत को भिन्नाभिन्नात्मक ही वस्तु प्रतीति में आती हुई माननी चाहिए । अर्थात् भिन्नाभिन्नात्मक वस्तु को मानने का कथन भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर कह रहा है ।

दृश्य और प्राप्य रूप आकार से भेद और वस्तु रूप से अभेद मानना चाहिए और उसमें विरोध आदि दोषों का उत्सारण–निवारण चित्र ज्ञान के दृष्टांत से कर ही दिया है अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न रूप भी है और अभिन्न रूप भी है इस मान्यता में तो परस्पर विरोध है इत्यादि इन दोषों का परिहार चित्र ज्ञान को एकानेक सिद्ध करके पहले ही कर दिया है । दृश्य-देखने योग्य जल और प्राप्य स्नान पानादि से प्रवृत्ति योग्य अर्थ में सर्वथा भेद मानने पर तो हे सौगत ! पूर्व का जल ज्ञान और उत्तर में स्नान पान आदि प्रवृत्ति रूप ज्ञान में सर्वथा भेद प्रतिपादन करने पर तो पुनः प्रत्यक्ष अपनी प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक—बतलाने वाला भी नहीं हो सकेगा । अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रूप वाली वस्तु ही स्वीकार करना उचित है ।

सर्वथा भेद रूप क्षणिक वस्तु को अथवा सर्वथा अभेद रूप नित्य वस्तु को सांवृत्त काल्पनिक मानने पर उसमें सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध आता है । अर्थात् द्रव्यवादी सांख्य भेद को कल्पित मानता है

१ प्रतीतिः । २ दृश्यप्राप्ययोरर्थयोः सर्वथा भेदे । ३ हे सौगत पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्यात् । ४ भवद्भिः सौगतैः । ५ विरोधादिदोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात् । ६ क्षणिकस्य । ७ नित्यस्य । ८ काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते । पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते । एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते ।

(1) तत्प्रतीतिर्नास्ति यतः । (2) स एव भाट्टः प्राह । (3) प्रवर्तकत्वं नाम स्वविषयोपदर्शकत्वं । (4) दृश्यप्राप्याकारेण भेदो वस्तुत्वेनाभेदः । (5) जलादि । (6) भेदाभेदात्मकत्वेन वस्तुनः प्रतीतिसिद्धत्वे च । (7) अवस्थायाः ।

भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सत[1] कथञ्चिदभिन्नाया [1]शब्दज्ञाने तदैव[2] प्रतिभासनेऽपि न नियोगो निष्फल स्यात् [3]प्रत्यक्षत सलिलादौ प्रवृत्तिवत् । [4]तत्र हि सलिलादेरर्थक्रिया [5]योग्यताप्रतिभासनेऽपि व्यक्तायर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्त्तन प्रतिपत्तु[2] सफलतामियर्त्ति नान्यथा[6] । [7]एव शब्दादात्मन [8]कार्यव्यापततायोग्यताप्रतिपत्तावपि [1] व्यक्तकार्यव्यापततानुभवाभावात् [3]पुरुषस्य [11]नियोग सफलतामियात्—तथा [12]प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्ध । [13]ततो

और पर्यायवादी बौद्ध अभेद को कल्पित कहता है। इन दोनो को कल्पित रूप मानने पर वस्तु मे सर्वथा ही अर्थक्रिया घटित नहीं होती है और भेदाभेदात्मक रूप से वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उसी प्रकार वह अथ क्रिया शब्द से काय में व्यापृत है। व्यक्ति रूप से भाविनी भविष्य मे होने वाली होते हुए भी शक्ति रूप से विद्यमान पुरुष से कथचित अभिन्न ही है। वह अर्थक्रिया (यज्ञ) शब्द ज्ञान मे अग्निहोत्र जुहुयात स्वगकाम इत्यादि शब्दोच्चारण के काल मे प्रतिभासित होने पर भी नियोग निष्फल नही हो सकता है जसे प्रत्यक्ष से जलादि मे प्रवत्ति निष्फल नही है उसी प्रकार शब्द स नियोग भी निष्फल नही है।

उस प्रत्यक्ष में जलादि की अथ क्रिया की योग्यता—सामथ्य का प्रतिभासन होने पर भी व्यक्ति रूप अथ क्रिया का अनुभव नही है अतएव उस व्यक्ति रूप अर्थक्रिया की प्रवत्ति के लिए उस विषय मे प्रवत्त होना मनुष्य का सफलीभूत हो रहता है अन्यथा—प्रवृत्ति के बिना अथक्रिया का अनुभव नही हो सकता है। अर्थात प्रत्यक्ष से जल देखा उस समय उस जल मे स्नान पान आदि की योग्यता है यह बात शक्ति रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक गयी पुन स्पष्टतया स्नान पान आदि अथ क्रिया तो आग होती है अत स्नान पानादि की प्रवृत्ति के लिए उस प्रत्यक्ष ज्ञान से गहीत जल मे स्नानादि से प्रवत्ति करता है क्योकि प्रवृत्ति किये बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं होता है अत प्रत्यक्ष ज्ञान सफलीभूत है।

इसी प्रकार शब्द से पुरुष की याग लक्षण काय-व्यापार की योग्यता के जान लेने पर भी यक्त प्रकट रूप याग लक्षण कार्य रूप व्यापार का अनुभव नही होने से पुरुष का नियोग सफल ही है क्योकि उस प्रकार से प्रतीति भी होती है और वह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है अत जसे प्रत्यक्ष से बाह्य पदार्थों की प्रतीति

१ स्वत इति पाठान्तरम् । २ स्वगकामोऽग्निहोत्र जुहुयादित्यादिवाक्योच्चारणकाले । ३ यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात् । ४ प्रत्यक्ष । ५ सामथ्य । ६ प्रवर्त्तनमन्तरेणाथ क्रियानुभवो न स्यात् । व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थ प्रवत्तन पुरुषस्य सफलता न प्राप्नोति । ७ प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्ट) । ८ पुरुषस्य । ९ यागलक्षण । १ यागलक्षण । ११ कतृभूत । १२ प्रतीतेरेवाऽबाध्यत्वसिद्ध रिति पाठान्तरम् । १३ प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यत प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यत ।

(1) शब्दज्ञाने इति पा । (2) तदर्थं प्रवर्तन । (3) पुरुषस्य तदर्थो नियोग इति पा ।

न नियोगादिरूप एव शब्दस्यार्थं प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

[कारकभेदेन क्रियाया भेदाभेदविचार]

[illegible] ।—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्त [1]पचेदिति कर्तुरनभिधानात्[2]कर्तृकरणयो[3]स्तृतीयेति [4]तृतीया प्राप्नोति[3] । कर्तरभिधाने [5]त्वन भिहिताधिकारात्तिङर्थ[4] चोक्तत्वान्न[5] भवतीति । [6]तदप्ययुक्त[6]—[7]भावनाविशेषणत्वेन

होती है उसके समान ही शब्द से बाह्य अर्थ का ज्ञान सिद्ध है क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक–पुरुष एवं शब्द की प्रतीति सत्य ही है इसलिए विवक्षा में आरूढ़ ज्ञान में प्रतिभासित होना ही शब्द का अर्थ है ऐसा प्रमाण के बल से अवलंबन–स्वीकार करना युक्त नहीं है जैसे कि वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि है यह कथन ठीक नहीं है।

भावार्थ—जब भाट्ट ने प्रत्यक्ष के विषय को निरालंब—शून्य सिद्ध किया तब तो विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध को अवकाश मिल गया और उसने कहा कि वास्तव में प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि स्वरूप का ज्ञान स्वयं ही होता है अतएव बाह्य पदार्थ कोई चीज ही नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। इस पर भाट्ट ने कहा कि फिर आप वेदांतियों के ब्रह्माद्वैत को भी मानो। यदि कहो नित्य एक परम पुरुष दिखता नहीं है तब क्या निरंश क्षणिक एक रूप ज्ञान किसी को दिखता है? अतः सौगत के द्वारा मान्य सर्वथा भेदवाद भी [illegible] ही है। मतलब दृश्य-जल और प्राप्य पीने के लिए जल का ग्रहण आदि रूप भविष्यत में होने वाली अर्थक्रिया ये दोनों यदि सर्वथा भिन्न हैं फिर जो शब्द से जल को सुनकर जल को देखेगा वही मनुष्य उस जल को पीने लाने या उसमें नहाने की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा। अतः यह स्नानपानादि अर्थ क्रिया शब्द से [illegible] कार्य रूप व्यापार में है व्यक्त स्पष्ट रूप से भविष्य में होने वाली है फिर भी शक्ति रूप से पुरुष से अभिन्न है और शब्द के ज्ञान में झलक रही है फिर भी नियोग निष्फल नहीं है।

[कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार]

और जो आपने कहा है कि शब्द भावना रूप नियोग वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा होने पर तो 'देवदत्त पचेत्' इस प्रकार से कर्ता का कथन नहीं होने से अप्रधान कर्ता और करण में तृतीया होती है

१ भाट्टो वदति। (प्रभाकरेण स्वग्रन्थे)। २ अप्रधानयोः। ३ विभक्ति। ४ कर्त्त। ५ तृतीया। ६ भाट्ट। ७ शब्दभावना।

(1) शब्दभावनारूपस्य नियोगस्य। (2) देवदत्त पचेदिति वाक्यं यदि शब्दभावना रूप नियोगं प्रतिपादयति तदा कर्ता अनुक्तो भवति। पचेदिति क्रिया कर्तारं न प्रतिपादयति नियोगप्रतिपादनपरत्वात्तस्याः। (3) अनभिहिताधिकारात् तृतीया भवति अभिहिते कर्तरि तृतीया न भवति तिङोक्तत्वात्। (4) अनभिहिते कर्तरि। (5) पचेदिति। (6) नियोगस्य [illegible] वाक्यार्थत्वसिद्धिः [illegible]प्रमाणप्रकारेणास्य मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थत्वाभाव [illegible] मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थभूतार्थभावनायामेव तं परिहरन्नाह। उक्तदोषस्य तत्राप्यनुषंगात्।

कर्तुः प्रतिभासनात्। [1]भावना हि करोत्यर्थः। [2]स च देवदत्तकर्तृकः प्रतिभाति। पचेद् देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नाया करणक्रियाया देवदत्तकर्तृकाया प्रतीतेः—[3]युगपदेव विशेषणविशेष्ययो प्रतिभासाविरोधात् नीलोत्पलादिवत। [4]ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु।

"[5]क्रमप्रतीतिरेवं[1] स्यात प्रथम भावनागतिः। तत्सामर्थ्यात्पुनः[1] पश्चाद्यत [2] कर्ता प्रतीयते[3] ॥"

इति यदप्यभ्यधायि" [6]द्विवचन बहुवचने च [5]प्राप्नुत—एकत्वाद्व्यापारस्य[6]। [7]अथ [8]कारक-

---

इस कथन से तृतीया विभक्ति प्राप्त होती है एव कर्ता का कथन करने में अभिहित का अधिकार न होने से लिङ् के द्वारा ही कर्ता को कह देने से तृतीया नहीं होती है अर्थात 'देवदत्त पचेत देवदत्त पकाता है यह वाक्य यदि शब्द भावना रूप नियोग का प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त होता है। "पचेत् पकाता है यह क्रिया कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि यह क्रिया नियोग के प्रतिपादन करने में तत्पर ह एव अभिहित अधिकार के न होने से तृतीया होती ह किन्तु कर्ता के अभिहित कथन कर देने पर तृतीया नहीं होती है क्योंकि तिङ प्रत्यय के द्वारा ही कथन हो जाता है।

यह सब आपका कथन भी अयुक्त ही है। अर्थ भावना रूप विशेषण से कर्ता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि करोत्यर्थ ही भावना का लक्षण है और करोति क्रिया का अर्थ देवदत्त कर्त्ता रूप प्रतिभासित होता है।

पचेत् देवदत्त =पाक कुर्यात इस प्रकार से पाक से अवच्छिन्न देवदत्त कर्तृक करण क्रिया की प्रतीति हो रही है क्योंकि युगपत् ही विशेषण और विशेष्य का प्रतिभास विरुद्ध नहीं है जैसे कि नीलोत्पल मे नील विशेषण और कमल विशेष्य एक साथ ही अनुभव मे आते हैं। इसलिए आप प्रज्ञाकर बौद्ध के ये वचन चारु-सुन्दर नहीं हैं अर्थात् विशेषण और विशेष्य की युगपत प्रतीति होती है कहा भी है—

श्लोकार्थ —एव इस प्रकार क्रम से प्रतीति होने से पहले भावना का ज्ञान होता है पुन उसकी सामर्थ्य से कर्ता और भावना मे विशेषण विशेष्य भाव के प्रकार से पश्चात्—बाद मे कर्ता प्रतीति में आता है।

ऐसा जो आप सौगत ने कहा है कि क्रिया लक्षण भावना में द्विवचन और बहुवचन नहीं प्राप्त होता है क्योंकि भाट्ट की स्वीकृति अनुसार व्यापार एक है यह आप सौगत का कथन भी असत्य ही है।

---

१ भावनाया किं लक्षणमित्युक्ते आह। २ करोत्यर्थ। ३ यदि भावनाविशेषणत्वेन कर्ता तथापि तयो क्रमप्रतीतिरिति तर्हि पूर्वं कर्तृ प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कायामाह। ४ भट्टोवदति।—यत एव तत इदमग्र तनकारिकाभि वक्ष्यमाण सौगतवचन मनोज्ञ न स्यात्। ५ क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति खपुस्तकपाठ। ६ कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभाव-प्रकारेण। स्युरेवतुपुनरेवेत्यवधारणवाचका इति वचनात्। ७ भट्टो वदति।—यदवादि सौगतेन तदप्यसत्यमिति पदेन सम्बन्ध। ८ क्रियालक्षणाया भावनाया।

---

(1) कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण। (2) पश्चात्। (3) भवदभ्युपगमप्रकारेण। (4) पचेता। (5) च न प्राप्नुत इति पा.। तदयुक्तं प्रतिभाति। (6) युगपदभिक्रियाव्यापारलक्षणस्य भाट्टस्याभ्युपगमप्रकारेण। (7) यदि। (8) कर्मादि।

भेदात् [1]स्वव्यापारभेदो भविष्यति 'क्रियते कटो [2]देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जस[2] स्यात् । तथा हि ।—

एकत्वात्कर्मण[3] प्राप्त क्रियकत्व तथाभिद [4] । [5]कर्तृ भवादितीत्थ[3] च कि [7]कर्त्तव्य विचक्षण ।। इति ।

तदप्यसत्यम्—[9]प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकवचन देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते[1] । स च धात्वर्थो न नियोग —नियोगस्य[4] प्रत्ययार्थत्वात्[11] । [12]स च [13]धात्वर्थातिरिक्त कर्तृसाध्य । [14]तस्य कर्त्त भेदाद्भेद इति । [15]तत कट कुरुत[16] इति द्विवचनम् । धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी[1] ।

यदि कहो कि कारक के भेद से अपने व्यापार मे भेद हो जावेगा तब तो देवदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा कट (चटाई) किया जाता है यह कथन भी बहुत ही असमजस युक्त हो जावेगा । तथाहि—

श्लोकार्थ—कट लक्षण कम का एक रूप है अत क्रिया मे एकत्व प्राप्त हुआ है क्योकि कर्त्ता में भेद देखा जाता है अत कर्त्ता के निमित्त से क्रिया भी दो प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार से क्रिया मे भी एकत्व अनेकत्व प्रकार हो जाने से भेद हो जाता है तो विचक्षण पुरुष क्या कर सकते हैं ? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं ।।

इस प्रकार का आप बौद्धो का कथन भी असत्य है क्योकि प्रत्यक्ष से प्रतीति मे विरोध आता है 'देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते' ऐसे भाव वाक्य में धात्वर्थ के अभेद से एक वचन ही प्रतीति में आता है और वह धातु का अर्थ नियोग नही है क्योकि नियोग तो प्रत्यय का अथ है वह धात्वर्थ से भिन्न है और वह पुरुष का व्यापार धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त—भिन्न कर्त्ता से साध्य है। उस प्रत्यय के अर्थ मे कर्त्ता के भेद से भेद होता है। इसलिए कट कुरुत इसम द्विवचन होता है किन्तु भाव रूप—शुद्ध धात्वर्थ कारक के भद से भेद रूप नहीं होता है।

विशेषार्थ—व्याकरण में जिसमे प्रत्यय (विभक्ति) लगकर क्रिया बन जाती है उन्हे धातु कहते हैं जैसे भू पच आदि । वे धातु दो प्रकार की होती हैं सकमक और अकमक ।

---

१ तर्हि । २ उदाहरणम् । ३ कटलक्षणस्य । ४ भेदात् । ५ तथाभिदा कर्तृ भेद इतीत्थ चेति पाठान्तरम् । कर्त्रऽपेक्षया क्रियायां द्वैविध्यं जातम् । ६ क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । ७ न किमपि (काकु) । ८ भट्ट (सौगतोक्तमसत्यम्) । ९ प्रत्यक्ष । १० भावे । ११ प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्न । १२ पुरुषव्यापार । १३ क्रियात । १४ प्रत्ययार्थस्य । १५ कर्तृ साध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्ट:) । १६ देवदत्तयज्ञदत्तौ । १७ भावरूपो धात्वर्थ ।

---

(1) व्यापारभेदो इति पा । (2) कारकभेदे क्रियावचनभेदो न जायेत । (3) कर्तृभव इतीत्थ इति पा (4) अन्वयति क्रियारूपस्य ।

श्लोक—क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षां।

सकर्मकं तं सुधियो वदंति, शेषस्ततो धातुरकमकं स्यात् ॥१॥

सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः।

धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—जो कर्तापद से युक्त क्रियापद क्या इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा रखते है विद्वान जन उन क्रियापदो को सकर्मक कहते हैं एव उनसे बची हुई धातुयें अकर्मक कही जाती हैं ॥१॥

जो सन्मात्र रूप भावलिङ्ग है कारको के सम्बन्ध से रहित है केवल शुद्ध धात्वर्थ हैं उसे भाव वाची कहते है ॥२॥

यहाँ वे धातु लज्जा सत्ता स्थिति जागरण वद्धि क्षय भय जीवन मरण शयन क्रीडा रुचि और दीप्ति अर्थ वाले धातु अकर्मक कहलाते हैं क्योकि इनमे कर्म की अपेक्षा नहीं है। इन सकर्मक और अकर्मक धातुओ मे विभक्ति के लग जाने से ये तिङन्त अथवा मिङन्त कहलाते हैं एव दस प्रकार से लकारों से प्रयुक्त किए जाते है। सकर्मक क्रियाये भी कर्त्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से दो प्रकार की मानी गयी हैं एव अकर्मक क्रियायें कर्त्तरि प्रयोग और भाव प्रयोग के भेद से दो प्रकार की होती हैं सकर्मक क्रियाओ के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण—

अहं जिनालयं गच्छामि—मैं जिनालय को जाता हूँ।

आवां अष्टसहस्रीमध्येव—हम दो जने अष्टसहस्री का अध्ययन करते हैं।

सर्वे जिनपूजां कुर्वंति—सभी जिन पूजा करते है।

देवदत्त ओदनं पचति—देवदत्त भात को पकाता है।

इन वाक्यो मे जाने वाला पढ़ने वाला और पकाने वाला कर्त्ता प्रधान—स्वतंत्र है अत इन वाक्यो को कर्त्तरि प्रयोग कहते हैं। इन वाक्यो मे कर्त्ता के अनुसार एक वचन द्विवचन और बहुवचन रूप क्रिया हो जाती हैं। अकर्मक धातुओ के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण—

स शेते—वह सोता है। जम्बूद्वीपे सूर्यौ प्रकाशेते—जम्बूद्वीप मे दो सूर्य चमकते हैं। वृक्षा वर्धंते—अनेक वृक्ष बढ़ते हैं।

इन अकर्मक धातुओ मे कर्म है ही नही अत क्रिया का सभी भार कर्त्ता पर ही है। सोने वाले प्रकाशित होने वाले एव बढने वाले कर्त्ता सवत प्रधान हैं अत ये वाक्य अकर्मक कर्तृ प्रयोग हैं इनमें भी कर्त्ता के अनुसार ही क्रिया एकवचन द्विवचन बहुवचन रूप हो जाती है।

सकर्मक धातुओ से कर्मणि प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन अष्टसहस्री पठ्यते—देवदत्त के द्वारा अष्टसहस्री पढ़ी जाती है।

मया व्याकरणं पठ्यते—मेरे द्वारा व्याकरण पढ़ी जाती है।

युवाभ्यां जिनपूजा क्रियते—तुम दोनो के द्वारा जिन पूजा की जाती है।

अस्माभिः गुरुः सेव्यते—हम सभी के द्वारा गुरु की सेवा की जाती है।

देवदत्तेन कटौ क्रियेते—देवदत्त के द्वारा दो चटाई बनाई जाती हैं।

मया न्यायव्याकरणसिद्धांतशास्त्राणि पठ्यंते—मेरे द्वारा न्याय व्याकरण और सिद्धात शास्त्र पढ़े जाते हैं।

इन वाक्यों के प्रयोग में कर्म प्रधान है और कर्त्ता अप्रधान है अत कर्त्ता मे तृतीया हो जाती है और कर्म में प्रथमा ही रहती है। तथा कर्म के एक वचन द्विवचन और बहुवचन के अनुसार ही क्रिया में एक वचन, द्विवचन और बहुवचन हो जाते हैं।

अकर्मक क्रियाओ के भाव प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन शय्यते—देवदत्त के द्वारा सोया जाता है।

आवाभ्यां आस्यते—हम दोनों के द्वारा बैठा जाता है।

बहुभिः जन्यते—बहुत से प्राणियों के द्वारा जन्म लिया जाता है।

इन अकर्मक धातुओं के भाव प्रयोग मे कर्त्ता में तृतीया होती है एवं भाव के अर्थ में धात्वर्थ क्रिया में एक वचन ही रहता है। इन वाक्यों के प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान है और धात्वर्थ क्रिया ही प्रधान है क्योंकि यहां कर्म का अभाव है।

यहां पर भाट्ट का ऐसा कहना है कि प्रज्ञाकर बौद्ध ने अपने ग्रन्थो मे जो ऐसा कहा है कि यदि शब्द भावना रूप नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है— देवदत्त पकाता है ऐसा वाक्य यदि शब्दभावना रूप नियोग का ही प्रतिपादन करता है तब कर्त्ता अनुक्त—नहीं कहा जाता है। पकाता है यह क्रिया अपने कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि वह क्रिया तो नियोग अर्थ का प्रतिपादन करती है और जब कर्त्ता अप्रधान है तब वहां पर कर्त्ता में तृतीया होनी चाहिए थी किन्तु यहां कर्ता का कथन होने से तृतीया नहीं हुई है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि यह सब आपका कथन अयुक्त है क्योंकि हमने अर्थभावना रूप विशेषण के द्वारा कर्त्ता का प्रतिपादन कर ही दिया है एवं करोति क्रिया का जो अर्थ है वही भावना है वह भावना देवदत्त कर्त्ता रूप से ही प्रतिभासित होती है। अर्थभावना तो विशेषण है और कर्त्ता देवदत्त विशेष्य है एवं विशेषण विशेष्य का ज्ञान एक साथ होता है क्रम से नहीं होता है इसलिए कारक के भेद से उसके व्यापार रूप क्रिया में भेद ही होवे ऐसा एकांत नहीं है।

"देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों के द्वारा एक चटाई बनाई जाती है इसमे कर्मणि प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान होने से उसमें तृतीया का द्विवचन है किन्तु कर्म रूप चटाई प्रधान है और उसमे एक वचन होने से "क्रियते" क्रिया में एकवचन ही है।

इसलिए कर्मणि प्रयोग में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है तथा इसी का कर्त्तरि प्रयोग करनेपर देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुतः—देवदत्त और यज्ञदत्त चटाई को बनाते हैं यहा कर्ता की प्रधानता है क्रिया

[शब्दभावनारूपनियोगोऽर्थभावनाया विशेषणमस्य विचारः]

स्यादाकूतम्[१] ।—

सम्बन्धाद्यदि[२] तद्भेदो[३] धात्वर्थस्याप्यसौ[४] भवेत्[५] । सोपि [६]निवर्त्य [७]एवेति [८]तद्भेदेनव भिद्यताम् ॥

[९]अस्माकं तु ।—

१ विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेद[११]व्यवस्थिते । [१२]लाभिधानात्कारकस्य[१३] सवमे[१४]तत्समञ्जसम ॥

मे भी द्विवचन हो जाते है ।

किन्तु बौद्ध का यदि ऐसा कहना ह कि कर्त्ता के भे॰ से क्रिया मे भेद होवे हो होवे सो ठीक नहीं है क्योंकि अकमक धातु से कर्त्ता मे भेद होने पर भी धात्वथ शुद्ध क्रिया मे एकवचन ही रहता है एव प्रत्यय का अथ नियोग माना गया है अत धात का अथ नियोग नहीं है और धात्वथ शुद्ध ह कारक के भेद से भी उसमे भे॰ नही होता ह उसमे केवल सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग होता ह ऐसा समझना चाहिए ।

[शब्दभावना रूप नियोग अथभावना का विशेषण ह ॰म पर विचार]

श्लोकार्थ—योगाचार बौद्ध कहता है कि—यदि सम्ब॰ध से उस प्रत्यय रूप नियोग मे कर्त्ता सम्ब॰धी कारक के भेद से भेद है तो पुन आस्यते इस सत्ता रूप धात्वर्थ मे भी प्रत्यय भेद होवे । वह भी पुरुष के द्वारा ही निवर्त्य-निष्पाद्य है उस कारक-कर्त्ता के भेद से ही उसमे भेद हो जावे ॥

अर्थात् जिनदत्तगरुदत्तयज्ञदत्तरास्यते जिनदत्त गुरुदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बठा जाता है । इस भाव रूप क्रिया मे एकवचन ही होता है किन्त अथ के भेद से भाव रूप धात के अर्थ मे भेद नहीं होना है । इस प्रकार से जो आरोप है कि यदि कारक के भेद से प्रत्यय मे भेद है तो यहाँ भी आस्यते क्रिया मे बहुवचन होना चाहिए कि॰त हम लोगो के यहा तो—

श्लोकाथ—विवक्षा-कल्पना के आधीन होने से कारक ॰यापार म भेदाभेद की व्यवस्था ह । दस लकार के कथन से कारक म-प्रत्यय रूप नियोग में भेद और अभेद होते हैं इसलिए एक वचनादिक सभी समजस-ठीक ही हैं ॥

भाव म उत्पन्न हुई लकार नाम की क्रिया कर्त्ता और कम से भेद रूप से ही विवक्षित की गई है जब वह क्रिया लकार इत्यादि प्रत्यय से कही जाती ह तब वह कर्त्ता नही ह तब कर्त्ता के अप्रधान मे तृतीया

---

१ योगाचारस्य । २ तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य ३ कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदि प्रत्ययभेदस्तदा । ४ सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य । ५ प्रत्ययभेद । ६ पुरुषरण निष्पाद्य । ७ हेतो । ८ कारक । कर्तृ । प्रत्यय । ९ योगाचाराणाम् (सौगतानाम्) । १० कल्पना । ११ व्यापारस्य कारकस्य । १२ दशलकारेण । १३ प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवत । १४ एकवचनादिकम् ।

---

(1) भावरूपस्य देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तै रास्यते एतदेकमेव भवति नार्थभेदाद् भावरूपस्य धात्वर्थस्य भेद ।

क्रिया[1] हि कर्त्तुः कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते सा यदा लकारेणाभिधीयते, न कर्त्ता तदा कर्त्तरि तृतीया भवति। यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति तदेतदपि पक्षपातमात्रम् सौगतस्य। भेदाभेदयो वस्तुरूपयो प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्ते। ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्त्त व्यापार स्तिङा प्रतिपाद्यते। स एव च भावना[11]। तथा चाह।—भावार्था[13] [14]कमशब्दा। भावनं भावो [15]ण्यन्ताद्धञ्प्रत्यय। तथा च सति भावनवासौ। भावना च[2] कर्त्त व्यापार स[16] चोदित[3] [17]स्वव्यापारे प्रवर्त्तते[1] इति। [4]नियोग्यस्य[19] च तच्छेषत्वादप्रधानत्वा

होती है जब कर्त्ता कहा जाता है तब प्रथमार्थ का अर्थ होने से प्रथमा होती है जैसे क्रियते महात्मना— महात्मा के द्वारा किया जाता है इसमें भाव में क्रिया होने से कर्त्ता में भेद है क्योंकि कर्त्ता महात्मा यहाँ स्वाधीन नहीं है। 'करोति महात्मा'—महात्मा करता है। यहाँ प्रथमान्त कर्त्ता है। यहाँ कर्त्ता प्रधान है।

भाट्ट—यह आपका कथन भी पक्षपात मात्र ही है आप सौगत के यहाँ तो वस्तुरूप—वास्तविक भेद और अभेद की प्रतीति सिद्ध होने से उसकी विवक्षा के निमित्त से उस प्रकार का व्यवहार पारमार्थिक हो जावेगा और उस प्रकार से करोत्यर्थ देवदत्त कर्तृक होता है अतः शब्द व्यापार रूप ही शब्द भावना युक्त है एवं पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना भी युक्त है। वहाँ ही कर्ता का व्यापार तिङ् प्रत्यय—आख्यात से प्रतिपादित किया जाता है और वह कर्ता का व्यापार ही अर्थ भावना है। उसी को कहते हैं—कर्म शब्द भाव अर्थ वाले हैं। अर्थात् क्रियावाचक शब्द भी भाव अर्थ वाले हैं। भावनं भावो ण्यन्त—प्रेरणार्थक से घञ् प्रत्यय हुआ है और उस प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वह भावना ही है और भावना ही कर्त्ता का व्यापार है अर्थात् भाव्यनिष्ठ जो भावक का व्यापार है वही भावना है। वह पुरुष 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्य से प्रेरित होता हुआ याग लक्षण अपने

---

१ भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया। २ का (पञ्चमी)। ३ क्रिया। ४ त्यादिप्रत्ययेन। ५ अप्रधाने। ६ भावे क्रियाया कर्त्तुः सकाशादत्र भेद। ७ भाट्ट। देवदत्तकर्त्तृक करोत्यर्थो भवति यत। ९ आख्यातेन। १० कर्त्तृ व्यापार। ११ अर्थभावना। १२ कर्त्तृव्यापारस्य भावनात्वेन। १३ भाव एव अर्थो येषा ते। १४ कर्मशब्दा (क्रियावाचका) इत्यत्र कर्मशब्दा एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्य। १५ ण्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम्। १६ स पुरुषो अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरित सन्। १७ याग। १८ पुरुष। १९ नियोगस्येति पाठान्तरम्। नियोगशब्देन शब्दभावना। (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य)। २ अर्थभावनाया विशेषणत्वात्।

---

(1) क्रिया इति पा (2) भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। (3) शब्दभावनया प्रेरित। (4) शब्दव्यापार रूपप्रेरणस्य। शब्दभावनाया अप्रधानत्व मयाप्यङ्गीकृत गौणत्वेन वाक्यार्थत्व भवतु प्रधानत्व अर्थभावनाया एव वाक्यार्थत्वे तर्हि कर्त्तुस्तृतीया प्राप्नोतीति आशङ्कय निराकरोति।

[1]वेदवाक्यार्थत्वम्[1]। नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा[2] प्रतिपादने [3]नियमेन प्रवृत्तिः। [4]कथं चासौ कर्ता स्वव्यापारं प्रतीयन्नेव प्रवर्तते। [5]अन्यथा स्वव्यापारे एव न [6]चोदितो भवेत्।

व्यापार में प्रवृत्त होता है। और नियोग तत् शेष होने से अप्रधान है अतः वह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। अर्थात् नियोग शब्द से शब्द भावना लेना वह शब्द भावना अर्थ भावना का विशेषण है वह अप्रधान होने से मुख्यतया वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है। इद कुरु इस प्रकार से भावना नियोग से विशिष्ट है ऐसा प्रतिपादन करने से नियम से प्रवृत्त होता है अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं।

यदि प्रेरित किया जाने पर भी प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा मानो तो यह कर्ता अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ ही कैसे प्रवृत्ति करेगा अन्यथा—यदि स्वव्यापार की प्रतीति न मानो तो अपने व्यापार में भी वह पुरुष प्रेरित नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—प्रभाकर नियोग को प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थ रूप ही मानता है अतः देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुतः देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों चटाई को बनाते हैं। इसमें कारक के भेद से प्रत्यय कुरुतः क्रिया में भेद हो गया है इसी प्रकार से आस्यते यह सत्ता रूप धात्वर्थ क्रिया है किसी ने कहा कि देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैः आस्यते देवदत्त जिनदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है।

इस वाक्य में भी कारक तीन पुरुष हैं और बैठने रूप क्रिया का तीनों से सम्बन्ध है अतः यहाँ भी कारक के भेद से क्रिया के प्रत्यय में भेद होना चाहिए—एकवचन रूप क्रिया न होकर बहुवचन होना चाहिए क्योंकि यह बैठने रूप क्रिया भी तो पुरुष के द्वारा ही निष्पाद्य—करने योग्य है। हम योगाचार बौद्धों के यहाँ तो ये दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम लोग विवक्षा के निमित्त से ही कारक के व्यापार रूप क्रिया में भेद और अभेद की कल्पना करते हैं। इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि आप बौद्धों का कथन श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वास्तविक रूप से भेद और अभेद का व्यवहार नहीं है यदि मानोगे तब तो भेद और अभेद की विवक्षा से उस प्रकार का भेद-अभेद रूप व्यवहार भी सत्य ही मानना पड़ेगा। पुनः करोति क्रिया का अर्थ देवदत्तकर्तृक ही है वही शब्द का व्यापार है उसे ही तो हम शब्द भावना कहते हैं और कर्ता रूप पुरुष के व्यापार को अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि पुरुष ही अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः ऐसे वाक्य से प्रेरित होता हुआ यज्ञ करने रूप अपने व्यापार में प्रवृत्ति करता है। अतः नियोग ही शब्द भावना है जो कि पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना का विशेषण है अतः शब्द भावना अप्रधान है

---

१ मुख्यत्वेनेति शेषः। गुणभूतस्या चेदस्ति तर्हि कथम्? २ इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन। ३ विशेषणविशेष्ययोरान्तरीयकत्वादिति भावः। ४ प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्तते चेत्। ५ स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे। ६ पुरुषः।

---

(1) स चोदितः कथं स्वव्यापारे प्रवर्तेत इति।

[वेदवाक्येन यज्ञकार्ये प्रवर्तमानः पुरुषः स्वर्गादि फलमपश्यन् कथं प्रवर्तेत इति शंकायां भाट्टस्य प्रत्युत्तरं]

[1]स्यान्मतम् ।—

व्यापार[2] एष मम [3]किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव न[4] चेत् सफलाधिगमः [5]कुतः ।। इति ।

[6]तदप्यसमीक्षिताभिधानम्—अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण [7]तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं कर्त्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं [1]प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः[8] कथं प्रत्येति ? फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि [11]तत एव तथा प्रत्येतु । [12]फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता

अर्थ भावना प्रधान है इस प्रकार से हमने वेदवाक्य का अर्थ भावना किया है जो कि नियोग से विशिष्ट है और विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं अतएव वेदवाक्य से प्रेरित होने पर पुरुष अपने यज्ञ रूप व्यापार में प्रवृत्ति करता है यह अर्थ हुआ।

[वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर]

बौद्ध—श्लोकार्थ—पुनः यह व्यापार मेरा अवश्य करणीय है इस प्रकार से ही वैसे मानता है अर्थात् वेद के द्वारा कहा गया यागादि लक्षण व्यापार अवश्य ही मेरा है यह बात पुरुष स्वर्गादि फल को देखे बिना जानता है या फल को देखकर के ? यदि वाक्य के उच्चारण काल में स्वर्गादि फल का अभाव है तो मेरा व्यापार है यह बात कैसे मानता है ?

यदि फल को देखे बिना नहीं मानता है तो ज्ञान और प्रवृत्ति की सफलता कैसे होगी ?

भाट्ट—यह आपका कथन भी अविचारित ही है। क्योंकि अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः इत्यादि वेदवाक्य की सामर्थ्य से तो पुरुष के द्वारा उस वाक्य के उच्चारण काल में यह मेरा व्यापार है ऐसा निश्चय करना शक्य है।

सौगत—यह मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार से फल को (स्वर्ग को) नहीं देखते हुए पुरुष कैसे निश्चय करेगा ?

भाट्ट—ऐसा कहो तो आप सौगत भी फल के बिना (स्नान पान आदि फल को देखे बिना) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह जल है इस प्रकार से कैसे जानते हो क्योंकि स्नानादि फल तो वहाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा नहीं जाता है।

१ सौगतस्य । २ वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषोऽवैति न वा । ३ वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैष व्यापारः कथं मन्यते । ४ फलं विनापि मन्यते चेत् । ५ प्राप्तिरवगतिश्च । ६ भाट्टः । ७ वाक्योच्चारणकाले । ८ सौगतः । ९ भट्टो वदति । सौगत फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानासि स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । १ सौगतः । (स्नानपानादि) । ११ फलयोग्यतायाः प्रतीतेरेव । १२ फलस्य स्वर्गादेः ।

(1) स्नानपानादिफलमपश्यन् ।

स्वव्यापारस्य [1]कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् [2]प्रत्यक्षविषयस्य कथम् ? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य [3]विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् [4]तत एव च [5]कर्त्तु [6]स्वव्यापारे तद्योग्यता निश्चयोस्तु—सर्वथा विशेषाभावात् ।

[बौद्धो भेदं काल्पनिक वक्ति किंतु भाट्टो वास्तविक मन्यते]

[8]यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण

सौगत—फल की योग्यता अनुभव मे आती है ।

भाट्ट—पुन वेदवाक्य से भी उसी प्रकार से—फल की योग्यता क अनुभव से ज्ञान हो जावे क्या बाधा है ?

सौगत—स्वर्गादि फल तो अतीन्द्रिय हैं—इन्द्रिया से नही जाने जाते हैं अत अपने यागादि लक्षण व्यापार की यह योग्यता है इस प्रकार से यज्ञकर्ता को कसे अनुभव आयेगा ?

भाट्ट—प्रत्यक्ष के विषय की योग्यता का अनुभव कसे आता है अर्थात प्रत्यक्ष से जलादि को देख लेने पर तत्क्षण ही इस जल मे स्नान पान आदि की योग्यता है सभी को ऐसा कसे मालम होता है ?

बौद्ध—जानने वाले क अभ्यास की सामर्थ्य से प्रत्यक्ष क विषय जलादि म फल-स्नान पानादि की योग्यता का निश्चय हो जाता है ।

भाट्ट—उसी प्रकार से शांतिक पौष्टिक आचरण रूप फल क अभ्यास से यज्ञकर्ता को याग लक्षण अपने व्यापार म उस फल की योग्यता का निश्चय हो जावे दोनो म कोई अ तर नही है ।

भावार्थ—बौद्ध ने भाट्ट क सामने यह समस्या रखी है कि जिस समय अग्निष्टोमेन यजेत ऐसा वेदवाक्य सुना और उसका अथ यह समझा कि यज्ञ रूप काय मेरा अवश्य करणीय कर्त्त य है क्या उस समय उस समझने वाले पुरुष को उस यज्ञ क फल स्वर्गादि दीखते हैं ? यदि नही दिखते हैं तो फल को देखे बिना समझ बिना वह पुरुष यज्ञ को करने म प्रवृत्ति कसे करेगा ?

और यदि करेगा तो भी उसकी यज्ञ क्रिया की सफलता भी कसे मानी जावेगी ? इस पर भाट्ट ने बौद्धो को समझाया है कि भाई ! आप बौद्ध भी तो प्रत्यक्ष स जब जल को देखते हो तो क्या उस जल का स्नान पान आदि फल आपको दिख रहा है ? यदि फल क नही दाखने पर भी आप उस फल की योग्यता का अनुभव करक प्रत्यक्ष स हुए जल क ज्ञान को सत्य मानते हो और उसम प्रवृत्ति करते कराते हो तब तो हमारे वेद वाक्यो स भी यज्ञ काय म प्रवृत्ति मान लो क्योकि उसका फल स्वग है इस प्रकार स फल की योग्यता वेदवाक्य क श्रवण क समय अनुभव म आ जाती है जस कि जल को प्रत्यक्ष स देखने से उस जल स प्यास बुझाना स्नान करक स्वच्छ शुद्ध होना आदि रूप फल की योग्यता

---

१ यज्ञकर्त्रा । २ (भट्ट) तर्हि प्रत्यक्षस्य सलिलादे पुरुषेण स्वव्यापारस्य स्नानपानादिक्रियायोग्यता कथ निश्चीयते ? ३ जलादौ । ४ शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात् । (ऐहिकामुत्रिकेपि) । ५ यज्ञकर्त्तु । ६ यागलक्षणे । ७ फलयोग्यतानिश्चय । ८ भट्ट आह ।—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण । (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्ध) ।

"यजते पचतीत्यत्र भावना[1] न प्रतीयते । यज्याद्यर्थातिरेकेण[2] तस्या वाक्यार्थता कुतः ?
पाकं करोति यागं च यदि भेद प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी"[3] ॥

[4]करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निवर्त्तयति [5]व्यपदेशा एते [6]यथाकथञ्चिद् दपरिकल्पनपुरस्सरा[7] । [8]नतेभ्योऽस्ति [9]पदार्थतत्त्व व्यवस्थेति । शिलापुत्र-[10]कस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते ।

"यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । तत [1]परापुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया ॥
यजि क्रिया च [11]द्रव्यस्य [12]विशेषादपरा न हि[13] । [14]सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गते ॥ इति ॥

तदपि न परीक्षाक्षमम् ।

अनुभव में आ रही है । अत पुरुष क द्वारा किया गया यज्ञ स्वर्गादि फल सहित है निष्फल नही है ।

[बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किन्तु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है]

प्रभाकर बौद्ध—श्लोकार्थ—यजते पचति इसम भावना का अनुभव नही आता है क्याकि यज्ञादि अर्थ क अतिरिक्त उस भावना की वाक्यार्थता कस होगी ? ॥१॥

श्लोकार्थ—यदि पाक करोति याग करोति पकाता है यज्ञ करता है एसा भेद प्रतीति म आता ह ऐसा मानोगे तब तो असमजसता को करने वाली अनवस्था आ जावेगी ॥२॥

याग को करता ह अपने यज्ञरूप व्यापार को निष्पन्न करता ह याग की निष्पत्ति को बनाता ह ये शब्द यथाकथचित–प्रकृति प्रत्ययादि भद बिना भी भेद की कल्पना पूवक होते हैं । इन व्यपदेशो से भी पदाथ-तत्त्व की व्यवस्था नही हो सकती है क्योकि शिला पुत्रक केतु का यह शरीर है ऐसे भद का व्यवहार बिना भद के भी देखा जाता है ।

श्लोकार्थ— जिस प्रकार से द्विज—ब्राह्मण का व्यापार याग—यज्ञ है ऐसा कहा जाता है पुन उसस भिन्न करोति यह क्रिया नही देखो जाती है ॥१॥

श्लोकार्थ— यजि क्रिया—यज्ञ की क्रिया द्रव्य–पुरुष के विशेषण स भिन्न नही है क्योकि समानाधिकरण होने स देवदत्त रूप स ज्ञान होता है ॥२॥ अर्थात देवदत्त के द्वारा ही वह क्रिया प्राप्त की

---

१ अतिरेको नामाऽऽधिक्यम् । २ कथमित्यस्यां याशङ्कायामाह । ३ शब्द । ४ प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि । ५ वर्तन्ते इति शेष । ६ व्यपदेशेभ्य । ७ यदि याग करोतीत्यत्र भावनाख्यपदाथतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापार निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भाव । (यजते याग करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य) स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्कायामाह) । ८ यजते याग करोतीत्यत्राभेदेऽपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेद दर्शयन्नाह । ९ केतो । १ यागात् । यागस्य व्यापाररूपत्वात्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति भाव । ११ पुरुषस्य । १२ विशेषणात् । १३ देवदत्तत्वेन प्रापणात् । १४ केन कृत्वा प्रापणमित्याह सामानाधिकरण्येति ।

---

(1) करोतीत्यर्थ । (2) पचन । यज्ञाद्यर्थस्य इति वा पाठ क्वचित् लभ्यते । (3) वितथ ।

"यजतेपचतीत्यत्र भावनायाः[1] प्रतीतितः[2] । यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता तत ॥
पाक करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । कोऽनवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्[3] ॥

यजते यागं करोतीति हि यथा [3]प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापार निष्पादयतीत्यपि सव प्रतिपत्ति— स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्—निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीते । यागं करोति स्वव्यापार निष्पादयतीति नार्थभेद । यागनिष्पत्ति निवर्त्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव । निर्वर्त्तन करणमेव । ततो याग करोतीति प्रतीत स्यात् । [2]ततो नते व्यपदेशा [1]यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सरा—प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात् । याग करोति विदधात्येवमादि व्यपदेशवत् । ततो युक्तेवतेभ्य [4] पदार्थतत्त्वव्यवस्था अनवस्थानवतारात्[5] ।

जाती है ।

भाट्ट— यह सब आप प्रज्ञाकर बौद्ध का कथन भी परीक्षा को सहन करने मे समथ नही है क्योकि—

श्लोकाथ— यजते पचति यहाँ पर भावना की प्रतीति होने स यज्ञादि अर्थ स अतिरिक्त—भिन्न वाक्याथता युक्त है ।

श्लोकाथ—पाक करोति याग च इस प्रकार से भद के अवभासित होने पर उस प्रतीति का अनुसरण —अनुभव करने वालो को अनवस्था कस आयगी ? जिस प्रकार स यजते पाक करोति यज्ञ करता है पाक को करता है त्यादि ज्ञान होता है उसी प्रकार स अपने व्यापार को निष्पादित करता है इस प्रकार स भी उसी का ज्ञान होता है क्योकि स्व व्यापार शब्द से यज्ञ का कथन किया जाता है और निष्पादयति इस शब्द स करोति इस क्रिया की प्रतीति होती है । याग करोति स्वव्यापार निष्पादयति— यज्ञ को करता है अपने यापार को निष्पादित करता ह इसम अथ भद नही ह ।

यागनिष्पत्ति निर्वर्तयति इसमें भी याग निष्पत्ति का अथ याग ही है और निवर्त्तन का अथ करना ही है । इसलिए इसम याग करोति ऐसा ज्ञान होता है अत इनम एकाथता होने से य व्यपदेश शब्द यथा कथचित—अथ भद के बिना भद की कल्पना पुरस्सर पूवक होते है क्योकि प्रतीति म आते हुए करोत्यथ के विषय हैं । जस याग करोति विदधाति इत्यादि व्यपदेश-शब्द भद क बिना ही होतेहैं इसलिए याग करोति स्वव्यापार निष्पादयति यागनिष्पत्ति निवतयति इन वचन व्यवहारो स पदाथ तत्त्व भावनातत्त्व की वास्तविक व्यवस्था होती है । अनवस्था दोष नही आता ह अर्थात ये सभी वचन भद करोति क्रिया रूप अथ भावना की ही व्यवस्था करते हैं ।

[पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना क मानने मे अनवस्था दोष देता है भाट्ट उसका परिहार करता है]

१ व्यपदेशानाम् । २ एकार्थता यत । ३ अर्थं विना । ४ याग करोति स्वव्यापार निष्पादयति यागं निर्वर्त्तयतीत्येतेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्य (भट्ट सविदद्वैतवादिन प्रत्याह) । ५ एते व्यपदेशभेदा सर्वेपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति—अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भाव ।

(1) करोति क्रियारूपाया । (2) प्रतीतिरस्ति यत । (3) प्रतीतिस्तथा इति पा ।

[पुनरपि बौद्धो भेदकल्पनायामनवस्था दर्शयति भाट्टश्च निराकरोति]

[1]अथ यजते याग करोति यागक्रिया करोतीत्येवमनवस्थोच्यते[2] [3]तर्हि स्वरूप[4] सवेदयते स्वरूप सवेदन संवेदयते इत्यप्यनवस्था स्यात् । अथ स्वरूप सवदयत इत्यनेनव स्वरूपसवेदनप्रतिपत्तौ स्वरूपसंवेदन सवेदयते इत्यादि निरथकत्वादयुक्त [5]तर्हि याग करोतीत्यनेनैव [1]यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रिया करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव व्यवच्छेद्याभावात्[2] । यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्याग करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्य यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति । यस्तु न प्रत्येति त प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम । शिलापुत्रकस्य[3] शरीर राहो शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण

प्रज्ञाकर बौद्ध— यजते याग करोति यागक्रिया करोति इस प्रकार से अनवस्था दोष आता ही है।

भाट्ट—तब तो आपके यहाँ स्वरूप सवेदयते —स्वरूप का सवेदन करता है। स्वरूपसवेदन सवेदयते —स्वरूप सवेदन का सवेदन करता है। इस कथन मे भी अनवस्था हो जावेगी। यदि आप कहे कि स्वरूप वेदयते इस कथन से ही स्वरूप सवेदन का ज्ञान हो जाने से स्वरूपसवेदन सवेदयते इत्यादि वाक्य निरथक है अत अयुक्त हैं। तब तो याग करोति इस वाक्य से ही यागावच्छिन्न क्रिया-यज्ञ से सहित क्रिया का ज्ञान हो जाने से यागक्रिया करोति इत्यादि वचन अनथक ही है क्योकि परिहार करने योग्य का अभाव है।

बौद्ध—पुन यजते इस पद से ही यागावच्छिन्न—यज्ञ से सहित क्रिया की प्रतीति होने से याग करोति यह वचन भी अनथक हो जावगा ?

भाट्ट आपका कहना सत्य है यदि उस यजते वचन से ही वसा ज्ञान हा जाता है तो वे याग करोति वचन व्यथ ही है किन्तु जो उतने मात्र से नही समझता है उसके लिए विशेषण विशेष्य भेद को कहने वाले वाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं इसलिए वसा कथन अनथक नही है यह शिलापुत्रक का शरीर है यह राहु का शिर है इत्यादि भेद व्यवहार भी कथचित भद के बिना नही होते है अन्यथा इन्हे गौणपने का प्रसग आ जावेगा। अर्थात् कथचित भद के बिना भी यदि भद व्यवहार प्रवृत्त होते है तब तो भद व्यवहार गौण हो जावगे किन्तु इनको औपचारिक—गौण तो माना नही है क्योकि भद वास्तविक है इसका आगे ही वणन किया है।

शिलापुत्रक का राहु का इतना कहने पर क्या इस प्रकार का सदेह हो जाता है और उस

१ प्रज्ञाकर । २ यदि त्वया सौगतेनेति शेष । ३ भट्ट । ४ कत । ५ सौगतस्येति शेष । ६ भट्ट ।
७ परिहार्य । ८ भट्ट ।

(1) विशिष्ट । (2) विशेषितु योग्यस्य । (3) केतो ग्रहस्य ।

प्रवर्तते—[1]गौणत्वप्रसङ्गात्[2] । शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह[3] सन्देह । तद्व्यवच्छित्तये शरीर शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादिर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्[4] । तस्मिश्च[5] सति कस्येति सशय स्यात् । तदव्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेय —अवस्थातद्वतो[6] [7]कथञ्चिद्भेदात् । शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था [8]अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तर[9]व्यावृत्ता । शिलापुत्रक पुनरवस्थाता[10] — [11]खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीते । एतेन राहुरवस्थाता शिरोऽवस्थाया [12]ख्यात[1]।

[अवस्थामतरेणावस्थावान् कश्चिन्नास्ति इति बौद्ध न मन्यमाने भाट्ट प्रत्युत्तरयति]

[13]सांवतोऽवस्थाता—अवस्थाव्यतिरेकेणानुपल धेरिति चेन्न—[14]उभयासत्त्वात् । अवस्था

सदेह की व्यवच्छित्ति—दूर करने के लिए शरीर शिर इस प्रकार का उत्तर रूप कथन होता है, अत अन्य कार्यादि का व्यवच्छेदक होना सुघटित है अर्थात् अन्य योग का व्यवच्छेद न करने पर सदेह बना ही रहता है और शरीर एव शिर के कहने पर किसके हैं ऐसा सशय होता है। उस सशय को दूर करने के लिए शिलापुत्रक का राहु का ऐसा कथन करना भी श्रेयस्कर है क्योकि अवस्था और अवस्थावान— शरीर और शरीरवान मे कथचित् भद स्वीकार किया गया है। शरीरवान तो एक जीव विशेष है और शरीर पुदगल की पर्याय है बहुत ही अतर है। शरीर यह शिलापुत्रक की अवस्था है और वह अवयवो के उपचय—परिपूणता लक्षण वाला है एव अवस्थातर से व्यावृत्त है—ऊर्ध्व स्थिति खण्ड आदि भि न २ अवस्था से रहित हैं किन्तु शिलापुत्रक स्थितिमान् है और खण्डादि अवस्थातरो—भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे भी प्रतीत होता है।

इसी कथन से राहु अवस्थावान है शिर अवस्था है ऐसा कथन सिद्ध हो गया। अर्थात् राहु अवयवी है और शिर आदि उसके अवयव है।

[अवस्था को छोडकर अवस्थावान कोई चीज नही है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान]

बौद्ध—अवस्थावान्—स्थितिमान काल्पनिक है क्योकि अवस्था को छोडकर उसकी उपलब्धि नही होती है।

भाट्ट—ऐसा नही कहना अ यथा अवस्था और अवस्थावान् इन दोनों का ही अभाव हो जावगा।

---

१ कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहारा प्रवर्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणा गौणत्व स्यात् । २ औपचारिक चतन्नेष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तर निरूपितत्वात् । ३ किमिति सन्देह इति पाठान्तरम् । ४ अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहविच्छित्तिर्न स्यात् । ५ शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति । ६ शरीरशरीरवतो । ७ अवस्थापेक्षया । ८ सर्वावयवसम्पूर्णता । ९ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १ स्थितिमान् । ११ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १२ व्याख्यात इत्यपि पाठ । १३ (बौद्ध) कल्पित । १४ अवस्थावस्थावतो. ।

---

(1) व्याख्यात इति पा ।

तुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थाया सत्त्वाऽसावतत्वविरोधात [1]खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिफटादिवच्च । [2]ततो वस्तुस्वभावाश्रय[3] एव याग करोतीति [4]व्यपदेश —सत्यप्रतीतिकत्वात् । [5]संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत्[1] ।

तथा[6] द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । तत परा च निर्बाधा करोतीति क्रियोच्यते ॥
यजि क्रियापि [2]भावस्याऽ[7]विशेषादपरव[8] हि । सामानाधिकरण्येन[3] देवदत्ततया[9] गते ॥

[करोतिक्रिया सामान्य यज्यादिक्रिया विशेषा तयो सामान्यविशेषयो भेदोऽस्ति इति भाट्ट नोऽभ्यमाने बौद्धो दोषानारोपयति]

द्विजो हि व्यापतेतरावस्थानुयायी[4] [5]स [6]एवायमित्येकत्वप्रत्ययवशान्निश्चितात्मा[1]

अर्थात् स्थितिमान् का अभाव मान लेने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर अवस्था का भी सत्त्व वास्तविकत्व विरुद्ध हो जावेगा । जैसे आकाश पुष्प का अभाव कहने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर उसकी सुगन्धि का सत्त्व और वास्तविकत्व विरुद्ध है मतलब न आकाश पुष्प ही है न सुगन्धि ही है । एव कृत्रिम फणि के फटाटोप के समान व्यथ है । अर्थात जसे कागज या मिट्टी का बनाया हुआ सप फण को उठाकर डरा नही सकता है वसे ही स्थितिमान वस्तु को काल्पनिक कहने पर उसके अवयव आदि भी सिद्ध नही हो सकगे । इसलिए याग करोति यह व्यपदेश वस्तु स्वभाव का ही आश्रय लेने वाला है क्योकि सत्य प्रतीति आ रही है अथात यागकृति—यज्ञक्रिया लक्षण पदाथ अपने स्वरूप के आश्रित ही है भावना लक्षण जो वस्तु है वह स्वभावाश्रित ही है अथ शून्य नही है । जसे सविद अनुभवति —ज्ञान का अनुभव करता है इत्यादि कथन पाये जाते है । और दूसरी बात यह है कि—

श्लोकार्थ—द्विज—ब्राह्मण का व्यापार यज्ञ है ऐसा कहा जाता है । और उससे भिन्न बाधारहित करोति यह क्रिया स्वीकार की गई है ।

श्लोकार्थ—यजि क्रिया भी द्विज लक्षण भाव (पुरुष) से अभद रूप होने से भिन्न है अथवा यज्ञ क्रिया भी द्विज—पुरुष से भिन्न होने से भिन्न ही है । ऐसा भी अथ टिप्पणी के आधार से होता है क्योकि देवदत्त के साथ ज्ञान का समानाधिकरण है सवथा ऐक्यरूप समानाधिकरण नही है ॥

---

१ खपुष्पस्यासत्त्वे सावृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसावतत्व च विरुद्धयते यथा । २ शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादि व्यवहार कथञ्चिद्भेदमन्तरेण घटते यत । ३ यागकृतिलक्षण पदाथ आत्मस्वरूपाश्रय एव । ४ भावनालक्षण यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्त अर्थशून्यस्य नेत्यथ । ५ किञ्च । ६ द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । ७ अभेदात् । यजि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठ । ८ सहार्थे तृतीया । १ प्रत्यभिज्ञान ।

(1) कर्तृकर्मरूपमत्रमस्तु । यथा एकस्य सवेदनस्य कतृत्व कमत्व । (2) भावस्य विशेषात् इति पा । विशेषात्—भेदात् । (3) सर्वथा ऐक्ये सामानाधिकरण्य नास्ति यत । (4) यो द्विज पूर्व याग कुर्वन् स्थित स एवाय यागमकृत्वा स्थित इति । (5) व्यापृतावस्थाव्यापी । (6) अव्यापृतावस्थाव्यापी ।

परमार्थात्सन्नेक[1]। यागस्तु तद्व्यापार प्रागभूत्वा भवन पुनरप्यभवन्[2]ननित्यतामात्मसा सात्कुर्वन् भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर[3] एव—[4]कथञ्चिद्विरुद्ध[5]धर्माध्यासात्[6]। [7]तथा [8]यागेतर व्यापारव्यापिनी[9] करोतीति [10]क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या [11]तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाप्यप्रतिक्षेपा[12]र्हानुभूयते—[13]यजते याग करोति देवदत्त इति [14]समानाधिकरणतया देवदत्तेन [15]सहावगते। [16]सवथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटतत्स्वात्मवत। [17]कि करोति देवदत्त ?

[करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि f याय विशष रूप हैं। इनमे भेद हैं, ऐसा भाट्ट के कहन पर बौद्ध के द्वारा दोष आरोपित किये जाते हैं]

यहाँ द्विज व्यापार और अव्यापार दोनो ही अवस्था का अनुयायी— यह वही है इस प्रकार से एकत्व के प्रत्यवमष-प्रत्यभिज्ञान से निश्चित स्वरूप वाला है और वह द्विज परमाथ से सत् रूप एक है अर्थात जो ब्राह्मण पहले यज्ञ को करते हुए स्थित था यह वही यज्ञ को न करते हुए स्थित है। किन्तु याग उसका व्यापार है वह प्राग्—पहल नही होकर वतमान मे होता हुआ पुन नष्ट होता हुआ अनित्य पने को आत्मसात करता हुआ भद के ज्ञान का विषय है इसलिए उस द्विजपुरुष से वह याग लक्षण व्यापार भिन्न ही है क्योकि कथचित–उत्पाद विनाश की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है।

तथा द्विज से याग लक्षण भिन्न है एव याग और पचन व्यापार मे व्याप्त होकर रहने वाली करोति यह क्रिया अनुस्यूतप्रत्यय—अन्वय रूप ज्ञान से वेद्य है—यजन पचन आदि मे करोति के अथ का सदभाव होने से अनुगत प्रत्यय से जानी जाती है और करोति क्रिया से विपरीत स्वरूप याग से अर्थांतरभूत–भिन्न सवथा भी निराकरण नही करने योग्य यह करोति क्रिया अनुभव मे आती है। यजते याग करोति देवदत्त इस प्रकार से देवदत्त के साथ याग का समानाधिकरण है। यदि सवथा इन दोनो मे एकत्व मानोगे तो उसमे विरोध आ जावेगा क्योकि जसे वस्त्र और उसके स्वरूप मे एकता है वसी यहाँ नही है किसी ने कहा—कि करोति देवदत्त ? इस प्रश्न के होने पर यजते पचति' इस प्रकार से निश्चित हो जाने पर भी यन्यादिको मे सदेह देखा जाता है। तथाहि—

१ परमाथ सन्नक इति पाठा तरम्। २ नश्यन्। ३ द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव। ४ उत्पादविनाशापेक्षया। ५ द्विजात्। ६ अनित्यत्वलक्षण। ७ द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा। ८ पचन। ९ यजनपचनादौ करोत्यथसद्भावे नानुगतप्रत्ययवेद्या। १ करोत्यथविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति। ११ अनिराकरणीया। १२ यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रम यजते यागं करोति देवदत्त यजतिपचतीत्यादिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह। १३ देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता। १४ यागस्य। १५ भो बौद्ध। तयो करोतीतिक्रियायागयो देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्येत यथा पटपटस्वरूपयो सवथैक्ये सामानाधिकरण्य विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये)। १६ यागादन्या क्रियेति साधनद्वयेण स्थापयति।

(1) सामान्यविशेषापेक्षया कथंचित् भेदः।

[illegible] प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु [5]सन्देहाच्च । तथा हि :— [1]यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते तत्तत कथञ्चिदन्यत । यथा यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धि । करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति । [2]स्यान्मतम् ।—

करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ[1] विभिन्नौ यदि तत्त्वत । अन्यतस्संदिग्धमन्यस्य [2]कथने दुर्घट[3] क्रम [4] ॥

न हि करोतीति क्रियातो विभिन्नाया यज्यादिक्रियाया सन्देहे [4]ततो यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्न श्रेयान्— [5]अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात । तत करोत्यर्थयज्याद्य

जिसके निश्चित हो जाने पर भी जो निश्चित नही किया जाता है वह उससे कथचित भिन्न है जैसे अन्य का शरीर निश्चित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि निश्चित नही है। करोति इस क्रिया के निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिक निश्चित नही होते हैं इसलिए कराति क्रिया से यजनादिक क्रियाय भिन्न ही हैं।

बौद्ध—श्लोकार्थ— करोति क्रिया का अथ और यजनादि क्रिया का अथ ये दोनो यदि वास्तव मे भिन्न-भिन्न हैं तब तो एक के सदिग्ध होने से दूसरे का कथन करने मे क्रम दुघट हो जावेगा ॥

करोति इस क्रिया से भिन्न यज्यादि क्रिया से अन्यत्र—करोति अथ के निश्चित हो जाने पर प्रश्न श्रेयस्कर नही है क्योकि सामा य की अपेक्षा से अनिश्चित मे ही प्रश्न करना श्रयस्कर है। इसलिए करोति क्रिया के अथ मे और यज्यादि क्रिया के अथ मे तादात्म्य ही मानना चाहिए। वही पर प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं करोति अथ और यज्यादि अथ यदि वास्तव मे सामान्य विशेष होने से भिन्न हैं तब तो जब यज्यादि अर्थ सदिग्ध होगा तब करोति क्रिया के अथ का कथन करने मे यह क्रम नही बन सकेगा। एव किसी ने प्रश्न किया कि गौ कैसी है ? उत्तर मिला कि सफद है। इस उदाहरण से ऐसा समझना कि तादात्म्य में ही प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं।

[जनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है]

भाट्ट—आपका यह कथन भी सुघटित नही है क्योकि करोति क्रिया का अथ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं तथा सामान्य और विशेष मे कथचित्—सामा य की अपेक्षा से अभद स्वी

१ [illegible] । २ यज्यादि करोत्यर्थाद्भिन्न —तस्मिन्निश्चीयमानपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात । ३ बौद्ध आह । करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थःसन्दिग्ध अन्यस्य करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदाय क्रमो दुर्घट । ४ यज्यादिक्रियात । ५ सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेथ ।

(1) करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ इति पा । (2) प्रश्ने । (3) अन्यथा देवदत्ते निश्चिते [illegible] [illegible] । (4) [illegible]

वैर्योक्त्वापारम्परिनैश्चितव्यम्—[1] तत्र च प्रश्नोत्तरदर्शनादिति । [1]तदेतदनुपपन्नम्— करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्—तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादे । सामान्यविशेषयोश्च [2]कथञ्चिदभेदोपगमात् । [3]सन्दिग्धस्यैव [4]कथनात । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुघटत्वाघटनात[4] । [5]नदभेदैकान्ते एव तस्य दुघटत्वात् । स्यादाकूत ते[6] ।—

[7]न सामान्यं विशेषेण विना [3]किञ्चित्प्रतीयते[8] । सामान्याक्षिप्य'माणस्य[9] न हि [10] नामाऽप्रतीतता ॥

[11]केवलसामा यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह [12]इत्ययुक्तम्—[13]तस्याऽप्रतीतत्वात् । [5]घटप्रतीतौ हिमवदादिवत[6] । [14]अथ [15]सामान्येन विशेष[16] आक्षिप्यते । तथा [17]सति सोपि

कार किया गया है ।

सदिग्ध—यज्यादि अथ मे ही प्रश्न देखे जाते हैं । अत प्रश्नोत्तर का कम दुघट नही होता है । अर्थात सामान्य विशेष मे कथचित् सामान्य की अपेक्षा से अभद के स्वाकार करने से एकतर – दो मे से एक रूप के सदिग्ध का कथन होने से प्रश्नोत्तर का क्रम बन जाता है । उन सामान्य विशेष मे सवथा– एकात से अभद स्वीकार करने पर ही वह क्रम दुघट है ।

बौद्ध (प्रज्ञाकर)—श्लोकाथ— विशेष के बिना सामान्य कुछ भी प्रतीति मे नहीं आता है विशेष युक्त ही प्रतीति मे आता है । एव जो सामा य से स्वीकृत की गई है उसकी निश्चय से अप्रतीति नहीं होती है । केवल सामा य की प्रतीति के हो जाने पर विशेषाश मे सदेह होता है आप भाट्ट के यहा जो ऐसा कथन है वह अयुक्त है क्योकि वह विशेष प्रतीति नही होता है जसे घट की प्रतीति मे हिमवन् आदि प्रतीत नही होते हैं ।

भाट्ट—सामान्य (करोति) अथ से विशेष (यज्यादि) अथ ग्रहण किये जाते हैं । उस सामान्य के प्रतीत होने पर वह विशेष भी प्रतीत होता ही है अत सशय कसे हो सकेगा ? क्योकि प्रतीति को छोड कर और अन्य कोई स्वीकृति है ही क्या ?

वह सामान्य—करोति अथ से प्रतीत ही है किन्तु विशेष—यज्यादि अथ रूप से नही है क्योकि वह विशेष सामान्य रूप से ही जान लिया जाता है ।

बौद्ध—वह सामान्य ही आक्षपक—ज्ञापक—बतलाने वाला हो और वही आक्षप्य—ज्ञाप्य—बत

---

१ आह भट्ट । — सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयो सर्वथक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम् । २ यज्याद्यर्थस्य । ३ अङ्गत्वात् । ४ सामान्यविशेषयो कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात प्रश्नोत्तरक्रमो घटते । ५ तयो सामान्यविशेषयो सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्व स्यात । ६ प्रज्ञाकरस्य । ७ भट्ट व यदि सामान्यविशेषयो: कथञ्चिदभेदोऽभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि । ८ विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यथ । ९ सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमानस्य) । १० निश्चयेन । ११ कारिकाया पूर्वार्धस्य सुगमत्वादुत्तरार्ध व्याख्याति । १२ भट्टवचनमिद् १३ विशेषस्य । १४ भट्ट । १५ करोत्यर्थेन । १६ यज्याद्यर्थ । १७ (बौद्ध) सामान्ये प्रतीते सति ।

---

(1) [illegible] कोऽत्रार्थेति प्रश्ने यजतेरिति उत्तरमुदाहरणं । (2) सामान्याक्षिप्यमाणस्य [illegible] । (3) तत कथं विशेषे संदेहः । (4) विशेषस्य प्रतीतत्व । (5) सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदविवक्षायां कथित । (6) संदेह स्यान्न च तथा ।

प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपरः [1]आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ [2]सामान्येन न तु [3]विशेषेण—तस्य सामान्यरूपेणाक्षपात[4] । [5]ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं[6] तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् ? न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यम् । [7]तथा सति ततोऽप्यपरं ततोऽप्यपरमित्यनवस्था[1] । ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषा[2]ऽप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्तः [1]एव न[3] त्वनुपलम्भादभाव[4] एव[5] युक्तः [6]सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः । [11]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावे[7] नानुपलब्धिमात्रात् [8]तथा[11]नुपलब्धेरेव[13] संशयः [14]व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धि[15]लक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न[16] [17]स्यात् । [18]स्यात्संशयः[19] । [2]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् ।

जाने योग्य हो यह कैसे हो सकेगा ? एवं सामान्य से भिन्न कोई सामान्य तो आक्षेप्य है नहीं । यदि अपर सामान्य मानोगे तो उससे भी भिन्न अपर सामान्य पुनः उससे भी भिन्न अपर सामान्य इत्यादि रूप से अनवस्था आ जावेगी ।

भाट्ट—सामान्य का प्रत्यक्ष होने से तथा विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होना युक्त ही है किन्तु अनुपलंभ होने से अभाव ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि हम भाट्ट सामान्य अनुपलंभ प्रमाणवादी हैं । अर्थात् दृश्यानुपलंभ और अदृश्यानुलंभ के विभाग बिना अनुपलम्भ मात्र से अभाव कहना ठीक नहीं है ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तु का अनुपलब्धि से अभाव होता है अनुपलब्धिमात्र से नहीं ।

प्रभाकर—उस प्रकार से अनुपलब्धि से अभाव होता है इसलिए सामान्यप्रत्यक्षात् यह कथन व्यर्थ है । यदि सामान्य की प्रत्यक्षता हो जाने पर उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि नहीं होवे तब तो संशय हो सकता है ।

भाट्ट—सामान्य की प्रत्यक्षता में तो उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही संभव नहीं है ।

---

१ स्वीकारः । २ करोत्यथनं । ३यज्याद्यथनं । ४ परिज्ञानात् । ५ बौद्धः । ६ ज्ञापकम् । ७ अपरस्मिन् सामान्ये सति । ८ भाट्टः । ९ दृश्यमानानुपलम्भाऽदृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो वदति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते न तु संशयः । १० भाट्टस्य । ११ भाट्टः प्राह । १२ उत्तरमाह प्रभाकरः । १३ अनुपलब्धिमात्रादेव । १४ यतस्तत । १५ यज्यादि । १६ किं त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात् । १७ तर्हि । १८ नास्ति च तथा ततश्च भाव एवेति भावः । १९ तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः पिशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः । २ भाट्टः ।

---

(1) विशेषं विना सामान्यं न प्रतीयते सामान्ये विशेषस्याक्षपात् तर्हि विशेषः प्रतीयते एवेत्यादि प्र थपरावर्त । (2) प्रवर्तनात् । (3) नन्वनुपलंभात् इति पा । प्रभाकरः । (4) विशेषस्य । (5) न तु संशयः । (6) दृश्यादृश्यानुपलम्भविभागं विना । (7) अभावो इति पा । (8) तथा सत्यप्यनुपलब्धेरेव इति पा ।

एव [1]तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धि सशयहेतुरिति प्राप्त, विशेषस्मृतेरिति च [2]व्यर्थम् । न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापर सशय—[3]उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्संशयस्य । दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु[3] सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात संशय । [7]तस्मात्करोतीति[1] तदेव [7]यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमान सामान्यतो [9]दृष्टानुमानात्सामान्यम् ।

[बौद्धनारोपितसशयदोषो भाट्ट न निराक्रियते]

तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भित प्रज्ञाकरस्य—करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये[1] यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव [10]तत्सशयोपगमात् । न च सामान्येऽध्यवसिते ततोऽन्यत्र—विशेषेऽनध्यवसिते[2]

बौद्ध—यदि ऐसा है तो वही अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि सशय का हेतु है यह बात सिद्ध हो गई है पुन विशेष की स्मृति होने से यह कथन व्यर्थ ही है।

विशेष स्मृति को छोडकर सशय नाम की और कोई चीज ही नही है। क्योकि सशय तो यजति पचति उभय अश का अवलबन करने वाली जो स्मृति है उस रूप है। कान्य कुब्जादि ब्राह्मणो में सामान्य प्रत्यक्षता के बिना भी प्रथमतर के स्मरण से ही सशय होता है। इसलिए करोति इस प्रकार का कथन है वही यज्यादि विशेष रूप है और अनियम से—बिना नियम के प्रतीत होता हुआ सामान्य (एक रूप से) दृष्टानुमान से सामान्य है।

[बौद्ध के द्वारा आरोपित सशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है।]

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर का कथन भी प्रज्ञा के अपराध से विजृभित ही है। क्योकि करोति क्रिया के अर्थ सामान्य का निश्चय हो जाने पर एव यज्यादि अर्थ विशेष का ज्ञान न होने पर ही विशेष मे सशय घटित होता है। सामान्य के निश्चित होने पर और उससे अन्यत्र विशेष का निश्चय न होने पर सशय होता है ऐसा मानने से तो अति प्रसग दोष आ जावेगा। क्योकि सामान्य और विशेष मे कथचित अभेद स्वीकार किया गया है। किन्तु हिमवन पर्वत एव घटादिको मे तो परस्पर मे अत्यत भेद देखा जाता है।

---

१ तर्हि व्यर्थ्य भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह। २ यजतिपचति। ३ नागरेषु कान्यकुब्जादिषु इति खपाठ। ४ सामान्ये सशयस्यान्वयव्यतिरकौ न स्त । अनुपलब्धिमात्र स्त । ततश्च सामान्यप्रत्यक्षादिति विशेषण व्यर्थम्। ५ सशयो न घटते यत । ६ उल्लेखनम्। ७ विशेषरूप न तु करोतीति क्रियारूपम्। ८ एकत्वेन। ९ दृष्ट इति भावप्रधानोय निर्देश । ततश्च सामान्यतो दृष्टात सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वाल्लिङ्गाज्जातमनुमान तस्माद्यज्यादिक सामान्यम्—तथैव दृश्यमानत्वात्। यद्यथा दृश्यते तत्तथैव भवति यथा नील नीलतया। इत्यनुमानम्। (भट्ट) यज्यादिक सामान्य न भवति—तद्व्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवात। सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिवत। इत्युक्ते सौगत आह।—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवेपि सामान्य भवति परापरसामान्येषु सामान्यान्तराऽभावेपि सामान्य सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भाव। १० निश्चये। ११ विशेषे संशयो घटते।

---

(1) पूर्वोक्तानुपलब्धिप्रक्रिया। (2) विशेषेऽनवसिते इति वा क्वचित् पाठ।

सशीतावतिप्रसङ्ग—सामान्यविशेषयो[1] कथञ्चिदभेदात्।—हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात्। [1]एकत्र निश्चयेपि [2]नानवगततदन्यतमे[1] सशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात्। नापि सामान्येनाक्षिप्ते[2] [3]तद्विशेषसंशयोपगमोस्ति[5] [6]यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषोपक्षेप[4]। न [8]चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयोनुषङ्गी—स्मरणविषये एव विशेषेनेकत्र[9] संशयप्रतीते।

[संशयलक्षणस्य विचार]

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात्। सामान्ये ह्युपलभ्यमाने तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभाव सिद्धयति—तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्[7]। तदुक्तम्।—

एकत्र—घट का निश्चय होने पर भी हिमवन पर्वत आदि के नहीं जानने पर संशय नहीं हो सकता है कि जिससे अति प्रसंग दोष आ सके अर्थात् नहीं आ सकता है। एवं सामान्य से स्वीकृत में उस विशेष का संशय भी नहीं है कि जिससे उस आक्षेप पक्ष में निक्षिप्त दोषों का प्रसंग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है। मतलब हमारे स्वीकार किये गये पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग नहीं हो सकता है और इस प्रकार से अनभिमत उन विशेषों में सामान्य रूप से संशय का प्रसंग नहीं है क्योंकि स्मरण के विषयभूत अनेक विशेष में ही संशय होता है। अर्थात् विवक्षित वस्तु में सामान्य के साथ अविनाभावी बहुत से विशेषों के होने पर एक स्मरण के विषयभूत विशेष में संशय घटित होता है अनभिमत अविवक्षित वस्तु के उन विशेषों में संशय नहीं होता है।

[संशय के लक्षण का विचार]

क्योंकि सामान्य का प्रत्यक्ष होने से और विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होता है ऐसा हमने कहा है। सामान्य के उपलभ्यमान होने पर उस सामान्य से अविनाभावी विशेष की अनुपलब्धि में भी अभाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि उस विशेष के अभाव में तो सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है—

श्लोकार्थ—निर्विशेष सामान्य खरगोश की सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी उसी प्रकार से—शश विषाण के समान ही है। इस प्रकार से विशेष में अदृश्यानुपलब्धि के होने से ही संशय

१ कियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण। २ घटे। ३ हिमवदादौ। ४ अपि तु न। ५ विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभाविविशेषेषु बहुषु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे विशेषे संशयो घटते। अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषेषु संशयो नास्ति। ६ सामान्य। ७ विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात्।

(1) तदन्यतमसशीति इति पा। (2) ज्ञाते। (3) तद्विशेषे इति पा। (4) सामान्यरूप। विशेषमात्र इत्यर्थः। (5) कथंचिदभिन्ने। ( ) मास विशेषस्य। (7) अनवस्थादि प्राप्ति। (8) सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयानुपगमप्रकारेण। विवक्षितविशेषप्रकारेण। अविवक्षित। (९) विशेषे अनेकत्र।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

[5]न [6]चैव विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव सशय —स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मतिरेव सशय इति चेन्न—साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि सशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां [3]सशयित साध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वान्न सशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता[4] [5]प्रतीति संशय । सा[1]चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी—[6]तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात । न [2]पुनर्विशेषस्मृति

है ऐसा भी नही कहना अन्यथा—वह स्मृति से निरपेक्ष हो जावेगा ।

विशेषार्थ—यहां पर भाट्ट ने सशय का लक्षण किया है कि सामान्य धम का प्रत्यक्ष होने से और विशष धम के प्रत्यक्ष न होने से एव विशष की स्मति होने से सशय होता है । एव जनाचार्यों के संशय का लक्षण इस प्रकार है विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञान सशय यथा स्थाणर्वा पुरुषोवेति । स्थाणुपुरुष साधारणोर्ध्वतादिधमदर्शनात्तद्विशषस्य वक्रकोटरशिर पाण्यादे साधकप्रमाणाभावादनेककोटयवलबित्व ज्ञानस्य । अर्थात विरुद्ध अनेक पक्षो के अवलबन करने वाले ज्ञान को सशय कहते है । जसे—यह स्थाणु (ठठ) है या पुरुष ? यहा स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षो का अवगाहन हाता है । प्राय सध्या आदि के समय मद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाण और पुरुष दोनो मे सामान्य रूप से रहने वाले ऊचाई आदि साधारण धर्मों के देखन से और स्थाणगत टेढापन कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर पर आदि विशष धर्मों के साधक प्रमाणो का अभाव होने से नाना कोटियो का अवलबन करने वाला यह सशय ज्ञान होता है । मतलब चलायमान ज्ञान को सशय कहते हैं यह ऐसा है या ऐसा ? इत्यादि । यहा पर भाट्ट द्वारा मान्य लक्षण भी प्राय मिलता जुलता है । इस पर बौद्ध की अनेक कल्पनाय है विशष की अदश्यानुपलब्धि रूप अभाव से सशय होता है या विशष की स्मृति से सशय होता है इत्यादि मान्यताय ठीक नही है ।

शका—विशष की स्मृति हाना ही सशय है ।

भाट्ट—ऐसा भी नही कहना । अन्यथा साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण भी सशय हो जावेगा । पुन सभी हेतुओ को सशयित साध्य से व्याप्त मानना होगा । यदि आप कहे कि उन हेतुओ की स्मृति अचलित है अत उनसे सशय नही होता है तब तो चलित प्रतीति ही सशय है यह बात सिद्ध हो गई । और वह चलित प्रतीति उभय (यजन और पचन रूप उभय) विशष स्मति के उत्तर काल मे होती है क्योकि उसका अन्वय व्यतिरेक माना गया है । किन्तु सामान्य की उपलब्धि के समान विशष की स्मृति

१ (भट्ट.) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धप्रकारेण । २ एव विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धे सका शात्संशयो न भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव सशय । अदृश्यानुपलब्धौ स्मतेर्निरपेक्षत्व भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृति । ३ सशयिता सशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषा तानि सशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि । ४ अनिश्चिता ५ प्रतिपत्तिरिति पाठान्तरम् । ६ संशयस्य ।

(1) यजनपचनयो । (2) तर्हि चलिता प्रतिपत्ति सशयो न पुनर्विशेषे स्मृतिरेवेति सबंधो दृष्टव्य ।

रेव[1] सामान्योपलब्धिवत् । तदुभयांशावलम्बिनी स्मृति संशीतिरित्यपि [2]फल्गुप्रायम्—[3]तदविचलनेपि संशीति प्रसङ्गात् । [4]सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव [5]स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न—असिद्धत्वात् । तत्रापि हि [1]प्रासादादिसंनिवेशविशेषविषय[2] संशय कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भन [6]पुरस्सर एव—[7]सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्[3] । योपि [8]तदभावाभावविषय[4] संशयः सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव । नगरादिक सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम् । कन्याकुब्जादि नामकं तु [5]तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयाशावलम्बिन प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्व[6] नाम न किञ्चिदिति वक्तु शक्यम्—

ही संशय नही है ।

उन उभय अशो का अवलबन लेने वाली स्मृति सशय है यह आप बौद्ध का कथन भी फल्गु प्राय है क्योकि ऐसा मानने पर तो साध्य साधन रूप उभय अशावलबी निश्चल भूत मे भी—अविचलन मे भी सशय का प्रसग आ जावेगा ।

बौद्ध—सामान्य की प्रत्यक्षता के न होने पर भी कान्यकुब्जादिको मे प्रथमतर ही स्मरण होने से सशय देखा जाता है अत सामान्य का प्रत्यक्ष होना सशय मे हेतु है यह कथन ठीक नही है ।

जैन—नही । क्योकि आपका यह कथन असिद्ध है । वहा पर भी प्रासादादि रचना विशेष को विषय करने वाला सशय है और वह कन्याकुब्ज नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । क्योकि सामान्य रूप से भी विशेष की अनुपलब्धि होने पर अर्थात सर्वथा अनुपलब्धि होने पर सशय का विरोध है सर्वथा उपलब्धि के समान ।

जो भी सामान्य के भाव और विशेष के अभाव रूप—भावाभाव का विषयभूत सशय है वह नगरादि सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । सामान्य से नगरादि तो प्रसिद्ध ही है किन्तु कान्यकुब्जादि नाम वाले हैं या नही ? इस प्रकार से उभयाशावलबी ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु नगर का नाम कुछ नही है ऐसा कहना तो शक्य नही है । प्रत्यासत्ति विशेष होने से प्रासादादि के समूह को ही नगर कह दिया जाता है । वहाँ नगर नगर इत्यादि रूप मे अनुस्यूत ज्ञान का हेतु होने से नगर सामान्य सिद्ध है । उस नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक उन महलादि विशेष मे सशय उत्पन्न होता है यह बात विरुद्ध

---

१ संशय इति शेषः । २ बौद्धोक्तम् । ३ साध्यसाधनेत्युभयाशाविचलनेपि (निश्चलभूतेपि) । ४ बौद्ध । ५ रचना विशेष । ६ पूर्वक एव । ७ सामान्यरूपेणापि विशेषस्यानुपलम्भे । ८ सामान्यस्य भावः विशेषस्याभावस्तयोर्विषय । संशय ।

---

(1) विशेष । (2) स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि । (3) सामान्यविशेषप्रकारेण । (4) कन्याकुब्जादिकनगरम् । कन्याकुब्जादि नगरम् भवति न वा । (5) भवति । (6) नगरं इति पा ।

प्रत्यासत्तिविशेषस्य[1] प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात् । [2]तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्व सामान्यस्य सिद्ध स्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे[3] संशयो न विरुध्यत एव । तत करोत्यर्थसामान्यो पलम्भात्तद्विशेष[4]यज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेक[5]विशेषस्मरणाच्च[6] युक्तस्तत्र 'सन्देह । न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन[7] "करोतीत्युपलब्धु शक्यम । करोत्यर्थसामान्यासम्भवे[3] सत्त्व सामान्यासम्भवे 'घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन[4] 'पराऽपरसामान्येषु[5] पुन सामान्यमित्यनिय मेनोपलम्भो गौण एव—सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात । तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात् । न चैव[8] [11]सवत्र सामान्यमन्तरेणवानियतप्रत्ययो[12] गौण इति वक्तु [13]शक्यम— [14]मुख्या भावे गौणस्यानुपपत्ते । [15]विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमान [16]सामान्याकारो मुख्य [17]स्वलक्षणेषु

नही है ।

इसलिए करोति क्रिया के अथ सामान्य की उपलब्धि होने से यजति पचति रूप विशेष यज्यादि अथ की अनुपलब्धि होने से एव यजते पचति इत्यादि अनेक विशेषो का स्मरण होने से वहाँ सदेह होना युक्त ही है । क्योकि वे ही यज्यादिक क्रियाय बिना नियम से करोति इस क्रिया के अथ को प्राप्त करने मे समथ नही हैं ।

बौद्ध—करोति क्रिया का अथ सामान्य न होने पर सत्त्व सामान्य के असभव मे वह घटादि के समान है । इस प्रकार के अनियम से पर सामान्य—महासत्ता और अपर सामान्य यजति पचति इत्यादि उस विशेष भाव रूप विशेष सत्ता हैं । पुन यह सामान्य है इस प्रकार की उपलब्धि गौण ही है क्योकि सामान्य मे भिन्न सामान्य असभव है । अथवा यदि सामान्य मे भी सामान्यातर मानो तो अनवस्था का प्रसग आ जावेगा ।

भाट्ट—इस प्रकार से परापर सामान्यो मे सामान्य की उपलब्धि को गौणता से सभी वस्तुओ मे सामान्य के बिना ही अनियत—सामान्य प्रत्यय गौण है ऐसा आप सौगत का कहना शक्य नही है । क्योकि मुख्य सामान्य के अभाव मे गौण हो ही नहीं सकता है ।

---

१ नगर नगरमिति । २ प्रासादादौ । ३ यजति पचतीत्यादि । ४ नगरेऽनुगतज्ञानकारणात् । ५ तस्मादित्युपसंहार प्रत्यं निराकुर्वन्नाह भाट्ट । ६ अभेदेन सामध्यन । ७ करोत्यन । ८ सौगत । ९ ननु परापरेषु सामान्येषु पर सामान्यं महासत्ता अपर करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इव सामान्यमिव सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह । १ परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण । ११ वस्तुषु । १२ सामान्यप्रत्यय । १३ हे सौगत ! १४ मुख्यसामान्यस्य । १५ सौगत । १६ अन्यापोहो बहिरथ (सत्याकार इति पाठान्तरम् ।) १७ प्रत्यक्षगोचरेषु ।

---

(1) इत । संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षण । (2) यजते पचतीत्यादि । (3) पक्षपक्षानुमान हेतुर्विरुद्ध प्रतिभाव । हेतुर्मित विशेषणं । (4) सामान्येन । (5) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

पुनरारोप्यमाणो गौण इति 'चेन्न—विशेषाकारस्यापि' 'तत्र गौणत्वप्रसङ्गात्। अन्यथा हि वस्तुम—प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विशेषाकारो 'मुख्यो बहि स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति। नन्वेवमपि ज्ञानविशेषा परमार्थत सन्त सिद्धा ? बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति विज्ञानवादिमतमायात 'तर्हि[1]—विज्ञानसामान्य वस्तुभूत न बहिरर्थसामान्यमिति 'सामान्यविशेषात्मक विज्ञान परमार्थसदायात ''न [2]क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादि

सौगत—विकल्प बुद्धि मे प्रतिभास मान सामान्याकार—(अन्यापोह बाह्यार्थ) मुख्य है पुन अणु क्षणिक रूप स्वलक्षणो मे आरोपित किया गया सामान्य गौण है।

भाट्ट—ऐसा नही कहना। अन्यथा—उन अणु क्षणिको मे विशेषाकार—स्वलक्षण गौण हो जावेगा। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष बुद्धि—निर्विकल्प ज्ञान मे प्रतिभास मान विशेषाकार मुख्य है क्योंकि वह निर्विकल्प ज्ञान का ही विशेषाकार है बाह्य पदाथ का नही है बाह्य स्वलक्षणो मे यह वही है' ऐसा अध्यारोपित किया गया आकार गौण है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—इस प्रकार से भी सामान्य और विशेष का बाह्य मे सत्त्व न होने से ज्ञान विशेष परमार्थ सत सिद्ध है किन्तु बाह्य अथ विशेष वास्तविक नही है।

इस प्रकार से विज्ञानवादियो का मत आ जाता है जो हमे इष्ट नहीं है।

भाट्ट—तब तो विज्ञान सामान्य ही वास्तविक है किंतु बाह्य अर्थ सामान्य वस्तु भूत नही है इस प्रकार से सामान्य विशेष ज्ञान ही पारमार्थिक सत है किन्तु क्षणिकविज्ञान स्वलक्षणवादी सौत्रांतिक का मत सिद्ध नही होता है अर्थात ज्ञान मे पूव मे सामान्य को स्वत स्वीकार किया है। विकल्प बुद्धि मे प्रतिभास मान सामान्याकार मुख्य है इसलिए परमाथसत् है यह बात सिद्ध हो जाती है—क्योंकि विकल्प ज्ञान मे सामान्य का आकार स्वीकृत किया है निर्विकल्प मे नही माना है अत कोई दोष नही है ऐसा भी नहीं मानना विकल्प ज्ञान के स्वरूप मे निर्विकल्प रूप से बाह्य सामान्याकार भी मुख्यत्व रूप से स्वीकृत किया गया होने से परमाथ से सामान्य विशेषात्मक ज्ञान सिद्ध हो गया इसलिए अतर्बाह्य वस्तु के सिद्ध न होने से सौत्रातिक का मत सिद्ध नहा होता है।

सौगत—विकल्प ज्ञान मे भी होन वाले सामान्याकार—घट पटादि आकार वास्तविक नही हैं

---

१ भाट्ट। २ स्वलक्षणाक्षणान्य। ३ अणुक्षणिकेषु। ४ निर्विकल्पकज्ञाने। ५ निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य। ६ (सौत्रान्तिक) सामान्यविशेषयोर्बहिरसत्त्वप्रकारेण। ७ परमार्थसन्त इति पाठान्तरम्। ८ योगाचारमतम्। ९ भाट। १ ज्ञाने पूर्व सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वात् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमान सामान्याकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्—विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात् निर्विकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्—विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन बहि सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थत सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात्। ११ सौत्रान्तिकस्य।

---

(1) सौत्रांतिकमतमाशक्य भट्ट नोच्यते। (2) स्वलक्षण।

मतम्[1] । [2]विकल्पविज्ञानेपि न वास्तव [3]सामान्याकार —तस्याऽनाद्यविद्योपपादितत्वात् । संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य[1] परमार्थसत्त्वादिति [4]चेन्न—विपर्ययस्यापि कल्पयितु शक्य त्वात । संवेदनेपि नासाधारणाकार पारमार्थिक —तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात् [5]संवेद नसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति [6]वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात । न वस्तुभूत सवित्सामान्यम[2]—[7]वृत्तिविकल्पान[3]वस्थादिदोषानुषङ्गात बहिरर्थसामान्यवत्[4] इति [8]चेत्तर्हि[9] न सविद्विशेष परमार्थ सन—[5]विचार्यमाणा[11]योगाद्बहिरर्थविशेष[6]वदित्यप्यन्यो ब्रूयात्[12]। तथा च [13]सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र[14] समान दूषणम् । साध्य[15]साधनविकल

क्योकि वे सामान्याकार अनादि अविद्या से उपकल्पित हैं । किंतु असाधारण सवेदन स्वरूप ही परमार्थ सत है ।

भाट्ट—ऐसा नही कहना । क्योकि इससे विपरीत कल्पित करना भी शक्य है । सवेदन में भी असाधारणाकार पारमार्थिक नही हैं वे अनादि अविद्या के निमित्त से ही हैं अत सवेदन सामान्य निर्वि कल्प ज्ञान ही वास्तविक है ऐसा कहने वाले हम भाट्ट का भी आप सौगत निवारण नहीं कर सकते हैं ।

सौगत—सवित् (ज्ञान) सामान्य वस्तुभूत नही है । क्योकि वृत्ति विकल्प अनवस्था आदि अनेक दोषो का प्रसग आ जाता है । जैसे कि बाह्यार्थ सामान्य को स्वीकार करने पर अनेक दोष आ जाते हैं ।

भाट्ट—तब तो सवित् विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध नही होगा क्योकि विचार करने पर बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव ही सिद्ध होगा । इस प्रकार से सवितसामान्यवादी भी कह सकते हैं और ऐसा कहने पर तो आपका हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है । इस प्रकार से सवितसामान्य और संवित् विशेष दोनो मे दूषण समान ही हैं । और हमारा जो बहिरर्थवत दष्टात है वह साधन शून्य है ऐसा भी आप नही कह सकते है क्योकि वह भी समान ही है ।

सौगत— सवित स्वलक्षण—विशेष अद्वत को स्वीकार करने से माध्यमिक के प्रति सिद्ध साधन

---

१ सौत्रान्तिकवादिमतम् । २ सौगत प्राह । ३ घटपटाद्याकार । ४ भाट्ट । ५ निर्विकल्पज्ञान । ६ भाट्टस्य । ७ सौगते नति शेष । ८ सौगत । ९ एकस्यानकवृत्तिनस्यादिकारिकाव्याख्यान चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात् । १ भाट्ट । ११ यच्चसत्तथा कायमित्यादिकारिकाव्याख्यान तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात् । १२ सवित्सामान्यवादी भाट्ट । १३ संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्ध वा ? प्रमाणसिद्ध चेन्न—वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात् । अप्रमाणसिद्ध चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतु । एव सविद्विशेष प्रमाणसिद्धोऽप्रमाणसिद्धोवेत्यत्रापि योज्यम् । १४ संवित्सामान्यसविद्विशे षयो । १५ सौगत आह—हे भट्ट बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्त साध्यसाधनविकल इति । भट्टो वदति— इत्यपि सौगतेन न वाच्यम्—तवापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात् ।

---

(1) विशेषस्य । (2) इव । (3) सामान्यस्य व्यक्तिरहितप्रदेशे सत्त्वं । (4) घटादि । (5) ता । (6) भवन्मते यथा बहिरर्थ परमार्थसन्न भवति ।

निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्—समानत्वात्। 'संवित्स्वलक्षणाद्वैतोपगमात्' सिद्धसाधनमिति' चेत् 'संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि' सिद्धसाधन कुतो न भवेत् ? 'संवित्सामान्याद्वैत प्रतीतिविरुद्धम्— विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव— संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसंवेदनस्य 'सकृदप्यभावात । सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात । [10]ततो [11]निर्बाधप्रतीतिबलादभेदव्यवस्थाया सामान्यव्यवस्था ऽस्तु[12] सुघटै[13]व । [14]अन्त संवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्त्त [15] युक्ता— निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात । एतेनैतदपि प्रत्याख्यात यदुक्त धर्मकीर्त्तिना—

[16]अतद्रूपपरावृत्त[17]वस्तुमात्रप्रवेदनात । सामान्यविषय प्रोक्त [18] लिङ्ग [19]भेदाप्रतिष्ठितेः ॥ इति ।

ही है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो संवित् सामान्य को स्वीकार करने वाले संवित सामान्यवादी भाट्ट को भी सिद्ध साधन क्यो नही हो जावेगा।

सौगत—संवित् सामान्याद्वैत तो प्रतीति से विरुद्ध है क्योकि विशेष संवेदन के अभाव मे कदाचित भी संवेदन नही होता है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहा तब तो संवित स्वलक्षणाद्वैत भी तो प्रतीति से विरुद्ध ही है क्योकि संवित सामान्य के संवेदन का अभाव होने पर तो संवित विशेष का संवेदन सर्वथा—एक बार भी संभव नही है अर्थात् ज्ञान सामान्य का अनुभव न होने पर ज्ञान विशेष का भी अनुभव नही हो सकता है। अतः आप दोनो संवेदन वादी के यहाँ आक्षेप और समाधान तो समान ही हैं। इसलिए सामान्य के अभाव मे विशेष का भी अभाव हो जाता है अत निर्बाध प्रतीति के बल से भेद व्यवस्था विशेषावस्था के सिद्ध हो जाने पर सामान्य व्यवस्था भी सुघटित ही है अर्थात् जैसे भेद व्यवस्था मे विशेष प्रतिभासित होता है वैसे ही अत संवेदन मे सामान्य आभासित होता है।

अत अत —संवेदन मे और उसी के समान बाह्य पदार्थों मे सामान्य विशेष व्यवस्था स्वीकार करना आप सौगत को युक्त ही है क्योकि निर्बाध प्रतीति से सिद्ध होना दोनो जगह समान है।

इसी कथन से उसका भी निरसन हो जाता है जो कि धर्म कीर्ति आचार्य ने कहा है कि—

श्लोकार्थ— अतद्रूप से परावृत—अन्य रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र का प्रवेदन होने से सामान्य विषयक ही अनुमान कहा गया है क्योकि अनुमान से भेद का ग्रहण नही होता ॥

---

१ सौगत । २ विशेष। ३ मध्यक्षणैकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्)। ४ माध्यमिक प्रति । ५ भाट्ट । ६ विधिवादिनो भट्टस्य । ७ सौगत । ८ भाट्ट । ९ सर्वथा । १० भाट्ट (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यत)। ११ विशेषावस्थायाम्। १२ सामान्यव्यवस्था तु इति पाठान्तरम् । १३ प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्त संवेदनेषु सामान्यमाभासते । १४ अत इति पाठान्तरम् । १५ सौगत । १६ अन्यरूपेण । १७ अन्यापोह । १८ लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम् । १९ भेदस्याग्निस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात् ।

'तद्रूपानुवृत्तस्य' वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य' 'सिद्ध भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्'— सर्वदा बहिरन्तश्च' भेदाभेदात्मनो' वस्तुन प्रतिभासनात ।

[भदाभेदौ विवक्षावशवर्तिनौ इति बौद्धस्य मान्यताया निराकरणं]

"न चैतौ भदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्तिनौ— सवत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्[2] [3]येनात्मना[4] भेद-व्यवस्था तनवाभदव्यवस्थिति स्यात—तदविवक्षाया[1] निरकुश त्वात । [1] पूर्ववासना[5]प्रतिनिय-माद्विवक्षाया प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्[11]कुतस्त[11] द्वासनाप्रतिनियम ? [11]प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न—[14]तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूवस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न—[15]तस्या सविदव्यभिचारे [6]वस्तु

अतएव तद्रूप से अनुवृत्त—युक्त वस्तु मात्र निर्बाध ज्ञान से अधिरुढ़ है—सामान्य विशेष विषयक ही सिद्ध है किंतु सामान्य निरपेक्ष विशेष रूप भेद मात्र वस्तु व्यवस्थित नही है । क्योकि सवदा बाह्य घटादि और अतर्ज्ञान रूप बाह्याभ्यतर वस्तु भेदा भेदात्मक सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित होती हैं ।

[भेद और अभेद को विवक्षा क आश्रित मानने रूप बौद्ध की माध्यता का निराकरण]

ये दोनो भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती भी नही है । अन्यथा-सवत्र सकर दोष का प्रसग आ जावगा । अर्थात जिस स्वरूप से भेद व्यवस्था है उसी स्वरूप से अभेद व्यवस्था भी हो जावगी क्योकि वह विवक्षा तो निरड कुश है अत भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती नही हैं ।

सौगत—पूव की वासना के प्रतिनियम से विवक्षा का प्रतिनियम सिद्ध है अत उसके निमित्त से भेदाभेद की व्यवस्था मे सकर दोष का प्रसग नही आता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो उस वासना का प्रतिनियम किस प्रकार से है ?

सौगत—प्रबोधक निर्विकल्प ज्ञान के प्रतिनियम से उस वासना का प्रतिनियम सिद्ध है ।

भाट्ट—ऐसा नही कहना । अन्यथा उस प्रबोधक प्रत्यय मे पूव वासना का प्रतिनियम न करने पर प्रबोधक प्रत्यय का भी प्रतिनियम नही बन सकेगा ।

सौगत—पूर्व स्ववासना के प्रतिनियम से प्रकृत वासना का प्रतिनियम बन जाता है ।

---

१ नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मक कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति । २ युक्तस्य । ३ सामान्य विशेषरूपस्य विषयस्य । ४ सामान्यनिरपेक्षस्य विशषस्य । ५ बहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । ६ सामान्यविशषात्मकस्य । ७ सौगत आह अभेदवद्भेदोपि विवक्षावशवर्त्येव -सवविकल्पातीतत्वादस्येति । ८ भा (तृतीया) । ९ कथमस्तथाहि । १ सौगत । ११ भाट्ट । १२ पूर्व । १३ प्रकट निर्विकल्पकज्ञान । १४ प्रबोधकप्रत्यये पूववासनाया अनियमे प्रबोधकप्रत्यय स्यानियमत्वप्रसङ्गात । १५ निर्विकल्पकज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वय करोति भाट्ट ।

---

(1) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (2) कथ । (3) स्वरूपेण । (4) ईदृशबाह्याभावात् । (5) संस्कार । (6) वासनाया वस्तुत्वं नाङ्गीकरोषि ।

[1]स्वभावतापत्तेः । कदाचित्तद्व्यभिचारे[2] भेदाभेदव्यवस्थितेरपि[3] व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा [4]वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव [5]भेदाभेदौ [6]परेणाभ्युपगन्तव्यौ । [7]ततो यदभिन्नं [8]साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम् । न पुनरन्यापोहमात्रं [9]विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम—यतः करोति—सामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत् । तदुपलम्भेपि च विशेषे संदेहोनुपलभ्यमानेपि स्मृतिविषये न [1]स्यात् ।

[बुद्धिभेदमंतरेण पदार्थस्य भेदव्यवस्था न भवतीति बौद्धमान्यताया निराकरणं]

[11]ननु च स्थाणुपुरुष[12]विविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेष[13]व्यतिरिक्तं च

भाट्ट—नही ! हम ऐसा प्रश्न करेंगे कि निर्विकल्प ज्ञान के साथ वह वासना व्यभिचरित है या नहीं ? यदि उस वासना को निर्विकल्प ज्ञान से व्यभिचारित नही कहोगे तब तो वह वस्तु का स्वभाव हो जावेगी । अर्थात् जो जिससे अभिन्न है वह उस स्वरूप है इस तरह वासना को वस्तु स्वभाव मान लेने पर बौद्धमत का व्याघात हो जावेगा । यदि कदाचित् ज्ञान के साथ उस वासना को व्यभिचार भिन्न मानोगे तब तो भेदाभेद की व्यवस्था से भी व्यभिचार का प्रसंग आ जावेगा पुनः उनमे संकर दोष कैसे नहीं आवेगा ?

बहुत दूर जाकर भी वस्तु स्वभाव का अवलंबन लेकर ही उन दोषो का परिहार करने की इच्छा रखते हुए आप सौगत को भेदाभेद विशेष सामान्य इन दोनो को वस्तु का स्वभाव ही स्वीकार करना चाहिए । इसलिए जो अभिन्न रूप है सभी वस्तुओ मे साधारण वस्तु का स्वरूप है वही सामान्य है यह बात सिद्ध हो गयी । किन्तु अन्यापोह मात्र अवस्तु विकल्प बुद्धि से परिनिष्ठित नही हैं कि जिससे करोति यह सामान्य पद यज्यादि विशेष मे व्यापी और वास्तविक न हो सके अर्थात् वास्तविक ही सिद्ध होता है और जिससे कि उस विशेष के उपलब्ध होने पर भी एवं स्मृति के विषय की उपलब्धि न होने पर भी संदेह न हो सके अर्थात् संदेह होगा ही होगा ।

[बुद्धि भेद के बिना पदार्थ मे भेद की व्यवस्था नही हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है]

सौगत—स्थाणु और पुरुष के विशेष से रहित अपर ऊर्ध्वता सामान्य और यज्यादि विशेष से भिन्न करोति सामान्य वास्तविक नही है क्योकि बुद्धि से अभेद होता है अर्थात् सामान्य को ग्रहण करने वाली

---

१ यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम् । वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः । २ भिन्नत्वे । ३ पञ्चम्येकवचनम् । ४ विशेषसामान्ये । ५ सौगतेन । ६ बाह्यवस्तुस्वभावालम्बनादेव—सङ्करपरिहारो यतः । ७ सकलपदार्थेषु साधारणम् । ८ अवस्तुमात्रम् । ९ सामान्यं नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम् । १० वक्रोक्त्या वाच्यम् । ११ सौगतः । १२ विशेषौ । १३ भिन्नम् ।

(1) बाह्य ।

[1]करोतिसामान्यं न वास्तवमस्ति—[1]बुद्ध्यभेदात्। न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थिति—[2]अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

न [2]भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[3]। [3]बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता। इति॥

तदेतदसदेव[4] — [5]सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात्। सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा[6] विशेषबुद्धिः पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते? दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणुपुरुषविशेषौ—तत्र सन्देहात्। तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव [8]सामान्यस्य [10]ततो व्यतिरेकावभासनम्—एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य यदप्युक्तम्[11]—

[12]ताभ्यां [13]तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्न[4] दूरेवभासनम्। दूरेवभासमानस्य[14] सन्निधानेति[15]भासनम्।

करोति क्रिया और विशेष को ग्रहण करने वाली यह यादि क्रिया है इस प्रकार की बुद्धि का अभाव है। और बुद्धि मे भेद के बिना पदार्थ के भेद की व्यवस्था नही हो सकती है। अन्यथा—अति प्रसंग दोष आ जावेगा। अर्थात एक घट ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जावेगा अथवा एक घट ज्ञान से सभी घटो की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है—

श्लोकार्थ—भेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नही है क्योकि बुद्धि से अभेद है। एवं बुद्ध्याकार के भेद से ही पदार्थ का भेद देखा जाता है। अर्थात यह बुद्धि सामान्य को ग्रहण करने वाली है एवं यह विशेष को ग्रहण करने वाली है इस प्रकार से बुद्धि मे भेद का अभाव है।

भाट्ट—आपका यह सब कथन असत् रूप ही है। क्योकि सामान्य और विशेष मे बुद्धि का भेद सिद्ध ही है। इदं सत इदं सत इस प्रकार के अनुगताकार को सामान्य ज्ञान कहते हैं। एवं इदं न इदं न इस प्रकार से व्यावृत्ताकार को विशेष ज्ञान कहते हैं ये दोनो ज्ञान अनुभव सिद्ध है दूर से ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासित किन्तु स्थाणु और पुरुष विशेष प्रतिभासित नही होते हैं क्योकि वहाँ सदेह देखा जाता है। और विशेष का परिहार करके सामान्य का प्रतिभासन ही उस सामान्य से व्यतिरेक का अवभासन है और इतना मात्र ही उस व्यतिरेक का लक्षण है जो कि आपके यहा धर्मकीर्ति ने कहा है—

श्लोकार्थ—स्थाणु और पुरुष मे जो भेद है वही व्यतिरेक है यदि ऐसा कहो तो निकट मे अवभासन

---

१ करोति सामान्यग्राहिका यत्यादिर्विशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात्। २ एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात्। अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात्। ३ इयं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धिभेदाभावात्। ४ भाट्ट। ५ सामान्यविशेषयो (ईप) (सप्तमी)। ६ इदं सत् सदिति। ७ नेदं नेदमिति। दूरादूर्ध्वतासामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु। एतावता तस्यास्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकावभासनं कुत इत्याह। ९ व्यतिरेकस्य। १० सामान्यात्। ११ धर्मकीर्तिना। १२ स्थाणुपुरुषाभ्याम्। १३ भेद। १४ सामान्यस्य। १५ विशेषतया प्रतिभासनम्।

---

(1) विशेषग्राहिका सामान्यग्राहिकेति अनेन प्रकारेण बुद्धिभेदाभावात्। (2) विशेषात्। (3) स्वरूपस्य। (4) किन्नादूरे इति पा।

इत्येतदप्ययुक्तं—विशेषेपि समानत्वात्। सोपि हि यदि [1]सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुन स्वरूपे [2]सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले[1] रूपे प्रतिच कासति[2] पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति। [4]अथ निकटदेशसामग्रीविशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्त्तिना प्रतिपत्तृणामिति न विशेषप्रतिभासनं[3] [5]तर्हि [6]सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्त्तिना नास्ति। ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति सम समाधि। अस्ति[4] च निकटे सामान्यस्य[7] प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषप्रतिभासनवत्। यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव विशेषो[5] हि यथा दूरादस्पष्टं प्रतिभाति न तथा सन्निधाने—[8]स्वसामग्र्यभावात्[9]। [11]अत एव च न

क्यो नहीं होता है क्योंकि दूर मे अवभासित सामान्य का सन्निधान होने पर विशेष रूप से प्रतिभासन होता है। यह आपका कथन भी विशेष मे समान ही है अतः अयुक्त है।

वह भी यदि ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य से भिन्न है तब तो दूर मे वस्तु का स्वरूप प्रतिभासित होने पर वह (विशेष) प्रतिभासित क्यो नही होता है ? इन्द्र धनुष मे सामान्य नील रूप के प्रतिभासित होने पर पीतादि रूप दूर से प्रतिभासित नही होते है ऐसा तो है नही।

सौगत—निकट देशरूप सामग्री विशेष प्रतिभास को उत्पन्न करती है किन्तु दूरदेशवर्ती पुरुषो को विशेष प्रतिभास उत्पन्न नही करती है इसलिए विशेष का प्रतिभास नही होता है।

भाट्ट—तब तो ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली कोई दूरदेशवर्ती सामग्री निकट देशवर्ती जनो को नही है। इसलिए निकट मे उसका प्रतिभास नही होता है। इस प्रकार से समान ही समाधान है। एवं निकट मे ऊर्ध्वताकार सामान्य का प्रतिभासन स्पष्ट देखा जाता है जैसे कि विशेष का प्रतिभासन स्पष्ट है।

किन्तु दूर मे जैसा उसका अस्पष्ट प्रतिभासन है वैसा निकट मे नही है विशेष प्रतिभासन के समान। और जिस प्रकार से विशेष दूर से अस्पष्ट प्रतिभासित होता है उस प्रकार से निकट मे नही होता है किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है क्योंकि अपने अस्पष्ट प्रतिभासन की सामग्री का

१ भाट्ट। २ ऊर्ध्वतालक्षणात्। ३ सामान्ये। ४ सौगत। ५ भाट्ट। ६ ऊर्ध्वतालक्षण। ७ ऊर्ध्वताकारस्य। ८ किन्तु स्पष्ट एव। ९ स्वस्यास्पष्टप्रतिभासनस्य। १ सामान्यवद्विशेषं वस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्त आह। ११ सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव।

(1) ऊर्ध्वताकारे। (2) सति। (3) प्रतिभास इति पा। (4) किंच। (5) अत्र विशेषो हि प्रतिनियतदेशस्थादि ग्राह्यो न तु स्थाणुपुरुषादिरन्यथा संशयोत्पत्तिविरोधात्तथा वक्ष्यमाणत्वाच्च।

सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्व[1]स्पष्टप्रतिभास[1]व्यवहार[१]—प्रतिभासमानरूपे[2] एव सामान्ये[३] विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ह्यप्रतिभासितान्य[४]प्रतिभासिता वा 'कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता[५]' । किं तर्हि ?

[स्पष्टास्पष्टव्यवहारौ ज्ञानस्य धर्मौ स्तः न च पदार्थस्य । स्पष्टज्ञानवच्च अस्पष्टज्ञानमपि सत्यमेव]

कुतश्चि[६]द्दृष्टा[3]दृष्टकारणकलापादस्पष्ट[७]ज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्व स्पष्टता[4]—विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत् । [८]तस्या विषयधर्मत्वे [९]सर्वदा [१०]तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् [११]कुतः प्रतिभास[5]परावृत्तिः [१२]स्यात् ? न [१३]चास्पष्टसंवेदनं निर्विषयमेव—[१४]संवादकत्वात् [१५]स्पष्टसंवेदनवत् । [१६]क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे—स्पष्ट

अभाव है।

अतएव सामान्य और विशेष का दूर से अस्पष्ट प्रतिभासन होने से ही सामान्य का प्रतिभास होने पर और विशेषों के प्रतिभासित न होने पर अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार नहीं है क्योंकि प्रतिभासमान स्वरूप सामान्य अथवा विशेष ज्ञान में ही अस्पष्ट व्यवहार देखा जाता है। सामान्य और विशेष में से किसी एक की अप्रतिभासिता अथवा अन्य की प्रतिभासिता किसी सामान्य अथवा विशेष की अस्पष्ट प्रतिभासिता नहीं है।

शंका—तो क्या है ?

[स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं । एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है]

समाधान—किसी दृष्ट कारण—देशकालादि और अदृष्ट कारण—मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप कारण कलाप से अर्थ में पदार्थ में अस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होना ही अस्पष्टता है क्योंकि विषयी धर्म का विषयों में उपचार किया जाता है। अतः अस्पष्टता संवेदन-ज्ञान का ही धर्म है जैसे कि स्पष्टता संवेदन का धर्म है।

और उस अस्पष्टता को विषय का धर्म मानने पर तो सर्वदा अंधकार अवस्था में भी तथा—उद्योत अवस्था के समान प्रतिभास का प्रसंग आ जावेगा। एवं स्पष्टता ही सर्वथा वस्तु का धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर पुनः प्रतिभास की परावृत्ति कैसे हो सकेगी ?

---

१ सर्वथा । २ सर्वदा । ३ सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा । ४ सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य । ५ सामान्यस्य विशेषस्य वा । ६ अस्पष्टस्पष्ट प्रतिभासितामेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते । ७ दृष्टकारण देशकालादि अदृष्ट कारण मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष । ८ भवति । ९ अस्पष्टतायाः । १० अन्धकारावस्थायामपि । ११ उद्द्योतावस्थायामिव । १२ वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह । १३ बौद्धाभिप्रायमनूद्य वक्ति । १४ (भाट्ट) सविकल्पकम् । १५ सत्यत्वात् । १६ निर्विकल्पकवत् । १७ अस्पष्टज्ञाने ।

---

(1) नमाविकोक्त । (2) प्रतिभासमानस्वरूपे । इति पा । (3) दृष्ट—चक्षुरादि । अदृष्ट—पुण्यपापादि । (4) ईषत्प्रतिभासनं सूक्ष्मवस्त्राच्छादितवस्तुवत् । (5) निवृत्तिः ।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात । [1]ततो [2]नतत्साधु—

बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते [4]यदा । तदास्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जग मत ॥

इति—[1]च द्रद्वयादिप्रतिभासे[६] तदव्यवहारप्रसक्ते । [७]न च मीमासकाना सामान्य विशेषे भ्यो[८] भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव[६] वा—तस्य [2]कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मन प्रतीते । प्रमाण सिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तदग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मक त्वोपपत्तेन काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा[१] सवथास्ति नाप्यसामान्याकारा सवदोभयाकारा यास्तस्या प्रतीते । न चार्थाकारा[११] बुद्धि— तस्या निराकारत्वात् तत्र[१२] प्रतिभासमानस्या कारस्याथधमत्वात् । न[१३] च[3] निराकारत्वे सवेदनस्य [4]प्रतिकमन्यवस्था ततो विरुध्यते—

एव अस्पष्ट सवेदन—सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नही कह सक्ते क्योकि स्पष्ट सवेदन—निर्विकल्प सवेदन के समान वह अस्पष्ट सवेदन भी सवादक है—सत्य है।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) मे कही पर विसवाद दिख जाने से सवत्र विसवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट सवदन मे भी वही प्रसग आ जावगा। अत अस्पष्ट सवदन भी विषय का ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नही है यह बात सिद्ध हो गई। अतएव आपका यह कथन भी सम्यक नही है कि—

श्लोकार्थ—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार अविशेषाकार बहि स्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जब स्वलक्षण अथ से उत्पन्न होती है तभी जगतमान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है। इस प्रकार से ना तैमिरिक रोग वाले के चद्रद्वयादि के प्रतिभास मे वह व्यवहार हो जावगा।

मीमासको के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषो से सामान्य सवथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो ऐसा तो है नही क्योकि वह सामान्य उन विशेषो से कथचित भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति मे आ रहा ह।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक जात्यतर वस्तु की प्रमाण म सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है। अत विशेषाकार स व्यावृत्त अविशेषा

---

१ अस्पष्टसवेदन सविषय यत । २ वक्ष्यमाणम्। ३ अस्वलक्षणाकारा अविशेषाकारा बहि स्वलक्षणाकारा। ४ स्वलक्षणलक्षणादर्थात्। ५ यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम्। ६ जाततिमिरिकस्य। ७ तर्हि भवता मीमांसकाना भेदाभेदे सतीद दूषण समान तत्र किम् ? इति प्रश्ने आह। स्थाणुपुरुषादिभ्य । ६ अत एवास्पष्टता लक्षण निर्विषयलक्षण दूषण न। १ विशेषाकाराद्व्यावृत्ताविशेषाकारा। ११ सौगताभ्युपगताद्र्थसहिता न भवती त्यर्थ । १२ विषये। बुद्ध निराकारत्वं तर्हि आकार कथ प्रतिभासते इ युक्त आह। १३ हे सौगत।

---

(1) एकस्माच्च प्रादुत्पन्ना अतदाकारा चद्रद्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु। न च तथास्ति। (2) अवाक्य विवेचनं। (3) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति। (4) प्रतिनियतविषय ।

प्रतिनियत [1]सामग्रीवशात्[1] प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया[2] तस्योत्पत्तौ प्रतिकर्मव्यवस्थाप्रसिद्धेः[2] साकारज्ञानवादिनामपि[3] तथाभ्युपगमस्यावश्यम्भावित्वात्। [4]अन्यथा सकलसमानाकार[3] व्यवस्थापकत्वा[5]पत्तौ[6]संवेदनस्य [7]तदसिद्धे। [8]ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्याव भासिनी [9]कुतश्चिददस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा[10] च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च [5]कस्यचित्—[11]सकलविशेषरहितस्य सामा न्यस्य प्रतिभासासम्भवात्। [12]न चोर्ध्वतासामान्ये विशेषे च [13]प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

कार रूप कोई ज्ञान सर्वथा नही है। तथैव असामान्याकार भी नही है किन्तु सर्वदा उभयात्मक रूप ही ज्ञान अनुभव मे आता है।

एवं अर्थाकार—सौगताभ्युपगत ताद्रूप्य सहित ज्ञान भी नही है क्योंकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उस विषय मे प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म है। हम यदि ज्ञान को निराकार मानते है तो प्रतिकर्म व्यवस्था विरुद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नही कह सकते है क्योंकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ का ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है। साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक के यहाँ भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यंभावी है। अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते है एवं पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते है किन्तु भाट्ट इस तदुत्पत्ति और तदाकारता का खण्डन कर देते है। अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानों मे तुल्याकार प्राप्त हो जाता है। अतः सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुनः संवेदन मे वह प्रतिकर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टअदृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु मे अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है। इस प्रकार से दूर मे सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योंकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नही होता है।

१ भाट्ट। २ ग्राहकतया। ३ सौत्रान्तिकानाम्। ४ प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गीकारस्य। ५ प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदशेषनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः)। ६ व्यवस्थापकत्वापत्तेरिति पाठान्तरम्। ७ प्रतिकर्म व्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात्। ८ योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः। ९ दृष्टादृष्टकारणकलापात्। १० सामान्याकारा। ११ कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्त आह। १२ सौगताभिप्रायमनूद्याह। १३ स्थाणुपुरुषोचितदेशः। आदि शब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलादयः गृह्यन्ते।

(1) अदृष्टादि। (2) ता। (3) ज्ञानस्य समस्वसंवेदनघटानां। (4) तथाङ्गीकारे निराकरोति भाट्टः। (5) पुरुषस्य।

भासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयो सन्देहानुपपत्ति—तयोरप्रतिभासनात् । 'तत्प्रतिभासनसा मग्र्यभावादनुस्मरणे' सति सन्देहघटनात् । 'तद्वत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य' प्रतिभासने युक्त सन्देह किं करोतीति । तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचन न दुघटम—'कथञ्चित्पृष्टस्यैव प्रतिपादनात् । एव यजनादिक्रियाविशेषाणा साधारणरूपा करोतीति क्रिया 'कथञ्चित्ततो [2] व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना 'कर्तृ व्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते[3] एवश दव्यापाररूपशब्दभावनावत्

ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष में प्रतिनियत देश आदि के प्रतिभासमान होने पर अर्थात स्थाण पुरुषोचित देश में प्रकाश और अधकार से कलुषित समय मे उन सामान्य और विशेष दोनो के दिखने पर स्थाणु और पुरुष विशेष मे सदेह नही होवे ऐसा नही है क्योकि वे दोनो प्रतिभासित नही होते है । अत उस प्रतिभासन की सामग्री देश की निकटता का अभाव हाने से और अनस्मरण के होने पर सदह हो जाता है । उसी प्रकार से— सामान्य के प्रत्यक्ष से तथा विशेष के अप्रत्यक्ष से और विशेष की स्मति होने से सदेह होना युक्ति युक्त ही है इस लक्षण के सिद्ध हो जाने से पचति यजति इत्यादि क्रिया विशेष के प्रतिभासित न होने पर करोति इस प्रकार की प्रतिनियत देशादि रूप क्रिया सामान्य के प्रतिभासित होने पर किं करोति ऐसा सदेह होना युक्त ही है । एव कि करोति ऐसे प्रश्न के होने पर पचति यजते इत्यादि प्रत्युत्तर दुघट नही है क्योकि कथचित पूछा गया पुरुष ही उत्तर देता है ।

इस प्रकार से यजनादि क्रिया विशेषो मे साधारणरूप करोति यह क्रिया कथचित—शक्य विवेचन रूप से उन यजनादि क्रिया विशेषो से भिन्न ही उपलब्ध होती हुई करोति अर्थ लक्षण वाली कर्ता के व्यापार रूप है एव उस क्रिया को ही अर्थ भावना कहते है क्योकि वह शब्द व्यापाररूप शब्द भावना के समान सकल बाधाओ से रहित है ऐसा निर्णय सिद्ध है ।

और वही वेदवाक्य का अर्थ है किंतु अन्यापोहादि के समान नियोग वेदवाक्य का अर्थ नही है । इसलिए हम भावनावादी भाट्टो का सप्रदाय ही सवादक सिद्ध होता है यह निश्चित हो गया । क्योकि सत्यरूप कार्य और भावनालक्षण अर्थ मे वेदवाक्य प्रमाण है उसी प्रकार से स्वरूप (विधि) मे वे प्रमाण नहीं हैं अर्थात् लिङ् लोट तव्य प्रत्यय से युक्त वेदवाक्य भावनाअर्थ म ही प्रमाण है विधिवाद अर्थ मे प्रमाण नहीं हैं कारण वहाँ बाधा का सद्भाव है । इस प्रकार से सभी वेदांतवाद का निराकरण कर देने

१ देशानैकट्यम् । २ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत । ३ विशेषालिङ्गितस्य । आदिशब्देनातिप्रकाशाद्यकार । ४ किं करोतीति । ५ पृष्ट एव पुमानुत्तर प्रतिपादयतीत्यर्थ । ६ शक्यविवेचनत्वेन । ७ यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन । ८ करोत्यर्थलक्षणा ।

(1) कथ कथ तयो अप्रतिभासने संदेह इत्याह । (2) भेदेन । (3) निश्चीयते एव ।

सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात् । सव च [१]वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवत् । इति [1]भट्टसम्प्रदाय एव सवादक सिद्ध । [२]कार्ये [३]चार्थे चोदनाया[2] प्रामाण्य तत एव न [४]स्वरूपे—तत्र बाधकसद्भावात् । सर्ववदान्तवाद[3]निराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति [५]कश्चित् ।

[अत्रस्थात् जनाचार्या भाट्टस्य भावनावादमपि निराकुर्वंति]

अत्र प्रतिविधीयते[६] । यत्तावदुक्त शब्दव्यापार शब्दभावनेति । तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तरभूतोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात् ?

[शब्दात् शब्दव्यापारस्याभिन्नपक्ष दोष प्रतिपादन]

यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेय ? शब्दस्य स्वात्मवत् । न ह्यकस्यानशस्य[६] प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावो युक्त ? सवेद्यसवेदकभाववत् । [१०]स्वेष्ट[११] विपर्यासेन तद्भावापत्ते—[१२]प्रति[4]नियम[१३]हेत्वभावात् । [१४]तदशपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे [१५]तस्य [१६]सावत्तात्वप्रस

से हम भाट्टो के यहाँ कोई भी बाधा उपस्थित नही हो सकती है ।

यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने अन्य विधिवादी का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट किया है ।

[अब यहां स जनाचाय भावनावादी भाटट का खण्डन करते हैं]

जैन—जो आप भाट्टो ने कहा है कि शब्द व्यापार ही शब्द भावना है उसमे हम आपसे प्रश्न करते हैं कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न ?

[शब्द स शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने मे दोष]

यदि अभिन्न है तो वाच्य कसे होगा ? जसे कि शब्द का स्वरूप वाच्य नही है । क्योकि एक अनश अश कल्पना रहित मे प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव युक्त नही है जसेकि एक निरश ज्ञान मे सवेद्य और सवेदक भाव मानना युक्त नही है । यदि अनश मे भी प्रतिपाद्य–प्रतिपादक भाव मानोगे तब तो आपके इष्ट से विपरीत भी कहा जा सकेगा अर्थात आपने शब्द को प्रतिपादक और उसके स्वरूप को प्रतिपाद्य माना है उससे विपरीत शब्द को प्रतिपाद्य भी कह सकेग क्योकि इस विषय मे प्रतिनियत हेतु का अभाव है । यदि शब्द मे अश की कल्पना करके प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव मानोगे तो वह शब्द

१ स्फोटादि । २ सत्यरूप । ३ भावनालक्षणे । ४ विधौ । ५ भट्टमतानुसारी । ६ जनेन । ७ हे भट्ट त्वया । ८ व्यापार शब्दस्यार्थो न भवति—ततोनर्थान्तरत्वात तत्स्वात्मवत । अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभिधेयो भवतु । को दोष ? तथा सति सन्दिग्धानकान्तिकत्व हेतोरित्युक्ते आह नहीति । ९ शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरशस्य । १ एकानशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्व चेत । ११ भट्टस्य स्वष्ट शब्दस्य प्रतिपादकत्व स्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति । तद्वपरीत्येन शब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन । १२ कुत । १३ शब्द प्रतिपादक स्वरूप प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियमहेतोरभावात । १४ शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया । १५ शब्दस्य । १६ कल्पितस्य ।

(1) अन्वय । (2) लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययवतस्य चोदनारूपस्य वाक्यस्य । (3) विधिरूप । (4) एकानशे नियमाभावात् ।

ङ्गात् । [१]स्वरूपमपि शब्द[1] श्रोत्रेण गमयति[2] [३]बहिरर्थवत्[२] स्वव्यापारेण । [४]ततस्तस्य[४] प्रतिपादक इति चेन्न[५]—रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्[६] । तेपि हि स्वं स्व स्वभाव चक्षुरादिभिगमयन्ति—[८]चक्षुरादीना स्वातन्त्र्येण [९] तत्र प्रवर्त्तनात् [११]तत्प्रयोज्यत्वात् तेषा च रूपादीना निमित्तभावेन [१२]प्रयोजकत्वात् स्वयमधीयानाना[4] कारीषाग्न्यादिवत् । [१३]अथ रूपादय प्रकाश्या एव ततोर्थान्तरभूताना चक्षुरादीना प्रकाशकादीना सद्भावादिति मतम् । तथैव[१४] शब्दस्वरूप प्रकाश्यमस्तु—ततोन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात् ।

सवृत्ति रूप—कल्पित ही हो जावेगा ।

भाट्ट—शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्र कर्णेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थों को बताता है । इसलिए वह स्वरूप का प्रतिपादक भी है अर्थात यह शब्द स्वरूप की अपेक्षा से प्रतिपाद्य बन जाता है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा से प्रतिपादक बन जाता है । एवं जैसे शब्द स्व व्यापार से बाह्य पदार्थ का ज्ञान कराता है वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से पुरुष के स्वरूप को बतला देता है यह भी कैसे ? ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते है कि पुरुष शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है । और श्रोत्रेन्द्रिय उस पुरुष को प्रेरित करती है पुन शब्द उस श्रोत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है । इस प्रकार से गम धातु से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय होकर गमयति बनता है । जिसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

जैन—ऐसा नही कहना । अन्यथा रूपादि भी अपने स्वरूप के प्रतिपादक हो जावेंगे पुन वे रूपादि भी भावना बन जावेंगे । वे रूपादि भी अपने-अपने स्वभाव को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को बतला देते है क्योंकि वे चक्षु आदि इन्द्रियां स्वतन्त्र रूप से उन रूपादि विषयों मे प्रवृत्ति करती है । वे रूपादि प्रयोज्य है और चक्षु आदि—निमित्त भाव से प्रयोजक हैं जैसे कि स्वयं पढने वालों को कारीषादि (कंड) की अग्नि निमित्त मात्र से प्रयोजक है मुख्य रूप से नहीं ।

भाट्ट—वे रूपादि प्रकाश्य—प्रकाशित होने योग्य ही है क्योंकि उनसे भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रकाशक रूप से विद्यमान हैं ।

जैन—उसी प्रकार से शब्द का स्वरूप भी प्रकाश्य ही होवे क्योंकि उनसे भिन्न श्रोत्रेन्द्रिय प्रकाशक

---

१ भाट्ट । २ यथा शब्द स्वव्यापारेण बहिरर्थ गमयति । ३ शब्द श्रोत्रेण स्वरूप गमयति यत । ४ स्वरूपस्य । ५ जैन । ६ ततो रूपादिर्भावना स्यात् । ७ रूपादय । ८ पुरुषस्य । ९ गमयति भावयति । १० रूपाद्यवगमे । ११ ते रूपादय प्रयोज्याश्चक्षुरादय प्रयोजका निमित्तमात्रकृत तु प्रयोज्यत्व न तु मुख्यवृत्त्या । १२ स्वस्वरूपवेदन प्रति । १३ भाट्ट । १४ जैन ।

---

(1) स्वरूपमपेक्ष्य प्रतिपाद्यत्व बहिरर्थमपेक्ष्य प्रतिपादकत्व शब्दस्येति भाव । (2) यथा । तथा शब्द श्रोत्रेण पुरुष स्वरूप गमयति इत्यत्रापि कथमिति चेत् शब्दस्वरूप गच्छति पुरुषस्त पुरुष श्रोत्र प्रयुङ्क्ते तच्च श्रोत्र शब्द प्रेरयति इति णिजन्तत्वेन प्रकारेण । पुरुष । (3) कम बहिरर्थं यथा श्रोत्रेण गमयति । (4) अधीयानादीना इति पा । स्वय अध्ययन कुर्वता ।

[1]सत्यमेतदिन्द्रियबुद्धौ[2] विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत् । प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति [3]नैव—तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्[1] । तस्य द्विष्ठत्वेनैकत्रानवस्थिते[4] ।

[शब्दात् शब्दव्यापारस्य भिन्ने मन्यमाने दोषानाह]

यदि पुनरर्थान्तरभूत[5] एव शब्दात्तद्व्यापार इति मत [6]तदा स शब्देन[2] प्रतिपाद्यमानो[3]

विद्यमान हैं ।

भाट्ट—आपका कहना सत्य है । श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान मे विषय भाव का अनुभव करते हुए रूपादि के समान शब्द प्रकाश्य ही हैं । किन्तु वे शब्द स्वरूप मे शाब्दिक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए प्रतिपादक भी कहे जाते हैं ।

जैन—ऐसा नही कहना । वहाँ पर तो वाच्य वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अभाव है । क्योंकि वाच्य वाचक भावरूप सम्बन्ध द्विष्ठ (दो मे स्थित) होने से वह एकत्र अनश रूप शब्द मे नही रह सकता है अर्थात् आपने शब्द को तो अश रहित माना है पुन उसमे वाच्य वाचक रूप दो भाव कैसे बनग ।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि शब्द अपने स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान मे अपण कर देता है । अत वह शब्द अपने शब्द भावना के स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है । इस पर आचाय कहते हैं कि तब तो रूप रस गध और स्पर्श भी अपने-अपने स्वरूपो के प्रतिपादक हो जावग क्योंकि ये रूप रसादि भी अपनी अपनी चक्षु रसना घ्राण और स्पशन इन्द्रियो के ज्ञान मे अपने स्वरूप का समपण करते ही हैं अर्थात् ये रूपरसादि भी चक्ष रसना आदि इन्द्रियो के विषय है जसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है । इस पर भाट्ट कहता है कि शब्द अपने वाच्य अथ के प्रतिपादक है इसलिए ये शब्द अपने स्वरूप के प्रतिपादक हैं । किन्तु रूप रसादि वस नही हैं वे तो चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा प्रकाशित होने योग्य है और वे चक्षु आदि इन्द्रियां उन रूपादि से भिन्न प्रकाशक है । आचाय कहते है कि आप भाट्टो का यह कहना अयुक्त ही है क्योकि शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक रूप स्वय ही प्रसिद्ध नही है । अन्यथा पर के द्वारा उपदेश देना व्याख्यान करना अथ का समझाना आदि व्यथ हो जावगे । क्योकि मेरा यह प्रतिपाद्य अथ है ऐसा वे शब्द श्रोताओ को स्वय तो कहते नही है । यदि शब्द स्वय ही कह दवे तो मूख बालक आदि भी कठिन कठिन शास्त्रो के अर्थों को स्वय ही समझ जावेग । विद्यालयो मे अध्यापको की कोई भी आवश्यकता नहीं रहेगी । किन्तु ऐसा तो है नही ।

१ भाट्ट । २ श्रोत्रेन्द्रियस्य । ३ जन । ४ अनंशरूपे शब्दे । ५ द्वितीयपक्षे । ६ (जन) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेद्यस्य वृक्षस्य तयोरन्तराले व्यान्तरव्यापारेणोत्पतननिपतनन भाव्यम् ।

(1) निरशत्वात् । (2) कर्तृ । (3) यदि शब्दव्यापार शब्देनोत्पाद्यमानस्तदा शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते इति वचो विरुध्येत ।

[4]व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि[5] [6]तद्भाव्य स्यात् । तद् व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्यते ।[7] तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्य व्यापारान्तरेण स्यात् । तत्तु भावनेत्यपरा-परभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः ।

[भाट्ट शब्दात्तस्य व्यापारं भिन्नाभिन्नं मन्यते तत्रापि दोषानुद्भावयति जैनाचार्याः]

[5]अथ [6]वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम् विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् [8]कुण्डादेर्बदरादिवत् । कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्— तदनुत्पादे[9]प्युत्पादात्तदविनाशेपि[11] च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति[1] मतम् । [12]तदाप्युभय[13]दोषानुषङ्गः । [14]स्यान्मतम्—

[शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष]

यदि पुनः द्वितीय पक्ष लेवें कि शब्द से शब्द का व्यापार भिन्न ही है तब तो वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्यमान व्यापार कारणभूत—व्यापारान्तर से यदि प्रतिपादित किया जाता है तब तो उस शब्द व्यापार से पुरुष का व्यापार संभव हो सकता है। किन्तु वह व्यापारान्तर ही भावना कहलायेगा। और यदि उस व्यापारान्तर को भी शब्द से भिन्न मानो तब तो वह भी अन्य व्यापार से ही भाव्य होगा पुनः वह भी भावना कहलायेगा इस प्रकार अपरापर भाव्य भावना की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा।

[भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं]

भाट्ट—शब्द से उसका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि विष्वग्भाव पृथक् भाव से उस व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कुंडादि से बदरी फल (बेर) पृथक् रूप से उपलब्ध हो रहे हैं अतः वे कथंचित् कुंडादि से अभिन्न नहीं हैं। एवं शब्द से शब्द का व्यापार कथंचित् भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है। उस शब्द के उत्पन्न न होने पर भी उसका पृथक् उत्पाद देखा जाता है एवं उस शब्द के विनष्ट न होने पर भी उस व्यापार का विनाश देखा जाता है। जैसे आकाश के उत्पन्न एवं विनष्ट न होने पर भी अन्धकार उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ देखा जाता है।

जैन—आपकी ऐसी मान्यता में भी उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं। क्योंकि आप स्याद्वादी नहीं हैं आप अपेक्षाकृत कथंचित् का अर्थ नहीं समझते हैं।

भावार्थ—भाट्ट ने शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहा है। इस पर आचार्य ने प्रश्न किया कि

१ कारणभूतेन। २ जैन। ३ शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः। ४ व्यापारान्तरम्। ५ भाट्ट। ६ शब्दात्। ७ पृथग्भावेन। ८ व्यतिरेकदृष्टान्तः। यत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति। यथा कुण्डादेर्बदरादि। ९ शब्द। १० पृथक्। ११ शब्दव्यापारस्य। १२ जैन। १३ अनर्थान्तरार्थान्तरोक्तदोषः स्यात्। १४ भट्टस्य।

(1) अन्धकारादिवत् इति पा.।

अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं[1] पुरुषव्यापारस्य [2]साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ[1] एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां [3]समश्नुते—तथा प्रतीते । अन्यथा[4] [5]सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात ।

[भाट्टो वदति य [जैनर्मान्य ज्ञानमपि स्वव्यापाराद् भिन्नमभिन्न भिन्नाभिन्न वेति त्रिषु पक्षेष दोषावतार]

सवेदनमपि[6] हि [7]भवना स्वव्यापार[8] विषयी [2]कुवन तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूत

शब्द से उस शब्द का व्यापार अभिन्न ह या भिन्न ?

शब्द से उसके व्यापार को अभिन्न मानने मे आचाय ने दोष दिया ह कि आप भाट्ट के यहां शब्द अश कल्पना स रहित हैं पुन उनमे वाच्य वाचक सम्ब ध कस बनेगा ? यदि शब्द मे अ श की कल्पना करके वाच्य वाचक भाव मानो तो भी अश कल्पना के काल्पनिक होने स श द और उसका अथ भी कल्पित ही रहगा।

यदि श द से उसके व्यापार को भि न मानोग तो भी वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया श द का व्यापार उस शब्द स भिन्न होने से यह उस शब्द का व्यापार ह ऐसा कसे कहा जावगा। एव यदि वह शब्द का यापार भि न व्यापार से प्रतिपादित किया जावगा तो अनवस्था आ जावगी। इस पर भाट्ट ने शब्द से उसके व्यापार को भि नाभि न मान लिया। तब आचाय ने कहा कि दोनो ही पक्ष मे दिए गए दोष पुन आपके ऊपर एक साथ आ जावगे क्योकि आप अपेक्षा कृत भिन्नाभिन्न की व्यवस्था नही समझते हैं और यदि अपेक्षा को समझ लगे तब तो स्याद्वादी के पक्ष मे सामिल हो जावगे फिर एकान्तवादी नही रहेगे।

भाट्ट—उपल ध होते हुए अग्निष्टोमादि वाक्य पुरुष व्यापार के साधक हैं इस प्रकार से अनुभव आता है अत शब्द म स्थित ही शब्द का यापार भावना है और वही श द भावना वेदवाक्य के विषय पने को प्राप्त करती हैं क्योकि वसा ही अनुभव आ रहा है। अन्यथा—ऐसा न मानो तो सवत्र ज्ञान और अथ मे विषय विषयिभाव की सभावना ही विरुद्ध हो जावेगी। एव जसे आपने हमारे से प्रश्न किए हैं वैसे ही हम आप जनियो से भी प्रश्न करगे कि—

[भाट्ट कहता है कि आप जनो के द्वारा मान्य ज्ञान भी अपने व्यापार से भि न है या अभिन्न या भिन्नाभिन्न है ? इन तीनो पक्षों में दोषारोपण]

आपके यहां ज्ञान भी अपने स्वाथग्रहण लक्षण व्यापार को विषयभूत करता हुआ उस ज्ञान से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है या अभिन्न स्वभाव को अथवा कथंचित् उभय स्वभाव को जानता है ?

---

१ शृण्वमानम् । २ भावकमिति पाठान्तरम्। ३ प्राप्नोति। ४ भावनाया वाक्यविषयत्वाभावे। ५ ज्ञानार्थयो। ६ यथास्माकं (भाट्टाना) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छ्यते जन । ७ जनानाम्। स्वार्थग्रहणलक्षणम्।

---

(1) उल्लेखेन। (2) स्वीकुर्वन्।

वा कथञ्चिदुभयस्वभाव वा [1]सवदयेत— गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे न सवेद्यसवेदकभाव:— संवेदनतव्द्यापारयो सर्वथानर्थान्तरत्वाद्वाक्यतद्व्यापारयो[1] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत् । द्वितीयपक्षेपि न तयोस्तद्भाव —[3]अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत । तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तस्तद्वदेव कुत सवेद्यसवेदकभाव सिध्यत् [4]अथ स्वाथसवेदन[1]व्यापारविशिष्ट सवेदनमबाधमनुभूयमान विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरण[2] सवेद्यसवेदकभाव साधयतीत्यभिधाने[5] '[6]परस्यापि शब्द स्वव्यापारविशिष्ट पुरुषव्यापार भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्वाक्य यापारो भावना [9]वाक्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति ।

एवं इन तीन विकल्पो को छोडकर और तो कोई गति उस ज्ञान की नही है । यदि पहला पक्ष लेवो तो सवेद्य—सवेदक भाव उस ज्ञान मे नही बनेगा क्योकि आपने तो ज्ञान और उसके व्यापार मे सवथा अभेद मान लिया है जसे कि हमारे यहाँ श द और उसके यापार मे सवथा अभद मानने पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नही हो सकता है ।

दूसरे पक्ष मे भी उन दोषो का सदभाव सभव ही है पूववत अनवस्था का प्रसग आ जाता है अर्थात यदि ज्ञान से ज्ञान का व्यापार भिन्न ही है तब वह ज्ञान का व्यापार ज्ञान से अनुभव किया जाता हुआ व्यापारातर से जाना जायेगा तो यापारातर भा य होगा और वह यापारातर भी ज्ञान से भिन्न होगा तो वह भी भिन्न-व्यापार से भा य होगा ऐसे अनवस्था आ जावेगी ।

तृतीय पक्ष मे भी उन दोनो पक्षो मे दिये गये दोष आ ही जावगे पुन उसी प्रकार से सवेद्य—सवेदक भाव—ज्ञय ज्ञान भाव कसे सिद्ध हो सकेगा ?

यदि आप जन ऐसा कहे कि—

'स्वाथसवेदन व्यापार से विशिष्ट अनुभूयमान ज्ञान बाधा रहित है सकडो विकल्पो के द्वारा उसका निराकरण करना शक्य नही है अत वह ज्ञान सवेद्य सवेदक भाव को सिद्ध कर देता है । ऐसा आपके द्वारा मानने पर तो हम भाट्टो का भी शब्द अपने व्यापार से विशिष्ट होता हुआ यागलक्षण पुरुष व्यापार को भावित करता है । इस प्रकार से बाधा रहित प्रतीति का सदभाव होने से शब्द का व्यापार ही भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अत वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है

---

१ स्वाथग्रहणलक्षणम् । २ ज्ञयवस्तुग्रहणलक्षणो यापार । ३ यदि पुनरर्थान्तरभत एव सवदनात्सवदनव्यापार इति मत तदा स सवेदनव्यापार सवेदनेन सवेद्यमानो व्यापारान्तरेण सवेद्यते चर्त्तार्हि व्यापारान्तरभाव्य स्यात् । व्यापारान्तर तु यदि सवेदनादर्थान्तर तदा तद्व्यापारान्तर व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यनवस्था । ४ भट्टो वदति । ५ जैनै । ६ भाट्टस्य । ७ यागलक्षणम् । (प्रेरयति) स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्ति करणरूपा । ९ शब्द पुरुषव्यापार भावय तीत्यादि वचनम् ।

---

(1) एव । (2) सत् ।

[भाट्टैरारोपितान् दोषान् जैनाचार्या निराकुर्वन्ति]

[1]तदनुपपन्नम्—[2]वैषम्यात्[3] । संवेदनेन हि[1] [5]संवेद्यमानः [4]स्वात्माऽर्थो[2] वा [6]तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा [7]तत्संवेद्यत्वेऽन्यस्य[8] [9]संवेदनस्यात्मनः[10] [3]संवेदकत्वोपपत्ते [4]राकाङ्क्षा[11]परिक्षयादनवस्थानवतारात्[5] । [12]वाक्येन[6] तु भाव्यमानः[13] पुरुषव्यापारो न तस्य

यह बात व्यवस्थित ही है।

[भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं]

जैन—यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टांत में विषमता है। ज्ञान के द्वारा संवेद्यमान—जाना गया स्वपरग्राहक अतींद्रियकरण शक्ति रूप स्वात्मा अथवा पदार्थ उस वाक्य के विषय हैं किन्तु संवेदक स्वात्मा उसका विषय नहीं है। यदि स्वात्मा को भी संवेद्य रूप मान लेओगे तो अन्य संवेदन के स्वरूप को संवेदकपना आ जावेगा पुनः अवांतर व्यापार की आकांक्षा का परिक्षय-अभाव न होने से अनवस्था आ जावेगी।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने शब्द से उस शब्द का व्यापार भिन्न है या अभिन्न? इत्यादि विकल्प उठाकर भाट्टों पर दोषारोपण किया था। तो भाट्ट भी उसी पद्धति से जैनाचार्य के प्रति दोषारोपण करते हुए कहता है कि आप जैनों के यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला प्रसिद्ध है पुनः जब ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है तब वह ज्ञान अपने से अभिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्नाभिन्न अपने स्वरूप को जानता है?

इन तीन विकल्पों के सिवा चौथा विकल्प संभव ही नहीं है। यदि ज्ञान अपने से अभिन्न स्वरूप को जानता है तो वह ज्ञान ज्ञेय—जानने योग्य और ज्ञापक—जानने वाला इन दोनों रूप कैसे हो सकेगा क्योंकि ज्ञान और उसका स्वरूप सर्वथा अभिन्न रूप ही है। जब दूसरा भिन्न पक्ष लेवोगे तो अनवस्था आ जावेगी। एवं तृतीय पक्ष में दोनों पक्षों के दोष आ जाते हैं। यदि आप जैन कहें कि हमारे यहाँ ज्ञान

१ जैनः । २ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । ३ वैषम्यं भावयति । ४ स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव । ५ स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा । ६ तस्य वाक्यस्य । ७ स्वात्मनः । ८ करणरूपस्य । ९ विषयरूपतया ग्राह्यस्य । १० स्वरूपस्य । ११ अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था । १२ अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनत्ति । अतोऽन्यत्संवेदनं संवेदकः स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम् । १३ उत्पाद्यमानः ।

(1) कर्तृ । (2) बाह्यार्थः । (3) येन ज्ञानेन करणं संवेद्यं तस्य ज्ञानस्य संवेदकत्वोपपत्तेः । स्वार्थग्रहणलक्षणस्यापरव्यापारस्याकांक्षा परिक्षयादनवस्था नास्ति । यद्यपि परोक्षं मीमांसकस्य करणं ज्ञानं तथा जैनानामनङ्गीकारात् । (4) स्वार्थग्रहणलक्षणापरव्यापारस्य । (5) संवेद्यमानः स्वात्मार्थो वा तस्य विषय इति तदेव साध्यं । (6) शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते तदानीमेव पुरुषव्यापार एव शब्दस्य विषयः न तु शब्दव्यापारः तस्य करणत्वात् तथाङ्गीकाराद्धर्म्यस्य शब्दस्य व्यापारो विषयः न तु पुरुषव्यापार इति कारणात् ।

विषय । [1]स्वव्यापारस्तु [2]भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो [3]विषयोऽभ्युपगम्यते इति मनागपि न [1]साम्यम्—तथाप्रतीत्यभावाच्च[2] । न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेव[4] प्रत्येति [5]स्वव्यापारोऽनेन[3] वाक्येन मम प्रतिपादित[4] इति । किं तर्हि ? [6]जात्यादिविशिष्टोऽर्थो [7]क्रियाख्योऽनेन[8]

स्वपर को जानने वाला अनुभव से सिद्ध है अत सकडो विकल्पो से उसमे दोषारोपण करना शक्य नही है । तब तो हम भाट्टो के यहाँ भी शब्द अपने यापार से सहित होता हुआ पुरुष के यज्ञ रूप व्यापार को भावित कराता है । इसमे भी बाधा रहित अनुभव आ रहा है अत शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है और वह पुरुष के व्यापार को करा देती है इत्यादि । इस पर जनाचाय कहते हैं कि भाई ! हमारे ज्ञान मे भिन्न अभिन्न आदि रूप से दोष नही आते हैं क्योकि हम अपेक्षा से ज्ञान को उसके जानन रूप व्यापार से भिन्न भी मानते है और अभिन्न भी मानते हैं । हमारे यहाँ ज्ञान श द व्याकरण से व्युत्पत्ति अथ मे तीन प्रकार से सिद्ध होता है । यथा—कतरि प्रयोग मे जानातीति ज्ञान आत्मा । जो जानता है वह ज्ञान है इस अथ मे ज्ञान और आत्मा अभिन्न—एक रूप हो जाते है ज्ञायतेऽननति ज्ञान । इस करण साधन मे जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है ऐसा अथ करन से ज्ञान और आत्मा मे करण और कर्त्ता की अपेक्षा से कथचित भेद भी हो जाता है । एव ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञान । कहने से जानना मात्र क्रिया ही ज्ञान है ऐसा सिद्ध हो जाता है । यहा पर ज्ञान को करण रूप से विवक्षित कर लेने से आपके द्वारा आरोपित दोषो का उ मूलन हो जाता है । ज्ञान के द्वारा स्व और पर का ज्ञान होता है । मतलब 'स्व शब्द से यहाँ ज्ञान रूप करण शक्ति से सहित आत्मा और पर शब्द से सभी जीव अजीव आदि पदाथ ग्रहण किये जाते हैं । जब ज्ञान स्वपर को जानने वाला है तब वह ज्ञान सवेद्य—जानने योग्य नही है क्यो कि ज्ञान तो जानने वाला सिद्ध है । अत ज्ञान करण श क्ति रूप से सवेद्य नही है कि तु सवेदक है अत हमारे यहा ज्ञान कथचित् अपने स अभिन्न स्वभाव वाली आत्मा को जानता है । कथचित कर्त्ता करण मे भेद की विवक्षा से अपने से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है एव क्रम स भिन्नाभिन्न की विवक्षा करने स सप्तभगी के तृतीय भग रूप कथचित्—भिन्नाभिन्न रूप अपने आत्म स्वभाव को जानता है ।

वाक्य के द्वारा भाव्यमान—उत्प न कराया गया पुरुष का यापार उसका विषय नही है । किन्तु स्वव्यापार भावक-लक्षण उस श द का भावना-नाम का विषय है ऐसा आपने स्वीकार किया है इसलिए किंचित् भी उदाहरण मे साम्य नही है । कारण उस प्रकार की प्रतीति नही आ रही है । कोई भी मनुष्य अग्निष्टोमेन यजेत इत्यादि शब्द क सुनने मात्र स ही इस प्रकार स नही समझता है कि "इस वाक्य ने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है इत्यादि ।

---

१ तर्हि भाट्टाभिहितविषय क इत्युक्त आह । २ उत्पादकत्वलक्षणः । ३ तस्य वाक्यस्य । ४ अग्निष्टोमेन यजेते त्यादि । ५ पुरुषव्यापार । ६ आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये । ७ यजेत आलभेतेत्यादि । ८ अनन वाक्येन ।

(1) वैषम्यादित्यनेन सबध । (2) न केवल वैषम्यात् । (3) वाक्यस्य । (4) प्रकाशित ।

प्रकाशित इति प्रतीति—सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टाया प्रकाशनात् । देवदत्त गामभ्याज 'शुक्ला 'दण्डेनेत्यादिवत । 'सैवाभ्याजनादिरयवच्छिन्ना[1] क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजन कुर्विति प्रतीतिरिति चेन्न[4]—तस्या पुरुषस्थत्वेन सम्प्र त्ययाच्छब्दात्म[2]भावनारूपत्वायोगात । 'तथा च कथमिदमवतिष्ठते— 'शब्दात्मभावनामाहुर न्यामेव' लिङादय इति ।

[अत्रपयत शब्दभावना निराकृत्य इदानीमथभावनामपाकुर्वंति जैनाचार्या]

'यदप्युक्तम—अथभावना पुरुषव्यापारलक्षणा वाक्यार्थ इति तदप्ययुक्तम्—नियो

शका—तो शब्द क्या प्रतिपादित करता है ?

जैन– जाति आदि स विशिष्ट अथ यजेत इत्यादि क्रिया नाम स इस वाक्य क द्वारा प्रकाशित किया गया है ऐसा अनुभव आता है क्योकि सभी वाक्य कर्मादि विशेषण से विशिष्ट क्रिया को ही प्रकाशित करते हैं। जसे हे देवदत्त ! इस श्वेत गाय का डड के द्वारा भगावो इत्यादि वाक्य जाति गुण द्रव्य मे विशिष्ट ही अथ का प्रतिपादन करते हैं—तथव ।

भाट्ट वही अभ्याजन आदि से अवच्छिन्न क्रिया ही तो भावना है क्योकि अभ्याज अभ्याजन कुरु —भगाओ भगाने की क्रिया करो इस प्रकार से प्रतीति आ रही है ।

जैन—नही । वह प्रतीति तो पुरुष मे स्थित रूप मे जानी जाती है । श दभावना और अथ भावना रूप से नही जानी जाती है । और उस प्रकार से यह बात भी कसे व्यवस्थित होगी कि लिङादि लकार शब्दभावना और आत्मभावना को अथभावना से भिन्न ही कहते हैं अर्थात यह कथन ठीक नही है ।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ स आचाय अथभावना का निराकरण करते हैं]

जनाचाय—और जो आपने कहा है कि पुरुष व्यापार लक्षण अथभावना वेदवाक्य का अथ है यह कथन भी अयुक्त है अन्यथा नियोग भी वेदवाक्य का अथ हो जावगा क्योकि नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादौ मैं इस वद वाक्य के द्वारा यज्ञादि कम मे नियुक्त हुआ हू । इस प्रकार से ज्ञाता को अनुभव हो रहा है ।

भाट्ट—इस प्रकार से शब्द व्यापार रूप से शब्दभावना ही सिद्ध होती है अत ऐसा शब्दभावना रूप नियोग हमें इष्ट है हमने तो शुद्ध कार्यादिरूप ही नियोग का निराकरण किया है ।

१ गुण । २ द्रव्यम् । ३ भाट्ट । ४ जन । ५ लिङादीना शब्दव्यापारविषयत्वाभाव सति । ६ अर्थभावनात । ७ इदानीमथभावना निराकर्तुमुपक्रमते । ८ देवदत्त करोतीत्यादिलक्षणा ।

(1) विशिष्ट, । (2) स्वरूप ।

गस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । नियुक्तोहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीतेः । 'इष्टस्तावद् दृष्टो नियोगो ²भावनास्वभाव ³शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति ⁴जैना तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य⁵ करोत्यर्थादिविशेषणस्य⁶ वाक्यार्थत्वोपपत्ते । निरपेक्षस्य² तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्ते । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्— यज्यार्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् ।

[भाट्टा करोति सामान्यक्रियामेव वाक्यस्यार्थ मन्यते किंतु जैनाचार्या भवति क्रिया सामान्यरूपा सर्वव्यापिनीं मत्वा दोषारोपण कुर्वंति]

⁶ करोतिसामान्यस्य [19]सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम् नित्या शब्दार्थसम्बन्धा इति वचनात् । न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छब्दा[20]र्थत्वाऽवे

जैन—ऐसा नही कहना । क्योकि करोति इस अर्थआदि विशेषण से विशिष्ट प्रधान भाव से विवक्षित वह नियोग भी वदवाक्य का अर्थ हो जाता है किन्तु निरपेक्ष करोति क्रिया का अथ भी वद वाक्य का अथ नही हो सकता है एव करोति अथ ही वद वाक्य का अथ है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योकि यज्यादि अथ भी वदवाक्य के अथरूप से अनुभव मे आते है ।

[भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मानकर उसे ही वेदवाक्य का अथ माना है । उस पर जैनाचार्य भवति क्रिया को सर्वव्यापी मानकर उसे वेद का अथ सिद्ध करते हैं]

भाट्ट —सकल यज्यादि क्रिया विशेष मे व्यापी करोति सामान्य नित्य है अत वह शब्द का अथ है । क्योकि नित्या शब्दाथसम्बन्धा ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वद के अर्थ नही हैं क्योकि व अनित्य है व वदवाक्य के अथ घटित नही होते है ।

जैन— ऐसा नही कहना—क्याकि सकल यज्यादि क्रिया विशेषो मे व्यापी यज्यादिक्रिया-सामान्य नित्य है वह भी वदवाक्य का अथ हो सकता है इसमे कोई विरोध नही है ।

भाट्ट—सभी क्रियाओ मे व्यापी हाने से करोति सामान्य ही शब्द का अथ है न कि यज्यादि विशेष ।

जैन यदि ऐसा मानते हो तो भवन क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी शब्द—वेदवाक्य का अथ हो जावे क्या बाधा है ? करोति क्रिया मे भी उसका सद्भाव है । क्योकि महाक्रिया में सामान्य

१ भाट्ट आह भो जैन । २ शब्दव्यापार इत्यर्थने शब्दभावनवेति भावनास्वभाव । ३ जैन । ४ विवक्षितस्य । ५ बस । ६ भाट्टो वदति । ७ नित्या शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभि । सूत्राणां सानुतन्त्राणा भाष्याणां च प्रणेतृभि । ८ वाक्यार्थता ।

(1) यागमात्र । (2) विशेषण । (3) पचनादि । (4) समाम्नाता महर्षिभि सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभि । तन्त्राणा—विषमपदव्याख्यानमनुतन्त्र तेन सह वतन्ते यानि सूत्राणि तानि सानुतन्त्राणि तेषां । (5) शब्दार्थत्वाघटनात् इति पा ।

घटनात् । इति चेन्न[1]—[2]यज्यादिक्रियासामान्यस्य[3] सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, [4]सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थं इति चेत्तर्हि[5] सत्तासामान्यं[6] [7]शब्दार्थोस्तु करोतावपि तस्य सद्भावात्। महाक्रियासामान्य[8]व्यवस्थितिरूपत्वात्[9]। यथैव हि पचति पाकं करोति यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति। ततः करोतीतराथव्यापित्वादभव[10]त्यर्थस्यैव शब्दार्थत्वं[11] युक्तमुत्पश्याम[12]।

[निष्क्रियवस्तुनि अपि भवत्यर्थो विद्यतेऽतः क्रियास्वभावो नास्तीति भाट्टे नोच्यमाने जैनाचार्या निराकुर्वंति]

स्यान्मतं निर्व्यापारेपि[14] वस्तुनि भवत्यर्थस्य प्रतीतेन क्रियास्वभावत्वं [15]निष्क्रियेषु गुणादिषु [16]भवनाऽभावप्रसङ्गात् इति चेन्न करोत्यर्थेपि समानत्वात्। [17]परिस्पन्दात्मक-

---

व्यवस्थितरूप ही है। अर्थात सत्ता-सामान्य सर्वत्र व्यवस्थित ही रहता है।

जिस प्रकार से पचति—पाकं करोति यजते—यागं करोति यह प्रतीति आ रही है उसी प्रकार से पचति पाको भवति यजते याजको भवति करोतीति कारको भवति यह ज्ञान भी हो रहा है। इसलिए भवति यह क्रिया इतर पचन आदि अर्थ मे भी व्यापी होने से हम जैन भवति इस क्रिया के अर्थ को ही वेद-वाक्य का अर्थ युक्त समझते हैं किन्तु करोति अर्थ को नही।

[निष्क्रिय वस्तु मे भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रिया स्वभाव नही है ऐसी भाट्ट की मान्यता का निराकरण]

भाट्ट—निर्व्यापार—निष्क्रिय—वस्तु मे भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नही है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिको मे सत्त्व के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।

जैन—ऐसा भी नही कहना। क्योंकि यह बात तो करोति क्रिया के अर्थ मे भी समान ही है। देखिये! परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित मे भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है तिष्ठति स्थानं करोति ठहरता है स्थान करता है। ऐसी प्रतीति आती है और दूसरी बात यह भी है कि गुणादिको मे करोति अर्थ का अभाव होने पर सर्वथा उनमे कारकपने का भी अभाव हो जावेगा पुनः वे गुणादि अवस्तु हो जावेगे। इसीलिए वह करोत्यर्थ भी व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तु मे उसका सद्भाव है। अन्यथा वह कारक न होने से अवस्तु हो जावेगा पुनः उसका सत्त्व नही रहेगा। एवं महासत्ता रूप भवन क्रिया है इत्यादि रूप से व्यवहार भी देखा

---

१ अघटनात्। २ जैन। ३ करोत्यर्थविशेषस्य। ४ भाट्ट। ५ जैन। ६ भवनक्रिया। ७ वाक्यार्थ। ८ महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव सामान्यं तदेव रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः। ९ सत्तासामान्यस्य। १० इतर=पचनादि। ११ न पुनः करोत्यर्थस्य। १२ वाक्यार्थत्वम्। १३ वयं जैनाः। १४ निष्क्रिये। १५ अन्यथा। १६ सत्त्वस्य विनाशाद्गुणादीनामभावः आयातः। १७ [पर आह] क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च।

---

(1) यज्यादिसामान्यपचतिसामान्यादे। (2) महाक्रिया सामान्यरूपत्वात्।

व्यापाररहितेऽपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः गुणादिषु च करोत्यर्थाभावे सर्वथा [1]कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः । [2]तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, [3]सति सर्वत्र भावात् । अन्यथा[4] तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात् सत्त्वविरोधात् । [5]भवनक्रियेत्या[2]दिव्यवहारदर्शनाच्च[6] सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव । करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वम् । इति चेन्न[7] तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात् ।

जाता है। इसलिए 'सत्ता' करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण ही है।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि करोति—करता है इस क्रिया का अर्थ सभी क्रियाओं में व्याप्त है। अतः यह करोति क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। जैसे—यजते याग करोति गच्छति गमनं करोति इत्यादि। यज्ञ करता है यज्ञ को करता है जाता है गमन को करता है यह करने रूप क्रिया सर्वत्र व्याप्त होने से ही नित्य है और वही वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो भू धातु सत्ता अर्थ में है और अस् धातु भी सत्ता अर्थ में है भवति अस्ति क्रियायें तो वास्तव में सर्वत्र व्याप्त हैं। यजते याजको भवति पचति पाचको भवति। यज्ञ करता है याजक होता है, पकाता है पाचक होता है। इत्यादि रूप से भू धातु की भवति क्रिया को भी सर्वत्र व्याप्त होने से वेदवाक्य का अर्थ मान लो क्योंकि यह भवति क्रिया तो करोति में भी व्याप्त है जैसे—करोति कारको भवति। तब भाट्ट ने कहा कि यह भवति निष्क्रिय वस्तु गुण आदि में भी पाई जाती है यथा आकाशोऽस्ति रूपादयः सति। आकाश है रूपादि हैं इत्यादि। अतः यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं होगी क्योंकि वेदवाक्य का अर्थ तो यज्ञ को करने की क्रिया रूप है। इस पर जैनाचार्य पुनरपि कहते हैं कि इस प्रकार से तो परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ पाया जाता है जैसे—तिष्ठति स्थानं करोति। ठहरता है स्थान करता है इन अकर्मक धातुओं में भी करोति क्रिया चली गई। इसलिए सर्वव्यापी महासत्ता रूप भवति क्रिया ही वेद वाक्य का अर्थ हो जावे। तब उसने कहा कि यह 'भवति' क्रिया तो करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण है। अतः करोति क्रिया ही विशेष्य रूप होने से एवं सर्वत्र प्रधान रूप होने से वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर और भी आगे ऊहापोह चलता है।

भाट्ट—करोति क्रिया का अर्थ ही सर्वत्र प्रधान होने से वेदवाक्य का अर्थ है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि आपके द्वारा मान्य वह करोति क्रिया सामान्य नित्य एक अनंश और सर्वगत है इस पर विचार करने से सर्वथा ही वह करोति सामान्य असंभव ही है अर्थात् भाट्ट करोति क्रिया को सामान्य नित्य एक निरंश और सर्वगत मानते हैं आगे क्रमशः इन मान्यताओं का खण्डन किया गया है।

१ क्रियाभाव। २ पर एव। ३ विद्यमाने वस्तुनि। ४ असति सर्वत्रभावे। ५ महासत्ता। ६ हेत्वन्तरमिदम्। ७ जैन आह। ८ करोतिसामान्यस्य।

(1) क्रियां कुर्वद्धि कारकं। (2) करण।

[करोत्यर्थसामान्यं नित्यमस्ति इति भाट्टेन मन्यमाने जैनाचार्यास्तस्य निराकरणं कुर्वन्ति]

[1]नित्यं करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति [2]चेन्न हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्ट[3]विरुद्धस्य साधनात् सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात् तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापि न्येकत्र[4] प्रत्ययस्योत्पत्तेः [5]पौर्वापर्यरहितस्य[1] [2]पूर्वापरप्रत्यय[6]विषयत्वासम्भवात्। [7]धर्मावेव[3] पूर्वापरभूतौ न धर्मिसामान्यमिति चेत् [8]कथं तदेवेद[9]मित्यभेदप्रतीतिः[4] ? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्त्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्पर[10] भेदात्। [11]करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चि

[करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं]

भाट्ट— करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है शब्द के समान।

जैन—नहीं। आपका हेतु विरुद्ध है यह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् हेतु आपके इष्ट सर्वथा नित्य से विरुद्ध कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है क्योंकि सर्वथा नित्य का प्रत्यभिज्ञान होना ही असंभव है। तदेवेदं यह वही है इस प्रकार से पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी एक वस्तु में वह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है एवं पौर्वापर्य से रहित वस्तु पूर्वापर ज्ञान—प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकती है।

भाट्ट—पूर्व और अपर ये दो धर्म ही हैं धर्मी सामान्य नहीं है।

जैन -यदि ऐसा कहो तो तदेवेदं यह अभेद प्रतीति कैसे होती है ? अर्थात् जिस सामान्य को मैंने यजनादि में प्राप्त किया था वही पचनादि में करोति अर्थ का सामान्य है क्योंकि तत् इस प्रकार से अतीत के परामर्शी स्मरण से और इदं इस प्रकार से वर्तमानोल्लेखी प्रत्यक्ष से विषय किए गये अतीत और वर्तमान पूर्वापर स्वरूप में परस्पर में भेद है इसलिए इस प्रत्यभिज्ञान में अभेद प्रतीति नहीं है।

भाट्ट—एक करोति सामान्य से उन पूर्वापर में कथंचित भेदाभेद की प्रतीति आती है। अथवा कथंचित् भेद से अभेद की प्रतीति आती है ऐसा भी टिप्पणीकार का कहना है।

---

१ (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारपरिहारार्थं सर्वथा पदं ज्ञातव्यम्। २ जैन। ३ भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति। ४ वस्तुनि। ५ ज्ञानमेव पूर्वापरीभूतं नार्थ इत्याशङ्कायामाह। ६ प्रत्ययो ज्ञानम्। ७ भाट्टः। ८ जैनः। ९ यदेव मया यजनादावुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम्। १० ततो नाभेदप्रतीतिः। ११ भाट्टः।

---

(1) धर्मिरूपस्य। (2) स्मरणप्रत्यक्ष। (3) पूर्वापरप्रत्ययहेतू। (4) पूर्वापरभूतधर्मयोः। इति दि।

द्भेदा[1]भेदप्रतीतिरिति चेत् [1]सिद्ध तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्[2] । [3]न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्[2] सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ क्रियाविरोधाच्च । तदनित्यं सामान्यं [4]विशेषादेशाच्छब्दवत् । तत एवानेकं तद्वत् ।

[करोति क्रिया एकास्तीति भाट्टो वदति तस्य परिहार]

[5]करोतीति [6]स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवदिति चेन्न सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्या[7]सिद्धत्वात् । प्रतिकरोत्यर्थ व्यक्ति करोतीति=प्रत्ययस्य[8] विशेषात्[9] प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत् । तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय[11]

जैन— यदि ऐसा कहो तो उस प्रत्यभिज्ञान को कथंचित्— अनित्यत्व सिद्ध ही हो गया । क्योंकि वह अनित्य रूप अपने धर्म से अभिन्न है । और अनित्य से अभिन्न होकर नित्य ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है अनित्य के स्वरूप के समान । क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है ।

इसलिए वह सामान्य अनित्य है क्योंकि उसमें विशेषादेश—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का कथन होता है शब्द के समान । और उसी प्रकार से शब्द के समान वह सामान्य अनेक भी है ।

[करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार]

भाट्ट— करोति इस प्रकार से स्वप्रत्यय-अपने ज्ञान से समान होने से करोति सामान्य एक है जैसे 'सत्' इस अपने ज्ञान सामान्य से सत्ता सामान्य एक है ।

जैन—नहीं । सर्वथा स्वप्रत्यय से समानता असिद्ध है अर्थात् पर्यायार्थिक नय से भेद का कथन भी देखा जाता है । करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति को— प्रतिकरोति अर्थव्यक्ति कहते हैं अर्थात् करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति करता है । इस प्रकार से ज्ञान विशेष होने से (घटकरण पट करणादि ज्ञान) भेद हैं जैसे सत् सत् इस प्रकार से व्यक्ति— व्यक्ति के प्रति सत् ज्ञान में भेद देखा जाता है ।

भाट्ट—उन व्यक्ति को विषय करने वाला तो विशेष ज्ञान है ।

जैन—ऐसा कहो तो यदि वे घटपटादि रूप व्यक्तियाँ—भिन्न २ वस्तुएं करोति सामान्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादित की गई हैं तब तो आप मीमांसक यौगमत में प्रवेश कर जावेंगे । यदि आप कहो कि वे व्यक्तियाँ करोति सामान्य से कथंचित् अभिन्न हैं तब तो सामान्य विशेष ज्ञान को विषय करता है यह

१ जैन । २ अव्यतिरेक अभेद । ३ सर्वथा नैकान्तिकत्वे सत्याह जैन । ४ पर्यायार्थिकनयाद्भेदकथनात् । ५ घट करोति पटं करोतीत्यादौ । ६ हेतो । ७ पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात् ८ करोत्यर्थस्य व्यक्तिं प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थ व्यक्ति । ९ घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य । १ भेदात् । ११ घटकरणं पटकरणमिति ।

(1) भेदाद्भेद प्रतीति' इति पा । (2) स्वस्वरूपवत् । (3) अभेदात् ।

इति जैनैरहि[1] तां व्यक्तय[2] [3]सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य । [4]अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा[5] सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेष प्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्य कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेष स्वात्मवत । ततोऽनेकमेव[6] करोतिसामान्य सत्तासामान्यवत ।

[करोति क्रियानशेति मन्यमाने दोषानाह]

नाप्यनश[7] कथञ्चित्साशत्वप्रतीते साशेभ्यो [8]विशेषेभ्योनर्था तरभूतस्य[9] साशत्वोपपत्ते स्तत्स्वात्मवत ।

[तत्सामान्य सवगतमिति मन्यमाने दोषानाहुराचार्या]

[11]तथा न सवगत तत्सामा य यक्तयन्तरालेनुपलभ्यमानत्वात । [12]तत्रानभि यक्तत्वात्तस्या

बात सिद्ध हो गई ।

क्योकि विशेष ज्ञान के विषय भूत विशेषो से कथचित् अभिन्न सामान्य ही विशेषज्ञान का विषय हो सकता है जसे कि विशेष का स्वरूप कथचित अभि न होने से विशेषज्ञान का विषय है। इसलिए करोति सामा य अनेक ही है सत्ता सामान्य के समान । अर्थात् जितने विशेष हैं उतने ही सामा य है न कि एकसामान्य ।

[करोति सामान्य निरश है ऐसा भाटट का कहना है उसका जनाचाय परिहार करते हैं]

वह करोति सामा य अनश भी नही है क्योकि कथचित अशसहित ही प्रतीति मे आ रहा है। अशसहित—अवयवसहित घट पटादि विशेषभेद लक्षणो से अभिन्न सामान्य अशसहित देखा जाता है जसे कि उसका स्वरूप ।

[वह सामान्य सवगत है ऐसा कहने पर जनाचाय दूषण दिखलाते हैं]

उसी प्रकार से वह सामा य—सर्वगत भी नही है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अतरालो मे उपलब्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—यह भाट्ट करोति क्रिया सामा य को महासत्ता रूप मानता है और कहता है कि यह करोतिक्रिया नित्य है एक है निरश है और सर्वव्यापी है इन चारो विशेषणो का जनाचार्य ने क्रम क्रम से निराकरण किया है। पहले भाट्ट ने करोतिक्रिया को नित्य सिद्ध करने के लिए प्रत्यभिज्ञान होता है ऐसा हेतु दिया है। उस पर जनाचाय ने कहा कि यह प्रत्यभिज्ञायमान हेतु कथचित् नित्य को सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नही। क्योकि तदेवेद ' यह वही है इस प्रकार पूर्व के स्मरण और वर्तमान

---

१ जैन । २ घटपटादिरूपा । ३ करोतिसामान्यात । ४ भाट्ट । ५ सामान्यात् । ६ यावन्तो विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थ । ७ करोतिसामान्यम् । ८ सावयवेभ्यो घटपटादिभ्य । ९ भेदलक्षणेभ्य । १ सामान्यस्य । ११ जैन । १२ भाट्ट ।

नुपलम्भ इति चेत्तत[1] एव व्यक्तिस्वात्मनोपि[2] तत्रानुपलम्भोस्तु। तस्य तत्र सदभावावेद कप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत सामा यस्यापि [1]विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपल म्भोस्तु व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सदभावावेदकप्रमाणाभावात प्रत्यक्षतस्तथा[3]ननुभवात खरविषा

के प्रत्यक्ष इन दोनो के जोड रूप मे यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है जसे—जिस करोति क्रिया सामान्य के अथ को मने यजन आदि क्रिया मे पूव मे दखा था वही इस समय पचन आदि क्रिया मे करोति अथ पाया जा रहा है। यह प्रत्यभिज्ञान कथचित नित्यानित्य वस्तु मे ही होता है क्योकि सवथा नित्य मे कम से या यगपद अर्थ क्रिया का ही अभाव है। पुन भाट्ट कहता है कि करोति इस प्रकार का ज्ञान सभी जगह समान है अत यह करोति क्रिया सामा य एक है जसे—सत अपने सत रूप सामान्य ज्ञान से सत्ता सामान्य एक ही है।इस पर जनाचाय कहते है कि हमारे यहाँ सत् सामा य भी व्यक्ति व्यक्ति के प्रति अनन्त भेद रूप है।

जैन सिद्धात मे सत्ता को अनन्त पर्यायात्मक माना है। उसी प्रकार से करोति क्रिया भी व्यक्ति व्यक्ति के प्रति भेद रूप है जैस—याग करोति पाकं करोति गमन करोति। इन सभी करोति क्रियाओ मे भिन्न भिन्न पुरुष की अपेक्षा से भेद स्पष्ट है जो यज्ञ करता है वह पकाता नही है और वह गमन नही कर रहा है इन तीनो क्रियाओ को करने वाले तीन व्यक्ति पथक पृथक दखे जाते हैं। अत करोति सामान्य अनेक रूप ही है। उसी प्रकार से वह करोति सामान्य अश रहित भी नही है क्योकि घट पटादि अवएव सहित पदार्थों मे वह करोति सामा य पाया जाता है तथव करोति सामा य सवगत भी नहीं है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अतरालो मे दिखता ही नही है। इस प्रकार से जनाचाय ने करोति सामान्य को अनित्य अनेक अश सहित और असवगत सिद्ध कर दिया है।

भाट्ट—उस अतराल मे वह करोति सामा य अभि यक्त नही है इसलिए उसकी अतराल मे उपलब्धि नहीं है।

जैन—उसी हेतु से व्यक्ति का स्वरूप भी वहा अतराल मे अनुपल ध हो जावे पुन व्यक्तियो को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है ? किन्तु आप तो ऐसा मानने को तयार नही हैं।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के सदभाव को अतराल मे सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है अत उसकी अंतराल मे अनुपलब्धि है।

जैन—यदि ऐसा मानो तो सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण न होने से उसका

---

१ जैन। २ ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्व समायातम्। न च तथा स्वीक्रियते। ३ व्यक्त्यन्तराले सत्त्वरूपेण।

---

(1) सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य।

रासादिवत् । 'व्यक्त्यन्तरालेस्ति सामान्यं 'युगपदभिन्नदेश'स्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वं शादि" वदित्यनुमानात्तत्र तत्सदभावसिद्धिरिति 'चेन्न हेतो प्रतिवाद्यसिद्धत्वात् ' । न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु "वंशादिरिति प्रतीयते यतो युगपदभिन्नदेशस्वाधार' वृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य' सिध्यत् स्वाधारान्तरालेस्तित्वं साधयेत् प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । ' यथैव हि "काचिद्व्यक्ति रुपलभ्यमाना "व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा" विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणाम-दर्शनात्किञ्चित्केन"चित्समानमवसीयते" इति निर्बाधमेव तेनायं समानः सोनेन समान इति

भी अंतराल मे असत्त्व होने से ही अनुपलब्धि होवे क्या बाधा है ? क्योकि व्यक्ति के अंतराल मे उस सामान्य के भी सदभाव का आवेदक कोई प्रमाण नही है । प्रत्यक्ष से व्यक्ति के अंतराल मे सत्त्वरूप का अनुभव नही आता है जसे कि खर विषाणादि का कही पर अनुभव नही आता है ।

भाट्ट— यक्ति विशेष के अंतराल मे भी सामान्य रहता है । क्योकि युगपत भिन्न दश और स्वाधार मे रहने मे एक रूप है बासादि के समान । इस अनुमान मे वहा उस सामान्य का सदभाव सिद्ध है ।

जैन— नही । आपका हेतु प्रतिवादी को असिद्ध है । क्योकि भिन्न भिन्न दश के विशेषो मे सामान्य एक है जसे स्थूणादि मे बासादि । ऐसा प्रतीति मे नही आता है कि जिससे युगपत भिन्न दश एव स्वाधार वृत्तित्व के होने पर उस सामान्य मे एकत्व हेतु सिद्ध होता हुआ अपने आधार के अंतराल मे अस्तित्व को सिद्ध कर सक । अर्थात नही कर सकता है । प्रतिव्यक्ति (विशेष विशेष के प्रति) सदृश परिणाम लक्षण सामान्य भिन्न भिन्न है जसे विसदश परिणाम लक्षण विशेष प्रत्येक भिन्न भिन्न वस्तु मे भिन्न भिन्न है ।

जिस प्रकार से कोई घट पटादि लक्षण विशेष उपलब्ध होता हुआ व्यक्त्यंतर मुकुटलक्षणादि विशेष से भिन्न होता हुआ विसदृश परिणाम के दखने से निश्चित होता है उसी प्रकार मे सदृश परिणाम के दखे जाने से कोई वस्तु किसी वस्तु क समान निश्चित की जाती है यह बात बाधा रहित सिद्ध हो है यह उसक समान है वह इसक समान है इस प्रकार से समान ज्ञान दखा जाता है ।

१ भाट्ट । २ सामान्य व्यक्त्यन्तरालेस्ति—एकत्वादित्येवास्तु इत्युक्ते देवदत्त न व्यभिचारस्तत्परिहाराय स्वाधारवृत्तित्वविशेषणम् । तथा प्येकविष्टरोपविष्टेन तेनव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम् । तथापि क्रमेणानेकासनासीनेन तेन व्यभिचार स्यात् । तत्परिहाराय युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन् । ३ भिन्नदशश्चासौ स्वाधारश्च । ४ स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः । ५ जन । ६ सामान्यस्यकत्वं नाङ्गीक्रियते जन । ७ प्रतीयते यथा । ८ हेतु । ९ सामान्यस्य । १ एतदेव भावयति । ११ घटपटादिलक्षणा । १२ मकुटादिलक्षणात । १३ भिन्ना । १४ वस्तु । १५ निश्चीयते ।

(१) तथापि क्रमक्रमत्वेन वृत्तिमता देवदत्तेन व्यभिचारस्ततो युगपदिति विशेषणं ।

समानप्रत्ययात् । [1]ननु पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्त[2]रस्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति ? तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्तवापि विशिष्टप्रतीति[3] कस्मान्न भवति ? वैसादृश्यस्य[4] भावात् । [5]परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्तत एव [6]तत्र समानप्रत्ययोपि[7] मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति परापेक्षामन्तरेण [3]क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् [8]द्वित्वा द्विप्रत्ययद्दूयवरत्वादिप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्म परापेक्ष परानपेक्षश्च [9]वर्णादिवत स्थौल्यादिवच्च । [1]ननु च [11]सादृश्ये सामान्ये स एवाय गौरिति प्रत्यय कथ शवल[12] दृष्ट्वा धवल पश्यतो घटेतेति [13]चेदेकत्वोपचारादिति ब्रूम[14] ।

भाट्ट—पूर्व मे जिसने भिन्न भिन्न विशेष का अनुभव नही किया है उस पुरुष को एक विशेष के देखने के समान प्रत्यय क्यो नही होगा ? क्योकि वहाँ पर सदश परिणाम दखा जाता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो आपको भी एक विशेष क दखने मे विशेष प्रतीति क्यो नहीं होती है ? क्योंकि भिन्न प्रतीति रूप विशेष मे वैसादृश्य परिणाम भी दखे जाते है ।

भाट्ट—वह भिन्न प्रतीति पर की अपेक्षा रखती है ।

जैन—उसी प्रकार से वहा एक विशेष क दखने मे समान ज्ञान भी मत होवे । अर्थात यह उसक समान हैं एव वह इसके समान है इसमे भी तो पर की अपेक्षा है और वह परापेक्ष नही है ऐसा तो आप कह नहीं सकते । पर की अपेक्षा क बिना कही पर किसी काल मे भी वह सामान्य हो नही सकेगा जसे—द्वित्वादि ज्ञान अथवा दूरत्वादि ज्ञान पर की अपेक्षा के बिना हो नही सकते है । अर्थात् द्वित्वादि ज्ञान एकत्वादि से निष्ठ हैं अत पर की अपेक्षा के बिना नही होते है एव दूरत्व आदि ज्ञान भी निकट की अपेक्षा के बिना नही होते है ।

वस्तु का धम दो प्रकार का है पर की अपेक्षा रखने वाला और पर की अपेक्षा नही रखने वाला । जैसे वर्णादि-श्वेत पीतादि पर की अपेक्षा नही रखते हैं एव स्थलता सूक्ष्मतादि एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं ।

भाट्ट—सादृश्य सामान्य मे यह वही गौ है इस प्रकार का ज्ञान होता है वह ज्ञान शबल चितकबरी गाय को दख कर श्वेत गाय को दखते हुए मनुष्य को यह वही गौ है ऐसा ज्ञान कसे होगा ?

१ भाट्ट । २ पुस । ३ एकव्यक्तिदशने । ४ विशिष्टप्रतीतौ विशष । ५ भाट्ट । ६ एकव्यक्तिदशने । ७ अनेन देवदत्त न समानोय जिनदत्तो जिनदत्त न समानो दवदत्तो चेत्यत्रापि परापेक्षत्व यत । ८ द्वित्वादिप्रत्यय एकत्वा दिनिष्टा परापेक्षा विना नोपपद्यन्ते । ९ श्वेतपीतादिवत् । १ भाट्ट । ११ सास्नादिमत्त्वे गोत्वे । १२ शबलं गां दृष्ट्वा धवल गां पश्यत पुस स एवाय गौरिति प्रत्यय कथ घटते ? १३ शबलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात । १४ जैना ।

(1) व्यक्तौ ।

[एकत्वं द्विधा मुख्यमुपचरितं चेति विभज्य स्पष्टीकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्या]

द्विविध ह्येकत्व मुख्यमुपचरित चेति । मुख्यमात्मादिद्रव्ये[1] । सादृश्ये तूपचरितमिति । मुख्ये [1]तु तत्र्केकत्वे [2]तेन [3]समानोयमिति प्रत्यय कथमुपपद्य त[3] ? [4]तयोरेक[5]सामान्ययोगादिति [6]चेन्न—[4]सामान्यवन्तावेताविति प्रत्ययप्रसङ्गात्[4] । अभेदोपचारे[7] तु सामान्यतद्वतो [8]सामान्यमिति [6]प्रत्यय स्यात । न तेन समानोयमिति । यष्टिसहचरित पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात् । [9]मृन्मये गवि सत्यगवयसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावा दगोत्वजातिप्रसङ्ग इति [10]चेन्न [11]सत्यगवयव्यवहारहेतो[7] सादृश्यस्य [12]तत्राभावात् तदभावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात । [13]भावगवादिभि[8] स्थापनागवादे[14] सादृश्यमात्र तु

जैन—इसमे भी एकत्व का उपचार होने से यह वही है ऐसा ज्ञान हो जाता है अर्थात् सबल के सदश धवल गाय है इस प्रकार से एकत्व का उपचार हो जाता है। एकत्व के दो भेद हैं—मुख्य और उपचरित ।

आत्मा आदि द्रव्यो मे तो मुख्य एकत्व होता है जैसे कि जो आत्मा नरक पर्याय मे था यह वही आत्मा मनुष्य पर्याय मे दिख रहा है। जो आत्मा बचपन मे था वही इस जवानी और बुढापे मे है इत्यादि मे मुख्य एकत्व ज्ञान है। और सादश्य वस्तु मे उपचरित एकत्व होता है जैसे कि काटने के बाद पुन उत्पन्न हुये नख और केश। किन्तु वहाँ मुख्य गोत्व लक्षण एकत्व मे उस गौ के समान यह गौ है ऐसा ज्ञान कसे हो सकेगा ?

भाट्ट—उस श्वेत और चितकबरे मे गोत्व लक्षण एक सामान्य का योग होने से वहाँ वसा ज्ञान होता है।

जैन—ऐसा नही कहना। अन्यथा ये दोनो सामान्यवान हैं ऐसा ज्ञान हो जावेगा। पुन यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नही हो सकेगा और अभेदोपचार के स्वीकार करने पर तो सामान्य और सामान्य वान मे यह सामान्य है ऐसा ज्ञान हो जावेगा। किन्तु यह उसके समान—सदृश है ऐसा नही हो सकेगा। जसे यष्टि से सहचरित पुरुष को यष्टि कह देते है क्योकि वहाँ यष्टि और पुरुष मे अभेद का उपचार किया गया है। किंतु यह पुरुष यष्टि के समान है ऐसा ज्ञान तो नही होता है।

१ मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यथ । तत्र—शवलधवलयो । २ गवा । ३ पर (शवलधवलयो) । ४ एक गोत्वमित्यथ । ५ जन आह । ६ न तु तेन समानोयमिति प्रत्यय स्यात् । ७ (जैन आह) अङ्गीक्रियमाणे । ८ न यष्ट्या समान पुरुष इति प्रत्ययो भवति । ९ पर । १ जन । ११ चतन्यदोहनादे । १२ मृन्मये । १३ भाव सत्य । १४ साकारे वा निराकारे काष्ठादौ सन्निवेशनम् । सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥

(1) यो नारकपर्याय स एवाय मनुष्यपर्याय आत्मा । (2) यद्युपचरित न भवेत् । (3) स एवाय प्रत्ययो घटात् यत । (4) यथा द्वौ पुरुषौ एकराज्ययोगादेकराज्यवंतौ । (5) शवलधवलयो । (6) स प्रत्यय इति पा । (7) सत्यगोव्यवहारहेतो इति वा क्वचित् पाठ । (8) तत्कालपर्यायाक्रांतं वस्तु भावोऽभिधीयते । सह ।

भावादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्व[2]निबन्धनमनुरुध्यते[3] एव सत्त्वादिसादृश्यवत् ।

भाट्ट—वास्तविक गवय के सदृश मिट्टी की गाय मे गोत्व सादृश्य-सामान्य मौजद है वहाँ भी गोत्व जाति का प्रसग आ जावेगा ।

जैन—ऐसा नही कहना । क्योकि वास्तविक गवय व्यवहार का हेतु सादृश्य सामान्य वहा—मिट्टी की गाय मे नही है यदि वह वहाँ है तो उसे सत्य मानना पडगा । स्थापना रूप गो आदि मे भाव—वास्त विक गो आदि के द्वारा जो सादृश्य मात्र सामा य है वह लागूल पू छ ककुद विषाणादि रूप गवादि मात्र से व्यवहार का कारण है इसलिए उसमे एक जातित्व कारण जनियो ने माना ही है जसे सत्त्वादि सामान्य ।

भावाथ—भाट्ट करोति सामान्य को सवगत मानता है कि तु आचाय उसकी मा यता का निरा करण करते हुए कहते हैं कि जो विशेष—व्यक्ति रूप सख्यातो क्रियाय है जसे—भु क्ते भनक्ति गच्छति यजते पचति आदि । खाता है भोगता है जाता है यज्ञ करता है पकाता है इत्यादि क्रियाओ मे करोति सामान्य व्याप्त है । आप भाट्ट की मा यता के अनुसार करता है यह करोतिसामा य तो नित्य है और यज्ञ करता है इत्यादि विशेष क्रियाय अनित्य है जब अनित्य क्रियाय नष्ट होती है या उत्पन्न होती है तब यह करता है यह सामा य उनके साथ विनष्ट या उत्पन्न होता है या नही ? एव ग छति पचति आदि क्रियाओ के अतराल मे भी करोतिसामा य दिखता नही है जसे कि आप उसे सवगत मानकर अतराल मे भी उसका अस्तित्व मान रहे है । इस पर भाट्ट ने कहा कि वह अ तराला मे अप्रगट है । तब जैनाचाय ने कहा कि वसे ही भिन्न भिन्न क्रियाओ का भी अतरालो मे अप्रगट रूप से अस्तित्व मानकर उन विशेषो को भी सवगत मान लो क्या बाधा है? तब भाट्ट ने कहा कि विशेषो को सवगत मानकर उ हे अतरालो मे सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है । इस पर जनाचार्यों ने पूछा कि करोतिसामा य को अतरालों मे सिद्ध करने वाला प्रमाण भी कहाँ है ? इस प्रश्न पर तुर त ही उस भाट्ट ने अनुमान प्रमाण को उपस्थित कर दिया । यह करोति सामा य गमन करता है भोजन करता है यज्ञ करता है इत्यादि विशेषो मे भी व्याप्त है और इनके अतरालो मे भी व्याप्त है क्योकि एक साथ यह करोति सामा य भिन्न भिन्न देश मे और अपने आधार मे करता है इस प्रकार से एक रूप ही है जसे कि स्थूण आदि में बाँसादि । इस अनुमान से करोतिसामान्य सवत्र व्याप्त है । इस पर जनाचाय बोले कि आपका हेतु हम जैनों को असिद्ध है । क्योंकि भिन्न भिन्न क्रियाओ के प्रति होता हुआ सदश परिणाम रूप सामा य पृथक-पृथक है जसे कि विसदृश परिणाम लक्षण विशेष सभी के भिन्न भिन्न ही हैं । देखिये ! जसे यजते क्रिया से भिन्न गच्छति क्रिया का विशेष है वसे ही दोनो क्रियाओ का करोति सामान्य यद्यपि

१ लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण । २ तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम् । तस्य निबन्धनम् । ३ (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्य यथास्ति ।

ततो न मीमांसकाभ्युप 'गतस्वभाव करोतिसामान्यमुपपद्यते 'यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिक तु व्यापाररूपभावनाख्या प्रतिपद्यमान वाक्येन' विषयीक्रियेत[1] । प्रतिनियतक्रियागतस्य' नु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे[2] यज्यादिसामा यस्य' कथ 'तद्विनिवार्येत येन 'तदपि वाक्यार्थो न स्यात् । तदेव भावना वाक्याथसम्प्रदायो न श्र यान बाधकसद्भावान्नि[3]योगादि वाक्याथसम्प्रदायवत् ।

सदृश परिणाम वाला है फिर भी भिन्न भिन्न ही है। इस पर भाट्ट ने कहा कि विसदश परिणाम तो पर की अपेक्षा रखता है किन्तु सदश परिणाम रूप सामान्य पर की अपेक्षा नही रखता है। आचाय कहते हैं कि सदृश परिणाम भी पर की अपेक्षा के बिना असम्भव है। सदश श द के कहते ही यह इसके सदृश हैं इस प्रकार से बिना अपेक्षा के सदश परिणाम भी कहाँ रहा ?

आगे चलकर जनाचाय ने एकत्व के दो भेद कर दिये हैं एक मुख्य दूसरा उपचरित। यह वही आत्मा है जो नरक पर्याय देव पर्याय आदि मे था यह एकत्व मुख्य है। एव जसे चितकबरी गाय मे गोत्व सामा य है वसे ही श्वेत गाय मे भी है यह उपचरित एकत्व है। इस प्रकार से करोति सामा य को सवगत मानने मे अनेक दोष आ जाते हैं।

इसलिए मीमासक के द्वारा स्वीकृत यह करोति सामा य नित्य निरश एक और सवगत स्वभाव रूप हो नही सकता है जो कि सपूर्ण यज्यादि क्रिया विशेषो मे व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप भावना इस नाम को प्राप्त करते हुए वेद वाक्य के द्वारा विषय किया जा सके। अर्थात ऐसी भावना वेदवाक्य का विषय नही हो सकता प्रतिनियत क्रिया मे रहने वाले करोतिसामा य को श द का विषय मानन पर तो यज्यादि सामा य को भी आप श द का विषय क्यो नही मानते है– उसका निवारण क्यो करते हैं जिससे कि वह यजन सामा य भी वेदवाक्य का अथ न हो सके। अर्थात है ही है। इसलिए भावना वेदवाक्य का अथ है ऐसा भावनावादी भाट्ट का सप्रदाय श्रयस्कर नही है। क्योकि नियोग विधि आदि रूप से वेदवाक्य का अथ करने पर जसे बाधाय आती है वसे ही इस भावनावाद मे भी अनेक बाधाय आ जाती हैं।

विशषाथ– जगत के सपूण पदाथ सामान्य विशेषात्मक हाते है। और ऐसे ही पदार्थों को प्रमाण जानता है। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है इस बात को सिद्ध करने क लिए समथ हेतु उपस्थित है।

अनुवत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तश्च ॥२॥

यह वही है ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं यह वह नही है ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु अनुवृत्त ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान के विषयभूत है। एव पदाथ के पूव आकार का विनाश

---

१ नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम्। २ अपितु काकु। ३ वेदवाक्येन। ४ करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसवगतस्येत्यथ। ५ देवयजनगुह्यजनादियजनसामान्यस्य। ६ शब्दविषयत्वम् (वाक्यार्थत्वमित्यथ)। ७ यजनसामान्यम्।

---

(1) वाक्यार्थं कथ स्याद्। (2) वाक्यार्थत्वे। (3) विधि।

उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्य रूप से स्थिति का रहना इन तीनों सहित अवस्था विशेष को परिणाम कहते हैं। इस परिणमन स्वभाव से ही वस्तु मे अर्थ क्रिया होती है अतः प्रत्येक वस्तु में सत् आदि रूप से समानता के होने से अनुवृत्त ज्ञान एवं विसदृशता के होने से व्यावृत्त ज्ञान पाया जाता है। अनुवृत्तज्ञान को सामान्य एवं व्यावृत्त ज्ञान को विशेष कहते हैं। उस सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक सामान्य ऊर्ध्वता सामान्य। सदृश परिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। समान परिणाम को तिर्यक सामान्य कहते है जैसे काली चितकबरी खांडी मुण्डी आदि सभी गायो मे गोत्व सामान्य विद्यमान है। परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु। पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे—स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायो मे मिट्टी व्याप्त रहती है यहाँ मिट्टी रूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा महा सत्ता और अवातर सत्ता के भेद से भी सत् सामान्य के २ भेद हैं।

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया।
भगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।। पचास्तिकाय गाथा ८ ।।

अर्थ—सत्ता एक है वह सब पदार्थों मे वर्तमान है विश्व रूप है अनन्त पर्याय वाली है उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है और अपने प्रतिपक्षी से सहित है।

इस प्रकार से समस्त पदार्थों मे रहने वाली सत्ता को महासत्ता कहते है और प्रत्येक वस्तु की पृथक्-पृथक सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है। मतलब यह है कि जब हम सत्सामान्य को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत रूप ही प्रतीत होते हैं यही महासत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते हैं तब यह सत्ता अवातर सत्ता कहलाती है

विशेष के भी दो भेद हैं— पर्यायव्यतिरेकभेदात ।।

पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का लक्षण—

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परिणामा पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।।८।।

अर्थ—एक ही द्रव्य मे क्रम से होने से परिणामो को पर्याय कहते हैं। जैसे कि आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम। व्यतिरेक का लक्षण—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।। ९ ।।

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ मे रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे कि गो से महिष मे एक विलक्षण —भिन्न ही परिणमन देखा जाता है।

यहाँ तक जैनों की मान्यता रखी गयी है अब इन सामान्य और विशेष में जो अन्य मतावलम्बी बौद्ध, नैयायिक और मीमांसक (भाट्ट) विसंवाद करते हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

बौद्ध वस्तु में सामान्य धर्म को नहीं मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य और विशेष दोनों एक

ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं अत इनमे अभेद है। सामान्य काल्पनिक—संवृति सत्य है अनुमानका विषय है, आरोपित धर्म मात्र है और विशेष वास्तविक है निर्विकल्प बुद्धि में झलकता है वह क्षणवर्ती पर्यायमात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि एक इन्द्रिय से गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानोगे तब तो वायु और आतप भी एक स्पर्शन इन्द्रिय से गम्य हैं इन्हे भी एक ही मानो। देखो ! दूर से वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है। किसी पुरुष या स्थाणु विशेष को दूर से देखने पर उसकी ऊंचाई मात्र से सामान्य ही झलकता है। विशेष रूप वक्र कोटर आदि या शिर हाथ पैर आदि नही झलकते हैं। वैसे ही निकट मे भी यह भी गो है यह भी गो है । इस प्रकार से ५ गायो मे भी एक गोत्व सामान्य दिख रहा है। सभी गायो मे या सभी पुस्तकों मे गोत्व या पुस्तकत्व सामान्य रूप से जो अन्वय ज्ञान है वह सामान्य के बिना नही हो सकता है। उसी प्रकार से यह राजवार्तिक है श्लोकवार्तिक या अष्टसहस्री नही है यह व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष धर्म को माने बिना असभव है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विशेष मात्र झलकता है यह बात प्रतीति विरुद्ध है। क्योकि न निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध है और न एक क्षणवर्ती पर्याय रूप आप बौद्धो का माना हुआ विशेष ही सिद्ध है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

नैयायिको के द्वारा मान्य सामान्य नित्य एव सवगत है तथा निरश है। इस पर जनाचाय कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि सवथा नित्य सामान्य मे अर्थक्रिया असभव है। दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य सवगत है तो व्यक्ति-व्यक्ति—विशेष विशेष मे पृथक पृथक कसे रहेगा ? वह सामान्य तो उन अतरालो मे भी दीखना चाहिए। तथा यदि वह सामान्य एक है तो एक गो के मर जाने पर उसका गोत्व सामान्य कहां जावेगा क्या नष्ट हो जावेगा ? अनेक आपत्तियाँ आ जावगी। यदि सामान्य सवगत है तो अकेला ही सवत्र अन्वय रूप अपना ज्ञान करायेगा अथवा व्यक्ति कर सहित होकर करावेगा ? यदि अकेला ही करायेगा तो व्यक्तियो के अतराल मे भी गो है गो है ऐसा अनुगत ज्ञान होना चाहिए। यदि व्यक्ति सहित सामान्य अन्वय ज्ञान करायेगा तब तो सभी व्यक्तियो को जान लेने पर उनका ज्ञान करायेगा या बिना जाने ही ? यदि जान कर कहो तो असभव है क्योकि असवज्ञ जनो को सपूण अनत विशेषो का ज्ञान होना शक्य ही नही है। यदि बिना जाने कहो तो एक व्यक्ति को जानते ही उसमे यह गाय-है, यह गाय है ऐसा अन्वय होना चाहिए किन्तु होता नही है। जब गोत्व एक है तब एक गाय मे तो हो और बीच मे न होकर दूर खडी हुई दूसरी गाय मे भी हो इस प्रकार अनेको गायो मे अतरालो को छोड़कर वह गोत्व सामान्य होवे फिर भी एक ही माना जावे यह बात असभव है। अत एक अकेला सामान्य सर्वगत है निष्क्रिय है। पुन एक को छोडकर जब दूसरे मे जाने लगेगा तो पहली गो सामान्य रहित हो जावेगी तथा वह सामान्य निष्क्रिय न होकर क्रियाशील हो जावेगा। इसलिए नैयायिक का सामान्य एक, सर्वगत, नित्य और निष्क्रिय रूप सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक भाट्ट सामान्य-विशेष में सर्वथा तादात्म्य मानते हैं किन्तु यह मान्यता भी असभव है यदि

दोनों का सर्वथा तादात्म्य होगा तब तो एक विशेष रूप व्यक्ति के नष्ट होने पर सामान्य भी नष्ट हो जावेगा पुनः वह सामान्य असाधारण नही रहेगा। आप भाट्ट भी नयायिक के समान ही सामान्य को एक निरश नित्य और सर्वगत स्वीकार करते हो तब तो सबसे बडी आपत्ति यह है कि आपका निरश सामान्य कहीं जा नहीं सकता। पहले के पकड हुए विशेष अश को छोडता नही कही से आता नही पहले से रहता नहीं, ऐसा विचित्र सामान्य क्या वस्तु है ? समझ मे नही आता है। यहाँ मध्य मे ही उद्योतकर नामक आचार्य कहते है कि गायो मे गोत्व ज्ञान गोपिडसे न होकर किसी भिन्न ही नित्य सवगत सामान्य से होता है। यह गोत्वादि सामा य गायो से भिन्न ही है। इस पर जनाचाय कहते है कि यह मान्यता बिल्कुल गलत है देखो ! अनेक गायो मे गोत्व सामा य ज्ञान सदश परिणाम निमित्तक ही है। वह गायो से भिन्न नही है क्योकि सामा य और विशेष दोनो ही धम वस्तु मे ही पाये जाते है। वक्षो मे वृक्षत्व सामा य है वह अनत वक्षो मे व्याप्त है एव आम नीम अशोक आदि विशेष धम है वे विशेष धम एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पृथक करा देते हैं अ यथा अशोक की छाल लेकर औषधि बनाने वाला यक्ति आम की छाल को ले आवेगा कि तु ऐसा है नही। अत सामा य विशेष एक तादात्म्य रूप भी नही हैं। इसका और विशेष स्पष्टीकरण प्रमेयकमल मातड से समझ लना चाहिए। निष्कष यह निकला कि भाट्टो के द्वारा मा य ‘करोतिसामान्य अनित्य अनेक असवगत और साश—अवयवा से सहित है। जसे कि यजन पचन आदि विशेष उसी भाट्ट के द्वारा मा य अनित्य अनेक असवगत अश सहित हैं उसी प्रकार से करोति सामान्य भी एक आदि रूप सिद्ध न होन से वदवाक्य का अथ नही है। जिसको आप भावनावाद क नाम से स्वीकार करते है वह आपका सिद्धात सिद्ध नही होता है।

भावनावाद के खण्डन का साराश

भावनावादी भाट्ट कहते है कि सवत्र भावना ही वदवाक्य का अथ प्रतीति मे आ रहा है भावना के २ भेद हैं–शब्द भावना और अथ भावना। श द क व्यापार को शब्द भावना कहते हैं अग्निष्टोमेन इत्यादि क द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष क व्यापार से धातु का अथ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात पुरुष क व्यापार मे श द का व्यापार है तथा धात्वथ मे पुरुष का व्यापार है वही भावना है धातु का शुद्ध अर्थ भावना नही है अन्यथा विधि ही अथ हो जावेगा।

क्योकि धात्वथ कवल शुद्धो भाव इत्यभिधीयते सत्ता को धातु अथ कहने पर वह सत्ता ही परब्रह्म स्वरूप है नियोगवादी ने इस विधिवाद का खण्डन कर ही दिया है अत वह स मात्र अर्थ प्रतीति में नहीं आता है। किन्तु सकल व्यापिनी करोति’ क्रिया लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओ मे सभव है वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है पचति पपाच पक्ष्यति इन क्रियाओ मे भी ‘पाक करोति’ इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है अत ‘करोति’ क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अथ ह। वह करोति’ क्रिया का अर्थ सामान्य

रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं यह सामान्य क्रिया कर्त्ता के व्यापार रूप है इसे ही अर्थ भावना कहते हैं शब्द का व्यापार भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अत वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है।

इस पर जनाचार्य कहते हैं कि—यदि शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है तो शब्द से उसका व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वाच्य कसे होगा ? एक अनश मे वाच्य वाचक भाव संभव नही हैं यदि कहो कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रेन्द्रिय से बता देता है जसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थ को बताता है तब तो रूपादि भी अपने विषय को बताने वाल होने से भावना बन जावेंगे।

यदि शब्द से उसका व्यापार भिन्न मानो तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध कसे होगा ? एव पुरुष व्यापार लक्षण अर्थ भावना भी मानना ठीक नही है अन्यथा नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन इस प्रकार से नियोग वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगा वह भी पुरुष के व्यापार रूप ह। यदि आप कहो सकल यज्यादि क्रिया विशेष मे व्यापी करोति सामान्य नित्य ह वही शब्द का अर्थ ह। क्योंकि नित्या शब्दार्थसम्बन्धा ऐसा वाक्य पाया जाता ह किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नही हैं क्योकि वे अनित्य हैं। यदि ऐसा कहो तब तो भवन क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्योकि वह तो करोति क्रिया म भी व्यापक ह वह महा क्रिया सामान्य ह क्योंकि पचति पाचको भवति इत्यादि से भवति क्रिया ही सर्वव्यापक है।

भाट्ट—निर्व्यापार निष्क्रिय वस्तु मे भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता ह इसलिए वह क्रिया स्वभाव नही ह अन्यथा निष्क्रिय गुणादिको मे सत्त्व का अभाव हो जावेगा।

जन—यह कथन ठीक नही ह क्योकि परिस्पन्दात्मक व्यापार से रहित मे भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान ह तिष्ठति स्थान करोति ऐसी प्रतीति आती ह अत करोति क्रिया सामान्य नित्य निरश एक और सर्वगत ह यह बात असभव ह आप कह कि करोतिसामान्य नित्य ह क्योकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान हेतु तो कथचित नित्य को ही सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नही एव वह करोति सामान्य एक न होकर अनेक है क्योकि वह करोति अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति व्याप्त होने से अनेक हैं। अनश भी नही है क्योकि अश सहित रूप प्रतीति है तथा सर्वगत भी नहीं है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अतरालो मे दिखता नहीं है। अत आप भाट्ट के द्वारा स्वीकृत नित्य निरश एक सर्वगत स्वभाव रूप करोति सामान्य हो नही सकता जो कि सम्पूर्ण यज्यादि क्रियाओ मे व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप भावना' इस नाम को प्राप्त कर सके और वेदवाक्य का अर्थ हो सके अर्थात् नही हो सकता है। अत भावनावादी की मान्यता भी श्रेयस्कर नही है।

❖

विशेष सूचना

पृष्ठ २१ से १६७ तक नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद
का विषय अतीव क्लिष्ट एव नीरस होते हुए भी
भावार्थ विशेषार्थ के द्वारा सरल बनाने का
पूर्ण प्रयत्न किया गया।

अब आगे पृष्ठ १६६ से अपौरुषेय वेद खंडन, चार्वाक मत
खंडन आदि का सरल एवं मधुर प्रकरण
प्रारम्भ हो रहा है।

[अधुनैव जैनाचार्यैर्मीमांसकवादो निराकृतोऽधुना वेदस्यापौरुषेयत्वं निराक्रियते]

इति [1]श्रुति[1]सम्प्रदायावलम्बिनां मतेऽत एव[2] न कश्चित्सर्वज्ञ [2]इत्ययुक्तं, श्रुतेरविशेषादप्रमा[1]णतापत्ते । इति सूक्तं [1] [4]यथैव हि सुगतादय परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिन सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि [3]परस्परविरुद्धकार्यार्थ[4]स्वरूपा अर्थाभिधायिन्य सर्वा न प्रमाणभूता । इति न काचिदपि श्रुति प्रमाण स्यात । न हि कार्येर्थे श्रुतिरपौरुषेयी न पुन [1]स्वरूपे येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतर[4]श्रुतिजनितमेव ज्ञान प्रमाण दोषवर्जित [5]कारणजनितत्वादुपपद्य त । [6]बाध[1] वर्जितत्व[11] तु [12]नैकस्याप्यस्ति हिसाद्यभिधायिन श्वेतमजमालभेत[7] भूतिकाम[8] [13]इत्यादे[9] [1]समर्थ

[जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एव प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं]

मीमांसक—इस प्रकार से श्रुति—वेद सप्रदाय का अवलबन लेने वालो के मत–सिद्धांतों में इसीलिए सवज्ञ नहीं ह अर्थात् तीथकरत्व लक्षण हेतु सुगत आदिकों मे चला जाने से अनकांतिक है इस कारण ही कोई सवज्ञ नहीं है।

जन—यह आप मीमांसक का कथन सवथा ही अयुक्त है क्योंकि वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाल होने से अप्रमाण ही हैं।* इसलिए बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

जिस प्रकार से सुगत आदि परस्पर विरुद्ध क्षणिक नित्यादि एकात समय—मत को कहने वाले है अत वे सभी सवर्शी—सवज्ञ नही है इसलिए कोई सवज्ञ नही है। उसी प्रकार से वेद भी परस्पर विरुद्ध काय स्वरूप– नियोग विधि आदि अथ को कहने वाले होने से वे भी सभी प्रमाणभूत नही है।

इसलिए कोई भी वेद प्रमाणीक नही हैं। उसी का और भी स्पष्टीकरण करते हैं।

कार्य अथ म श्रुति अपौरुषय है किन्तु ब्रह्म स्वरूप मे नही है ऐसा भी आप नही कह सकते कि जिससे अपौरुषय हाने से इस हेतु से किसी एक वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दोषो से रहित कारणो से अपौरषय वेदवाक्यो से उत्पन्न होने मे प्रमाण हो सके अथात नही हो सकता है। हिंसादि का कथन करने वाल वेदवाक्यो मे से किसी एक वेद वाक्य मे भी बाधा से रहितपना रूप हेतु नही है। श्वेत मजमालभेत भूतिकाम विभूति की इच्छा करता हुआ मनुष्य श्वेत बकरे को मारे इत्यादि वेदवाक्य

१ इत कारिकार्थमाहुराचार्या । २ मीमासकेनोक्तम् । ३ परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन । ४ सूक्त भावयति । ५ स्वरूपे नियोग । ६ आदिना विध्यादिग्रह । ७ हेतो । ८ अपौरुषेयवाक्य ६ ब्रह्मस्वरूपे । १ तदेव दर्शयति । ११ श्रुते । १२ वचसि (कार्येर्थेस्वरूपे वा)। १३ वाक्यस्य।

(1) वेद । (2) तीर्थंकरत्वलक्षणस्य साधनस्य सुगतादिभिरनैकांतिकत्व मत । (3) परस्परविरुद्धकार्यस्वरूपार्था इति वा । (4) प्रतिपादक । (5) अपौरुषेयवाक्यैः । (6) तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जित । अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मत । (7) हन्यात् । (8) ऐश्वर्ये । (9) अपौरुषेयवाक्यस्य ।

हन्यात्[1] "इत्यादेरिव[2] धर्मे[3]प्रमाणत्वानुपपत्तेः 'पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

"सधनं हन्यात्" धन सहित को मारे। इत्यादि वचन के समान ही होने से धर्म मे प्रमाण नहीं है। अर्थात् "सधनं हन्यात्" यह खारपटिक जनो का सिद्धात है वह प्रमाण नही है इसका विशेष विवरण श्लोक वार्तिकालंकार मे है।

विशेषार्थ—अन्य लोगो के प्रमाण का लक्षण है कि— तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्ध प्रमाणं लोकसमतं ॥

इस प्रमाण के लक्षण मे बाधा से रहित होना अदुष्टकारणो से उत्पन्न होना आदि जो हेतु दिये गये हैं वे घटित नही होते है। ऐसा श्लोक वार्तिक ग्रथ प्रथम खण्ड पेज ११४ मे कहा है। यथा "खरपट मत के शास्त्रो मे लिखा है कि स्वग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान को मार डालना चाहिए। एतदथ काशीकरवत गगा प्रवाह सतीदाह आदि कुत्सित क्रियाय उनके मत मे प्रकृष्ट मानी गई हैं। किन्तु हम और आप मीमासक लोग उक्त खरपट के शास्त्रो को रागी द्वेषी अज्ञानी वक्ता रूप दुष्टकारणो से जन्य मानते है अत वे अप्रमाण है। नाग्निहोत्र स्वग साधन हिसा हेतुत्वात् सधनवधवत। सधनवधो वा न स्वगसाधनस्तत एव अग्निहोत्रवत। आप मीमासक के यहाँ अग्नि होत्र-यज्ञ स्वग का साधन नहीं है क्योंकि हिसा का हेतु है जसे कि खारपटिक मत मे धनवान का वध कर देना स्वर्ग का हेतु माना गया है। अथवा धनसहित का वध स्वग को देने वाला नही है क्योकि वह हिसा का हेतु है जैसे कि अग्नि होत्र यज्ञ। जैनाचाय के इस कथन पर मीमासक कहता है कि विधिपूवकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत तर्हि विधिपूवकस्य सधनवधस्य खार पटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिसाहेतुत्व मा भूदिति सधनवधात स्वर्गो भवतीति वचन प्रमाणमस्तु'। अर्थात् क्रियाकाण्ड विधान करने वाले शास्त्रो मे लिखी गई वदिक विधि के अनुसार किया गया पशुओ का वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओ का ही अनुष्ठान है वह लौकिक हिसा का कारण होकर पाप को पदा करने वाला नही है अत आप जनो का हिंसाहेतुत्वात हेतु असिद्ध है हमारे अग्निहोत्र रूप पक्ष मे नही जाता है। यदि मीमांसक का ऐसा कहना है तो इस पर पुन जन कहते है कि खरपट मतानुसायायियो ने धनवान को विधिवत मार डालने का विधान भी शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान माना है अत विधिवत धनी का मार डालना भी हिंसा का हेतु न होवे और पुन सधनवध के प्रतिपादक शास्त्र भी आप मीमांसको को प्रमाणीक मानना चाहिए।

अनेक पुरुषो का ऐसा भी कहना है कि ससार मे प्राय धनवान पुरुष ही अधिक अनर्थ करते हैं हिसा झूठ आदि पाप जुआ मास आदि दु'यसन करते हैं विधवा अनाथ दीन गरीब आदि को दुःखी

---

१ [जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदशयितु हेत्वन्तरमाह] ।

---

(1) लौकिकवाक्यस्य। (2) खारपटिकमित्यस्याय प्रसंग श्लोकवार्तिकालकारे दृष्टव्य। (3) कार्येण दूषण।

इत्यादेः[1] 'सर्वं 'प्रधानमेव' इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात् । 'अपूर्वार्थत्वं[2] पुन'

करते हैं धन के मद में अंध होकर अनेकों कुकृत्य कर डालते हैं अत उनके मार देने से लोक के अनेक पापाचार दूर हो जावग एव सज्जनों के बचे रहने से वात्सल्य प्रम आदि बढग अत धनिकों का वध भी कर्त्तव्य रूप है जसे कि होम मे पशुओ को हवन करना कत्तव्य रूप है इन दोनो मे कोई अतर नहीं है। इस पर पुन मीमासक कहता है कि वेद में लिखी हुई हिंसा को करने से या युद्ध में मरने से अवश्य ही स्वर्ग मिलता है किन्तु खरपट के यहा कही गई हिंसा से स्वग नही मिलता है। आचाय कहते हैं इस प्रकार से आप के कहने मे कोई प्रमाण नही हैं दोनो ही समान रूप मे हिंसा के कारण हैं अत या तो दोनो ही प्रमाण होगे अथवा दोनो के ही कथन अप्रमाण हो जावग। इस पर पुन मीमासक कहता है कि कल्याण की इच्छा करने वालो के द्वारा यज्ञ किए जाते है अत वे यज्ञ श्रयस्कर हैं किंतु सधनवध उससे विपरीत होने से श्रयस्कर नहीं है। एव यज्ञ धर्म शब्द से कहा जाता है जो यज्ञ करता है वह धार्मिक कहलाता है। आचाय कहते हैं आपका यज्ञ भी सुगत जन आदिको के द्वारा अधम श द से भी कहा जाता है। एव सधन वध भी खारपटिक और हिंसक जनो के द्वारा धर्म कहा जाता है। एव लोक गर्हितपना दोनो मे भी समान है अत सधन वध और अग्नि होत्र दोनो ही समान है। बाध वर्जित हेतु से रहित है अत अप्रमाण हैं। ऐसा समझना चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकालकार प्रथम पुस्तक में देखिये।

पुरुषाथ सिद्धय पाय मे अमृतचद सूरि ने भी कहा है कि—

> धनलवलपिपासिताना विनेयविश्वासनाय दशयिता।
> झटिति घटचटकमोक्ष श्रद्धय नव खारपटिकाना ॥८८॥

अथ—थोड से धन के प्यासे और शिष्यो को विश्वास करने के लिए दिखलाने वाले शीघ्र ही घडे के फूटने से चिडियो के मोक्ष के समान मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिए। कत्थे के रग के कपड पहनने वाल एक प्रकार के सन्यासी खारपटिक हैं वे लोग घट के फूटने से चिडियो के उड जाने के समान ही शरीर के छूट जाने को ही मोक्ष कहते हैं। अतएव इन लोगो ने सधनवध आदि कारणो से शरीर के नष्ट हो जाने से सुख की प्राप्ति मान ली है ऐसा मालूम पडता है।

और पुरुषाद्वत को कहने वाले सव व खल्विद ब्रह्म इत्यादि वाक्य सव प्रधानमेव इत्यादि के समान ही अपने विषय को बतलाने में प्रमाण नही हैं।

अर्थात् जैसे साख्य कहता है कि सभी जगत प्रधान रूप है वैसे ही वेदवाक्य कहते हैं कि सभी जगत परम ब्रह्म रूप ही है जैसे आप सांख्य के कथन को अप्रमाणीक कहते हो तथैव आपके वेद वचन भी

१ साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव। २ अपूर्वार्थग्राहित्वम्।

(1) वेदवाक्यस्य। (2) धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रत्यक्षादिकं न प्रवर्तते अतएव श्रुतेरनधिगतार्थाधिगन्तृत्व। अप्रतिपादितं।

प्रधानात्मक ही हो जाते है ।

विशेषार्थ—सांख्य ने मूल मे दो तत्त्व मान हैं एक प्रकृति दूसरा पुरुष । प्रकृति को वे अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुष को चेतन । प्रकृति से महान उत्पन्न होता है । (सष्टि से लेकर प्रलय काल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान कहते है) महान् से अहकार उत्पन्न होता है । अहकार से सोलह गण पैदा होते हैं (स्पशन रसना घ्राण चक्षु और कण ये पाच ज्ञानेन्द्रिया वचन हस्त पाद पायु—मल द्वार और उपस्थ—मूत्रद्वार ये पाच कर्मेन्द्रिया मन तथा स्पश रस गध रूप और शब्द ये पाच तन्मात्राय ये सोलह गण कहलाते है) इन सोलह गण के अन्तगत जो पाच तन्मात्राय है उनसे पचभूत उत्पन्न होते हैं ।

अर्थात् शब्द से आकाश उत्पन्न होता है अत उसमे एक शब्द गुण पाया जाता है । शब्द सहित स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है अत वायु मे शब्द और स्पश पाय जाते है । शब्द स्पश से सहित रूप से अग्नि उत्पन्न होती हैं अत उस अग्नि मे शब्द स्पश और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं । शब्द स्पश और रूप से सहित रस से जल बनता है । अत जल मे ये चारो गुण पाये जाते है । शब्द स्पश रूप और रस से सहित गध से पृथिवी उत्पन्न होती है अत पथ्वी मे ये पाचो गुण पाय जाते हैं । प्रकृति से लेकर पंचभूत तक ये २४ तत्त्व अचेतन हैं एव एक पुरुष तत्त्व चतन है । प्रकृति इस सपूण सृष्टि को करने वाली है और पुरुष उसका भोक्ता है । इस प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है । सृष्टि के प्रारम्भ काल मे प्रधान अपने भीतर से ही सारे ससार को उत्पन्न करता है और प्रलय काल मे सारे ससार को अपने भीतर ही प्रलय रूप से समाविष्ट कर लेता है । यह प्रधान स्वय किसी से उत्पन्न नही होता है अत अजन्मा है । इसका मूल स्वरूप किसी के दष्टिगोचर नही है अत यह अव्यक्त है और इसके काय दष्टि गोचर होते हैं अत इसे ही व्यक्त भी कहते हैं । पुरुष को छोडकर शेष समस्त तत्त्वो को (विश्वको) उत्पन्न करने मे यह प्रमुख कारण है अतएव यह प्रधान कहलाता है । पुरुष इसस विपरीत स्वभाव वाला है सत्त्व रज तम आदि तीन गुणो से रहित है अन्य प्रधान को विषय करने वाला चेतन है प्रधान तो एक है किन्तु पुरुष अनेक हैं ।

प्रधान अचेतन है सामान्य है । पुरुष चेतन है कटस्थ नित्य है चेतना गुण का अनुभव करने वाला है ज्ञान से शून्य है ज्ञान तो प्रधान का धम है । जब तक पुरुष के साथ प्रधान का ससग है तभी तक यह पुरुष ज्ञानी दीखता है ।

कार्यों के एक रूप अन्वय देखे जाने से तथा महत् आदि भेदो का परिणाम पाये जाने से उन कार्यों का एक प्रधान कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है जसे घट घटी सराव उदञ्चन आदि मे मिट्टी एक अन्वय रूप से मौजूद है उसी प्रकार से महान् अहकार आदि कार्यों मे—सारे सृष्टि रूप जगत मे एक प्रधान का ही अन्वय पाया जाता है अत यह सारा जगत प्रधानात्मक ही है । सांख्य ने उत्पाद और विनाश को भी नहीं माना है क्योंकि यह कूटस्थ नित्यैकान्तवादी है । उसका कहना है कि वस्तु में जो उत्पाद विनाश

सर्वस्या श्रुतेरविशिष्ट प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ च प्रवृत्त ।

दिखता है वह केवल आविर्भाव तिरोभाव रूप है न कोई वस्तु नष्ट हुई है न उत्पन्न हुई है, मृत्पिड से घडा नहीं बना है किन्तु मिट्टी मे घडा सदैव विद्यमान था कुम्हार चाक आदि व्यञ्जक कारणों से मिट्टी में घट प्रकट हो गया है पहले मिट्टी मे तिरोभूत था। अतएव यह सांख्य प्रागभाव प्रध्वसाभाव को भी नहीं मानता है जिसका आगे कारिका १० वी ११ वी म अच्छा निराकरण किया गया है। अत यहाँ जैनाचार्यों का यही कथन है कि जसे आप सव वै खल्विद ब्रह्म कहते हो वसे ही साख्य सारे विश्व को प्रधानात्मक कहते हैं पुन आप उनके भी सिद्धात को प्रमाण क्यो नही मानते हैं ? आप जिन जिन हेतुओ से उनके प्रधान तत्त्व को दूषित करग हम जन भी उन्ही उ ही हेतुओ से आपके ब्रह्मवाद को भी दूषित कर दगे। यदि आप आगम प्रमाण से अपनी मान्यता सिद्ध करगे तो वे सांख्य भी अपने आगम को प्रमाण मानकर अपनी मान्यता पुष्ट करग। अत या तो आप और सांख्य इन दोनो के वचन भी प्रमाणिक माने जाने चाहिए या तो दोनो के वचनो को अप्रमाणिक कहना चाहिए क्योकि और तो कोई उपाय है नही ।

मीमांसक—पुन सभी वद अपूर्वाथ को ही विषय करते है अत समान हैं प्रमाणातर से नही जाने गये धर्मादि और पर ब्रह्मादि मे उनकी प्रवत्ति है। अर्थात धम अधम आदि अतीन्द्रिय पदार्थो को और परम ब्रह्म को अन्य प्रमाण नही बता सकते है ये वेदवाक्य ही इनका ज्ञान कराते हैं अत प्रत्यक्षादि प्रमाणो की धर्मादि मे एव ब्रह्मा आदि म प्रवृत्ति नही होती है। इसीलिए ये वेद अनधिगत —पूर्व मे नही जाने गये अर्थ का ज्ञान कराने वाल होन से प्रमाण है क्योकि भाट्ट ने प्रमाण का लक्षण यही माना है।

विशेषार्थ— अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाण (न्यायदीपिका पृ १२३) इस प्रकार से भाट्टों ने प्रमाण का लक्षण माना है वे कहते है कि यह लक्षण मीमासक के एक भेद रूप हम भाट्टो के यहा अपौरुषय वेद मे पाया जाता है क्योकि धमअधम और परमब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण नही बता सकते हैं किन्तु ये वेद उनको भी बता देते हैं अत हमारे वेद पूर्व में नही जाने गये अपूर्वाथ को ही विषय करने वाले हैं और ये वद अपौरुषय होने से प्रमाण है। ऐसा सवज्ञ का अभाव करने वाले मीमांसक स्वीकार करते है। इस कथन पर जनाचार्यों ने इस भाट्ट द्वारा मान्य प्रमाण क लक्षण का न्यायदीपिका म सुदर खण्डन किया है आचाय कहते हैं कि आप भाट्ट—मीमासको का यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योकि आपके द्वारा ही प्रमाण रूप से मान्य धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राही नही है। यह घट है यह घट है यह घट है इत्यादि रूप से जाने हुए को जानते बैठना धारावाहिक ज्ञान का लक्षण है। भाट्ट कहता है कि धारावाहिकज्ञान भी अगले-अगल क्षण स सहित अर्थ को ही विषय करत हैं अत अपूर्वार्थ विषयक ही हैं। इस पर आचार्य कहत हैं कि क्षण

(1) प्रत्यक्षादि ।

[काश्चिदपि वेदवाक्यानि स्वयं स्वस्यार्थं न प्रतिपादयन्त्यतः वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्ध्यति]

१न च काचिच्छ्रुति[1] स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्य[1]व्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे २अहं प्रमाणं न स्वरूपे, स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः[2]। ३ननु[3] च 'पदानि[4]

अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना संभव नहीं है अतः धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

[कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है]

जैन—कोई वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हो चाहे नियोग या भावना अर्थ ग्राही हों वे वेद स्वयं अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

कार्य नियोग अर्थ में ही मैं—वेद प्रमाण हूं स्वरूप में नहीं अथवा स्वरूप अर्थ में ही मैं प्रमाण हूं कार्य अर्थ में सर्वथा नहीं। इस प्रकार से वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः सभी की मान्यता में वे अविशेष-समान रूप से सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में प्रमेयरत्नमाला में भी बहुत ही सरल एवं सुंदर विवेचन है। 'प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं' मीमांसकों ने प्रवाह की नित्यता से वेद को अपौरुषेय माना है। इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप मीमांसक सभी शब्दों को अनादि नित्य मानते हो या कुछ वेद विशिष्ट शब्दों को ही अनादि नित्य मानते हो यदि सभी को अनादि नित्य कहो तो जो शब्द लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं पुनः वेद ही अपौरुषेय हैं लौकिक या कृत्रिम शास्त्रादि के शब्द अपौरुषेय नहीं हैं यह आपने कैसे कहा? आप तो अपनी मान्यतानुसार संसार के सभी सच्चे झूठे जन बौद्धादि शास्त्रों को अपौरुषेय मानकर सच्चे कहो। यदि आप यह पक्ष न लेकर विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुए विशिष्ट वैदिक शब्दों को ही अनादि नित्य कहो तब तो हम पुनः प्रश्न करते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है उनको अनादिता है या जिनका अर्थ नहीं जाना है उनको? इसमें यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपको अज्ञान रूप अप्रमाणता ही रही। यदि प्रथम पक्ष लेवो तब हम पुनः प्रश्न करते हैं कि उन वेदों के व्याख्यान करने वाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ? सर्वज्ञ रूप दूसरा पक्ष तो आपको अनिष्ट ही है एवं अल्पज्ञ को वेद का व्याख्याता मानने से तो अन्यथा विपरीत अर्थ की भी संभावना हो सकती है।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न। कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः ॥

अर्थ—मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है इस प्रकार से शब्द तो स्वयं बोलते नहीं हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पित किया जाता है। और पुरुष रागादि दोषों से दूषित होते हैं

१ परपक्षाभिप्रायं निराकरोति जैनः। २ विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा। ३ श्रुतिः। ४ मीमांसकः।

(1) स्वयम्। (2) श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तिरित्यत्र भाष्येऽविशेषपदं व्याख्यातं। (3) श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनं युक्तमित्याह परः। यथा घटशब्दः पटस्य व्यवच्छेदेन पृथुबुध्नोदराकारे घटस्वरूपे प्रवर्तते तथा वेदवाक्यमिति शंकासमुच्चयः भवति। (4) पचति भवतीत्यादीनि।

तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे 'तेषामध्या'हारादिभिर'र्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभा-
षितव्यत्वाच्च' । सति 'सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्च तपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्य

अत' वे रागद्वेष के वशीभूत होकर अन्यथा भी अर्थ कर सकते हैं ॥

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किए गये अर्थ विशेष से 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य खादेच्छ्वमांसम इत्यपि वाक्यार्थ किं न स्यात ।

(प्रमेयरत्नमाला पृ २२०)

टिप्पणी—अग्नि हतीति अग्निहा श्वा तस्यात्र मांस जुहुयात्खादेत । अथवा अगति गच्छति इत्यग्नि श्वा हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्र मांस । अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्र श्वमांस तज्जुहुयात खादेत् स्वर्गकाम पुमान द्विज ।

अर्थ स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे—हवन करे इस वाक्य का अर्थ कुत्ते का मास खावे ऐसा भी अर्थ क्यो न सभव मान लिया जावे ?

अल्पज्ञ पुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेद वाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह अग्निहा अर्थात कुत्ता है उसका अत्र जो मास उसे जुहुयात अर्थात खावे । अथवा अगति गच्छति इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे अग्नि अथात कुत्ता कहत हैं। हूयत अद्यत खाद्यत यत्तत होत्र इस निरुक्ति के अनुसार होत्र का अथ मास है। अग्नि अर्थात कुत्त क मांस को खाव इस प्रकार भी वही अथ निकल आता है । किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नही होगा अत अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नही है । थोड़ी देर के लिए आप वेद का अर्थ अनादि काल से चली आ रही व्याख्यान परपरा द्वारा आया हुआ मान भी लवे तो भी किसी वक्ता के द्वारा गुरु से गृहीत अथ का विस्मरण हो जाने से या वचन बोलने की चतुराई न होने से अथवा दुष्ट अभिप्राय से गलत अथ का प्रतिपादन भी हो सकता है । आजकल भी ऐसे लोग देखे जात हैं जो ज्योतिष आदि शास्त्रो के रहस्य को अच्छी तरह जान करके भी दुष्ट अभिप्राय से गलत बता देत हैं या प्रतिपादन की शलो न होने से अथवा कितने ही व्याख्याता वाक्याथ का सम्बन्ध भूल जाने से उल्टा सुल्टा अथ भी कर देत हैं । अत वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण नही हैं ।

---

१ वेदगतपदानाम् । २ आदिना प्रकरणादिग्रह । ३ गण्डकाश्चतुरो गञ्जा इत्यादि-गणितपरिभाषावद्व्यवहारकाले पूर्वमस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकाल व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषणं तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः । ४ वेदार्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति ।

---

(1) प्रकरणे— 'प्रस्तावादर्थौचित्यात् देशकालविभागतः' । शब्दार्थाः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलात् । प्रस्तावे—भोजन प्रस्तावे सैन्धवमानीयतामित्युक्ते लवणमेव न तु सिंधुदेशीयोश्वः । औचित्ये—मातङ्गगामिनी गच्छतीत्युक्ते हस्तिनी न तु चाण्डाल । देशे—अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ इत्युक्ते दशरथसुतौ न तु शुकसारसौ । काले—रात्रौ पतंगो भ्रमतीत्युक्ते खद्योत एव न तु सूर्य ।

मानो ऽस्ति । [1]लद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम् इति कश्चित्[2] सोपि न परीक्षाचतुरः सर्वस्याः श्रुतेस्तथा[3]भावाविशेषात् । [4]न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः [(1)]प्रतिष्ठापयितुं येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात् । नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, [5]तत्रानेकबाधकोपन्यासात् । ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम् ।

मीमांसक—लोक मे जिन अर्थों मे पद प्रसिद्ध है उन्ही अर्थों मे ही वे पद वेद मे हैं । उन वेदगत पदो का अध्याहारादि प्रकरण आदि से अर्थ परिकल्पित नही किया जा सकता है और न वे परिभाषितव्य ही हैं अर्थात् वेदवाक्य परिभाषण के विषय नही है । जिन अर्थों मे लौकिक पदो का अर्थ सभव है उन्ही अर्थों में वैदिक पदो का अर्थ भी सभव है जिस प्रकार से लौकिक पद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् अश्रुतपूर्व काव्यादि वाक्यो के अर्थ को समझता हुआ देखा जाता है । उसी प्रकार से कोई मनुष्य स्वय ही अश्रुतपूर्व वेदवाक्य के अर्थ को भी समझने मे समर्थ हो सकता है । इसलिए वेद स्वयमेव अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं यह कथन युक्त ही है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप मीमासक भी मीमांसा परीक्षा करने मे कुशल नही है । क्योकि सभी वेदो में तथाभाव लौकिक वाक्यार्थ के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करना समान ही है । लौकिक वाक्य का अर्थ भावना ही है अथवा नियोग ही है ऐसा अर्थ व्यवस्थापित करना शक्य नही है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी वही अर्थ हो सके अर्थात् नही हो सकता है एव किसी वेद वाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि ही है ऐसा भी कहना शक्य नही है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी अन्य का व्यवच्छेद करके वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता क्योकि उन वेद वाक्यो मे तो अनेक बाधाये दी गई हैं । इसलिये सुगत आदि के समान वेद भी प्रमाण नही है यह बात सिद्ध हो गई ।

विशेषार्थ—श्लोकवार्तिक मे इस अपौरुषेय वेद के खण्डन मे विशेष रूप से विचार किया गया है । मीमांसक ने अनादिनिधन अपौरुषेय वेदवाक्यो से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना माना है वे सर्वज्ञ को तो मानते नही है । इस पर जैनाचार्य ने प्रश्न किया कि तुम्हारे वेदवाक्यो का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? तब उन्होने बताया कि हमारे वेद के अर्थ के व्याख्यान करने वाले मनु याज्ञवल्क्य व्यास आदि ऋषियो को उस वेद के अर्थ का पूर्ण ज्ञान था अतः उनको वेद के विषय में रागद्वेष का अभाव था । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! यदि आप मूल मे सर्वज्ञ मान लेवे तब तो ठीक है अन्यथा

---

१ लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव । २ मीमांसकः । ३ लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात् । ४ एतदेव भावयति जैनः । ५ सर्वश्रुतिषु ।

---

(1) लौकिकवाक्यस्य यथा पदार्थो न तथा भावनानियोगावपि ।

तो अन्ध-परंपरा न्याय ही लागू होता है। इस अंध परम्परा से तो वेद के अर्थ का निर्णय होना बनता नहीं है। एक अंधे ने दूसरे अंध का हाथ पकड़ा दूसरे ने तीसरे का तीसरे ने चौथे का इत्यादि रूप से करोड़ों भी अंधों की पंक्ति लगा दी जावे तो क्या सबको दीखने लग जावेगा ? हाँ ! उन पंक्तियों में यदि एक प्रधान चक्षुष्मान-आंख सहित व्यक्ति को जोड़ दीजिए तो वह सबको भी इच्छित स्थान पर पहुंचा सकता है। तथैव मूल में आप सब एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी मान लीजिए। उसी सर्वज्ञ की मान्यता से उनके वचनों से भी सभी छद्मस्थों को आज तक भी अर्थ का निर्णय हो जावेगा। किन्तु मीमांसक सर्वज्ञ को न मानकर केवल अपने वेद को ही प्रामाणिक सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि व्याकरण कोष और व्यवहार आदि से शब्दों का वाच्य अर्थ जाना जाता है जो विद्वान पुरुष व्याकरण न्याय आदि के अभ्यास से लोक में बोले जाने वाले घट पट आत्मा आदि पदों के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। उसी के समान लौकिक पदों के अर्थ के समान ही वेदों में भी अग्निमीडे पुरोहितं यजेत आदि पद पाये जाते है। अतः वेद के पदों का अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान् को अपने आप ही हो जावेगा और पदों के अर्थ का निश्चय कर लेने पर वाक्य के अर्थ का निश्चय भी हो जावेगा। जैसे कि कोई विद्वान चन्द्रप्रभ गद्यचिंतामणि आदि काव्य ग्रन्थों के पढ़ लेने पर अश्रुतपूर्व-महा पुराण धर्मशर्माभ्युदय आदि काव्यों का अर्थ स्वयं कर लेता है या अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों को गुरु मुख से पढ़ लेने पर न्यायकुमुदचंद्रोदय प्रमेयकमलमार्तंड आदि न्यायग्रन्थों का अर्थ भी स्वयमेव समझकर समझा सकता है या गणित के नियमों को जानकर नवीन नवीन गणित के प्रश्नों का उत्तर झट दे देता है। इसी तरह से व्याकरण आदि के विशेषज्ञान से वेद का अर्थ भी समझ लिया जावेगा अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता भी नहीं है और वेद के अर्थ का निश्चय करने में सर्वथा वीतरागी की भी आवश्यकता नहीं है और हमारे यहां अंधपरंपरा भी नहीं है।

लोक में आजकल हम लोगों से बोले हुए पद और वेद में लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं। किन्तु उन पदों के अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते है। अतः एक अर्थ को छोड़ कर दूसरे इष्टअर्थ में ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए अन्य अर्थ में नहीं इस प्रकार शब्दों के अर्थ का निश्चय करना अशक्य है।

टिप्पणीकार श्री लघुसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि प्रकरण आदि से अनेक अर्थ देखे जाते है—

'प्रस्तावादथवौचित्याद् देश काल विभागतः। शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलात् ॥

अर्थ—प्रकरण से अथवा उचितरूप से या देश और काल के निमित्त से शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध किया जाता है किन्तु केवल शब्द मात्र से ही अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रकरण से—भोजन के समय किसी ने कहा कि—'सैंधवमानीयतां सैंधव लावो तो सैंधव शब्द से यहाँ नमक ही लाया जाता है किन्तु सिन्धु देशीय घोड़ा नहीं लाया जाता है।

लौकिक अर्थ में— मातगगामिनी गच्छति मातंग गामिनी जाती है इतना कहने पर हस्तिनी जा रही है यह अर्थ होता है न कि चांडाल की स्त्री ।

देश के प्रसंग में— अयोध्याया रामलक्ष्मणौ ऐसा कहने पर दशरथ के पुत्र ही समझा जाता है न कि शुक और सारस पक्षी । अर्थात राम लक्ष्मण का अर्थ शुक सारस भी होता है किन्तु अयोध्या में ऐसा देश शब्द का प्रयोग करने पर शुक सारस नही समझा जाता है ।

काल अर्थ में— रात्रौ पतगो भ्रमति रात्रि मे पतग भ्रमण करता है । इतना कहने पर रात्रि शब्द काल वाची होने से पतग का अर्थ खद्योत ही करना चाहिए न कि सूर्य । यद्यपि पतंग का अर्थ सूर्य है फिर भी रात्रि में सूर्य नही रहता है । इत्यादि रूप से प्रकरण से भी शब्द से अर्थ का निश्चय किया जाता है ।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कही-कही प्रकरण से भी अनेक प्रकार के अर्थ उपयोगी दीखते हैं जैसे कोई राजकुमार सज्जीभूत होकर बाहर जाने के लिए तैयार बैठा है और ककडी खा रहा है ऐसी दशा में सैंधवलावो कहने पर सैधव शब्द के उस समय घोडा और नमक दोनो ही अर्थ प्रकरण प्राप्त हैं । द्विसंधान काव्य मे एक साथ ही प्रत्येक शब्द के पाडव और रामचन्द्र के चरित्र पर घटित होने वाले दो दो अर्थ किए गये है । अत अल्पज्ञ लौकिक विद्वान प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने वाले वेद के शब्दो की ठीक ठीक एक ही अर्थ मे व्यवस्था नही कर सकते और यदि एक ही अर्थ व्यवस्थित होता तो यह प्रभाकर भाट्ट और ब्रह्माद्वैतवादी जनो का इतना विसवाद भी क्यो होता ? देखो ! कोई तो कामधेनु के समान उन वेदवाक्यो से कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं कोई चार्वाक अन्नाद्य पुरुष आदि श्रुतियो से अपना जडवाद पुष्ट करते है कोई अद्वैतवादी उन मत्रो से ब्रह्मवाद सिद्ध करते हैं । आप मीमांसक भी नियोग और भावना रूप अर्थ मे परस्पर मे विवाद कर रहे हैं । यदि वेद का अर्थ पहले से ही निर्णीत होता तो इतने हिसापोषक या हिसा के निषेधक तथा केवल जडवाद या केवल आत्म वाद रूप विरुद्ध व्याख्यानो के द्वारा परस्पर मे झगड क्यो देखे जाते है ? यदि आप कहे कि वेद के अर्थों को जानने वालों का ज्ञान मद है अत झगड देखे जाते है किन्तु प्रतिभाशाली मनु आदि ऋषि एक ही अर्थ करते है वे सातिशय प्रज्ञाशाली हैं । वेदो के अर्थों को स्मरण रखने की पूर्ण रूप से विशेषता उनमे है । पुन जैन प्रश्न करते हैं कि उन मनु याज्ञवल्क आदि ऋषियो की बुद्धि मे विशेषता कैसे आई है ? तब मीमासक ने कहा कि उन ऋषियो ने पूर्व जन्म मे श्रुत का अभ्यास किया है । तब प्रश्न यह होता है कि इन मनु आदिको ने पूर्व जन्म मे श्रुत का अभ्यास स्वय किया है या गुरु की सहायता से ? यदि स्वत कहो तो सभी ही पूर्व जन्म मे स्वत वेद का अभ्यास कर सकते हैं । यदि गुरु से कहो तो गुरु कौन है ? चतुर्मुख ब्रह्मा को कहो तो भी ब्रह्मा को भी अनादि कालीन वेदो का ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि आप ब्रह्मा को भी अनादि कालीन सर्वज्ञ नही मानते हैं । फिर भी मीमासक बोलता ही जाता है कि यद्यपि वेद एक है किन्तु उसकी हजारो शाखाय हैं स्वर्ग मे ब्रह्मा बहुत दिनों तक वेद को पढ़ते हैं

[अत्रत्याद् चार्वाक सर्वज्ञस्याभाव साधयति तस्य निराकरणं]

[1]तथेष्टत्वाददोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकवेष्टि[1*]। [1]न कश्चित्तीर्थंकर प्रमाण, नापि [2]समयो वेदो यो [3]वा [4]तर्क [5]परस्परविरोधात ।

फिर वहां से अवतार लकर वे मनुष्य लोक मे मनु आदि ऋषियो के लिए वेद का प्रकाशन करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्ग को चल जाते हैं और वहाँ हजारो वष तक वेद का स्मरण चितन अभ्यास करते रहते हैं। पुन स्वग से उतर कर मत्य लोक मे आकर उन्हीं मनु आदि ऋषियो को वेद के ज्ञान का प्रकाशन करते ह और वे मनु आदि ऋषीश्वर उस समय मे अनेक जीवो को वेद का ज्ञान करा देते ह। इस प्रकार से ब्रह्मा और मनु आदि की परपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। इस पर जनाचाय कहते ह कि आपका कथन वदतो व्याघात नाम के दोष से दूषित है। जसे कोई पुरुष जोर जोर से कहे कि मैं मौनव्रती हू यह वचन स्व वचन बाधित है। क्योकि आप मीमाँसको ने सभी ही पुरुषो को अतीन्द्रिय पदार्थो के ज्ञान से रहित ही माना है। ब्रह्मा मनु बहस्पति जमिनी आदि को भी सूक्ष्म परमाण आकाश पुण्य पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान कहना शक्य नही है। पुन ब्रह्मा ने भी स्वर्ग मे क्या पढा किससे पढा ? इत्यादि प्रश्न उठते ही चल जावग।

एक किवदती है कि ढकी स्वर्ग मे चली जाय तो भी धान ही कटेगी ? अत तुम्हारा कथन सिद्ध नही हो पाता है कि वद अपौरुषय होने से प्रमाण है।

वेद की प्रमाणता के खण्डन का साराश

सुगत आदि सभी परस्पर मे विरुद्ध अथ का कथन करने वाल होने से सभी सवदर्शी सवज्ञ नही हैं अत कोई भी सवज्ञ नही है ऐसा भी नही कहना क्योकि आपके अपौरुषय वद भी प्रमाण नही है जसे आपने सव व खल्विद ब्रह्म कहा है वैसे ही साख्य ने कहा है कि प्रधानमेव सव सभी जगत प्रधान रूप है। तथा काई भी वेद चाहे विधि अथ ग्राही हो चाहे नियोग एव भावना अर्थ ग्राही हो वे स्वय अन्य का परिहार करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नही करते हैं नियोग अर्थ मे हो मैं प्रमाण हू विधि मे नही या भावना मे ही मैं प्रमाण हूँ नियोग मे नही इत्यादि एवं कोई भी मनुष्य अश्रुत-पूव--पहल नही सुने हुए वेद वाक्य के अर्थ को समझने मे समथ नही हो सकता है अत सुगत आदि क समान आपके वेद भी अप्रमाण ही ह। क्योंकि परस्पर मे विरोधी ह।

[चावकि सवज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण]

चार्वाक—हमे वसा ही इष्ट है अत कोई दोष नहीं है। अर्थात् कोई भी सवज्ञ नहीं हो सकता है, यही बात हमे इष्ट है इस मान्यता से तो कोई भी दोष नहीं है।

---

१ एतच्चार्वाकमतप्रसङ्ग। २ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिच्छन्ति एक चार्वाकास्तेषाम्। ३ प्रमाणरहिता। ४ तर्कोऽनुमानम्। ५ सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादिसमर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्परविरोधात्तकस्य परस्परविरोध।

---

(1) सूत्रं व्याख्याति। (2) आगम। (3) सुगतादि।

[१]"तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो [२]विभिन्ना [1]नको [3]मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ।
[४]धर्मस्य तत्त्व [2]निहित गुहायां [3]महाजनो [५]येन गत स पन्था ॥ इति वचनात्

कश्चिद्[4] देवतारूपो गुरुबृहस्पतिर्भवेत् [६]सवादक प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वो पदेशात्। इति[७] प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये तेषा लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकव प्रत्यक्षतस्तद व्यवस्थापनासम्भवात् । **न खलु प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तरा[८]भावविषयम् अतिप्रसङ्गात्*** । [९]सर्वज्ञस्य हि मुने प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभाव यदि [५]किञ्चिद्''[११]व्यवस्थापयेत् [१२]तत्राप्रवर्त्तमानत्वात् तदा[१३]पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभाव

जैन—यह आपकी मान्यता भी प्रमाण रहित ही है। *

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा वचन है कि—

कोई तीर्थंकर प्रमाण नही है न कोई आगम है न वेद है अथवा न कोई तर्क—अनुमान ही प्रमाण है। बस ! हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते है। क्योंकि तीर्थंकर आदि सब मे परस्पर मे विरोध देखा जाता है क्योंकि कहा भी है—

श्लोकार्थ—तर्क—अनुमान अव्यवस्थित है शास्त्र नाना अर्थों का प्रतिपादन करते है सुगत कपिल अथवा जिन कोई एक भी भगवान—तीर्थंकर नही है कि जिनके वचन प्रमाण हो सके। इसलिए धर्म का स्वरूप गुफा मे रखा हुआ है जिस मार्ग से महापुरुष गये हुए है वही मार्ग है ॥

अत कोई देवता रूप वृहस्पति गुरु ही सवादक प्रमाण भूत हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है। अत हम चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते है। टिप्पणी मे ऐसा भी पाठ है कि कोई अदेवता रूप—असर्वज्ञ रूप बृहस्पति नामक गुरु है वही प्रमाणभूत है इत्यादि।

जैन—इस प्रकार से आप एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते है अत आप लौकायतिक इस सार्थक नाम वाले है किन्तु आपकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष से आपके सिद्धान्त की भी व्यवस्था करना सभव नही है।

आपका वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ एव प्रमाणांतर के अभाव को विषय करने वाला नहीं है अन्यथा अति प्रसग आ जावेगा।*

सर्वज्ञ-मुनि और प्रमाणांतर अर्थात वेदादि आगम अनुमान एव तर्क इनके अभाव को यदि कोई

१ अव्यवस्थित । २ नानार्थप्रतिपादक वेन । ३ सुगत कपिलो जिनो वा । ४ ततश्च । ५ पथा । ६ प्रमाणभूत । ७ इतो जैन आह । सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य । ९ तद्धि (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभाव)। १० अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति। ११ चार्वाकाभिमतम् । १२ प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभाव व्यवस्थापयति—तत्राप्रवर्त्तमानत्वात् । यद्यत्राप्रवर्त्तमान तत्तस्याभाव व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत । १३ देशान्तरकालान्तरवर्ती पुरुषोऽत्र ग्राह्य ।

(1) नासौ मुनि इति पा । (2) अप्रयोजकत्वात् । (3) गोपालादि । (4) कश्चिददेवतारूपो इति पा । अदेवतारूप—असर्वज्ञरूप इत्यर्थो भवति । (5) किंचित् प्रत्यक्ष व्यवस्थापयेत् इति पा ।

तदेव गमयेत् तद्विषयाणा च [1]क्ष्मादीनाम् । इत्यतिप्रसङ्ग स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि [1]विषयस्याभावसिद्ध ।

[चार्वाक कथयति अस्मदीयबृहस्पतिगुरो प्रत्यक्ष स्वस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञान कारयति इति मान्यताया जनाना प्रत्युत्तर वतते]

[2]अथ प्रत्यक्षान्तर स्वयमात्मान[3] व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषय च तत्र प्रवर्त्तनात् । अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मत [4]तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसवेदनादात्मान स्वर्गापूर्वादिविषय[5] च व्यवस्थापयतीति कथ तदभावसिद्धि[6]? प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य हेतुवाद-

---

प्रत्यक्ष व्यवस्थापित करे तो वहाँ उन विषयो मे उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही है। अन्यथा पुरुषातरादि—देशातर कालातरवर्ती पुरुषो क प्रत्यक्षातर क अभाव को वही प्रत्यक्ष बतला देगा और उनक विषय पृथ्वी आदि विषयो को भी वही प्रत्यक्ष बतला देगा।

पुन स्वय इष्ट बृहस्पति आदि क प्रत्यक्ष क भी स्वविषय का अभाव सिद्ध हो जाने से अति प्रसंग आ जावेगा।

[चार्वाक कहता है कि हमार बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है। अत सवज्ञ कोई नही है—इस पर जनाचाय का उत्तर]

चार्वाक—प्रत्यक्षातर—बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वय अपन स्वरूप को और पृथ्वी आदि स्वविषयो को व्यवस्थापित करता है क्योकि वह उन विषयो मे प्रवृत्ति करता है। इसलिए उस प्रत्यक्ष क अभाव का प्रसग नही आता है।

जन सर्वज्ञ भगवान भी स्वसवदन से अपन को एव स्वर्गादि अपूव—धर्माधर्मादि विषयो को व्यवस्थापित करता है इसलिए उस सवज्ञ क अभाव की सिद्धि कस हो सकती है?

एव वही सवज्ञ प्रमाणातर—तक उसक वचन हेतुवाद रूप—अनुमान रूप तथा अहेतुवाद रूप—आगम प्रमाण की व्यवस्था कर देता है। इसलिए भिन्न प्रमाणो का अभाव भी कसे सिद्ध होगा?

चार्वाक—आपका सवज्ञ स्वपर का व्यवस्थापक है इस विषय को सिद्ध करने के लिए कौन सा प्रमाण है?

जन—पुन आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक के यहाँ भी प्रत्यक्षांतर-बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वपर को विषय करने वाला है इसमे भी क्या प्रमाण है?

चार्वाक—उस प्रकार से प्रसिद्धि ह अर्थात् बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व पर को ग्रहण करने वाला है

---

१ बृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम्। २ चार्वाक। ३ स्वय स्वस्वरूपम्। ४ जन। ५ अपूर्व धर्माधर्मादि। ६ तस्य सर्वज्ञस्य। ७ तर्करूपस्य। ८ हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यथ। अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यथ।

---

(1) सविषयस्य इति पा। स्वविषयस्येति वा प्रतिभाति।

स्वपक्षस्याहेतुवादरूपस्य[1] च स एव व्यवस्थापक स्यादिति [2]कुतस्तदभावसिद्धि ? [3]सर्वज्ञ स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत [3]स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिन[4] प्रत्यक्षान्तर[5] स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? [6]तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्ष तदभावावेदकम्, [7]अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात । नानुमानम् असिद्ध [8] । [9]प्रत्यक्षमेकमेव[2] प्रमाणम्[1] [10]अगौणत्वात्प्रमाणस्य[12] अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ । [13]सामान्ये सिद्धसाधनाद्[14] विशेषेनु गमाभावात [15]सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिण[16] संभवात । इति स्वयमनुमान निराकुर्वन्ननुमाना देव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाव व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्त ? प्रतिपत्तु[1] प्रसिद्ध हि प्रमाण

इस प्रकार से हमारे यहाँ गुरु परम्परा से प्रख्याति है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो अन्यत्र-हमारे यहा भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष मे भी ऐसी गुरु परम्परा से प्रसिद्ध है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला नही है । अन्यथा-अति प्रसग का परिहार करना कठिन हो जावेगा । एव **अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि आपके यहां असिद्ध है अर्थात आपने अनुमान प्रमाण को माना ही नहीं है *** ।

आपने कहा है कि प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाण अत वही प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है पुन अनुमान से इस प्रत्यक्ष के विषय भूत अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? अर्थात होना दुर्लभ ही है । हे चार्वाक ! आपने तो अनुमान का निराकरण करने के लिए कहा है कि— अनुमान सामान्य को सिद्ध करता है या विशेष को ?" यदि सामान्य को कहो तो सिद्ध साधन ही है क्योंकि व्याप्ति के निश्चय के काल मे ही सामान्य सिद्ध हो चुका है ।

एव दूसरा पक्ष लेवो तो विशेष पर्वतादि साध्य मे जहा धूम है वहा पर्वताग्नि है ऐसा अनुगम अन्वय ज्ञान नही है अत सभी जगह अनुमान मे विरुद्धादि दोष आते है ।

इस प्रकार से आप स्वय अनुमान का निराकरण करते हुए भी अनुमान से ही सर्वज्ञ और अनुमान

---

१ प्रमाणान्तराभावसिद्धि । २ चार्वाक । ३ जैन । ४ चार्वाकस्य । ५ बृहस्पतिप्रत्यक्षम् । ६ चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्ष स्वपरग्राहकमित्यस्माक गुरुपरम्परया प्रख्यातिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येव भवतु । ७ अन्यथा । ८ चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभाव साधये । पर आह—भवन्मतेनुमान नास्ति सिद्धत्वघटनात् । ९ चार्वाक । १० प्रमाण्यं तर्हि गौणत्वात् इत्यादि पाठान्तरम् । ११ अमुख्या (अनुमानत) मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभ । १२ प्रत्यक्षस्य । १३ हे चार्वाक अनुमाननिराकरणार्थ त्वमेव वदसि । एव किम् ? अनुमान सामान्य साधयति विशेष वा ? सामान्यं चेत्सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि । १४ व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभाव । १५ अनुमाने । १६ विरुद्धस्येत्यर्थ हेतोरित्यर्थ । १७ चार्वाकस्य ।

---

(1) तर्कशास्त्रस्य परमागमस्य । (2) ननु अनुमानाद्यसिद्धावपि सर्वज्ञाद्यभावो भविष्यतीत्याशंक्य कथमनुन्मत्त इत्याद्याकूतं बोध्यं ।

स्वप्रमेयस्य निश्चायकं, नाप्रसिद्धम् [1] अतिप्रसङ्गादेव ।

तर्क आदि भिन्न प्रमाणों के अभाव को व्यवस्थापित करते हैं इसलिए आप अनुन्मत्त कैसे हैं ? अर्थात् आप उन्मत्त सदृश ही हैं ।

क्योकि जानने वाल प्रतिपत्ता के यहाँ प्रसिद्ध ही प्रमाण अपने प्रमेय का निश्चय कराता है किन्तु अप्रसिद्ध प्रमाण नही कराता है अन्यथा अति प्रसग आ जाता ह अर्थात खरविषाणादि भी प्रमेय की व्यवस्था करने लग जावगे ।

भावार्थ चार्वाक पृथिवी जल अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय को मानता है और इन्ही के सयोग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रादुर्भाव भी मान लेता है और जीव के मरने के बाद उस चैतन्य की भी समाप्ति कहता है । आत्मा नाम के तत्त्व को वह चार्वाक नही मानता है अतएव ईश्वर के अस्तित्व को भी वह स्वीकार नही करता है । तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय अनुमान आगम एव तक नाम के प्रमाण भी उसके सिद्धान्त मे नही हैं न सवज्ञ का अस्तित्व ही है क्योकि आत्म तत्त्व को माने बिना सर्वज्ञ को मानना तो कथमपि शक्य नही है जसे बाँस के बिना बासुरी नही बजती है । इन नास्तिक वादी चावाक जनो को जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से दिखता है वही विद्यमान है इन्द्रिय ज्ञान से परे जो वस्तुए हैं व सब अप्रमाण हैं । क्या पता—यदि चार्वाक के घर मे बालक जन्मे और उसके पिता या पितामह का बाहर मे ही मरण हो जावे तब वह बालक शायद बड़ा होकर अपने पिता और पितामह आदि के अस्तित्व को भी नही मानेगा । इतना सब कुछ होने पर भी वह चार्वाक एक बृहस्पति नाम के अपने गुरु को मान रहा है जबकि वे गुरु भी हम और आपको इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नही हो रहे है । अत जनाचार्यों ने उस चार्वाक से यह प्रश्न किया कि भाई ! तुम किस प्रकार से वृहस्पति गरु देव का अस्तित्व मानते हो और किस प्रमाण से सवज्ञ अनुमान तक और आगम तथा आत्म तत्त्व का अभाव सिद्ध करते हो ? क्योकि तुम्हारा मान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो न बहस्पति को देख सकता है और न अनुमानादि के या सर्वज्ञ के अभाव को ही कर सकता है कारण जब वस्तु—घट एक बार प्रत्यक्ष दीखे और पुन न दीखे तब हम या आप उस घट का अभाव है ऐसा कह सकते है । अत तुम चार्वाक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से इन बातो को अभाव रूप कैसे कहोगे और अपने गरु क अस्तित्व को भी कैस मानोगे ? तब उसने कहा कि हम गुरु क अस्तित्व को तो गरु परम्परा स ही मान लेते हैं । बस ! आचाय ने कह दिया कि ऐस ही परपरा स हमारे द्वारा मान्य सवज्ञ भी आप क्यो नही मान लेते हो क्योकि हमारे यहां भी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रामाणिक मानी गयी है । दूसरी बात यह है कि आप चार्वाक अनुमान तर्क आदि प्रमाण को माने बिना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण स सवज्ञ क अभाव को कस कहेगे ? क्योकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष न देखे जा सकते हैं न जाने जा सकते हैं पुन सभी पुरुषो मे विश्व मे कोई भी

---

1 खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थं ।

[चार्वाको ब्रूतेऽहं भवद्भिर्मान्येनानुमानेन स्वप्रत्यक्षप्रमाणमन्तरेण सर्वज्ञस्य भिन्नप्रमाणानां च अभावं साधयामीति मान्यतायां जैनाः प्रतिबोधयन्ति]

[1]परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत तत [2]परस्य प्रमाणात सिद्ध प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि प्रमाणात सिद्ध नाऽनात्मसिद्ध नाम् * परस्येवात्मनोपि[3] वादिन सिद्धत्वात् [4]प्रमाणसिद्धस्य [1]सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद[5] अन्यथातिप्रसङ्गात [6]प्रत्यक्ष स्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात । ततो यत्परस्य प्रमाणात सिद्ध तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम् । यथा प्रत्यक्षम । प्रमाणसिद्ध च परस्यानुमानम ।

सर्वज्ञ नहीं है यह कहना सर्वथा असम्भव है। एव अनुमान प्रमाण स सर्वज्ञ क अभाव को कहते हुए भी आप चार्वाक अनुमान प्रमाण को मानने को तयार नही है तो शायद आप उन्मत्त पागल ही हो रहे हैं ऐसा मालूम पडता है क्योकि जिस प्रमाण स आप अपने जिस नास्तित्व सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं उस अनुमान को तो आपको पहले मानना पडगा। असत्यभाषी—झूठ व्यक्ति की साक्षी स किसी को अपराधी—झूठा साबित करना अशक्य ही है।

[चार्वाक कहता है कि हम आप लोगो के द्वारा मान्य अनमान को लेकर उसस सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के सिवाय भिन्न सभी प्रमाणो का अभाव सिद्ध कर देते हैं। इस पर जनाचार्य उस समझाते है।]

चार्वाक—आप जनादि के यहाँ जो प्रसिद्ध अनुमान है वही सर्वज्ञ और प्रमाणातरो के अभाव को ग्रहण करने वाला है।

जैन—यदि ऐसा है कि वह अनुमान प्रमाण जनादिको के यहाँ प्रसिद्ध है तो प्रश्न यह होता है कि अनुमान उनको प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? यदि प्रमाण से सिद्ध है तो वह अनात्म सिद्ध नहीं है पर के समान आप चार्वाक वादी को भी स्वय सिद्ध है क्योकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह सभी के सवाद का विषय है अर्थात उस प्रमाण से सिद्ध मे किसी को भी विसवाद नही हो सकता है। अन्यथा अति प्रसग आ जावेगा। यदि प्रमाण से सिद्ध प्रत्यक्ष भी विसवाद का विषय हो जावे तो वह अनात्म सिद्ध हो जावेगा अर्थात् आत्म सिद्ध चार्वाक के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष भी असिद्ध हो जावेगा।

इसलिए जो पर—हम जैनादिको को प्रमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी आत्मसिद्ध है। जैसे प्रत्यक्ष और पर का अनुमान प्रमाण सिद्ध है इसलि अनात्म सिद्ध नहीं है। अन्यथा—प्रमाण के बिना हम जैनादि को भी सिद्ध नहीं होगा*। क्योकि अति प्रसग ही आता है। तथाहि।

जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह पर—हम जनादिको को भी सिद्ध नही है जसे उसका अनभिमत

---

१ चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम्। २ जनादे। ३ चार्वाकस्यापि। ४ कुत ? यत। ५ यथा प्रत्यक्षम्। ६ अतिप्रसङ्ग विरुणोति। ७ आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्व घटेतेत्यर्थ ८ जैनादे।

---

(1) वादिमतिवादिनां।

तस्मात्प्रमाणात्मसिद्धम् । अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्ध्येत[3] अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि ।— यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम् । यथा तदनभिमततत्त्वम् । प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम् । [1]तन्न सिद्धं [4]स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् ।

[चार्वाक इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वत्र सर्वज्ञाभावं कथं साधयेत् ? अस्य विचारः क्रियते ।]

'तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन[6] सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[7] निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्[2] अतिप्रसङ्गादेव । स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां स्यात [10]इन्द्रियप्रत्यक्षेण

तत्त्व । और पर का अनुमान प्रमाण के बिना सिद्ध है इसलिए सिद्ध नहीं हैं अन्यथा स्वयं को अनभिमत तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् चार्वाक के लिये अनभिमत तत्त्व अनुमान और पर लोकादि हैं उनकी भी सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—यहाँ चार्वाक ने कहा कि हम स्वयं अनुमान तो मानते नहीं हैं किन्तु बौद्ध वैशेषिक आदिकों ने तो अनुमान प्रमाण माना ही है हम उन्हीं के अनुमान को उनसे लेकर शस्त्र बनाकर उन्हीं लोगों के मान्य अनुमान तक आगम आदि प्रमाणों को और सर्वज्ञ ईश्वर कपिल बुद्ध के अस्तित्व को धराशायी कर देते हैं अतः हमारे ऊपर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता है । तब जैनों ने प्रश्न किया कि भाई ! आप हम लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुमान को ही लेकर यदि सर्वज्ञ आदि का अभाव कर रहे हो तब यह तो बताओ कि वह अनुमान हम और आप लोगों को प्रमाणीक है या नहीं ? यदि प्रमाणीक है तब तो प्रमाणीक वस्तु जैसे हमें प्रमाणीक है वैसे तुम्हें भी उसे प्रमाणीक ही मानना पड़ेगा क्योंकि मिश्री को मिश्री अमृत को अमृत जैसे हम कहते हैं वैसे ही आप भी तो कहते हैं और आपको भी उसका मधुर ही स्वाद आता है । यदि आप कहें कि वह अनुमान प्रमाण के बिना ही सिद्ध है अर्थात् अप्रमाणीक है तब तो हम लोग भी उसे प्रमाण की कोटि में कैसे रखेंगे और आप हमारे द्वारा मान्य समझ कर उसे लेकर उसी से सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेंगे ? अतः भाई ! यदि आप स्वयं अनुमान को स्वीकार न करते हुए भी उस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव करते हैं तब तो आपको परलोक आत्मतत्त्व सर्वज्ञ आदि भी यद्यपि इष्ट नहीं है तो भी अनुमान के समान इन्हें भी मान लेना चाहिए पुनः आप नास्तिकवादी नहीं रहेंगे आस्तिकवादी ही बन जावेंगे ।

[चार्वाक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सभी जगह सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है]

इस प्रकार से ये चार्वाक स्वयं एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सभी पुरुष समूह को सर्वज्ञ रहित समझते हुए—जानते हुए ही अपना—इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाणवादी के स्वरूप का ही निरसन कर देते

---

१ प्रमाणमन्तरेण २ जनस्य । ३ अन्यथा । ४ चार्वाकेणानभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । ५ चार्वाकाः । ६ इन्द्रियप्रत्यक्षेण । ७ इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् । ८ स्वयमस्वीकृतमनभिमतं वा । ९ चार्वाकाणाम् । १० अन्यथा ।

---

(1) तस्मात् । (2) विरुद्ध ।

सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य [1]संवेदनानुपपत्ते [2]प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण । इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभाव प्रत्यक्षत सविदन् स्वय सर्वज्ञ स्यात् । तथा सति व्याहतमेतत् [3]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचन चार्वाकस्य । प्रत्यक्षैकप्रमाणवचन[4] वा व्याहत-

---

है इसलिए यह सिद्धान्त विरुद्ध ही है * एव अति प्रसग दोष आ जाता है । क्योंकि स्वयं अनिष्ट अस्वीकृत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही पुन आप चार्वाक लोगो को हो जावेगा ।

अन्यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष सवज्ञ रहित हैं यह ज्ञान हो नही सकता है जैसे प्रमाणातर-तर्क अनुमान आगम आदि के बिना प्रमाणातर के अभाव का भी ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो नही सकता है ।

इस प्रकार स सवत्र—सभी जगह सवदा—सभी काल मे सभी के सर्वज्ञपने के अभाव को प्रत्यक्ष से जानते हुए वे चार्वाक स्वय ही सवज्ञ हो जावेंग । पुन ऐसा होने पर सर्वज्ञ और भिन्न प्रमाणो के अभाव को कहने वाले आप चार्वाक के वचन विरुद्ध ही हो जाते है ।

भावार्थ—जैनाचाय चार्वाक से प्रश्न करते हैं कि—आप चार्वाक महोदय ! सारे विश्व के सभी पुरुषो को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ रहित सिद्ध करते है या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो आप मानते ही नहीं । एव इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो आप और हम सभी का इन्द्रिय प्रत्यक्ष विश्व क सभी पुरुषो को देखने मे समथ ही नही है और यदि जबरदस्ती समथ मानो तब तो पहले आप अपने प्रत्यक्ष स सारे विश्व क कोने-कोने को देखकर सारे पुरुषो क ज्ञान को प्रत्यक्ष करक आवो और निणय देवो कि यहां विश्व भर मे कही पर कोई भी सर्वज्ञ नही है । और तब सारे विश्व को देख लेने स एव जान लेने स आप ही तो सर्वज्ञ बन गये पुन आप सवज्ञ का अभाव कसे कह रहे हैं । अपने आप अपने अस्तित्व को समाप्त करना अपने आप अपने पर पर कुल्हाडी मारना तो आपको उचित नहीं है । इसी प्रकार से आपका इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान आगम तक परलोकादि को भी नही जान सकता है पुन उन सबको जाने बिना उनका अभाव भी कसे कर सकगा ? यदि आप कहे कि जो वस्तु प्रत्यक्ष गम्य नहीं है उसी का हम अभाव करते हैं तब तो आपक दादा पडदादा आदि पुराने पुरुष (पुरखाजन) दिखते तो हैं नहीं उनका भी अभाव मानना पडगा । और बाप दादा की परपरा माने बिना आप की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी ? अत सवज्ञ भगवान अनुमान तक आगम आदि प्रमाण एव परलोकादि का अस्तित्व आपको प्रेम से मान लेना चाहिये और अपनी एव सभी की आत्मा क अस्तित्व को भी मान लेना चाहिये । बस ! आप आस्तिक्यवादी बन जावेंगे झगडा समाप्त हो जावेगा ।

अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसी इच्छा भी आपकी विरुद्ध ही है क्योंकि देश कालवर्ती

---

1 संवेदनं ज्ञानम् । 2 अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा । 3 तर्हि । 4 वाक्यम् ।

[illegible] देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसंगात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्ते[1], परस्य[2] प्रसिद्ध-नानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने [1]स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्। अन्यथा[3] परस्यापि तदप्रसिद्धेः, कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न [2]पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात ?

नरान्तर-भिन्न देश कालवर्ती मनुष्यों क प्रत्यक्ष को स्वयं प्रत्यक्ष से प्रमाणभूत सिद्ध करने पर सभी को साक्षात्कार करने का प्रसंग आ ही जाता है। संवादक आदि हेतु से उत्पन्न अनुमान से उनको सिद्ध करने पर अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का प्रसग आ जाता है।

हम जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध अनुमान से उनको प्रमाण व्यवस्थापित करने मे आप चार्वाक भी अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का निवारण नही कर सकते हैं अन्यथा हम जनादिको क यहाँ भी उसकी प्रसिद्धि न होने से प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है किंतु अन्य कोई प्रमाण नही है यह व्यवस्था भी कैसे हो सकगी ? अर्थात् कुछ भी व्यवस्था नहीं बनेगी।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा कथन है कि कोई तीर्थंकर प्रमाण नही है न कोई आगम है न वेद है अथवा न कोई तक अनुमान आदि ही प्रमाण हैं। बस ! एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है कहा भी है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

अतः एक देवता रूप बृहस्पति-गुरु ही प्रमाणभूत हैं क्योंकि वही प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है।

जैन—आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है क्योंकि आपका प्रत्यक्ष सवज्ञ के अभाव को तथा अन्य आगम अनुमान आदि के अभाव को सिद्ध नही कर सकता है। तथा आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानत हैं अत आपके यहाँ स्वपर को ग्रहण करने वाला बृहस्पति-गुरू का ज्ञान प्रत्यक्ष है इसमे क्या प्रमाण है ? यदि आप कहो कि यह गुरू परपरा से सिद्ध है तो हमारा भी सिद्धात गुरू परंपरा से सिद्ध है क्या बाधा है ? तथा अनुमान को तो आपने माना ही नहीं है जो कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सके। आप कहे कि जैनादिको के प्रसिद्ध अनुमान से हम सवज्ञादि का अभाव करेंगे तो यह बताओ कि प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण से असिद्ध ?

यदि प्रथम पक्ष लेओ तो सभी क सद्भाव का विषय होगा क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है अत आप चार्वाक को भी प्रमाण मानना होगा। हम जैनादिकों की प्रमाण से सिद्ध आप चार्वाक को भी प्रमाणीक मानना होगा। यदि प्रमाण से असिद्ध कहो तो हम जैनादिकों को भी सिद्ध नही रहा। तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं यह ज्ञान तो हो नहीं सकता यदि आप चार्वाक 'सवत्र सभी काल में कोई

१ [illegible]। २ चार्वाकस्यापि। ३ (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धे अनुमाने सति जैनादेरपि। तत्प्रसिद्धिर्न स्यात तत)।

(1) प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी [illegible]। (2) अतीन्द्रियप्रत्यक्षानुमानादिकं।

[1]तथैवास्माकमदोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टि: । एके हि तत्त्वोपप्लववादिन सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्व [2]चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषा प्रमाणरहितैव तथेष्टि: [3]सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न[2] विशिष्यते[4] । न[5] खलु प्रत्यक्ष [1]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम् अति प्रसंगात् । नानुमानम् असिद्धे । [6]सर्व हि [8]प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्ष[7] च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषा । तेषामभाव [5]स्वयम सिद्ध प्रत्यक्षमनुमान वा कथ व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विषय स्यात् ? तथा[4] सति सर्व प्रमाण

पुरुष सर्वज्ञ नही हैं ऐसा कहेंगे तो आप स्वय ही सभी देश काल और पुरुष को जानने वाले होने स सर्वज्ञ हो गये क्योंकि 'सर्व जानातीति सर्वज्ञ' अतएव आप चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकते है ।

[तत्त्वोपप्लववादी का खडन]

जो शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि ऐसा ही हमे इष्ट है अर्थात् हम कुछ भी प्रमाणादि नहीं मानते हैं इसीलिये कोई दोष नहीं है यह उनकी मा यता भी अप्रमाणीक ही है ।*

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व उपप्लुत—अभाव रूप ही है एसा हम स्वीकार करते हैं ।

जैन—आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है । सभी तत्त्व उपप्लुत है इस प्रकार की मान्यता सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही है इस मा यता स विशिष्ट भि न नही है । जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का सभी तत्त्व उपप्लुत ही हैं यह तत्त्व वचन मात्र से सिद्ध है उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जनादिको का सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही है यह तत्त्व भी वचन मात्र से सिद्ध ही है क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणता दोनो जगह समान ही है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्वज्ञ और प्रमाणातर के अभाव को विषय नही करता है अ यथा अति प्रसग आ जावेगा ।

अनुमान भी विषय नही करता क्योंकि वह असिद्ध है । सभी—प्रत्यक्ष अनुमेय और अत्यत परोक्ष वस्तु को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ अर्थात् भिन्न प्रमाण कहलाते है वे प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण विशेष हैं मतलब प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण विषय करता है अनुमेय को अनुमान एव अत्यत

१ एके अन्यमिच्छन्तीत्येकेषस्तेषामेकेषाम् (साख्याभिप्रायेण जनो ब्रूते) । २ इत्यपि वक्तु शक्यत्वान्न विशिष्यते । यथा हि तत्त्वोपप्लववादिना सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनमात्रात् सिद्ध तथा येषामतत्त्वोपप्लववादिना सर्वमनुपप्लुतमेवत्यपि वचनमात्रात् सिद्ध भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात् । ३ सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभाव । ४ प्रत्यक्षविषयम् । ५ (स्वयमसिद्ध प्रत्यक्षमनुमान वेति कर्तृ पदम्) । ६ (अतिप्रसङ्गादिति) भाष्यपद व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति ।

(1) प्रत्यक्षानुमानयोर्निराकरणेन । (2) बाधित । (3) सांख्याभ्युपगत । (4) यत । इत्यपि वक्तु शक्यत्वात् । (5) तत्त्वोपप्लववादिन प्रति वदति तव सर्व शून्यं केन प्रमाणेन सिद्ध न तावत प्रत्यक्षात् नाप्यनुमानात्तयोरनगीकारात् । (6) प्रत्यक्षानुमानयोरसिद्धावपि किमिति सर्वज्ञप्रमाणांतराभावविषयत्वेत्याह । देशकालनरांतर । (7) स्वर्गादि ।

सर्वस्य[1] स्वेष्टतत्त्वविषय[2] भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लव ?

[प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन सर्वस्य तत्त्वस्याभाव करोति तत्त्वोपप्लववादी तस्य निराकरण]

[3]परस्य सिद्ध प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्[4] तत [5]परस्य प्रमाणात सिद्ध प्रमाण-

---

परोक्ष को आगम प्रमाण विषय करता है अत ये तीनो प्रमाण सवज्ञ कहलाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रत्यक्षभूत विषय को पूर्णतया जानता है अनुमान प्रमाण अपने अनुमेय विषय को पूर्णतया विषय करता है एव आगम प्रमाण अत्यत परोक्ष श्रतज्ञान के विषय को पूर्णतया विषय करता है। अपने अपने विषय मे ये पर्णतया ज्ञान कर लेते हैं अतएव ये तीनों प्रमाण यहाँ सवज्ञ कह दिये गये हैं। सव हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यतपरोक्ष च वस्तु जान तीति सर्वज्ञानि प्रमाणा तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषा'।

आप श यवादियो के यहाँ स्वय ही असिद्ध प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण इन तीनो प्रमाणों के अभाव को कसे व्यवस्थापित करगे कि जिससे वे उस अभाव को विषय कर सक ? अर्थात नहीं कर सकते हैं। मतलब कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नही कर सकता है तब वह प्रमाण तत्त्वो के अभाव को कसे कर सकेगा ?

इस प्रकार से मानने पर सभी प्रमाण सभी जनादि के अपने अपने इष्ट तत्त्व को विषय करने वाले हो जावगे पुन तत्त्व का उपप्लव कसे हो सकेगा ?

विशेषार्थ—इस अष्टसहस्री ग्रथ मे आचाय श्री विद्यानन्द महोदय ने तत्त्वोपप्लववादी का खडन विशेष रूप मे किया है। इसी प्रकार इ होने श्री श्लोकवार्तिक ग्र थ मे भी इसका खडन किया है। स्थूल रूप से तो शू यवाद और तत्त्वोपप्लववाद समान ही मालूम पडते हैं किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनो मे कुछ अतर झलकता है। इसी बात को स्वय विद्यान द स्वामी ने श्लोकवार्तिक मे प्रकट किया है। यथा—पदार्थों को सवथा नही मानना विचार क पीछे पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है और विचार से पहले व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर प्रमाण प्रमेय आदि सभी पदार्थों को स्वीकार न करना तत्त्वोपप्लववाद है।

यह तत्त्वोपप्लववादी स्वय स्वसवेदन को भी प्रमाण स्वरूप स इष्ट होने का निर्णय नही करता है तत्त्वो का समूल चूल अभाव कहने वाला उपप्लववादी एक तत्त्व को भी इष्ट नही करता है। केवल दूसरो के माने हुए तत्त्वो मे कुप्रश्न उठाकर उनके खडन करने मे ही तत्पर रहता है। स्वय अपनी गाठ का मत कुछ भी नही रखता है।

इस पर जनाचार्य कहते है कि अपने प्रमाण का कुछ भी निणय किये बिना दूसरे वादियो के तत्त्वों का खडन करने के लिये केवल प्रश्नो की भरमार या आक्षप उठाना भी तो नही बन सकेगा। जिसके यहाँ स्वय कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नही किया गया है उसको कही भी सशय करना नही बन सकता है। भू भवन मे जन्म लेकर वही पाला गया मनुष्य तो ठू ठ या पुरुष का अथवा चादी या सीप का सशय नहीं कर पाता है।

---

१ जैनादेः। २ स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम्। ३ आह तत्त्वोपप्लववादी। ४ जैन। ५ जैनस्य।

मन्तरेण वा ? यदि प्रमाणत सिद्ध नानात्मसिद्ध नाम प्रमाणसिद्धस्य नानात्मना वादिप्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्धयेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेषात । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिन स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं[3] सर्वं पुरुषसमूह सविदन्त एवात्मानं[4] निरस्यन्तीति [2]व्याहतमेतत्—तथा[4] तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादिनं दूषयति]

[5]ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि[6] प्रमाणतत्त्व च प्रमेयतत्त्व प्रमाणत सिद्धयेत प्रमाण

[तत्त्वोपप्लववादी जैनादिको के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्ही के तत्त्वो का अभाव सिद्ध कर रहा है उसका निराकरण]

तत्त्वोपप्लववादी—पर—जैनादि के यहाँ सिद्ध प्रमाण स हम उन सभी वस्तुओ के अभाव को विषय कर लेंगे ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहा सिद्ध प्रमाण प्रमाण स सिद्ध हैं या प्रमाण के बिना ही सिद्ध हैं ?

यदि प्रमाण स सिद्ध हैं तब तो नाना आत्माओ को सिद्ध हैं क्योकि जो प्रमाण स सिद्ध है वह नाना आत्माओ को-वादी प्रतिवादी सभी को ही सिद्ध है कोई अंतर नही है । नानात्म शब्द स सभी जनों को एसा अथ कर सकते हैं अथवा अनात्म सिद्ध नही है मतलब सभी आत्माओ को सिद्ध है । अन्यथा यदि कहो प्रमाण बिना प्रमाण के ही सिद्ध है तब तो वह जन के यहाँ भी सिद्ध नही होगा क्योंकि जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह असिद्ध के समान ही हैं । उस जनादि भी कस मानगे ?

इस प्रकार स आप तत्त्वोपप्लववादी स्वयं किसी भी एक प्रमाण स अथवा स्व प्रसिद्धि मात्र स सकल तत्त्वों को बतलाने– जानने वाले प्रमाणो स रहित सभी पुरुषो क समूह को जानते हुए स्वय अपने आपका ही खडन कर देते हैं इसलिये यह कथन व्याहत—विरुद्ध ही है । अर्थात सभी पुरुषो का समुदाय सभी तत्त्वो के ग्राहक प्रमाण स रहित है इस प्रकार स जिसके द्वारा जान लिया गया वही तो प्रमाण है अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है ।

और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर तब तो तत्त्वोपप्लववादी ही नहीं रहेंगे, किन्तु प्रमाण को मान लेने स आस्तिकवादी ही हो जावगे ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादियो को दोष दे रहे हैं]

तत्त्वोपप्लववादी—अनुपप्लुत तत्त्ववादी आप जैनादिको का भी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व

---

१ इत्यर्थे प्रमाणमन्तरेणसिद्धं चेत । २ जैनस्य । ३ पुरुषसमूह सकलतत्त्वविरहित इत्येव येनावबुद्ध तदेव प्रमाणम् एव एवात्मान निरस्यन्तीति । ४ प्रमाणाङ्गीकारे । ५ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ६ जैनादे । ७ "प्रमाणतत्त्व प्रमेयतत्त्व" इति पाठान्तरम् ।

---

(1) चेत । (2) विरुद्ध ।

मन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरात् सिद्ध्येदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्व व्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य [2]व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेत-रेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था । [3]स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेन्न— सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव । [4]परस्पर विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादि-तत्त्वं यदि सिद्ध्येत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्तुम । 'स्यान्मतम' ।

प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? यदि कहो कि प्रमाण से सिद्ध है तब तो वह प्रमाण भी प्रमाणांतर से सिद्ध होगा इस प्रकार से अनवस्था के आ जाने से प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहे कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक होगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम की व्यवस्था कर देगा तब तो इतरेतराश्रय दोष आ जाने से एक की भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात प्रमाण ज्ञान सच्चा है इसको बतलाने वाला दूसरा प्रमाण आया और वह दूसरा भी सच्चा है इस बात को बतलाने वाला तीसरा इत्यादि से अनवस्था होती है और यदि दूसरे ने पहले को सच्चा सिद्ध किया एवं दूसरे को पहले ने सच्चा कहा तब तो भाई ! दोनो मित्र एक दूसरे को सच्चा कह रहे है किन्तु ये दोनो सच बोलते है यह बात हम कैसे मान लेवे ? यदि आप कहे कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही व्यवस्थित है अतः कोई दोष नही है किन्तु आप ऐसा भी नही कहना अन्यथा सभी प्रवादियों को भी विसंवाद का अभाव हो जावेगा अर्थात सभी के सभी इष्ट तत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जावेगे ।

यदि आप कहे कि किसी एक प्रमाण से उस विसंवाद को दूर करेंगे तो वहां भी प्रमाणांतर से विसंवाद को दूर करने के लिये भी प्रमाण चाहिए इस तरह से अनवस्था का प्रसार बिना रोक टोक के ही हो जाता है ।

एवं प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का प्रथम प्रमाण से विसंवाद दूर करना मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसका निवारण भी आप नही कर सकते हैं ।

और यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण के बिना प्रमाणादि तत्त्व सिद्ध होते हैं तब तो तत्त्वो पप्लव की व्यवस्था का निराकरण करना भी शक्य नही है वह प्रमाण के बिना सिद्ध है ऐसा हम मानते हैं ।

१ (जैनपक्षमनुमन्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्मेत्यनेन खण्डयति) । २ प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते । ३ जैनादे. ।

(4) परः मीमांसकादीनामभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

"[1]विचारोत्तरकाल प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थिति । विचारस्तु [1]यथाकथञ्चित्क्रियमाणो नोपा-लम्भार्ह —सर्वथा[3] वचनाभावप्रसङ्गात इति । [4]एव तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारा दुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात् ।

[तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादिनां प्रमाणतत्त्व दूषयति]

एवं च[1] तत्र [2]प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते[5] । —कथ प्रमाणस्य प्रामाण्यम ? [6]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्त्वेन प्रवत्तिसामर्थ्येनान्यथा[9] वा ?

[प्रथमस्य निर्दोषकारणजन्यत्व हेतोर्निराकरण]

[1]यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सर्व कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते ? न

यदि आप जन ऐसा कहे कि विचार के अनन्तर—उत्तरकाल मे प्रमाणादि तत्त्व की व्यवस्था है और यथा कथचित प्रमाण से अथवा प्रमाण के बिना हम लोगो के द्वारा स्वीकृत तत्त्व व्यवस्था उलाहना के योग्य नही है। अन्यथा सवथा वचनो के अभाव का ही प्रसग आ जावेगा। ऐसा कहने पर तो हम तत्त्वोपप्लववादी जनो के यहा भी विचार से उत्तरकाल मे तत्त्वोपप्लव व्यवस्था उसी प्रकार से हो जावे सर्वथा दोनों मे कोई अतर नही है। अर्थात जब हम विचार करते है तब प्रमाणादि तत्त्व हमे दिखाई देने लगते हैं एसा जनादिका की तरफ स्वय तत्त्वोपप्लववादी ने समाधान किया है और पुन उसमे दोषारोपण करने लगा कि इस प्रकार से तो हमारे यहाँ भी विचार करने क अनन्तर तत्त्वो का अभाव दिख रहा है उसे ही मान लीजिय क्या बाधा है ?

[अब तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्य वादियो के प्रमाण तत्त्व को दूषित करन की चेष्टा करता है]

तत्त्वोपप्लववादी— इस प्रकार से अब आपके प्रमाण तत्त्व का विचार किया जाता है। हम आप जैन लोगों से प्रश्न करते है कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे सिद्ध है ? अदुष्टकारक सदोह के द्वारा उत्पन्न होने से बाधा रहित होने से प्रवत्ति की सामर्थ्य से अन्यथा और किसी प्रकार से ?

[निर्दोष कारणजन्यत्व हेतु का खण्डन]

यदि निर्दोष चक्षु आदि की निमलता आदि कारक समूह के द्वारा प्रमाण मे प्रमाणता उत्पन्न होती है एसा आप कहो तब तो आपने उन कारको की निर्दोषता कमे जानी है प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

प्रत्यक्ष से तो आप कह नही सकते क्योकि नेत्रो की निमनतादि ज्ञान के कारण अतीन्द्रिय हैं। वह

१ प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा। २ जनादिकृत । ३ अन्यथा। ४ तत्त्वोपप्लववादी। ५ प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु। ६ अदोष चक्षुरादिनमल्यम्। ७ एतत्पर्यन्त विकल्पद्वयमिद मीमांसकापेक्षया। ८ अयं तृतीयविकल्पो नयायिकमतापेक्षया। ९ अन्यथा—अविसंवादकत्वेनेत्यय चतुर्थो विकल्प सौगतमतापेक्षया। १ तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैन आह।

(1) न प्रमाणतत्त्वं इति पा। (2) न प्रमेयतत्त्व।

तावत्प्रत्यक्षात्मयन्[1] कुशलादे[1] संवेदनकारकस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायां प्रत्यक्षीकर्तु मशक्ते । नानुमानात् [2]तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । विज्ञानं[2] तत्कार्यं लिङ्गमिति चेन्न[3] [3]विज्ञान-

प्रत्यक्ष ज्ञान उनकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष करने मे असमर्थ है। अनुमान से भी वह निर्दोषता ग्रहण नही की जाती है क्योंकि उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है अर्थात् इंद्रियों से जिसे देख नही सकते उसका इसके साथ सम्बन्ध है इत्यादि कैसे निर्णय करेंगे और हेतु किसे बनायेंगे ?

विशेषार्थ—तत्त्वोपप्लववादी स्वय कुछ तो मानता नही है फिर भी बैठे बैठे जैन मीमासक आदि तत्त्ववादियो से कुतर्क कर रहा है। इसी बात को श्लोकवार्तिक ग्रथ मे श्री विद्यानन्द स्वामी ने अच्छी तरह से बतलाया है। यथा— कथमव्यभिचारित्व वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगा संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात् किमयं स्थाणु किं वा पुरुष इत्यादे पर्यनुयोगवत् । संशयश्च तत्र कदाचित् क्वचिन्निर्णयपूर्वक स्थाण्वादिसंशयवत् । तत्र यस्य क्वचित् कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वक संशय तदभावे कुत पर्यनुयोगा प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पते सूत्राणि स्यु ।

उपप्लववादी जन अंतरग बहिरंग प्रमाण प्रमेयतत्त्वो को मानने वाले जैन मीमासक नैयायिक आदि के प्रति उपाय उपेयतत्त्वो का खंडन करने के लिए इस प्रकार से कुप्रश्न उठाते है कि आप जैनादि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञान से भिन्न सच्चे) ज्ञान को प्रमाण मानते है। पुन यह बतलाइये कि इस ज्ञान की सचाई का निर्णय आप लोग कैसे करते है ? क्या निर्दोष कारणो के समुदाय से ज्ञान बनाया गया है इस कारण प्रमाण है या बाधाओ से रहित है अत प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने उसमे प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेय रूप फल को प्राप्त करे या उस ज्ञान का सहायक दूसरा ज्ञान पैदा कर ले इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से वह ज्ञान प्रमाण है ? अथवा दूसरे प्रकारो से अविसंवादी आदि रूप से वह प्रमाण है ? आखिर प्रमाण की प्रमाणता का निश्चय आप लोग इन चार कारणो के सिवा तो कर नही सकते हैं अत बतलाइये क्या बात है ?

इन चार प्रश्नो मे प्रथम के दो प्रश्न तो मीमासक के प्रति हैं क्योंकि मीमासक ही इन दो बातो से प्रमाण की प्रमाणता मानता है अत इसी मीमासक और उपप्लववादी के कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे।

१ कौशल्य नैर्मल्यम् । २ मीमांसक । ३ तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जन प्राह ।

(1) भावेन्द्रियरूप । द्र द्र । पुण्यादे । (2) अदुष्टकारक । (3) शुक्तिकायां रजतज्ञान कार्यलिङ्ग कारणादुष्टतां साधयतीति व्यभिचार ।

तीसरा प्रश्न नैयायिकों की मान्यता को लक्ष्य में रख कर किया गया है। एवं चौथा प्रश्न बौद्धों पर लागू हो जाता है। क्रमशः इन सभी पर विचार विमर्श करके उत्तर देने वाले ये लोग स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। उपप्लववादी सभी की बात को समाप्त कर देता है। तब जैनाचार्य इन चारों प्रश्नों को महत्त्व न देकर अपना पक्ष रख देते हैं। खैर! यहाँ पर तो आचार्य मुख्य रूप से इसी बात को बता रहे हैं कि आप उपप्लववादी के ये सभी प्रश्न उठाना संशय पूर्वक ही हो सकते हैं क्योंकि संशय के बिना ये प्रश्न उठाना ही असंभव है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष? और जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसी को संशय होता है उस पदार्थ में पहले कभी न कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य ही कर लिया गया है। जिस मनुष्य ने कहीं भी स्थाणु और पुरुष का ठीक ठीक पूर्व में निश्चय कर लिया है वही मनुष्य कदाचित् सायंकाल के समय दूसरे ठूंठ को देखकर उसमें मनुष्य की ऊंचाई आदि के साधारण धर्मों को देखकर और विशेष धर्मों को न देखकर प्रत्युत स्मरण करके संशय कर लेता है। मतलब यह है कि जिसको कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसी का पहले निर्णय अवश्य होना चाहिये और आप शून्यवादी या उपप्लववादी तो कुछ भी प्रमाण आदि का निर्णय ही नहीं मान रहे हैं पुनः यह प्रमाण निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है या बाधा रहित है इत्यादि रूप से हम लोगों के प्रति आपको संशय उठाने का भी क्या अधिकार है? मतलब पूर्व में अपने कुछ तत्त्व या निर्णय को माने बिना आप संशय भी नहीं कर सकते हैं। बस! इतना ही कहते चलिये कि प्रमाण नहीं है प्रमाण नहीं है इत्यादि।

इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के इष्ट किये गये प्रमाण प्रमेय को खंडन करने के लिये बृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के ऊपर कुप्रश्न करने के लिये तत्पर नहीं हो सकते हैं। यहाँ संभवतः बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का पोषण करके पीछे से सर्व तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार किया है ऐसा मालूम पड़ता है एवं जब प्रमाण प्रमेयतत्त्व प्रश्न करना संशय करना आदि व्यवस्थायें आपके यहाँ असंभव हैं तब तो यों ही पोल चलती आवेगी सभी लोग अपने अपने मतों को पुष्ट करते हुये मनमानी करते रहेंगे। पुनः आप यह भी नहीं कह सकेंगे कि सारा जगत् शून्य रूप है और देखिये!

शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥ १४७ ॥
शून्यातायां हि शून्यत्वं जातुचिन्नोपगम्यते।
तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽप्यीतरत्र तत ॥ १४७ ॥ [श्लोकवार्तिक]

अर्थ—शून्यवाद और उपप्लववाद का सिद्ध करना बिना अनेकांत के नहीं हो सकता है क्योंकि स्वयं के शून्यवाद का समर्थन और अशून्यवाद—आस्तिकवाद का खंडन तो आप करेंगे ही करेंगे। बस! स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूषण यही तो अनेकांत है और अनेकांत है क्या? दूसरी बात और है कि आप अपने शून्य तत्त्व को अशून्य—सच्चा मानेंगे ही नहीं अन्यथा शून्य का शून्य होकर तो क्या बचेगा? सोचिये!

सामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्[1]। [2]प्रमाणभूत [1]विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् [3]कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसाय ? [2]तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत् सोयम् यो ग्राश्रय । सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति । [4]किञ्च

भाई ! यदि आप शून्यवाद को अशून्य न कहकर शून्य कह देंगे तब तो सभी तत्त्व व्यवस्था सच्ची हो जावेगी ।

और शून्यवाद को अशून्य कहेंगे तो अनेकांत होकर भी कुछ तत्त्व व्यवस्था बन जाने से सर्वथा शून्यवाद नहीं रहेगा । वैसे ही उपप्लव को उपप्लव रहित मानने से ही आपकी इष्ट सिद्धि होगी अन्यथा उपप्लववाद का प्रलय होकर सभी तत्त्व सच्चे सिद्ध हो जावेंगे ।

देखिये ! यदि झूठ बोलना झूठ सिद्ध हो जावे तो सत्यता का निर्णय हो जाता है । शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही सिद्ध होता है । निष्कर्ष यह निकलता है कि इस उपप्लववादी का कर्त्तव्य जैन मीमांसक आदिकों से प्रश्न करने का नहीं था फिर भी वह कर रहा है क्योंकि 'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' इस लोकोक्ति के अनुसार वह धृष्ट है । अच्छा ! अब प्रश्नोत्तर के ढंग को पढ़ते चलिये ।

मीमांसक—विज्ञान उसका कार्य है वही हेतु है । बस ! हेतु से अनुमान बन जावेगा और अनुमान से हम कारणों की निर्दोषता जान लेते हैं ।

तत्त्वोपप्लववादी—नहीं ! विज्ञान सामान्य उससे अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् शुक्तिका में रजत—ज्ञान कार्य लिंग है वह कारण के दोष को सिद्ध करता है अतः व्यभिचारी है क्योंकि जो विज्ञान सामान्य है वह दुष्टता—सदोष ज्ञान में भी पाया जाता है ।

मीमांसक—प्रमाणभूत विज्ञान उसका हेतु है सदोष ज्ञान नहीं ।

तत्त्वोपप्लववादी—वह विज्ञान प्रमाणभूत है यह निश्चय किससे होगा ? यदि कहो निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से यह विज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है । विज्ञान के प्रमाणभूत सिद्ध हो जाने पर यह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है यह बात सिद्ध होगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति की सिद्धि होने पर ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध होगा । मतलब एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे ।

दूसरी बात यह है कि चक्षु आदि कारणों को गुण और दोषों का आश्रय स्वीकार करने पर उससे

---

१ शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्तते । २ मीमांसक । ३ तत्त्वोपप्लववादी । ४ दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह ।

---

(1) विशेषः । (2) अदुष्टकारककारब्धत्वात् इति पा ।

चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे[1] तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव[2] तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने [1]दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुरुषोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः[2] किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन[3]? अथ[4] पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयं, परचेतोवृत्तीनां[5]दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात् निर्गुणस्यापि गुणवत इव[3] व्यापारादिसंभवादुपवर्ण्यते तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः

उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका निवृत्त नहीं हो सकेगी जैसे गुण और दोष के आश्रित पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुये ज्ञान में शंका की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् किसी पुरुष में गुण और दोष दोनों ही हैं पुनः उसके वचन निर्दोष हैं यह बात कैसे बनेगी ? उसके वचनों में दोषों की शंका बनी ही रहेगी।

यदि आप चक्षु आदि में गुणों का ही निश्चय मानोगे तो उससे उत्पन्न हुये विज्ञान में दोष की आशंका निकल जावेगी और तब किसी पुरुष के भी गुणों का आश्रय निश्चित होने पर उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका नहीं रहेगी पुनः आप मीमांसक को अपौरुषेय शब्द—वेद के समर्थन के प्रयास से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

मीमांसक—पुरुष को गुणों का आधार निश्चित करना अशक्य है पर के मन की प्रवृत्तियों को जानना बहुत ही कठिन है उनके कार्य तथा व्यापारादि में संकर देखा जाता है। निर्गुणी में भी गुणवानों के समान व्यापारादि संभव हैं ऐसा कहा जाता है। अर्थात् पुरुष गुणों का आधार है उसमें गुण ही पाये जाते हैं यह कहना ठीक नहीं है। किसी निर्दोष पुरुष के व्यवहार सदोष पुरुष के समान दिख जाते हैं और किसी सदोष पुरुष के भी व्यवहार निर्दोष पुरुष के समान दिखते हैं पुनः पुरुष का भी गुणों निश्चित करना असंभव ही है।

अन्यवादी (तत्त्वोपप्लववादी)—तब तो चक्षु आदि भी अतींद्रिय हैं। उनके भी कार्य में संकर दोष उपलब्ध होने से चक्षु आदि इंद्रियों में गुणों के आश्रितत्त्व नियम का निश्चय करना कैसे शक्य होगा ? किसी अपौरुषेय भी ग्रहोपरागादि को शुक्ल वस्त्रादि में पीत ज्ञान का हेतु मानना उपलक्षण है। अपौरुषेय वेद में भी मिथ्या ज्ञानत्व हेतु की संभावना करने पर आप याज्ञिक—मीमांसकों को उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय निःशंक रूप से कैसे होगा ? इसलिये निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से किसी प्रमाण को प्रमाणता है यह कहना शक्य नहीं है अर्थात् यदि आप ऐसा कहें कि वेद अपौरुषेय हैं

१ अङ्गीकृते। २ भो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव। ३ मीमांसकस्य। ४ मीमांसकः। ५ दुरधिगमत्वात्। ६ कुतः ? यतः। ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ चक्षुरादीनाम्।

(1) अवधीक्रियमाणायां सत्यां। (2) हेतोः। (3) व्याहारः।

शक्य कर्तुम ? ¹कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादे[1] शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुप-लम्भात्¹ ²दस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनाया कथमिव[3] नि शङ्क याज्ञिकानां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चय ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता ।

अत प्रमाण हैं तब तो ग्रहोपरागादि (चद्रमा के परिवेष आदि) भी बिना पुरुष कृत अपौरुषय ही हैं किंतु उन उपरागादि के निमित्त मे श्वेतवस्त्रादि में पीत का ज्ञान हो जाता है अत अपौरुषयवेद मे भी मिथ्या ज्ञान की सभावना हो सकती है ।

विशेषार्थ—मीमाँसक ज्ञान की प्रमाणता—सचाई का निणय कई कारणो से मानता है। निर्दोष कारणो से उत्पन्न होना और बाधा का न होना। यहाँ पर इन दो बातों पर तत्त्वोपप्लववादी ने बडी आपत्ति उठाई है। श्लोकवार्तिकालंकार मे भी ग्रथकार ने इसी विषय में स्पष्टीकरण किया है। तथाहि—

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम ।
प्रमाणस्य न साफल्य प्रयात्यव्यभिचारत ।।७७।।

मीमांसक—मीमासक ने प्रमाण के लक्षण मे निर्दोष कारणो से उत्पन्न होना यह विशेषण दिया है वह विशेषण उसके प्रमाण को निर्दोष सिद्ध करने मे सफल नही हो सकता है। जो ज्ञान दुष्ट कारणो से उत्पन्न होता है उसके द्वारा स्व और अथ का निणय होना ही असभव है अत विद्यानदस्वामी प्रमाण का लक्षण स्वार्थव्यवसायात्मक स्व अथ का निश्चायक इतना ही पर्याप्त मानते हैं किन्तु मीमासको का कथन है कि—

तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मतम् ।।

अर्थात—जो अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने वाला है निश्चित है बाधा से रहित है निर्दोष कारणो से जन्य है और लोक सम्मत है वही प्रमाण है।

इस प्रकार की मान्यता के कहने पर तो श्री विद्यानंद स्वामी स्वय श्लोकवार्तिक मे इन सभी विशेषणो को सदोष सिद्ध करते हुये अपने सम्यग्ज्ञान के लक्षण को निर्दोष सिद्ध करते हैं।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञान मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वाद व्यर्थमन्यद विशेषणम ।।७८।।
गृहीतमगृहीत वा स्वार्थ यदि व्यवस्यति
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ।।७९।।

अर्थ—स्व और अर्थ को निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार से इतने ही लक्षण से सभी

---

१ अपौरुषेयत्वाददुष्टकारण वेदवाक्यम् । ²तस्तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्याशंकायामाह ।

---

(1) विग्रहो इति पा । विग्रहो—युद्ध उपरागो—ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ पूष्णि च च । (2) प्रतीते । (3) वाक्यालंकारे ।

प्रतीयमान सिद्ध हो जाते हैं। अन्य—सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना बाधा से रहित होना लोक सम्मत होना निर्दोषकारणों से जन्य होना इत्यादि विशेषण व्यर्थ ही हैं। जो ज्ञान गृहीत अथवा अगृहीत भी अपना और अर्थ का यदि निश्चय करता है तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रो मे भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

यहाँ इस बात को विशष रूप से ध्यान मे रखना चाहिये कि आचाय विद्यानद महोदय अपूर्वार्थ विशेषण को महत्त्व न देकर केवल स्वार्थ विशेषण को ही महत्त्व दे रहे है फिर भी स्वय आचार्य ने इसी ग्रथ में स्थान-स्थान पर केवलज्ञान को भो अपूर्वार्थग्राही सिद्ध कर दिया है।

किसी ने कहा कि केवलज्ञान गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है तब आचाय ने कहा कि नही सभी ज्ञान सुनयो की अपेक्षा से अपूर्वार्थ ग्राही है और भो देखिये—

तत्रापि केवलज्ञान नाप्रमाण प्रसज्यते।
साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थतास्थिते ॥६०॥
प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्व परिणामित्वविच्युति।
केवलस्यैकरूपित्वादिति चोद्य न युक्तिमत ॥६१॥
परापरेण कालेन सबधात्परिणामि च।
संबधिपरिणामित्व ज्ञातत्वेनकमेव हि॥

अर्थ—अपूर्वार्थ को जानने वाले उन ज्ञानो मे केवलज्ञान अप्रमाण नही है क्योकि ज्ञानावरण के पूर्ण क्षय से विवक्षित काल मे उत्पन्न हुये सादि और अनतकाल तक स्थित रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्वार्थ का ग्राहक होना सिद्ध है। मतलब विशेषणो की अत्यल्प परावृत्ति हो जाने से उनको जानने वाले ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राहक हो जाते है। थोडा विचार तो करो कि ससार मे अपूर्व अर्थ कौन समझे जाते है? सभी द्रव्य पूर्वार्थ ही है किंतु फिर भी सौन्दर्य अधिक धनवत्ता रूपवत्ता प्रतिभा विलक्षण तपश्चर्या अद्भुत शक्ति विशेष चमत्कार आदि धर्मों को धारण कर लेने से व यथार्थ अपूर्वार्थ मान लिये जाते हैं। सूक्ष्म विचार करने पर तो अत्यत छोटे अंश को भी नवीनता धारण करने पर पदार्थ को अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी जहाँ अपूर्वार्थ सभवता है उस पर सतोष करना चाहिये। अन्यथा भक्ष्य अभक्ष्य विचार पतिव्रतापन अचौर्य आदिक लोक व्यवहार सभी समाप्त हो जावेंगे। कोई कुतर्क कर रहा है कि "केवलज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण के अनन्तर परिणामी नही होता है ज्यो का त्यो रहता है क्योंकि त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सपूर्ण पदार्थों को एक साथ जानकर पुन एक रूप ही बना रहता है अत उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप परिणामित्व लक्षण वहाँ अघटित है पुन अपूर्वार्थग्राही कैसे रहा? आचाय कहते हैं कि यह शका भी ठीक नही है क्योकि उत्तर उत्तरवर्ती काल के साथ सबध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते हैं। केवलज्ञान की पूर्व समयवर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन

[द्वितीयस्य बाधारहितत्वहेतो खडनं]

नापि बाधानुत्पत्त्या, 'मिथ्याज्ञानेपि 'स्वकारणवैकल्या'द्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात्'

पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से सबध विशिष्ट और परिणाम सहित होने से भी केवलज्ञानी ज्ञाता रूप से एक है यही ध्रुवता है एव परिणमनशील ज्ञय द्रव्यो के परिणमन से भी ज्ञान परिणामी होता है अत अपूर्वार्थग्राही सिद्ध है।

एवं आचार्य श्री माणिक्यनंदी ने परोक्षामुख सूत्र मे कहा है कि अपूर्वार्थ विशेषण भी निष्फल नही है क्योकि धारावाहिक ज्ञानो से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती है अत धारावाहिक ज्ञान की व्यावृत्ति करना ही उसका फल है। यो तो वह विशेषण केवल स्वरूप के निरूपण करने मे तत्पर है फिर भी परस्पर विरोध दोष नही है।

यहाँ पर 'निर्दोष कारणजन्यत्व का निराकरण करते है। यदि ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता अन्य ज्ञान से जानी जाती है तब तो उस अन्य ज्ञान की निर्दोषता भीअन्य ज्ञान से जानी जावेगी पुन यही धारा असंख्य ज्ञानो तक चलते चलते बहुत बडी अनवस्था आकाश पर्यंत फैल जावेगी। यदि आप मीमांसक प्रथम ज्ञान के उत्पादक कारणो की निर्दोषता द्वितीय ज्ञान से जानेंग और द्वितीय ज्ञान की निर्दोषता प्रथम ज्ञान से जानग तब तो अन्योन्याश्रय दोष तयार खडा है। अत ज्ञान के उत्पादक चक्षु आदि इन्द्रियों की निर्दोषता—निमलता आदि को न कोई प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) से जान सकते हैं न अनुमान ज्ञान से।

दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रांत ज्ञानो को उत्पन्न करने वाले कारणो को भी लोग निर्दोष समझ बठ है। इसीलिये अनुमान से भी इस प्रकार सपूण ज्ञानो की निर्दोषकारणा से उत्पत्ति होना नहीं जान सकते हैं क्योकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणो से उत्पत्ति हुई है इस बात को भी जानना कठिन है। व्याप्ति ज्ञान की निर्दोषता का ज्ञान तो और भी कठिन है। चक्षु आदिक अतीन्द्रिय इन्द्रियो की निर्दोषता जानना कठिन है। बाहर से किसी की निर्दोष चक्षु भी सदोष सदृश दीखती है और दूषित भी चक्षु निर्दोष सदृश दिख जाती है।

बौद्धादि भिन्न २ दार्शनिक सत्त्व हेतु से पदार्थों को क्षणिक नित्य आदि सिद्ध करते हैं और जैनाचार्य इसी सत्त्व हेतु से सभी पदार्थों को नित्यानित्य सिद्ध कर देते हैं क्योकि जैनो ने सत् का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य माना है। तथा कामधनु के समान इच्छित अथ को कहने वाले वेदवाक्यो स ब्रह्मवादी अद्वैत को, कर्मकांडी क्रियाकाड को हिंसा पोषकजन यज्ञ को आदि २ रूप से अनेक विद्वानो ने अपने २ मत पुष्ट कर लिये हैं। ये सभी अपने २ आगम ज्ञान के कारणो को निर्दोष मान बठ हैं। अत प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ज्ञान के कारणो की निर्दोषता को समझना कठिन समस्या है।

---

१ [illegible] । २ तद्दोषपर्यन्तं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः । ३ नेदं अलमिति ।

---

(1) [illegible] ।

प्रमाणत्वप्रसक्ते । अथ[1] [1]यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाण स्वसाधिनीति मतं, [2]कुतस्तस्या[3] सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चय ? [4]संविद प्रमाणत्व निश्चयादिति चेत [5]परस्पराश्रय । सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धन बाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिंश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । [6]अन्यत प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? [7]न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते [8]सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च संदेह किं [2]यथार्थग्रहणान्नोत्र[9] बाधानुत्पत्तिराहोस्वि

पुन यदि आप प्रश्न करें कि आप जैन प्रमाण की प्रमाणता कैसे मानते हैं तो इस पर ग्रंथकार स्वयं आगे समाधान करेंगे कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा मे स्वत है और अनभ्यास दशा में पर से होती है।

[बाधा रहित व हेतु का खंडन]

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रमाण मे प्रमाणता आती है तो यह कहना भी ठीक नही है। मरीचिका मे जल रूप मिथ्याज्ञान मे भी अपने बाधक कारणो की विकलता— न्यूनता होने से यह जल नही है इस प्रकार से बाधक की उत्पत्ति असंभव होने से प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् जैसे किसी ने दूर चमकती हुई बालू का ढेर देखा और वहां जाकर स्नान पान आदि के लिये पानी का निर्णय नही किया अपने काम मे लग गया। उसे बाधा की उत्पत्ति तो नही हुई कि यह जल नही है पुन यह मिथ्याज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नही।

मीमांसक यथार्थ को ग्रहण करने मे कारणभूत अप्रमाण मे असंभवि अर्थात प्रमाण मे संभव रूप बाधा का उत्पन्न न होना ही प्रमाणता को सिद्ध करता है।

शून्यवादी यदि ऐसा आपका मत है तब तो वह बाधा की अनुत्पत्ति सत्यार्थ का ग्रहण करने मे कारणभूत है यह निश्चय भी कैसे होगा ?

मीमांसक ज्ञान मे प्रमाणता का निश्चय होने से हो जावेगा।

शून्यवादी—ऐसा मानने पर तो परस्पराश्रय दोष आता है प्रमाणता का निश्चय होने पर ज्ञान मे यथार्थ ग्रहण निमित्तक बाधा की उत्पत्ति नही है ऐसा निर्णय होगा और बाधा की उत्पत्ति नही है इस बात का निश्चय हो जाने पर प्रमाणता का निश्चय होगा। इस प्रकार से दोनो की सिद्धि नही हो सकेगी। यदि अन्य प्रमाणांतर से प्रमाणता का निश्चय होना कहो तो पुन इस बाधा की अनुत्पत्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात आपने बाधा की उत्पत्ति न होना इसी से ज्ञान को वास्तविक माना

१ मीमांसक । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ तर्हि शेष । ४ मीमांसक । ५ तत्त्वोपप्लववादी । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ मीमांसकाभिप्राय निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी । ८ अन्यथा । ९ न अस्माकम् ।

(1) ननु स्वकारणवैकल्पनिबंधना। (2) अन्यथा। न चैव।

स्व[1]कारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्ते । [1]क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्व-कारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे[2] तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात् ।

[अर्थज्ञानानंतरमेव बाधानुत्पत्ति ज्ञानस्य प्रमाणतां ज्ञापयति सर्वदा वा ?]

[3]किमन्यार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत सर्वदा वा ? न तावत्प्रथम-

---

है । अब ज्ञान मे यथार्थता को ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निर्णय आप अन्य प्रमाण से मान रहे हैं । पुन ज्ञान वास्तविक है इस बात को आप अन्य प्रमाण से ही क्यो न मान लीजिये, तब तो बाधा की अनुत्पत्ति हेतु से क्या काय सिद्ध होगा ? अर्थात् इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बाधा की उत्पत्ति न होने से यथार्थ ग्रहण निबधनत्व स्वत ही निश्चित नही होता है । अन्यथा संदेह का ही अभाव हो जावेगा किन्तु सदेह तो देखा जाता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हम लोगों को इस विषय मे यथार्थ ग्रहण करने से क्या बाधा की उत्पत्ति नहीं है ? अथवा अपने *बाधक कारणो की विकलता से बाधा की उत्पत्ति नही है ? इस प्रकार से उभय संस्पर्शि*—संशय ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है । कही दूर स्थान पर मरीचिका मे जल ज्ञान के होने पर अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधक ज्ञान की उत्पत्ति न होना प्रसिद्ध है और समीप देश में अपने बाधक कारणों की सकलता—पूर्णता होने मे बाधक ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है । जैसे किसी ने दूर से चमकती रेत को देखकर उसे जल समझ लिया किंतु वहाँ से पानी मगाने का स्नान आदि करने का उसे प्रसग नहीं आया अत उसमे बाधक कारण न मिलने से उस मिथ्याज्ञान मे भी बाधा नहीं आती है और कोई मनुष्य निकट के तालाब के एक तरफ सूखी हुई चमकती रेत देख कर उसमे पानी भरने के लिये चल पडा गया तो लज्जित होकर वापस आया खिन्न होकर सोचने लगा कि मेरा जल ज्ञान गलत निकल गया । अत इस व्यक्ति को निकट में बाधा के उत्पन्न हो जाने से जल ज्ञान मे सच्चाई नही रही अत हम लोगो को बाधा की अनुत्पत्ति में सशय बना ही रहता है ।

[बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनतर ही ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है या हमेशा ही ? पुनरपि तत्त्वोपप्लववादी दूसरी तरह से प्रश्न कर रहे हैं]

दूसरी बात यह है कि अर्थ ज्ञान के अनतर ही बाधा का न होना उस ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करता है अथवा सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का न होना ? प्रथम विकल्प तो सभव नही है क्योंकि किसी मिथ्याज्ञान में भी अनतर ही बाधा की उत्पत्ति नही देखी जाती है । किसी ने सीप को चांदी समझा और तत्काल ही उसे गलाने जेवर आदि बनाने का प्रसग नहीं आया तो भी इस मिथ्या ज्ञान को सच्चा नहीं माना जाता है ।

---

१ स्वबोधकार्यकबाधककारणस्य । २ समीपे । ३ तत्त्वोपप्लववादी ।

---

(1) स्वकारणवैकल्यात्कार्यं नोत्पद्यते [illegible] ।

विकल्प संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनंतर बाधानुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेन्न, तस्या प्रत्येतुमशक्यत्वात् संवत्सरादि विकल्पेनापि बाधोत्पत्तिदर्शनात्। चिरतरकाल बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवकल्यात कालान्तरेप्यसौ नोत्पत्स्यते इति कुतो निश्चयनीय ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, स्वहेतुवैकल्यात्। न चैतावता तत्प्रामाण्यम।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सवदा ही बाधा की उत्पत्ति न होने स ज्ञान मे प्रमाणता का निश्चय होता है तब तो यह कथन भी ठीक नही है। सवदा ही बाधा की उत्पत्ति का नही होना यह समझना ही अशक्य है। संवत्सर वर्ष आदिको क भेद स भी बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। बहुत काल तक बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी अपने कारणो की विकलता होने स कालातर मे भी वह बाधा का न होना नहीं हो सकगा—बाधा का न होना असभव है। यह बात भी आप मीमासक किस प्रमाण से निश्चित करेंगे ? अर्थात् सीप मे चादी का ज्ञान हो गया और यह कल्पना बहुत दिनो तक बनी रही। यह सीप है इस प्रकार की प्रतीति कराने वाला कारण नही मिल सका तो बाधा की उत्पत्ति नही भी होती है और बाधक कारण मिलने पर बाधा उत्पन्न हो भी जाती है। कही पर मिथ्याज्ञान म तो उस जन्म मे भी बाधा उत्पन्न नहीं होती है क्योकि अपने हेतु की विकलता है। अर्थात बाधक कारण नही भी मिलते है। एतावन्मात्र से—हमेशा बाधा की उत्पत्ति न होन मात्र से वह अथ ज्ञान प्रमाण हो जावे ऐसी बात भी नही है।

[एक देश मे स्थित मनुष्य के ज्ञान मे बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सवत्र बाधा की उत्पत्ति न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

दूसरी तरह से पुन हम प्रश्न करते हैं कि किसी देश मे स्थित ज्ञाता—मनुष्य को बाधा की उत्पत्ति न होना अर्थ ज्ञान मे प्रमाणता का कारण है ? या सभी स्थान मे रहन वाल पुरुषो की बाधानुत्पत्ति अथ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है अन्यथा किसी मिथ्याज्ञान को भी प्रमाण मानना पडगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नही है कही दूर मे ठहरे हुए पुरुष को बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी समीप में बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। सवत्र स्थित सभी देशो मे रहन वालों को बाधा की उत्पत्ति नहीं है इसमे संदेह है क्योकि समीप मे बाधा की उत्पत्ति न होन पर भी दूर मे बाधा की उत्पत्ति संभव है।

---

१ तत्त्वोपप्लववादी। २ बाधानुत्पत्त। ३ भेदेन। ४ बाधानुत्पत्ति। ५ तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुत प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्प ?। ६ हेतु बाधककारणम्। ७ सर्वदा बाधानुत्पत्त्या। ८ अर्थवेदनस्य।

---

(1) स्वकारणवैकल्यात्। शुक्तिकायां रजतज्ञाने। (2) असर्वविदेद प्रत्येतुमशक्यमिति भाव (3) विवक्षितसंवेदने।

[एकस्मिन् देशे स्थितस्य मनुष्यस्य ज्ञाने बाधानुत्पत्ति प्रामाण्यहेतु सर्वत्र वा ?]

किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्ति प्रतिपत्तु [1]सर्वत्र वार्थसविदि प्रामाण्यहेतु ? न तावत्प्रथम पक्ष — [1]कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि [1]प्रमाणत्वापत्त । नापि द्वितीय, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य [1]बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीते सवत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात । समीपे [2]बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसभावनाच्च ।

[कस्यचित् मनुष्यस्य बाधानुत्पत्ति सर्वस्य वा ?]

किञ्च [3]कस्यचिद्बाधानुत्पत्ति सवस्य वा ? न तावत्कस्यचिदबाधानुत्पत्ति[4] सविदि

दूसरा प्रश्न यह है कि—

[किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान मे प्रमाणता का हेतु है या सभी को बाधा का न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

किसी को बाधा की उत्पति नही है या सभी को ? किसी को बाधा की उत्पत्ति नही है यह बात ज्ञान मे प्रमाणता का हेतु नही हो सकती है क्योकि विपयय ज्ञान में भी यह बात मौजूद है। मरीचिकादि के जलज्ञान मे देशातर के गमन आदि से बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी प्रमाणता का अभाव है।

यदि दूसरा विकल्प लेवो की सभी को बाधा की उत्पत्ति का न होना ही अथज्ञान मे प्रमाणता का हेतु है यह पक्ष भी ठीक नही है सभी को बाधा की उत्पत्ति नही है इस बात को अल्पज्ञ जनों के द्वारा जानना शक्य नही है अथवा शक्य मानो तो जो जानेगा वही मनुष्य सर्वज्ञ हो जावेगा। पुन सभी के सवज्ञ हो जाने से यह असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) है। यह व्यवहार ही समाप्त हो जावेगा क्योकि सभी देश कालवर्ती पुरुष की अपेक्षा से बाधकाभाव के निणय की सवज्ञ के साथ अन्यथानुपपत्ति है। इसलिए बाधा से रहित होने से ज्ञान प्रमाण है यह कथन ठीक नही है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने मीमासक से प्रश्न किया कि आप ज्ञान को सच्चा कसे मानते हैं ? तब मीमांसक ने कहा कि ज्ञान मे बाधा की उत्पति नही होती है इसलिए उस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है। तब तत्त्वोपप्लववादी अनेको प्रश्न उठा रहा है। पहले उसने कहा कि मिथ्याज्ञान मे भी कभी-कभी बाधा की उत्पत्ति नही होती है तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो जावेगा ? देखिये ! कोई मनुष्य सीप को चाँदी समझकर उसे तिजोरी म रख देता है बहुत दिनों तक उसे चांदी ही मान रहा है तो क्या यह ज्ञान प्रमाण है ? यदि कहो कि बाधा का न होना—मतलब जसे को तसा ग्रहण करना तब तो यह बात भी आप कैसे समझेंगे ?

यदि कहो ज्ञान मे प्रमाणता है इस बात के निश्चय से हम समझ लेंगे कि यह सत्यार्थ को ग्रहण

---

१ दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्ति । २ पुस । ३ बाधककारणवैकल्यात् ।

---

(1) मरीचिकायां । (2) भास्वत्तैमिरिकस्य (3) संविदि प्रामाण्यहेतु (4) संविदि प्रामाण्यहेतु ।

प्रामाण्यहेतु, [1]विपर्ययेपि भावात् । मरीचिकादौ तोयज्ञाने [2]देशान्तरगमनादिना बाधानु त्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । सवस्य[1] बाधानुत्पत्तिरथसवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेन्न, तस्या किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्त शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्[3] [2]सर्व- देशकालपुरुषापेक्षया[4] बाधकाभावनिर्णयस्या यथानुपपत्त[5] । इति न बाधारहितत्वेन संवेद नस्य प्रामाण्यम् ।

करने वाला है तो भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय बाधा के न होने स है और बाधा का न होना ज्ञान की प्रमाणता स है मतलब अन्योन्याश्रय दोष आ गया । यदि ज्ञान की प्रमाणता बाधा के उत्पन्न होने स है और बाधा का न होना सत्याथ ग्रहण स है पुन सत्याथ ग्रहण का निणय अन्य प्रमाण स है तब तो अन वस्था चक्रक दोष आते ही रहेंगे ।

प्रश्न ऐसा भी होता है कि चादी को चादी और सीप को सीप रूप स ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नही है अथवा बाधक कारण नही मिलने स बाधा नहा है ?

यह चांदी को चादी ही समझ रहा है यह निणय भी कौन देवे ? यदि कहो बाधक कारण नही मिले हैं तब तो किसी ने सीप को चादी मानकर बहुत दिनो तक पेटी मे रख रखा उसका उपयोग करने का अवसर नहीं मिला बाधक कारण नही बन फिर भी वह ज्ञान प्रमाणीक नही है ।

ऐसा भी प्रश्न होता है कि किसी पदाथ को देखते ही जो ज्ञान होता है उसमे उसी क्षण बाधा उत्पन्न नहीं हुई इसलिए प्रमाणीक है या उसमे कभी भी बाधा उत्पन्न होगी ही नही इसलिये प्रमाणीक है ?

इस पर समाधान यह है कि किसी ने पुरुष को कुछ अधरे मे ठूठ समझा उसी क्षण वा कुछ क्षण तक उसे उस ज्ञान मे बाधा नही दिखी तो क्या वह ज्ञान सच्चा माना जावेगा ? अथवा किसी ने अपने शरीर और कुटम्बियो को जीवन भर अपना मान रखा है तो क्या यह ज्ञान सच्चा है ?

दूसरी बात यह भी है कि कभी भी बाधा उत्पन्न नही होगी यह निर्णय कौन देवे ? हो सकता है कुछ दिन बाद उसे पुत्र की स्वार्थपरता देखकर वराग्य हो जावे अत मिथ्याज्ञान मे कभी बाधा की उत्पत्ति हो भी जाती है और कभी नही भी होती है । कभी किसी को मिथ्याज्ञान में जन्म भर बाधा उत्पन्न ही नहीं होती है । सीप की चादी ही समझता रहता है किन्तु इतने मात्र से—बाधा के न होने मात्र स वह ज्ञान प्रमाणीक नही है ?

पुन प्रश्न होता है कि कलकत्त आदि किसी एक देश मे रहने वाले मनुष्य को उस ज्ञान में बाधा नहीं है या सर्वत्र दिल्ली बम्बई आदि मे भी रहने वाले को उस ज्ञान मे बाधा नहीं है ? इसका भी बड़ा मजेदार ही उत्तर है । कलकत्त के मनुष्य ने सीप को चादी समझा उसमे उसे बाधा नहीं दिखी तो क्या

---

१ द्वितीयविकल्प । २ सर्वं सर्वज्ञ मवेयुरिति ।

---

(1) मिथ्याज्ञाने । (2) मरीचिकादेशतोऽन्यदेशान्तर । (3) निश्चयहेतुनां संग्रहो [illegible] (4) [illegible] इति प्रा । (5) सर्वज्ञमन्तरेण

[तृतीयेन प्रवृत्तिसामर्थ्यहेतुना ज्ञानस्य प्रामाण्यनिराकरणं]

[1]नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, [2]अनवस्थाप्रसक्ते. । [3]प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि [4]फलेनाभिसम्बन्ध [5] [6]सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? [7]यदि फलेनाभिसम्बन्ध. सोवगतोनवगतो वा सविद प्रामाण्य गमयेत् ? न तावदनवगत अतिप्रसङ्गात । सोवगतश्चेत् [1]तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव परस्पराश्रयानुषङ्गात्[2] सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे[3] [8]तस्य प्रमाणा

वह ज्ञान प्रमाण हो गया ? अथवा सवत्र भ्रमणशील मनुष्य ने या बहुत से जनो ने सीप को चांदी माना और सच्चानिर्णय नहीं कर सके कुछ दिन बाधा नहीं आई तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ?

पुनरपि प्रश्न होता है कि एक व्यक्ति को किसी ज्ञान मे बाधा नही आई तो क्या इतने मात्र से वह ज्ञान प्रमाण हो गया या सभी को उसमे बाधा नही आई ?

यदि एक व्यक्ति के सबध मे बात है तो वही सीप मे चादी के विपयय ज्ञान मे उसे बाधा नही दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण है ? यदि सभी को बाधा नही है ऐसा कहो तब तो आप मीमांसक पहले सवज्ञ बनो सारे विश्व मे सभी को देखो फिर निर्णय दो। यदि आपको यह बात स्वीकार नही है तब तो आप अल्पज्ञ सभी को इस ज्ञान मे बाधा नही है ऐसा निणय कैसे करोगे ? इस प्रकार से बाधा की उत्पत्ति न होने से ज्ञान मे प्रमाणता आती है यह बात प्रमाण की कोटि मे नहीं उतरती है इसप्रकार से तत्त्वोपप्लववादी के मुख से जैनाचार्यों ने मीमासक का खडन कराया है।

अब जैनाचाय इस बात का निश्चय कराते हैं कि जहां पर स्वाथ निश्चायक ज्ञान है वहा पर कोई भी बाधा नही आती है वही ज्ञान प्रमाण है और जहा स्वाथव्यवसायात्मक ज्ञान का लक्षण नही है वहा पर बाधायें नही होते हुए भी ज्ञान प्रमाण नहीं है अप्रमाण ही है। इसलिये ज्ञान की प्रमाणता को बाधानुत्पत्ति से मानना ठीक नहीं है।

[नयायिक प्रवृत्ति की सामथ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते हैं उनका खंडन]

यदि आप नयायिक तीसरा पक्ष मान्य करें कि प्रवृत्ति की सामथ्य से प्रमाण मे प्रमाणता है सो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योकि अनवस्था का प्रसग आता है। अच्छा आप यह तो बताइये कि वह प्रवृत्ति की सामथ्य है क्या ? फल (स्नानपानादि रूप) से अभिसबंध होना या पुरुष को सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति का होना ?

यदि फल से अभिसंबंध कहो तो वह अवगत—जानी गई होकर ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है

---

१ प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नयायिको ब्रूते। तं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी। २ चक्रकप्रसङ्गदूषण तदप्यनवस्था। ३ तत्त्वोपप्लववादी [illegible] इति पृच्छति। ४ सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति पक्षिलभाष्यात्। ५ स्नानपाना [illegible]। ६ पुंस। ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ पर्वतादी [illegible]प्रसङ्गात। ९ विज्ञानस्य।

---

(1) [illegible] (2) [illegible] इति पा। (3) [illegible]।

त्वनिश्चयात् तस्मिंश्च सति तेन तदवगमात । अन्यत प्रमाणात्सोवगत इति [1]चेत्त दन्यत्प्रमाणं कुत; प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवत्तिसामर्थ्यादिति [2]चेत् तदपि प्रवृत्ति सामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा सविद प्रामाण्य गमयेदित्यादि पुनरा वर्तत इति चक्रकप्रसङ्ग । [3]एतेन सजातीयज्ञानोत्पत्ति प्रवत्तिसामथ्य सवित्प्रामाण्यस्या गमक प्रतिपादित सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात् प्रमाणान्तरात्तत्प्रमाण्यनिर्णयेनवस्थानुषङ्गात ।

या अनवगत--नही जानी गई को ? अनवगत (अज्ञात) तो आप कह नही सकते अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा अर्थात् पवतादि पर धूम को नही देखकर भी अग्नि का निश्चय हो जावेगा ।

यदि कहो कि जो फल से अभिसबधित जाना हुआ होकर ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करता है तो वह उसी प्रमाण से अवगत--ज्ञात है या अन्य प्रमाण से ? उसी से ज्ञात तो आप कह नही सकते अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जावेगा । फल से अभिसबध का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होगा और उसमे प्रमाणता का निश्चय होने से उस ज्ञान से फल के अभिसबध का निश्चय होगा । दूसरा पक्ष लेवो कि अन्य प्रमाण से वह जाना गया है तो वह अन्य प्रमाण भी किस प्रमाण से प्रमाणता को प्राप्त करता है ? यदि आप कहे कि प्रवृत्ति की सामथ्य से तो पुन वह प्रवृत्ति की सामथ्य भी यदि फल से अभिसबधित है तो वह अवगत होकर ज्ञान की प्रमाणता को कराती है या अनवगत--अज्ञात रहकर ? इत्यादि रूप से पुन पुन उन प्रश्नो की आवृति होने से चक्रक दोष का प्रसग आता है ।

दो बार की आवृत्ति को परस्पराश्रय दोष एवं तीन बार की आवति को चक्रक दोष कहते है ।

इसी उक्त कथन से सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्ति की सामथ्य ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है इस कथन का भी निराकरण कर दिया है क्योकि सजातीय ज्ञान मे प्रथम ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय मानने पर परस्पराश्रयदोष समान ही है । तथा उस सजातीय ज्ञान की प्रमाणान्तर-अन्य ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय करने पर अनवस्था का प्रसग दुर्निवार है ।

---

१ विज्ञानेन । २ फलनाभिसम्बन्धस्यावगमात् । ३ प्रा नोति । ४ चक्रक विवृणोति ।--तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा सविद प्रामाण्य गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्ग । सोवगतश्चेत्तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव परस्पराश्रयानुषङ्गात् । अन्यत प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाण कुत प्रामाण्य व्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रयमावर्तने चक्रक दषण भवति । ५ प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण । ६ तत्र सजातीयज्ञाने ।

---

(1) चेत्तर्हि तदन्यत्प्रमाणं इति पा । (2) चेत्तत्प्रवृत्ति इति पा । (3) फलाभिसबधलक्षणप्रवृत्तिसामर्थ्यनिराकरणपरेण ग्रथन ।

[प्रवृत्तिशब्दस्य कोऽर्थं इति तत्त्वोपप्लववादी नैयायिकं पृच्छति]

[8]प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ सर्वत्र सर्वस्य[1] प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिपत्तौ निश्चितप्रामाण्यात्[2] संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव सति प्रवर्तकस्य[3] संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, तस्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात् तत्प्रामाण्यनिश्चयात । [6]प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं स एव च [5]पर्यनुयोगोऽनवस्थापत्तिकरः । [7]द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यं स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत [9]किमर्थमिदानीं

[प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है ।]

अच्छा ! आप यह तो बतलाइये कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

नैयायिक—ज्ञाता मनुष्य का प्रमेय–जानने योग्य देश को प्राप्त करना प्रवृत्ति है ।

तत्त्वोपप्लववादी—तब तो वह ज्ञाता की प्रवृत्ति प्रमेय का ज्ञान होने पर प्रमेय देश को प्राप्त करती है या प्रमेय का ज्ञान नहीं होने पर ?

द्वितीय पक्ष लेवो तो सभी प्रमेयों (जानने योग्य पदार्थों) में सभी की प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि प्रवृत्ति प्रमेय को जान कर उसमें प्रवृत्ति करती है तो प्रमाणभूत संवेदन से–सच्चे ज्ञान से उस प्रमेय का ज्ञान हुआ या अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से ?

प्रथम पक्ष में तो परस्पराश्रय ही है । प्रवर्तक ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होने पर उससे प्रमेय का ज्ञान होगा और प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसकी प्रमाणता का निश्चय होगा । मतलब दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होंगे ।

यदि आप नैयायिक प्रमाणांतर से उसका ज्ञान मानें तो प्रथम ज्ञान व्यर्थ ही हो जावेगा एवं वे ही पूर्वोक्त प्रश्न उठते रहने से अनवस्था आ जावेगी । द्वितीय पक्ष लेवो कि अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से निश्चय होता है तो प्रमाणता का निश्चय करना ही व्यर्थ हो जावेगा क्योंकि आपने स्वयं अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से ही प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है ।

नैयायिक—संशय ज्ञान से भी तो प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है ।

शून्यवादी—पुनः किसलिये यहां प्रमाण की परीक्षा करना है जबकि सच्चे और झूठे-संशयादि

१ तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्तिं विचारयति । २ प्रमेय । ३ नैयायिक । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ भो नैयायिक । ६ प्रमाणान्तरस्यापि । प्रामाण्यप्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतारः । ७ अनिश्चित प्रामाण्यादिति । ८ नैयायिकः । ९ तत्त्वोपप्लववादी ।

(1) सर्वेण हितस्य पुंसः । (2) ज्ञानं । (3) प्रवृत्तिहेतुत्वात् ।

प्रमाणपरीक्षणम् ? 'लोकवृत्तानुवादार्थमिति[1] चेत्तर्हि[2] लोकवृत्तं[4] कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वत[5] एव, '[1]प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ[2] प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति[3] परत [4]प्रामाण्यानुवादविरोधात् । [8]स्वत प्रसिद्धं हि[9] प्रमाणप्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितु [5]युक्तं [10]नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । [11]यथानुवदतेऽस्माभि-स्तथैव [12] लोकवृत्तं प्रसिद्धं [13]स्वत इति चेन्न स्वत सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्य[14]न्यैर्लोकवृत्तस्यानुवादात् [15]तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । [16]स मिथ्यानुवाद इति चेत् तवापि[17] मिथ्यानुवाद कुतो न भवेत् ? [18]तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत् [19]परोऽप्येवं ब्रूयात् । [5]तथैव

सभी ज्ञान प्रवृत्ति करा देते है।

नैयायिक—लोक की प्रवृत्ति को साथक करने के लिये ही प्रमाण की परीक्षा है। मतलब प्रवृत्ति तो सच्चे और झूठ सशयादि सभी ज्ञानो से होती रहती है फिर भी लोक व्यवहार के लिये प्रमाण की परीक्षा की जाती है।

शून्यवादी—तब तो प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार भी किस प्रकार से निर्विवाद सिद्ध हैं जिसका अनुवाद—जिसको साथक करने के लिये प्रमाण शास्त्र की रचना की जावे। यदि आप कहे कि स्वत है तो यह कथन भी आप कह नही सकते क्योकि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवत्ति की सामर्थ्य से अर्थवान प्रमाण है इस प्रकार सिद्ध हो जाने से तो आपके सिद्धान्तानुसार ज्ञान मे पर से प्रमाणता का मानना विरुद्ध हो जावेगा क्योकि स्वरूप से स्वत ही प्रसिद्ध प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप लोक व्यवहार को उसी प्रकार से आपके प्रमाण शास्त्र मे कहना युक्त है अन्यथा पर से प्रमाणता कहना युक्त नहीं होगा क्योंकि अति प्रसग आ जाता है।

नैयायिक जिस प्रकार से (पर से प्रमाणता प्रकार से) हम लोग कहते हैं उसी प्रकार से ही लोक व्यवहार प्रसिद्ध है स्वत नही है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना अन्यथा स्वत ही सभी प्रमाणो मे प्रमाणता आती है। इस प्रकार से अन्य मीमांसक जनो ने जो लोक व्यवहार स्वीकार किया है उसी प्रकार से उसकी भी सिद्धि का प्रसग

१ नैयायिक। २ सार्थकम्। ३ तत्त्वोपप्लववादी। ४ प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम्। ५ स्वतो वा परतो वा। ६ स्वरूपत। ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ परत प्रामाण्यानुवादविरोध बिभर्तीति तत्त्वोपप्लववादी। ९ भवदीये प्रमाणशास्त्रे। १० परत प्रकारेण। ११ नैयायिक। १२ परत प्रकारेण। १३ नस्वत इति भाति। १४ मीमांसकै। १५ सर्वप्रमाणानां स्वत प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात् १६ स्वतोनुवाद। १७ नैयायिकस्य। १८ नैयायिक। परत प्रामाण्य प्रकारेण। १९ मीमांसक।

(1) प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमितीद नैयायिकप्रसिद्ध परत प्रामाण्यापादकं वचनं। (2) तस्या। (3) निश्चितप्रामाण्यं। (4) नैयायिकस्य। (5) परपरिकल्पितप्रकारेण।

लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्व तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्व-मितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयो[1] समानम् । [2]तथा [3]लोकवृत्तान्तरात्तस्य[4] प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव । इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविद प्रामाण्यनिश्चयानुवादो[5] युक्तः । ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्य व्यवतिष्ठते ।

आ जावेगा ।

नैयायिक प्रमाणो की प्रमाणता स्वत मानना मिथ्या है ।

शून्यवादी—आप नैयायिक की मान्यता (प्रमाणो की प्रमाणता पर से मानना) भी मिथ्या क्यों नहीं हो जावे ?

नैयायिक—नही ! क्योकि पर से ही प्रमाण मे प्रमाणता आती है यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है ।

शून्यवादी—तब तो मीमासक भी इसी प्रकार से कह सकता है कि स्वत ही प्रमाण की प्रमाणता प्रसिद्ध है । इस प्रकार से आप दोनो—नैयायिक और मीमासक समान हो हैं । दोनों ही अपनी-अपनी बात को सत्य कह रहे हैं । पुन पर से या स्वत प्रमाण की प्रमाणता रूप से प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका वैसा ही कथन करना सत्य होगा और उसका वैसा ही कथन करना सत्य सिद्ध होने से उस प्रकार का प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार सिद्ध होगा । इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष तो नैयायिक और मीमासक दोनो के यहा समान ही है ।

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण प्रमेय रूप लोकव्यवहार पर से निर्विवाद प्रसिद्ध है तब तो यह लोक व्यवहार अन्य लोक व्यवहार से सिद्ध होगा पुन उसका कथन अन्य लोक व्यवहार से इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार ही है । इसलिये प्रवृति की सामर्थ्य से ज्ञान मे प्रमाणता का निश्चय सिद्ध नही हो सकता अत प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाणता की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं है ।

भावार्थ—नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान की प्रमाणता को प्रवृत्ति की सामर्थ्य से मानते हैं । उनका कहना है कि प्रमाणतोऽर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं अर्थात ज्ञान से जलादि अर्थ को जानकर उसमे स्नान पान अवगाहन आदि रूप से प्रवृत्ति हो जाने की सामर्थ्य से प्रमाण ज्ञान अर्थवान्—प्रयोजनभूत प्रमाणीक है किन्तु यहा तत्त्वोपप्लववादी उसकी इस मान्यता मे अनेक दोष दिखाता है । नैयायिक का अभिप्राय है कि तालाब मे जल है इस प्रकार से ज्ञान हुआ अब यह ज्ञान सच्चा है या नही इसका निर्णय कौन देवे ? उस तालाब के जल मे प्रवृत्ति की सामर्थ्य है या नही अर्थात् स्नान पानादि क्रियायें हो सकती हैं या नही ? यदि हो सकती हैं तब तो उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ही वह जलज्ञान सच्चा सिद्ध हुआ है अन्यथा नही यदि उस जल मे स्नानादि क्रियायें नहीं हो सकती हैं मतलब वहां जल न होकर चमकता हुआ बालू का ढेर है अत वह ज्ञान झूठा सिद्ध है । इस प्रकार से यह नैयायिक

---

1 नैयायिकमीमांसकयो । 2 परत प्रामाण्यप्रकारेण (द्वितीयविकल्प) । 3 अन्यस्माल्लोकवृत्तात्तस्य । प्रकृतलोकवृत्तस्य 4 अनुवादस्य । 5 अनुकथनम् ।

प्रमाण की प्रमाणता को सर्वथा पर से ही मानता है।

इस विषय मे जैनाचार्यों का तो इतना ही अभिप्राय है कि अभ्यस्त दशा मे जलादि पदार्थों के ज्ञान की प्रमाणता स्वत होती है और अनभ्यस्त दशा मे पर से होती है।

यहाँ पर जैनाचार्यों ने तत्त्वोपप्लववादी के मुख से नैयायिक की मान्यता का खंडन कराया है। पहले प्रश्न यह हुआ है कि *यह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या? जल के ज्ञान मे स्नान पानादि* रूप फल से संबंधित होना या जल ज्ञान मे सजातीय ज्ञान का होना?

यदि स्नानादि रूप फल से सबध होने को प्रवृत्ति की सामर्थ्य कहो तब तो वह जल ज्ञान से फल का सम्बन्ध जाना गया है या नही? यदि अज्ञात कहो तो प्रवृत्ति होना असभव है। यदि कहो कि फल से सम्बन्धित प्रवृति की सामर्थ्य ज्ञात रूप होकर ज्ञान की प्रमाणता मे हेतु है तब तो वह प्रवृति की सामर्थ्य किस ज्ञान से जानी गई है? उसी ज्ञान से कहो तो अन्योन्याश्रय आयेगा और अन्य ज्ञान से कहो तो अनवस्था। यदि सजातीय ज्ञान का उत्पन्न होना प्रवृत्ति की सामर्थ्य है अर्थात जलज्ञान की दृढता को बतलाने के लिये जलज्ञान के समान दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है तब तो इसमे भी अनवस्था दोष आ जाता है क्योकि सजातीयज्ञान रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य की प्रमाणता अन्य सजातीय ज्ञान से होगी पुन उसकी प्रमाणता अन्य से क्योकि जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान मे प्रमाणता का निर्णय न होगा तब तक उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रथम ज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नही होगी और अन्य ज्ञानो से प्रवृत्ति सामर्थ्य के ज्ञान मे प्रमाणता मानने पर अनवस्था तैयार खडी है।

पुनरपि यह प्रश्न होता है कि प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है? तब नैयायिक ने कहा कि मनुष्य जानने योग्य—जल के स्थान को प्राप्त कर लेवे इसका नाम प्रवृत्ति है तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य उस प्रमेय (जलाशय स्थानादि) को जानकर वहा जाता है या बिना जाने? यदि बिना जाने कहो तब तो सभी के लिए सभी स्थान का प्राप्त करना प्रवृत्ति हो जावेगी। यदि जानकर कहो तो भी उस मनुष्य ने प्रामाणिक ज्ञान से उस प्रवृत्ति के प्रमेय—जल को जाना है या अप्रमाणीक ज्ञान से? प्रथम पक्ष मे अन्योन्याश्रय है। पहले ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तब उससे जल का ज्ञान होगा और जल का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उस ज्ञान की प्रमाणता होगी और अन्य ज्ञान से प्रवृत्ति के ज्ञान की प्रमाणता मानने पर तो अनवस्था आ ही जाती है और अप्रमाणीक ज्ञान से जलादि प्रमेय ज्ञान मे प्रवृति मानने पर तो ज्ञान को प्रमाणीक सिद्ध करना व्यर्थ ही है तब नैयायिक ने यह बात भी मंजूर करली है उसने कहा कि हम संशयज्ञान से भी प्रवृत्ति मानते है। केवल प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार बताने के लिये प्रमाणता का विचार करते है। इसी बात को श्लोकवार्तिक मे भी कहा है यथा—

अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद वृथा भवेत्।
प्रामाण्यवेदन वृत्त क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत ॥१२०॥
अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता।
अनर्थसंशयाच्चापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥१२१॥

[सौगत अविसंवादित्वेन ज्ञानस्य प्रमाणता मन्यते तस्य निराकरणं]

[1]नाप्यविसंवादित्वेन [2]तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थिति[3]लक्षणस्यानवगतस्य[1] प्रामाण्यव्यवस्था—हेतुत्वायोगात । तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे [2]कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम ? संवादान्तरा

अर्थ—नहीं जानी गई है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जावे तो सर्वत्र प्रमाणता का निश्चय होना व्यर्थ है जैसे कि बालक का मुंडन कराकर फिर नक्षत्र पूछना व्यर्थ है। यदि नैयायिक कहे कि संशय ज्ञानों से भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि संशय ज्ञान से ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण ज्ञान को कौन खोजेगा ? अतः जैसे अनर्थ के संशय(संभावना) से भी विद्वानों की अनुचित कार्यों से निवृत्ति हो जाती है वैसे ही इष्ट अर्थ के संशय से पदार्थों में प्रवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा तो है नहीं। प्रेक्षापूर्वकारी-समझदार पुरुष संशय से प्रवृत्ति नहीं करते हैं। और तो क्या घास खोदने वाला मनुष्य भी विचार कर अपने इष्ट कार्य में प्रवृत्ति करता है। अतः संशय आदि ज्ञान प्रवृत्ति को कराने वाले नहीं हैं किंतु नैयायिक की ऐसी विचारधारा है कि परलोकार्थ नित्य नैमित्तिककर्म दीक्षा तपश्चर्या आदि क्रियाओं के अनुष्ठान करने में निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और महायात्रा संघ चलाना विवाह प्रतिष्ठादि कार्यों में अनिश्चित प्रमाणता वाले संदेह ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। यद्यपि लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कार्यों में क्लेश की बहुलता और धन का खर्च समान है तो भी प्रामाणिक ज्ञान और अप्रमाणीक ज्ञान की अपेक्षा अंतर है। नैयायिक की इस मान्यता में भी आचार्यों ने यही समझाया है कि परलोकार्थ निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानने में तो अन्योन्याश्रय दोष आता है और अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति हो जाने पर तो ज्ञानों में प्रमाणता का ढूंढना ही व्यर्थ हो जाता है। संसार में जीव दो प्रकार के होते हैं। विचार कर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष प्रेक्षावान—बुद्धिमान कहलाते हैं और बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाले पुरुष अप्रेक्षावान्—मूर्ख कहलाते हैं। इसलिए प्रमाणीक सच्चे ज्ञान की अपेक्षा संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों में अंतर है ये ज्ञान मिथ्या कहलाते हैं इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिक से देखना चाहिये।

नैयायिक और मीमांसक के प्रमाणतत्त्व का विचार करके अब तत्त्वोपप्लववादी सौगत के प्रमाण तत्त्व का विचार करता है।

[सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खंडन]

प्रारंभ में प्रमाणतत्त्व की विचारणा में चार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न है कि क्या अन्यथा-अविसंवादी

---

१ मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्व विचार्येदानीं सौगतप्रमाणतत्त्व विचारयन्ति ग्रन्थकृत । २ यस (कर्मधारय)
३ अर्थक्रियाप्राप्तिलक्षणस्य ।

---

(1) प्रमाणत्वव्यवस्थेण । (2) अविसंवादावगमस्य ।

दिति चेन्न, तदवगमस्यापि सवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात । [1]अथार्थक्रियास्थिति लक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशाया स्वत प्रामाण्यसिद्ध रदोष ।

[अभ्यासदशाया अविसंवादज्ञानस्य प्रमाणता स्वत सिद्धयति इति बौद्ध मन्यते तस्य निराकरणं]

[1]कोयमभ्यासो नाम ? भूय सवेदने[2] सवादानभवनमिति चेत [3]तज्जातीयेऽतज्जातीये[4] वा ? तत्रातज्जातीये[5] न तावदेकत्र[6] सवेदने भूय सवादानभवन सभवति क्षणिकवादिन ।

रूप से प्रमाण की प्रमाणता मानी जाती है। तो उस पक्ष को बौद्ध के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि यह मा यता भी ठीक नही है क्योकि अथ क्रिया का सदभाव लक्षण (अर्थक्रिया को करने में समथ) जो अविसवाद है वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने मे हेतु नही हो सकता है क्योकि प्रश्न उठता है कि वह अथक्रिया लक्षण अविसवाद अज्ञात रूप – नही जाना गया रूप है या ज्ञात जाना गया रूप है ? यदि कहो कि अविसवाद नही जाना गया है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नही कर सकेगा।

यदि कहो कि वह अविसवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाणता की यवस्था मे कारण है तब तो यह बताओ कि उस अवगत अविसवाद ज्ञान को प्रमाणता किससे है ? यदि कहो भिन्न सवाद से है तब तो उस अवगम (अविसवादज्ञान) की भी भिन्न सवाद से प्रमाणता निश्चित होने से अनवस्था आ जाती है।

बौद्ध—अथ क्रिया के सदभाव रूप अविसवाद ज्ञान की अभ्यास दशा मे स्वत प्रमाणता सिद्ध है अत कोई दोष नही है।

[अभ्यास दशा मे अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वत सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—तब तो आप बौद्धो के यहा यह अभ्यास क्या बला है ? यदि आप कहे कि ज्ञान मे पुन पुन सवाद का अनुभव होना अभ्यास है तब तो वह सवाद त जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष मे ? उसमे अत जातीय ज्ञान मे पुन पुन सवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एक क्षणवर्ती एक सवेदन मे पुन पुन सवाद का अनुभव सभव ही नहीं है क्योंकि आप क्षणिक वादियो के यहा तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अर्थात आपके यहा एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण विशेष कहा है उसे जानकर ज्ञान उसी क्षण मे समाप्त हो जाता है क्योंकि वह वस्तु ही क्षणिक है पुन उसमे बार-बार अनुभव कसे बनेगा ?

बौद्ध—सतान की अपेक्षा से पुन-पुन अनुभव सभव है। अर्थात बौद्ध वासना-सस्कार को सन्तान कहता है और वासना की अपेक्षा से तो पुन-पुन अनुभव शक्य है।

शून्यवादी—ऐसा भी नहीं कहना क्योकि आपने तो स्वय ही सन्तान को अवस्तु माना है अत:

१ बौद्ध: । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ सत्यरूपे सामान्यरूपे । ४ विशेषरूपे । ५ सवेदने । ६ स्वलक्षणे । ७ उत्पन्नविनष्टत्वात् ।

(1) अर्थक्रियास्थितिलक्षणत्वातावसिंवादस्य । (2) जायमाने ।

संतानापेक्षया[2] संभवतीति चेन्न संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्ते । वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धे कुतस्तदपेक्षया सोभ्यास ? सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्धयेत्[2] । तज्जातीये भूय संवादानुभवनमिति चेन्न जातिनिराकरणवादिन क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्ते । अन्यापोहलक्षणया जात्या क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति [11]चेन अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात तस्य वस्तुरूपत्वे वा [12]जातित्वविरोधात स्वलक्षणस्यासाधारणस्य[13] वस्तुत्वोपगमात[14] । तदेव[15] सामान्यत प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेन प्रमाणतत्त्व विचार्यमाण व्यवतिष्ठते । तदव्यवस्थितौ

उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नही है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी लेव तो वह सतान भी क्षणिक रूप ही सिद्ध हो जावेगी ।

पुन उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कसे हो सकेगा अथवा यदि आप सतान को नित्य मान लेवें तो यत् सत्तत् सर्व क्षणिक यह प्रतिज्ञा वाक्य कसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध—तज्जातीयज्ञान मे पुन पुन सत्यरूप सवाद का अनुभव होता है ।

शून्यवादी—ऐसा नही कहना । आप जातिसामान्य का निराकरण करने वाले हैं अर्थात् अन्वयरूप द्रव्य का निषध करने वाले हैं अत आपके यहां कही पर भी अन्वय रूप से जातीय—सामान्य सिद्ध नही हो सकता है ।

बौद्ध—अन्यापोह लक्षण जाति से किसी स्थिर स्थूल आदि वस्तु मे जातीयत्व बन ही जाता है ।

शून्यवादी—ऐसा नही कहना क्योकि अन्यापोह तो अवस्तु है अथवा उसको वस्तु रूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा क्योंकि आपने असाधारण—विशेषरूप स्वलक्षण को ही वस्तु रूप माना है ।

भावार्थ—बौद्ध के यहा प्रमाण का लक्षण है अविसवादिज्ञान प्रमाण उसी प्रकार से बौद्ध ने ज्ञान की प्रमाणता को अविसवादी होने से सिद्ध किया है और अविसवाद का अथ है अर्थक्रिया का सदभाव । जैसे जल की अर्थक्रिया स्नानपानादि है । न्यायदीपिका में भी बौद्धो के द्वारा प्रमाण ज्ञान को अविसंवादी मानने में दोषारोपण किया गया है यथा' जो ज्ञान विसवाद रहित है वह प्रमाण है' बौद्ध की इस मान्यता में

---

१ बौद्ध । २ हे बौद्ध । ३ बौद्ध । सवेदने । ४ सत्यरूपस्य सवादस्य । ५ तत्त्वोपप्लववादी । ६ सामान्यनिराकरणवादिन । ७ अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते । ८ घटत्वपटत्वादिरूपेण । ९ बौद्ध । १० स्थिरस्थूलवस्तुनि । ११ तत्त्वोपप्लववादी १२ (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्) । १३ विशेषस्य । १४ तव सौगतस्य मते । १५ पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण ।

---

(1) अभ्यासस्तुल्यापेक्षाणां पूर्वोत्तरक्षणानां मेलन सताम । (2) संतानस्यानैकालिकत्वमिति भाव ।

असंभव दोष आता है क्योंकि बौद्धो ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने है उनके यहा न्यायबिंदु में कहा है 'द्विविधं सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्षमनुमानञ्च' [न्याय बि दु पृ १] उसमे प्रत्यक्ष मे तो अविसवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नही है अत सशयादि रूप समारोपो का निराकरण नही कर सकता है और न उनके मान्य अनुमान मे अविसवादीपना सभव है। उनके मतानुसार वह अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है इस तरह से बौद्धो के प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक लक्षण नही है।

यहां तत्त्वोपप्लववादी यह प्रश्न कर सकता है कि जो अर्थक्रिया रूप अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता मे कारण है वह अविसवाद तुम्हे ज्ञात है या नही ? यदि वह अविसवाद अज्ञात रूप है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को कसे बतलायेगा ? यदि कहो वह ज्ञात रूप है तो भी उस जाने गये अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि भिन्न सवादक ज्ञान से कहो तब तो अनवस्था आ जाती है। बौद्ध कहता है कि अर्थक्रियारूप जलज्ञान मे स्नान अवगाहन आदि का जो ज्ञान है वह अविसवाद ज्ञान है और अभ्यास दशा में इसकी प्रमाणता स्वत सिद्ध है तब तो प्रश्न यह हो जाता है कि अभ्यास का लक्षण आप बौद्ध क्या करते हैं ? यदि कहो कि ज्ञान मे पुन पुन सवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो इस मान्यता मे भी अनेको दोष आ जाते हैं क्योंकि प्रश्न ये होगे कि वह पुन पुन अनुभव ज्ञान सामान्यज्ञान मे हो रहा है या स्वलक्षणभूत एक क्षणवर्ती विशेष मे ?

प्रथम पक्ष मे तो आपके द्वारा मान्य सामान्य अवास्तविक है उसमे पुन पुन अनुभव मानना अवास्तविक ही होगा। यदि द्वितीयपक्ष लेवो तो भी एकक्षणवर्ती पर्याय के ज्ञान मे बार बार क्या अनुभव आयेगा ? यदि आवेगा तो वह ज्ञान स्थिर—नित्य हो जावेगा क्षणिक नही रहेगा। श्लोकवार्तिक मे भी इसका खडन किया है। निश्चय करने की शक्ति का उत्पन्न न करते हुए ही अर्थ का अनुभव प्रमाण है क्योकि निर्विकल्प ज्ञान मे अभ्यास की पटता है इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं कि इस मान्यता से तुम्हारी यत्रव जनयेदेना तत्रवास्य प्रमाणता इस नियम मे विरोध आता है। अर्थात निर्विकल्पज्ञान जिस विषय मे इस निश्चय रूप सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करा देगा उस ही विषय मे यह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा। जसे कि घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप स्पर्श आदि मे निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो गया है अत रूप और स्पर्श को जानने म निर्विकल्पज्ञान प्रमाण माना गया है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्व को जान लेने पर भी पीछे से क्षणिकपने का निश्चय नहीं हुआ है अत क्षणिक को जानने मे प्रत्यक्ष की प्रमाणता नहीं है और यदि निश्चय को उत्पन्न नही करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण मान लिया जावे तो यत्रैव जनयेदेना इस ग्रथ से विरोध आ जावेगा। कश्चायमभ्यासो नाम ? पुन पुनरनुभवस्य भाव इति चेत् क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमभ्यासासिद्ध। हम बौद्धो से प्रश्न करते हैं कि आपके द्वारा मान्य अभ्यास क्या चीज है ? विद्यार्थी कई बार बोल बोल कर घोषणा करते हुए पाठ याद करते हैं, तत्त्व

कुत प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थिति ।

[अधुना जैनाचार्या तत्त्वोपप्लववादं निरस्य स्वमतेन प्रमाणस्य प्रमाणतां साधयति]

इत्येतदपि [1]सर्वमसार तत्त्वोपप्लवस्यापि [2]विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुत[3]तत्त्वसिद्धिनिराकरणायोगात[4] । अथ[5] तत्त्वोपप्लव[6] सर्वथा न विचार्य तस्योपप्लुतत्वादेव[7] [1]विचारासहत्वादन्यथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात । केवल[8] तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाण

व्यायाम का अभ्यास करते है । इसी प्रकार आपके प्रत्यक्षज्ञान का अभ्यास क्या है ? यदि पुन पुन प्रत्यक्ष रूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाना तो क्षणिकत्व आदि मे यह निर्विकल्पज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा क्योकि सपूर्ण अर्थों मे तदात्मक हो रहे उस क्षणिक रूप विषय मे निर्विकल्प ज्ञान सदा होते रहते हैं । स्वलक्षणों से क्षणिकपन अभिन्न है । अत क्षणिकत्व मे तो बहुत बढिया अभ्यास सिद्ध हो रहा है किन्तु आप बौद्धो को तो ऐसा इष्ट नही है ।

अत मे निष्कष यह निकला है कि बौद्ध के यहा प्रमाण की प्रमाणता को अविसवादीपने से स्वीकार करना ठीक नही है ।

बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वत मानते है नयायिक प्रमाण की प्रमाणता पर से मानते हैं । मीमा सक उत्पत्ति और निश्चय दोनो ही अवस्थाओ मे प्रमाणता स्वत और अप्रमाणता पर से मानते हैं । साख्य प्रमाणता को पर से और अप्रमाणता को स्वत मानते हैं । इन विभिन्न मतावलबियो का आचार्यों ने अ यत्र प्रमेयरत्नमाला आदि मे विशषरूप से खडन किया है और इस बात क सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान मे प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है किन्तु प्रमाण मे प्रमाणता व निश्चय तो अभ्यास दशा मे स्वत होता है एव अनभ्यास दशा मे पर से होता है ऐसा समझना चाहिये ।

उपय क्त प्रकार से चारो प्रश्नो के उत्तर असिद्ध हो जाने पर तो सामान्य से प्रमाण का लक्षण सिद्ध न होन पर विशेष रूप से भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते हैं अत विचार करन पर प्रमाण तत्त्व की यवस्था करना कथमपि शक्य नही है और प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था न होन पर प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था भी कसे हो सकेगी क्योकि प्रमाण के अभाव मे प्रमेय कहाँ रहगा ? इसलिये विचार करन पर तो सभी तत्त्वो का उपप्लव-प्रलय ही हो जाता है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी न अपना पूर्वपक्ष रखा है अब आचार्य उसका खडन करते हैं ।

[अब जैनाचार्य तत्त्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत म मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

जैन—आप शून्यवादी का यह सभी कथन असार (शू यवत्) ही है । आपका तत्त्वोपप्लववाद भी विचार करने पर व्यवस्थित नही हो सकता है इसलिये आप अनुपप्लुत अबाधिततत्त्व की सिद्धि निराकरण नहीं कर सकते हैं ।

1 जैनो वक्ति । 2 वक्ष्यमाणप्रकारेण । 3 उपप्लुतो बाधित । 4 तत्त्वोपप्लववादिन । 5 पर । 6 शून्यवाद । 7 अभावरूपत्वादेव । 8 भो जैन । 9 तथापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धि कथमिति जैनेनोक्ते स आह ।

(1) तत्त्वोपप्लववलक्षणं । तत्त्वशब्दस्यैव प्रतिपदमिव न तु अनुपप्लुतशब्दस्य ।

प्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवप्रसिद्धि इति मतं तदपि फल्गुप्राय [2]यथातत्त्व मविचारितत्वात्[1] । न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन[1] संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यव स्थाप्यते, [2]बाधारहितत्वमात्रेण वा । नापि [3]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[4] [4]वा प्रतिपादितदोषो- पनिपातात् । किं तर्हि ? [6]सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन । [7]न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य [7]दुरवबोधम् ।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्तविषये परत इति मन्यमानेऽनवस्था परस्पराश्रयो वा न संभवति]

[5]सकलदेशकालपुरुषापेक्षया[6] सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये

शून्यवादी—हमारा तत्त्वोपप्लव सर्वथा विचार करने योग्य नहीं है क्योंकि उपप्लुत—बाधित—अभावरूप होने से ही परीक्षा को सहन करने में असमर्थ है अन्यथा अनुपप्लुत—सद्भाव रूप तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा। केवल तत्त्ववादी—आप जनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण और प्रमेयतत्त्व विचार—परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है अतः हमारे द्वारा मान्य तत्त्वोपप्लववाद ही सिद्ध होता है।

जैन—आप शून्यवादी का यह कथन फल्गुप्राय—व्यर्थ ही है क्योंकि यथातत्त्व—तत्त्व के अनुरूप आपने परीक्षा नहीं की है। हम स्याद्वादी जन ज्ञान की प्रमाणता का विचार उपयुक्त चार विकल्पों से नहीं मानते हैं। अर्थात् अदुष्ट कारक संदोह से उत्पन्न होने से बाधा रहित मात्र से प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादित्वादि प्रकार से हम जन ज्ञान की प्रमाणता नहीं मानते हैं। अतः आपके द्वारा प्रतिपादित दोषों के प्रसंग हमारे यहाँ नहीं आते हैं।

शून्यवादी—तो फिर आप जन किस तरह से ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करते हैं।

जैन—हम जन सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थापित करते हैं क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को इस प्रमाण से जानना कठिन नहीं है।

[प्रमाण की प्रमाणता अभ्यस्त दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा में पर से है ऐसी मान्यता में अनवस्था अथवा परस्पराश्रय दोष नहीं आता है।]

कारण कि संपूर्ण देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से प्रमाण का सुष्ठु निश्चितमसंभवद्बाधकत्व अभ्यस्त विषय में स्वतः ही निश्चित किया जाता है। जैसे स्वरूप का निश्चय स्वतः ही होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है इस प्रकार से अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग

---

१ आह जैनः । २ तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः । ३ अविचारितत्वमग्रे दर्शयति । ४ अवि संवादित्वादिना । ५ प्रमाणं न प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः । जैनः पराभिप्रायं निराकरोति । ७ किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः ।

---

(1) मीमांसकाभ्युपगमेन । (2) न कथा इति पा । (3) नैयायिकाभ्युपगमेन । (4) अविसंवादित्वेन वा किमिति न प्रतिपादितं प्रमाणनिर्णये प्रतिपादितत्वात् । अन्यथा वा कथनं । (5) ईप् । (6) वर्तमान ।

स्वत एवावसीयते स्वरूपवत्[1]। अनभ्यस्तविषये तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपात । स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम् । तच्चाभ्यासदशायां न परत[2] प्रमाणात्साध्यते येनानवस्था स्यात् परस्पराश्रयो वा तस्य स्वत एव सिद्धत्वात् । तथानभ्यासदशायामपि परत[1] स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वचनात् पूर्वस्य [3]तथाभावसिद्धे कुतोऽनवस्थादिदोषावकाश ?

[नित्यानित्यात्मन्यात्मनि अभ्यासानभ्यासौ उभौ अपि सभवत]

[4]क्वचिदभ्यासानभ्यासौ[5] तु [2]प्रतिपत्तुरदृष्ट[6]विशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च[3] भवतौ [7]सम्प्रतीतावेव यथावरणक्षयोपशममात्मन सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासो-

नही आता है क्योकि स्वार्थव्यवसायात्मकत्व ही सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व है अर्थात् व्यवसायात्मक पद से संशय विपर्यय एव अनध्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है और वह अभ्यास दशा मे पर प्रमाण से सिद्ध नही किया जाता है कि जिससे अनवस्था आ सके अथवा परस्पराश्रय दोष आ सके अर्थात् ये दोनों दोष नही आ सकते हैं क्योकि वह असंभवद्बाधकत्व स्वत ही सिद्ध है उसी प्रकार से अनभ्यास दशा मे भी स्वय सिद्ध प्रमाणता वाले ज्ञानरूप अन्य प्रमाण से पूर्व को तथाभाव—प्रमाणता सिद्ध है पुन अनवस्था आदि दोषो को अवकाश कसे मिल सकता है ? अर्थात् पर से प्रमाणता मे वह पर प्रमाण स्वत प्रमाणांतर रूप है अत उसके लिये तृतीय की आवश्यकता न होने से अनवस्था असभव ही है।

[कथचित नित्यानित्यात्मक आत्मा मे अभ्यास—अनभ्यास दोनों ही सभव हैं।]

किसी विषय मे अभ्यास और अनभ्यास ज्ञाता—पुरुष के अदृष्ट विशेष—भाग्य विशेष के निमित्त से और देश कालादि की विशेषता से विद्यमान रूप प्रतीति मे आ रहे है। अर्थात ज्ञान मे पुन पुन सवाद का अनुभव होना अभ्यास है और न होना अनभ्यास है। वे दोनो दृष्ट—देश कालादि और अदृष्ट—भाग्य के निमित्त की विचित्रता से प्राणियो मे देखे जाते हैं।

[अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण]

आत्मा क स्वार्थ सवेदन मे अपने अपने आवरणो का क्षयोपशम एकबार या पुन पुन होना अभ्यास कहलाता है। अथवा स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानावरण कर्म के उदय मे ज्ञान के नही होने पर अथवा एक बार ज्ञान के होने पर या पुन पुन ज्ञान के होने पर भी अनभ्यास देखा जाता है। अर्थात् मतिज्ञान मे जो चौथा भेद है उसका नाम धारणा है उस धारणा से सस्कार बने रहते हैं शीघ्र विस्मरण नहीं होता है उसी का नाम अभ्यास है। एव एकेन्द्रिय आदि जीवो के ज्ञानावरण कर्म का उदय विशेष

१ व्यवसायात्मकत्वपदेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेद । २ अन्यप्रमाणात् । ३ प्रामाण्यसिद्ध । ४ विषये । ५ ज्ञाने भूय संवादानुभवनमभ्यासस्तदभावोऽनभ्यास । दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम् । जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन । ६ अदृष्ट पुण्यादिज्ञानावरणादिकम् । ७ बहुधानुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थ । ८ क्रियाविशेषणम् ।

(1) प्रमाणं । (2) दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनां । जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन । (3) बाह्यात् ।

प्रसक्तेः । [1]स्वार्थव्यवसायावरणोदये[1] वाऽसंवेदने सकृत्संवेदने वा संवेदनपौनःपुन्येपि वाऽनभ्यासघटनात् । [2]पूर्वापर [1]स्वभावत्यागोपादाना[2]न्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः[3] [4]परिणामिनोऽभ्यासानभ्यासाविरोधात । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा [5]प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेर भीष्टत्वात्[6] । [7]नन्विदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत् [8]सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ?

रूप से देखा जाता है अतः वे ज्ञान शून्य के सदृश मालूम पड़ते हैं तथैव किसी को एक बार ज्ञान होना मतलब अवग्रह, ईहा, अवाय तक ज्ञान हो गया धारणा नहीं बनी या बार-बार ज्ञान होने पर भी धारणा नहीं बनने से संस्कार दृढ़ नहीं हो सकते हैं इसी का नाम अनभ्यास है ।

तथा हम आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं अतः एक ही आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास दोनों ही संभव है । पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान उन दोनों में अन्वितस्वभाव की स्थिति इन तीन लक्षणों से नित्यानित्य रूप—परिणमन शील आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास विरुद्ध नहीं हैं— अविरोध रूप से सिद्ध है । सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक रूप आत्मा में वे अभ्यास अनभ्यास दोनों ही असंभव हैं ऐसा हमें अभीष्ट ही है क्योंकि सर्वथा नित्य या क्षणिक में अनभ्यासात्मक ज्ञान का परिहार करके अभ्यासात्मक ज्ञान को प्राप्त करने में विरोध ही है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने आस्तिक्य वादियों के प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करने के लिये चार प्रश्न रखे थे कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे है निर्दोष कारणों से जन्य होने से ? इत्यादि । इन प्रश्नों को उठाकर उसने स्वयं सभी को दूषित कर दिया तब जैनाचार्य कहते हैं कि यदि हम इन कारणों से प्रमाण की प्रमाणता मानें तो ये उपर्युक्त दोष आवेंगे किंतु हम तो प्रमाण की प्रमाणता में अन्य ही कारण मानते हैं । वह अन्य कारण क्या है ? तब आचार्य ने कहा कि जिसमें बाधा का न होना सुनिश्चित है ऐसे सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व से हम प्रमाण की प्रमाणता मानते हैं एवं प्रमाण का लक्षण विद्यानंद स्वामी ने स्वार्थव्यवसायात्मक किया है जिसका अर्थ है स्व और अर्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । आचार्य अभ्यस्त परिचित दशा में ज्ञान की प्रमाणता स्वतः मानते हैं एवं अनभ्यस्त—अपरिचित दशा में पर से मानते हैं । आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर अभ्यास और अनभ्यास बन नहीं सकते हैं एवं सर्वथा नित्य मान्यता में भी अभ्यास अनभ्यास असंभव है क्योंकि एक अवस्था का त्याग करके दूसरी अवस्था को ग्रहण करना सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक

---

१ पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम् । २ व्यवसायो ज्ञानं तस्य । ३ ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोऽभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैन आह । ४ नित्यानित्यरूपस्य । ५ आत्मनः । ६ जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा) ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ जैन ।

---

(1) पूर्वापरस्वभाव इति पा । (2) ईषु द्वि । (3) बस ।

[तत्त्वोपप्लववादी संशयं कृत्वा प्रमाणस्य प्रलयं कर्तुमिच्छति तस्य निराकरणं]

तत[1] एव संशयोऽस्त्विति चेत् सोपि[2] तथाभावेतरविषयः सर्वस्य[1] सर्वदा सर्वत्रेति[2] कथमसर्वज्ञः[3] शक्तोवबोद्धुम् ? स्वसंवेदने [4]तथावबोधात्सर्वत्र[3] तथावबोध इति चेत् [5]तर्ह्य-नुमानमायातं, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धं, संवेदन-त्वादस्मत्संवेदनवदिति । [6]तच्च [7]यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकं सिद्धं तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः । अथ न तथा सिद्धं [8]कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः [9]किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधकं [11]किञ्चित्तद्विपरीतं

में असंभव है ।

शून्यवादी—असर्वज्ञ मनुष्य ज्ञान के इस सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

जैन—यदि आप ऐसा कहो तो सभी जगह सर्वदा सभी जीवों का सभी ज्ञान सुनिश्चितासंभवद् बाधक नहीं है इस बात को भी असर्वज्ञ—अल्पज्ञ कैसे जान सकेंगे ?

[तत्त्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—इसीलिये दोनों में संशय होने से दोनों के ही पक्ष असिद्ध हैं ।

जैन—तथाभाव-बाधा से रहित और अतथाभाव-बाधा से सहित को विषय करने वाला संशय सभी जीव को सर्व काल में सर्वत्र है इस बात को भी अल्पज्ञ कैसे जान सकेगा ?

शून्यवादी—स्वसंवेदन में सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व के द्वारा संदिग्ध प्रकार से सर्वत्र वैसा ही ज्ञान होता है ।

जैन—तब तो अनुमान ही आ गया । विवाद की कोटि में आया हुआ संवेदन सुनिश्चितासंभवद् बाधकत्व और इतर के द्वारा संदिग्ध है क्योंकि संवेदन है जैसे हम अल्पज्ञ लोगों का संवेदन । और वह यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व सिद्ध है तब तो उसी से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है । यदि वैसा नहीं है अर्थात् सुनिश्चितासंभवद्बाधक सिद्ध नहीं है तब तो साध्य की सिद्धि में कारण ही हो जाता है अन्यथा अतिप्रसंग आ जाता है ।

और प्रतिपत्ता का कोई स्वसंवेदन ज्ञान क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध

---

१ (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्ध । २ जैन आह । ३ तत्त्वोपप्लववाद्याह । ४ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धत्वप्रकारेण । ५ जैन आह । ६ जैन । ७ संवेदनसाधनं सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचारः । अथ न सिद्धं तदा स्वयमसिद्धं साधनकारणम् । यद्यसिद्धमपि साधनं साध्यं साधयति तदातिप्रसङ्ग इति भावः । ८ असुनिश्चितासम्भवद्बाधकं चेदित्यर्थः । ९ तर्हीति शेषः । १ संवेदनम् । ११ असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वम् ।

---

(1) ज्ञानस्य । (2) विषये । (3) ज्ञाने ।

प्रसिद्ध न वा ? यदि न [1]प्रसिद्ध , कथ सन्देह[2] ? [3]क्वचिदप्रसिद्धोभय[1]विशेषस्य[4] [2]तत्सामान्य[1] दर्शनेनैव तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भूभवनसवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृश स्थाणु-पुरुषविषयसन्देहवत्[3] । [4]यदि [5]पुनस्तदुभय प्रसिद्ध [6]तदा स्वत परतो वा ? अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशाया परत एवेति चेत सिद्धमकलङ्कशासन [6]सर्वस्य सवेदनस्य [7]स्यात्स्वत स्यात्परत[7] प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात अन्यथा [8]क्वचिद्व्यवस्थातुमशक्ते ।

है अथवा किंचित् उससे विपरीत—असुनिश्चितासभवदबाधक रूप से प्रसिद्ध नही है क्या ? यदि प्रसिद्ध नहीं है तो संदेह कसे होगा ? जिसको किसी वस्तु मे उभय—स्थाणु और पुरुष दोनो की विशेषता अप्रसिद्ध है उसे उनके सामान्य को देखने से ही उसको परामश करने वाला सदेह ज्ञान असभव है जैसे भूभवन सवर्द्धित—तलघर मे पलकर बडा हुआ पुरुष उससे निकलते मात्र ही उस प्रकार के स्थाणु और पुरुष उभय विषय को देखकर सशय नही कर सकता है।

यदि आप शून्यवादी कहे कि स्थाणु और पुरुष दोनो ही प्रसिद्ध है। तब तो हम आप से पछते हैं कि वे दोनो स्वत प्रसिद्ध हैं या पर से ? यदि आप कहे कि अभ्यास दशा मे स्वत प्रसिद्ध हैं और अन भ्यास दशा मे पर से प्रसिद्ध हैं तब तो अकलकशासन—निर्दोष शासन सिद्ध हो गया अथवा अकलक देव का न्याय शासन सिद्ध हो गया। सभी ज्ञान मे कथचित स्वत और कथचित पर से प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था मानी गई है। अन्यथा केवल स्वत अथवा केवल पर से यवस्था करना अशक्य है।

भावार्थ—तत्वोपप्लववादी का कहना है कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य यह कसे समझेंगे कि यह ज्ञान निश्चित रूप से बाधा रहित है। तब जनाचार्यों ने कहा कि भाई अल्पज्ञजन इस बात को भी कसे जानेंगे कि सभी का ज्ञान बाधा से रहित है यह बात अनिश्चित है। बस ! उपप्लववादी को मौका मिला उसने कहा इसलिये ज्ञान मे सवत्र सदेह देखा जाने से ही हम ज्ञान तत्त्व का प्रलय कह रहे हैं। तब आचाय ने कहा कि सभी को सवत्र ज्ञान मे सदेह ही है यह बात भी अल्पज्ञ कैसे जान सकते हैं ? फिर दूसरी बात यह है कि जिस विषय मे जिसको सदेह होता है उस विषय का पहले कभी उसे निश्चय अवश्य ही होना चाहिये था जैसे पहले जिसने ठूठ और मनुष्य को देखा है वही अकस्मात् किसी एक चीज को देखकर दूसरे का

१ क्वचिद्वस्तुनि। अज्ञातस्थाणुपुरुषत्वादे । २ तत्सामान्यादर्शिन इव इति पाठान्तरम। सामान्यादर्शिनो विशेषो पलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तियथा तथा प्रकृतेपि। अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्यं भूभवनेत्यादिलौकिकोदाहरण-प्रदर्शनात्। ३ तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति। ४ तत्त्वोपप्लववादी। ५ स्थाणुपुरुषत्वे। ६ जैन। ७ कथञ्चित्-विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षयेत्यर्थ । ८ केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे।

(1) तर्हि। (2) सदेहानुपपत्ति दर्शयति। (3) ज्ञाने । (4) वस। (5) तु। (6) अकलंकशासनसिद्धि प्रदर्शयति। (7) अनभ्यासावस्थापेक्षया। (8) ज्ञाने।

[उपप्लववादी कश्चित् तत्त्वनिर्णयमनाश्रित्य परस्य तत्त्वस्य कथमुपप्लवं करोति संदेहो वा कथं विधत्ते ?]

एतेन तत्त्वोपप्लववादिन [1]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा [1]वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्ति [2] प्रकाशिता [3]स्वयमन्यत्रान्यदा [4]कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य[1] पुन [4]क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात । [5]क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु [6]कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धि ? [1]पराभ्युपगमात्प्रतिपत्त रदोष इति चेत स [5]तर्हि पराभ्युपगमो यदि प्रमाणात्प्रतिपन्न [6]स्वयं तदा कथं [7]प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लव ? पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात [8]पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था ।

स्मरण करके सशय कर सकता है सवथा अज्ञात वस्तु मे या गधे के सीग आकाश के फूल में क्या संदेह होगा ? अतएव ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा मे स्वत एव अनभ्यास दशा मे पर से होती है । तथव ज्ञान की अप्रमाणता भी अभ्यास दशा मे स्वत अनभ्यासदशा मे पर से होती है यह बात सुनिश्चित सिद्ध है ।

[उप लववादी कुछ भी तत्व का निर्णय न करके पर के तत्त्वो का उपप्लव या पर के तत्त्व में संदेह कसे कर सकता है ?]

इस कथन से तत्त्वोपप्लववादी के जो प्रश्न हुए थे ज्ञान की प्रमाणता अदुष्टकारक समूह स उत्पन्न होती है या बाधक की अनुत्पत्ति स या प्रवत्ति की सामथ्य स अथवा अन्यथा अविसवादित्वादि प्रकार से होती है ? इत्यादि प्रश्न विकल्पो की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं—यह बात प्रकाशित कर दी गई है ।

स्वय अन्यत्र अन्यकाल मे कथचित् जिसने उन विकल्पो को नही जाना है उसको तत्परामर्शि सशय ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता है । कही पर कदाचित् अदुष्ट कारक समूह से उत्पन्न होना आदि विशेष का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहो तो आप शून्यवादी के यहा तत्त्वोपप्लव की सिद्धि कसे हो सकेगी ?

शून्यवादी—पर की स्वीकृति मात्र से उसका ज्ञान मानने से हमें कोई दोष नही है ।

जैन—यदि वह पर की स्वीकृति प्रमाण स स्वय जानी गई है तो प्रमाण और प्रमेयतत्त्व का उपप्लव कैसे होगा ? यदि कहो कि वह पर की स्वीकृति अन्य पर की स्वीकृति से जानी जाती है तब तो वह पर की स्वीकृति भी अन्य पर की स्वीकृति की अपेक्षा रखेगी इस प्रकार स अनवस्था ही आ जावेगी ।

१ अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचिदप्यवेद्ये वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । २ तत्त्वोपप्लववादिन ।३ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ४ जैन । ५ तत्त्वोपप्लववादिना ।

(1) अथ । (2) पक्ष । (3) काले । (4) काले । (5) काले । (6) विकल्पचतुष्टय प्रमेयं तद्ग्राहक च विज्ञान प्रमाणं । (7) पराभ्युपगमस्य ग्राहकं प्रमाणं । (8) पराभ्युपगमात् इति पा. ।

[अधुनोपप्लववादिनः मतस्योपप्लवं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

परान्युपगमं [1]च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? [1]स्वयमप्रतीयंस्तु परान्युपगमं [2]सत् [2]किञ्चित्प्रत्येतीति[1] दुरवबोधः--सोयं[4] किञ्चिदपि[3] स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् [4]क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति[5] न [6]बुध्यामहे किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतविषये प्रवृत्तः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात् । तदुक्तं "किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र[6] वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा"* इति । [7]ततः सूक्तं तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदतः एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतिः[8] ।

[अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं ।]

इस प्रकार से पर की स्वीकृति को स्वयं अनुभव करते हुये ही आप "मैं अनुभव नहीं करता हूं" इस प्रकार बोलते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् अस्वस्थ ही हैं । तथा यदि आप स्वयं पर की स्वीकृति को विषय न करते हुए भी "कोई उस पर स्वीकृति से किंचित् वस्तु मात्र का अनुभव करता है" इस प्रकार से कहते हैं तब तो यह बात अत्यन्त दुष्कर ही है ।

इस प्रकार से आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित (गांठ के तत्त्व) का आश्रय न लेते हुये किसी भी विषय की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं यह बात हमारी समझ में नहीं आती है । अर्थात् आप शून्यवादी के यहां कुछ प्रमाणादि की प्रसिद्धि हुये बिना अन्य हम लोगों के यहां परीक्षा और संदेह करना कदापि शक्य नहीं है क्योंकि किंचित् भी निश्चित का आश्रय लेकर अनिर्णीत विषय में परीक्षा होती है किन्तु सभी जगह विसंवाद हो जाने पर तो कहीं पर परीक्षा भी नहीं हो सकती है अथवा अक्षर ज्ञान से शून्य मूर्ख क्या शास्त्रीय परीक्षा में बैठे हुये विद्यार्थियों की परीक्षा कर सकता है ? कहा भी है—**कहीं कुछ निश्चित का आश्रय लेकर अन्यत्र—अनिश्चित अर्थ में विचार—परीक्षा होती है और यदि सभी जगह विसंवाद हो जावे तो कहीं पर भी परीक्षा नहीं हो सकती है।** ।

इसलिये यह ठीक ही कहा है कि ये तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वप्रसिद्ध एक प्रमाण से अथवा पर प्रसिद्ध एक प्रमाण से विचार—परीक्षा के उत्तरकाल में भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेयतत्त्व को उपप्लुत—नष्ट—प्रलय—अभाव—शून्यरूप जानते हुये अपनी आत्मा का ही अभाव कर लेते हैं । आपको इस बात से

१ अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन् । २ परान्युपगमात् । ३ वस्तुमात्रम् । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः । ६ अनिर्णीतविषये ।

(1) किं च । (2) विकल्पचतुष्टयविशेषं । (3) वस्तुमात्रं । (4) ज्ञानप्रामाण्ये । (5) च न इति पा. । (6) तत्स्वरूपं । (7) शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्रविचारः संदेहश्च न प्राप्नोति यतः । (8) व्याहतमेतदिति इति पा. ।

यह शून्यवाद नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि सभी प्रमाण तत्त्व एव प्रमेयतत्त्व अभाव रूप ही हैं क्योंकि किंचित् भी तत्त्व न तो प्रमाण से सिद्ध है न अनुमान से। इत्यादि प्रकार से तत्त्वों का अभाव करके वह कहता है कि हम आस्तिकवादी लोगो के द्वारा मा य प्रमाण तत्त्व पर विचार करते हैं कि आप सभी जन प्रमाण की प्रमाणता को किस प्रकार से सिद्ध करते हैं निर्दोष कारणो से उत्पन्न होने से या बाधा के उत्पन्न न होने से प्रवृत्ति की सामथ्य से अथवा अ वसवादी पने से ? इन चारों हेतुओं से ज्ञान मे प्रमाणता नही आ सकती है । अत ज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि न होने से प्रमेयतत्त्व ज्ञेय पदाथ भी सिद्ध नही हो सकते हैं। क्योकि ज्ञान के बिना ज्ञ य पदार्थ कहां से सिद्ध होग ? पुन उसने इस बात को भी सिद्ध किया कि हम शू यवादियो का तत्त्व सवथा ही परीक्षा करने योग्य नही है क्योकि वह अभाव—शू य रूप है हम तो तत्त्ववादी जनादिको के द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयतत्त्व की परीक्षा करके उसका अभाव सिद्ध कर देते है उसी से ही हमारे शू यवाद की सिद्धि हो जाती है।

इस पर जनाचार्यों ने उत्तर दिया है कि हम लोग निर्दोषकारक ज य आदि हेतुओ से प्रमाण की प्रमाणता नही मानते है किंतु सुनिश्चितासभवदबाधकरूप स्वाथ व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा मे स्वत एव अनभ्यासदशा मे पर से मानते है अत प्रमाणतत्त्व भी सिद्ध है एव प्रमेयतत्त्व भी षड्द्रव्यरूप अखिल जगतरूप से सिद्ध ही है क्योकि प्रतीतेरपलाप कत्तु न शक्यते कश्चित इस सूक्तिके अनुसार जो स्पष्ट रूप सेअनुभव मे आ रहा है उसका लोप करना शक्य नही है। एव जो शू यवादी किसी वस्तु को मानने को ही तयार नही हैं तो उ ह किसी भी विषय मे परीक्षा करने का भी अधिकार नही है क्योकि जो स्वय अपने आपके ही अस्तित्व को नही मानते हैं वे किसी भी विषय मे अस्ति-नास्ति की परीक्षा भी कसे कर सकग ? यदि जबरदस्ती करग तो फिर ब ध्या का पुत्र भी आकाश के फूलो की सुगधि या दुगधि की परीक्षा कराते बठगा या वह आकाशपुष्प भी किसी के गले का हार बनेगा और किसी के सिर पर चढने का प्र यत्न कर डालेगा किंतु ऐसा तो सभव नही है अत शू यवादी जन भी अपना शून्यवाद स्थापन करत हैं यह कथन हास्यास्पद ही है।

तत्त्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश

तत्त्वोपप्लववादी—हम प्रमाण प्रमेयादि कुछ भी तत्त्व नही मानते है क्योकि सभी तत्त्व उपप्लुत-नष्ट अभाव रूप ही है।

जैन— सभी तत्त्व उपप्लुत हैं यह कथन प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही सिद्ध है तथैव "सभी तत्त्व अनुपप्लुत हैं यह बात भी वचन मात्र से ही क्यो न सिद्ध हो जावे ? आप शून्यवादी के यहाँ कोई प्रमाण तो है नही। प्रत्यक्ष को विषय करने वाला प्रत्यक्ष अनुमेय को विषय करने वाला अनुमान और अत्यत परोक्ष को विषय करने वाला आगम ये तीनो प्रमाण—सर्वज्ञ कहलाते है। यदि आप कहे कि पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण से हम अभाव—शून्यवाद सिद्ध कर देगे तो वह पर के यहा प्रसिद्ध प्रमाण प्रमाण से सिद्ध है या नही ? यदि सिद्ध है तो वादी प्रतिवादी सभी को सिद्ध है अन्यथा—असिद्ध है तो सभी को असिद्ध है क्योकि बिना प्रमाण के सिद्ध हम जैनो को कुछ भी मान्य नही है। इस प्रकार से आप शून्य वादी सकल तत्त्वों के जानने वाले प्रमाणो से रहित सभी पुरुषो को जानते हुए स्वय आपका ही खडन कर लेते हैं क्योंकि सभी पुरुष तत्त्वो के ग्राहक प्रमाण से रहित हैं ऐसा जिसने जान लिया वही तो प्रमाण—सर्वज्ञ सिद्ध हो गया और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर लेवे तब तो तत्त्वोपप्लव ही समाप्त हो जावेगा।

यदि आप कहे कि प्रमाण की प्रमाणता स्वत व्यवस्थित है तो सभी के इष्ट तत्त्व सिद्ध हो जावेगे। अच्छा ! हम शून्यवादी आप जैनो से पूछते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? निर्दोषकारक से जन्य होने से बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रवृत्ति की सामर्थ्य से या अविसवादी पने से ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो कारको की निर्दोषता कैसे जानी ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो अतीन्द्रिय निर्दोषता का ग्रहण नही है एव अविनाभावी लिंग न होने से अनुमान भी नही बता सकता। दूसरा पक्ष लेवो तो मरीचिका मे भी यह जल नही है ऐसा बाधक कारण न होने से प्रमाणता आ जावेगी।

प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान मे प्रमाणता मानने से भी अनवस्था आती है तथा चतुर्थ पक्ष भी बाधित ही है। यहाँ पूर्व के दो पक्ष मीमासक की अपेक्षा है। तीसरा पक्ष नैयायिक से सबधित है एव चौथा पक्ष बौद्धो के खडन के लिये है।

मीमांसक प्रमाण की प्रमाणता स्वत मानता है नैयायिक पर से मानता है एव बौद्ध अर्थक्रिया सद्भाव लक्षण अविसवाद ज्ञान को अभ्यास दशा मे स्वत प्रमाण कहता है किन्तु बौद्ध के यहा उत्पन्न होते ही ज्ञान उसी क्षण में नष्ट हो जाता है अत अभ्यास असम्भव है यदि सन्तान से कहो तो वह अवस्तु है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आप शून्यवादी का कथन शून्यरूप व्यर्थ ही है। हम स्याद्वादी ज्ञान की प्रमाणता 'अदुष्टकारकसदोहजन्य' इत्यादि चार कारणो से नहीं मानते हैं। हम तो 'सुनि

विपरीत संभवद्बाधक प्रमाण' से प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध करते हैं क्योंकि 'ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है' यह उपर्युक्त हेतु से सिद्ध है। तथा हमारे यहां अभ्यस्त विषय में स्वत और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है तथा असभवद्बाधकत्व स्वत सिद्ध है इसलिये अनवस्था एवं इतरेतराश्रय दोष सभव नहीं है। पर से प्रमाणता मानने मे वह पर प्रमाण स्वत प्रमाण रूप है इसलिये भी अनवस्था नही आती है।

आत्मा का स्वाथ सवेदन में अपने २ आवरणो का क्षयोपशम एक बार या पुन पुन होना अभ्यास है इससे विपरीत अनभ्यास ह। हम आत्मा को कथचित नित्यानित्य मानत हैं अत अभ्यास-अनभ्यास दोनो ही सभव हैं। पूव स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान तथा दोनो में अन्वित स्वभाव स्थिति इन तीनो लक्षणो मे नित्यानित्य आत्मा मे अभ्यास अनभ्यास दोनो ही सभव हैं। अत आप शून्य वादी कुछ भी स्वय निश्चित तत्त्व का आश्रय न लेत हुये भी हम जनो के यहा तत्त्व मे परीक्षा या सदेह करत हैं या नहीं मानकर शून्य कहत हैं यह कथमपि शक्य नही है क्योकि कहीं अपने यहां कुछ निश्चय का आश्रय लेकर ही अन्यत्र अनिश्चित विषय मे परीक्षा होती है। इसलिये सभी प्रमाण प्रमेय तत्त्व को उपप्लुत—बाधित या प्रलयरूप कहत हुये आप अपनी आत्मा का ही घात कर लेते है। अत तत्त्वोपप्ल ववादकात श्रयस्कर नही है।

[जैनमतमन्तरेण सर्वेऽपि मतावलंबिनस्तीर्थच्छेदसंप्रदाया भवन्तीति साध्यते जैनाचार्यैः]

[1]तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । [2]तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमभ्युपगन्तुमिच्छतामाप्तता[1] नास्ति परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [2]स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति[4]* । [5]एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैताभिधायिनश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोऽपि चार्वाकाः परमागमनिराकरणसमयत्वात्[3] । यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिनः

[सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मे विसंवाद करने वाले मीमांसक चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादियों के यहाँ आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करके इस समय उस सर्वज्ञ विशेष मे विसंवाद करने वाले सौगत साख्यादि के प्रति सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करते हैं । एवं जैनमत के सिवाय अन्य सभी मतावलंबी जन तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

उपर्युक्त प्रकार से कारिका का व्याख्यान निर्दोष सिद्ध हो जाता है ।

"तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले तथा सभी को सर्वज्ञ मानने वालों के आप्तता नहीं है क्योंकि उनके कथन परस्पर में विरुद्ध हैं तथा एक और अनेक प्रमाणवादियों के यहाँ अपने प्रमा-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है ।*

[एक ही प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ?]

संवेदनाद्वैतवादी चित्राद्वैतवादी परमब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी बौद्ध आदि एक प्रमाणवादी हैं । जैसे ये एक प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले है वैसे ही प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक भी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं क्योंकि वे परमागम के समय-संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं ।

[अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन कौन हैं ?]

जैसे कपिल आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले है वैसे ही तत्त्वोपप्लववादी भी हैं क्योंकि उन लोगों ने एक भी प्रमाण नहीं माना है । नैक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिनः ऐसा व्याख्यान है । अर्थात् न एक प्रमाण अनेकप्रमाण ऐसा नञ् समास करने पर यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ लेना अर्थात् सर्वथा ही निषेध अर्थ होता है ।

तथा सभी आप्त आगम और पदार्थ के समूह को स्वीकार करने की इच्छा करते हुए भी अनेक प्रमाणवादी वैनयिकजन तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले हैं । उन सभी मे आप्तपना नहीं है क्योंकि वे सभी

१ वक्ष्यमाणप्रकारेण । २ सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मत्वसद्भावं प्रसाध्येदानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साधयति तीर्थेत्यादिना । ३ समय सम्प्रदाय ।

(1) कारिकास्थितस्य सर्वेषामिति पदस्य विवरणमिदं सर्वमिच्छतामिति सर्वपस्तेषामिति निर्वचनात् । (2) स्वेन स्वकीयपरिच्छित्त्यभावात् । (3) प्रमिति । (4) विघटनात् । (5) एकतत्त्ववादिनः ।

स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात् 'नक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात। तथा 'सवमाप्तागमपदार्थ[1]जातमवगन मिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो' वनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया । तेषामशेषाणामाप्तता[4] नास्ति परस्परविरुद्धयोरथयोरभिधानात ।

परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का कथन करने वाले हैं।

भावार्थ—विश्व मे दो प्रकार के दशन प्रचलित हैं। १ आस्तिक २ नास्तिक। आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक कहलाते है एव जो आत्मा का अस्तित्व तथा परलोक आदि नही मानते हैं वे नास्तिक कहलाते है। इस व्याख्या से चार्वाक भूतचतुष्टयवादी होने से आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते है अत नास्तिक हैं तथा तत्त्वोपप्लववादी तो आत्मा परमात्मा स्वय की आत्मा एव जड पदार्थ आदि किसी का भी अस्तित्व नही मानते हैं अत ये भी नास्तिक हैं इन दोनो के यहा सर्वज्ञ मानने का प्रश्न ही नही उठता है किन्तु वदिक सप्रदाय मे एक मीमासक सप्रदाय वाले है जो किसी भी पुरुष को अतीन्द्रिय सवज्ञ मानने को तयार नही है। ये तीनो सवथा ही सवज्ञ के अभाव को करने वाले हैं और बौद्ध साख्य एव वशेषिक ये लोग सवज्ञ सवदर्शी तो मानते है किन्तु इनकी मान्यताय सुघटित नही है इनके द्वारा मान्य बुद्ध भगवान महेश्वर आदि सच्चे सवज्ञ नही हो सकते है। इसलिए इन सभी के सिद्धांत धमतीथ का विनाश करने वाले होने से ये सभी लोग तीथच्छेद सप्रदाय वाले कहे गये है। ब्रह्माद्वतवादी आदि सभी अद्वतवादी एक अद्वत रूप ही जगत् मानते हैं कोई ब्रह्मरूप कोई शब्दरूप एव कोई ज्ञानरूप इत्यादि। इसलिए ये सभी अद्वैतवादी एक प्रमाणवादी कहलाते हैं इसी प्रकार चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है क्योकि उसके यहा पाच इन्द्रियो के ज्ञान के सिवाय कोई बात प्रमाणीक है ही नही अत यह चार्वाक भी एक प्रमाणवादी है।

बौद्ध साख्य मीमासक आदि दो तीन चार आदि प्रमाण मानते हैं इसलिए ये सभी अनेक प्रमाण वादी है। यहा पर तत्त्वोपप्लववादी को अनेक प्रमाणवादी कहने का मतलब यह है कि वह एक भी प्रमाण नही मानता है इसलिए व्याकरण के नञ समास के अनुसार ही यह व्याख्या है जसे न उदर यस्या असौ अनुदरा कन्या जिसके उदर नही है वह अनुदरा है मतलब जिसका पेट छोटा है यहा पर नञ का अथ किंचित् रूप है और ऊपर अनेक प्रमाणवादी मे नञ का अथ सर्वथा निषध रूप है। अत अनेक शब्द का बहुत वाची अथ न एक भी नही ऐसा अथ हो जाता है। यह लक्षण मात्र तत्त्वोपप्लववादी के लिये ही घटित करना है।

---

१ तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति। प्रसज्यप्रतिषेधोत्र। २ समूहम्। ३ अभ्युपगतम्। स्वीकृतमित्यर्थः। ४ सत्यता संवादकता।

---

(1) अभ्युपगतं। सर्वं विद्यते सर्वसमीचीनमस्तीति भाव।

[सर्वथाऽद्वैतवादिनां निराकरणं]

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणि[1] स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य [2]वा सविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानं[3], [1]तथा[4] द्वैतप्रसिद्धे । संवृत्त्या[5] तदुपगमे न परमार्थत सविदद्वैतसिद्धिः, [5]अतिप्रसङ्गात् । एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिना परस्परविरुद्धाभिधान प्रतिवर्णितम् ।

एक वैनयिक मतवाले हैं जो कि सभी के भगवान को सभी के गुरु और आगम को मानते हैं तथा सभी के मान्य पदार्थ भी स्वीकार कर लेते हैं और सभी की विनय भक्ति करते हैं किन्तु ये भी तीर्थ का विनाश करने वाले हैं क्योंकि प्राय सभी के मत परस्पर मे एक दूसरे के विपरीत ही है अत सभी को तो सर्वज्ञ माना नहीं जा सकता है ।

[अद्वैतवादियो का खण्डन]

संवेदनाद्वैतवादी के यहा स्वपक्ष साधन अथवा परपक्षदूषण वचन सवेदनाद्वैत से विरुद्ध ही है क्योंकि उस प्रकार मानने पर तो द्वैत का ही प्रसग आ जाता है और सवृति से उसे स्वीकार करने पर परमार्थ से संवेदनाद्वैत सिद्ध नही होगा अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा । अर्थात स्वपक्ष साधन अथवा पर पक्ष दूषण के होने पर द्वैत का प्रसग आता है । इस दोष को दूर करते हुये यदि आप बौद्ध कल्पना से द्वैत को स्वीकार कर तब तो सवेदनाद्वैत की सिद्धि भी कल्पना से ही होगी न कि निश्चय से ।

इसी कथन से चित्राद्वैतवादी ब्रह्माद्वैतवादी के यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कथन पाया जाता है उसका भी निराकरण कर दिया है ।

विशेषार्थ—जो एक रूप ही सारे विश्व को मान लेते हैं वे एक प्रमाणवादी कहलाते है । ये सभी अद्वैतवादी हैं इनमें पाँच भेद हैं—विज्ञानाद्वैतवाद चित्राद्वैतवाद शून्याद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद और शब्दाद्वैतवाद । यहाँ सक्षेप से इनका वर्णन करते हैं यथा—

[विज्ञानाद्वैतवाद का खडन]

विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धि मात्र को छोडकर जगत मे और कोई पदार्थ है ही नहीं इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये । ऐसे एक विज्ञानमात्र तत्त्व को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । उसका कहना है कि हम अर्थ का अभाव होने से ज्ञान मात्र तत्त्व माने ऐसी बात नहीं है, किन्तु अर्थ और ज्ञान एकत्र उपलब्ध होते हैं अत इनमें अभेद माना है । जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि प्रतीति मे आ रहा है जैसे सुखादि और नीलादि प्रतीत हो रहे हैं अत वे भी ज्ञान ही हैं इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ एक ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं ।

१ तथा सति । २ स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्ग निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्वन्तिदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्धयेन्न निश्चयेनेत्यर्थ ।

(1) वा । (2) वा स्थाने च इति पाठांतर ब्यावरपुस्तके । (3) विरुद्ध । एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाणप्रकृतेरिति संबन्ध । (4) प्रमाणप्रमेयभेदेन । (5) कल्पितात्कस्यचित् सिद्धौ निरस्तस्यापि तत्त्वस्य कल्पितात्सिद्धिप्रसंगः ।

आप द्वैतवादी—जैन आदि लोग "अहं प्रत्यय" से आत्मा को सिद्ध करते हैं, किन्तु वह अहं प्रत्यय कैसा है ? गृहीत है या अगृहीत, निर्व्यापार है या व्यापार सहित, निराकार है या साकार ? इत्यादि रूप से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

यदि आप जैन कहें कि 'अहं प्रत्यय' गृहीत है तो भी प्रश्न उठेगा कि स्वगृहीत है या पर से ? इत्यादि प्रश्नमालाओं का विराम नहीं हो सकेगा।

विज्ञानाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को सुनकर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ! आप ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हो तो केवल वचन मात्र से ही मानते हो या प्रमाण से ? यदि वचन मात्र से कहो तो सभी अपने-अपने वचनों से अपने-अपने तत्त्वों की मान्यता को सच्ची कह रहे हैं पुनः सारा विश्व एक विज्ञान रूप ही कहां रहा ? यदि कहो कि प्रमाण से हम एक विज्ञान तत्त्व को सिद्ध करते हैं तब तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष तो बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहा है न कि बाह्य पदार्थों के अभाव को। अनुमान से भी आप अंतरंग बहिरंग पदार्थों (चेतनाचेतन) को समाप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित है। यदि अनुमान उसमें प्रवृत्ति करेगा तो बाधित पक्षवाला अनुमानाभास हो जावेगा।

आपने जो कहा कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं अतः एक हैं यह मान्यता भी गलत है क्योंकि जो पदार्थ एक साथ हों वे एक ही हो यह नियम बन नहीं सकता है। रूप और प्रकाश एक साथ हैं किन्तु एक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ! बाह्य पदार्थ न होते हुये भी अंतरंग में सुखादि का अस्तित्व पाया जाता है। सामने महल भोजन आदि समान होते हुये भी उनका ज्ञान पाया जाता है। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या एकमेक हो जावेंगे ? अर्थात् नहीं। आपने जो 'अहं प्रत्यय' का खंडन किया है वह भी गलत है मैं ज्ञानमात्र तत्त्व को जानता हूं इस आपकी मान्यता में तो अहं—मैं शब्द आ ही गया है फिर आपने जो प्रश्न उठाये हैं वे भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। देखिये ! आपने जो प्रथमतः प्रश्न किया है कि अहं प्रत्यय गृहीत है या अगृहीत ? सो अहं प्रत्यय स्वयं ही सबको गृहीत है मैं जानता हूं मैं जाता हूं मैं खाता हूं मैं पढ़ता हूं मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं इत्यादि से सभी को मैं शब्द का अनुभव स्वयं ही आ रहा है एवं अपने को और पर को जानने वाला होने से यह 'अहं प्रत्यय' व्यापार सहित है इत्यादि।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान मात्र ही तत्त्व को मानने पर तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि वही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक रूप से दो रूप सिद्ध हो जाता है पुनः अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध हो जाता है। तथा एक यह भी बाधा आती है कि ज्ञान ही जब ग्राह्य और ग्राहक बन गया तब बाह्य पदार्थों के उठाना, रखना, फेंकना, पकड़ना आदि जो कार्य देखा जाता है वह कैसे संभव होगा ? ज्ञान मात्र में लड्डू के जानने से किसी को आज तक उसका स्वाद नहीं आया है। जब सभी पदार्थों के आकार

ज्ञानमात्र में ही हैं तब तो पदार्थ के अभाव मे अनेको क्रियाय सभव नही हो सकगी।

इस पर बौद्ध ने कहा है कि भाई ! जितने भी काय दिख रहे है वे सब कल्पना मात्र हैं केवल संवृत्ति से ही दिख रहे हैं। तब तो भाई ! आप का विज्ञान तत्त्व भी कल्पना मात्र ही रहा। यदि एक ज्ञान तत्त्व को वास्तविक कहोगे और सभी को कल्पना मात्र कहोगे तब भाई ! कहने वाले आप और सुनने वाले हम सभी कल्पित ही रहेंगे तो आपका तत्त्व प्रतिपादन एव उसकी व्यवस्था भी कल्पित हो सिद्ध होगी। इसलिये जगत को चेतन अचेतन स अतरग बहिरग तत्त्व रूप मानना ही पड़गा और विज्ञान मात्र तत्त्व को कल्पित सिद्ध करके वास्तविक द्वैत की सिद्धि ही निर्बाध सिद्ध हो जावेगी।

चित्राद्वैतवाद

बौद्धो के यहा विज्ञानाद्वैतवाद के समान ही चित्राद्वैतवाद भी है। इन दोनो मे भेद इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान मे होने वाले नीलादि घटपटादि आकारो को भ्रात-कल्पित-झूठ मानते है और चित्राद्वैतवादी उन आकारो को सत्य मानता है किंतु दोना के यहा अद्वैत का साम्राज्य है।

चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकार का धारण करन वाली एक बुद्धि ही एक मात्र तत्त्व है। ससार मे और कुछ भी तत्त्व नही है।

इस मान्यता पर जैनाचार्यों का कहना है कि भाई ! चित्र ज्ञान भी कहो और एक ज्ञान भी कहो यह बात तो परस्पर विरुद्ध ही है। जब चित्रज्ञान है तब उसमे अनेको आकार पाये जाते हैं। पुन आप उसे अद्वैत नही कह सकते है। यदि चित्रज्ञान के अनेक आकारो को सवृत्तिरूप कहो तब तो आपका अद्वैत भी सवृत्ति रूप ही सिद्ध होगा। इसलिये क्रम तथा अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकार को ग्रहण करने वाले ज्ञान से युक्त एक आत्मा का ही अस्तित्व मान लो साथ ही साथ बाह्य पदार्थों को भी वास्तविक मानकर द्वैत सिद्धांत मे आ जाओ क्योंकि चित्राद्वैत की सिद्धि होना कथमपि शक्य नही है।

शून्याद्वैतवाद

बौद्ध के चार भेदो में से एक माध्यमिक है यह सकल जगत को शून्यरूप ही मानता है इसका कहना है कि जगत मे चेतनाचेतन आदि सभी पदार्थ काल्पनिक हैं इन्द्रजाल के समान है अतएव यह सारा जगत शून्यरूप ही है। यह शून्यवादी एक ज्ञान मे अनेक आकार भी नही मानता है।

इस पर जैनाचार्य ने समझाया है कि भाई ! यदि एक ज्ञान मे अनेक आकार नही मानोगे तो नील कमल के एक अंश का ग्राहक ज्ञान उसी कमल के दूसरे अंश को ग्रहण नही कर सकेगा अन्यथा एक ज्ञान में अंश की अपेक्षा अनेक आकार आ जावेगे और यदि एक ज्ञान एक समय मे कमल के एक ही अंश को ग्रहण करेगा तो अन्य सभी अंशो को ग्रहण न कर सकने से उस कमल का अस्तित्व नही सिद्ध होगा और न कमल दीखेगा एव प्रमाण जिसे ग्रहण नही करेगा वह प्रमेय रूप भी कैसे होगा और जब प्रमेय का अस्तित्व नहीं मानोगे तो ये ग्राम नगर बगीचे मनुष्य पशु, पक्षी आदि जो दिख रहे हैं उनका लोप आप कैसे करगे ? ससार में प्रतीति के बल से सभी वस्तुओ का अस्तित्व प्राय सभी वादी प्रतिवादी मान

लेते हैं आप लिखते हुये सारे विश्व को शून्य रूप कहते हुये तो पहले आप अपने आपको समाप्त कर लेंगे एवं शून्यवाद का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकेगा। यदि शून्यवाद का अस्तित्व मानोगे तब तो सर्वथा इसका खंडन तो अभावैकांत का निरसन करते समय आचाय स्वय ही बहुत ही सुदर ढग से करेंगे।

"ब्रह्माद्वैतवाद

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुए सत रूप है बस! इस सत का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। इस ब्रह्मवाद का खडन आगे चलकर अद्वैतवाद के खडन मे स्वय आचाय ने बहुत ही विशेष रूप से किया है यहा पर केवल सक्षप से दिग्दशन कराया जा रहा है।

ब्रह्मवादी का कहना है कि ये सभी चेतन अचेतन पदाथ प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म मे ही अत प्रविष्ट हैं क्योकि प्रतिभासित हो रहे हैं जसे कि परमब्रह्म का स्वरूप उसा के अत प्रविष्ट है। सारे जगत् के पदाथ प्रतिभासित हो रहे हैं अत वे परमब्रह्म के ही अत प्रविष्ट है।

इस पर जनाचार्यों का कथन है कि ये जो चेतन अचेतनादि अनेक पदाथ दिखाई दे रहे हैं ये सवथा असत्य—काल्पनिक नही है क्योकि जसे स्वप्न के राज्य से सुख नही मिलता है स्वप्न में भोजन करने से पेट नही भरता है वसो बात तो साक्षात राज्य का उपभोग करने मे या भोजन करने मे नहीं है प्रत्युत वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है अतएव सवथा इन सभी व्यवहारो को अविद्या का विलास कहना उचित नही है।

दूसरी बात यह भी है कि आप अपने ब्रह्मवाद को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि ता मानोगे ही फिर भला सवथा अद्वैत कहा रहा? यदि इन प्रमाणो को भी काल्पनिक कहोगे तो काल्पनिक उपायो से परमब्रह्म की सिद्धि भी काल्पनिक होगी न कि वास्तविक क्योकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति किसी बात को झठी ही कहेगा न कि सत्य यदि सत्य भी कहेगा तो वह असत्यभाषी नहीं कहलायेगा। इसलिये अविद्या से आपका परमब्रह्म भी अविद्या का ही विलास रह जाता है।

"शब्दाद्वैतवाद

शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि यह सारा जगत शब्दब्रह्म स्वरूप है यह शब्दब्रह्म तो अनादिनिधन है और अक्षरादि उसक विवत हैं। जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं वे सभी इसी शब्द ब्रह्म के भेद प्रभेद हैं। ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थ का निश्चय कराता है। मतलब जगत् में जितना भी ज्ञान है वह शब्द के द्वारा ही होता है। उनके यहां शब्द के चार भेद माने हैं। वखरीवाक मध्यमावाक पश्यतीवाक और सूक्ष्मावाक्। कहा भी है—

> "वैखरी शब्दनिष्पत्ति मध्यमा श्रुतिगोचरी।
> द्योतितार्था च पश्यंती सूक्ष्मावागनपायिनी

अर्थ—वक्ता के कंठ तालु आदि स्थानों से प्राणवायु के सहारे जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं उसे वैखरीवाक् कहते हैं।

अंतरंग में जो जल्परूप वचन है वे मध्यमावाक है। जो ककारादि के क्रम से रहित हैं तथा ज्ञान रूप हैं जिसमे वाच्य वाचक का विभाग नही होता है वे पश्यतीवाक है।

परम ज्योतीस्वरूप अत्यंत दुलक्ष्य कालआदि भेद से रहित ऐसी सूक्ष्मावाक है। इसी सूक्ष्मावाक् से सारा विश्व व्याप्त है। यदि ज्ञान श द ब्रह्म की वचनरूपता का उलघन करे तब तो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश ही नही रहेगा।

इस शब्दाद्वैतवाद का प्रमेयकमलमार्तण्ड मे श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बड ही सुन्दर ढग से खडन कर दिया है। आचार्य ने कहा है कि यह सारा जगत शब्दमय है ऐसा अनुभव कहाँ होता है ? सारे ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही होत है यह बात भी नही दिख रही है। नेत्रादि इन्द्रियो से जो ज्ञान होता है उसमे शब्द का सबध है ही नही। एक कर्ण ज्ञान को छोडकर किसी भी ज्ञान मे शब्द का सबध नहीं है फिर भी यदि जबरदस्ती ही मानो तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि ज्ञान से श द का सबध आपको कैसे हो रहा है, प्रत्यक्ष प्रमाण स या अनुमान प्रमाण स ? प्रत्यक्ष स कहो तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नेत्र के द्वारा जो भी नीलादि पदार्थों का प्रतिभास है वह श द स रहित है। स्वसवेदन प्रत्यक्ष भी शब्द को विषय नही करता है।

उपयुक्त यह सब दोषारोपण देखकर श दाद्वैतवादी कहता है कि श द का सबध पदार्थ स है अर्थात् सभी चेतनाचेतन पदार्थ शब्द स अनविद्ध हैं। इस पर भी यह प्रश्न होता है कि पदार्थ का स्थान और शब्द का स्थान एक है क्या ? यदि एक कहो तो बहुत बडी आपत्ति आ जावेगी। अग्नि जल आदि पदार्थ और शब्द एकमेक होने स अग्नि शब्द के सुनते ही कान जल जावेगे एव जल शब्द स कान में पानी भर जावेगा तब तो कान स कुछ सुनाई भी नही देगा किन्तु ऐसा तो होता नही है अत शब्द और पदार्थ का तादात्म्य सबध नही है क्योकि पदार्थ और श द भिन्न २ इन्द्रियो स ग्रहण किये जाते हैं शब्द केवल कर्णेन्द्रिय गम्य है।

दूसरी बात यह है कि यदि आप जगत को शब्द रूप मानते हो तब तो यह भी प्रश्न होता है कि वह शब्दब्रह्म जगत् रूप परिणत होता है तब अपने स्वभाव को छोडकर होता है या बिना छोड ? यदि छोड़ कर कहो तो शब्दब्रह्म अनादि निधन कहाँ रहा ? यदि शब्द अपने स्वभाव को छोड़ बिना भी जगत् रूप होता है तब तो बहिरे को एकेन्द्रिय आदि को और तो क्या पत्थर को भी सुनाई देना चाहिए क्योंकि सभी चेतन अचेतन पदार्थ शब्द से त मय ही तो हैं किन्तु ऐसा दिखता तो है नहीं। पुनरपि एक प्रश्न उठता है कि आपके शब्द ब्रह्म स यह जगत् रूप पर्याय भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष लेवो तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो ये नानाभेद क्यों दिखाई देते हैं ?

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिचार्वाकस्य निराकरणं क्रियते जैनैः]

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां[1] [1]प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थापनस्य[2] [2]संवादेतरस्वभावलिङ्गानुमाननिबन्धनस्य[3] परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमान[4]निमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्ध-

इस प्रकार से जैनाचार्यों के द्वारा दिये गये इन सभी दोषों से घबराकर उस शब्दाद्वैतवादी ने कहा कि भाई ! हमारे यहाँ ये कुछ भी दोष नहीं आते हैं क्योंकि हमारी मान्यता है कि शब्दब्रह्म से भिन्न जो नाना पदार्थ दिखाई दे रहे हैं यह केवल अविद्या का ही विलास है। हमारे यहाँ योगीजन तो शब्द ब्रह्म को नाना रूप से न देखकर एक रूप ही देखते हैं तब प्रश्न यह होता है कि वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न है तो आपका शब्दब्रह्म अविद्या रूप ही रहा।

और दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि आपकी मान्यता के अनुसार पदार्थ शब्दमय हैं तब तो गिरि शब्द तो इतना छोटा है और गिरि शब्द का वाच्य पहाड़ कितना बड़ा दिख रहा है ऐसा क्यों ? शब्दमय गिरि पदार्थ कहां रहा ? किसी भी पदार्थ के वाचक शब्द क्या उस वस्तु के बराबर बड़े हो सकते हैं अणु शब्द और आकाश मेरु आदि के वाचक शब्द अपने वाच्य के बराबर हो जावें फिर क्या होगा ? तथा यदि शब्दमय पदार्थ हैं तो संकेतादि के बिना भी प्रत्येक बालक मूर्ख आदि को उसका ज्ञान होना चाहिये किंतु ऐसा होता नहीं है बाल्यकाल से ही बालकों को हजारों बार पदार्थों में संकेत कराया जाता है। देखो बालक ! यह पुस्तक है यह पेंसिल है इत्यादि प्रत्येक वस्तु में बार बार संकेत के सुनने से बालक उस नाम से उस पदार्थ को जानने लगता है। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि आपका शब्दाद्वैतवाद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है इसका दुराग्रह छोड़ देना चाहिये।

[चार्वाक का खण्डन]

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक के यहां संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान के निमित्त से होने वाली प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था और वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से होने वाला पर के चित्त-चैतन्य का ज्ञान तथा अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान हेतुक परलोकादि का निषेध है ऐसा कथन प्रत्यक्षैक प्रमाण के विरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये और इनके मानने पर तो प्रमाणांतर—अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चार्वाक प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को संवाद और विसंवाद से ही मानता है बस ! यही स्वभाव हेतु है। उसी प्रकार से दूसरों की बुद्धि का ज्ञान उसके वचन बोलने आदि कार्य हेतु से होता है तथैव परलोकादि का निषेध अनुपलब्धि हेतु से होता है अतः इन तीन हेतुओं से उत्पन्न हुये अनुमान को मान लेने से यह चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है यह बात नहीं बन सकती है।

१ चार्वाकानाम्। २ इतरत् = अप्रमाणम्। ३ इतर = विसंवाद।

(1) अप्रमाणमनुमानादिकं। (2) समर्थनस्य। (3) यस्य। (4) यस्य।

स्याभिधानं[1] प्रतिपत्तव्य [1]तथा [2]प्रमाणान्तरसिद्ध[2]। परोपगमात्तत्स्वीकरण [3]स्वयं प्रमाणे-तरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्ते कुत प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद[3] [4]अतिप्रसङ्गात ।

यदि आप कहे कि पर की स्वीकृति से हम प्रमाणातर को स्वीकार करक निषध करते हैं तब तो स्वयं प्रमाण और प्रमाणाभास रूप सामान्य की व्यवस्था नहीं हो सकने से आपक यहाँ प्रत्यक्ष रूप ही एकप्रमाणवाद कसे सिद्ध होगा ? अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा। अर्थात अनुमान क सदभाव मे भी एकप्रमाणवाद को यदि चार्वाक मान तब तो अनेक प्रमाणवादी वशषिकादिको को भी एकप्रमाणवादिता का प्रसग आ जावेगा।

भावार्थ—चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानता है उसके प्रति आचाय कहते हैं कि—

प्रमाणतरसामा य स्थितेर यधियो गते ।
प्रमाणातरसदभाव प्रतिषधाच्च कस्यचित ॥

अर्थ—प्रमाण सामा य और अप्रमाण सामा य की स्थिति होने से शिष्यादि की बुद्धि क ज्ञान से और परलोकादि क प्रतिषध से प्रमाणा तर अर्थात् अ य प्रमाणरूप अनुमान का सदभाव सिद्ध होता है। तात्पय यह है कि अनुमान प्रमाण क माने बिना न तो प्रमाण सामा य ही सिद्ध हो सकता है और न अप्रमाण सामा य ही क्योकि किसी भी ज्ञान सामा य को प्रमाण सिद्ध करने मे उसका अविसवादी होना आवश्यक है तथव मिथ्याज्ञान का विसवाद क साथ अविनाभाव सबध है। अत प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य को सिद्ध करने क लिए अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक ही हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि यह चार्वाक एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है इस प्रकार जब दूसरो को समझावेगा तब अन्य पुरुष क वचन चातुय आदि के द्वारा उसकी बुद्धि रूप काय का अनुमान करक ही तो सम झावेगा क्योकि वचन चातुय आदि बुद्धि क काय हैं तथव पुण्य पाप परलोकादि का निषध करने क लिए उस चार्वाक को अनुपलब्धि रूप हेतु का आश्रय लेना ही पडगा। अर्थात प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की व्यवस्था सवाद और विसवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्प न हुए अनुमान स होती है तथा वचन व्यापा रादि काय हेतु से उत्पन्न हुआ जो अनुमान है उस अनुमान स पर की बुद्धि आत्मा आदि का ज्ञान होता है पुन उसको समझाया जाता है एव अनुपल धि हेतुक अनुमान स परलोक पुण्य पापादि का निषध किया जाता है अत चार्वाक क यहा अनुमान प्रमाण बिना मान ही जबरदस्ती आ जाता है। चार्वाक उसका निषध नहीं कर सकते हैं और यदि करते हैं तो उनक यहा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नही हो सकता है।

१ तथा सति । २ प्रमाणतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते । प्रमाणान्तरसद्भाव प्रतिषेधाच्च कस्यचित् इति वचनात् । ३ अन्यथा । ४ अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात् ।

(1) प्रतीति । (2) अनुमान । (3) स्वस्य ।

[तर्कमेह विनानेकप्रमाणवादिनां प्रमाणव्यवस्थापि न तत्त्वव्यवस्थां कर्तुं क्षमा]

तथानेकप्रमाणवादिना 'कपिल'[1]'कणभक्षाक्षपाद'[2][3]'जैमिनिमतानुसारिणा'[4] स्वोपगतप्रमाण-सङ्ख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधान[5] बोद्धव्य, प्रमाणा-न्तरस्योहस्य सिद्ध । यावान्कश्चिद्धूम स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्य 'तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात । नाप्यनुमानस्य[6], अनवस्थानात तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात । इति वैशेषिकस्योह प्रमाणान्तरमनिच्छ-तोप्यायातम् । 'एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम'[10] । तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽन

[तर्क प्रमाण के न मानने से हानि]

तथा अनेक प्रमाणवादी कपिल—सांख्य कणभक्ष—वैशेषिक अक्षपाद—नैयायिक जैमिनि—प्रभा करभट्ट के मत का अनुसरण करने वालों को अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण की संख्या के नियम से विरुद्ध समस्त रीति से साध्य साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क नाम का प्रमाण अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। वह भिन्न प्रमाण रूप ऊह नाम से प्रसिद्ध ही है। अर्थात् इन सभी ने दो तीन चार पाँच छह आदि रूप से प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति और अभाव रूप जो प्रमाण मान हैं उनमें तर्क प्रमाण न होने से साध्य साधन के अविनाभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है, एक तर्क ही ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति को विषय कर सकता है। इसीलिये आचार्य उस तर्क को पृथक प्रमाण सिद्ध करते हैं।

जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अनग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार के ज्ञान को कराने में प्रत्यक्ष की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष सन्निहित–वर्तमान विषय के ज्ञान का फलस्वरूप है। अनुमान भी उस व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है क्योंकि अनवस्था आ जाती है कारण यह है कि वह व्याप्ति भी अन्य अनुमान से गम्य होगी। इस प्रकार से वैशेषिक के यहाँ तर्क नाम का प्रमाण स्वीकार न करने पर भी आ ही जाता है।

इसी कथन से सौगत के यहाँ भी तर्क नाम का भिन्न प्रमाण आ ही जाता है।

तथा आगम भी व्याप्ति को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है अतः कपिल–सांख्य को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा एवं व्याप्ति को ग्रहण करने में उपमान प्रमाण भी असमर्थ है अतः आप नैयायिक को भी इस तर्क को मानना ही होगा। प्रभाकर के यहाँ भी अनुमान के समान अर्थापत्ति से व्याप्ति का ज्ञान न होने से तथा भट्टमतानुसारी को मान्य अभाव प्रमाण भी उसे नहीं जान सकता है अतएव इन प्रभाकर

१ कपिल=साङ्ख्य । २ कणभक्षो=वैशेषिक । ३ अक्षपादो=नैयायिक । ४ जैमिनि=प्रभाकरभट्ट । ५ ऊहाख्यस्य । ६ प्रत्यक्षस्य । ७ अनुपरिज्ञाने सामर्थ्यम् । ८ अनिच्छत् । ९ वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन । १ सौगतेनापि प्रत्यक्षा-नुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात् ।

धिकारात्कापिलस्योह प्रमाणं नैयायिकस्य च 'तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात् 'प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात्[1] । तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छता तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिना तत्त्वोपप्लवोप गमस्य प्रमाणसिद्ध्यविनाभाविन सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध'स्याभिधानमवगन्तव्यम ।

[परस्परविरोधदोषस्य स्पष्टीकरण]

वैनयिकानां तु सवमवगतमिच्छता परस्परविरुद्धाभिधान विरुद्धसवेदन प्रसिद्धमेव 'सुगतमतोपगमे [2]कपिलादिमतस्य विरोधात । तत सिद्धो हेतु परस्परविरोधत इति

और भाट्ट को भी तक प्रमाण मानना ही पडगा अर्थात चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान य दो प्रमाण मानते हैं। साख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान य चार प्रमाण मानते है। इन्ही चार प्रमाणों मे अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर पाच प्रमाण मानता है एव मीमासक और जमिनीय इन्हीं पांच प्रमाणो में एक अभाव प्रमाण मिलाकर छह प्रमाण मानते है।

तथा एक भी प्रमाण को न स्वीकार करते हुए तत्त्वोपप्लववादी अनेक प्रमाणवादी हो जाते हैं 'न एक अनेक' से जहा एक नही वहा अनेक सिद्ध हो जाता है। उनकी तत्त्वोपप्लव–शून्यवाद की स्वीकृति प्रमाणसिद्धि से अविनाभावी है वह सपूणतत्त्वोपप्लव से विरुद्ध–तत्त्व क सदभाव का ही कथन कर देती है ऐसा समझना चाहिय। अर्थात तत्त्वोपप्लवग्राही प्रमाण सत्यभूत सिद्ध हो जाता है एव तत्त्वोपप्लव रूप प्रमेय भी सत्य रूप सिद्ध हो जाता है। अत सम्पूण तत्त्व के अभाव का कथन ही विरुद्ध हो जाता है।

[परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण]

सभी को अवगत रूप–मान्य रूप स्वीकार करते हुय वनयिको का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाला विरुद्ध ज्ञान प्रसिद्ध ही है क्योकि सुगत मत की स्वीकृति मे साख्य के द्वारा स्वीकृत मत विरुद्ध हो जाता है।

इसलिये 'परस्पर विरोधत यह हेतु सिद्ध ही है और यह सभी तीथकृत् सप्रदायो मे आप्त क

१ अनुग्रहणे। २ प्रत्यक्षमनुमान च शाब्दं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट प्रमाणानि जैमिने ॥ जैमिन षट प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिन । साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्व वैशेषिकबौद्धयो ॥ श्लोकानुक्तमपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम्। ३ यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाण सत्यभूतमायात तत्त्वोपप्लवरूप प्रमेयश्च तत सकलतत्त्वोपप्लवाभ्युपगमस्य विरोध। ४ कुत ?

(1) अनधिकरणात। श्लोकयोरिमयोस्तयोरर्थमिद। प्रत्यक्ष चानुमानञ्च शाब्द चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिने ॥ १ ॥ जैमिने षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिन । साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयो ॥ २ ॥ प्राभाकरस्य पंचप्रमाणानीति श्लोकानुक्तमपि ज्ञातव्य। (2) कपिलादिमतोपगमस्य इति पा।

अभाव को सिद्ध कर देता है।

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी और चार्वाक ये दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत बातों को लिए हुए हैं। ब्रह्माद्वैतवादी तो चेतन अचेतन सभी पदार्थों को ब्रह्म की ही पर्याय मानता है और चार्वाक सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों को भूतचतुष्टय रूप जड़ के ही गुण धर्म मानता है। अद्वैतवादी कहता है कि पदार्थों में जन्म, मरण उत्पाद व्यय आदि जो भी परिणमन पाया जाता है वह सब अविद्या का विलास है। सभी पर्यायें अंत में ब्रह्म मे ही विलीन हो जाती हैं किन्तु चार्वाक सर्वथा इससे विपरीत जीव के प्रति जन्म मरण के अस्तित्व को न मानकर जड से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और मरण के अनन्तर चैतन्य का सर्वथा अभाव मानकर भूतचतुष्टय मे ही चैतन्य की परिसमाप्ति मान लेता है। ब्रह्माद्वैतवादी चेतन स्वरूप एक परमब्रह्म से ही चेतन की एवं विजातीय स्वरूप अचेतन की भी उत्पत्ति मान रहा है तथैव चार्वाक अचेतन रूप पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मान कर पुनरपि इन्ही भूतचतुष्टयो से चेतन स्वरूप विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति मान रहा है।

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध सिद्धांत भी सर्वथा परस्पर विरुद्ध हैं। सांख्य सभी चेतनअचेतन पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानता है बौद्ध सभी चेतनअचेतन पदार्थों को प्रतिक्षणध्वंसी सर्वथा क्षणिक मान लेता है सांख्य पर्यायों को भी नित्य कह रहा है और बौद्ध द्रव्य को भी उत्पाद व्यय रूप कह रहा है।

सांख्य सत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारण मे कार्य सर्वथा विद्यमान है केवल तिरोभूत है निमित्त कारणो से उस कार्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा—मिट्टी मे घट विद्यमान है कुंभकार दंड चाक आदि कारणो से प्रकट हो जाता है न कि उत्पन्न किन्तु बौद्ध सर्वथा इससे विपरीत असत्कार्यवादी है। वह कहता है कि कारण तो उसी क्षण जड़ मूल से विनष्ट हो जाता है पुनः कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—मृत्पिंड का सर्वथा विनाश होकर ही घट का उत्पाद हुआ है विनष्ट हुये कारण से कार्य को उत्पन्न हुआ मानने वाला यह बौद्ध तो अपनी बुद्धिमत्ता की ही डींग मार रहा है। सांख्य आविर्भाव और तिरोभाव मानकर के किसी भी वस्तु मे उत्पाद व्यय नही मानता है तो बौद्ध द्रव्य मे भी स्थिर—ध्रौव्यावस्था को न मान कर के सर्वथा द्रव्य का प्रतिक्षण जड़ मूल से नाश मान रहा है और वासना—संस्कार से सभी वस्तुओं की व्यवस्था स्मृति आदि व्यवहार मानता है।

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति रूप अचेतन के द्वारा ही सारे संसार का उत्पाद मानता है तो वैशेषिक एक सदाशिव स्वरूप महेश्वर के द्वारा इस सृष्टि का उत्पाद मानते हैं मतलब सांख्य ने जड़ को सृष्टि का कर्ता माना है तो वैशेषिक महेश्वर चेतन भगवान् को सृष्टि का कर्ता मान रहे हैं। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर में विरोध वैसे ही पाया जाता है जैसे कि हिंदू—मुस्लिम मे देखा जाता है। यदि हिंदू संप्रदाय वाले सिर पर शिखा रूप चोटी रखना धर्म कहते हैं तो मुसलमान चोटी कटाकर धर्म मानते हैं। हिंदू दिन में भोजन करना व्रत समझते हैं तो मुसलमान रात्रि में रोजा खोलते हैं। हिन्दू सूर्य को अर्घ चढ़ाते हैं तो मुसलमान चन्द्र को मानकर व्रत करते हैं, इत्यादि।

[1]तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति। [1]यदि पुनः संविदद्वैतादीनां[1] [2]स्वतः प्रमितिसिद्धेः [2]प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनां [3]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिना, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात् तथानेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं [4]तदापि न तेषामाप्ततास्ति स्वप्रमाण्यावृत्ते[4]रन्यथा[6]नैकान्तिकत्वात्[5] ।*

यहां पर कहने का मतलब यह है कि यदि वैनयिक सम्प्रदाय वाले सभी मतों को प्रमाण मानेंगे तो क्या होगा ? क्योंकि सभी में परस्पर में विशेष रूप से विरोध दिख रहा है। इसलिये वैनयिक भी तीर्थ विनाशी सम्प्रदाय वाले ही सिद्ध हो जाते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी आदि चारों अद्वैतवादी कहते हैं कि संवेदनाद्वैत आदि का ज्ञान स्वतः सिद्ध है प्रमाणांतर से स्वपक्ष साधन परपक्ष दूषण रूप वचनों का अभाव है इसलिये स्वसंवेदन रूप एक प्रमाण मानने वालों का कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है। इंद्रिय से उत्पन्न होने वाला ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा मानने वालों का भी कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रमाणता तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अनुमानादि की प्रमाणता का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाणांतर का प्रसंग नहीं है।

तथैव अनेक प्रमाणवादी लोगों की भी स्व स्व स्वीकृतप्रमाण की संख्या का नियम स्वतः ही सिद्ध है। ऊह नाम के भिन्न प्रमाण का प्रसंग नहीं आता है अतः परस्पर विरुद्ध कथन संभव नहीं है ऐसा जिन लोगों का मत है उन लोगों में भी आप्तता नहीं है **क्योंकि उनके यहां स्वप्रमा की (अपने ज्ञान की) व्यावृत्ति हो जाती है। अन्यथा अनैकांतिक दोष आ जावेगा*।**

१ संवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति।—हे स्याद्वादिन् ! वयमस्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तद्द्वयमपि नास्ति यस्मादित्यमिति। अस्योत्तरमाह स्याद्वादी तथापि तेषामाप्तता नास्ति स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणाया प्रमाया अभावात् इति। २ चतुर्णामद्वैतवादिनाम्। ३ आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात् प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः। ४ परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः। ५ तथापीत्यर्थः। ६ अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति।

(1) वस । (2) संविदद्वैतमेव साध्यधर्मसंविदं सहोपलम्भनियमात्। चित्राभासापि एकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् सर्वे भावा शब्दमया एव एतेषां तदाकारानुस्यूतत्वात् यथा घटसरावादयो मृद्विकारा मदाकारानुस्यूता मृण्मयत्वेन प्रसिद्धास्तथा सर्वे भावा इत्यादेः प्रमाणान्तरतः। (3) प्रमितिः। (4) स्वेन स्वकीयरूपपरिच्छित्यभावात्। (5) अनेकधर्मसहितत्वात्।

[अन्यसिद्धांतेषु स्वय स्वस्यैव ज्ञानं न संभवति]

न हि सविदद्वैतेऽन्यत्र[1] वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा सभवति [2]निरशत्वात्प्रमातृप्रमाणप्रमेय स्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया [3]व्यावृत्तस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरेकान्तिकत्वाभावात्[4] प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमननात्[5] संवित् स्वय स्वेन स्व सवेदयत इति प्रतीते ।

[अन्य सिद्धांतो मे स्वय को स्वय का ज्ञान सभव नही है]

विज्ञानाद्वैत मे अथवा अन्य अद्वैतो में स्वय का स्वय के द्वारा ही ज्ञान सभव नही है क्योकि बौद्धो की अपेक्षा तो वह ज्ञान निरश है—अनेक धर्मों स रहित है और दूसरी बात यह भी है कि प्रमाता—आत्मा प्रमाण और प्रमेय स्वभाव की व्यावत्ति मानने पर तो प्रमा—ज्ञप्ति की भी व्यावृत्ति हो जाती है और उस प्रमा—ज्ञप्ति की व्यावृत्ति न मानने पर प्रमाता आदि स्वभाव की भी व्यावत्ति नही होने से तो एकात का अभाव हो जाता है एव अनेकात की ही सिद्धि हो जाती है क्योकि प्रमाता प्रमेय प्रमिति आदि अनेक स्वभाव रूप एक ज्ञान अनेकातात्मक ही स्वीकार किया गया है । अतएव हम जनो के यहा ज्ञान स्वय स्वय के द्वारा स्वय का सवेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है ।

भावार्थ प्रमाण शब्द व्याकरण के अनुसार जन सिद्धात मे तीन तरह से सिद्ध होता है । जब कर्तृ साधन मे कर्ता—आत्मा प्रधान रहता है उस समय य प्रमिमिणोति स प्रमाण जो जानता है वह प्रमाण है । जब करणसाधन मे आत्मा अप्रधान है तब प्रमीयते अनेन इति प्रमाण यहा पर आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह प्रमाण है एव भाव साधन मे प्रमिति मात्र प्रमाण के अनुसार जानना मात्र प्रमाण है । यहा पर चार बात है प्रमाता आत्मा प्रमाण ज्ञान प्रमेय—ज्ञयपदार्थ और प्रमा—जानना मात्र । जनसिद्धात मे आत्मा को इन चारो रूप से सिद्ध किया है यथा आत्मा ही प्रमाता—जानने वाला है आत्मा ही ज्ञान रूप है आत्मा ही स्वय ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अत प्रमेय—ज्ञय रूप भी है तथैव आत्मा ही भाव साधन मे प्रमा मात्र—जानना मात्र रूप से प्रमा रूप भी है । जो बौद्ध आदि लोग ज्ञान को एक निरश मानते है उनके यहाँ स्वय का ज्ञान भी सिद्ध नही हो सकता है क्योकि जब ज्ञप्ति स्वय ज्ञाता ज्ञय और ज्ञान से रहित है तब स्वय की आत्मा (ज्ञाता) का ज्ञान कसे करावेगी एव जब स्वय को स्वय का ज्ञान नही हो सकेगा तब वह व्यक्ति किसी का ज्ञान भी कसे कर सकेगा ? ये सब दूषण ज्ञान को अश रहित एक रूप मानने से ही आते है । हम जनो के यहा तो एक ज्ञान को ही कर्त्ता की अपेक्षा ज्ञाता, करण की अपेक्षा से ज्ञानरूप माना है एव उसी को ज्ञय और ज्ञप्ति रूप से भी माना है । अत कुछ भी बाधा नही आती है क्योकि ज्ञान स्वयं ही स्वय के द्वारा स्वय का वेदन—अनुभव कर रहा है और ऐसा अनुभव से सिद्ध है ।

१ अद्वैतान्तरे । २ अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया) । ३ तस्या प्रमाया भावे सति । ४ स्याद्वादसिद्धेरित्यर्थं । ५ कुत ? यत ।

[चार्वाकादिमते ज्ञानं स्वसंविदितं नास्ति अत प्रमाणस्य व्यवस्था तेषां न घटते]

[1]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते 'भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात्[1] । इति सिद्धा [2]तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्ति । ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादि । तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्ध स्याद्वादाश्रयणादकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्[3] । [3]एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमा यावत्तिर्व्याख्याता । तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्ति, [4]अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्ध [5] । तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया यावत्ति सिद्ध व । तद यावत्तौ [6]तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च[7] । ततो नतेषामाप्तता । किञ्च **सर्वप्रमाणविनिवत्तेरितरथा**[8]

[चार्वाक आदि के मत मे ज्ञान स्वसंविदित नही है अत उनके यहा प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है]

इन्द्रियज प्रत्यक्ष मे भी अपने को अपना ज्ञान नही हो सकता है क्योकि भतचतुष्टयवादी चार्वाको ने उस ज्ञान को अस्वसंविदित स्वीकार किया है । अत उस प्रत्यक्ष प्रमाण मे अपने ज्ञान की व्यावत्ति (अभाव) सिद्ध ही है अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाण और अप्रमाण सामा य की स्थिति आदि नही हो सकती है । अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण मे ज्ञान की व्यावत्ति न मानने पर तो ज्ञान स्वाथ व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाता है पुन स्याद्वाद का आश्रय ले लेने से एकात का अभाव होकर अनेकात ही सिद्ध हो जाता है ।

इसी कथन से अनेक प्रमाणवादियो के अनेक प्रमाणो म अपने अपने ज्ञान की व्यावृत्ति सिद्ध ही है ऐसा व्याख्यान किया गया है अथवा यदि ज्ञान की यावत्ति न मानो तो अनेकांत का प्रसग आ ही जाता है क्योंकि अनेक शक्त्यात्मक रूप से स्वाथव्यवसायात्मक स्वरूप अनेक प्रमाण सिद्ध हैं । अर्थात ज्ञान को स्वार्थ निश्चायक माने बिना किसी के यहाँ ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता है ।

तत्त्वोपप्लववादी के यहा सपूर्ण तत्त्व का उपप्लव—नाश मान लेने पर तो अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है । यदि अपने ज्ञान की यावत्ति (अभाव) न मानो तो तत्त्वोपप्लवरूप एकात का ही अभाव हो जायेगा । अर्थात अपने ज्ञान का सदभाव मानने पर पुन अपना ज्ञान ही तो प्रमाण प्रमेयरूप सिद्ध हो जाता है पुन शून्यवाद कहा रहा ?

१ चार्वाकै । २ प्रत्यक्षे । ३ बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमाणादिव्यावत्तौ प्रमाया व्यावत्तिरित्याद्युक्तप्रकारेण । अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदितत्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च । ४ एता शक्तय कारणरूपा । ५ एतत्कार्यरूपम् । ६ स्वप्रमायास्सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात् । ७ पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि निराकरोति । ८ सूत्र परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम् । तेन सर्वप्रमाणविनिवत्त रित्यादेरपि ग्रहणम् । ९ कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन ।

(1) कुतो स्वसंविदितत्वं । भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वात । भूतचतुष्टयमस्वसंविदितमचेतनत्वात् कारणगुणा हि कार्यगुणान् आरभन्ते । (2) स्वार्थव्यवसायरूपप्रमाणस्य । (3) तत्त्वमुपप्लुतमेवेतिनियमाभाव ।

सम्प्रतिपत्त ।* ये[1] तावदेक नित्य[2] प्रमाण स्वभावभेदा[3]भावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्ति[5] ये[4]प्यनेकमनित्यं प्रतिक्षण स्वभावभेदादाचक्षते [5]तेषामपि प्रत्यक्षादिप्रमाणानां [1]नित्यै कान्ता[6]न्यत[7]रेणैव प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन सम्प्रतिपत्त । ततो नतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिना तीर्थकृत्समयानामाप्तता ।

[आवरणरहितज्ञानवत सवज्ञस्य वागादिव्यापारा असाधारणा सति न तु साधारणा]

किञ्च [9]वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिक[10] [11]क्वचिदनाविलज्ञान[2] निराकरोति न पुनस्त त्प्रतिषेधवादिषु[12] तथेति [13]परमगहनमेतत ।* तथाहि । [3]तीथच्छेदसम्प्रदायास्तथकान्तवा

इसलिये इन सभी मे आप्तता नही है **क्योकि इन सभी के यहां सभी प्रमाणो की विनिवृत्ति (अभाव) हो जाती है पुन अन्यथा—कथचित नित्यानित्यात्मक रूप से ही सिद्धि हो जावेगी ।***

जो नित्यकातवादी साख्य और ब्रह्माद्वतवादी कहते हैं कि वस्तु मे स्वभाव भेद का अभाव होने से एक नित्य ही प्रमाण है उनके यहा भी सभी प्रमाणो का अभाव हो जाता है ।

और जो अनित्यवादी सौगत प्रतिक्षण स्वभाव के भेद से एक अनित्य प्रमाण को कहते हैं उनके यहा भी सभी प्रमाणो का अभाव हो जाता है क्योकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो का ज्ञान नित्यकात और अनित्यकात स भिन्न ही कथचित प्रकार से कथचित नित्यानित्यात्मक रूप से देखा जाता है। इसलिए इन नित्यानित्यकात प्रमाणवादियो के तीथकृत—तीथविनाश सप्रदायो मे आप्तता नही है ।

[आवरण रहित ज्ञान वाल सवज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं साधारण नही हैं ।]

दूसरी बात यह है कि **वचन इन्द्रिय बुद्धि इच्छा पुरुषत्वादि किन्हीं—सुगत कपिलादि एकांतवादियो मे ही अनाविल—निरावरण ज्ञान का निराकरण करते हैं कि तु उनके प्रतिषधवादियो—जनो में उस प्रकार से निरावरण ज्ञान का निषेध नहीं है इस प्रकार से यह समझना बहुत ही गहन है ।***

तथाहि— तीथच्छेदसप्रदाय वाले उस प्रकार से एकातवादी ही हैं वे निरावरणज्ञानधारी नहीं हैं क्योकि वे एकातवादी अविशिष्ट वचन—सामान्य वचन इन्द्रियज्ञान इच्छादिमान है अथवा अविशिष्ट सामान्य पुरुष आदि हैं जसे रथ्या पुरुष । इसलिए इन लोगो मे आप्तता नही है ।

---

१ नित्यवादिन साख्या ब्रह्माद्वतवादिनश्च । २ ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्वमेकत्व चेति भाव । ३ युगपत्क्रमेण वा । ४ अनित्यवादिन सौगता । ५ सर्वप्रमाणविनिवत्तिरिति सम्बन्ध । ६ सकाशात् । ७ प्रकारेणानित्यकान्तग्रहणम् । ८ कथञ्चित्प्रकारेण । ९ मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां सुगतादीनामाप्तता नास्ति पर त्वस्माक त्वस्तीति वक्तुकामा वागक्षेत्याद्याहुराचार्या । १० कतृ पदम् । ११ सुगतकपिलाद्यकान्तवादिषु । १२ जनेषु । १३ दुरवबोधम् ।

---

(1) नित्यैकांतादनित्यकांतान्यतरेणैव इति पा । (2) निर्दुष्टज्ञानं । (3) सुगतादय ।

विनो[1] वाङ्व्यापिकज्ञाना[1] अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छाविमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा सर्वज्ञस्या-
वद्[1] । इति नैतेषामाप्तता । [1]तत्प्रतिषेधवादिनां पुन स्याद्वादिनां नातः[2] कश्चिदविशिष्टवा-
गादिमानविशिष्टपुरुषो वा[3] तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्[4], [4]करणक्रम-
व्यवधाना[5]तिवर्तिबुद्धित्वात [6]इच्छारहितत्वाद्वि शुद्धपुरुषातिशयत्वादिति । यथा वागा-
दिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थ न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने [5]भगवतीति
परमगहनमेतत्, [9]अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद[10]कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्[6] । इत्थं सिद्ध

उन अविशिष्ट वचन आदि का प्रतिषध करने वाले स्याद्वादियो मे इस प्रकार से कोई सर्वज्ञ अवि
शिष्ट—सामान्य वचनादिमान अथवा अविशिष्ट—सामान्य पुरुष नही है क्योकि वे सर्वज्ञ युक्ति और
शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं ऐसा स्वीकार किया गया है । वे इन्द्रियो के क्रम और व्यवधान से
रहित ज्ञान वाले हैं इच्छा से रहित हैं एव विशुद्ध अतिशयशाली पुरुष हैं । जिस प्रकार से सुगतादिको
के वचन आदि निर्दोष ज्ञान के निराकरण मे समथ है उस प्रकार के वचन आदि स्याद्वादन्यायवेदी हम
जैनियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले भगवान मे नही हैं यह परम गहन—दुष्कर ही है ।

भावार्थ—मीमासक कहता है कि कोई भी मनुष्य सवज्ञ नही हो सकता है क्योकि वह वक्ता है
इन्द्रियज्ञान से सहित है, इच्छावान है एव पुरुष है । जसे कि हम लोग वक्ता हैं इन्द्रियज्ञान सहित हैं
इच्छावान हैं एव पुरुष हैं ।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि ये वक्तृत्व आदि जसे हम और आप मे पाये जाते हैं वसे ही
साधारण रूप से हम जनों के द्वारा मान्य सवज्ञ मे नही पाये जाते हैं । हमारे सवज्ञ भगवान के जो वचन
आदि व्यापार हैं वे साधारण लोगो मे असभवी—विशेष रूप ही हैं । सर्वज्ञ भगवान् के वचन युक्ति और
आगम से अविरोधी हैं दिव्यध्वनि से उत्पन्न द्वादशाग वाणी रूप हैं । यद्यपि सर्वज्ञ भगवान की भाषा
अनक्षरी है फिर भी श्रोताओ के कान मे प्रविष्ट होकर सातसौ अठारह भाषा रूप अथवा सख्यातों भाषा
रूप परिणत हो जाती है । ज्ञानावरण का पूणतया नाश हुये बिना साधारण छद्मस्थ जीवो मे ऐसे वचन
असम्भव ही हैं ।

सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रिया से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नही है किंतु अतीन्द्रिय ज्ञान
है । अत इन्द्रियो की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान क्रम की अपेक्षा नही रखता है युगपत् ही सारे

१ निरावरणज्ञाना । २ अविशिष्टवागादिप्रतिषधवादिनाम् । ३ अविशिष्टवाक्त्व निराकृतमनेन । ४ अक्षबुद्धिनिराक
रणमनेन । ५ आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रह । ६ इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन । ७ अविशिष्टपुरुषत्वमनेन
निराकृतम् । ८ सुगतादिषु । ९ युक्तिन्यार्य । शास्त्रमागम । १० निष्कलङ्कबुद्धि पक्ष अकलङ्कदेवानां बुद्धि ।

(1) निरवादि । (2) नाप्त इति पा । (3) कुत (4) व्यवधानातिवर्ति इति पा । इंड । इत्यादिना । (5)
वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं । (6) तीर्थकृत्सम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति यतः ।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम्[1]। तेन कः परमात्मा चिदेव[2]लब्ध्युपयोगसंस्कारारणा-मावरणनिबन्धनानामत्यये[3] भवभृतां[4] प्रभुः ।* सकलस्याद्वादन्यायविद्विषां[5]माप्तप्रतिक्षेपप्रका-रेण[1] हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्ध्यति ।

[अर्हद् भगवानेव सर्वज्ञो न चान्य इति साधनं]

तेनैव[2] कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मी-

---

पदार्थों को एक साथ जान लेता है और तो क्या केवली भगवान् के ज्ञानावरण दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन भी एक साथ ही उत्पन्न हो जाते है। इसीलिये इस ज्ञान मे किसी भी प्रकार अतराल भी नही पडता है। सर्वज्ञ भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का भी अभाव हो गया है। अतएव वीतराग भगवान की वाणी इच्छा रहित है यथा—

अनात्मार्थं विना रागं शास्ता शास्ति सतो हितम् ।

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात् मुरजः किमपेक्षते ।।

इसी प्रकार से वे भगवान हम और आप जसे साधारण पुरुष भी नही हैं परमौदारिक दिव्य शरीर के धारक महान पुरुष हैं। अतएव हमारे सर्वज्ञ भगवान् मे आप आवरण रहित—पूर्ण ज्ञान का निषेध नही कर सकते हैं। हा! इतना जरूर है कि अन्य बुद्ध कपिल महेश्वर आदि मे ये असाधारण वचन इंद्रिय जन्य ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) से रहित क्षायिक ज्ञान इच्छा का अभाव असाधारण पुरुषत्व आदि बातें नहीं पाई जाती हैं अत इनमे ही निरावरण ज्ञान का अभाव है ऐसा समझना चाहिये।

जो युक्ति—तर्क और शास्त्र के ज्ञानी नही हैं वे सर्वज्ञ उनके अगोचर हैं वे केवल अकलंक—निर्दोष बुद्धि के ही गम्य हैं अथवा भट्टाकलकदेव की बुद्धि के ही गम्य हैं। इस प्रकार से सुनिश्चितासभवद्-बाधक प्रमाणत्व हेतु सिद्ध हो गया।

जिस कारण से सभी तीर्थच्छेद सप्रदायवादियो मे आप्तता नहीं है उसी कारणसे 'क—परमात्मा चित्—चतन्य पुरुष एव—ही आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के सस्कारों के नाश हो जाने पर संसारी प्राणियों के गुरु हैं।*

सपूर्ण स्याद्वादन्याय के विद्वेषियो मे आप्त का खडन कर देने से स्याद्वादियो के महा आप्त का निराकरण करना शक्य नही है इस प्रकार से सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

[अर्हत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।]

इस प्रकार से अब कारिका के चतुर्थ पाद का व्याख्यान करते हैं। 'क—परमात्मा परा आत्यंतिकी

---

१ येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन। २ इन्द्रियानिन्द्रियान्यतमावरणक्षयोपशमो लब्धिः। अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। तयोः संस्कारास्तेषाम्। ३ आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम्। ४ भवं सन्तीति विभ्रति भवभृतः संसारिणस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेद्गुरुरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम्। ५ सुगतादीनाम्।

---

(1) [illegible] इति पा.। (2) कारणेन।

र्थस्येति विग्रहात् । चिदेव[1] ज्ञ[2] एव[1] न पुन कथञ्चिदप्यज्ञ, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्या-श्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि[1] चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्[2] ।

[सर्वज्ञ इंद्रियज्ञानेन सर्वं जानात्यतीद्रियज्ञानेन वा ?]

ननु[4] च परमात्मा साक्षाद्वस्तु[3] जानन्निंद्रियसस्कारानुरोधत[4] एव जानीयान्नान्यथा तद्वेदनस्य[5] प्रत्यक्षत्वविरोधात । न चेंद्रियसस्कारा सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमल, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात सम्बद्ध वर्त्तमान च गृह्यते चक्षुरादिभि ' इति वचनात ।

मा—लक्ष्मीर्यस्येति । क अर्थात परमात्मा पर अर्थात आत्यतिकी मा—लक्ष्मी है जिनको उन्हे परमात्मा कहते हैं ऐसा विग्रह होता है । चेतयते इति चित—चित ही ज्ञ ही सवज्ञ है किन्तु कथचित् भी अज्ञ सर्वज्ञ नही है । चित यह शब्द मुख्य वत्ति का आश्रय लेता है कथचित अचित—अचेतन स्वरूप अर्हंत सिद्ध साधु आदि के प्रतिबिबादि मे भी चित शब्द की प्रवत्ति होने पर गौण का प्रसग आ जाता है । अर्थात् अचेतन स्वरूप जो जिन प्रतिमा आदि है उन्हे गौण रूप से यहा भगवान परमात्मा कहा गया है ।

भावार्थ—मीमासक का कहना है कि सब तीथ का विनाश करने वाले ह सभी के आगम और आम्नाय परस्पर मे विरोधी है अत कोई भी सवज्ञ परमात्मा हो ही नही सकता है ।

इस पर जनाचाय कहते है कि ऐसी बात नही है । कारिका के चतुथ पाद कश्चिदेव भवेदगुरु के अनुसार कोई न कोई चित चतन्य स्वरूप भगवान परमात्मा है जो कि सभी ससारी प्राणियो के स्वामी हैं । चित् शब्द से चतन्य स्वरूप आत्मा एव अहत सिद्ध साधु आदिको की प्रतिमाय भी ग्रहण की जाती हैं, किन्तु यहा कारिका के अथ मे मुख्य रूप स जीवन्मुक्त अहत परमात्मा को ही मुख्यवृत्ति से लेने का उपदेश है और गौण रूप से अचित स्वरूप स प्रतिमादिका का भी ले सकते है परन्तु यहा प्रधानता साक्षात् अहत भगवान् की है ऐसा समझना चाहिये ।

[सवज्ञ भगवान इंद्रियज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?]

मीमांसक—परमात्मा साक्षात सभी पदार्थों को जानते हुये इद्रिय सस्कार के अनुरोध–अनुग्रह से ही जानते हैं अन्यथा नही जानते है क्योकि अन्यथाज्ञान–अतीन्द्रियज्ञान का होना ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध है और इद्रिय सस्कार एक साथ सभी पदार्थों मे ज्ञान को उत्पन्न करने मे समथ नही हैं क्योकि वे इंद्रियां संबद्ध वर्तमान पदाथ को ही विषय करती हैं सम्बद्ध वतमान च गृह्यते चक्षुरादिभि ऐसा वचन है इसलिये ज्ञ—सर्वज्ञ ही नही है क्योकि भविष्यत और अतीत से असबधित पदाथ के ज्ञान का अभाव होने से अल्पज्ञ

---

१ चेतयते इति चित् । २ सर्वज्ञ । ३ प्रतिबिम्बादी । ४ मीमासक । ५ अन्यथावेदनस्य ।

(1) अन्ययोगव्यवच्छेदाय । (2) प्रतिबिंबादौ । (3) ता बहु । (4) अर्थग्रहणोन्मुखता । (5) प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्ष-मित्यभिधानात् ।

सतो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न 'मन्तव्य लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये इति वचनात् । लब्ध्युपयोगौ 'हीन्द्रियं "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्' । 'तयो संस्कारा 'स्वार्थधारणा । तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात्

[सर्वज्ञस्य भावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियाणां विनाशो कथं न भवति ?]

कुत पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु 'द्रव्येन्द्रियाणामत्यये अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात् इत्यपि न शङ्कनीय 'भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात् । कात्स्र्न्यतो ज्ञानावरणसक्षये हि' भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक सिद्ध । ' च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनाना सभव — कारणाभावे 'कार्या

ही सिद्ध होते हैं ।

जैन—एसा नही मानना चाहिये क्योकि लब्धि और उपयोग के सस्कारो का नाश हो जाने प ऐसा हमने वचन दिया है । एव लब्धि और उपयोग को इद्रिय कहते हैं लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम ऐ सूत्र है । उन दोनो का सस्कार स्वार्थ धारणा रूप है । अर्थात लब्धि और उपयोग का प्रकर्ष संस्कार आ ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य का ग्राहक परिमित रूप ही होता है । उन लब्धि और उपयोग के सस्कार—क्षय पशम ज्ञान का नाश हो जाने पर सवज्ञ होता है ।

[सवज्ञ भगवान के भावेन्द्रियो के समान द्रव्येन्द्रियो का विनाश क्यों नही हो जाता है ?]

शंका—भावेन्द्रिय सस्कार के नाश होने पर ही सवज्ञ होता है किन्तु द्रव्येन्द्रियों के नाश से नही यह बात कसे सिद्ध होगी ? क्योकि आपने तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अशेष पदार्थ का साक्षात्कार हो स्वीकार किया है ।

समाधान—ऐसी शका भी नही करना चाहिये क्योकि भावेन्द्रिया तो आवरण के निमित्त से हो हैं किन्तु द्रव्येन्द्रिया आवरण निमित्तक नही हैं क्योकि वे अगोपाग नाम कर्म के निमित्त से होती हैं । अ संपूर्णतया ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर ही भगवान अतींद्रियप्रत्यक्षज्ञानी सिद्ध है । अर्थात सवज्ञ अष्ट कर्म का नाश कारण नही है ज्ञानावरण दर्शनावरण का अभाव ही कारण है । इसलिये सपूर्ण आवरण का नाश हो जाने पर आवरण निमित्तक भावेन्द्रिया सभव नही हैं क्योकि कारण के अभाव में क

---

१ स्याद्वादवाह । २ तत्त्वार्थाधिगमवचनात् । ३ लब्ध्युपयोगयो प्रकर्षा (संस्कारा) स्वग्राह्यार्थग्राहका परिमितरूपा भवन्ति । ४ धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात । ५ न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्व तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिबन्धनत्वात् । ६ एवार्थ । न तु तत्राष्टकर्मविनाश कारणम् आवरणाभावस्यैव कारणत्वोपगमात् । ७ ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवत्वेतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवे कथमित्याशङ्कायामाह । ८ कारणानामावरणाभावरूपाणाम् । ९ कार्यस्य=भावेन्द्रियरूपस्य ।

---

(1) ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतींद्रियप्रत्यक्षभाग्भवेत् एतावता भावेंद्रियाणामभाव कथमित्याशंकायामाह । (2) द्र व्येन्द्रियाणामप्यभाव कुतो न कथ्यते स्याद्वादिभि सर्वज्ञस्यातींद्रियप्रत्यक्षतोपगमादिति पराशंका ।

[illegible]: । "ननु आवरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति

हो नहीं सकता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के २ भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र मे 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्' और 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्' के अनुसार दोनो ही इन्द्रियो का लक्षण किया गया है। निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। निर्वृत्ति—नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के २ भेद हैं—आभ्यन्तरनिर्वृत्ति और बाह्यनिर्वृत्ति। आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है। पुदगल के परमाणुओ का इन्द्रियाकार होना बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है। उपकरण—निर्वृत्ति के सहायक–उपकारक को उपकरण कहते हैं। उपकरण के दो भेद है आभ्यतर और बाह्य। जसे—नेत्रो मे जो काला और सफद मडल है वह आभ्यतर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगरह बाह्य उपकरण है। इसी प्रकार से शेष इद्रियो मे भी जानना चाहिये। लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते है। लब्धि—ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। उपयोग—लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा मे जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का ज्ञेयपदार्थ की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

इसलिये इन द्रव्येन्द्रियो की रचना नाम कर्म के भेद मे अगोपाग नामक नाम कर्म के उदय से होती है और मतिज्ञानावरण कर्म के स्पर्शनेन्द्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम विशेष से भावेन्द्रिया होती हैं। केवली भगवान के ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने से भावेन्द्रिया और भावमन नही पाये जाते हैं किंतु परमौदारिक दिव्य शरीर का अस्तित्व आयु नाम कर्म आदि अघातिया कर्म के शेष रहने तक चौदहवें गुणस्थान के अत तक पाया जाता है अत अर्हत के द्रव्येन्द्रिया मौजूद है। सिद्धो में शरीर और अगोपांग आदि नाम कर्म के अभाव से यद्यपि शरीर नही है फिर भी अतिम शरीर से किंचित् न्यून सिद्धो के आत्म प्रदेशों का आकार—पुरुषाकार तो रहता ही है अत वहा पर भी द्रव्येन्द्रियो का आकार विद्यमान है।

शंका—भावेन्द्रिया तो आवरण के क्षयोपशम के निमित्त से होती हैं पुन उन्हे आवरण निमित्तक ही कैसे कह दिया?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो देशघाति ज्ञानावरण कर्म के स्पर्धको का उदय होने पर एवं सर्वघाति ज्ञानावरण के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने पर तथा उन्ही सर्वघाति स्पर्धको का सदवस्थारूप उपशम होने से वे भावेन्द्रियां होती हैं अत उनके आवरण निमित्तकत्व सिद्ध ही है इसलिये यहां ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है। अर्थात् ज्ञानावरण के स्पर्धकों मे कुछ का उदय कुछ का उदयाभावी क्षय और कुछ का

१ आह कश्चित्प्रत्यवस्थाता।

[illegible] देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये[4] सति [5]सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामुदयाभावे[6] सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरबाधमेतत् ।

[अर्हन् भगवान् सर्वसंसारिजीवानां प्रभुस्ततोऽस्मादृशो नास्तीति प्रतिपादनं]

[7]न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि [1]भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्म [2]सकलभवभृत्स्वामी सम्भावयितु शक्य, तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्[3] ।

[मीमांसको ब्रूते-प्रत्यक्षादि प्रमाणैः सर्वज्ञो न सिद्ध्यत्यतो नास्त्येव ।]

[9]ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभु साध्यते । [10]तच्चा-

---

सत्ता की अवस्था मे उपशम होने से भावइन्द्रिया होती है अत इन्हे आवरण के निमित्त से होने वाली कहने से कोई बाधा नहीं है ।

[आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी ससारी जीवो के वे प्रभु कैसे है?]

मीमांसक—कोई ससारी प्राणी अतीन्द्रियज्ञान वाला उपलब्ध नही है अर्थात् देखा नही जाता है कि जिससे आपके भगवान अतीन्द्रिय ज्ञानी हो सके अर्थात नही हो सकते हैं ।

जैन—यह शका भी श्रेयस्कर नही है क्योकि वे भगवान तो ससारी जीवों के प्रभु—स्वामी हैं । संसारी जीव के सदृश मे देखा गया धर्म सकल ससारी जीवो के स्वामी मे सभावित करना—घटित करना शक्य नही है क्योकि सकल ससारी जीवो के स्वामी ससारी जीवों के स्वभाव का उलघन कर चुके हैं ।

[मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पाच प्रमाणो से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता है अत सर्वज्ञ नहीं है]

मीमांसक—सुनिश्चितासभवदबाधक प्रमाण से उस प्रकार से अर्हंत भगवान को आप ससारी जीवो के स्वामी सिद्ध करते हो किन्तु आपका हेतु असिद्ध है क्योकि उसको बाधित करने वाला 'सुनिश्चिता

---

१ णाणावरणचउक्क तिदसण सम्मय च संजलण । णवणोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ ।। [ज्ञानावरणचतुष्क त्रिदर्शनं सम्यक्त्व चतु सज्वलनम् । नवनोकषाया विघ्न षड्विंशतिर्देशघातीया] । देश [आत्मगुणस्यैकदेश] घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्ति । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकास्तेषामुदये । २ कम शक्तिसमूहोऽणोरणूना (शक्ति समूह) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धक स्पर्द्धकापहै ।। इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मत्वमापन्नाना पौद्गलिकवर्गणाना समूह स्पर्द्धको ज्ञेय । ३ सर्वमात्मगुण घ्नन्तीति सर्वघातिन । केवलणाणावरणं केवलदंसं कसायबारसयं । मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि(अबंधम्हि) ।। [केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् [अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानाना प्रत्येक चतुष्कमिति द्वादश] । मिथ्यात्वं च सर्वघातिन सम्यग्मि-थ्यात्वमबन्धे (विद्धि)] । इत्युक्तलक्षणा सर्वघाती, आत्मगुणानां सामस्त्येन घातनात् । ४ वर्तमानकाले उदयप्राप्ता-नामित्यर्थ । ५ उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्त्वैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः । ६ सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामेवोदयाप्राप्ताना-[illegible] । [illegible] कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थ । ७ मीमांसकशङ्का । ८ सकलभवभृत्स्वामी । ९ पूर्वपक्ष मीमांसक । १० हेतु ।

---

(1) भवभृत्सामान्ये इति पा । (2) ता बहुः । (3) अतिक्रान्तत्वात् ।

सिद्ध, सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तदबाधकस्य सदभावात्। न हि तत्साधकं प्रत्यक्षम्[1]। नाप्यनुमान, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्[2]। तदुक्त—

सर्वज्ञो दृश्यते [2]तावन्नेदानीमस्मदादिभि । दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिंग वा [3]योऽनुमापयेत ।

इति। आगमोपि न तावन्नित्य सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति तस्य [1]कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि[4] प्रामाण्येतिप्रसङ्गात्[४]। स[4] सर्ववित लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य [6]कर्मार्थवादप्रधानत्वात। [7]तात्पर्यासंभवा[5]दन्यार्थ[7]प्रधानवचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधाना

संभवदसाधक प्रमाणत्व मौजद है। अर्थात सुनिश्चित रूप से असभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण जिसमे उसे सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण कहते हैं मतलब सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला कोई भी साधक प्रमाण सभव नही है अतएव सर्वज्ञ नही है। तथाहि-सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं एव अनुमान भी नही है क्योकि उसका एक देश रूप हेतु दिखता नही है। कहा भी है—

श्लोकार्थ— हम लोगो के द्वारा इस समय सर्वज्ञ देखा नही जाता है और उस सर्वज्ञ को एकदेश भी देखा नही जाता है कि जिसको हेतु बनाकर उस सर्वज्ञ का अनुमान कर लेवे। नित्य आगम भी उस सर्वज्ञ का प्रदिपादक नही है वह तो कार्य (यज्ञादि) अर्थ मे ही प्रमाण है उसकी स्वरूप मे भी प्रमाणता मानने पर तो अति प्रसग आ जाता है। अर्थात अलाबू डूब रहे है पत्थर तर रहे हैं इन वाक्यो मे भी प्रमाणता आ जावेगी और वेद मे आप पवित्र इत्यादि स्वरूप का निरूपण करने वाले वाक्य हैं वे सभी प्रमाण हो जावगे।

जो याग को करता है वह सर्ववित है वह लोकवित है इत्यादि हिरण्य गर्भ सर्वज्ञ इत्यादि रूप से जो नित्य आगम है वह कर्मार्थवाद मे—क्रियाकाड मे प्रधान है। उससे सर्वज्ञ रूप अर्थ मे तात्पर्य—अर्थ निकालना असभव है अन्यार्थ प्रधान वचनो से स्तुति अर्थ को कहने वाले वचनो से अन्य कोई सर्वज्ञ का विधान करना असभव ही है। पूर्व मे किसी प्रमाण से अप्रसिद्ध स्वरूप सर्वज्ञ का उन आगम के वाक्यो से अनुवाद—कथन नही किया जा सकता है एव अनादि आगम आदिमान सर्वज्ञ का प्रतिपादन कर सके यह बात विरुद्ध ही है। तथा अनित्य—बनाया हुआ आगम भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन नही कर सकता है क्योकि उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत ही आगम उस सर्वज्ञ का प्रकाशक होवे यह कथन युक्त नही है अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जाता है। एव नरातर—भिन्न साधारण मनुष्य का प्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध नहीं

---

१ सर्वज्ञसाधकम्। २ लिङ्ग भूत्वा य एकदेश सर्वज्ञमनुमापयदित्यर्थ। ३ योगे। ४ अलाबूनि निमज्जन्ति ग्रावाण प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आप पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। ५ यो याग करोति। ६ कर्मार्थवाद = याग प्रशसावाद तत्स्तुतिकथन वा। ७ सर्वज्ञरूपेर्थ। स्तुत्यर्थकथनपर।

---

(1) प्रत्यक्ष समवति इति पा। संबद्धवर्तमानग्राहित्वात। (2) गृहीतसबन्धस्यकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेर्थे बुद्धिरनुमानमिति वचनादेकदेशदर्शन सत्यवानुमानोदयात्। मीमासकानुमानलक्षणमिद। (3) सर्वज्ञ। (4) वेदेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादक वाक्य अस्तीति शंकामनूद्यनिराकरोति। (5) च।

सम्भवात् । पूर्वं[६] [७]कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च[३] । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूल[४]वर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात् । तदुक्तं—

> न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः [1]सर्वज्ञबोधकः । न च [2]मन्त्रार्थवादानां[५] तात्पर्यमवकल्प्यते ॥१॥
> [६]न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर[७]बोधितः ॥२॥
> अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन[८] स कथं प्रतिपाद्यते ॥३॥
> अथ [९]तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः[3] प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥४॥
> [१०]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन[११] तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् [१२]सिद्धमूलान्तरादृते ॥५॥

है कि जिससे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सके। मूल से रहित—प्रमाणता से रहित असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञ का ज्ञान मानने पर तो अपने वचनों से ही उस सर्वज्ञ का ज्ञान क्यों न मान लीजिये क्योंकि दोनों ही मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—कोई नित्य आगम सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला नहीं है और मंत्रार्थवाद-स्तुतिकथनादि वाद तात्पर्य—वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है ॥ १ ॥

अन्यार्थ प्रधान वचनों से—स्तुति आदि परक अथवा क्रियाकांड प्रधान वचनों से सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है एवं पूर्व में अन्य प्रमाणों से नहीं जाने गये सर्वज्ञ का अनुवाद कथन करना भी शक्य नहीं है ॥ २ ॥

अनादि आगम भी आदिमान सर्वज्ञ को नहीं कह सकता है एवं आदिमान-कृत्रिम आगम असत्य है अतः उस असत्य से सर्वज्ञ कैसे कहा जावेगा? ॥ ३ ॥

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ के वचनों से ही अल्पज्ञजन सर्वज्ञ को जान लेते हैं तो यह कथन भी कैसे बनेगा क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥ ४ ॥

सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया होने से वचन (आगम) सत्य सिद्ध होगा और उस आगम से उस सर्वज्ञ

---

१ आगमेन सर्वज्ञस्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह। २ प्रमाणात्। ३ आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूद्भविष्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः। ४ मूलं प्रामाण्यम्। ५ स्तुत्यादि (चोदनादि)वादानां सत्यत्वं नावगम्यते। विशेषेण स्पष्टीकरणं त्वस्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम्। ६ न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः। ७ प्रमाणैः। ८ कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम्। ९ सर्वज्ञवचनेन। १० अन्योन्याश्रयं भावयति। ११ वाक्येन। १२ सिद्धं च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तस्मात्।

---

(1) सर्वज्ञबोधकः इति पा.। (2) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति मंत्रवाक्यं। स सर्ववित् स लोकविदिति अर्थवादः।
(3) सर्वज्ञोऽज्ञैः इति पा.। जैनैः।

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्त[1] स्ववाक्यात्किं न जानते ॥६॥"

इति। नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधक, [1]तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तथोक्त —

सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो[2] वयम् ॥

इति। नार्थापत्तिरपि सवज्ञस्य साधिका [2]तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात् । धर्माद्युपदेशस्य [3]बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात[3] । तथा चोक्तम—

"उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचर । [4]अन्यथाप्युपपद्यत[5] सवज्ञो यदि नाभवत ॥१॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां [4]वेदादसम्भव । उपदेश [5]कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात ॥२॥

का अस्तित्व सिद्ध होगा पुन असिद्ध मूलातर के बिना–प्रमाणता क बिना वे उभय भी कसे सिद्ध हो सकेंगे ? ॥ ५ ॥

एवं प्रमाण वर्जित–असवज्ञ प्रणीत आगम से सवज्ञ को स्वीकार करते हुये आपको अपने वाक्यो से ही सर्वज्ञ की सिद्धि क्यो नही हो जाती है ॥ ६ ॥

तथा उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला नही है क्योकि सवज्ञ के सदश कोई भी जगत में नहीं है जिसकी उपमा सर्वज्ञ को दे सक। कहा भी है कि—

श्लोकार्थ—यदि सर्वज्ञ के सदश किसी को इस समय हम देख तब तो उपमान प्रमाण के द्वारा हम उसको जान सक।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाली नही है क्याकि उस अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाले पदाथ में अन्यथानुपपद्यमान का अभाव है। बहुजनपरिगहीत धर्मादि का उपदेश अन्यथा भी हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञ के अभाव मे भी धम अधम आदि का उपदेश सभव है क्योकि वह बहुत जनो के द्वारा परिगृहीत है इसलिये धर्मादि का उपदेश सवज्ञ के साथ अविनाभाव रूप नही है कि जिससे वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर सके ? कहा भी है—

श्लोकाथ—बुद्ध कपिल आदि का उपदेश धम अधम आदि को विषय करने वाला है क्योकि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अन्यथा-सवज्ञ के अभाव मे भी वह हो सकता है ॥ १ ॥

बुद्धादि वेद के जानने वाले नही हैं अत उनका उपदेश वेद से असभव है फिर भी उन लोगो ने जो उपदेश दिया है वह केवल व्यामोह से ही किया है ॥ २ ॥

---

१ सर्वज्ञसदृशस्य । २ अर्थापत्त्युत्थापकस्य । ३ सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेश संभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात् । ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपद्यमानो यत सर्वज्ञ साधयेत् । ४ सवज्ञाभाव । ५ अन्यथा नोपपद्यत इति पाठान्तरम् । यद्येव पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येय ।

---

(1) अवगच्छंतीति पा । (2) सादृश्यात् । (3) अन्यथापि भावात् इति पा । (4) वस । (5) वेदादसंभवो यत ।

ये तु मन्वादय सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्[1]। [2]त्रयीविदाश्रित[3]ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तय[1] ॥३॥

इति । न[2] च प्रमाणान्तर [5]सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

[अत्र भरतक्षेत्रे तु पचमकाले सर्वज्ञो नास्तीति मा भूत् किंतु अन्यत्र विदेहादिदेशे चतुर्थकाले वा सर्वज्ञ सिद्ध्यति न वेति विचार क्रियते]

मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनाना सर्वज्ञस्य साधक प्रत्यक्षाद्यन्यतम देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिना केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्त ।

"[4]यज्जातीयै [3] प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्ट सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्"

इति वचनात । तथा हि । विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदा-

---

त्रयीविदो मे प्रधानता से जो मन्वादि ऋषि सिद्ध हैं उन त्रयीविदो के द्वारा किये गये ग्रथ उनके आश्रित हैं वे वेद से उत्पन्न हुये हैं । अर्थात ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद ये तीन वेद हैं इन तीनों वेदों के आश्रित जो कथन है वह त्रयीविदाश्रित है अत मन्वादि रचित ग्रन्थ त्रयीविदाश्रित कहलाते हैं ।। ३ ।।

इसलिये और कोई भी सदुपलभक सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रमाण नही है जो कि सर्वज्ञ के सद भाव को ग्रहण कर सके ।

[इस भरतक्षत्र मे और इस पचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किन्तु विदेहादिक्षेत्र में और चतुर्थ आदि काल में सवज्ञ सिद्ध है या नहीं ? इस पर विचार किया है ।]

यदि आप कहे कि यहा पर इस समय जन्म लेने वाले हम लोगो के पास सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि मे से कोई भी एक प्रमाण भले ही न हो किन्तु देशातर-कालातरवर्ती किसी न किसी मनुष्य को सर्वज्ञ के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि मे से कोई न कोई प्रमाण होगा ही । अर्थात् देशां तर विदेह क्षत्र आदि देश एव कालातर चतुथ काल आदि काल मे प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा किसी न किसी पुरुष को सवज्ञ का ज्ञान होता ही होगा । आप जनादि का यह कथन भी अयुक्त है ।

श्लोकार्थ— जिस जातीय—दूरादि नियत अर्थ को विषय करने वाले प्रमाणो से जिस जातीय पदार्थों को इस समय लोक—सभी जन देखते हैं । उस प्रकार का प्रत्यक्षादि ज्ञान ही देशातर और कालां तर मे भी होगा ।।' ऐसा वचन देखा जाता है । तथाहि विवादाध्यासित देश—विदेहादि और काल—

---

१ मध्ये । २ 'ऋग्यामुक सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी इत्यमर । ३ त्रयीविद्भिराश्रिता (व्याख्याता) स्मृतिरूपा ग्रन्था येस्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्था । त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृता स्मृतिसाधारणात्त्रयीविद आश्रयन्तीति भाव । ४ ग्रस्त सर्वज्ञास्तित्वम् । ५ दूरादिनियतार्थगोचरै ।

---

(1) वत । (2) किंच । (3) येषां देशांतरादिस्थानां सजातीयैस्तत्सदृशैरित्यर्थ ।

नीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादस्मदाद्यैदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

[अत्र जैनमतमाश्रित्य कश्चित् शङ्कते]

[1]ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत् सिद्धसाधनम् । अन्यथा[2]भूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे[1] साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्[2] । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्[3] [4]अयादृशप्रत्यक्षाद्यभावात्[5] । तथा हि । [1]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति

चतुर्थ कालादि (भिन्न देश काल) में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण भी इस समय में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण करने योग्य सजातीय अर्थ को ग्रहण करने वाले के सदृश ही होते हैं अथवा उससे विजातीय सर्वज्ञादि अर्थ के ग्राहक नहीं होते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं यहां पर आजकल होने वाले हम और आप जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान । अर्थात् विवाद की कोटी में आये हुए विदेहादि क्षेत्र एवं चतुर्थ आदि काल में होने वाले जो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं वे वैसे ही हैं जैसे कि आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण है । अतः जैसे आजकल हम लोग प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ को जान नहीं सकते हैं वैसे ही अन्यक्षेत्र और अन्यकाल में किसी भी प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

[यहां जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है]

जिस प्रकार इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण सर्वज्ञादि को साधक – सिद्ध करने वाले नहीं देखे जाते हैं । देशांतर और कालांतर में तथाभूत—उसी प्रकार के प्रत्यक्षादि प्रमाण को आप सिद्ध करते हैं या अन्यथाभूत प्रमाण को ?

यदि तथाभूत कहो तो सिद्ध साधन दोष ही है अर्थात् हम जैन भी हम और आप जैसे के प्रत्यक्षादि ज्ञान से सर्वज्ञ का ग्रहण नहीं मानते हैं ।

यदि अन्यथाभूत—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहो तो आपका हेतु अप्रयोजक (अहेतु) है जैसे जगत को

१ सिद्धान्त (जैन) पक्षमादाय वादी शङ्कते । २ अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम् । ३ तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह ।

(1) बुद्धिमत्कारणत्वे इति पा । (2) यथाहि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत्तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वं प्रसाधयेत् प्रतीतिरिति ।(3) तथाभूतस्यैव तथा साधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह । (4) अतीन्द्रिय । (5) प्रत्यक्षस्याप्यभावात् इति पा. ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्[1]। न [2]गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा [3]नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्त, [4]कात्यायनाद्यनु-[5]मानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन[6] वा । तस्यापीन्द्रियादि[7]प्रणिधानसामग्रीविशेष-मन्तरेणासभवात [8]स्वार्थाति[1]लङ्घनाभावाद[2]तीन्द्रिया[9]ननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च ।

बुद्धिमत्कारणक सिद्ध करने मे सन्निवेशविशिष्ट हेतु अप्रयोजक है। अर्थात् प्रयोजनीभूत नहीं है।

मीमांसक—आपका यह कथन असत् है। तथाभूत—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि को ही हम उस प्रकार से (सवज्ञ को ग्रहण करने वाला) सिद्ध करते हैं एव उसमे सिद्ध साधन दोष का भी अभाव है क्योंकि अन्य प्रकार के—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं ही नही। तथाहि—

विवाद मे आये हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेष से अनपेक्ष—अपेक्षा रहित नहीं होते हैं क्योकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं जसे कि हम लोगों के प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण।" एवं सन्निहित देश विशेष की अपेक्षा न करने वाले गृद्ध वराह पिपीलिकादि के प्रत्यक्ष से अथवा आलोक की अपेक्षा न रखने वाले नक्तचर—बिल्ली घूक—उल्लू मूषक आदि के प्रत्यक्ष से अनेकात दोष भी नहीं है। अर्थात् गृद्ध पक्षी को सन्निहित—निकट चीज की अपेक्षा न होने पर भी चक्षु का ज्ञान हो जाता है सूकर को सन्निहित की अपेक्षा बिना श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है तथा पिपीलिका—चिउटी को सन्निहित—निकट वस्तु के बिना भी घ्राणेन्द्रिय से सुगधि आदि का ज्ञान हो जाता है तथा बिल्ली उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी ज्ञान हो जाता है किंतु इनके प्रत्यक्ष से हमारा प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात हेतु अनैकातिक नही है।

और कात्यायन—वररुचि आदि के अनुमानातिशय से—व्याप्ति और स्मरण के बिना उत्पन्न अनुमान से अथवा जमिनी आदि के आगम के अतिशय से—सकत स्मरण के बिना होने वाले आगम से भी हेतु अनैकातिक नहीं है क्योंकि वे भी इन्द्रियादि के प्रणिधान—एकाग्रता रूप सामग्री विशेष क बिना असभव हैं एव अपने विषय का उल्लघन नही कर सकते हैं तथा वे अतींद्रिय और अननुमेय—इन्द्रिय और अनुमान के विषय से रहित पदार्थों को विषय नही करते हैं।

भावार्थ- मीमासक का कहना है कि जैसे हम लोगो का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसी प्रकार से सभी जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियो की और मन की सहायता रखता ही है बिना

1 एतदनुमानस्य खण्डनमत्र एवाञ्जनापेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भाष्यव्याख्यानावसरे प्रोक्त द्रष्टव्यम्। 2 गृध्रस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रौत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम्। 3 बिडालघूकमूषकादयो नक्तञ्चरा। 4 कात्यायनो—वररुचि। 5 व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नानुमानेन। 6 सङ्केतस्मरणमन्तरेण। 7 एकाग्रता। 8 स्वार्थो नियतविषय:। 9 अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्व।

(1) अपादि। (2) अर्थ एव अतत्यति अतीन्द्रियानुमेयत्वाद्विना।

[इन्द्रियाणि स्वविषयानेव गृह्णन्ति न तु परविषयानत इन्द्रियज्ञानेन कश्चित्सर्वज्ञो भवितु नार्हति]

तथा चोक्त—

"यत्राप्यतिशयो[1] दृष्ट स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ[2] स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता[1] ॥१॥
[3]येपि [2]सातिशया दृष्टा[3] [4]प्रज्ञामेधादिभिर्नरा । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्[5] ॥२॥
प्राज्ञोपि हि नर सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टु क्षमोपि सन् । स्वजातीरनतिक्राम[6]न्नतिशेते[7] परान्नरान् ॥३॥

इन्द्रिय मन की सहायता के प्रत्यक्ष ज्ञान असभव है । जिन जिन जीवो के इन्द्रिय ज्ञानो मे विशेषता पाई जाती है वह विशेषता भी अपने-अपने विषय मे ही पाई जाती है । जसे कि गद्ध पक्षी को निकट की अपेक्षा न करके भी चक्ष इन्द्रिय से रूपी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है सूकर को अतिदूर से कर्णेन्द्रिय से सुनाई दे देता है चिउटी को बहुत दूर की भी सुगधि-दुर्गध आ जाती है । यद्यपि इनके ज्ञाना मे विशेषता पाई जाती है फिर भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सुनने और चखने का । तथव नक्त चर उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी अधेरे मे ज्ञान हो जाता है तो भी चक्ष इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सूघने आदि का । अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान मे कितनी भी विशेषता क्यो न आ जावे वह ज्ञान अपने विषय मे ही होता है । पुन इन्द्रिय ज्ञान क सिवाय अतीद्रिय ज्ञान की कल्पना करना व्यथ ही है ।

[इन्द्रिया अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नही अत इन्द्रियज्ञान से कोई भी सवज्ञ नहीं हो सकता है]

कहा भी है—

श्लोकाथ — जिस इन्द्रिय मे अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय का उलघन नही कर सकती है दूरवर्ती और सूक्ष्मादि रूप देखने मे श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार नही हो सकता है ॥१॥

जो मनुष्य प्रज्ञा मेधा आदि से भी अतिशयवान देखे जाते हैं वे सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्मतर आदि को जानने से ही अतिशयशाली है किंतु अतीद्रिय पदाथ को देखने रूप अतिशय वान नही है ॥२॥

बुद्धिमान मनुष्य सूक्ष्म पदार्थों को देखने मे समथ होता हुआ भी तत्तत् विषयक—उस उस विषय मे अपनी जाति का उलघन न करते हुये ही अन्य मनुष्यो का उलघन करके उनसे विशेष कहा जाता है ॥३॥

१ इन्द्रिये । २ क्रियमाणायाम् । ३ ननु च प्रज्ञा स्मृत्यादिशक्तीना प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्ध कस्यचित्काष्ठामापद्यमान धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह । ४ तत्तद्विषयाणाम् ।

(1) श्रोत्रवृत्तित इति पा । (2) ननु च प्रज्ञामेधाश्रुतिस्मृतिऊहापोहप्रबोधशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्कस्यचित्प्रत्यक्षातिशय सिद्धस्सपरा काष्ठामापद्यमान धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारि सभाव्यत एवेत्यारेकायामाह । (3) ते इति अध्याहारा । (4) त्रिकालविषया प्रज्ञा मेधा धीर्धारणावती वर्तमानार्थग्राहिणी । (5) ननु कश्चित् प्रज्ञावान्पुरुष शास्त्रविषयान् सूक्ष्मान् अर्थान् उपलब्धु प्रभुरुपलभ्यते तद्वत् प्रत्यक्षतोऽपि धर्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्तु अत किमिति न संभाव्यते ज्ञानातिशयानां नियमयितुमशक्तेरित्याशंकायामाह । (6) कर्तृ । (7) अतिशयेन ।

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं [1]तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥४॥
[1] ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥५॥
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं[1] ज्ञातुमर्हति ॥६॥
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि[2] । न स्वर्गदेवता[3]ऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः[4] ॥७॥
[2]दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥८॥ इति

[अतीन्द्रियज्ञानमपि असंभाव्यमेव]

न [3]दृष्टप्रत्यक्षादि[4]विजातीया[4]तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यत [5]संभाव्यव्यभिचारिता।

जिसका एक शास्त्र के विचार मे महान् अतिशयशाली ज्ञान देखा जाता है वह मनुष्य एक शास्त्र के ज्ञान मात्र से ही दूसरे शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है ॥४॥

व्याकरण शास्त्र को जान करके ज्ञान शब्द और अपशब्द मे दूर तक वृद्धिगत हो जाता है अर्थात् यह शब्द व्याकरण से शुद्ध है यह अशुद्ध है इत्यादि जान लेता है किंतु वही ज्ञान नक्षत्र तिथि आदि के निणय मे प्रस्फुट नही हो सकता है ॥५।

उसी प्रकार से चद्रग्रहण सूयग्रहण आदिको मे विशेष प्रकष्ट भी ज्योतिर्ज्ञानी मनुष्य भवति गच्छति आदि शब्दो को व्युत्पत्ति आदि के द्वारा अच्छी तरह से नही जान सकता है ॥६॥

उसी प्रकार से वेद इतिहास आदि ज्ञान के अतिशय वाला भी मनुष्य स्वग देवता अपूर्व–पुण्य पाप आदि को प्रत्यक्ष देखने में समथ नही हो सकता है ॥७॥

जो आकाश मे दस हस्त प्रमाण उछल कर जा सकता है वह सैकडों अभ्यास के द्वारा भी योजन पयत जाने मे समर्थ नही हो सकता है ॥८॥

[अतीद्रिय ज्ञान भी असभव ही है]

इस प्रकार से कहा गया है इसलिये देखे गये प्रत्यक्षादि प्रमाण से विजातीय अतीद्रिय प्रत्यक्षादि की सम्भावना करना शक्य नही है कि जिससे प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात यह हेतु साध्य के साथ व्यभिचारी हो सके अर्थात नही हो सकता है ।

---

१ एकशास्त्रज्ञानमात्रेण । २ पुराननपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहास । ३ अपूर्वे पुण्यपापे । ४ द्वन्द्व । ५ संभाव्येनातीन्द्रिय (नैन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचार ।

---

(1) सिद्धि निष्पत्तिमिति यावत् । (2) अथश्रुतज्ञानमनुमानज्ञानञ्चाऽभ्यस्यमानमभ्याससात्मीभावे तदर्थसाक्षात्कारितया परां दशामासादयतीति सौगतमतमपाकर्तुकाम क्वचिदभ्याससहस्रेणापि ज्ञानस्य विषयपरिच्छित्तौ विषयांतरपरिच्छित्ते रनुत्पत्तिरिति दार्ष्टांतिक मनसिकृत्य तत्र दृष्टांतमाह । श्रुतज्ञान-परार्थानुमानरूपश्रुतमयि भावना । अनुमान—स्वार्थानुमानरूपचिंतामयिभावना । साक्षात्कारितया—प्रत्यक्षीकरणतया इत्यर्थ । (3) यस । (4) ता । (5) अतीन्द्रियप्रत्यक्ष । ता ।

साधनस्य स्यात् । पुरुषविशेषस्य [2]तत्सम्भावनायां [1]संभाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेन्न, [3]तस्यासिद्धत्वात् साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां [2]त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति।

[अधुना मीमांसकाभिमत सर्वज्ञाभावस्य मीमांसां कुर्वंति जैनाचार्याः ।]

[4]तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य । न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः[3] प्राक् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः[5] प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्पर[6] प्रत्यक्षादेरपि [7]विश्वासनिबन्धनमस्ति, तत्प्र[5]कृतेपि सिद्ध[9] । यदि तत्सत्तां न साधयेत्[1]

यदि आप कहें कि पुरुष विशेष मे उस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की संभावना होने पर वह हेतु संभाव्य से व्यभिचारी ही है यह कथन भी ठीक नही है क्योकि वह पुरुष विशेष असिद्ध ही है। साधक प्रमाण का अभाव होने से सभी पुरुष तीन प्रकार क (देश काल और स्वभाव से) विप्रकृष्ट—दूरवर्ती अर्थ का साक्षात्कार कर नही सकते हैं।

इस प्रकार मीमासक ने अपना पूर्वपक्ष रखा है।

[अब मीमासकाभिमत सर्वज्ञ क अभाव क विषय में जनाचार्य मीमांसा करते हैं]

जैन—आप मीमांसक का यह सभी कथन अपरीक्षित—अविचारित ही है क्योंकि सर्वज्ञ क निराकरण क पहल "सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण सिद्ध नहीं है कि जिससे आप मीमांसक हमारे प्रतिकूल कुछ बोल सकें अर्थात् आप हमारी प्रतिकूलता नहीं कर सकते हैं। बाधक असंभव है इससे भिन्न अन्य कोई भी संवादकत्वादि हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विश्वास निमित्तक नहीं है।

वह "बाधकासंभवत्व' प्रकृत—सर्वज्ञ में भी सिद्ध होता हुआ यदि उस सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न कर सके, तब तो सर्वत्र भी—सत्यदर्शन और असत्यदर्शन में समान होने से उस 'सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" क अभाव में दर्शन—प्रत्यक्ष अदर्शन—प्रत्यक्षाभास का उलंघन नहीं कर सकता क्योंकि कोई विश्वास नहीं है विभ्रम क समान। *

मीमांसक—सर्वज्ञ के निराकरण के पहले सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण' सिद्ध नहीं होवे तो न

---

१ प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य। २ तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य। ३ पुरुषविशेषस्य। ४ अत्राह स्याद्वादी। ५ परो मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्बेत) अपि तु नेत्यर्थ। ६ अन्यत् संवादकत्वादिकम्। ७ बाधकासम्भवत्वम्। ८ सर्वज्ञे। ९ सिद्धं सत्। १ तर्हीति शेष।

---

(1) वा। (2) देशकालस्वभाव। (3) निराकृते सर्वज्ञे अनिराकृते वा सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं वर्तते इति विकल्पाभिप्राय. (4) ता। 5) सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं।

'सर्वत्रा[illegible]विशेषात्सर्वत्रापि[1] 'सर्वज्ञ[illegible]संभवतु'[2] । * 'स्यान्मत "मा सिधत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं' 'स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च 'तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा'अवितथाऽशेषसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च 'तत्साधकस्य 'सद्भावादनादिप्रवचनविशेषस्य[7] च तदुद्द्योतितस्य तत्साधकत्वेन सिद्ध । 'निराकरणादुत्तरकाल तु सिद्धमेव' इति । 'तदपि स्वमनोरथमात्र सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात सवथा बाधकाभावात् ।

सही किन्तु आपका जो कहना है कि स्वप्रत्यक्ष—स्वय सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष और सवज्ञांतर प्रत्यक्ष—भिन्न सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान उस सर्वज्ञ के साधक सभव है । परोपदेश हेतु और इद्रियो की अपेक्षा से रहित अवितथ—सत्य, अशेष सूक्ष्मादि पदार्थ के प्रतिपादक, उसके वचन विशेषात्मक हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान उस सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले मौजूद हैं और उस सवज्ञ से उद्योतित अनादि आगम विशेष भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है । इस प्रकार से सवज्ञ की सिद्धि जो आपने की है उस सवज्ञ के निराकरण के अनतर उत्तर काल मे वह हमारा "सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाणत्व सिद्ध ही है जोकि अभाव प्रमाण रूप है । अर्थात मीमासक का कहना है कि आप जन जो सवज्ञ के अस्तित्व को प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से सिद्ध करते हो एव कहते हो कि मीमांसक का सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण उस सवज्ञ क अस्तित्व का बाधक नहीं है सो बात सिद्ध नही है क्योंकि सवज्ञ के निराकरण के पहले हमारा सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण भले ही सिद्ध न हो किन्तु सत्ता को ग्रहण करने वाले पाचो प्रमाणो के द्वारा उस सर्वज्ञ का निराकरण कर देने पर हमारा सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण रूप हेतु सिद्ध ही हो जाता है । सुनिश्चित रूप से असभव है सवज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण जिसमे उसे सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण कहते हैं एवं सुनिश्चित रूप से असभव है बाधक प्रमाण जिससे उसे सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण कहते हैं और सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाण—अभाव प्रमाण से हम सवज्ञ का अभाव कर देते हैं ।

जैन—यह कथन भी स्वमनोरथ मात्र ही है क्योंकि सवथा बाधक का अभाव होने से सर्वज्ञ के निराकरण का अभाव ही है ।

---

१ सर्वज्ञे दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा । २ अविशेषात्सवत्रापि सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणस्याभावे इत्यर्थ ३ प्रत्यक्षम् । ४ मीमांसकस्य । ५ सर्वज्ञसाधकस्य । ६ मन्तरितदूरमिति । क्रियाविशेषणमेतत् । ७ स सर्वज्ञ । ८ स सर्वज्ञ । ९ सिद्धान्ती ।

---

(1) [illegible] (2) [illegible] । (3) [illegible] । (4) सर्वज्ञस्य । (5) अंतरितदूर । (6) [illegible] [illegible] । (7) [illegible] (8) [illegible] ।

[मीमांसको ब्रूते—अस्तित्वग्राहकपंचप्रमाणैः सर्वज्ञो ज्ञायते अतोऽभावप्रमाणेन सर्वज्ञस्याभावोऽस्ति किन्तु जैनाचार्याः अभावप्रमाणस्याभावं कृत्वा सर्वज्ञं साधयन्ति ।]

[1]सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं [1]ज्ञापकानुपलम्भनं[2] सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न [3]तस्य [4]स्वसम्बन्धिन परचेतोवृत्तिविशेषादिना[4] व्यभिचारात सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् । तदुक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके ।

" [5]स्वसम्बन्धि यदीदं [5]स्याद्व्यभिचारि पयोनिधे । अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः [6]सद्भिरज्ञायमानकैः ॥१॥
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते । सर्वबोधोऽस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥२॥

[मीमांसक कहता है कि अस्तित्व को ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ नहीं जाना जाता है अतएव अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव करके सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं ।]

मीमांसक—सत्ता को ग्रहण करने वाले पांच प्रमाणों का अभाव लक्षण ज्ञापकानुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण सर्वज्ञ को बाधित करने वाला है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि हम आपसे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि वह अभाव स्वसंबंधी है या सर्व सम्बन्धी ? स्वसंबंधी मानो तो परचित्त के व्यापार विशेष आदि से व्यभिचार आता है और सर्व संबंधी कहो तो असिद्ध है । उसी को तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है ।

"यदि अभाव प्रमाण स्वसंबंधी है तो अल्पज्ञों के द्वारा समुद्र के विद्यमान जलकुंभादि की संख्या से व्यभिचारी है । अर्थात् समुद्र के पानी का घड़े आदि से मापने की संख्या का परिमाण तो हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्र में कितने घड़े पानी है अतः समुद्र के पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है ॥१॥

यदि सर्व संबंधि [अभाव] कहो तो अल्पज्ञों के द्वारा उसे जानना शक्य नहीं है यदि सभी को जानने वाला कोई ज्ञाता है तो वही सर्वज्ञ है पुनः आप उस सर्वज्ञ का निषेध क्यों करते हैं ? अर्थात् यदि आप कहें कि सभी संसारी जीवों के पास सर्वज्ञ को जानने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो अल्पज्ञ मनुष्य यह बात कैसे जान सकेगा कि जैन नैयायिक वैशेषिक आदि किसी के पास सर्वज्ञ को जानने वाला

१ सदुपलम्भक सद्ग्राहकम् । २ विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । ३ सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । ४ परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । ५ तदेति शेषः । ६ विद्यमानैः । ७ किञ्चिज्ज्ञैः । ८ अतीन्द्रियत्वात् ।

(1) अभावप्रमाणं । (2) तदुपलंभनं स्वसंबंधि—सर्वसंबंधि वा इति विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति । स्वसंबंधि—स्वस्याभावप्रमाणवादिनः संबंधियज्ज्ञापकपंचक (प्रमाण) तस्यानुपलंभन तस्य । सर्वसम्बन्धि—सर्वजनस्य (3) तदा ।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न ¹चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षादृष्टवत् ॥३॥
नानुमानादलिङ्गत्वात् ¹क्वार्थापत्त्युपमागतिः² । ²सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥४॥
सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्³ ॥५॥
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य⁴ सम्मतम् । तस्य ⁵स्वरूपसत्तायां ⁶तन्न³चातिप्रसङ्गतः⁷ ॥६॥

प्रमाण नही है और यदि जानेगा तब तो सर्वप्राणियो को जानने से वही तो सवज्ञ सिद्ध हो जावेगा पुन आप सवज्ञ का निषध भी कैसे कर सकेंगे ? ॥२॥

दूसरी बात यह है कि सव सम्बंधि सवज्ञ के ज्ञापकानुपलभ—अभाव प्रमाण को चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा जानना शक्य नही है क्योकि वह अतीद्रिय अदृष्ट के समान है। अर्थात जसे पुण्य-पाप आदि इन्द्रिय से नही दिखते हैं वैसे ही वह ज्ञापकानुपलभ नहीं दिखता है ॥३॥

अनुमान से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नही है क्योकि सर्वज्ञ अत्यत परोक्ष है अत उसके ज्ञापक हेतु का अभाव है एव उस सर्वज्ञ के अभाव के साथ अ यथाभाव और सादृश्य का अभाव होने से अर्था पत्ति और उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥४॥

सवज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले उस ज्ञापकानुपलभन हेतु के जानने मे सम्पूण प्रमाता—ज्ञाता सम्ब धी प्रत्यक्ष अनुमान अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणो का निवारण हो जाने से तो मीमासको के यहाँ केवल आगम से उस सवज्ञ क अभाव का जानना कसे सिद्ध हो सकगा ? ॥५॥

क्योकि जो मीमांसक वेदवाक्यो क अथ को काय—कमकाड क प्रतिपादक अर्थ मे प्रमाण मानते हैं वे ही उन वेदवाक्यो को स्वरूप की सत्तारूप—परमब्रह्म को कहने वाले अथ मे प्रमाण नही मानते हैं और यदि मानगे तो अतिप्रसग दोष आ जावेगा अर्थात् अन्नाद्ध पुरुष अन्न से पुरुष पदा होता है ऐसे वेदवाक्यो को भी प्रमाण मानना पडगा। तथा च चार्वाक मत का प्रसंग आ जावेगा अत कमकाड के प्रतिपादक वाक्यो को ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं किन्तु ज्ञापकानुपलभन क सिद्ध करने वाले वेद-वाक्यों को वे प्रमाण नहीं मानते हैं अत आगम से भी ज्ञापकानुपलभन की सिद्धि नही हुई कि जिससे सर्वज्ञ क अभाव को सिद्ध किया जा सक ॥६॥

---

१ अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभाव । २ सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति वा पाठ । ३ सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । ४ मीमांसकस्य । ५ स्वरूपशब्देन सर्वज्ञ । ६ सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । ७ अाप पविकमित्यादे-रपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

---

(1) अतीन्द्रियत्वात् । (2) अत द्वि । (3) अन्यथा—स सर्ववित् स लोकवित् हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ इत्यादेरपि स्वरूपे प्रामाण्यं स्यात् ।

[१]तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणत । साध्यते चेन्न तस्यापि [२]सर्वत्राप्यप्रवृत्तित[1] ॥७॥
गृहीत्वा [2]वस्तुसद्भाव स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम[3] । मानसं नास्तिताज्ञान यत्राक्षानपेक्षया ॥८॥
तेषामशेषनृज्ञाने[4] स्मृते[३] [४]तज्ज्ञापक क्षणे । जायेत नास्तिताज्ञान मानस तत्र नान्यथा ॥९॥
न चाशेषनरज्ञान [5]सकृत्साक्षादुपेयते[५] । न क्रमादन्य[६]सन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टित ॥१०॥

सवज्ञ को बतलाने वाले प्रमाण की उपलन्धि का अभाव प्रमाण से यदि आप अभाव सिद्ध करते है तो यह ठीक नही है क्योकि वह अभाव प्रमाण भी सवत्र प्रवत्ति नही कर सकता है । अर्थात सभी पुरुषसबधि सबज्ञ क अभाव को जानने मे वह अभाव प्रमाण समथ नही हो सकता है ॥७॥

आप मीमासको क यहा ही अभाव प्रमाण का एसा लक्षण किया है कि वस्तु के सदभाव को ग्रहण करके और जिसका अभाव सिद्ध किया है उसके प्रतियोगी का स्मरण करके एव बहिरग इद्रियो की अपेक्षा न करके केवल मन मे नही है यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है । अर्थात जसे भूतल मे घट का अभाव जाना जाता है । इस समय भूतल का चक्षु से या स्पशन इ द्रिय से प्रत्यक्ष है ही और पहल देखे हुये घट का स्मरण है ऐसी दशा मे मन इ द्रिय से घटाभाव का ज्ञान हुआ ॥ ८ ॥

पुन उन मनुष्या को अशेष मनुष्या का ज्ञान हो जाने पर तथा सवज्ञ ज्ञापक क काल का स्मरण हो जाने पर मन मे सवज्ञ नही है यह ज्ञान उत्पन्न हा सकता है अन्यथा नही हो सकता है । अर्थात हम जैनो के यहा और नयायिको के यहा तो अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणो से हो जाता है किंतु मीमांसक लोग अभाव के जानने मे निषध करने याग्य पदाथ का स्मरण और निषध की आधारभूत वस्तु का प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणो से निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं । अत उन मीमासको को सवज्ञ ज्ञापक प्रमाणो का अभाव रूप नास्तित्व मन और इ द्रियो के द्वारा तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहा के आधारभूत सपूण मनुष्यो का ज्ञान किया जावे और उस समय सवज्ञ ज्ञापक प्रमाणा का स्मरण किया जावे इसके सिवा अन्य प्रकार से सवज्ञ ज्ञापक प्रमाणो की नास्तिता का ज्ञान किसी भी प्रकार से नही कर सकगे ॥९ ॥

और किसी को भी एक साथ सभी मनुष्यो का ज्ञान हो नही सकता है तथा क्रम से भी नहीं हो सकता है क्योकि अन्य पुरुष के मनोव्यापारादि का प्रत्यक्ष होना किसी को इष्ट नही है एव शक्य भी नही है । अर्थात् अभाव प्रमाण की उत्पत्ति मे आधारभूत सभी मनुष्यो का ज्ञान होना आवश्यक है ऐसी आपकी मान्यता है किंतु यह बात शक्य नही है ॥१ ॥

१ प्रभाकर निराकृत्य भट्ट निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति । २ सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने ३ सति । ४ सर्वज्ञज्ञापके काले । ५ घटते । ६ अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्ट ।

(1) सवजनसर्वज्ञग्राहकप्रमाणाभावे । ता बहु । (2) घटव्यतिरिक्त भूतल । (3) घट । (4) सर्वे सौभयति । (5) युगपत् ।

यदा च क्वचिदेकत्र[१] भवेत्तन्नास्तितागतिः[२]। नैवान्यत्र[३] तदा [४]नास्ति क्वचन सर्वत्र[1] नास्तिता ॥११॥
[५]प्रमाणान्तरतोऽप्येवं[६] न सर्वपुरुषग्रहः। [७]तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् [2]सदोषैरितदूषणात्[८] ॥१२॥
[3]तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्वं न कादाचित्। [९]यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम्[4] ॥१३॥
[१०]परोपगमतः सिद्धः स[११] नैवास्तीति गम्यते। [१२]व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं[5] सिद्धो न सोऽन्यथा ॥१४॥

और जब किसी एक मनुष्य मे भी सर्वज्ञ नही है ऐसा नास्तितता का ज्ञान हो जावेगा तब अन्य मनुष्य मे वह नास्तितता का ज्ञान तो है नही पुन सवत्र सर्वज्ञ नही है ऐसा नास्तितता का ज्ञान कसे हो सकता है ? अर्थात् आप जब क्रम क्रम से सबको जानगे तभी तो सवज्ञ का अभाव सिद्ध करगे और क्रम क्रम से सभी मनुष्यो को जानना तो तीन काल मे भी शक्य नही है ॥११॥

आप मीमासको के यहा सवज्ञ के ज्ञापक-बतलाने वाले प्रमाण के अभाव के आधारभूत सपूण पुरुषो का ग्रहण अन्य अनुमान अर्थापत्ति आदि प्रमाणो से भी नही हो सकता है क्योकि उनके अविनाभाव सादृश्य आदि गुणो को रखने वाले हेतु आदिक सिद्ध नही हैं। अनेक पुरुषो को क्रम से जानने मे जो दूषण आते हैं वे ही दोष उन पुरुषो को जानन मे जो हेतु या सादश्य दिये जावगे उनमे भी साथ साथ ही आवगे अर्थात अनेक पुरुषो के साथ व्याप्ति को रखने वाला कोई निर्दोष हेतु आपके पास नही है और न सादश्य आदि ही है ॥१२॥

उस सवज्ञ को बताने वाले की उपलब्धि भी पूव मे कदाचित् सिद्ध नही है। जिस ज्ञापकोपलभ की स्मृति होने पर वास्तव मे नास्तितता का ज्ञान हो सके। अर्थात आपके यहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति मे प्रतियोगी का स्मरण भी कारण है और पूव मे जाने हुये सवज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का स्मरण हो सकता है परन्तु आपको तो सवज्ञ ज्ञापक प्रमाण का स्मरण नही है ॥१३॥

यदि हम जनादि की स्वीकृति से वह सवज्ञ ज्ञापक प्रमाण-सवज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण सिद्ध है पुन 'नास्ति इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है तब तो व्याघात-परस्पर विरुद्ध दोष हो जाता है। यदि आप पर की स्वीकृति को प्रमाण मानते हो तो वादी और प्रतिवादी दोनो को ही वह सिद्ध है यदि कहो वह अप्रमाण है तो दोनो के यहां सिद्ध नही है। अर्थात आप यदि हम सवज्ञवादी मत को प्रमाण मानते हैं तब तो सवज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणो का अभाव नही कर सकगे और यदि सवज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हो तो हमारी स्वीकृति तुम्हे प्रमाण नही रही मतलब तुम हमारी अप्रमाणीक स्वीकृति से

---

१ नरे। २ सर्वज्ञनास्तितानिश्चिति। ३ नरे। ४ नास्तितागति। ५ अनुमानादिना। ६ मीमांसकानाम्। ७ अनुमाने लिङ्गस्य उपमाने सादृश्यस्य अर्थापत्तौ तथानुपपद्यमानस्य आभावादित्यर्थः। ८ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धं किञ्चिद् दोषैर्न शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात्। ९ तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम्। १० जनाद्युपगमत। ११ सवज्ञ। १२ कथं व्याघातस्तथाहि।—तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेऽन्योन्यं परस्पर (वादिप्रतिवादिनो) स सिद्ध। अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति।

---

(1) नरे। (2) युगपत्। (3) मीमासकानामसिद्ध एव। (4) पारमार्थिक (5) विधिप्रतिषेधयो।

हमारा खडन कसे करोगे इसमे तो तुम्हारे यहा वदतोव्याघात नाम का दोष आ जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—मीमासक का कहना है कि प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति रूप पाँचो ही प्रमाणो से सवज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता है अतएव अतिम छठ अभाव प्रमाण क द्वारा सवज्ञ का अभाव ही सिद्ध है इस अभाव प्रमाण का दूसरा नाम है ज्ञापकानुपलभन मतलब बतलाने वाले प्रमाण का उपलब्ध न होना।

मीमासक क इस कथन पर जनाचाय प्रश्न करते है कि सवज्ञ क अस्तित्व को बतलाने वाला प्रमाण कवल आपको ही नही है या सभी जीवो क पास सवज्ञ का बतलाने वाला प्रमाण नही है ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो समुद्र क पूरे पानी मे घडो की सख्या का परिमाण तो है किंतु आप क पास उनका ज्ञापक प्रमाण नही है अत आपका हेतु यभिचारी हो गया। यदि आप दूसरा पक्ष लव कि सभी ससार क जीवो क पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नही है तब तो हम और आप जसे अल्पज्ञ जनो द्वारा यह बात जानना ही शक्य नही ह कि सभी जीवो क पास सवज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नही ह और यदि आप किसी जीव को भी ऐसा सभी को जानने वाला मानते हो कि इन सभी क पास सवज्ञ ज्ञापक प्रमाण नही ह तब तो सब को जानने वाल सवज्ञ का आप निषध भी कसे कर सकते हो ?

यदि आप मीमासक यह कहे कि षडभि प्रमाण सवज्ञो न वायत इति चायुक्त प्रत्यक्षादि छहो प्रमाणो से सम्पूण पदार्थों को जानने वाल सवज्ञ का हम निषध नहा करते है। अनुमान या अपौरुषय वेद रूप आगम से अनेक विद्वान परोक्ष रूप से सपूण पदार्थों का जान नते है यह कोई कठिन बात नही ह किंतु एक अतीद्रिय प्रत्यक्ष क द्वारा युगपत सपूण जगत का जानने वाला कोई सवज्ञ ह इस बात का ही हम निषध करते हैं। मतलब पुण्य पाप आदि अतीद्रिय पदार्थां का ज्ञान वेद स ही होता ह न कि प्रत्यक्ष ज्ञान से।

इस कथन पर भी जनाचाय कहते है कि अतीद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कोई भी मनष्य अतीद्रिय पदार्थों को नही जानता ह यह बात भी आप इद्रिय प्रत्यक्ष क द्वारा नही जान सकते है यदि जानगे तब तो आप ही सवज्ञ बन जावगे। इसी प्रकार से सवज्ञ क अभाव को कहने वाला यह अभाव प्रमाण अनमान क द्वारा भी नही जाना जा सकता है तथव उपमान और अर्थापत्ति से भी यह ज्ञापकानपलभन हेतु जाना नही जा सकता ह एव आप मीमासक ने कमकाड क प्रतिपादक वेदवाक्यो को ही प्रमाण माना ह किंतु सवज्ञाभाव क साधने मे समथ अभाव प्रमाण को सिद्ध करने वाले वेदवाक्यो को प्रमाण नही माना ह अत आगम से भी ज्ञापकानपलभ हेतु सिद्ध नही हो सकता ह यदि आप सवज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणो क अभाव को अभाव प्रमाण से कहो तो भी ठीक नही ह क्योकि आपक द्वारा मान्य अभाव प्रमाण की भी सभी जगह प्रवृत्ति नही हो सकती है। अर्थात सवज्ञाभाव क आधारभूत शुद्ध भूतल के सदभाव को जान करके और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस सर्वज्ञ का स्मरण करके बहिरग इद्रियो की अपेक्षा से रहित जो मन मे यहा सर्वज्ञ नहीं है यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण ह जसे पहले कभी किसी

मंदिर मे सवज्ञ को देखा था पुन कुछ दिन बाद गये तो वहा मदिर खाली दिखा तब पूव मे देखे हुये सवज्ञ का स्मरण हुआ और मन मे ज्ञान हुआ कि यहा सर्वज्ञ नही ह इसे अभाव प्रमाण कहते हैं। आप मीमासक की अभाव प्रमाण की इस याख्या से तो बडी आफत आ जाती ह क्योकि पूर्व मे देखे गये जाने गये का ही वर्तमान मे स्मरण हो सकता ह बिना जाने पदाथ का स्मरण ही असंभव ह।

दूसरी तरह से यह भी प्रश्न होता है कि सभी जीवो के पास सवज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणो का अभाव है इस बात को जानने के लिए आप सभी जीवो को एक साथ ही एक समय मे जान लेते हो या क्रम से एक एक को जानते हो ? क्रम क्रम से अ य सभी जीवात्माओ को जान लेना आपको इष्ट नही है क्योकि क्रम क्रम से जानने मे तो अनत काल निकल जावेगा कारण जीवराशि तो अनतानत है।

यदि आप कहे कि इ द्रिय प्रत्यक्ष से हम क्रम क्रम से सभी जीवो को नही जानगे कि इनके पास सर्वज्ञ ज्ञापक कोई प्रमाण नही है कि तु अनुमान आदि से जल्दी से जान लगे तो आचाय कहते हैं कि सपूण जीवो के पास सवज्ञ ज्ञापक प्रमाण नही है इस बात को बताने के लिये अनुमान आगम उपमान आदि प्रवृत्त नही हो सकगे क्योकि अविनाभावी हेतु सादृश्य आदि का अभावपूववत ही है।

यदि दूसरा पक्ष लवो कि एक साथ ही हम सभी जीवो को जान लगे कि इन सभी के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक कोई प्रमाण नही है तब नो आप ही सभी को युगपत जान लेने से सवज्ञ हो जावगे। निष्कष य है कि मीमासक अभाव प्रमाण से सवज्ञ का अभाव करना चाहता था कि तु जनाचाय ने इस अभाव प्रमाण का ही अभाव करके सवज्ञ के सदभाव को सिद्ध कर दिया है। मीमासक ने पुन एक बात कही है कि आप जनादि सवज्ञ को बताने वाले प्रमाणो को मानते है थोडी देर के लिए हम उनको लेकर कल्पना से मान लगे पुन अभाव प्रमाण से ज्ञापक प्रमाणो की उपलब्धि का अभाव सिद्ध कर दगे।

इस पर जन कहते है कि हम लोगो ने जो सवज्ञ के ज्ञापक प्रमाणो को माना है उ हे लेकर पुन तुम उनका अभाव करना चाहते हो तो पहले यह बताओ कि आप हमारे द्वारा मा य सवज्ञ ज्ञापक प्रमाणो को सच्चे मानते हो या नही ? यदि सच्चे मानते हो तो आप उन प्रमाणो का अभाव नही कर सकोगे। अर्थात् सवज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर आप ज्ञापकोपलभ का अभाव नही कर सकते हैं यदि ज्ञापकोपलभन का अभाव सिद्ध करते हो तो सवज्ञवादी के ज्ञापक प्रमाणो को आप प्रमाणीक नही मानते हो और यदि आप सवज्ञवादी के मन्तव्य को प्रमाण नही मानते हो तब तो सपूर्ण आत्माओ का ज्ञान और ज्ञापकोपलभन रूप सामग्री के न होने से आपके उस अभाव प्रमाण की उत्पत्ति नही हो सकेगी। सेयमु भयत पाशारज्जु रस्सी मे दोनो तरफ फासे है इस याय से आप मीमासक को दोनो ही तरफ से सर्वज्ञ मानना पडता है। सर्वज्ञ का अभाव यदि अभाव प्रमाण से करते हैं तो भी मानना पडता है और यदि सर्वज्ञ का अभाव न कर तब तो वह स्वयं सिद्ध ही है।

मन्वेवं सर्वथैकान्त परोपगमत कथम । सिद्धो निषिध्यते जनैरिति चोद्यं न धीमताम ॥१५॥
प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधित । को दोष [1]सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने[1] ॥१६॥
[2]अनेकान्त हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम । तद्विधिस्तन्निषेधश्च[2] मतो [3]नैवान्यथा गति ॥१७॥
[4]नैव सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम । सिद्ध [3]तद्दर्शनारोपो[5] येन तत्र निषिध्यते ॥१८॥ इति ।

यदि आप कहे कि इस प्रकार से सर्वथैकांत भी पर की स्वीकृति से ही तो सिद्ध है पुन उसका निषेध भी आप जैनी क्या करते है आपका ऐसा प्रश्न करना ठीक नही है । अर्थात सांख्य बौद्ध आदि के एकांत मंतव्य को आप जैन प्रमाण नही मानते हैं पुन पर की स्वीकृति से ही तो उस एकांत का निषेध कैसे करेंगे ? ॥१५॥

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहा अनंत धर्मात्मक स्वय अबाधित पदार्थ का अनुभव होने पर सुनयो के द्वारा एकांत का अभाव सिद्ध करने मे क्या दोष है ? अर्थात जीव पुद्गल आदि सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक अपने आप प्रमाण मे सिद्ध है पुन श्रेष्ठ प्रमाण नय की प्रक्रिया एव सप्तभगी से उनको जान लेने से एकांत का अभाव स्वय सिद्ध हो जाता है । जैसे तीव्र आतप से सतप्त पुरुष को छाया मे भी स्फुलिंग दीखते है किंतु उनका निषेध कर दिया जाता है क्योकि शुद्ध छाया का प्रत्यक्ष होना ही दृष्टि दोष से हुए अनेक असत धर्मों का निषेध करना है । वास्तव मे वहा निषेध कुछ नही केवल शुद्ध छाया का विधान है वैसे ही मिथ्या कल्पित एकांत का निषेध समझना ॥१६॥

अनेकांत मे एकांत की उपलब्धि न होना रूप विज्ञान है वही अनेकांत की विधि और एकांत का निषेध है अन्य प्रकार से एकांत के अभाव का ज्ञान नही है । अर्थात् अनेक धर्मों का विधान ही एकांत का निषेध है हमारे यहा एकांत के अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप नही माना है प्रत्युत भावांतर रूप अनेकांत का होना ही माना है ॥१७॥

इस प्रकार से सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अभाव सिद्ध नही है जिससे कि उस सर्वज्ञ के दर्शन की भ्रांति का वहा निषेध किया जा सके । अर्थात जैसे हम सभी लोगो को सभी वस्तुओ मे अनेकांत की उपलब्धि रूप एकांतो का नही दीखना सिद्ध है । यदि किसी को भ्रम वश एकांत की कल्पना हो भी जाती है तो उसका खण्डन कर दिया जाता है । इसी प्रकार से सभी पुरुषो को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणो का नहीं दीखना सिद्ध नही है कि जिससे आप उनका निषेध कर सके अर्थात आप सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का निषेध नही कर सकते है ॥१८॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करने मे आपने अतिम दोष दिखाया है वैसे तो आप भी दोषी है देखो ! आप जैन सभी वस्तु को अनेकांत रूप मानते हो ।

---

१ सुयुक्तिभि । २ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माकं न किञ्चिद् दूषणमित्याहुः कान्ते इति । ३ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रकारेण । ४ अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं स्यादित्युक्त सिद्धान्त्याह नैवमिति । ५ भ्रान्ति ।

---

(1) एकांतोपप्लवबाधन इति पा । अभाव (2) एव । (3) सर्वज्ञदर्शनसम्भाव ।

आपका कहना है कि कोई भी वस्तु सवथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आदि रूप है ही नही जसा कि बौद्ध सांख्यादि मानते हैं इस प्रकार से जब आप एकातो का सर्वथा ही अभाव मानते हो पुन उन एकातो का खण्डन भी कसे करते हो ? क्योकि एकातो को माने बिना आप उनका निषध भी नही कर सकगे। आपके सिद्धातानुसार तो जिस वस्तु की विधि है—अस्तित्व है उसी का ही निषध हो सकता है।

इस पर जनाचाय कहते हैं कि हम स्याद्वादियो ने सर्वथा एकातो के निषध से ही अनेकात की सिद्धि नही मानी है कि जिससे सवथा नास्ति रूप और निषध करने योग्य एकातो का निषध न किया जा सके। अर्थात ऐसी बात नही है जो वस्तु सवथा है ही नही उसके निषध करने या विधि करने का किसी प्रमाता के पास अवसर ही नही है। हमारे यहा सवज्ञ भगवान के द्वारा कथित सभी वस्तुय अनत धर्मात्मक ही है यह बात अबाधित रूप से सिद्ध है। ऐसी अवस्था मे प्रमाण नयो की प्रक्रिया को जानने वाने विद्वान जन सवथा एकात को दूषित कर देते है इसमे कोई बाधा ही नही आती है। किसी ने कहा कि मैं सदा सत्य बोलता ह और झठ बोलने का मुझ त्याग है तो इसमे क्या बाधा आई ? हमन कहा कि सभा वस्तु अनकात स्वरूप है क्याकि एकात मान्यता मे अनक दोष आते हैं तो इस बात मे कुछ भी बाध नही आती है।

दूसरी बात यह भा है कि मिथ्यात्व कम क उदय से होन वाली सवथा एकात रूप गलत धारणाय भी कथचित विद्यमान अवस्था को लिये हुये है वे सभी एकांत धारणाय अपन अपन स्वरूप से विद्यमान हान म सत रूप ही है अत उन मिथ्या धारणाओ का निषध करना ही तो एकात का निषध है क्याकि जन सिद्धात म नयायिको के द्वारा मान्य तुच्छाभाव को तो स्वीकार नही किया गया है। अतएव एकाता क न दीखन से सवथा एकातो का अभाव है ऐसा हम नही मानते हैं प्रत्युत वस्तुभूत अनत धर्मात्मक अनकात का ज्ञान हो जाना एकातो का अभाव है।

हमार यहाँ अनक धर्मो का जो विधान है वही एकातो का निषध है। नयायिक या मीमासको के समान अन्य प्रकार म अभाव का ज्ञान होना हम नही मानते हैं। देखिये ! जसे सब वस्तुओ मे अनकात की उपलब्धि होन से एकाता का नही दीखना हमे सिद्ध है। पुन यदि किसी को भ्रमवश एकात की कल्पना भी हो जाती हे ता वह खडित कर दी जाती है उसी प्रकार से सभी पुरुषा मे सवज्ञ के बतलान वाल प्रमाणो का न दीखना आपको सिद्ध नही है जिससे कि वहा सभी मे आप सवज्ञ का वस्तुत निषध कर सक। अर्थात यदि आप इस प्रकार से निषध करगे तो पूववत सभी दोष पुन आपके ऊपर लागू हो जावगे। इसी विषय पर श्लोकवार्तिकालकार मे स्वय श्री विद्यानद महोदय न बहुत ही विस्तृत प्रकाश डाला है। जसे कि—

आसन सति भविष्यति बोद्धारो विश्वदश्वन ।
मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सवज्ञवादिन ॥३२॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनवेति विनिश्चय ।
इत्ययुक्तमशेषज्ञ—साधनोपाय—सभवात् ॥३३॥

[सर्वज्ञस्य साधकं निर्दोषप्रमाणमस्ति ।]

तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमेव [1]साधकम् । तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्वि[2]श्वासनिबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा [3]तस्य [4]तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणं वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् [1]साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चि

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः ।
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशाः ॥३४॥

अर्थ— संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जो सर्वज्ञ हैं उनको जानने वाले मुझसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहले यहां हो चुके हैं इस समय भी अन्य क्षेत्रों में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष और यहाँ पर भी आगम अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। इस प्रकार का निर्णय जैसे सर्वज्ञवादी को है उसी प्रकार से मुझ मीमांसक को भी यह निश्चय है कि भूतकाल में भी सभी जन अल्पज्ञ थे अभी हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे । सर्वज्ञ और सर्वज्ञ का ज्ञाता कोई भी पुरुष न हुआ है न है और न होगा । संपूर्ण मनुष्य त्रिकाल में अल्पज्ञ अवस्था में ही हैं और अल्पज्ञों को ही जानने वाले हैं इस प्रकार से मीमांसक की बात सुनकर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! आपका कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणभूत उपाय संभव हैं । देखिये ! जैसे कि मैं अनुमान आगम आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ को वास्तविक रूप से जान लेता हूं । तथैव दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणों से रहित होकर उस सर्वज्ञ को जान लेते हैं और आज भी प्रेक्षावान बुद्धिमान मनुष्य विद्यमान हैं । इसी प्रकार से आगे स्वयं श्री विद्यानंद स्वामी सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान है]

इस प्रकार से यह ज्ञापकानुपलंभन हेतु सर्वज्ञ का बाधक नहीं है इसलिये सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण हेतु ही सर्वज्ञ का साधक सिद्ध है । तथाहि— सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण है प्रत्यक्षादि के समान ।

प्रत्यक्षादि प्रमाण में विश्वास निमित्तक बाधक का न होना ही सुनिश्चित है उससे भिन्न प्रवृत्ति सामर्थ्य अथवा अदुष्ट कारण जन्यत्व हेतु संवादक–विश्वास निमित्तक नहीं है क्योंकि वे संवादकत्वादि उस सुनिश्चितासंभवद्बाधक में अवश्यभावी हैं एवं इस अनुमान में प्रत्यक्षादि प्रमाण उदाहरण हैं क्योंकि वे वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रसिद्ध हैं और साध्य साधन धर्म से अविकल हैं—रहित नहीं

१ सर्वज्ञस्य २ विश्वासस्य प्रतीतेः । ३ संवादकत्वादेः । ४ सुनिश्चित सम्भवद्बाधके ।

---

(1) अस्तित्व ।

तासभवदबाधकप्रमाणश्च[1] स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावत्तिकमिद साधन न मन्तव्य [2]विपक्ष बाधकसदभावात । तथा हि । यदसत्तन्न सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकाया तोय सम्भवदबाधकप्रमाण मेरुमूर्द्ध नि मोदकादिक च [1]सन्दिग्धासभवदबाधकम् । सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाणश्च सवज्ञ । इति प्रकृते सवज्ञ सिद्धमपि साधन यदि सत्ता न [3]साधयेत्तन्ना [2]दशन नादशनमतिशयीत[4] अनाश्वासात स्वप्नादिविभ्रमवत [1]तस्य सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाणत्वस्याभावे[5] सवत्र दशने दशनाभासे च विशेषाभावात ।

[सवज्ञस्य साधकबाधकप्रमाण स्तोऽत सवज्ञस्य सद्भावे सशयोऽस्तीति मन्यमाने प्रत्युत्तर]

[1]साधकबाधकप्रमाण[6]भावात्सवज्ञ सशयोस्त्वित्ययुक्त यस्मात्साधक[7]बाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् [1]भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका[8] स्यात* । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्ति

हैं । अर्थात अनुमान प्रयोग मे दृष्टात की कोटि मे उसे ही रखा जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनो को मान्य हो एव साध्य के धर्म और साधन के धर्म से भी सहित होवे । यहाँ प्रत्यक्षादिप्रमाणवत यह उदाहरण भी निर्दोष है । सुनिश्चितासभवदबाधक प्रमाण भी होवे और अविद्यमान भी होवे इस प्रकार से यह हेतु सदिग्ध विपक्षव्यावत्तिक है ऐसा भी नही मानना चाहिये । अर्थात विपक्ष से व्यावृत्त होने मे सदेह है ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि विपक्ष मे बाधक का सदभाव है । तथाहि— जो असत् है वह सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण नही है जैसे मरीचिका मे जल सभवद बाधक प्रमाण है मेरु के शिखर पर लडड रखे हुये है यह सदिग्धासभवद बाधकत्व है । अर्थात् इसमे बाधा न होना सदिग्ध है और सवज्ञ सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण स्वरूप है । इस प्रकार से प्रकृत सवज्ञ मे सिद्ध होता हुआ भी हेतु यदि सवज्ञ की सत्ता को सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्यक्ष का उलघन नही कर सकेगा क्याकि उसमे कोई विश्वास नही रहेगा स्वप्नादि के भ्रान्तज्ञान के समान । क्योकि वह प्रत्यक्ष सुनिश्तिासभवद बाधक प्रमाण के अभाव मे सवत्र प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास मे समान ही है ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करन वाले और बाधित करन वाले दोनो ही प्रमाण पाये जाते हैं अत सवज्ञ है या नहीं ? यह संशय ही बना रहेगा ऐसी मान्यता का उत्तर]

मीमांसक—साधक और बाधक दोनो ही प्रमाणो का सदभाव होने से सवज्ञ मे सशय हो जावेगा ।

---

१ मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयो साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतो सभवात् । २ प्रत्यक्षम् । ३ प्रत्यक्षस्य । ४ मीमांसकाशङ्का । ५ सवज्ञस्य ।

(1) सर्वज्ञ । (2) असति । (3) सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व स्वसाध्य यदि न साधयेत्तदा विद्यमानमप्यविद्यमान एवेति भाव । (4) दशनादर्शनयोर्विश्वासनिबन्धनत्वात् (5) विश्वासनिबधनत्वाभावस्य । (6) साधकबाधकाभावात् इति पा (7) साधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति अन्यादौ बाधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति मरुमरीचिकायां जलमिति ।(8) सशीतिर्यस्मात् ।

* मुद्रित अष्टसहस्री मे साधक से स्यात' पर्यंत अष्टशती नहीं मानी है किन्तु मुद्रित अष्टशती एवं हस्तलिखित अष्टशती (दि प्र) तथा हस्तलिखित अष्टसहस्री ब्यावर प्रति में यह पाठ अष्टशती है ।

बाधकनिर्णयास्त्वसत्तायाम्[1]। उभयनिर्णयस्तु न सभवत्येव क्वचित्[१] [२]व्याघातात् साधक-बाधकाभावनिर्णयवत्[३]। साधकानिर्णयात्पुन सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्ताया मिति विपश्चितामभिमतो[४] याय । ततो भवभृता प्रभौ मुनिश्चितासम्भवदबाधकप्रमाणत्व सत्ताया साधक सिध्यत सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणत्व यावत्तयत्यव [५]विरोधात । [६]नैवमेतत्त्र[७] सिध्यति येन सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाणत्वस्य यावत्तक स्यात । तत सिद्धो भवभता प्रभु सवज्ञ एव ।

अर्थात सवज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला भी प्रमाण मौजद है एव मवज्ञ के नास्तित्व को बतलाने वाला—सवज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण भी मौजद है पुन सवज्ञ है या नही ? यह शका सहज ही बनी रहेगी इसका निवारण कसे हो सकेगा ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योकि **साधक और बाधक प्रमाण का निणय होने स तो सवज्ञ के सद्भाव और अभाव मे विसवाद है नहीं प्रत्युत इस प्रकार का निणय न होन स ही शका हो सकती थी**। देखो ! सर्वज्ञ के साधक प्रमाण का निणय होने से तो सवज्ञ के अस्तित्व म विसवाद नही है एव सवज्ञ के बाधक प्रमाण का निणय होन से उस सवज्ञ के नास्तित्व मे विसवाद नहा है किंतु एक साथ दोना का निर्णय तो किसी भी वस्तु मे सभव ही नही है क्योकि साधक और बाधक दोना का एकत्र रहना विरुद्ध है। जैसे एक ही पदाथ मे साधक और बाधक के अभाव का निणय हाना विरुद्ध है उसी प्रकार एक ही वस्तु मे साधक एव बाधक का सदभाव होना भी विरुद्ध है। साधक का निणय न हान स सवज्ञ की सत्ता मे शका हो सकती है और बाधक का निणय न होने से सवज्ञ का असत्ता म आशका होती है इस प्रकार से विद्वानो का याय ही सवत्र अभिमत—मान्य है। मतलब दोना म स कोई एक ही शका हो सकती है दोनो शकाय एक साथ असभव हैं। इसलिये ससारी जीवा के स्वामी म सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण सवज्ञ की सत्ता का सिद्ध करता हुआ सुनिश्चितासभवदसाधक प्रमाण रूप हेतु को व्यावत्त—निराकृत ही कर देता है क्योकि दोनो का परस्पर मे विराध है। अथात जहा सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण हेतु है वहा सुनिश्चितासभवदसाधकत्व हेतु सभव नही है और यह सुनिश्चितासभवत् साधक हतु सर्वज्ञ मे सिद्ध भी नही है कि जिससे वह सुनिश्चितासभवदबाधक प्रमाणत्व हेतु का या वृत्तक—निवारण करने वाला हो सके। अर्थात हमारे इस हेतु का यावृत्ति नही हो सकती है।

इस प्रकार निर्दोषत्व हेतु से ससारी जीवो का प्रभु सवज्ञ ही है यह बात सिद्ध हो गई।

भावार्थ—आचाय कहत है कि बाधा का न होना जिसमे सम्यक प्रकार से निश्चित है उसे

---

१ वस्तुनि। २ विरोधात्। ३ यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भाव। यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भाव। न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न। ४ सर्वत्र। ५ सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व यत्र तत्र सुनिश्चितासभवत्साधकत्वं न घटते अन्योन्यविरोधात्। ६ सुनिश्चितासभव साधकप्रमाणत्वम्। ७ सवज्ञ। ८ निर्दोषत्वाद्धेतो।

---

(4) निर्णये त्वसत्ताया इति पा।

[मीमांसक आत्मानं ज्ञानस्वभाव न मन्यते तस्योत्तर]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत [1] 'तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात* । कुत

सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण कहते है। यदि कोई कहे कि—निर्दोष कारणो से उत्पन्न होने से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा विसवाद न हाने से इन तीन हेतुओ से या तीनो मे से किसी एक हेतु से सवज्ञ के सदभाव को प्रमाणभूत सिद्ध कर सकते हो तो इस पर आचार्यों का कहना है कि हमारे यहा बाधा का न होना जिसमें सुनिश्चित है ऐसे निर्दोष प्रमाण से ही सवज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। अदुष्टकारण ज यत्व प्रवृत्ति सामथ्य और विसवाद रहितत्व का हमारे यहा काई भी महत्त्व नही है और शू यवाद के खडन मे इनका खडन भी कर दिया गया है।

दूसरी बात यह भी है कि जहा हमारा हेतु विपक्ष से यावृत्ति रूप है यह बात निस्सदेह सिद्ध है इसमे सदेह भी नही है वहा अपने आप विसवा रहित आदि अवस्थाय आ जाती है क्योकि जिसमें बाधा नही है उसमे सवादकत्व निर्दोषकारणज यत्व तो स्वय ही विद्यमान है। जसे कि वतमान काल के लौकिक—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि मे बाधा का न होना सुनिश्चित होने मे ही प्रमाणता मानी जाती है उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी सुनिश्चितासभवदबाधकत्व हेतु भी प्रमाणीक ही है क्योकि सवत्र या कही भी क्यो न हो बाधा का न होना जब निश्चित हो जाता है तभी वहा उस विषय मे विश्वास देखा जाता है किंतु जहाँ बाधा सभव है या बाधा के होने मे सदेह है वहा पर विश्वास भी नही होता है।

इस पर मीमासक नें कहा है कि आप जन तो सवज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं और हम सवज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण दे रहे हैं। अब दोनो मे किसकी बात सत्य समझी जावे जबकि साधक-बाधक दोनो ही प्रमाण विद्यमान है अत सवज्ञ के अस्तित्व को मानने मे तो हमेशा ही सशय बना रहेगा।

जनाचाय कहते हैं कि ऐसी बात भी नही है क्योकि एक सिद्धातवादी हम अथवा आप दोनो को एक साथ मानते नही हैं। देखो! हम तो साधक प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध कर देते है और आप बाधक से नास्तित्व। इसलिए आपके यहा सवज्ञ का अभाव है किन्तु हमारे यहा सदभाव है पुन सशय का होना कसे रहा? किसी को भी सवज्ञ के साधक प्रमाणो का निणय होगा तब वह सवज्ञ की सत्ता को मान लेगा और जब बाधक प्रमाण का निर्णय होगा तब वह सवज्ञ का अभाव कह देगा कि तु किसी को भी सशय का प्रसग नही रहगा। हाँ! जिस वस्तु को कोई एक सत्य कह रहा है और उसी वस्तु को यदि कोई दूसरा असत्य कह रहा है तब तीसरा कोई आवे तो उसे सशय हो सकता है कि इन दोनो मे किसकी बात सत्य है और किसकी असत्य किन्तु सत्य और असत्य को कहने वाले दोनो मे से किसी को भी सशय

१ तत्स्वभावान्तरम्—अज्ञत्वलक्षणम्।

(1) जानीत।

[1]पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेध सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् । सवश्चाथ स्तस्य विषय स्यात ? ततस्त क्रमेतव ? इति चेत् [1]चोदना[3]बलादभूताद्य[4]शेषार्थज्ञाना न्यथानुपपत्त[6] । सोय[7] चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्त विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थ मवगमयितुमल पुरुषविशेषानिति स्वय प्रतीयन् सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति [2]कथ स्वस्थ ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमासकस्य कथञ्चिदभेदोपग[9]माद यथा[11]मतान्तरप्रसङ्गात । ततो नाज्ञस्वभाव पुरुष क्वचिदपि[2] विषये सवविषये चान्नाज्ञानो

नही है क्योकि एक तो अपनी वस्तु को सत्य मान चुका है और दूसरा असत्य मान चुका है। इसलिये सवज्ञवादी और सवज्ञाभाववादी सभी जनो के यहा सशय को स्थान नहा है। अब जो सवज्ञ साधक प्रमाणो से निश्चित सिद्ध हो चुके है वे सवज्ञ भगवान ससारी प्राणियो के स्वामी है ऐसा समझना चाहिये।

[मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नही मानता है उसका उत्तर]

ज्ञान स्वभाव आत्मा के कोई वस्तु अगोचर नहीं है जिसे कि वह सवज्ञ न जान सके क्योकि उस सवज्ञ के स्वभावांतर—अज्ञत्व लक्षण का प्रतिषध है*।

शंका—उस सवज्ञ के अज्ञत्व—अज्ञानावस्था लक्षण स्वभावातर का प्रतिषध कैसे सिद्ध है कि जिससे वह ज्ञान स्वभाव ही हो सके और सभी पदार्थ उसके विषय हो सके एव उन पदार्थो को वह जान लेवे यह बात कैसे सिद्ध है ?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो वेदवाक्य के बल से भूत भविष्यत और वतमान काल के सभी पदार्थों के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा ज्ञान स्वभाव ही सिद्ध है। वेदवाक्य भी भूत भविष्यत् और वतमान कालवर्ती विप्रकृष्ट—दूरवर्ती इसी प्रकार के पदार्थो को बतलाने मे समर्थ है इस प्रकार से आप मीमासक पुरुषविशेषो का स्वय अनुभव करते हुये तथा सपूर्ण पदार्थों को जानने के स्वभाव रूप ज्ञान स्वभाव आत्मा का ही है इस प्रकार श्रद्धा न करते हुये स्वस्थ कैसे है ? अर्थात वेदवाक्य से ही सपूर्ण त्रकालिक पदार्थों का ज्ञान किसी जीवात्मा को होता है किन्तु आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नही है ऐसा मानते हुये आप स्वस्थ नही है किन्तु अस्वस्थ ही है।

और वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो ऐसा नही है मीमासक के यहाँ उसमे कथचित अभेद स्वीकार किया गया है अन्यथा यदि आप मीमासक आत्मा से ज्ञान को सवथा भिन्न मानोगे तब तो यौग के मत का प्रसग आ जावेगा क्योकि नयायिक तो आत्मा से ज्ञान को सवथा भिन्न ही मानते है एव सम

---

१ सवज्ञस्य। २ जानीयात्। ३ जन। ४ भविष्यद्वतमानावादिपदेन ग्रहो। ५ ज्ञस्वभाववाभावे। ६ आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्य। ७ मीमांसक। ८ चोदना सकल जानाति आत्मा तु न जानातीति वदन्। ९ मीमासकस्यापि। १० सर्वथा भेदे। ११ मतान्तर यौगम्। १२ भूताद्यशेषार्थ।

---

(1) वेद। (2) सकलविषय ज्ञान भवतु ज्ञानस्वभावता तु कथमात्मन इत्युक्ते आह।

त्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा[1] सवत्र [2]तदनुपपत्तो [1]विधिप्रतिषेधविचाराघटनात ।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभावोऽस्ति तर्हि ससारावस्थायामज्ञानादि भावो कथ दृश्यते]

[6]कथमेव [2]कस्यचित्क्वचिदज्ञान स्यादिति [7]चेदुच्यते । **चेतनस्य [3]सत सम्बन्ध्यन्तर[8] [4]मोहोदयकारणक मदिराविवत्*** । [6]तत्कुत सिद्धम [1] विवादाध्यासितो जीवस्य मोहो दय सम्ब न्य तरकारणको मोहोदयत्वा मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात । [5]यत्त त्सम्ब ध्य तर तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । **तदभावे साकल्येन विरत यामोह सवम तीतानागतवतमान पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात*** । कथ पुनर्ज्ञानावरणा दिसम्ब ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोह स्याद्यत सर्वमतीतानागतवत्तमानानन्तार्थ

वाय स उसका सब ध मानते है पुन आप मीमासक भी वसे ही हो जाओगे । इसलिये किसी भी भूत भविष्यत आदि विषय मे पुरुष— आत्मा अज्ञ स्वभाव वाली नही है क्योकि सभी विषय मे वेद से ज्ञान उत्प न होन से अथवा विकल्प— याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होने से याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विधि प्रतिषध विचार ही घटित नही हो सकेगा ।

मीमासक—इस प्रकार से तो किसी भी मनुष्य को कही पर—किसी भी विषय मे अज्ञान कसे हो सकेगा ? अर्थात इस प्रकार स आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान लने पर तो सभी ससारी प्राणी पूणज्ञानी ही दिखने चाहिय पुन अज्ञानी क्यो दाख रहे है ?

[यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब ससारावस्था म उसके अज्ञानादि भाव कस दिखते हैं ?]

जन—**हम इसका स्पष्टीकरण करते है। सत रूप चेतन क सम्बध्यतर (सबधी ज्ञानावरणादि क मध्य मे अ यतम—ज्ञानावरण कम) मोह क उदय के निमित्त स होता ह मदिरा आदि क समान*** । अर्थात ससार म जीव क साथ ज्ञानावरण कम और मोहनीय कम विद्यमान है अतएव मदिरा को पीकर उ मत्त हुये के सदश इस जीव का ज्ञान अल्प और विपरीत हो रहा है ।

मीमांसक—वह ज्ञानावरण कम कसे सिद्ध है ?

जैन— विवाद की कोटि म आया हुआ जीव का मोहोदय रूप अज्ञानादि भाव ज्ञानावरण क हेतु से हुआ है क्योकि वह मोहनीय कम का उदय है जसे मदिरा क कारण से होने वाली मोहनीय कम क उदयरूप मोहित अवस्था विशेष । इस अनुमान स वह ज्ञानावरण कम सिद्ध है और जो वह सबध्यतर है वह आत्मा का ज्ञानावरणादि कम ही है ऐसा समझना चाहिये ।

---

१ विकल्पज्ञान यत्सत्तत्सर्वमनेकान्ता मकमिति व्याप्तिज्ञानम् । २ याप्तिज्ञानानुपपत्तौ । ३ मीमासकशङ्का । ४ जन । ५ सम्बन्धिना ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतम= ज्ञानावरणमित्यथ । ६ मीमासक पृच्छति ।—तद् ज्ञानावरण कम कुत सिध्यति । ७ इति चेदाहुराचार्या विवादेति । ८ अज्ञानाद्युदय ।

---

(1) यावाद् कश्चिदधूम स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीत्यत्र प्रमाणविषये । (2) मु । (3) विद्यमा नस्य । (4) ता । (5) प्रसिद्ध ।

[1]व्यञ्जनपर्यायात्मक[1] जीवादितत्त्व साक्षात्कुर्वीतेति [2]चदिमे[2] ब्रूमहे। [3]यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव। यथाग्नेरभावे धूम। सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो [3]व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते।

उस ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर संपूर्ण रूप से मोहरहित पुरुष सभी अतीतानागत वर्तमान पदार्थों को देख लेता है क्योंकि उस ज्ञान में प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों ही कारण अकिंचित्कर हैं।*

मीमांसक—ज्ञानावरणादि संबध्यंतर का अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा संपूर्ण रूप से मोहरहित कैसे हो जावेगा कि जिससे यह सभी अतीतानागत वर्तमान स्वरूप अनंत अर्थ पर्याय और अनंत व्यंजन पर्याय रूप जीवादि तत्त्व को साक्षात् कर सके अर्थात् यह जीव न ज्ञानावरण कर्म से रहित हो सकता है न मोह कर्म से रहित ही हो सकता है और न सम्पूर्ण पदार्थों को ही जान सकता है। मतलब मीमांसक ने जीव को सर्वथा अशुद्ध ही माना है कभी भी उसे शुद्ध कर्मरहित सिद्ध होना नहीं मानते हैं।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तो हम आपको बतलाते हैं कि जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नहीं होता है। जैसे कि अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है क्योंकि वह धूम अग्नि के होने पर ही होता है उसी प्रकार से संबध्यंतर ज्ञानावरण कर्म के होने पर ही आत्मा में व्यामोह—अज्ञान भाव होता है इसलिए उस ज्ञानावरण के अभाव में वह अज्ञान नहीं होता है ऐसा निश्चित हो जाता है। अर्थात् संसार अवस्था में भी जीवों के जैसे जैसे ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही जीव में ज्ञान भी तरतमता से बढ़ता जाता है। हम देखते हैं कि एकेंद्रिय की अपेक्षा दो इंद्रिय आदि में ज्ञान वृद्धिंगत हो रहा है तथैव मनुष्यों में भी तरतमता देखी जाती है और जब कारण सामग्री से पूर्ण तया ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है।

भावार्थ—जैनाचार्य कहते हैं कि यदि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप आत्मा युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है। इस कथन पर मीमांसक ने घबड़ा कर प्रश्न कर ही दिया कि पुनः हम और आप जैसे सभी संसारी जन अज्ञानी कैसे दिख रहे हैं? क्योंकि मीमांसक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता है तथा आत्मा को कभी शुद्ध होना मुक्त होना भी नहीं मानता है यह सदैव आत्मा को संसारी कर्ममल अज्ञान आदि से सहित ही मानता है एवं इसका यह भी कहना है कि कोई भी आत्मा अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही भूत भविष्यत् आदि अतींद्रिय पुण्य पाप आदि को जान सकता है। अतींद्रिय

१ पर्यायो द्विधार्थव्यञ्जनभेदात्। व्यञ्जन =स्थूलपर्याय। सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थपर्याय। २ प्रत्यक्षीभूता वयं जैनाः। ३ अज्ञानम्।

(1) स्थूलो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः॥ (2) प्रश्नद्वये सति। (3) आत्मनो व्यामोहः संबध्यन्तराभावे न भवत्येव तस्मिन् सत्येव भावात्।

[मोहरहितोपि आत्मा विप्रकृष्टपदार्थान् ज्ञातुं न शक्नोति]

[1]देशकालत [2]प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना न [3]पुनर्विप्रकृष्ट

प्रत्यक्ष से नही। इस पर जैनाचार्य ने कहा कि भया! जब तुम वेदवाक्यो से किसी आत्मा को अतीद्रिय पदार्थों का जानने वाला मान लेते हो और पुन आत्मा को ज्ञान स्वभाव नही मानते हो तो क्या जब आत्मा मे ज्ञान नही हुआ है पुन अचेतन वेदो का ज्ञान उन अचेतन वेदो को है क्या बात है? समझ में नही आता कि आप वेदवाक्यो से किसी को सभी पदार्थों का ज्ञान होना भी मान रहे है और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का निषेध भी कर रहे हैं यह बात आपकी स्वस्थावस्था को नही बताती है किंतु आपकी अस्वस्थता को ही बता रही है।

हम जनो का तो कहना है कि ससार मे प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञानावरण आदि कम लगे हुये हैं जो कि ज्ञान को ढक रहे है-ज्ञान पर आवरण डाल रहे हैं एव मोहनीय कम भी ज्ञान का विपरीत या सशयादि रूप से अज्ञान बना रहा है। जसे कडवी तू बडी के ससग से दूध दूषित हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा का पूण शुद्ध ज्ञान स्वभाव भी मोह कम से अज्ञान रूप एव ज्ञानावरण से अल्पज्ञान रूप हो रहा है। यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला ही है तभी तो वेद या आगमवाक्यो से यह सपूण त्रकालिक सूक्ष्मादि पदार्थों को भी जान लेता है। केवलज्ञान होने के पहले आत्मा को आगम से पूण श्रतज्ञान जब हो जाता है। तब वह श्रतज्ञान के बल से सपूण पदार्थों को जानते हुये श्रतकेवली कहलाता है यह बात हमारे यहा भी मान्य है। शायद आप श्रुतकेवली तक तो मान रहे है किंतु पूणज्ञानी (केवली) नही मान रहे हैं फिर भी यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला न होता तब श्रत से भी उसे ज्ञान होना असभव था जसे कि चौकी आदि को श्रतशास्त्र का ससग होने से भी ज्ञान नही होता है अत आपको आत्मा का ज्ञान स्वभाव मान ही लेना चाहिये।

हम जनो के यहा तो ज्ञान को आत्मा से अभिन्न ही माना है केवल लक्षण आदि से ही उसमे भेद स्थापित किया जा सकता है क्योकि ज्ञान को छोडकर तो आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नही हो सकेगा। हाँ! ये कम भी अनादि काल से इस जीव के साथ सबधित हैं अतएव ससार मे यह जीव अल्पज्ञानी आदि देखा जाता है। जब पुरुषाथ से यह ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का जडमूल से विनाश कर देता है तब इस आत्मा मे पूणज्ञान गुण प्रगट हो जाता है। मोहनीय कम का पूर्णतया नाश दसव गुणस्थान मे हो जाता है फिर भी ज्ञानावरण आदि कम के निमित्त से यह जीव ग्यारहव बारहव गुणस्थान मे छद्मस्थ ही कहलाता है। बारहव गुणस्थान के अत मे जब ज्ञानावरण आदि तीनो घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब तेरहव गुणस्थान मे पूणज्ञान प्रकट होकर केवली बन जाता है।

[मोह रहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नही जान सकता है]

मीमांसक—मोह रहित भी पुरुष देश और काल से प्रत्यासन्न—निकटवर्ती पदार्थों को ही सपूर्णतया

---

१ मीमांसकशङ्का। २ समीपतामापन्नम्। ३ दूरम्।

मित्ययुक्त[१], प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात् [२]तदभावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नय[३]नतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासदभावेतराभ्यां[1] ज्ञानाज्ञानयो क्वचिद्भावे[2] [४]योग्यतैव ज्ञानकारणं प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चि[५]त्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशत कार्त्स्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धि[६]कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणा । इति साकल्येन विरतव्यामोह सर्व पश्यत्येव । तदुक्त —

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ स्यादसति प्रतिबन्धने[3] । दाह्येऽग्निर्दाहको न[८] स्यादसति प्रतिबन्धने[९] ॥१॥ इति ।

देखता है किन्तु दूरवर्ती पदार्थों को नही जान सकता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योकि प्रत्यासत्ति— निकटता ज्ञान का कारण नही है एव विप्रकृष्टता अज्ञान का कारण नही है क्योकि उन प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष के सदभाव मे भी ज्ञान और अज्ञान का अभाव है जसे नयन तारका का अजन और चन्द्र सूर्यादि का ज्ञान । अर्थात नेत्र मे अजन के साथ प्रत्यासत्ति—निकट सबध होने पर भी अजन का ज्ञान नही होता है किन्तु चद्र सूर्यादि विप्रकृष्ट दूरवर्ती को भी नेत्र जान लेता है । अत निकट सबधरूप प्रत्यासत्ति मे ज्ञान का कोई अविनाभाव सबध नही है और जहां दूरवर्ती पदार्थ है वहा ज्ञान न होवे ऐसा दूरवर्ती पदार्थ से ज्ञान का व्यतिरेक भी नही है ।

योग्यता के सदभाव और अभाव से किसी भाव—पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान म ज्ञानावरण के विशेष अभाव रूप योग्यता ही ज्ञान का कारण है क्योकि प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनो अकिंचित्कर ही हैं । अर्थात प्रत्यासत्ति के अभाव मे विप्रकर्ष का सदभाव होने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और निकटवर्ती का ज्ञान नही भी होता है अत ये दोनो बात अकिंचित्कर हैं ।

वह योग्यता एक देश से अथवा सपूर्ण रूप से मोह के अभाव रूप और आत्मा के प्रतिबधी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय लक्षण रूप है । इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी को देखते ही है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रतिबधक कर्म के न होने पर सर्वज्ञ भगवान ज्ञेय पदार्थों को जानने मे अज्ञानी कसे रहेंगे ? मणि मत्रादि प्रतिबधक—रुकावट डालने वाले कारणो के न होने पर भी अग्नि दाह्य—जलने योग्य पदार्थ को जलाती नही है क्या ? अपितु जलाती हुई ही देखी जाती है ।

भावार्थ—मीमासक का कहना है कि किसी आत्मा के मोह और ज्ञानावरण कर्म का भले ही नाश हो जावे किंतु वह आत्मा सूक्ष्म अतरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को कसे जानेगा ? क्योकि किसी

---

१ जैन । २ तयो —प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयो । ३ नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य । चन्द्रार्कादींस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । ४ ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । ५ प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । ६ ता । ७ सर्वज्ञ । ८ कथ न स्यादपि तु स्यादेव । ९ मणिमन्त्रादौ । प्रतिबद्धरि इत्यपि पाठ ।

(1) योग्यता सद्भावे । का द्वि । (2) वस्तुनि । (3) प्रतिबद्धरि इति पा ।

[सर्वज्ञभगवतो ज्ञानमिंद्रियानपेक्षमतींद्रियमस्त्येव]

अत [1]एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा* । अत एव । कुत एव ? [1]साकल्येन विरत यामोहत्वादेव सवदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोह किञ्चिदेवा स्फुट पश्यति वा तस्यवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सवदर्शिन [2]सवज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थे सकृदक्षसम्ब ध सभवति साक्षात्परम्परया वा[2]।

को ज्ञान निकटवर्ती पदार्थों का ही होता हुआ देखा जाता है। तब आचाय ने कहा कि भाई ! निकटवर्ती पदार्थों से ज्ञान का अन्वय एव दूरवर्ती पदार्थों से ज्ञान का व्यतिरेक नही है मतलब पदाथ निकटवर्ती होव तभी उनका ज्ञान होवे वे दूरती होव तो उनका ज्ञान नही होवे ऐसा कोई नियम नही है। देखो ! निकटवर्ती आख मे लगे हुए अजन का ही उस आख को ज्ञान नही हुआ है और दूरवर्ती सूय—चद्र दिख गये। इसलिये ज्ञान के होने मे मुख्य कारण है ज्ञानावरण का क्षयोपशम अथवा क्षय। इसी का नाम योग्यता है। आप शास्त्र मे जो प्रकरण पढ रहे हैं यदि उसमे से एक पक्ति के विषय मे ज्ञानावरण का क्षयोपशम नही है तो आपको उसका अथ नही समझगा। यदि क्षयोपशम हो गया है तो अर्थ बिना बताये भी समझ मे आ जावेगा और जब पूणतया ज्ञानावरण का अभाव ही हो जाता है तब यह आत्मा सपूण लोकालोक को युगपत अवलोकित कर लेता है।

[सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियो की सहायता से रहित अतीद्रिय है]

अतएव सवज्ञ भगवान को इद्रियों की अपेक्षा नहीं है जसे अञ्जनादि से सस्कृत चक्षु को आलोक–प्रकाश की अपेक्षा नहीं है* । इसी हेतु से वे सवज्ञ है।

शका—किस हेतु से ?

जैन—सम्पूणतया मोह से रहित हो जाने से ही अथवा सवदर्शी होने से ही वे सवज्ञ हैं क्योंकि जो एक देश से मोहरहित है अथवा कुछ अस्पष्ट को ही देखता है उसको ही इद्रियो की अपेक्षा देखी जाती है किंतु उससे विलक्षण सपूण मोह से रहित सवदर्शी को इद्रियो की अपक्षा नही है अन्यथा इद्रियो की अपक्षा मानने पर तो सवज्ञ पने का ही विरोध हो जावगा क्योकि सभी पदार्थों के साथ युगपत इद्रिय का सबध साक्षात् अथवा परपरा से सभव नही है।

भावार्थ— सवज्ञ भगवान को इद्रियो की अपक्षा से रहित अतीद्रियज्ञान है क्योकि वे सपूणतया मोह से रहित हैं अथवा सवदर्शी हैं। इस प्रकार से जैनाचार्यों ने सवज्ञ भगवान को अतीद्रियज्ञानी सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये हैं क्योकि जिनके एक देश रूप से मोह का अभाव हुआ है और जिनका ज्ञान अविशद—अस्पष्ट है उनका ज्ञान इंद्रियो की सहायता अवश्य रखता है। ये इद्रियो की सहायता लेने वाले मति और श्रुत रूप दो ज्ञान प्रसिद्ध हैं जिन्हे सिद्धान्तशास्त्रो मे परोक्ष कहा है और यहा न्यायशास्त्रो

१ अर्हत्प्रत्यक्षस्य । २ अन्यथा (अक्षापेक्षत्वे) ।

(1) अर्हत प्रत्यक्षमक्षानपेक्षं (2) नयनघटयो साक्षात्सद्गतरूपनयनयो संबंध परंपरया संयुक्तसमवेतत्वात् ।

[1]ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरत यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा सलक्षणीया ? [2]तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न [3]चैवं [1]साकल्येन विरत यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य[2] वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं विपक्षेक्षापेक्षे मति श्रुतज्ञाने [4]तदसंभवात् । अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् [5]पक्षा यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न

में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है। इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ इसलिये नहीं बन सकता है कि इन्द्रियां वर्तमान कालीन सीमित और रूपी पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती है। इसी विषय में राजवार्तिक ग्रंथराज में श्री अकलंक देव ने बहुत ही सुंदर विवेचन किया है। यथा—

इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद्विपरीतं परोक्षं इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेन्न आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसंगात् अर्थात् कोई कहता है कि इंद्रियव्यापार जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इंद्रिय व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान को परोक्ष कहना चाहिये। सभी वादी प्रायः इसमें एकमत हैं। इस आशंका पर जैनाचार्य समाधान करते है कि इंद्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से आप्त—सर्वज्ञ को प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा सर्वज्ञता का लोप हो जायेगा क्योंकि सर्वज्ञ का इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं होता है। आगम से अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान मानकर सर्वज्ञता का समर्थन करना तो युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि आगम वीतराग प्रत्यक्षदर्शी पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है। जब अतींद्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तब अतींद्रिय पदार्थों में आगम का ज्ञान प्रमाणीक कैसे बन सकेगा? आगम अपौरुषेय है यह बात तो असिद्ध ही है क्योंकि पुरुष प्रयत्न के बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नहीं है। अतः हिंसादि का विधान करने वाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतींद्रिय है इंद्रियजन्य नहीं है।

शंका—पुनः एक देश मोहरहित असर्वदर्शी अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियों को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है यह बात कैसे जानी जाती है? अर्थात् सिद्धांत में अवधि मनःपर्यय ज्ञान को अतींद्रिय कहा है यह कैसे बनेगा?

समाधान—उन उन—अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अतिशय के निमित्त से ये दोनों ही ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रस्फुट—स्पष्ट है ऐसा हम मानते है। इस प्रकार से संपूर्णतया मोहरहित हेतु अथवा सर्वदर्शी हेतु अनैकांतिक हो जाता है ऐसी भी आशंका नहीं करना क्योंकि इंद्रियों की अपेक्षा रखने वाले मति श्रुतज्ञान विपक्ष हैं उन दोनों ज्ञानों में ये दोनों हेतु असंभवी हैं।

१ परः । २ सिद्धान्ती । ३ साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनःपर्ययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण । ४ तस्य=विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः । ५ अवधिमनःपर्ययोरपि पक्षान्तर्भावं ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं नाम हेत्वाभासत्वदोषं समर्थयति परः ।

(1) देशतो विरतव्यामोहत्वस्याक्षानपेक्षत्वव्यभिचारीप्रकारेण (2) हेतोः ।

सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात् तत्र चास्य हेतो सद्भावात विकलप्रत्यक्षस्यावधिमन पर्यया ख्यस्यापक्षीकरणात । न चास्मदादिप्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकल[1]विरप्रत्यक्षेपि सास्त्य

शका—ये दोनों हेतु अवधि और मन पर्यय ज्ञान मे असभव है अत ये हेतु पक्ष मे अव्यापक होने से अहेतु है। अर्थात अवधि और मन पर्यय ज्ञान अतीद्रिय प्रत्यक्ष तो हैं पर तु आपके सपूर्णतया मोह से रहित होना और सवदर्शी होना रूप दोनो हेतु इन ज्ञानो मे नही रहने से ये दोनो हेत अहेत हैं।

समाधान—ऐसा भी नही कहना क्योकि सकल प्रत्यक्ष को ही हमने पक्ष बनाया है और वहा पर उन हतुओ का सदभाव है। विकल प्रत्यक्षरूप अवधि मन पयय को हमनें पक्ष मे नही लिया है।

विशषार्थ—शकाकार का अभिप्राय यह है कि अवधिज्ञान और मन पययज्ञान इद्रियो की अपेक्षा न रखने से अतीद्रिय प्रत्यक्ष हैं फिर भी इनके धारक अवधिज्ञानी मन पययज्ञानी सवज्ञ क्यो नही कहलाते है और यदि आप इ हे सवज्ञ प्रत्यक्षदर्शी नही मानते हो तब तो इनके ज्ञान को आप इद्रियज य कहिये। इस पर आचाय कहते हैं कि ये दोनो ही ज्ञान अवधिज्ञानावरण और मन पययज्ञानावरण कम के क्षयोप शम विशेष की अपेक्षा रख कर आत्मा से ही उत्प न होते हैं इनमे इद्रियो की सहायता नही है अत ये ज्ञान अतीद्रिय हैं फिर भी इनके धारक सर्वज्ञ नही होते है क्योकि इनमे ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षयोपशम कारण है न कि क्षय।

दूसरी बात यह भी है कि अवधिज्ञानी मन पययज्ञानी जोवो के मोह कम का पूणतया नाश नही हुआ है एक देश ही अभाव हुआ है और ये सवदर्शी भी नही है सीमित पदार्थो को ही देखने वाले हैं। इन दोनो ज्ञानो को प्रत्यक्ष इसलिये कहा है कि ये अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान करते है एव अतीद्रिय इसलिये हैं कि ये इद्रियो की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते है। एव साकल्येन विरत यामोहत्वात और सवदशनात ये दोनो हतु व्यभिचारी भी नही है क्योकि विपक्ष रूप इद्रिय ज य परोक्ष मति श्रुतज्ञान मे ये दोनो हतु नही पाये जाते हैं।

किसी ने कहा कि भले ही आपके हेतु व्यभिचारी न हो सक किंतु पक्ष मे पूणतया व्याप्त न होने से अव्यापक रूप से अहेतु अवश्य हैं क्योकि आप जनो ने अवधि मन पययज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अव श्य माना है किन्तु उनमे पूर्णतया मोह का अभाव और सवदर्शीपना नही है। इस आशका पर जनाचार्यो ने कहा कि भाई! हमने पक्ष मे सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को ही लिया है। इन विकल प्रत्यक्ष रूप दोनो ज्ञानो को पक्ष मे नही लिया है अत हमारे हेतु अहेतु नही हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष के दो भेद है सकल और विकल। सर्वज्ञ भगवान के सकल प्रत्यक्ष पाया जाता है अत उसी को यहा पक्ष मे लिया गया है। अन्यत्र न्यायदीपिका में दूसरी भी शका देखी जाती है—

कोई कहता है कि केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है किंतु अवधि और मन पर्यय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनो एक देश प्रत्यक्ष हैं। इस पर आचार्यों का

(1) केवलज्ञानस्य।

वेति वक्तु शक्यम्[1] अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात्[1] तत्संस्कृत चक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्[2]। [3]नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकन प्रसिद्धेर्नालोको नियत कारण [4]प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्य[2]क्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्ध रक्षमपि नियत प्रत्यक्षकारण मा भूत। ततो यथाञ्जना दिसंस्कृतचक्षषामालोकानपेक्षा स्फुट रूपेक्षणे तथा साकल्यन विरतव्यामोहस्य सवसाक्षात्कर णेऽक्षानपेक्षा। इतिकरणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकलप्रत्यक्षो [5]भवभता[3] गुरु प्रसिध्द्यत्येव।

कहना है कि सकलपना और विकलपना यहा विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नही है क्योकि केवलज्ञान सपूर्ण द्रव्यो और पर्यायो को विषय करने वाला होने से सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है किंतु अवधि और मन पयय कुछ पदार्थों को विषय करते है इसलिये वे विकल प्रत्यक्ष कहे जाते है परन्त इतने मात्र से इन दोनो ज्ञानो मे पारमार्थिकता की हानि नही होती है क्योकि पारमार्थिकता का कारण सकल पदार्थों को विषय करना नही है अपितु पूण निमलता है और वह पूण निमलता—स्पष्टता केवल ज्ञान के समान अवधि मन पयय मे भी विद्यमान है अत ये दोनो ज्ञान पारमार्थिक ही हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि ये दोना ज्ञान अतीन्द्रिय होकर भी सकलप्रत्यक्ष नही हैं विकलप्रत्यक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान को पक्ष बनाने मे ये दोना ज्ञान नही आते है।

शंका—हम लोगो के प्रत्यक्ष मे इद्रियो की अपेक्षा देखी जाती है अत सवज्ञ के प्रत्यक्ष मे भी वह अपेक्षा होनी ही चाहिये।

समाधान—आपका ऐसा कहना भी शक्य नही है अ यथा अञ्जनादि से सस्कृत नही हुये हम लोगो के नेत्र प्रकाश की अपेक्षा रखते है पुन किसी के अञ्जनादि से सस्कृत नत्र भी प्रकाश की अपेक्षा रखने लग जावगे तब अजन गुटिका आदि विद्याओ का क्या महत्व रहेगा ?

शंका—नक्तचर—उल्लू बिल्ली आदि जीवो का प्रकाश के अभाव म भी स्पष्टतया रूप—पदाथ का देखना प्रसिद्ध है इसलिए प्रकाश प्रत्यक्ष के लिय निश्चित कारण नही है।

जैन— तब तो सच्चे स्वप्न का ज्ञान और ईक्षणिकादि ज्ञान चक्षु आदि इद्रियो की अपेक्षा न करके ही स्पष्ट प्रसिद्ध है अत इद्रिया भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिय निश्चित कारण न होव क्या बाधा है ? इसलिय जैसे अजनादि से संस्कृत चक्षु को स्पष्टतया रूप को देखन मे प्रकाश की अपेक्षा नही है उसी प्रकार से सम्पूर्ण तया मोह रहित पुरुष को सभी का साक्षात्कार करने मे इन्द्रियो की अपेक्षा नही है।

इस प्रकार इन्द्रियो से क्रम से और व्यवधान से रहित सकलप्रत्यक्षज्ञानी ससारी जीवो के गुरु प्रसिद्ध ही हैं।

१ परेण २ ईक्षणिका=द्व्यक्षरा शाकिनी ग्राह्या (?)। ३ भवेतामिति पाठान्तरम्।

(1) परिज्ञानात्। (2) तथा लोके नास्ति। (3) जनेनानिष्टापादानमकारि तत्परिहारमिति मीमांसक भक्तक्ष्मरेख्या-विना। (4) किंत्विन्द्रियमेव। (5) प्राणिना—भवभृता।

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि हम लोगो का ज्ञान इन्द्रियो की अपेक्षा से ही होता है अत सर्वज्ञ का ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिये क्योकि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी तो मनुष्य ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई ! किसी को अंजन गुटिका सिद्ध है उसने उसे आख में लगा लिया तो उसे अंधेरे में भी दिखने लगता है परन्तु हम और आपको तो अधरे मे नही दीखता है। आपके कथनानुसार अजनगुटिका सिद्धि वाले को भी अधरे मे नही दिखना चाहिय। तब वह झट बोल पडा कि अधरे मे तो उल्लू बिल्ली आदि को भी दीख जाता है अत प्रकाश और अधरा ज्ञान और अज्ञान मे नियम रूप से कारण नही हैं। तब आचाय कहते है कि किसी को स्वप्न मे सम्मेदशिखर का पवत ज्यो का त्यो दीख गया आचाय शातिसागर जी महाराज के दशन हो गय। इस सत्य स्वप्न मे इन्द्रियो की अपेक्षा तो नही है फिर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है अत इन्द्रियो से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो यह नियम नही रहा। देखिय ! अजन आदि से सस्कृत आख स्पष्टतया अधरे मे भी सब वस्तुय देख लेती है उसी प्रकार से मोहकर्म ज्ञानावरण दशनावरण और अ तराय इन घातिया कर्मों का नाश हो जाने से अहतभगवान् के केवलज्ञान आदि नव लब्धिया प्रगट हो जाती हैं अत केवलज्ञान मे न इन्द्रियो की सहायता है न क्रम क्रम से होना है क्योकि केवल ज्ञान और दशन दोनो ही युगपत एक समय मे सारे पदार्थों को जान लते है। अत इस ज्ञान मे व्य वधान- अतर भी नही पडता है। ऐसे इन्द्रिय से क्रम और अतर से रहित केवलज्ञानी भगवान ही ससारी जीवो के गुरु है स्वामी है अतएव सभी के नाथ तीन लोक के नाथ कहलाते हैं।

सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का साराश

मीमासक चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी सामान्य से भी सवज्ञ को नहा मानते हैं एव सौगत साख्य वैशेषिक आदि सर्वज्ञ विशेष को नही मानते है।

सवेदनाद्वतवादी चित्राद्वतवादी ब्रह्माद्वतवादी और शब्दाद्वतवादी ये एक प्रमाणवादी तीथच्छेद सप्रदाय वाले हैं वसे ही चार्वाक भी प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण मानने वाले तीथच्छेद सप्रदाय मानने वाले हैं क्योकि ये सभी परमागम सप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

जसे कपिल बौद्ध आदि अनेक प्रमाणवादी तीथच्छेद सप्रदाय वाले है तथैव तत्त्वोपप्लववादी भी न एक प्रमाण—अनेक प्रमाण के अनुसार अनेक प्रमाणवादी हो गए तथा सभी के आप्त आगम और वस्तु समूह को स्वीकार करने की इच्छा रखते हुए अनेक प्रमाणवादी वनयिक तीथच्छेद सप्रदायवादी हैं क्योंकि वे सभी परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले हैं।

अद्वैतवादियो के यहा स्वपक्षसाधन परपक्षदूषण वचन भी अद्वत के विरुद्ध हैं यदि संवृत्ति से या अविद्या से कहो तो अद्वत भी कल्पित ही सिद्ध होता है । चार्वाक के यहा प्रत्यक्ष एक प्रमाण से ही परलोक पुण्य-पापादि का विरोध आ जाता है तथा कपिल वशेषिक नयायिक प्रभाकर आदि अनेक प्रमाण मानकर भी तक प्रमाण नही मानते हैं अतएव तक के बिना प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान आदि साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण नही कर सकते है । वनयिक सुगत साख्य आदि इन सबमे परस्पर मे विरोध होने से इनमे से कोई भी आप्त नही हो सकता है । तथाहि तीथच्छेद सप्रदाय वाले एकातवादी निरावरण ज्ञानधारी नही हैं क्योकि वे अविशिष्ट वचन इद्रियज्ञान और इच्छादि से सहित हैं अथवा सामान्य पुरुष आदि है जसे—रथ्या पुरुष ।

किंतु हमारे सवज्ञ अविशिष्ट वचनादिमान या अविशिष्ट पुरुष नही है क्योकि वे सवज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचन वाले हैं इद्रियो के क्रम यवधान से रहित है तथा इच्छा से भी रहित है अत क —परमात्मा चित चत य पुरुष ही आवरण का नाश हो जाने स ससारी प्राणियो के गुरु हैं क परमात्मा परा आत्यतिकी मा—लक्ष्मीयस्येति क परमात्मा ही चित सवज्ञ हैं ।

मीमांसक—पदार्थों को जानने वा ा परमात्मा अतीद्रिय ज्ञानी नही हो सकता है क्योकि अतीद्रिय ज्ञानी हमें कोई उपल ध नही होता है तथा इद्रिया के द्वारा धर्माधर्मादि सभी पदाथ जाने नही जा सकते अतएव कोई भी सवज्ञ नही है सम्बद्ध वतमान च गह्यते चक्षरादिभि इसलिये भूत और भविष्यत कालीन पदाथ के ज्ञान का अभाव होने से कोई भी सवज्ञ सिद्ध नही है । अनुमानादि से भी सवज्ञ का ज्ञान नही हो सकता है । आगम भी अनादि है अत आदिमान सवज्ञ को कसे कहेगा ? यदि अनित्य आगम मान तो वह अल्पज्ञ प्रणीत हाने से अप्रमाण है एव सवज्ञ प्रणीत कहो तो परस्पराश्रय दोप दुर्निवार है । सवज्ञ के सदश कोई न होने से उपमान प्रमाण भी सवज्ञ ग्राहक नही है तथा अर्थापत्ति से भी वह ग्रहण नही होगा अतएव सत्ता को ग्रहण करने वाले पाचो प्रमाणो का विषय न होने से वह सवज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय है । अत सवज्ञ को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नही है ।

जन—यह कथन बिना मीमासा के ही है । ल धि और उपयोग के सस्कारो का अर्थात ल ध्युपयोगो भावें द्रयम से भावद्रिय सस्कार रूप क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने से सवज्ञ होता है ।

तथा द्र यद्रिया तो अगोपाग नाम कम की रचना विशेष है । वे आवरण निमित्तक नही हैं अत पूर्णतया ज्ञानावरण दशनावरण के क्षय हो जाने से पूण ज्ञानी सवज्ञ सिद्ध है वह आगम एवं सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाण से सिद्ध है । आप सवज्ञ को अभाव प्रमाण से कसे निषध करगे क्योकि

गहीत्वा वस्तुसदभाव स्मत्वा च प्रतियोगिन ।
मानस नास्तिता ज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया ।।

जब कोई मनुष्य सभी मनुष्या को जान लेवे पुन सवज्ञ के ज्ञापक काल का स्मरण करके मन में 'सर्वत्र सवज्ञ नही है एसा ज्ञान करे तव उसका अभाव कहेगा पुन वह सभी को जान लेने से स्वयं ही

[पूर्वोक्तकारिकात्रयकथितहेतुभिर्भगवान् महान् नास्ति प्रत्युत दोषावरणरहितत्वादेव महान्]

उत्थानिका—

[1]यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्म बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्र यत्वाद्वा महान् नापि तीर्थकृत्वमात्रात, [2]यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वदिको नियोगभाव

सवज्ञ बन जाता है तब उसका निषध कसे करेगा ? तथा आवरण निमित्तक भावेद्रियो के नाश हो जाने से अतींद्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि भत भावी सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण करने मे युगपत ही समर्थ है। यदि आप कहो कि अज्ञान का कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण कम है एव ज्ञानावरणादि के कारण मोहनीय आदि कर्मों का उदय है। सपूणतया मोह से रहित पुरूष पूण ज्ञानी हो सकते हैं अत सवज्ञ भगवान को इद्रियादिको की अपेक्षा नही है क्योकि वे सपूणतया मोह स रहित है अथवा सवदर्शी है। जसे अजनादि से सस्कृत चक्ष प्रकाशादि की अपेक्षा नही रखते है एक देश मोह से रहित असव दर्शी अवधिज्ञानी मन पययज्ञानी अपने अपने आवरण के क्षयोपशम से अपन अपन विषय को स्पष्ट जानते है अन हमारा हतु सवमोह रहित सवदर्शी उनसे अनकातिक नही है क्योकि यहां सकल प्रत्यक्ष का विवक्षा है। अत इद्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित सकल प्रत्यक्षज्ञानी ससारी जीवा के गुरु प्रसिद्ध ही है जो कि सवज्ञ सवदर्शी है ऐसा समझना चाहिये।

[पर्वोक्त तीन कारिकाओ में कथित तीन हेतुओ से भगवान् महान् नही हैं किंत दोष और आवरण से रहित होन से ही भगवान् महान् हैं]

हे भगवन ! देवागमादि विभूतिमान होने से अथवा अध्यात्म और बहिरग दिव्य सत्य विग्रहादि महोदय के आश्रयीभूत होने से भी आप महान नही हैं एव तीथकृत्व मात्र से भी आप महान नही हैं क्योकि तीथ के उच्छेदक—विनाशक सप्रदाय वाल भी वदिक जन के नियाग भावना आदि सप्रदाय सवा दक (प्रमाणभूत) नही है। अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण वाले चार्वाक या तत्त्वापप्लववादी (शून्यवादी)

(1) कारणात्। (2) कारणात्।

नादिसम्प्रदायो न सवादक[1] प्रत्यक्षकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो[2] वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते तत सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाणो भगवन् [3]भवानेव भवभता [4]प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहा या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभि [1]सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते । इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिमयि[5] विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्या प्राहु ।—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्[6] ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ॥४॥

[2]दोषावरणसामान्ययोर्हानि [9]प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्व न विरुध्यते । तत्प्रसिद्धि पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च [1]कायस्य निश्चयाद्भवन्त्यव अन्यथा तदनुपपत्त । सा

सप्रदाय वाल या सभी को आप्त मानने वाले वनयिक मतानुयायी जन प्रमाणभूत नही है । इसीलिये सुनिश्चित रूप से असभव है बाधक प्रमाण जिसम ऐसे हे भगवन् ! आप ही ससारी जीवा के स्वामी हैं क्योकि अत्यन्त रूप से दोष एव आवरण की हानि होने से तथा साक्षात अशष तत्त्वो के ज्ञाता होने से सूत्रकार आदि मुनि पु गवो द्वारा आपकी ही स्तुति की जाती है । इस प्रकार श्री समतभद्र आचाय के द्वारा निरुपण करने पर आपने मुझमे किस प्रकार से दोषावरण की हानि आत्यतिक रूप से निश्चित की है । इस प्रकार मे भगवान के द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही माना आचाय कहते हैं—

कारिकाथ— किसी जीव मे दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो सकती है क्योकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है । जिस प्रकार से अपने हेतुओ के द्वारा कनकपाषाणादि म बाह्य एव अतरग मल का पूणतया अभाव पाया जाता है ॥४॥

दोष सामान्य एव आवरण सामान्य की हानि प्रसिद्ध है अत इस अनुमान मे धर्मी असिद्ध नही है । उसकी प्रसिद्धि हम लोगो मे एक देश रूप निर्दोषपना और ज्ञानादि रूप काय के निश्चित होने से होती है अन्यथा दोष आवरण की हानि के अभाव मे हम लागो मे कुछ कुछ अशो मे निर्दोषता एव क्षयोपशम जन्य कुछ ज्ञान की प्रकटता रूप काय नही हो सकेगा और वह हानि किसी न किसी जीव

१ प्रमाणभूत । २ सव आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वनयिक । ३ वद्धमान । ४ अन्तमतिक्रान्त कालोऽत्यन्त । तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी यस्या हाने पुनर्नाशो न विद्यते तयेत्यथ । ५ अहति । ६ तरतमभावेन हीयमानत्वात् । ७ क्वचिच्छब्द पूर्वार्द्धपि सम्बन्धनीय । क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अहश्च दार्ष्टान्ते ग्राह्य । ८ दोषसामान्य मावरणसामान्य च तयो । ९ प्रसिद्धो धर्मीति वचनात् । १ दोषावरणयोर्हानिरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि काय च नोपपद्यते ।

(1) उमास्वातिपाद । (2) दोष —भावकम । आवरण-द्रव्यकर्म ।

[1]क्वचिन्निश्शेषास्तीति 'साध्यते वादिप्रतिवादिनोरत्र[1] विप्रतिपत्त । [2]अतिशायनादिति हेतु । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तमलक्षयो यथेति दृष्टान्त [3]प्रसिद्धत्वात्। स हि कनकपाषाणादौ [4]प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेष । तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचि निश्शेषाऽस्तीति सिद्धयति । [3]क पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्न स्वभाव इति चेदुच्यते[4] । [6]वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोष स्वपर[4]परिणामहेतु *[5] । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने [6]कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचन समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकमणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धतु पुनरावरण कम जीवस्य[9] पूवस्वपरिणामश्च ।

विशेष मे परिपूण रूप से है यह यहा साध्य है। क्योकि परिपूण हानिरूप साध्य मे वादी और प्रतिवादी दोनो को विवाद है अत यह साध्य की कोटि मे रखा गया है। सभी मे हानि की अतिशय रूपता (तरतमता) देखी जाती है यह हेतु वाक्य है। किसी कनकपाषाण मे आदि मे किटटरूप बहिरग तथा कालिमा रूप अतरग मल का क्षय होता है यह दष्टात है यह भी प्रसिद्ध ही है क्योकि वह किट्ट और कालिमा आदि मल का क्षय कनकपाषाण आदि मे प्रकृष्यमाण अर्थात् वद्धि को प्राप्त होता हुआ दो तीन आदि ताव से लेकर सोलह ताव पयत नि शेष रूप से क्षय को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है।

उसी प्रकार स दोष और आवरण की हानि भी हम लोगो मे प्रकषता को प्राप्त होती हुई प्रतीति मे आ रही है और वह किसी न किसी पुरुष विशेष मे नि शेष रूप स है ही है यह सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यह दोष क्या है जो कि आवरण से भिन्न स्वभाव वाला है ?

उत्तर—कारिका गत **दोषावरणयो इस द्विवचन की सामथ्य से अज्ञानादि स्वरूप दोष आवरण से भिन्न ही हैं और वे स्वपर परिणाम हेतु से होते हैं*** । क्योकि दोष ही आवरण है ऐसा मानने पर कारिका मे द्विवचन नही बन सकता था अत द्विवचन की सामथ्य से पौदगलिक ज्ञानावरणादि कर्म रूप आवरण से भिन्न स्वभाव वाले ही अज्ञान राग द्वष आदि दोष कहे जाते हैं ऐसा निणय करना चाहिये। उस दोष के कारण पुन आवरण कम है और जीव के पूव सचित निजी रागादि परिणाम भी हैं।

---

१ इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यमिति वचनात्। २ नि शेषहानौ। ३ प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात्। ४ द्वित्रादिवर्णिका मारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्त हीयमानम्। ५ जन । ६ दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात्। ७ स्वपरौ जीवकर्मणी। ८ समर्थम्। ९ रागद्वेषादि ।

---

(1) पु सि। (2) तारतम्येन। (3) काकु । (4) जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥ परिणममानस्य चितश्चिदात्मक स्वयमपि स्वकैर्भावै. । भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥ (5) बस । (6) कारिकायां इति पा ।

[बौद्धो दोषान् स्वहेतुकान् साङ्ख्यश्च परहेतुकानेव मन्यते किंतु जैनाचार्या दोषानुभयहेतुकानेव मन्यते]

[1]स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं तस्य [2]कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्[3]। [4]परपरिणामहेतुक एवेत्यपि [5]न व्यवतिष्ठते[1] मुक्तात्मनापि [6]तत्प्रसङ्गात् सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः कार्यत्वान्माषपाकवत् ।

[बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु जैनाचार्य दोषों को उभय हेतुक ही मानते हैं ।]

बौद्ध—अज्ञानादिक दोष स्वपरिणाम हेतुक ही होते हैं ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञानादि दोषों के कादाचित्कपने का विरोध हो जावेगा जीवत्व आदि परिणाम के समान ।

भावार्थ—स्वपरिणाम नित्य होता है क्योंकि परिणाम गुण रूप होता है और वह परिणाम द्रव्य में संपूर्ण रूप से सदा ही पाया जाता है । सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वं जो द्रव्य की संपूर्ण पर्यायों में अन्वय रूप से रहे उसे गुण कहते हैं इस लक्षण के अनुसार गुण नित्य माने गये हैं और अज्ञानादि दोष तो अनित्य हैं क्योंकि वे सदा काल नहीं पाये जाते हैं मुक्त जीवों में उनका अभाव है परन्तु जीवत्व आदि परिणाम स्वपरिणाम होने से नित्य हैं और सर्वकाल अर्थात् मुक्तावस्था में भी पाये जाते हैं । यदि अज्ञानादि को स्वहेतुक ही माना जावेगा तो सदा ही बने रहने से इस जीव को कभी मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

सांख्य—अज्ञानादि परपरिणाम प्रधान के निमित्त से ही हुये हैं ।

जैन—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पर निमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोषों का प्रसंग आ जावेगा । हम जैनों के यहां तो सभी कार्यों की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण रूप उभय सामग्री से ही मानी गई है और प्रतीति भी उसी प्रकार से ही होती है । इसलिए दोष जीव के स्वपरिणाम निमित्तक भी हैं एवं परपरिणाम निमित्तक भी हैं क्योंकि वे कार्य हैं उड़दपाक के समान जिस प्रकार से उड़द या मूंग में अंतरंग में पकने की योग्यता है और बाहर में अग्नि जलादि के संयोग से पक जाती है किन्तु कोरड मूंग में पकने की योग्यता न होने से अग्नि जलादिक के संयोग होने से भी नहीं पकती है ।

१ सौगतमतम् । २ स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोधः । ३ जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोस्य नित्यत्वात् । ४ साङ्ख्य । ५ जैन । ६ अज्ञानादिकमन्तरेणाना मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । ७ जैनमते एवमभिमतम् ।

(1) अन्यथा ।

[कश्चित् कथयति काचिदेका हानिरेव वक्तव्या किंतु जनाचार्या प्रत्युत्तरयति यत् दोषावरणयोर्मिथ कार्यकारणभावोऽस्त्यवत उभये अपि वक्तव्ये स्त ।]

[1]न वेव निश्शेषावरणहानौ दोऽहाने [2]सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ [3]वावरणहानेरय

भावार्थ—जनाचार्यो ने यहा इस कारिका मे आवरण शब्द स पौदगलिक द्रव्य कम को ग्रहण किया है एव दोष शब्द स कम के उदय स होने वाले राग द्वष मोह अज्ञान आदि भावकर्मो को लिया है और इन दोनो को जीव के रागादि रूप स्वपरिणाम एव कर्मोदय रूप परपरिणाम के निमित्त स उत्पन्न हुये माना है।

बौद्ध दोषा को स्वपरिणाम निमित्तक मानता है एव आवरण नाम की चीज को मानता ही नही है। इस पर जनाचार्यों का कहना है कि आवरण के बिना दोष कसे उत्पन्न होगे और यदि आवरण के बिना भी दोष हो सकते है तो सिद्धो मे तो आवरण है नही उनके भी दोषा को उत्पत्ति होने लगेगी। अथवा जस जीव के ज्ञान दशन जीवत्व आदि भाव स्वपरिणाम हैं ना उनका कभी भी नाश नही होता है तथव अनादि काल स लगे हुये दोषो का भी कभी नाश नही होगा पुन मुक्ति कस हो सकेगी ? परन्तु ऐसा तो है नही। अत दोष आवरण निमित्तक होते है और आवरण दोष निमित्तक होते हैं।

सांख्य कहता है कि अज्ञानादि दोष पर अर्थात प्रधान के निमित्त से ही होते हैं क्योकि ज्ञान सुख आदि भी प्रधान के ही धम है प्रकृति को ही ससार होता है प्रकृति को ही जन्म मरण सुख दु ख बध मोक्ष होता है। मतलब सांख्य के यहा प्रकृति रूप कमबध प्रकृति के ही होता है पुरुष सवथा अकर्त्ता निगु णी निष्क्रिय माना गया है। आजकल भी कुछ लोगो का सिद्धात है कि गाय के गले मे रस्सी बाधी तो गाय का गला या गाय नही बधी है किंतु मात्र रस्सी स ही रस्सी बधी है। यद्यपि यह दृष्टात सत्य है फिर भी गाय बधन मे अवश्य है। वह अपने इष्ट स्थान पर जा नही सकती है एव यह गाय का दृष्टात सवथा लागू नही होता है। वास्तव म कम और आत्मा के प्रदेशो का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है एव आत्मा के रागद्वेष आदि परिणामो से ही पुदगल वगणाय कमरूप परिणत होती है और कम का उदय आने पर ही आत्मा के राग द्वष आदि परिणाम होते हैं। अत इन दोष और आवरणो का परस्पर मे कायकारण भाव निश्चित है। ये दोनो ही स्व पर के निमित्त से होते है। दोषो का स्वनिमित्त आत्मा है परनिमित्त पुदगल कम हैं या विष सप आदि बाह्य सामग्रिया है और आवरण के लिये स्वनिमित्त पुद्गल वगणाय है तथा परनिमित्त जीव के रागादि भाव है।

[किसी का कहता है कि दोष या आवरण दोनो में से किसी एक का ही अभाव कहना चाहिये किंतु जनाचार्य दोष-आवरण में कार्यकारण भाव सिद्ध करके दोनो की हानि मान लेते हैं।]

प्रश्न—इस प्रकार दोष तो आवरण रूप द्रव्य कर्म के काय हैं अत निश्शेष आवरण का अभाव हो

1 दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण। 2 कारणभावे कार्यनाशनियमात्। 3 अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतु।

तरहानिरेव निश्शेषत साध्येति चेन्न दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोर योन्यकायकारण भावज्ञापनाथत्वादुभयहाने[1]निश्शेषत्व[2]साधनस्य[1] । दोषो हि तावदज्ञान ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददशन दशनावरणस्य मिथ्यात्व दशनमोहस्य विविधमचारित्रमनेकप्रकार चारित्रमोहस्य अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति [2]तथा ज्ञानदशनावरणे [3]तत्प्रदोष [4]निन्हवमात्स[5]यान्त[6]रायाऽऽ सान्नोपघातेभ्यो [7]जीवमास्रवत[8] केवलिश्रु तसघधमदेवा वणवादा[1] द्दशनमो- [11] कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोह विघ्नकरणादन्तराय इति

जाने पर दोष की हानि अर्थापत्ति रूप सामथ्य से ही सिद्ध हो जाती है क्योकि कारण के नाश हो जाने पर काय का नाश अवश्यभावी है। अथवा दोष का पूणतया अभाव होने पर आवरण का अभाव स्वयमेव निश्चित है क्योकि दोष रूप भावकम से ही आवरण रूप द्र य कम बधते है और कारण रूप दोष क नाश होने पर कायभूत द्र यकम रूप आवरण का स्वयमेव ही नाश प्रसिद्ध है। इसलिये दोनो मे से किसी एक की हानि ही नि शेषत सिद्ध करना चाहिये।

[अनादिकाल से दोष आवरणनिमित्तक हैं एव आवरण दोषनिमित्तक हैं दोनो का परस्पर मे काय कारण भाव है]

उत्तर—यह कहना ठीक नही है क्योकि जीव और पुद्गल क परिणाम स्वरूप दोष और आवरण म परस्पर मे काय कारण भाव पाया जाता है अत परस्पर मे दोनो क काय कारण भाव को सिद्ध करने के लिए ही दोनो की हानि नि शष रूप से साध्य (सिद्ध) करना इष्ट है क्योकि दाष अज्ञान को कहते हैं और वह जीव क ज्ञानावरण कम क उदय क होने पर होता है तथा जीव क दशनावरण कम क उदय होने पर अदशा दशनमोहनीय कम क उदय मे मिथ्यात्व अनेक भेद रूप चरित्र मोहनीय कम क उदय होने पर अनेक प्रकार का अचारित्र—अविरति रूप परिणाम एव दानादि अतराय के उदय से अदान शीलत्व दान नही देना आदि रूप दोष पाये जाते है।

दोष के प्रति आवरण कारण है ऐसा प्रतिपादन करके अब आचाय यह बताते है कि आवरण के लिए दोष कारण है।

---

१ अन्योन्यकायकारणभावज्ञापनाथ द्य भयहानिनिश्शेष वसाधनम् । २ दोष प्रत्यावरणस्य कारणत्व प्रतिपाद्येदानी मावरण प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति । ३ तत्प्रदोषो ज्ञानदशनप्रद्वष । ४ नि हवमाच्छादनम् । ५ मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च । ६ विघ्नकरणमन्तराय । ७ आसादन शास्त्रादेविराधनम् । ८ अध्येतणां पीडाकरणमुपघात । ९ एभ्य कारणेभ्यो ज्ञानदशनावरणद्वय जीवेन सह ब ध याति । १ हेतुत । ११ आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम् ।

---

(1) हानिनि शेषत्व इति पा । (2) साध्य । सिद्ध । जीवपुदगलपरिणामयोरन्यो य कायकारणभाव सिद्धयेत् तज्ज्ञाप नार्थमेव तत्साधनस्य युक्त नान्यथा अत कथ तत्प्रसिद्धिरित्यारेकायां दोषो हि तावदित्यारभ्य तस्वावरणकारणादिति पर्यंत ग्रंथमाहु. । (3) क्रियापदस्य द्वि ।

तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयो 'कामादिप्रभव श्चित्र कर्मबन्धानुरूपत इत्यत्र ।

[बौद्धो दोषानेव ससारस्य कारण मन्यते किंतु जैनाचार्या उभयौ एव कारण इति कथयति]

'अथ दोष एवाविद्या'तृष्णा'लक्षणश्चेत'सोनादितद्वासनोद्भूत ससारहेतुर्नावरण पौदग

तत्प्रदोष—ज्ञान दर्शन मे प्रद्वेष भाव निन्हव—ज्ञान दर्शन को ढकना मात्सर्य—निन्दा और तिरस्कार अतराय—ज्ञान दर्शन मे विघ्न करना आसादना—शास्त्रादि की विराधना करना उपघात—उपाध्याय आदि को दोष लगाना या पीड़ा देना आदि कारणो से जीव के ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है ।

केवली शास्त्र सघ धर्म एव देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रव होता है । कषायो के उदय की तीव्रता से कलुषित परिणाम के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आश्रव होता है और दान लाभ आदि मे विघ्न करने से दानादि अतराय कर्म का आश्रव होता है । इस प्रकार से तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र मे प्ररूपण किया है और आगे इसी मीमासा ग्रन्थ मे कामादि प्रभवश्चित्र कर्मबधानुरूपत इत्यादि कारिका न ९९ के अर्थ मे दोष और आवरण मे कार्यकारण भाव का समर्थन करेगे ।

भावार्थ—यहा यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब बीजाकुर न्याय के समान अनादि काल से दोष आवरण का परस्पर कार्यकारण भाव निश्चित है तब इनका अभाव भी कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान यही है कि जब यह जीव कालादि लब्धि को प्राप्त करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है एव रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक चारित्र का आश्रय ले लेता है तब व्यवहार निश्चय रूप रत्नत्रय के बल से आने वाले कर्मों के रुक जाने से सवर हो जाता है और बध हुये कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है तब धीरे धीरे मोहनीय कर्म के नाश से राग द्वेष मोह का नाश ज्ञानावरण आदि के नाश से अनादि-कालीन भावो का अभाव हो जाता है । जैसे कि बीज को जला देनें से उससे अकुर परम्परा समाप्त हो जाने से उस बीज का अत हो जाता है तथैव इन दोष-आवरणो का अभाव भी हो सकता है कोई बाधा नही आती है ।

[बौद्ध दोषो को ही ससार का कारण मानता है आवरण को नही किन्तु जैनाचार्यों ने दोनो को ही ससार का कारण माना है ।]

बौद्ध—दोष ही अविद्या—मिथ्याज्ञान एव तृष्णा भोगो की अभिलाषा लक्षण वाले हैं जो कि चित्त क्षण रूप आत्मा मे अनादि काल की वासना से उत्पन्न होते है वे ही ससार के लिये कारण हैं न कि आवरण रूप पौदगलिक कर्म क्योकि मूर्तिमान् कर्म के द्वारा अमूर्तिक आत्मा पर आवरण नही हो सकता है ।

१ सौगताशङ्का । २ अविद्या मिथ्याज्ञानम् । ३ भोगाभिलाषस्तृष्णा । ४ चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थ ।

लिक तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तु मावरणग्रहण, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात[1] [1]तत्सम्बन्धाद्विभ्रम[2]संवेदनादन्यथा तदनुपपत्त । मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्ते इति चेन्न तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात [3]स्था ल्यादिवद्विभ्रमायोगात । [1]चेतनत्वे तेषाममूर्तत्वपि मूर्तिमतावरणमायात[4]मिति प्रायेणान्यत्र[3] चिन्तितम । ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या [5]तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमत प्रसिद्ध ।

जैन— इस प्रकार से कहने वाले बौद्ध का खडन करने के लिए ही आवरण शब्द को ग्रहण किया है क्योकि मूर्तिमान मदिरा आदि के द्वारा भी अमूर्तिक आत्मा मे आवरण देखा जाता है । उस मदिरा के निमित्त से विभ्रम का अनुभव होता ही है यदि ऐसा न मानो तो मदिरा पीने के बाद मनुष्य की उन्मत्त अवस्था नही हो सकेगी ।

बौद्ध—मदिरा आदि के द्वारा इन्द्रिया पर ही आवरण देखा जाता है अर्थात इन्द्रिया ही मदिरा से उन्मत्त होती है न कि आत्मा ।

जैनाचार्य—ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इन्द्रिया को अचेतन मान लेने पर उन पर मदिरा आदि से आवरण होना सभव नही है जैसे कि अचेतन पात्र शीशी आदि मे रखी हुई मदिरा के निमित्त से उनमे उन्मत्तता नही आती है वैसे ही यदि इन्द्रिया अचेतन हैं तो वे उन्मत्त नही हो सकेगी और यदि आप इन्द्रिया को चेतन रूप स्वीकार कर लेगे तब तो उन्हे आत्मा के समान अमूर्तिक भी मानना पडेगा पुन मूर्तिमान कर्मो के द्वारा अमूर्तिक पर आवरण सिद्ध ही हो जावेगा क्योकि जैन सिद्धान्त मे कर्म बध सहित ससारी आत्मा को कथचित मूर्तिक भी माना है ।

अत ससारी जीवो का चेतनत्व एव अमूर्तिकत्व स्वभाव होने पर भी मूर्तिमान कर्मो के द्वारा आवरण सिद्ध हो ही जाता है इस विषय का प्राय श्लोकवार्तिक मे विशेष रूप से विचार किया गया है ।

दोष के अभाव के समान आवरण का अभाव भी किसी जीव विशेष मे निश्शेष रूप से सिद्ध करना ही चाहिए क्योकि दोष से भिन्न मूर्तिमान आवरण की प्रसिद्धि है ।

भावार्थ—अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिमान कर्मो से पराजित होना स्पष्ट है इस बात को राजवार्तिक ग्रन्थ मे श्री अकलक देव ने भी कहा है । अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत न तद्विशेषसाम र्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत ।

प्रश्न—चूकि आत्मा अमूर्त है अत उसका कर्म पुद्गलो से अभिभव नही होना चाहिये ?

१ तेन मदिरादिना । २ अभ्युपगते । ३ श्लोकवार्तिके ।

(1) कुत । (2) भ्रांतिज्ञान । (3) मदिराभाजनादि । अचेतनत्वात । (4) तथा च कर्मणा मूर्तिमता चित्तस्या मूर्तस्यावरणायोगात् इति वचनमयुक्तमिति भाव । (5) पौद्गलिकस्य ।

[दोषावरणयोर्हानि प्रध्वंसाभावरूपोऽस्ति न त्वत्यंताभावरूपा]

[1]अत एव लोष्टादौ निश्शेषदोषा[1]वरणनिवृत्ते सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षि[2]ताभिधान[2]

उत्तर—अनादि कर्मबंधन के कारण उसमे विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्मा की नारकादि मतिज्ञानादि पर्याय भी चेतन ही है। यह आत्मा अनादिकाल से कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोडने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्छित हो जाता है उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं। मदिरा के द्वारा इन्द्रियो मे विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नही है क्योकि जब इन्द्रिया अचेतन हैं तो अचेतन मे बेहोशी आ नही सकती अन्यथा जिस पात्र मे मदिरा रखी है उसे ही मूर्च्छित हो जाना चाहिए या उन्मत्त चेष्टा करना चाहिये। यदि इन्द्रियो को चेतन कहेंगे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि बेहोशी चेतन मे होती है न कि अचेतन मे। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है—

बंध पडि एयत्त लक्खणदो होदि तस्स णाणत्त।
तम्हा अमुत्तिभावो णयतो होदि जीवस्स॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म मे एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनो में भिन्नता है। अत आत्मा मे एकात से अमूर्तिकपना नही है।

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी कहा है कि—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो सत्ति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो॥

अर्थ—पांच वर्ण पाच रस दो गंध और आठ स्पर्श निश्चय नय से ये जीव मे नही हैं इसलिये यह जीव अमूर्तिक है एवं व्यवहार नय से कर्मबंध से सहित होने से यह जीव मूर्तिक है। इसलिये जीव को संसारावस्था मे सर्वथा अमूर्तिक मानना गलत है।

[दोष आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नही है]

प्रश्न—अतएव इसी अतिशायनात हेतु के द्वारा लोष्टादिक (मिट्टी के ढेल आदि) में भी निश्शेष रूप से दोष आवरण की निवृत्ति होने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है।* अर्थात् सिद्ध को ही सिद्ध करना यह पिष्टपेषण के सदृश दोष युक्त ही है।

---

१ अतिशायनादेव। २ बौद्धस्य।

---

(1) कर्म। (2) मीमांसक निराचष्टे।

साध्यापरिज्ञानात्(1)। प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः [1]तस्या निष्टत्वात्[1] [4]सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात्। नापीतरेतराभावः[1] तस्य[4] प्रसिद्धत्वात् दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात्। [2]प्रागभावोपि न साध्यस्तत[5] एव, [6]प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात्। न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति तस्य भूत्वा भवनलक्षणत्वात्[7] तयोस्तत्रात्यन्तमभा[8]वात्। तन्न सिद्धसाध्यता।

[शंकाकारो बुद्धः तरतमतां दृष्ट्वा प्रतिशायनहेतुमनैकांतिकं मन्यते किंतु जैनाचार्याः क्वचित् लोष्टादौ बुद्ध्यादिषु अभावं स्वीकृत्य हेतुमनैकांतिकं न मन्यते]

[3]नन्वेवं दोषावरणयोर्हानिरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि[4] किन्न परिक्षय

उत्तर—आप बौद्ध का यह कहना असमीक्षित है—ठीक नहीं है उसने हमारे साध्य को समझा ही नहीं है*। क्योंकि दोष और आवरण का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) ही साध्य है न कि अत्यंताभाव रूप अभाव क्योंकि अत्यंताभाव रूप अभाव यहां साध्य में हमें इष्ट नहीं है। यदि जीव में दोष और आवरण का अत्यन्ताभाव मानेंगे तो नित्य ही संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। तथा जीव में दोष और आवरण का इतरेतराभाव भी इष्ट नहीं है। वह इतरेतराभाव तो आत्मा में प्रसिद्ध ही है क्योंकि आत्मा और दोष आवरण एक दूसरे रूप नहीं हो सकते हैं उनकी परस्पर विभिन्नता प्रसिद्ध है।

दोष और आवरण आत्मस्वरूप नहीं है और न आत्मा ही दोष आवरण स्वभाव वाली है। तथा प्रागभाव भी यहां साध्य नहीं है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध ही है। प्राक् (पहले) अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है यह कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है।

मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का प्रध्वंसाभाव ही नहीं है। प्रध्वंसाभाव तो भूत्वाभवनलक्षणत्वात् घट होकर कपाल होने रूप है। उस मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का अत्यन्त ही अभाव है अतः प्रध्वंसाभाव रूप हानि को साध्य करने में सिद्ध साध्यता दोष नहीं है।

---

१ अनिष्टस्य साध्यत्वाभावात्। २ कुतः ? यतः। ३ आत्मा दोषावरणं न तन्नात्मा नेति इतरेतराभावः। ४ इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात्। ५ प्रसिद्धत्वादेव। ६ प्रसिद्धत्वे हेतुमाह। ७ घटो भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वंसाभावः। ८ लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तमानात्।

---

(1) इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात्। (2) कारणसंघातात्पूर्वमभावः प्रागभाव इति लक्षणं। (3) मीमांसकः। (4) बुद्धेः रतिशयोऽस्ति।

स्यादिशेषा[1]भावा[2]तोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं[1], +चेतनादिगुणव्यावृत्तेः[3] सर्वात्मना पृथिव्या[4]देरभि[5]मतत्वात्[6] * । ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना[7] चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद् बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितं[8], पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन [2]गृहीते स्वायुषः क्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्[3], "न हि स कश्चित्पुद्गलोऽस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः[4] इति वचनात् । [5]प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, [10]अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः ।

[शकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर अतिशायन हेतु को व्यभिचारी कहता है किन्तु जैनाचार्य कहीं न कहीं बुद्धि का भी अभाव मान लेते हैं ।]

शंका—आप दोष और आवरण की हानि को निःशेष रूप से साध्य करने में अतिशायन हेतु देते हैं पुनः इसी अतिशायन हेतु से किसी न किसी जीव में बुद्धि का भी परिपूर्णतया अभाव क्यों न हो जावेगा ? क्योंकि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है । इसलिए आपका हेतु अनैकांतिक है* ।

समाधान—यह आपका कथन अशिक्षित रूप ही है क्योंकि पृथ्वी आदिकों में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों की प्रध्वंसाभाव रूप व्यावृत्ति होना हमें इष्ट ही है* ।

शंका—पृथ्वी आदि में सम्पूर्ण रूप से चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह अतिशायन हेतु व्यभिचारी है । अर्थात् बुद्धि की हानि में अतिशायन हेतु पाया जाता है फिर भी संपूर्णतया पृथिवी आदि में चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव नहीं है अतः यह हेतु अनैकांतिक है ।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलास रूप ही है पृथ्वी आदि रूप से परिणत हुए पुद्गल वर्गणाओं को पृथ्वीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीर रूप से ग्रहण किया पुनः अपनी अपनी आयु के कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया । उन पृथ्वी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वंसाभाव रूप से अभाव हो जाता है यह बात हम स्याद्वादियों

१ दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति । २ यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः । ३ प्रध्वंसाभावस्य । ४ आदिपदेन शरीरं गृहीते उत्तरत्र व्यापारव्याहारव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । ५—रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तरम् । ६ पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्तः । ७ सामस्त्येन । ८ चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात् । ९ बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति अतोनेकान्तः । १ अन्यथा—चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्तेः ।

(1) आ । (2) चैतन्याद्युपचाराद्यभिन्नत्वेन । (3) सपक्षे सत्त्वं तस्य । (4) पूर्वं भुक्तः पश्चादुज्झितः । शरीरत्वेन । (5) अनुमानतः ।

+दिल्ली अष्टशती अ, ब स प्रति में मुद्रित अष्टशती में दिल्ली एवं ब्यावर अष्टसहस्री प्रति में 'चेतनादि मतत्वात् पंक्ति अष्टशती मानी गई है । मुद्रित अष्टसहस्री में अष्टशती नहीं मानी है ।

[अदृश्यपदार्थस्याभावं कथं भविष्यतीति शंकायां लौकिकजना अपि अदृश्यस्याभावं मन्यते एवेत्युत्तरं]

[1]अदृश्या[1]नुपलम्भादभावा[2]सिद्धिरित्ययुक्त, परचैतन्यनिवृत्ता[3]वारेकापत्त[2], [3]संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि[4] रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्॥[5] । [4]स्यान्मतं ते,+व्यापारव्याहाराकारविशेष[5]व्यावृत्ति[6]समयवशात्ता[7]दृश लोको विवेचयति[8]।—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्य व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धे, कायविशेषानुपलम्भस्य कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य [6]तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत् । तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादि स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेर्भूतग्रहादिर्वा[9] चेष्टा

के यहां स्वीकार की गई है क्योंकि इस जगत मे ऐसा कोई भी पुदगल नही है कि जिसको जीवो ने अनेको बार भोगकर न छोडा हो इस प्रकार वचन पाये जाते हैं। इसलिये पृथ्वी आदि मे चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात मिट्टी के ढले आदि मे चेतनागुण का सदभाव नही पाया जाता है।

[जो पदार्थ दिखते नही हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव आबाल गोपाल मानते हैं।]

शंका—आप अदृश्य पदार्थों की अनुपलब्धि से अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अर्थात इस मकान मे भूत नहीं है ऐसा कोई नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूत व्यतर आदि दिखते नहीं हैं वे अदृश्य हैं उनकी उपलब्धि हम नहीं हो रही है इसलिए वे नहीं हैं यह कहना शक्य नहीं है। जो देखने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उन्हीं की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि देखकर उनका सदभाव या अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी। पुन उसके संस्कार करने वालों को पातकी कहने का प्रसंग आवेगा। प्राय करके अप्रत्यक्ष (परोक्ष) भी रोगादि के अभाव का निर्णय किया ही जाता है।॥

यदि आप ऐसा कहे कि व्यापार (क्रिया) वचन आकार आदि जीवित की चेष्टा विशेष की व्यावृत्ति-अभाव के हो जाने से होने वाले चिन्ह विशेषो से यह शरीर मृतक हो चुका है इसमे से चेतना निकल चुकी है यह शरीर अब निर्जीव है इस प्रकार से व्यवहारीजन निर्णय कर लेते हैं।॥

१ अदृश्यश्चेतनगुण । २ चेतनादिगुणस्य । ३ अदृश्यानुपलम्भस्याभावासाधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात् । ४ अपुस्तके ते इति पद नास्ति । ५ व्यापारविशेषश्चलनादि । व्याहारविशेषो वचनविशेष । आकारविशेषश्च । ६ समय सङ्केत । ७ चैतन्याभावविशिष्टम् । ८ कारण=चैतन्यम् । ९ नास्ति ।

(1) मीमांसकमनूद्य दूषयति । (2) चैतन्यसदभावशंका । (3) दाहकाना । (4) अदृश्यस्य ।(5) अभाव (6) चंदनादिधूमजनक ।

+ दिल्ली अष्टशती अ ब स प्रति में मुद्रित अ श में दिल्ली एव ब्यावर अ स प्रति में व्यापार विवेचयति पंक्ति अष्टशती मानी गई है मुद्रित अ स मे नहीं मानी है।

विशेषानुपलब्धे[1] । [2]सम्यग्वद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्य ता[3]भ्यस्तचैतन्यरोगादि[4]कार्यविशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्ति ' इति ।

[जैनाचार्या भस्मलोष्ठादीनचेतनान साधयति]

'तदेतत्पथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादि पृथिव्यादौ पथिवीचेतनादिगुण, +**व्यापार[5]व्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति [6]समयवशात्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति*** । स्यादाकूत [7]ते [१] व्यापारादिविशेषस्यानुपल धेस्त[१]ज्जनन समथ चेतनादि[8]गुणव्यावत्तिसिद्धावपि तज्जननासमथचेतनादि यावत्त्यसिद्धन सर्वात्मना

यथा— इस मृतक शरीर मे चत य नही है क्योकि व्यापार व्याहार—वचन आकार विशेष की उपल धि नही हो रही है । तथा काय विशेष की अनुपलब्धि कारण विशेष के अभाव के साथ अविना भाव सम्ब ध रखती है । जैसे—चन्दन आदि से उत्पन्न हुए सुगधित धूम की अनुपलब्धि उसके योग्य समर्थ च दन आदि की लकडी से होने वाली अग्नि के अभाव के साथ अविनाभाव सम्ब ध को सिद्ध करती है । अथात सुग धितधूम के अभाव मे चदनादि की अग्नि नही है ऐसा ज्ञान हो जाता है ।

उसी प्रकार दूसरा अनुमान—

इस मनुष्य म वरादि रोग नही है क्योकि ऊष्णस्पश आदि विशेष की उपलब्धि नही हो रही है । अथवा इस यक्ति मे भूत पिशाच ग्रह आदि नही है क्योकि उनके चेष्टा विशेष की उपलब्धि नही है ।

मीमासक—सम्यक प्रकार से वद्यकशास्त्र एव भूत तत्रादि शास्त्र के अतिशय रूप (विशेष रूप) अभ्यास से चत य विसेष या रोगादि विशेष रूप कार्यों का विद्वान लोग निणय कर लेते हैं ।

[जनाचाय भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं]

जन—तो इसी प्रकार से पथ्वी आदि मे भी चतन्य आदि गुणो की सपूण रूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है । तथाहि—

इस भस्मादि या पथ्वी आदि मे पथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नही हैं ।

---

१ पूर्वोक्त मतम् । २ मीमासकस्य । ३ तत् = व्यापारव्याहारादि ।

(1) इतिविवेचयति । आशक्य । (2) इद चत यकार्यमिदं रोगादिकार्यमिति विवेको नास्ती याशकायामाह । (3) सम्यग्ज्ञान । (4) ता । (5) व्याहारस्त्रसशरीरे गृह्यते । (6) संकेत । (7)भाट्टस्य । (8) सव कमफल मुख्यभावेन स्थावरा स्त्रसा । स कार्यं चेतयतेऽस्तप्राणत्वात ज्ञानमेव च । सा चेतना कर्मफलसकायज्ञानचेतना भेदात् त्रधा यद्यव तर्हि क किं प्राधान्येन चेतयते इत्याह । कमफलं—अव्यक्तसुखदु ख । सकार्य—क्रियते इति कार्यं बुद्धिपवको व्यापारस्तेन सहितं । चेतयते—अनुभवंति । अस्तप्राणत्वात्—प्राणत्व अतिक्रांता जीवा व्यहारेण जीवन्मुक्ता परमाथन परममुक्ताश्च ।

+दिल्ली अष्टशती अ ब स प्रति मे मु अ था प्र में दिल्ली एव ब्यावर अ. स प्र में व्यापार व्याहार विवेचयति पक्ति अष्टशती मानी गई एव मु अ स प्र में नहीं मानी है ।

तद्व्यावृत्तिसिद्धि' इति, तदसमञ्जसं व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणा [1]चेतनादेर सम्भवात सभवे वा [2]शरीरित्वविरोधात्'। तत 'कार्यविशेषानुपलब्धे सर्वात्मना चेतनादि गुणव्यावृत्ति पृथिव्यादे सिध्यत्येव, मृतशरीरादे[3] परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत। यदि पुनरयं' निर्बन्ध[4]'सर्वत्र विप्रकर्षि'णामभावा'सिद्ध 'स्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशान लाभ्यां 'व्याप्तेरसिद्धन कश्चिद्धे त । तत 'शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत[5]

क्योंकि व्यापार, वचन आकार विशेष का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार से आगम के आधार से सिद्धांतवेत्ता विद्वान निर्णय कर लेते हैं*।

मीमांसक— व्यापारादि विशेष की उपलब्धि न होने से व्यापारादि को उत्पन्न करने मे समर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर भी व्यापारादि को उत्पन्न करने मे असमर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति—अभाव असिद्ध है। अत सम्पूर्ण रूप से चेतनादि का अभाव सिद्ध नही हो सकता है।

जैन—यह कथन ठीक नही है क्योकि ससारी जीवो मे व्यापार आदि अशेष कार्यों को उत्पन्न करने मे असमर्थ ऐसे चेतनादि गुण ही असभव है अथवा यदि आप मान लेव तो उसमे शरीरी (ससारीपने) का ही विरोध आ जावेगा अर्थात वह मुक्तात्मा ही हो जावेगा। अतएव कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि मे सपूर्ण रूप से चेतनादि गुणो का अभाव सिद्ध ही है। जैसे कि मृतक शरीर एव रोगी आदि मे चैतन्य या रोग आदि का अभाव पाया जाता है।

पुन यदि आप ऐसा कहें कि अदृश्य की अनुपलब्धि रूप हेतु से सपूर्ण रूप से पृथ्वी आदि मे चेतन आदि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर सभी जगह विप्रकर्षी—काल से दूरवर्ती और वेद के कर्ता आदि परोक्ष पदार्थों के अभाव को भी आप सिद्ध नहीं कर सकेंगे। प्रत्युत आप (मीमांसक) के यहां इनका सदभाव ही सिद्ध हो जावेगा। तथा कृतकत्व हेतु की विनाश—अनित्य के साथ और धूम आदि की अग्नि के साथ व्याप्ति भी नहीं हो सकेगी। अर्थात जो नश्वर नहीं है वह कृतक भी नहीं है और जहा अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं इस प्रकार व्यतिरेक रूप से व्याप्ति नहीं बन सकेगी। पुन कोई भी हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ सच्चा हेतु नही हो सकेगा। अर्थात्

१ मुक्तात्मवत् । २ कार्य=व्यापारादि । ३ अदृश्यानुपलम्भात्सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति । ४रामरावणवेदकर्त्रादीनाम् । ५ किन्तु भावसिद्धरेव मीमासकस्य स्यात् । ६ जन । ७ यन्निनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्ध । ८ बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति तत परस्परमसस्पृष्टाना परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषाममभावासिद्धि । ९ (जैमिनीयानाम्) मीमासकानाम् ।

(1) ज्ञान। सुखदु खादि। (2) मुक्तत्वप्रसग । (3) आरोग्यशरीर। (4) आग्रह । बौद्धमतमाश्रित्य मीमांसकस्तं निराकरोति। (5) बौद्धमतेऽदृश्यानुपलंभादभावस्य सिद्धिर्नास्ति परस्परमसपृष्टानां विप्रकर्षी परमाणूनां विकल्पबुद्धौ अप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्ध । अन्यथा। शौद्धोदनिशिष्यकस्य ।

[6]अनुमानोच्छेदप्रसंगात्* । न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावा[2]सिद्धिमनुमन्यन्ते[1] वेदे कर्त्रऽभावसिद्धिप्रसङ्गात्[3] सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च । ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव । न [4]चैषामेतदात्मनीन[5] अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात् साध्य साधनयोर्व्याप्त्यसिद्ध[6] । परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धे र्नानुमानोच्छेद इति चेन्न [2]तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात । प्रसिद्धनुमाने तत परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्ध रनुमानप्रसिद्धिरिति । ततो न श्र यानय निबन्ध सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावत्ति पृथिव्यादेन सिद्धयत्येवेति । तत्प्रसिद्धौ च न

यदि बौद्ध मत में अदृश्यानुपलम्भ हेतु से अभाव सिद्धि नहीं ह तो फिर परस्पर में असबद्ध परमाणुओं का विकल्प बुद्धि मे प्रतिभास न होने से उन परमाणओं क अभाव को भी सिद्ध नही कर सकेंगे। और फिर मीमासकों क लिए यह सब उनका सिद्धांत स्वय उनके लिए अहितकर ही हो जावेगा। इसप्रकार अनुमान क भी उच्छव का प्रसग आ जावेगा।*

जमिनीय मतानुसारी जन परोक्षवर्ती पदाथ के अभाव की असिद्धि को नही मानते हैं। अर्थात दूरवर्ती परोक्ष पदाथ का अभाव स्वीकार करते हैं।

तथा च वेद के कर्त्ता के अभाव की असिद्धि का प्रसग आ जावेगा। अर्थात् वेद का कर्त्ता मान लेने से आप वेद को अपौरुषय सिद्ध नही कर सकगे एव सवज्ञादि के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु मे भी विरोध आ जावेगा।

इस प्रकार मानने वाले जमिनीय लोग भी बुद्ध के ही शिष्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु आपको यह अभीष्ट नही है। अर्थात अदृश्यानुपलभ हेतु से अभाव को नही मानने वाले मीमासक जैमिनीय आदि के यहा यह सभी उपयु क्त दोष आ जावगे। अत उन लोगो का यह कथन स्वय ही उनके लिए अहित कर है। और आप लोगो के लिए अनुमान का अभाव भी दुर्निवार है क्योकि साध्य और साधन मे व्याप्ति के सिद्ध न होने से अनुमान कसे बन सकेगा?

मीमांसक—दूसरो ने व्याप्ति को स्वीकार किया है अत उनकी स्वीकारता से ही हम व्याप्ति की सिद्धि कर लगे तो अनुमान का अभाव नही होगा।

जन—यह कहना ठीक नही है क्योकि दूसरो को भी दूसरे के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति की सिद्धि मानने से एव उस अन्य को भी अन्य क द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति को मानने से तो अनवस्था दोष आ जावेगा। यदि आप कहें कि व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से करगे तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आवेगा।

१ अन्यथा। २ भावसिद्धिमित्यर्थ। ३ ततो वेदस्य सकत कत्व स्यात्। ४ प्रतिपादनम्। ५ स्वकीयम्। ६ अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम्।

(1) अन्यथा। (2) विप्रकृष्टत्वे।

बुद्धिहान्या [1]हेतोर्व्यभिचार तस्या सपक्षत्वात। तथा हि। यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्ति, यथा बुद्ध्यादि[1]रश्मस्याश्मन[1]। तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती [3]कुतश्चिन्निवर्त्तयति महति [1]सकल [2]कलंकमिति कथमकलंक[4]सिद्धिर्न भवेत ?*

यथा—अनुमान के सिद्ध होने पर उस अनुमान से परोपगमप्रमाण की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उससे व्याप्ति की सिद्धि होगी पुन व्याप्ति की सिद्धि होने से अनमान की सिद्धि होगी।

इसलिए यह आपका कथन श्रयस्कर नही है कि सम्पूण रूप स पथ्वी आदि मे चेतना आदि गुणो की व्यावृत्ति सिद्ध नही है अर्थात सिद्ध ही है एव पथ्वी आदि मे चेतना आदि की सपूणतया व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि की हानि से हेतु मे व्यभिचार दोष नही आता है क्योकि बुद्धि को भी यहा हमने सपक्ष मे ले लिया है। तथाहि—

जिसकी हानि अतिशय रूप से है उसका कही न कही परिपूण रूप से अभाव पाया ही जाता है। जसे कि पाषाण मे स बुद्धि आदि का सवथा अभाव पाया जाता है और उसी प्रकार अतिशयवान दोष आदि की हानि भी किसी आत्मा से सपूण द्रव्य कम भाव कम को पृथक करती ही है। इस प्रकार से कमकलक रहित भगवान की अथवा अकलक देव क वचनो की सिद्धि कस नही होगी ? अर्थात कम कलक रहित सवज्ञ देव की भी सिद्धि होती है और अकलक दव क वचन की भी सिद्धि होती ही है।*

भावाथ—शकाकार का यह कहना है कि आप जनो ने किसी न किसी जीव विशेष मे दोष और आवरण का परिपूणतया अभाव सिद्ध करने के लिए अतिशायन हेतु दिया है यह व्यभिचारी है क्योकि जीवो मे बुद्धि की भी तरतमता देखी जाती है अत किसी न किसी जीव विशेष मे बुद्धि का भी सवथा अभाव मानना पडगा।

इस पर जनाचार्यों ने सदर ढग से समाधान कर दिया है वे कहते है कि मिट्टी के ढले पत्थर आदि मे चैतन्य गुणो का अभाव हो जाने पर अर्थात जीवात्मा के निकल जाने पर उन मिट्टी आदि मे से बुद्धि का भी सवथा अभाव हो जाता है क्योकि बुद्धि-ज्ञान यह आत्मा का ही गुण है। इस पर पुन शकाकार कहता है कि चतन्य आत्मा तो अमूर्तिक होने से अदृश्य है पुन इसी मिट्टी के ढले मे से यह आत्मा निकल गई है यह मिट्टी सर्वथा निर्जीव हो गई है इसका निणय कसे होगा ? क्योकि जो चीज दिखती नही है उसके सदभाव या अभाव का निर्णय करना अशक्य है। आचाय कहते हैं यह बात सवथा एकान्त रूप से घटित नही हो सकती है कि अदश्य का अभाव न माना जा सके। देखिये ! मृतक मनुष्य के शरीर की अदृश्य भी चेतना निकल गई है इस बात का निणय कुशल वद्य सहज ही कर देता है सभी

---

१ पाषाणात्। २ आत्मन। ३ द्रव्यभावरूपम्। ४ अकलङ्कस्य—परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा।

---

(1) अतिशायनादित्यस्य। (2) सौगतादिमत वा।

तो व्यवहारी जन उस मृतक कलेवर को जला देते है एवं वैद्य लोग ज्वर आदि रोगो का अभाव भी सिद्ध करते हैं तभी तो अब यह स्वस्थ हो गया है ऐसा निणय होता है ।

यदि कोई कहे कि दो इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रि तियच मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस बात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी जल आदि मे स आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असम्भव है क्योकि पथ्वी आदि मे चेतना आदि के रहते हुये भी हलन चलन आदि चेष्टायें श्वासोच्छवास वचन प्रयोग आदि बाह्य व्यापार असम्भव हैं अत इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है । इस पर भी आचाय कहते हैं कि एकन्द्रिय स्थावर मे भी चैतन्य क विद्यमान रहने स पृथ्वीकायिक आदि मे वृद्धि व वनस्पतिकायिक क हरे भरे रहने स जीवितपने का अनुमान किया जाता है एव शुष्क आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवो के शरीर को अचेतन समझ सकते है ।

राजवार्तिक आदि ग्रथो मे पांचो ही स्थावर जीवा के ४ ४ भेद माने हैं । यथा पृथ्वी पृथ्वीकाय पृथ्वीकायिक एवं पथ्वी जीव । सामान्य पृथ्वी को पृथ्वी कहते है । पथ्वीकायिक जीव के निकल जाने पर जो पथ्वी कलेवर रूप से रह जाती है उसे पथ्वीकाय कहते है । पृथ्वीकायिक नाम कम के उदय को लकर जिसम एकेन्द्रिय जीव विद्यमान है ऐसी खान आदि की पृथ्वी को पृथ्वीकायिक कहते हैं एव विग्रहगति अवस्था मे विद्यमान जीव को पृथ्वीजीव कहते हैं । इन चारो मे से पृथ्वी एव पृथ्वीकाय मे दो भेद तो निर्जीव हैं एव पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं । इन दोनो मे भी विग्रह गति के जीव की विराधना का तो प्रसंग ही नही आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवो की ही हिंसा का प्रसग आता है । हा ! विग्रह गति के जीवो की भाव हिंसा का प्रसग आ सकता है । ऐसे ही जल अग्नि, वायु और वनस्पति इन चारो के भी चार चार भेद समझने चाहिये ।

आचाय ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार से मृतक शरीर से चैतन्य निकल गया है एव स्वस्थ शरीर से रोग का अभाव हो गया है वसे ही मिट्टी के ढले आदि से संपूण रूप से चतन्य निकल चुका है वे सवथा निर्जीव हैं । जसे कृतकत्व हेतु पदाथ को विनाशीक सिद्ध करता है धूम हेतु अप्रत्यक्ष—नही दिखती हुई अग्नि को सिद्ध करता है अत इन कृतकत्व धूमत्व हेतुओ की विनश्वर और अग्नि के साथ व्याप्ति सिद्ध है । यद्यपि यह व्याप्ति अदृश्य है फिर भी प्रमाणीक है अन्यथा अनुमान ज्ञान का अवतार ही नही हो सकेगा । वसे ही पृथ्वी आदि से चतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अत पत्थर आदि मे भी बुद्धि का भी सवथा अभाव हो जाने स हमारा अतिशायन् हेतु व्यभिचारी नही है ।

राग, द्वेष आदि रूप जो भावकम हैं वे तो दोष हैं और ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकम हैं वे आवरण कहलाते हैं इन दोष और आवरणों का भी किसी न किसी जीव में सवथा अभाव हो सकता है

[कर्मद्रव्यस्य प्रध्वंसाभावरूपाभावे मन्यमाने सति दोषारोपणं स्याद्वादिभिस्तद्दोषनिराकरणं]

[1]ननु च यदि [2]प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात्[3]तत्पर्यायस्य तु [1]हानावपि[2] कुतश्चित्[4] पुनः [5]प्रादुर्भावान्न निःशेषा हानिः स्यात्। निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादि[3]द्रव्याभावप्रसङ्ग इति [4]कश्चित् सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव। यस्मात्, [6]मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोपि [5]कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः*। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः

क्योंकि सभी संसारी जीवों में इन दोनों की तरतमता देखी जाती है अतः कर्म कलंक रहित—अकलंक—निर्दोष परमात्मा की सिद्धि हो जाती है और अकलंकदेव के निर्दोष वचनों की भी सिद्धि हो जाती है।

[कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभावरूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण]

तटस्थ जैन—यदि प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) आपको इष्ट है तो फिर वह हानि पुद्गल रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में संभव नहीं है क्योंकि द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्यकर्म नित्य है।

यदि पुद्गल द्रव्य के पर्याय की हानि मानो तो भी किसी कारण से पुनः उस पर्याय की उत्पत्ति होने से निःशेष—संपूर्ण हानि नहीं हो सकेगी अथवा निःशेष कर्म पर्याय की हानि होने पर कर्मद्रव्य की भी हानि का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि कर्मरूप पर्याय का कर्मद्रव्य (पुद्गल) के साथ अविनाभाव पाया जाता है। उसी प्रकार से निरन्वय विनाश होने से आत्मादि द्रव्य के अभाव का भी प्रसंग हो जावेगा।

आचार्य—आपने भी सिद्धांत को ठीक से समझा नहीं है क्योंकि **मणि से मलादि का पृथक्करण होना ही क्षय माना गया है। अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अलग हो जाना ही क्षय है इस बात को सैद्धांतिक लोगों ने स्वीकार किया है क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थ का अत्यंत विनाश नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सत् स्वरूप आत्मा से भी कर्मों का पृथक्करण हो जाने पर आत्मा से परिपूर्ण शुद्धि हो जाती है।***

यहां पर प्रध्वंसाभाव रूप क्षय को ही हानि शब्द से स्वीकार किया है और मणि से मलादि की अथवा कनक पाषाण से किट्ट कालिमा आदि की व्यावृत्ति ही पाई जाती है न कि अत्यंत विनाश। क्योंकि अत्यंत रूप से विनाश माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि अत्यंत विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का? द्रव्य का तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्य नित्य है और न पर्याय का ही हो सकता है क्योंकि

१ तटस्थो जैनः। २ भूत्वाभवनलक्षणः। ३ द्रव्यत्वेन। ४ कारणात्। ५ तत्पर्यायस्य। ६ सकाशात्। ७ एकस्माद्द्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षयः इष्यते सैद्धान्तिकानाम्।

(1) द्रव्यत्वेन सद्भावात् निःशेषहानिर्मास्तु। (2) मिथ्यादर्शनादिकारणात्। (3) तस्यां कर्मपर्यायहानौ सत्यां तस्यापि हानिः स्यात्। (4) धौव्यो बुद्धो वा। (5) कर्मणां इति वा।

कनकपाषाणाद्वा मलस्य [1]किट्टादेर्वा । न पुनरत्यन्तविनाश । स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्या-यस्य वा ? न तावदद्रव्यस्य नित्यत्वात । नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात् । तथा हि । विवादापन्न मण्यादौ मलादि [1]पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुव [2]सत्त्वा-न्यथानुपपत्त [2] ।

[श दविद्युद्दीपादयोऽपि कथचिन्नित्या संति]

[3]शब्देन यभिचार[3] इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौ याभ्युपगमात । विद्यु प्रदीपादि भिरनेकान्त[4] इत्ययुक्त तेषामपि द्र यत्वतो[5] ध्रुवत्वात क्षणिककान्ते सवथार्थक्रियाविरोध स्याभिधानात । ततो याशी मरोमलादेर्व्यावित्तिर्हानि परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कमणा

पर्याय भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है अर्थात पर्याय स भि न द्र य या द्रव्य से भिन्न पर्याय नही है । तथाहि मणि आदि मे विवादाप न मलादि पर्याय रूप से अनित्य होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रव हैं क्योंकि अस्तित्व की अ यथानुपपत्ति है । अस्तितव की अ यथानुपपत्ति है इसका अभिप्राय यह है कि ध्रौव्य के बिना सत् रह नही सकता ।

[ाब्द विद्यत् दीपक आदि भी कथचित् नि य हैं ।]

शका—श द के साथ यभिचार आता है यथा— शब्द नश्वर है क्योंकि सतरूप है । यहा यह सत्त्वा यथानुपपत्ति रूप हेतु शब्द को नश्वर ही सिद्ध करता है न कि ध्रौव्य ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नही है । शब्द भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य हैं ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

शका—विद्युत दीपक आदि स भी व्यभिचार आता है अर्थात बिजली दीपक आदि का अस्तित्व होते हुये भी द्र य रूप से ध्रौव्यपने का अभाव है । इसलिए आपका अस्तितव हेतु व्यभिचारी है क्योंकि बिजली दीपक आदि सवथा नष्ट होते हुए देखे जाते है ।

समाधान—यह कहना भी ठाक नही है । बिजली दीपक आदि भी पुदगल द्रव्य होने से द्रव्यरूप से ध्रौव्य हा है क्योकि क्षणिक एकात मे सवथा ही अथक्रिया का विरोध है ऐसा कहा गया है । इसलिये जसे मणि स मलादि की व्यावृत्ति रूप हानि ही परिपूरण शुद्धि कहलाती है वसे ही जीव के कर्मों की निवत्ति रूप हानि भी परिपूण शुद्धि कहलाती है ।

---

१ यथा व्यावत्तिरिति शेष । २ ध्रौ यम तरेण । ३ शब्दो नश्वर सत्त्वादित्यपि वक्तु शक्यत्वात् । किं तात्पयम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतु शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति न तु ध्रौव्यमित्यथ । ४ विद्युदादीना सत्त्वेपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यथ । ५ पुद्गलद्रव्यत्वत ।

---

(1) पर्याय अर्थो यस्य स पर्यायार्थस्तस्य भावस्तत्ता । (2) नश्वरानश्वरात्मकत्वाभावे । (3) शब्दबुद्धिकर्मणा त्रिक्षणावस्थायित्वं ।

निवृत्तिर्हानिः । तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धि सम्भाव्यते सकलकर्मपर्यायविनाशेपि [1]कर्मद्रव्यस्याविनाशात्तस्याकर्म[2]पर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मक[3]पर्यायाविष्टतया[2] परिणमनवत । तदेतेन[3] [4]तुच्छ प्रध्वसाभाव [5]सर्वत्र प्रत्याख्यात कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीते । समर्थयिष्यते चैतत 'कार्योत्पाद क्षयो हेतोर्नियमात्' [4]इत्यत्र । + तेन मणे कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम ।

सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्मद्रव्य का विनाश नही होता है वह कर्मद्रव्य अकर्मपर्याय रूप परिणमन कर जाता है। अर्थात पुदगल द्रव्य वगणाय ही आत्मा के रागादिभाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती है और आत्मा को परतत्र बना देती हैं। कदाचित उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोडकर पुन पुदगल रूप ही हो जाती हैं इस प्रकार सिद्धात वचन है। जसे कि मणि स मलद्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्यपुदगल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है।

इसी कथन से जो तुच्छाभाव रूप प्रध्वसाभाव को स्वीकार करते है उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि काय का उत्पाद ही पूर्वाकार के क्षय रूप से प्रतीति म आता है।

इसी का आगे कार्योत्पाद क्षया हेतो इत्यादि कारिका मे समथन करगे।

भावाथ—शकाकार का कहना है कि यदि आप जन ज्ञानावरण आदि कर्मद्रव्य का प्रध्वस होना रूप अभाव स्वीकार करोगे तब तो सिद्धात से विरोध आ जावेगा क्याकि पौदगलिक कर्म द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओ का सवथा अभाव हो नही सकता है। जन सिद्धात म सभी द्रव्यो को नित्य माना गया है अत कर्मद्रव्य का नाश असभव है। यदि कर्मपर्याय का नाश माना ता भी एक पर्याय का नाश दूसरी पर्याय के उत्पाद रूप से होता है अत एक कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसर कर्मरूप परिणत हो जावेगी। पुन किसी जीव में सम्पूणतया कर्मों का अभाव सिद्ध करना अशक्य ही है। अथवा कर्म पर्याय का सम्पूर्णतया नाश मान भी लोगे तो भी कर्मद्रव्य का अभाव दुर्निवार हा जावेगा क्योंकि कोई भी पर्याय अपने द्रव्य को छोडकर रह नही सकती है अत सवथा पर्याय के अभाव मे द्रव्य का अभाव भी मानना पडेगा और द्रव्य का अभाव मान लेने पर तो आप निरन्वय विनाशवादी बौद्ध ही बन जावग।

१ कर्मद्रव्यस्य। २ पुदगलद्रव्यस्यात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्व परिणामस्तदकरणे कर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्त । ३ यथा घटध्वंसादि । ४ कारिकायाम् ।

(1) पुद्गलद्रव्यमात्मनि पारतन्त्र्य करोति तदा कर्मत्वपरिणाम पारतन्त्र्य न करोति तदाऽकर्मत्वपरिणाम पुद्गलद्रव्यमेव। (2) आक्रांतत्वेन। (3) मणमलादिरित्यादिमलग्रथेन। (4) सवथा निरवशेष। (5) सदादौ।

+ ब्यावर अष्टसहस्री प्रति मे तेन वकल्यम् पंक्ति अष्टशती है अन्यत्र अ ब स मु अष्टशती एवं दिल्ली अष्ट स प्र मे मु अष्ट स मे नही है।

[बुद्धेर्विनाशः सर्वथा भवति न वा ?]

कमरणोपि वकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो 'नातिप्रसज्यते* । द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यव्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात् । [1]ननु च यथा कमद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थान तथा त्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिरूपपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध[1] एवेत्यतिप्रसज्यते इति [2]चेन्न वैषम्यात्[4] । कमद्रव्य हि पुदगलद्रव्यम् । तस्यात्मनि पारतन्त्र्य कुवत

इस पर जनाचार्यों ने कहा कि जो पौदगलिक कार्माण वर्गणाय है वे जीव के रागादि भावो का निमित्त पाकर कमरूप पर्याय से परिणत हो जाती है उन कमवगणाओ का जीव से पृथक होना ही अभाव है जीव से पृथक होकर ये कमवगणाय कर्मपर्याय को छोडकर अकम - पुदगल रूप परिणत हो जाती हैं अत एक पर्याय का विनाश होने पर भी अकम रूप दूसरी पर्याय का उत्पाद हो जाने से पुदगल द्रव्य के अभाव का प्रसग नही आता है । जसे पुद्गल की पर्याय रूप प्रकाश का विनाश होकर अधकार रूप पुदगल की पर्याय प्रकट हो जाती है । श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है कि दीपस्तम पुदगलभावतोऽस्ति इसलिये द्रव्य कम रूप पुदगल द्रव्य का सवथा विनाश न होकर कम पर्याय का ही विनाश होना सिद्ध हो गया ।

[बुद्धि का सवथा विनाश होता है या नही ?]

मणि का कवल अपने स्वरूप से रहना ही मलादिक से विकल होना है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की विकलता ही उसकी कवल्य स्वस्वरूप की प्राप्ति है इसलिए अतिप्रसग दोष नहीं आता है । * अर्थात् जसे कर्म से विकल होने पर भी आत्मा की कवल्य अवस्था है उसी प्रकार बुद्धि की विकलता होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था बनी रहे यह अतिप्रसग दोष नही होता है ।

द्रव्य रूप से आत्मा मे बुद्धि का विनाश नही होता है अत संपूर्ण रूप से नाश का प्रसंग नही आता है परन्तु पर्याय रूप से नाश होने पर भी सिद्धात से विरोध नही आता है । अर्थात द्रव्य रूप से ज्ञान सामान्य आत्मा का गुण है और वह द्रव्य मे अन्वय रूप से सतत मौजूद रहता है अत द्रव्य रूप से ज्ञान का नाश मानने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा परन्तु ऐसा नही होता और पर्याय रूप से अर्थात मति श्रुत अवधि मन पयय रूप क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से विनाश मानने पर भी सिद्धात मे विरोध नही आता है क्योकि अहत अवस्था मे क्षयोपशमिक ज्ञानो का अभाव स्वीकार किया है ।

१ निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कमद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण । यथा कमवैकल्येप्यात्मकवल्य तथा बुद्धिवैकल्येप्यात्मकैवल्यमस्त्विति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भाव । २ सौगत । ३ जैन । ४ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ।

(1) ज्ञानादिसहितत्वेनात्मनोऽवस्थान जैनमते ।

कर्मत्वपरिणामस्तद[1]कुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं [1]रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्[2]पुद्गलद्रव्यस्य[3] [4]कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते[5] । [6]बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । [7]तस्य बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम् "उपयोगो[8] लक्षणम्" इति वचनात् । न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते[9] [2]तस्य [3]तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेऽप्यविरुद्धं स्यात्[4] ।

[अज्ञानादिदोषाणामभावो कथं भविष्यति ?]

[5]नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निःशेषा सिध्यदावरणवन्न[10] पुनर्द्रव्यार्थतया

बौद्ध—जैसे कर्मद्रव्य का कर्म पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अकर्मात्मक पर्याय रूप से अवस्थान पाया जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी बुद्धिपर्याय का विनाश हो जाने पर अबुद्धि रूप पर्याय से उसका अवस्थान होने से सिद्धांत में विरोध आ ही जावेगा।

जैन—दृष्टांत और दार्ष्टांत में विषमता होने से आपका यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह आत्मा को परतंत्र करते हुए कर्म रूप से परिणमन करता है तथा आत्मा को परतंत्र न करते हुए अकर्मत्व रूप से परिणमित होकर अवस्थित रहता है। किसी भी द्रव्य का अत्यंत विनाश नहीं होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य वर्ण रस गंध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाला है। कर्म रूप लक्षण का उसमें अभाव होने से विरोध नहीं आता है पर द्रव्य जीवद्रव्य के निमित्त से ही वह पुद्गल विभाव रूप परिणमन करके कर्म बनता है पुनः कर्मपर्याय का अभाव होने पर अपने स्वभाव में आ जाता है किंतु बुद्धि द्रव्य तो जीव है। बुद्धि उस जीव की पर्याय है और वह जीव का सामान्य लक्षण है।

"उपयोगो लक्षणम्" यह सूत्रकार का वचन है और लक्षण के अभाव में लक्ष्य भी नहीं रह सकता है। अन्यथा लक्ष्यभूत जीव उपयोग लक्षण से रहित लक्षण शून्य हो जावेगा अतः जीव में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय हो जाने पर भी अबुद्धि का पर्यायात्मक रूप से अवस्थान होवे और इसमें विरोध न आवे ऐसा नहीं हो सकता है। अर्थात् यह बात विरुद्ध ही है।

[अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ?]

मीमांसक—इस प्रकार से सत् पदार्थ का अत्यंत रूप से विनाश न होने से अज्ञानादि दोष की

१ आदिपदेन रसगन्धवर्णाः । २ लक्षणस्य । ३ नतु—लक्ष्यम् । ४ अपि तु न स्यात् । ५ सतो यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण ।

(1) आत्मनि परतन्त्रत्व इति दि॰ प्र॰ नौ । (2) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । (3) पुद्गलद्रव्यं हि द्वेधा अणुस्कन्धभेदात् तत्र प्रदेशमात्रस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्दायन्ते इति अणव इति निरूपणात् अणवः स्पर्शादिमन्तः स्कन्धास्तु शब्दादिमन्तः स्पर्शादिमन्तश्चेति अत्र पुद्गलद्रव्यमिति अणव एव गृह्यन्ते । (4) अत्ता कुणदि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं । गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णवगाहमवगाढ ॥ (5) सिद्धान्ते इति दि॰ प्र॰ (6) तत् । (7) जीवस्य इति दि॰ प्र॰ । (8) ज्ञानदर्शने । (9) अन्यथा । (10) ज्ञान ।

बुद्धिवत् । ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपर[1] सोऽप्यनत्त्वज्ञ एव यत प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको [2]मल परिक्षयी [3]स्वनिर्ह्रासनिमित्त[4] [5]विवर्द्ध नवशात्[6] ।

[आत्मन परिणामो कतिविध ?]

द्विविधो ह्यात्मन परिणाम स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात । [1]मल पुनरज्ञानादिरागन्तुक [6]कर्मोदयनिमित्तकत्वात । स चात्मन प्रतिपक्ष एव । तत परिक्षयी । तथा हि । यो यत्रागन्तुक स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी । यथा [3]जात्यहेम्नि ताम्राग्निमिश्रणकृत कालिकादि । आगन्तुकश्चात्म

पर्याय रूप से ही नि शेष हानि होगी जैसे कि आवरण की होती है न पुन द्रव्य रूप से वृद्धि के समान । इससे आत्मा म दोष सामा य का अवस्थान रहने से निर्दोषपने की सिद्धि नही हो सकेगी ।

जैन—आपने तत्त्व को नही समझा है । आत्मा के आग तुकमल अज्ञानादि दोष प्रतिपक्षी ही हैं और वे परिक्षयी हैं क्योकि उनके विनाश के निमित्त भूत सम्यग्ज्ञानादि की वृद्धि पायी जाती है ।*

[आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ?]

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के है स्वाभाविक और आगतुक । उसमे अनतज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणाम हैं क्योकि वे आत्मा के स्वरूप हैं । अज्ञानादि मल आगन्तुक परिणाम है क्योकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निमित से होते हैं । वे आगतुक परिणाम आत्मा के प्रतिपक्षी ही है इसीलिए परिक्षयी—क्षय होने वाले है । तथाहि—

जो जहा पर आगतुक है वह वहाँ पर अपने विनाश के निमित की वृद्धि के कारण मिल जाने पर क्षय होने वाला है जैसे उत्कृष्ट स्वर्ण मे ताबे आदि के मिश्रण से होने वाली कालिमा आदि । आत्मा मे अज्ञानादि मल आगतुक हैं इसीलिए वे परिक्षयी हैं यह स्वभाव हेतु है । हमारा यह स्वनिर्ह्रासनिमित्त विवर्धनवशात हेतु असिद्ध भी नही है क्योकि जो जहा पर कादाचित्क है वह वहा पर आगतुक है जिस प्रकार स्फटिकमणि म लाल आदि आकार । तथा आत्मा मे दोष कादाचित्क है । और हमारा यह कादाचित्क हेतु असिद्ध भी नही है क्योकि सम्यग्ज्ञानादि गुणो के प्रकट होने पर आत्मा मे दोषो का उदभव नही देखा जाता है ।

१ मीमासक । २ अज्ञानादिर्दोष । ३ पृथक्करणमेव क्षय । ४ निर्ह्रासो विनाश । ५ मलनिर्ह्रासस्य निमित्त सम्यग्दर्शनादिगुणास्तस्य विवर्द्ध नवश द्धतो । ६ कर्म ज्ञानावरणादि । ७ अज्ञानादिमल आत्मनि स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्ध नवशात्परिक्षयी आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम् । ८ स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्ध नवशात्परिक्षयी प्रसिद्ध ।

(1) ता । (2) आत्मनि अज्ञानादिमल पक्ष । आगन्तुको भवतीति साध्यो धर्म । कर्मोदयनिमित्तकत्वान्यथानुपपत्तेरिति प्र । (3) षोडशवर्ण ।

न्यज्ञानादिमल । इति स्वभावहेतु । न तावदयमसिद्ध ।कथम ? यो[1] यत्र कादाचित्क स तत्रागन्तुक । यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकार । कादाचित्कश्चात्मनि[1] दोष इति । न चेद कादाचित्कत्वमसिद्ध सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्त ।

[मीमासको जीवस्य स्वभाव दोष मन्यत तस्य निराकरण]

[2]तत [3]प्राक्तत्सद्भावादगुणाविभू तिदशायामपि[4] तिरोहितदोषस्य सदभावान्न कादाचित्कत्व सातत्यसिद्धरिति चेन्न [5]गुणस्यापयेव[6] सातत्यप्रसङ्गात् । तथा च हिरण्य

भावार्थ—शकाकार मीमासक का कहना है कि जसे आवरण रूप द्रव्य कम पर्याय रूप से ही नष्ट होते हैं । द्रव्यरूप से नही यह बात आपने सिद्ध कर दो है । उसी प्रकार से अज्ञान आदि दोष भी पर्याय रूप से ही नष्ट होगे न कि द्रव्य रूप से और तब सामान्यतया दोषो का द्रव्य रूप से अस्तित्व बना ही रहेगा पुन कोई भी आत्मा निर्दोष सवज्ञ कसे हो सकेगी ?

इस पर जैनाचाय समाधान करते हैं कि जन सिद्धान्त मे प्रत्येक आत्मा के परिणाम दो प्रकार के माने गये हैं एक स्वाभाविक और दूसरा आगतुक अथवा वभाविक । अनन्त ज्ञान दशन आदि तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं क्योकि ये आत्मा के ही स्वरूप हैं जसे कि अग्नि का स्वरूप उष्ण एव जल का स्वभाव शीतलता है और अज्ञान आदि जो दोष है वे आंगतुक है क्योकि य कम के उदय से ही होते हैं ये आत्मा के स्वभाव को ही विकृत करके रहते है अतएव इन्हे विभाव भाव भी कहते है । य कम के उदय से ही होते हैं अत इन्हे औपाधिक भाव भी कहते हैं । जब कम को नाश करने की सामग्री मिल जाती है तब ये विभावभाव स्वभाव रूप परिणत हो जाते है जसे मिथ्यात्व के अभाव मे जीव मे सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है ।

ज्ञानावरण क अभाव मे केवलज्ञान अतराय के अभाव मे अनतवीय आदि गुण प्रकट हो जाते हैं । इसलिए ये अज्ञानादि दोष पथक कोई द्रव्य नही हैं किन्तु जीव के ही विकारी परिणाम हैं विकार के कारणभूत कर्मोदय के पथक हो जाने से ये अपने स्वभाव मे ही रह जाते है साता असाता वेदनोय का अभाव होने से स्वाभाविक स्वात्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रह जाता है और इन्द्रिय जन्य वभाविक सुख दुख का काम समाप्त हो जाता है । इसी का नाम है दोषा का अभाव ।

[मीमासक दोषो को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण ।]

मीमासक—गुणो के प्रकट होने के पहले दोषा का सदभाव होने से गुणो की आविर्भूत दशा में भी

१ आत्मन्यज्ञानादिमल आगन्तुक कादाचित्कत्वादित्यध्याहायम् । २ दोषस्वभावत्व जीवानामिन्न मीमासक आह । ३ गुणाविर्भू ते प्राक । ४ स दोष । ५ ब्रह्मादिज्ञानस्य । ६ दोषप्रकारण । ७ गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदो षसद्भावेङ्गीक्रियमाण ।

(1) आत्मनि दोष पक्ष आगतुको भवतीति साध्यो धम कादाचित्कत्वात् तस्मादागतुक इति निगम दि, प्र, ।
(2) पर आह इद कादाचित्कत्वमसिद्ध जैन आह एव न दि प्र ।

ब्रह्मादिर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्ग । ज्ञानाज्ञानयो परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्र कदा प्रसङ्गो मा भूत् । पुनर्दोषस्याविर्भाव-दर्शनादगुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धि सर्वथा विशेषाभावात । तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवदगुणस्वभाव त्वसिद्धि कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यता 'तस्य गुण-स्वभावत्वसिद्ध । कुत [2]सेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धि[3] कुत ? ससारित्वान्यथानुपपत्त

तिरोहित (ढके हुए) दोषो का सदभाव पाया जाता है अत दोष कादाचित्क नही हैं किन्तु उनकी नित्यता ही सिद्ध होती है । अर्थात मीमासक कहता है कि दोष जीव का स्वभाव है क्योकि वह आत्मा मे हमेशा ही पाया जाता है गुण तो दोष के अभाव मे यानी तिरोहित होने पर होते हैं अत वे पर निमित्तक हैं ।

जैन—यह ठीक नही है क्योकि दोष के समान गुणो को भी नित्यपने का प्रसग आवेगा । अर्थात् गुणो के सदभाव क समय भी तिरोहित रूप से दोषो का सदभाव मानना पडगा तब गुणो के सदभाव के काल मे भी ढके हुए दोषो का सदभाव स्वीकार करने पर ब्रह्मा आदि को वेदार्थ के ज्ञान के समय भी वेद के अर्थ के अज्ञान का प्रसग आ जावेगा ।

मीमांसक ज्ञान और अज्ञान का परस्पर मे विरोध होने से एक जीव मे एक समय मे दोनो नही रह सकते है ।

जैन—उसी प्रकार सकल गुण और दोष का भी एक जीव मे एक समयमे प्रसग नही होना चाहिए ।

मीमांसक—पुन दोषा का आविर्भाव देखा जाता है अत गुण के काल मे भी दोषो की सत्ता मात्र सिद्ध होती है ।

जैन—तो गुण का भी आविर्भाव दखे जाने से दोष के काल मे भी गुणो की सत्ता मात्र सिद्धि क्यो न हो जावे क्योकि दोनो मे कोई अन्तर नही है फिर आत्मा के दोष स्वभाव की सिद्धि के समान गुण स्वभावपने की सिद्धि का निवारण भी कसे हो सकता है ?

मीमांसक—विराध होने स अर्थात दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं ये दोनो स्वभाव जीव के कसे हो सकगे ? परस्पर विरोधी दो स्वभावो का एक जगह एक काल म रहने मे विरोध है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो दोष स्वभाव का ही निवारण कीजिये और जीव का गुण स्वभाव है ऐसा ही स्वीकार कीजिये

मीमांसक—आत्मा का स्वभाव गुण है यह बात हम किस प्रमाण से मान ?

जैन—आत्मा का स्वभाव दोष है यह बात भी हम किस प्रमाण से मानें ?

१ आत्मन । २ आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धि । ३ आत्मन । ४ आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसक ।

रिति चेत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा [1]प्रतिवादिनोऽसिद्धं प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः ।

[क्वचिदात्मनि संसारस्याभावो भवतीति जैनाचार्याः साधयंति]

[2]कुत इति चेदिमे [3]प्रवदाम । क्वचिदात्मनि संसारोऽत्यन्तं निवर्तते [4]तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्य न्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं [5]क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत् तद्विरो धिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति । यथा चक्षुषि तिमिरादि[2] । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं कस्यचिच्च

मीमांसक—संसारीपने की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थात् आत्मा के दोषस्वभाव के बिना संसारीपना बन नहीं सकता है इसलिए दोष आत्मा का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

जैन—यदि संसारीपना सभी जीवों के अनादि और अनन्त होवे तब तो प्रतिवादी जैन के लिए यह हेतु असिद्ध है क्योंकि प्रमाण से हमारे यहाँ मुक्ति की सिद्धि होती है । अर्थात् सभी के संसारावस्था सदा नहीं रहती किन्तु अनेक जीव संसार का अभाव कर शुद्ध सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं ऐसा हमारा निश्चित मत है ।

[किसी जीव के संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं]

मीमांसक—किस प्रमाण से मुक्ति की सिद्धि है ?

जैन—हम कहते हैं किसी आत्मा में संसार का अत्यन्त विनाश देखा जाता है क्योंकि संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त रूप से विनाश की अन्यथानुपपत्ति है । तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार के कारण हैं अतः वे कहीं पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त होते हैं । यह बात वादी प्रतिवादी दोनों को ही मान्य है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि का परम प्रकर्ष देखा जाता है ।

जहाँ पर जिसके विरोधी के परम प्रकर्ष का सद्भाव है वहाँ पर वह अत्यन्त विनाश रूप देखा जाता है जैसे चक्षु में तिमिरआदि रोग । हमारा यह उदाहरण साध्य साधन धर्म से विकल भी नहीं है क्योंकि किसी के नेत्र में तिमिर (रतौंधी मोतिया बिंदु) आदि रोगों का अत्यन्त अभाव-विनाश प्रसिद्ध है और उन रोगों के विरोधी विशिष्ट अंजन औषधि आदि के परम प्रकर्ष का सद्भाव भी सिद्ध ही है । इसमें किसी को भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है ।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी हैं यह निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन आदि के परम प्रकर्षता को प्राप्त होने पर उन मिथ्यादर्शन आदिकों की अपकर्षता

१ जैन । २ मुक्तिसिद्धिः कुतः । ३ वयं जैनाः । ४ तत्कारणं—मिथ्यादर्शनादि । ५ मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति अविनाभावित्वेऽपि सिद्धम् ।

(1) जैनस्य । (2) तिमिरादिर्नेव इति पा दि प्र ।

क्वचि　तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धस्त[1]द्विरोधिविधि[1]दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भाव-सिद्धेश्च निर्विवादकत्वात् । कथ मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति चेत् [2]तत्प्रकर्षे [3]तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाण यदपकर्षति तत तद्विरोधि सिद्धम् । यथोष्णस्पर्श प्रकृष्यमाण शीतस्पर्शमपकर्षन्नद्विरोधी । मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाण क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत तद्विरोधि । कथ पुन सम्यग्दर्शनादे क्वचित्परमप्रकर्ष-सद्भाव सिद्ध इति चेत्प्रकृष्यमाणत्वात्[4] । यद्धि प्रकृष्यमाण [2]तत्क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावभाग्दृष्टम् । यथा नभसि परिमाणम् । प्रकृष्यमाण च सम्यग्दर्शनादि । तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक । परत्वापरत्वाभ्या[3] [5]व्यभिचार इति चेन्न तयोरपि [6]सपर्यन्तजगद्वादिना परमप्रकर्षसद्भावभाक्त्वसिद्ध । न चापर्यन्त जगदिति वक्तु शक्य,

---

(हानि) देखी जाती है । जो वद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसकी हानि का करता है वह उसका विरोधी है यह बात प्रसिद्ध है जैसे कि बढता हुआ उष्णस्पर्श शीतस्पर्श की हानि को करता है अत वह उसका विरोधी प्रसिद्ध है । तथव जीव मे वद्धि को प्राप्त होते हुए सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि की हानि करते ही हैं । इसीलिये वे उनके विरोधी माने गये है ।

प्रश्न—किसी जीव मे सम्यग्दर्शनादि के परम प्रकर्ष का सद्भाव पुन किस प्रकार से सिद्ध है ?

उत्तर—तरतम भावो से वद्धिगत होते हुए कही न कही परम प्रकर्षपना तो हो ही जावेगा । 'जो वृद्धिगत होता हुआ पाया जाता है वह कही न कही परम प्रकर्ष को प्राप्त होता ही है जसे आकाश मे परिमाण । एव सम्यग्दर्शन आदि वद्धिगत रूप है इसीलिये वे परम प्रकर्ष को प्राप्त होते ही हैं ।

प्रश्न—परत्व अपरत्व से हेतु मे व्यभिचार आता है अर्थात् प्रकृष्यमाण होते हुए भी परत्व (महत्पना) अपरत्व (लघुपना) परम प्रकर्ष को नही प्राप्त कर सकते है ।

उत्तर—आपका यह व्यभिचार दोष भी देना युक्त नही है। परिमाण कर सहित जगत् को मानने वाले अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा से पुरुषाकार स्वरूप असख्यात प्रदेशी जगत को मानने वालो के यहा लघु-महत्पने की भी परमप्रकर्षता स्वीकार की गई है और यह जगत् (लोकाकाश) परिमाण सहित नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते क्योकि रचना विशेष पायी जाती है पवत आदि के समान । जा पुन प्रमाण सहित नही है वह विशिष्ट रचनाओ से युक्त भी सिद्ध नही है जैसे आकाश (अलोकाकाश—अनतआकाश) और यह जगत् विशिष्ट सन्निवेश कर सहित है । इसलिए सब तरफ से परिमाण वाला है । इस प्रकार से मैने (विद्यानद स्वामी ने) श्लोकवार्तिक आदि ग्रथो मे विस्तार से वर्णन किया है ।

---

१ ततः । २ तस्य सम्यग्दर्शनादे । ३ तस्य मिथ्यादर्शनस्य । ४ तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात् । ५ प्रकृष्यमाणेऽपि परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचार । ६ पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत् ।

---

(1) ता । (2) तत्क्वचित् इति पा. दि. प्र । (3) विप्लुत ।

विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्निवेशं सिद्धं यथा व्योम । विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र[1] ।

[अभव्यजीवेषु मिथ्यादर्शनादेः परमप्रकर्षो लभ्यते]

संसारेणानैकान्त[2] इति चेन्न तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः । [1]एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचारः [3]प्रत्याख्यातः [2]तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् । ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धं सर्वथा [4]विपक्षादव्यावृत्तेः । इति क्वचिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि=सम्यग्दर्शनादि=परमप्रकर्षसद्भावं [5]साधयति । स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना [6]स्वकार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति ।

[मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है]

प्रश्न—संसार को परम प्रकर्ष के सद्भाव का अभाव होने पर प्रकृष्यमाण रूप हेतु उसमें देखा जाता है अतः संसार के साथ आपका हेतु अनैकान्तिक है।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, उस संसार का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष का सद्भाव सिद्ध होने से प्रकृष्यमाणत्व हेतु की प्रतीति देखी जाती है। इसी प्रकार जो कहते हैं कि मिथ्यादर्शन आदि के परमप्रकर्ष का अभाव होने पर भी प्रकृष्यमाण हेतु होने से व्यभिचार आता है।

इस उपर्युक्त कथन से उनके भी इस व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिकों का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष पाया ही जाता है इसलिये परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध करने में प्रकृष्यमाणत्व हेतु अनैकान्तिक नहीं है।

हमारा यह प्रकृष्यमाण हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि परमप्रकर्ष रहित विपक्ष से उसकी सर्वथा व्यावृत्ति है। इस प्रकार यह प्रकृष्यमाण हेतु किसी जीव में मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणों के परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध ही करता है और वह रत्नत्रय का परमप्रकर्ष सिद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त विनाश को ही प्रकट करता है तथा मिथ्यादर्शन का अत्यन्त विनाश प्रकट होता हुआ अपने कार्यरूप संसार का अत्यन्त विनाश निश्चित कराता है एवं जो यह संसार की अत्यन्त निवृत्ति है वही मुक्ति है।

---

१ श्लोकवार्तिकादौ । २ संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात् । ३ मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः । ४ परमप्रकर्षरहितात् । ५ प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । ६ स्वकार्यं संसारस्तस्य ।

---

(1) संसारस्य प्रकृष्यमाणत्वेन दि० प्र० । (2) तेषामभव्येषु इति पा० । कालत्वेनानन्तः ।

[ज्ञानादिगुण आत्मन स्वभावोऽस्ति किंतु रागादिदोषो नास्ति]

¹तदन्यथानुपपत्तरात्मनो ज्ञानान्दिगुणस्वभावत्वसिद्ध र्न दोषस्वभावत्वसिद्धि ²विरोधात । प्रसिद्धाया क्वचिदात्मनि नि श्र यसभाजि ³गुणस्वभावतायामभव्यादावपि ⁴तन्निर्णय, जीवत्वा यथा⁵नुपपत्त ।

[ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा क स्वभाव नही है]

मुक्ति की अ यथानुपपत्ति होने स आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाती है किन्तु दोष स्वभाव की सिद्धि नही होती है क्योकि दोनो परस्पर विरोधी हैं ।

भावार्थ— मीमासक का कहना है कि आत्मा का स्वभाव दोष है न कि गुण क्याकि गुणो के प्रकट हो जान पर दोष ढके हुये रहते हैं उनका अस्तित्व समाप्त नही होता है । यही कारण है कि मामासक किसी भी जीव को शुद्ध कममलरहित निर्दोष और सवज्ञ भगवान नही मानता है वह अतीद्रिय पदार्थों के देखने जानने का काम वेदो से ही चला लता है उसके सिद्धात मे आत्मा हमेशा ससारी शरीरी कम कलक से मलिन दूषित ही रहती है कभी भी किसा काल मे भी आत्मा शुद्ध निर्दोष नही होती है । इससे सवथा विरुद्ध साख्य जीवो को ससार अवस्था मे भी कमलेप से रहित निरजन निष्क्रिय ही मानता है तथा वह आत्मा को कभी अशुद्ध मानता ही नही है किन्तु जन इन दोनो से विपरीत आत्मा को कथचित् अशुद्ध एव कथचित शुद्ध मानते हैं ।

जनाचार्यों का कहना है कि यह आत्मा अनादि काल से स्वण-पाषाण के समान कममल से सहित है फिर भी ससार क कारण मिथ्यादशन आदि माने गय हैं उन ससार के कारणो का विनाश सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र आदि के द्वारा किया जा सकता है और ससार के कारणो का पूणतया विनाश हो जाने पर जीव पूणत शुद्ध कमकलक स निर्लेप निरजन सिद्ध हो जाता है । तत्त्वाथसूत्र महाशास्त्र मे भी कहा है कि बधहेत्वभावनिजराभ्या कृत्स्नकमविप्रमोक्षो मोक्ष । बध के हेतु मिथ्यादशन अविरति प्रमाद कषाय और योग हैं इनका अभाव हो जाना एव पूव संचित कर्मों की निजरा के होने से सपूण कर्मों का अभाव होकर इस जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाती है अर्थात यह जीव कमसेरहित मुक्त हो जाता है ।

इसी बात को अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिये श्री विद्यानद स्वामी ने प्रथम तो स्वनिर्ह्रास निमित्तविवधनवशात हेतु दिया है जिसका मतलब है कि अज्ञानादि दोषो के नाश करने वाले सम्यग्दशन आदि हैं । उन रत्नत्रयगुणो की वृद्धि के निमित्त से य दोष समाप्त हो जाते हैं । पुन इस बात को बतलाया है कि ससार के कारण मिथ्यात्व आदि हैं इनके विरोधी सम्यग्दशन आदि की चरमसीमा—पूणअवस्था पाई जाती है । यद्यपि आज रत्नत्रय की पूर्णावस्था का दिखना असभव है अत कही न कहीं किसी न किसी जीव में इनकी पूणअवस्था हो सकती है इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रकृष्यमाणत्व आदि गुण

१ ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे । २ उभयमेकत्रकदा विरुध्यते यत । ३ चेतनागुणस्वभावतायाम् । ४ ज्ञानगुणस्वभावत्वनिर्णयोऽस्ति । ५ गुणस्वभावत्वमन्तरा ।

प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धे सिद्ध दोषस्य कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं[1] साधयति । तत स एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवृद्धि न-वशादिति सुस्पष्टमाभाति दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात् ।

किसी न किसी जीव मे वृद्धिगत होते हुये दिख रहे हैं। वर्तमान मे यहा नहीं किंतु विदेहक्षेत्र में तो देखा ही जाता है। अथवा यहा भी चतुर्थकाल मे किसी न किसी जीव मे इन रत्नत्रय गुणो की पूर्ण अवस्था हो सकती है। इसी से यह निश्चित किया जाता है कि जो जिसका स्वभाव होता है वह कभी भी नष्ट नही होता है। अनादिकाल से लेकर अनतकाल तक पाया जाता है अतएव जीव के भी ज्ञानादि स्वभाव हैं यद्यपि वे अनादिकाल से कर्मोदय के कारण विभाव अज्ञानादि रूप हो रहे हैं फिर भी सम्यक्त्व आदि गुणों से इनका अभाव होकर अनतानत काल तक ये ज्ञानादि स्वभाव जीव के साथ रहते हैं। अत ये गुण जीव के स्वभाव हैं एव दोष विभाव रूप है यह बात सिद्ध हो जाती है।

किसी आत्मा मे चैतन्य आदि गुण स्वभाव रूप मुक्ति अवस्था की प्रसिद्धि हो जाने पर अभव्य जीव में भी ज्ञानादिगुण स्वभाव का निर्णय हो जाता है क्योकि जीवत्व स्वभाव की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है। अर्थात् अभव्य जीव का स्वभाव ज्ञानादि गुण हैं न कि दोषादि किन्तु कर्म के निमित्त से ज्ञानादि गुण विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं। अभव्य जीव में शक्ति रूप से गुणों के होने पर भी उनकी व्यक्ति नहीं हो सकती है और भव्यो को सम्यग्दर्शन आदि निमित्त के मिलने पर उनकी व्यक्ति हो सकती है यही अंतर भव्य और अभव्य जीवो मे है।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने अन्यथानुपपत्ति हेतु से जीव का ज्ञानादि गुण स्वभाव सिद्ध कर दिया है। एव इस बात को भी बतलाया है कि अभव्य का भी ज्ञानादि गुण ही स्वभाव है न कि दोष। अंतर इतना ही है कि अभव्य मे कर्मों का नाश करके गुणस्वभाव को प्रकट करने की शक्ति नही है। इसी विषय में श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक की ८ वी अध्याय मे सिद्ध किया है यथा—

प्रश्न यह होता है कि मतिज्ञानादि पाचों ज्ञान विद्यमान रूप हैं पुन उन पर आवरण आता है या अविद्यमान रूप हैं उन पर आवरण आता है ? इस पर उत्तर यह है कि—

'न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सति येषामावरणात् मत्याद्यावरणाना आवरणत्व भवेत् किंतु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणाना आवरणत्वं। अर्थात् कोई भी मति आदि ज्ञान प्रत्यक्षीभूत-पुंज रूप से विद्यमान नही हैं कि जिनके आवरण से मति आदि आवरणों मे आवरणत्व हो सके किंतु मति आदि आवरण के संनिकट होने से आत्मा मति श्रुत आदि पर्यायों से उत्पन्न नहीं होता है अत मति आदि आवरणो मे आवरणपना होता है।

१ आगन्तुकम् । २ आगन्तुको मल ।

(1) दोषस्य । (2) परस्वप्रकर्षं ।

[दोषावरणे पर्वत इव विशाले स्त]

इत्यावरणस्य[1] द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो[2] भूभृत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धे कर्मभूभृता भेत्ता मोक्षमार्गस्य [1]प्रणेता स्तोतव्य समवतिष्ठते विश्वतत्त्वाना ज्ञाता च ।

तथा इस बात को भी सिद्ध किया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत् रूप मत्यादि पर आवरण है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से असत् रूप मति ज्ञानादि पर आवरण है स्याद्वाद रूप से यही कथन श्रेयस्कर है। पुन प्रश्न होता है कि—

अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात् अर्थात् अभव्य जीव मे मन पयय ज्ञानावरण एव कवलज्ञानावरण सिद्ध नही हो सकता है क्योकि उनक इन दोनो ज्ञानो का अभाव है और यदि इन दोनो ज्ञानो का सदभाव मानोगे तो वह जीव अभव्य नही रहगा किंतु भव्य ही हो जावेगा।

इस पर जनाचाय कहते हैं कि ऐसा नही कहना क्योकि द्रव्यार्थादेशेन सतोमन पययकवलज्ञान योरावरण पर्यायार्थादेशेनासतो अर्थात द्रव्यार्थिकनय से अभव्य मे सत्रूप विद्यमान मन पयय कवल ज्ञान पर आवरण है एव पर्यायार्थिक नय से असत् रूप दोनो ज्ञानो पर आवरण होता है इतने मात्र से ही अभव्य जीव मे मन पययज्ञान एव केवलज्ञान का प्रसग नही आता है क्योकि जिस जीव में सम्यग्दशनादि पर्याय को प्रगट कर लेने की योग्यता है वह भव्य है उससे विपरीत अभव्य है। शक्ति रूप भव्य अभव्य दोनो मे ही मन पयय एव कवलज्ञान विद्यमान हैं किंतु उनकी व्यक्ति-प्रगटता भव्यों क ही हो सकती है अभव्यो क नही हो सकती है इसी को आगे १०० वीं कारिका मे कहा है कि—

शुद्ध्यशुद्धी पुन शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतकगोचर ॥१००॥

इस प्रकार से सभी आत्मा मे ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाने पर एव दोष स्वभाव की सिद्धि न होने पर दोषो को कादाचित्कपना सिद्ध हो जाता है और वह कदाचित्कत्व ही आगतुकपने को सिद्ध कर देता है इसीलिय वह आगतुक मल ही परिक्षयी है क्योकि वह अपने विनाश के कारणो के वृद्धिगत हो जाने से विनाश को प्राप्त होता ही है इस प्रकार से स्पष्टतया प्रतीति मे आ रहा है एवं दोष के विनाश के निमित्त सम्यग्दशन आदिको की विशेष रूप से वृद्धि सिद्ध ही है।

[दोष आवरण पर्वत के समान विशाल हैं]

इस प्रकार विशाल पर्वत के समान आवरण रूप द्रव्य कर्म का और अज्ञानादि रूप भाव कर्म का अत्यन्त विनाश सिद्ध हो जाने से कोई "कमरूपी पर्वतो का भेदन करने वाला एवं मोक्षमार्ग का प्रणयन करने वाला और अखिल तत्त्वो को जानने वाला आप्त स्तवन करने योग्य है यह बात सम्यकप्रकार से सिद्ध हो जाती है।"

---

१ ज्ञानावरणस्य । २ अज्ञानादे ।

---

(1) मोक्षमार्गस्य प्रणेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां [illegible] इति च दि प्र ।

सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश

हे भगवन् ! सभी के आगम मे परस्पर विरोध होने से सभी आप्त नही हो सकते है किंतु कोई एक ही आप्त महान हो सकते हैं वे आप ही ससारी जीवो के स्वामी है आपके ही अत्यत रूप से दोष और आवरण की हानि— क्षय होने से तथा अशेष तत्त्वो के ज्ञाता होने से आप ही महान है क्योकि दोष और आवरण की हानि होने से ही हम लोगो मे कुछ कुछ अशो मे निर्दोषता एव क्षयोपशमजन्य कुछ कुछ ज्ञान देखा जाता है। अतएव वह हानि किसी जीव विशेष मे परिपूर्ण रूप से हो सकती है जैसे स्वर्ण पाषाण दो तीन आदि ताव से १६ ताव पर्यत नि शेष रूप से शुद्ध होता है और उसमे किट्ट कालिमा का भी सर्वथा क्षय-नाश देखा जाता है।

ज्ञानावरणादि पौदगलिक कर्म को आवरण कहते हैं एव कर्मोदय मे होने वाले मोह रागादि परिणाम रूप भावकर्म को दोष कहते हैं।

बौद्ध का कहना है कि अज्ञानादि स्वपरिणाम हेतुक हैं एव सांख्य का कहना है कि अज्ञानादि प्रधान के होने के कारण पर परिणाम है किंतु सर्वथा यदि अज्ञानादि को स्वपरिणाम ही मानो तो जीवत्व आदि निजी स्वभाव के समान होने से उनका कभी भी अभाव नही हो सकेगा पुन मुक्ति का ही अभाव हो जावेगा तथा सर्वथा परनिमित्तक होने से मुक्तात्मा मे भी अज्ञानादि दोष होने लगेगे। इसलिये दोष जीव के स्वपर परिणाम निमित्तक ही है क्योकि कार्य है।

तथा च दोष और आवरण मे बीजांकुर न्याय के समान परस्पर मे कार्य कारण भाव सिद्ध है जैसे जीव के ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व आदि भाव होते है एव दोष के प्रति आवरण भी कारण है। तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्य आदि से केवली श्रुत सघ आदि के अवर्णवाद से ज्ञानावरण दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का आश्रव होता है। अतएव परस्पर मे कार्यकारण भाव सिद्ध है।

यहां दोष और आवरण की हानि से प्रध्वसाभाव को ग्रहण किया है अत्यताभाव को नही। यदि जीव में दोष आवरण का अत्यताभाव मानो तब तो ससार अवस्था मे भी जीव के मुक्ति का प्रसग आ जावेगा। आत्मा दोष और आवरण रूप नही है तथा दोष और आवरण आत्मा रूप नही है। यह इतरेतराभाव आत्मा का प्रसिद्ध ही है। तथा प्रागभाव भी यहा साध्य नही है क्योकि प्राक्-पहले अविद्यमान रूप दोष आवरणो की अपने कारणो से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

यदि कोई कहे कि जैसे जीव में क्रोध, अज्ञानत्व की अत्यंत (पूर्णतया) हानि देखी जाती है वैसे ही प्रकृष्ट बुद्धि की भी हानि-अभाव मान लो। इस पर उत्तर यही है कि किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि के शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया अतः उन पाषाण आदि में चैतन्य—बुद्धि का सर्वथा अभाव हो ही गया, क्योंकि कोई भी ऐसा पुद्गल जगत में नहीं है जिसे इस जीव ने अनेकों बार भोगकर नहीं छोड़ा है ऐसा आगम है। तथा शुद्धात्मा में मतिश्रुत आदि क्षयोपशम रूप चार ज्ञान का अभाव देखा भी जाता है उनकी अपेक्षा से बुद्धि का अभाव घटित है। अतः कर्मकलंक रहित अकलंक भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

तथा सत् स्वरूप आत्मा से कर्मों का पृथक्करण हो जाना ही अभाव है न कि अत्यन्त विनाश रूप अभाव क्योंकि तुच्छाभाव रूप अभाव को हम नहीं मानते हैं।

[कर्मरहितोऽपि आत्माऽत्यंतपरोक्षपदार्थान् कथं जानीयात् ?]

ननु निरस्तोपद्रवः[1] सन्नात्मा कथमकलंकोपि[2] विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वीत ? न हि नयनं[3] निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्षि[4] णमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतं 'स्वयोग्यस्यैवार्थस्य'[4] तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात् । निरस्त ग्रहोपरागाद्युपद्रवोपि[5] दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति[7] जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी धर्मादौ[4] तस्या[5] एव प्रामाण्यप्रसिद्धेः मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषे

[कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ?]

मीमांसक—संपूर्ण कर्मोपद्रव से रहित एवं कलंक से रहित होते हुये भी आत्मा परोक्ष पदार्थों को कैसे प्रत्यक्ष करेगी ?

किसी भी प्रकार के उपद्रव रोग रतौंधी मोतियाबिंदु पीलिया आदि दोषों से रहित भी नेत्र देश काल और स्वभाव से परोक्षवर्ती-दूरवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हुये अनुभव में नहीं आता है। स्वयं अपने योग्य देश काल आदि से सन्निहित पदार्थों को ही वह नेत्र अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाता है ऐसा देखा जाता है। जैसे ग्रह उपराग आदि उपद्रवों से रहित एवं मेघ पटल के कलंक से भी रहित होता हुआ सूर्य अपने योग्य ही वर्तमान पदार्थों को प्रकाशित करते हुये उपलब्ध हो रहा है किंतु अपने अयोग्य भूत भविष्यत् कालीन पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है। उसी प्रकार से जीव भी रागादिभाव कर्मों से रहित एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कलंक से रहित होता हुआ भी परोक्षवर्ती अशेष पदार्थों को प्रत्यक्ष करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् कोई भी जीव कर्ममल से रहित मुक्त होकर भी संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। इसीलिये मुक्तात्मा होते हुये भी वेद की प्रमाणता का विरोधी नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म-अधर्म आदि अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थों की व्यवस्था करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है।

उन धर्मादि पदार्थों को जानने में मुक्तात्मा के अप्रमाणता है क्योंकि आनंदादि स्वभाव रूप परिणाम के होने पर भी उनमें धर्मज्ञता का अभाव है। अतः आनंदादि स्वभाव का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। अर्थात् यदि कहा जावे कि मुक्तात्मा में धर्मज्ञता न होने से आनंदादि स्वभाव भी नहीं होने चाहिये किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनमें आनंदादि स्वभाव पाया जाता है।

१ मीमांसक । २ विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ३ देशकालाद्यविप्रकृष्टस्य । ४ धर्मादिस्थापने । ५ चोदनायाः ।

(1) अज्ञानादिदोषः । (2) कलंकं द्रव्यकर्मज्ञानावरणादि । (3) धूलादि । (4) संबद्धवर्तमान । (5) ग्रहण । (6) च इति अधिको पा । (7) प्रकाशितो वा ।

व्यत्वात्[1] । तदुक्त,

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । [2]सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुष: केन वार्यते ।।१।।"

कहा भी है--

श्लोकार्थ—मुक्त आत्मा मे केवल धर्म अधर्म को जानने का निषेध किया जाता है शेष संपूर्ण पदार्थों को मुक्तजीव जानते हैं इसमे हमारा विरोध नही है।

भावार्थ—मीमांसको का कहना है कि मुक्त जीव धर्म-अधर्म को नहीं जानते है। इनका ज्ञान तो वेदवाक्यों से ही होता है ये धर्म अधर्म आगम मात्र से ही गम्य है इनको जानने वाला कोई भी नहीं है। अत जगत में कोई भी सर्वज्ञ नही है।

इस प्रकरण को श्लोकवार्तिकालकार ग्रथ मे स्वय श्री विद्यानदस्वामी ने प्रथम अध्याय के सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्र का भाष्य करते हुये कहा है कि—

धर्मादन्यत्परिज्ञात विप्रकृष्टमशेषत ।
येन तस्य कथ नाम धर्मज्ञत्व निषेधन ।।२१।।

अर्थ– जिस महात्मा ने धर्म के अतिरिक्त स्वभाव से व्यवहित परमाणु आदिक देश से व्यवहित सुमेरु आदिक एव काल से व्यवहित रामचद्र आदिक अत्यन्त परोक्ष पदार्थों को परिपूर्ण रूप से जान लिया है उस पुरुष को धर्म को जानने का निषेध भला कसे किया जा सकता है ? क्योकि जो धर्म के सिवाय अन्य सपूर्ण पदार्थों को जान लेता है वह धर्म को भी अवश्य जान लेगा।

धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों तक को जानने वाला विद्वान धर्म को जानने से बच नही सकता है। अत सर्वज्ञ को धर्म के जानने का निषेध करना मीमांसको को उचित नही है।

मीमासक का जो यह कहना है कि प्रमाता-आत्मा सपूर्ण अतीद्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है केवल अतीद्रिय पुण्य, पाप रूप धर्म अधर्म को साक्षात् नही जानता है। धर्मे चोदनैव प्रमाण धर्म का ज्ञान करने मे वेदवाक्य ही प्रमाण है।

मीमासक का यह सब कथन केवल न्यायमार्ग का अतिक्रमण कर रहा है क्योकि न्याय की सामर्थ्य से उत्कृष्ट ज्ञान का स्वभाव सपूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो चुका है तो फिर ज्ञान अतींद्रिय पदार्थों में से केवल धर्म को ही क्यो छोड देगा ? जल और स्थल सभी स्थानो मे मेघ बरसते हैं निर्धन-धनपति

---

१ नन्वानन्त्यादिस्वभावोऽपि नास्तीत्यत्राह।—आनन्त्यादिस्वभावस्याप्रतिषेधादिति। २ मुक्तात्मनि।

---

(1) अप्रतिषेध्यत्वात् । यदि मुक्तात्मा चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी न भवति तथाप्युक्तन्यायेन प्रमाणसिद्धि आनन्त्यादिस्वभाव: कस्मात् प्रतिषिध्यते इत्याशंकायामाह भाट्ट धर्म प्रतिषिध्यादिति । धर्मज्ञत्वाभावात् प्रतिषेध्यत्वात् इति पा. टि. प्र । (2) धर्मादन्यत् ।

आदि सबके यहां सूर्य प्रकाश करता है। वस्तु का वैसा स्वभाव सिद्ध हो जाने पर पुनः पर्यनुयोग नहीं चल सकता है।

इस प्रकार से कहता हुआ मीमांसक केवल न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है किंतु फिर संपूर्ण कीड़े मकोड़े और उनकी गिनती माप तौल आदि को वह सर्वज्ञ नहीं जानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकों का सरासर अन्याय है क्योंकि सभी हेय उपादेय तत्त्वों को भली प्रकार से जान लेने पर संपूर्ण पदार्थों का पूर्णतया जान लेना न्याय से प्राप्त हो जाता है। अतएव पूर्ववत् यहां भी मीमांसक न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उसका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को विशेष रूप से जानता हुआ भी वह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात् रूप से नहीं जान पाता है क्योंकि धर्म अधर्म परमाणु आकाश आदि सभी पदार्थ समान जाति के ही हैं।

'ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य। धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते। इति न खलु धीरणानादरः। तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते इति। तत्र नो नातितरामादरः। अतः मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म को जानने का ही तो निषेध करना यहां उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थों को भले ही वह सर्वज्ञ जानता रहे ऐसे सर्वज्ञ का निवारण भला कौन विद्वान कर सकता है?

दूसरी बात यह है कि मीमांसकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीत होता है कि जब सर्वज्ञ को मानने में मीमांसक निंदा या तिरस्कार नहीं समझते हैं और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं तब तो हम जैनों को भी आप मीमांसक के प्रति समझाने में अत्यधिक आदर नहीं है क्योंकि जब आपने यह मान ही लिया कि सर्वज्ञ भगवान संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जानते हैं केवल धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं तब तो धर्म अधर्म को प्रत्यक्ष करने की बात भी आप धीरे धीरे सुलभता से मान ही लेंगे। इसीलिये आप द्रविण प्राणायाम के समान सीधे-सीधे नाक न पकड़कर हाथ को घुमाकर भी नाक पकड़ कर ही प्राणायाम करने वालों के समान जिस तिस किसी प्रकार से सर्वज्ञ को मान ही रहे हैं ऐसी बात सिद्ध हो जाती है।

इति [1]भवन्तमिव स्तोतु[2] [2]प्रज्ञातिशयचिकीर्षया[3] भगवन्त प्रत्याहु[4] ।—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था[5] प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा ॥
अनुमेयत्व[6]तोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ॥५॥

सूक्ष्मा स्वभावविप्रकर्षिणोर्था परमाण्वादय अन्तरिता कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्यैव सर्वज्ञस्य सम्यक स्थिति स्यात् । अथ मतमेतत्[5] ।

[सूक्ष्माद्यर्था येन प्रकारेण कस्यचित् प्रत्यक्षा[7] दृष्टा तेनैव साध्यतेऽन्यप्रकारेण वा ?]

सूक्ष्मादयोर्था [6]यथाभूता कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथा[8]भूता वा ? [3]यथाभूतास्चेत्सिद्धसाध्यता सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरिताना च प्रपितामहादीना दूरार्थाना च हिमवदादीना [9]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धे । अन्यथाभूतानां तु

उत्थानिका—इस प्रकार से कहते हुये के समान ही स्तवन करने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी आचाय की बुद्धि के अतिशय को प्रकट करने की इच्छा से ही श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—सूक्ष्म अंतरित और दूरवर्ती पदाथ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं जैसे अग्नि आदि इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है ।

सूक्ष्म—स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक अंतरित- काल से परोक्ष राम रावण आदिक दूरवर्ती—देश से परोक्ष हिमवन पर्वत सुमेरु आदिक ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय हैं जसे अग्नि आदिक । इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक प्रकार से सिद्धि होती है ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ जसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?]

मीमांसक—सूक्ष्मादि पदार्थ जिस प्रकार से किसी के प्रत्यक्ष देखे गये हैं उसी प्रकार से तुम उन्हे अनुमान ज्ञान का विषय सिद्ध करते हो या अन्यथा रूप से ?

यदि जिस प्रकार वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं उसी प्रकार ही वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं ऐसा मानते हो तब तो सिद्ध साध्यता ही है । सूक्ष्म जो केश का अग्रभाग जिसके हजार टुकडे कर दिये हैं और अंतरित प्रपितामह अर्थात् पिता के पिता के पिता पडदादा आदि एव दूरवर्ती हिमवान पर्वत आदि आधुनिक किसी न किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष हैं ।

यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि वे पदाथ अन्य रूप से ही अनुमान ज्ञान के विषय हैं तो "अनुमेयत्वात्" यह हेतु अप्रयोजक ही है । जैसे पृथ्वी पर्वत आदि को बुद्धिमान् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश

---

१ सूत्रकारस्य । २ अतिशयातिशयेति [illegible] । ३ समन्तभद्राचार्या. । ४ अनुमातु योग्यत्वात् । ५ मीमांसकस्य । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ आधुनिकस्य ।

---

(1) [illegible] । (2) [illegible] । (3) [illegible] ।

कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादिरप्रयोजको[1] हेतु क्ष्माधरादीना बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्[1] । धर्म्यसिद्धिश्च, [2]परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्[3] इति तदयुक्त विवादाध्यासिताना सूक्ष्माद्यर्थाना कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्ध साध्यमिति वच नात् । धर्म्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते[4] एव कस्यचित्प्र त्यक्षा इति साधयितु युक्ता न [5]पुनरन्ये[2] । न चव[3] धर्म्यसिद्धि [6]धर्म्यादीनामसर्वज्ञवा दिनोपि याज्ञिकस्य[4] सिद्धत्वात । [7]नन्वेव भूधरादीना धीमद्धेतुकतया विवादापन्नाना तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतु सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्स्वभावभेदात[8] । [5]यादृशमभि

विशिष्टत्वादि' हेतु अप्रयोजक हैं अर्थात् भुवन पवत आदि बुद्धिमत निमित्तक है क्योकि उनका सन्निवेश विशेष पाया जाता है । इस प्रकार से यहां सन्निवेश विशिष्टत्व हेतु अप्रयोजक है क्योंकि बुद्धिमन्नि मित्तकत्व के बिना भी रचना विशेष की सिद्धि होती है ।

दूसरी बात यह है कि आपका सूक्ष्मादि धर्मी भी असिद्ध है जबकि प्रसिद्धो धर्मी सूत्रानुसार 'धर्मी प्रसिद्ध ही होना चाहिये और परमाणु आदि धर्मी अप्रसिद्ध ही हैं ।

जैन – आपका यह कथन भी ठीक नही है। विवाद मे आये हुय सूक्ष्मादि पदाथ धर्मी है वे किसी न किसी क प्रत्यक्ष हैं यह साध्य है असिद्ध साध्य इस नियम क अनुसार साध्य अप्रसिद्ध ही होता है । अर्थात् इष्टमबाधितमसिद्ध साध्य इस सूत्रानुसार साध्य को असिद्ध ही होना चाहिय अन्यथा सिद्ध को साध्य की कोटि म रखकर सिद्ध करना पिष्टपेषण ही है ।

धर्माधर्मादिक ही किसी न किसी क प्रत्यक्षत्व रूप स है इस प्रकार वादी और प्रतिवादी के विवाद मे आय हुए हैं वे धर्मादिक ही किसी के प्रत्यक्ष है इस प्रकार इ हे ही सिद्ध करना युक्त है न पुनः अन्य स्वर्गादिको को । इस प्रकार से धर्मी की भी असिद्धि नही है । धम अधम आदि धर्मी असर्वज्ञवादी मीमांसक भाट्ट आदि के यहा भी सिद्ध ही हैं ।

प्रश्न—इस प्रकार से पवत आदि पक्ष जो कि बुद्धिमद हेतुक रूप साध्य से विवाद मे पड हुये हैं उन्हें बुद्धिमत् कारणत्व सिद्ध करने मे सन्निवेश विशिष्टत्वादि हेतु अप्रयोजक क्यो है ?

१ क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणका सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्राय हुतुरप्रयोजको बुद्धिमत्कारणत्वमन्तरेणापि सन्निवेशवि शिष्टत्वसिद्ध । २ स्वर्गादय । ३ विवादापन्नाना साध्यत्वप्रकारेण । ४ भाट्टस्य । ५ स्वभावभेद दर्शयति ।

(1) अकिंचित्कर । (2) अस्मदादिप्रत्यक्षाणां । (3) अनुमानकतु सर्वज्ञवादिन । (4) तत एव इति पा दि प्र । (5) अविप्रतिपन्ना । (6) धर्मादीनां इति पा । स्वर्गदेवता । (7) अत्राह ईश्वर वादी यौगादि दि प्र । अनुमेयत्वं साधनं प्रयोजकं यथा व्यवस्थापित तथव सन्निवेशविशिष्टत्व साधन दृष्टांतीकृतं प्रयोजकं भवत्विति मीमांसकस्य [illegible] निराकरोति । (8) अप्रयोजकं । मीमांसकमतमाश्रित्य स्याद्वादी ईश्वरवादिनं निराकृत्य पुन स्वमतमाश्रित्य [illegible] स्थापन करोति हे मीमांसक ! यथा ईश्वरवादिन संनिवेशविशिष्टत्वादिति हेतुः अभिनवभवनादिषु [illegible] न [illegible] साधयति न भूधरादिषु हेतोरिति स्वभावभेदो वर्तते तथाऽस्माकम् अनुमेयत्वादिति हेतो स्वभावभेदो न, दि. प्र. ।

नवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात । नैवमनुमेयत्वं[1], तस्य स्वभावभेदाभावात । [1]न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयकलक्षणलिङ्गजनितज्ञान [2]विषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ [3]धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते येन [4]किञ्चित्प्रयोज [5]कमपरम[6]प्रयोजकमिति विभागोवतरेत् ।

[परोक्षवर्तिपदार्थान् ज्ञापयितुमनुमेयत्वहेतुरसिद्ध इति मान्यतायां प्रत्युत्तर]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्ध'मित्यनुमानमुत्सारयति यावत्' कश्चित

उत्तर—उसमे स्वभाव भेद होने से वह हेतु अप्रयोजक है। देखिये ! जिस प्रकार नये महल, मकान आदिको मे रचना विशेष हेतु है उनका कर्त्ता हमे प्रत्यक्ष नहीं है तो भी हमे उनमे कृतबुद्धि उत्पन्न होती है जो कि बुद्धिमत हेतुक से व्याप्त है अर्थात ऐसा ज्ञान होता है कि इस महल की रचना विशेष होने से इसका बनाने वाला कोई बुद्धिमान ही होना चहिये और उसी प्रकार से जीण मकानआदिको मे भी ये बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये हैं ऐसी बुद्धि होती है परन्तु पर्वत आदिको मे अन्य प्रकार की रचना की प्रतीति होने से कृतबुद्धि उत्पन्न नही हो ऐसा नही है इस प्रकार स्वय आप मीमासको ने कहा है । किन्तु हमारा अनुमेयत्व हेतु ऐसा नहीं है । उसमे स्वभाव भेद पाया जाता है । साध्य के साथ अविनाभाव रूप नियम का निश्चय है लक्षण जिसमे ऐसे लिंग (साधन) से उत्पन्न हुये अनुमान ज्ञान का विषय रूप ही अनुमेयत्व हेतु है और वह अग्नि आदि साध्य तथा धर्मादिक साध्य मे भेद को प्राप्त नहीं होता है जिससे कि वह हेतु अग्नि आदि कतिपय साध्य मे तो प्रयोजक हो और धर्मादिक कतिपय साध्य मे अप्रयोजक हो इस प्रकार विभाग बन सके । अर्थात् नहीं बन सकता है ।

[परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खण्डन]

स्वभाव से काल से देश से परोक्षवर्ती पदार्थ के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस प्रकार कहते हुये बौद्ध एवं मीमांसक अपने अनुमान का खंडन ही कर लेते हैं।

जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं इत्यादि अनुमान में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति की असिद्धि होने से प्रकृत का उपसंहार भी नहीं बन सकता है अर्थात् स्वभाव काल और देश से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतुको असिद्ध स्वीकार करने पर "जितने भी पदार्थ हैं वे क्षणिक हैं' इत्यादि में व्याप्ति

१ स्वभावभेदाभावं दर्शयति । २ ज्ञानम्=अनुमानज्ञानम् । ३ पुण्यपापादौ । ४ अग्न्यादीनामनुमेयत्वम् । ५ धर्मादीनामनुमेयत्वम् । ६ इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयति (निवारयति) तयो ।

(1) सन्निवेशविशिष्टत्वप्रकारेण । स्वभावातिरिक्तपुरुषेषु प्रयुक्तमनुमेयत्वं साधनं । अप्रयोजकं । (2) प्रयोजकं परम इति न्या. वि. प्र. । (3) कर्त्रीतिनर्थ । अस्पष्ट ।

[illegible] न सर्वं क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहा[illegible] | [illegible] | 'सत्वादेरनित्यत्वादिना' व्याप्तिमिच्छतां' [illegible] [illegible] स्यान्मत केचिदर्था प्रत्यक्षा यथा घटादय, केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित 'प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गा' केचिदागममात्रगम्या सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादय तेषा सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् । तदुक्त —

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात । [illegible] 'लभ्यते'' पुण्यपापयो इति ।

'ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नाममात्रमुत्सारयति' "तस्यानुमेयेर्थे

घटित न होने पर "पदार्थ हैं इसलिये क्षणिक हैं इस प्रकार से बौद्ध जन अपने प्रकृत हेतु का उपसंहार भी नहीं कर सकेंगे ।

पुन हम लोगों के प्रत्यक्षभूत पदार्थों में अनुमान व्यर्थ ही ठहरेगा । इसलिये सत्त्वादि हेतुओं को "अनित्यत्व' आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हुये बौद्धों के यहां अनुमेयत्व हेतु संपूर्ण रूप से सिद्ध हो ही जाता है इसमें हमे कुछ भी विरोध नहीं दिखता है ।[५]

सौगत मीमांसक आदि—

कोई पदाथ प्रत्यक्ष है जसे घट आदि । कोई पदार्थ अनुमेय है जो किसी काल मे कही पर प्रत्यक्ष से जाने गये अविनाभावी लिग से जाने जाते हैं जसे अग्नि आदि । कोई पदाथ आगम मात्र से गम्य—जानने योग्य हैं जैसे— हमेशा ही स्वभाव से अत्यत परोक्ष धम अधर्म आदि । इन पदार्थों को सभी ज्ञाता के प्रत्यक्ष आदि के गोचर होने का अभाव है । कहा भी है —

श्लोकार्थ—सभी जानने वाले (प्रमाता) प्रत्यक्षादि रूप से सम्पूण पदार्थों को विषय नही कर सकते हैं क्योंकि पुण्य और पाप केवल आगम के द्वारा ही जाने जाते हैं इसलिये धर्मादिक मे अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है ।

इसप्रकार से कहते हुए भी हम मीमासक अनुमान को दूर नहीं करते हैं क्योकि वह अनुमान अनुमेय— अग्नि आदि पदाथ मे व्यवस्थित है ।

---

१ स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे यावा कश्चिद्भाव इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ भावत्वाद् तस्मात क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोग । २ अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम् । ३ हतो । ४ क्षणिकत्वादिना सह । ५ बौद्धानाम् । ६ सामस्त्येन । ७ विरुद्धम् । ८ सौगतमीमासकादीनाम् । ९ प्रत्यक्षेण प्रतिपन्न ज्ञातमविनाभाविलिङ्ग येषां ते । १० यथाग्न्यादय । ११ प्राप्यते । १२ मीमांसक । १३ वन्ह्यादौ ।

---

(1) सुखादीना । स्थूलसन्निहितवर्तमानाना घटादीनामनुमान निरर्थंक प्रत्यक्षेणैव प्रतीयमानत्वात । दि प्र (2) लभ्यते दि प्र । अभिलप्यते । (3) त्रिप्रकारा एव अर्था यत ।

व्यवस्थानात्" इति तदसत, धर्मादीनामप्यनित्य[1]त्वादि[2]स्वभाव[2]तयानुमेयत्वोपपत्ते ।

[धर्माधर्मादिपर्याया अनित्या संति पर्यायत्वात् इति जैना कथयति ।]

तथा हि । यावान्कश्चिद्भाव [3]पर्यायाख्य स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया [1]क्षणिको यथा घट-स्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित[3] [4]पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन[5] व्याप्ति साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ [6]पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसहारायोगात । कथ चाय[7] स्वभावादिवि-प्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधान[4] सुखादीनामविप्रक[1]र्षिणा[8]मनुमितेरानर्थक्य परिहरेत् ? [1]शश्वदविप्रकर्षिणा[9]मनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत् क्व पुनरियमनुमिति स्यात ? कदाचिद

जनाचार्य— यह कहना भी ठीक नही है क्योकि धर्मादिक भी पर्याय रूप अनित्य स्वभाव वाले हैं इसलिय अनुमेयपना उनमे घटित हो जाता है ।

[धर्म अधर्म आदि पर्याय अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

पर्याय नामक जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनेक क्षण स्थायी रूप से क्षणिक हैं जैसे घट । उसी प्रकार से धर्मादिक भी है । इस प्रकार मीमासको को भी किसी न किसी प्रमाण से पर्यायत्व आदि की अनित्य रूप से व्याप्ति सिद्ध करना चाहिये । ऐसा न मानने से प्रकृत धर्मादि में भी और धर्मादि पर्याय हैं इस प्रकार से उपसहार नही हो सकेगा ।

तथा स्वभावादि से दूरवर्ती– परोक्ष मे अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध कहते हुए आप मीमासक सुखादि को जो कि अविप्रकर्षी– मानस प्रत्यक्ष हैं परोक्ष नही हैं उसमे भी अनुमान की व्यथता का परिहार कैसे करगे ? अर्थात उसमे भी अनुमान का कोई उपयोग नही होगा ।

मीमांसक — नित्य ही प्रत्यक्षभूत पदार्थों के सिद्ध करने मे हमे अनुमान इष्ट ही नही है इसलिये हमारे लिये यह कोई दोष नही है ।

जैन—पुन यह अनुमान ज्ञान कहा प्रवत्त होगा ? अर्थात परोक्ष पदार्थों मे अनुमेयत्व का अभाव है और अविप्रकर्षी (प्रत्यक्षभूत) पदार्थों मे अनुमेयत्व हेतु अनिष्ट है तो फिर अनुमान का प्रयोग कहा किया जावेगा ?

---

१ पर्यायापेक्षया । २ पर्यायत्वादिति हेतुरध्येय । ३ प्रमाणात् । ४ मीमासक । ५ मानसप्रत्यक्षत्वात् । ६ शश्वदि त्यादिप्रकारेण परिहृराम्यहं मीमांसक । ७ विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थ ।

---

(1) नित्यत्वात् । (2) स्वभावतया इति पा । (3) कर्म । हेतुगर्भित विशेषण । (4) मूर्तत्वादे पर्यायोऽनित्यो अनित्यत्वेन व्याप्तत्वात् हेतुसमर्थनं । (5) सह । (6) उपसंहारप्रक्रियां दर्शयति । (7) मीमांसक (8) प्रत्यक्षाणां । (9) पूर्वं महानसादौ प्रवर्तमानानां पावक दीनां ।

विप्रकर्षिणामन्यदा देशादिविप्रकृष्टानां[1] प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरिति चेत् कथमेवं [2]शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत इदं शोभेत ? "ज्ञाते [3]त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिम्" इति । अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष[4] इति चेद् धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत [5]एवास्तु । यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तिस्तथा श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या [6]धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि[6] युक्ता भवितुम् । श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथाऽप्युपपत्तेः

मीमांसक—कदाचित प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में एव कभी कभी देशादि से परोक्ष पदार्थों (अग्नि) में अनुमान का प्रयोग होता है जिनका कि अविनाभावी हेतु पाया जाता है।

जैन—पुन हमेशा ही परोक्षभूत बुद्धि को सिद्ध करने मे अनुमान का प्रयोग कसे हो सकेगा जिससे तुमने जो कहा है कि पदाथ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान से बुद्धि को जानता है यह कथन शोभित हो सके ?

मीमांसक—हमारे यहा अर्थापत्ति प्रमाण से बुद्धि का ज्ञान हो जाता है अत कोई दोष नही है।

जैन—पुन धर्मादिको का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जावे क्या बाधा है ? जिस प्रकार 'बाह्य पदार्थों के जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से बुद्धि का ज्ञान होता है उसी प्रकार से सुख दुख की अन्यथानुपपत्ति होने से धर्म-अधम का ज्ञान भी हो सकता है अर्थात् मुझ मे बुद्धि है क्योकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान पाया जाता है तथव धम और अधम भी हैं क्योकि उनका फल सुख और दुख देखा जाता है।

मीमांसक—सुख दुख आदि की अन्यथा भी उपपत्ति पायी जाती है। इसलिये धम अधम मे अर्थापत्ति काम नही कर सकती। अर्थात् धम करते हुये किसी को दुखी एव पाप करते हुये को भी सुखी देखा जाता है।

जैन—सुख-दुखादि की उत्पत्ति मे दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारणो मे यभिचार पाया जा सकता है अतएव ही अदृष्ट रूप पुण्य-पाप कारणो का ज्ञान होता है। जैसे रूपादिक के ज्ञान मे इन्द्रियो की शक्ति का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् मुझमे विशेष इद्रिय शक्ति विद्यमान है क्योकि विशिष्ट रूपादि

१ प्रत्यक्षगोचराणाम् । २ पावकादीनाम् । ३ वक्ष्यमाणम् । ४ मीमांसक । ५ मयि बुद्धिरस्ति घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । ६ धर्माधर्मौ स्तः श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः । श्रेयः सुखम् । प्रत्यवायो दुःखम् । ७ धर्माधर्मयोरभावेऽपि स्व्यादिदर्शनात् ।

(1) पर्वतादौ प्रवर्तमानानां पावकादीनां (2) परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानमितिवचनात् । (3) ज्ञाततान्यथानुपपत्तेर्मयि ज्ञानमस्ति (4) कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत इदं शोभेत । ज्ञातेत्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेः (5) अर्थापत्तेः सकाशात् । केवलागम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोरिति व्याहन्यते प्रकृतमनुमेयत्वसाधनं च सिद्धं भवति । न चार्थापत्तिरनुमानात् अन्यैवानुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणादिति वक्ष्यमाणत्वात् । दि. प्र. । (6) आदिशब्देन स्वर्गो देवता च गृह्यते । तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवतामपि । न स्वर्गदेवतापूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः स इति मीमांसकैरुक्तत्वात् । दि. प्र. ।

[1]सौख्यार्थापत्तिरिति[2] चेन्न, [3]तदुत्पत्तौ [4]दृष्टकारणव्यभि[5]चारादहष्टकारणप्रतिपत्ते, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति[6]प्रतिपत्तिवत्[1]। न [2]चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात्। ततो बुद्ध्यादे शश्वद्वि[4]प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि [5]तत्सिद्धि। ये तु तायागतादय[6] [7]सत्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतमसर्वज्ञवादिना सर्वज्ञवादिनां[8] च, स्वभावादि-विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः। एतेनात्यन्तपरोक्ष[6]ष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भा[7]गासिद्ध मनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यात तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मक[1]त्वादिस्वभावत[8]यानुमेयत्वसिद्धे।

ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है।

दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक कोई चीज नही है अनुमान का ही आपने अर्थापत्ति यह नामकरण कर दिया है। इसलिये नित्य ही परोक्ष रूप बुद्धि आदि को 'अनुमेयपना' सिद्ध हो जाने पर धर्मादि को भी अनुमेयपने की सिद्धि घटित हो जाती है। और जो बौद्ध नैयायिक आदि सत्त्व कृतकत्व आदि हतुओ की अनित्यत्व आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हैं यथा जो सत है वह क्षणिक है ऐसा बौद्धों का कथन है एव जो कृतक है वह अनित्य है ऐसा नयायिक मानते हैं। उनके यहां सपूर्ण रूप से अनुमेयत्व हतु सिद्ध ही है। इस प्रकार से असर्वज्ञवादी मीमासक आदि के यहा और सर्वज्ञ वादी जनियो के यहा इस विषय मे कुछ भी विरोध नही है क्योकि स्वभावादि से परोक्ष पदार्थों मे अनुमेयत्व हतु व्यवस्थित है।

इस विवेचन से "अत्यत परोक्ष पदार्थों मे अनुमेयत्व हेतु का अभाव होने से यह हतु भागासिद्ध है। ऐसा कहने वालों का भी खडन हुआ समझना चाहिये क्योकि अत्यन्त परोक्ष पदाथ भी कथंचित् अनेकांतात्मक आदि स्वभाव वाले होने से अनुमेय रूप सिद्ध ही हैं। यथा सभी वस्तुय अनेकातात्मक हैं क्योंकि सत् रूप है इत्यादि।

---

१ स्त्र्यादिभि सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि तत सम्भवादिति व्यभिचारः। २ मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्ते। ३ किञ्च। ४ परोक्षस्य। ५ अनुमेयत्वसिद्धि। ६ आदिशब्देन नैयायिकादय। ७ यत्सत् तत् क्षणिकमिति बौद्धाः। यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिका। ८ जैनानाम्। ९ सर्वमनेकान्तात्मकं सत्वात्।

---

(1) साध्यसिद्धि [illegible] इत्यर्थं (2) मीमांसको वदति हे स्याद्वादिन्। अर्थापत्तिर्निष्फला [illegible] [illegible] हेतो [illegible] [illegible] अन्यथा धर्माधर्माद्वि विनापि [illegible] उत्पत्तिर्घटते। दि प्र (3) [illegible] [illegible] [illegible] दृष्टकारणस्य [illegible] व्यभिचारो निष्फलत्वं न दूषयति। अत अदृष्टस्य धर्माधर्मादिर्निश्चियते। दि. प्र। (4) कथंचित् [illegible] [illegible] [illegible] भाव। (5) [illegible] [illegible] प्रतिपत्ति। (6) [illegible] (7) [illegible] [illegible] हेतुर्भागासिद्ध। (8) कृत्वा।

[अनुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमित्यपि अर्थो भवितुमर्हति]

[1]अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतु मतेरनु पश्चान्मीयमानत्वाद[2] अनुमेया[3] सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात श्रुत मतिपूर्वम् इति वचनात्। न चैतदसिद्ध [4]प्रतिवादिनोपि [5]सर्वस्य [6]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात। [7]चोदना हि भूत

भावार्थ—मीमासक का कहना है कि अत्यत परोक्ष परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को अनुमान ज्ञान का विषय मानना ठीक नही है। इस पर जनाचार्यों ने कहा कि पुन आप मीमासक भी तो यह कहते हैं कि कोई मनुष्य पदार्थों को जान चुका है तब हम अनुमान स यह निणय कर लेते हैं कि इसमे बुद्धि अवश्य है अन्यथा यह पदार्थों को कसे जानता ? इस प्रकार से अत्यत परोक्ष बुद्धि का ज्ञान आप अनुमान से मान लेते है। कहिये ? क्या आपकी हमारी या किसी की बुद्धि किसी को प्रत्यक्ष हो रही है ? तब मीमांसक ने कहा कि हम अर्थापत्ति से बुद्धि को जानते है क्योकि बुद्धि के बिना बाह्य पदार्थों का ज्ञान होना असभव है तब आचाय ने कहा कि भाई ! ऐसे ही पुण्य पाप के बिना सुख दुख का होना भी असभव है। अत हम सुख दुख की अन्यथानुपपत्ति से पुण्य पाप का ज्ञान अर्थापत्ति से ही कर लगे क्या बाधा है ? तथा जनाचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान मे ही सम्मिलित किया है। मतलब मीमासक का कहना है कि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदाथ अत्यन्त परोक्ष हैं उनको जानने मे अनुमान ज्ञान का प्रयोग नहीं होता है।

इस पर जैनाचार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि परोक्ष भी बुद्धि को अनुमान से जानने का कथन आपके यहा ही मिलता है। यदि आप अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि को अनुमान ज्ञान का विषय न मानो पुन सुख आदि पर्यायो को मानस प्रत्यक्ष मानकर उनके विषय मे भी अनुमान ज्ञान कसे हो सकेगा ? क्योंकि जो वस्तुए प्रत्यक्ष हैं उनमे अनुमान ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? फिर तो अनुमान का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप अनुमान ज्ञान का अभाव करना नही चाहते हो तब तो सूक्ष्मादि पदार्थों को अनमेय रूप मान ही लीजिये कोई बाधा नही है।

[अनुमेयत्व का श्रतज्ञानाधिगम्यत्व ऐसा अथ भी सभव है।]

अनुमेयत्व हेतु श्रतज्ञान के द्वारा अधिगम्य (जानने योग्य) है क्योकि मतिज्ञान के 'अनु = पश्चात् जानने योग्य है। सूक्ष्मादि पदाथ अनुमेय अर्थात् श्रतज्ञान के विषय भूत हैं इस प्रकार का व्याख्यान भी सुघटित हो जाता है क्योकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। श्रुत मतिपूर्वं ऐसा आगम का वचन है। हमारा यह कथन असिद्ध भी नही है क्योकि प्रतिवादी मीमासक भी सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुतज्ञान (वेद) का विषय स्वीकार करते हैं।

---

1 प्रकारान्तरेणानुमेयत्वं व्याख्याति। 2 श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति। 3 श्रुतज्ञानविषया। 4 मीमांसकस्य। 5 सूक्ष्माद्यर्थस्य। 6 श्रुतं वेद। 7 वेदवाक्यम्।

भवन्त भविष्यन्त सूक्ष्म [1]व्यवहित [2]विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति[3] स्वयमभिधानात । तदुक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

[१]सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्ष [२]कस्यचित्सकल स्फुटम[4] । [5]श्रतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत [३] ।१।
न हेतो [6]सर्वथै[४]कान्तेरनेकान्त [५] कथञ्चन । [६]श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वात्तयां[६] दृष्टेष्टबाधनात[७] ।२।
स्थानत्रया[८]विसवादि[7] श्रुतज्ञान हि वक्ष्यते । [९]तेनाधिगम्यमानत्व[8] सिद्ध सवत्र वस्तुनि ।३।

इति । ततोनुमेया सूक्ष्माद्यर्था कस्यचित्प्रत्यक्षा सिद्धा एव ।

भूत वर्तमान भविष्यत सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट (परोक्ष) आदि सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में वेदवाक्य ही समर्थ है इस प्रकार स्वय मीमासको ने कथन किया है । उसी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे कहा है—

श्लोकार्थ—सकल सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योकि श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य है । जसे नदी द्वीप देश आदि ।।१।।

श्लोकार्थ—एकात से सर्वथा नित्य रूप अथवा सवथा अनित्य रूप से स्वीकार किये गये पदार्थों के साथ हेतु मे अनेकातिक दोष भी नही है क्योकि सभी पदाथ कथचित श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य है । सवथा एकात रूप से नित्य या अनित्य रूप जो पदाथ हैं उन पदार्थों को जानने मे प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण से बाधा पायी जाती है ।।२।।

स्वभाव से अतरित (परोक्ष) देश से परोक्ष काल से परोक्ष रूप ये तीन स्थान हैं । इन तीनो स्थानो में जो अविसवादी है वही श्रुतज्ञान है । एव सपूण वस्तुए उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य सिद्ध हैं तथा इन तीनो स्थानो के अविसवादी होने का यह भी अथ किया जा सकता है कि जो जिसको जाने उसी मे प्रवृत्ति करे और उसी को प्राप्त करे ऐसे ज्ञान को भी स्थानत्रय अविसवादी ज्ञान कहते हैं । इसलिये श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय रूप सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं ।।३।।

---

१ सर्वज्ञस्य । २ सूक्ष्माद्यर्थस्य । ३ नित्यत्वेनानित्यत्वेनव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थं । ४ अनैकान्तिकत्वं दोष । ५ श्रुत श्रुतज्ञानाभास ६ सर्वथैकान्तानामर्थानाम । ७ प्रत्यक्षानुमानबाधनात् । ८ सवत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाभावाद् भागासिद्धोयमित्याशङ्कायामाह स्थानेति । ९ स्वभावान्तरित देशान्तरित कालान्तरित चेति स्थानत्रयम् । १० ततश्च ।

---

(1) अन्तरितं । (2) देशादिदूर । (3) पुरुषान् । (4) यथा भवति तथा । (5) श्रुतज्ञानाभगम्यत्वात इति पा । तस्य श्रुतज्ञानाभास इत्यर्थो जायते । (6) अर्थ (7) प्रत्यक्षानुमेयाद परोक्षषु । (8) ज्ञायमानत्वं । एतद् श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतु मीमांसकस्यापि प्रसिद्धो वर्तते ।

[सर्वेऽप्यर्थाः अनुमेया स्युः प्रत्यक्षाश्च न स्युः का हानि ?]

[1]तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च [1]स्युः, किं व्याहन्यते ? [2]इति समानमग्न्यादीनाम्* । [3]अग्न्यादयोऽनुमेया स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । [3]तथा [4]अनुमानोच्छेद स्यात्* सर्वानुमानेषूपालम्भस्य[3] समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न स्यादिति ।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं चार्वाकमनुमानप्रमाणं स्वीकारयति जैनाचार्याः]

[5]तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्य[6]विज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं[4] [7]लक्षयेत प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति[8] न [9]किञ्चिदेतत्[10] तथा नतत्तया वा [11]अयमभ्युपगन्तुमर्हति* । प्रत्यक्षं प्रमाणम् विसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति [12]लक्षयतोऽनुमानस्य बलादव्यवस्थितेन

[सभी सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें प्रत्यक्षज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?]

मीमांसक—श्रुतज्ञान (वेद) से अधिगम्य—जानने योग्य अनुमेय पदार्थ किसी (सर्वज्ञ) के प्रत्यक्ष न होवें अनुमेय मात्र ही रहें तो क्या बाधा आती है ?*

जैन—इस प्रकार से तो हम अग्नि आदिक अनुमेय पदार्थ के लिए भी ऐसा ही कह सकेंगे* कि "जो अग्नि साध्य है वह धूमत्वादि हेतु से अनुमेय होवे और किसी के प्रत्यक्ष न होवे पुनः इस प्रकार से तो अनुमान का उच्छेद (अभाव) हो जायगा* । यदि कहा जाय कि अनुमेयों के होने में संदेह रहता है तो यह उपालंभ सभी अनुमानों में समान है । अर्थात् सभी अनुमानों में इस प्रकार की उलाहना दी जा सकेगी और ऐसा भी कहना शक्य हो जावेगा कि कहीं पर धूम हो जावे पर अग्नि नहीं होवे किंतु ऐसी मान्यता ठीक नहीं है ।

[अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं ।]

इस प्रकार से अनुमान के उच्छेद को स्वीकार करने पर अस्वसंवेदी विज्ञान व्यक्तियों के द्वारा "प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान प्रमाण नहीं है इस प्रकार से आप चार्वाक कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे अर्थात् न तो आप प्रत्यक्ष को प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे और न अनुमान को अप्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे इसलिए आप चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना योग्य है ।*

---

१ मीमांसक आशङ्कते ।—अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षा सम्भवन्ति । २ शङ्कां परिहरन्नाह स्याद्वादिन ।—इति (पूर्वोक्तम्) अग्न्यादयो धूमवत्त्वादिनानुमेया सन्तु न च प्रत्यक्षा कस्यचिदिति समानमुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोत्तरशङ्कावकाश इत्यर्थः । ३ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य । ४ अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाह) । ५ [illegible] स्वसंवेद्य भूतपरिणामत्वात् पित्तादिवत् । ६ कर्मतापन्नम् । ७ (मीमांसक) मेव लक्षयेत् । ८ अनुमानम् । ९ चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ? १० अप्रमाणतया । ११ अनुमानम् । १२ [illegible] । १३ चार्वाकस्य ।

---

(1) इति । (2) कथं । (3) समानत्वे च (4) किं च ।

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते । ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव [1]लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतो सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धि रेषितव्या ।

[मीमांसको ब्रूते न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थान् प्रत्यक्षीकर्तुं क्षम प्रमेयत्वादित्यादिकस्य निराकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

[2]स्यान्मत, बाधितविषयोय हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात । तथा हि । न [1]कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी [2]प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत । न चेद [3]साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात[4] । तदुक्त

[3]प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य[4] तु । सद्भाववारणे शक्त [5]को नु तं[6] कल्पयिष्यति ।

चार्वाक — प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है क्योंकि वह अविसवादी है । अनुमानादि अप्रमाण हैं क्योंकि वे विसवादी हैं ।

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप चार्वाक के यहा अनुमान तो बलपूवक आ ही गया है इसलिए प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कथन व्यवस्थित नही होता है । (अर्थात प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' यह प्रतिज्ञावाक्य है क्योंकि अविसवादी है यह हेतुवाक्य है एव अनुमान के ही प्रतिज्ञा और हेतु य दो अव यव पाये जाते है इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण को सिद्ध करते हुए अनुमान वाक्य के द्वारा) अनुमान प्रमाण को बेमालूम आप स्वीकार कर ही लेते हैं इसलिये अनुमान को स्वीकार करने वाले याज्ञिक(भाट्ट) के समान चार्वाक को भी प्रसिद्ध अविनाभाव रूप नियम निश्चय लक्षण वाले अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादि पदार्थों को किसी के प्रत्यक्षता सिद्ध है इस प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये ।

[मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है क्योंकि प्रमेय है इत्यादि । जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते हैं ।]

मीमांसक—यह हेतु बाधित विषय वाला है क्योकि आपके पक्ष में अनुमान से बाधा आती है । तथाहि— कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षातकार करने वाला नही है क्योकि वह प्रमेयरूप है अस्ति त्व रूप है अथवा वस्तु रूप है जैसे हम और आप लोग सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात् करने वाले नही है ।" हमारा यह हेतु प्रत्यक्षादि से अविसंवादी है इसलिए असिद्ध या व्यभिचारी भी नही है । अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण से सूक्ष्मादि पदाथ को साक्षात् करने वाली कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं होती है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष आदि से अविसवादी प्रमेयत्व आदि हेतु जिस सर्वज्ञ के अस्तित्व को निषध करने मे समर्थ पाये जाते हैं फिर कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव की कल्पना

---

१ चार्वाकेन । २ मीमांसकस्य । ३ प्रागुक्तम् । ४ यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं प्रत्यक्षम् । ५ सर्वज्ञस्य । ६ सर्वज्ञसद्भावक् ।

---

(1) मीमांसक । दि. प्र (2) यथार्थत्वात् । (3) सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं पुरुषं न साधयति प्रत्यक्षं यत । (4) जैनादि

इति । तदप्यसम्यक्, तत[1] एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । [2]अनुमेयेना[3]त्यन्तपरोक्षेण[4] चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न [5]तस्य पक्षीकरणात्[2] । [3]सदेव प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र[1] हेतु लक्षणं[1] पुष्णाति तं कथं [9]चेतन प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा* [4]सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिण[5]स्तस्यैव[1] सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि[6] [10]परोपगत हेतुलक्षणस्य [7]प्रकृतहेतौ पोषणात्[8] ।

करेगा ? अर्थात् कोई भी नही करेगा ।

जैन—यह कथन भी ठीक नही है क्योकि इन्ही प्रमेयत्व अस्तित्व वस्तुत्व आदि हेतुओ द्वारा ही किसी न किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है । तथाहि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योकि वे प्रमेय रूप हैं अस्तित्व रूप है अथवा वस्तुत्व रूप है । जैसे स्फटिक आदि पदार्थ ।

शका—अनुमान मात्र से जानने योग्य और आगम से जानने योग्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के साथ व्यभिचारी दोष आता है ।

समाधान—नही आता है क्योकि इन सभी अनुमानगम्य और अत्यन्त परोक्ष आगम गम्य पदार्थों को भी हमने पक्ष में ले लिया है अत विपक्ष के न होने से व्यभिचार दोष को अवकाश ही नही है कारण कि अनुमान गम्य अनुमेय एव आगम गम्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी प्रमेय हैं अस्तिरूप तथा वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित है ।

जब इस प्रकार से प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु सर्वज्ञ को सिद्ध करने मे सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमे ऐसे हेतु के लक्षण को पुष्ट करते हैं तब कोई भी बुद्धिमान चेतन आत्मा इन्हीं हेतुओ द्वारा उस सर्वज्ञ का निषेध करने मे या उसके सद्भाव मे संशय करने के लिये समर्थ कैसे हो सकता है ?* अर्थात इन्ही हेतुओ से तो सर्वज्ञ का अस्तित्त्व सिद्ध हो रहा है पुन इन्ही हेतुओ से

१ प्रमेयत्वादित । २ अनुमानमात्रगम्येन । ३ आगमगम्येन । ४ अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च । ५ सर्वज्ञ साध्ये । ६ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षण स्वरूपम् । अथवानुमेय वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम् । ७ सर्वज्ञम् । ८ मतिमान् । ९ पुरुषस्य प्रतिषेधकस्य संशयितस्य वा । १ परेण मीमांसकेनाभ्युपगत प्रमेयत्वादिहेतु सर्वज्ञास्तित्वे अबाधितविषय सन् सुनिश्चितासभवदित्यादिप्रकृतहेतु पुष्णाति ।

(1) मीमांसक आह हे स्याद्वादिन । प्रमेयत्वादिति हेतो अनुमेयेनात्यत परोक्षेणार्थेन कृत्वा व्यभिचारो दृश्यते इति चेन्न तस्यानुमेयस्यात्यतपरोक्षार्थस्य पक्षीकरणात् । सूक्ष्माद्यर्था इति पक्ष कुतस्तत्र वार्ताभावात् अतोहेतु र्व्यभिचारी न । दि प्र । (2) कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धि प्रमेयत्वसत्त्वादेयत (3) उक्तप्रकारेण (4) मु । (5) प्रमेयत्वादे साधन स्याबाधकत्वप्रकारेण । (6) सूक्ष्माद्यर्थ पक्षे । (7) अनुमेयत्व । (8) सद्भावसाधनात् ।

[सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये हेतुः सर्वज्ञभावधर्मोऽभावधर्म उभयधर्मो वेति प्रश्ने विचारं क्रियते जैनाचार्यैः]

[1]ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः [2]सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः[1]। को हि[2] नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत्। सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः [3]ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः। सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः? तदुक्तम्

कोई भी महानुभाव सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते हैं और न सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय ही कर सकते हैं।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व हेतु से सूक्ष्मादि अर्थों को साक्षात् करने वाले उसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि होती है। अतः मीमांसक द्वारा स्वीकार किये गये और अबाधित विषय वाले भी प्रमेयत्वादि हेतु का प्रकृत—अनुमेयत्व हेतु से पोषण ही होता है। अर्थात् उसके सर्वज्ञ निषेधक हेतु हमारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनुमेयत्व हेतु का पोषण ही कर देते हैं न कि खंडन। तात्पर्य यह है कि मीमांसक ने सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि हेतु दिये हैं किन्तु इन हेतुओं में भी सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व लक्षण पाया जाता है अतः ये हेतु हमारे मूल कारिका के अनुमेयत्व हेतु को ही पुष्ट कर देते हैं जिससे इन प्रमेयत्व आदि हेतुओं से भी सर्वज्ञ के अस्तित्व की ही सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—मीमांसक ने प्रमेयत्व सत्त्व और वस्तुत्व ऐसे तीन हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु जैनाचार्य ने इन्हीं तीन हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। कोई न कोई महापुरुष संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाला अवश्य है क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का विषय है। भले ही आज यहाँ भरत क्षेत्र में सर्वज्ञ उपलब्ध न हो फिर भी विदेह आदि क्षेत्रों में एवं चतुर्थ काल में उनकी उपलब्धि होती है अतः वह सर्वज्ञ अस्तिरूप भी है तथैव वस्तुभूत भी है। इसलिए ये तीनों हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव को ही सिद्ध कर देते हैं।

[सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के भाव का धर्म है या अभाव का अथवा उभय का ऐसे प्रश्न होने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं।]

मीमांसक—यदि आप जैन सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में सुनिश्चितासंभवद् रूप से बाधक प्रमाणत्व हेतु को सर्वज्ञ के अस्तित्व का धर्म स्वीकार करते हैं तो आपका यह हेतु असिद्ध है जैसे कि आपका सर्वज्ञ रूप साध्य असिद्ध है क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो सर्वज्ञ के सद्भाव धर्म को हेतु स्वीकार

१ मीमांसक। २ सर्वज्ञवत्। ३ सर्वज्ञाभावधर्मात्।

(1) यत। तावत् सौगतमतमाश्रित्य मीमांसक पृच्छति सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् इति। हेतुः। सर्वज्ञभावधर्मः १, उत सर्वज्ञाभावधर्मः। उभयधर्म इति प्रश्नत्रयं। दि प्र.।

(2) व्यतिरेकेण ज्ञापकं साधयति।

"असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः[1] । विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[2] स [3]सत्तां साधयेत् कथम्" इति ।

'धर्म्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि[4] सत्तासिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां [2]प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं [1] न लक्षयति * । [4]स हि तावदेवं [1] सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्यः [4] । शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं[5] विकल्पः किं न स्यादिति * । शक्यं हि वक्तुं [5]कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः[6] । को नामानित्यशब्दधर्मं[7] हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, [8]साध्यविरुद्धसाधनात । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात । इति सर्वा

करते हुए सर्वज्ञ को ही न स्वीकार करे ।

यदि आप ऐसा कहे कि हमारा हेतु सर्वज्ञ के अभाव का धर्म है तब तो वह हेतु विरुद्ध हो गया । सर्वज्ञ के अभाव का धर्म होने से वह हेतु तो सर्वज्ञ के नास्तित्व को ही सिद्ध करेगा न कि अस्तित्व को । पुनः आप कहें कि वह हेतु सर्वज्ञ के भाव और अभाव दोनों का ही धर्म है तब तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष (सद्भाव) और विपक्ष (नास्तित्व) दोनों में उसकी वृत्ति हो जाती है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है क्योंकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है । यदि साध्य के भाव एवं अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का धर्म है तो विरुद्ध है ऐसा हेतु साध्य सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा ?

असिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे धर्मी सर्वज्ञ के भाव अभाव या उभय धर्मों को हेतु बनाने पर असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक दोष आते हैं । अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है' ऐसा कहते हुए भी आप देवानां प्रिय (मूर्ख) मीमांसक सर्वज्ञ लक्षण धर्मी के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं । *

[अब यहां मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खंडन करते हैं ।]

सौगतमत का आश्रय लेकर बोलते हुये उस मीमांसक से हम पूछते हैं कि **आपके यहां भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में भी यह विकल्प क्यों नहीं किया जा सकेगा ? *** अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है । इस अनुमान वाक्य में कृत

१ सर्वज्ञे । २ मीमांसक (मूर्ख) । ३ सर्वज्ञलक्षणम् । ४ मीमांसक । ५ (पुरस्ताच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षमेतदर्थं) । ६ जैनेन । ७ तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति । ८ शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मं कृतकत्वं हेतुः । साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्धः अनित्यशब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धेः । ९ अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम् ।

(1) व्यस । (2) धर्मोऽभावे स्यादिति वा पाठः । दि प्र । (3) सर्वज्ञ । सा सत्ता साध्यते इति पा. । (4) सकलविदि इति पा दि प्र । (5) कृतकत्वादिति हेतुः पा । (6) तदा न सिद्ध इति पा । (7) को हि इति पाठान्तरं ।

नुमानोच्छेदः, 'ववचित्पावकादौ साध्ये [1]धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य[2] समानत्वात् । [3]विमत्य[3]धिकरणभावापन्नविनाश[4]धर्मिधर्मत्वे' कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि 'सन्दिग्ध-[5]सद्भावधर्मिधर्मत्वं' सिद्धं' बोद्धव्यम् ।

[मीमांसको ब्रूते जैनानां सर्वज्ञधर्मी प्रसिद्धसत्ताको नास्तीति जैनाचार्या समादधति ।]

ननु[1] च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्मकस्य धर्मो[4] हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादापन्नसदभावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिरुच्यते प्रसिद्धो धर्मी [5]अप्रसिद्धधर्मविशे

कत्वादि हेतु यदि अनित्य शब्द के धर्म हैं तब वह हेतु असिद्ध है। अतः कौन ऐसा विवेकी है जो कि अनित्य शब्द के धर्म को हेतु स्वीकार करते हुए शब्द को अनित्य स्वीकार न करे।

भावार्थ—शब्द का अनित्यपना साध्य है और उसका धर्म कृतकपना हेतु है। साध्य असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध है। अनित्य शब्द की असिद्धि होने से उसका धर्मरूप कृतकत्व हेतु भी असिद्ध है। यदि कहो कि यह हेतु नित्य शब्द का धर्म है तब तो विरुद्ध हो जाता है क्योंकि अनित्य रूप साध्य से विरुद्ध नित्य को सिद्ध कर रहा है। तथा यदि कहो कि उभय का धर्म है तब तो व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह जाता है और इस प्रकार से तो सभी अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा।

किसी पर्वत पर अग्नि आदि को साध्य (सिद्ध) करने में धूमत्व आदि हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं।

विवादापन्न विनाश धर्मी शब्द के अनित्यत्व धर्म में असंभवद्बाधकत्व रूप कार्यत्व आदि हेतु से भी संदिग्ध सद्भाव रूप धर्मी का धर्मपना सिद्ध हुआ ही जानना चाहिये। *

[मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

मीमांसक—शब्दत्व आदि के द्वारा जिसकी सत्ता प्रसिद्ध है और जिसमें अनित्यत्व आदि साध्य धर्म संदिग्ध है ऐसे शब्दादि धर्मी के कृतकत्व आदि हेतु धर्म है यह कथन तो युक्त है किंतु सभी प्रकार

१ पर्वतादौ। २ अग्निमत्पर्वतधर्मो वानग्निमत्पर्वतधर्मो वोभयधर्मो वेत्यस्य। ३ विमति = विवाद। ४ विनाश-धर्मोऽस्यास्तीति विनाशधर्मी शब्दः। ५ सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तित्वलक्षणः स एव धर्मो यस्याहृत इति विमत्यधिकरण-भावापन्नविनाशधर्मी। ६ यतः। ७ अत्र द मीमांसकस्य तात्पर्यं भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव। शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति। ८ असंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। ९ मीमांसकः।

(1) न केवलं कृतकत्वादौ। (2) विमत्यधिकरणभावापन्न विवादापन्न विनाशो यस्य स विमत्यधिकरण-भावापन्नविनाशः स चासौ धर्मी शब्दश्च तस्य धर्मत्वे सति कृतकत्वस्य हेतोः। दि प्र। (3) सद्भाव एव धर्मः सोऽस्या-स्तीति सद्भावधर्मं तस्य धर्मो य सः। (4) यथा पर्वतस्य धर्मोऽग्निमत्त्वं धूमत्वं च। (5) साध्य। एव।

धर्मविशिष्टतया 'स्वयं साध्यत्वेनेप्सित पक्ष' इति वचनात्', कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगात् । इति कश्चित्' सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात ? तस्याप्रसिद्धत्वात । परोपगमात्सकल शब्द प्रसिद्धो धर्मीति चेत् 'स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञ प्रसिद्धो धर्मी किन्न 'भवेद्धेतुधर्मवत । 'पर प्रति समर्थित एव हेतुधर्म साध्यसाधन इति चेद्धर्म्यपि 'पर प्रति 'समर्थित[1] एवास्तु विशेषाभावात्[2] ?

से जिसकी सत्ता असिद्ध है एव जिसका सदभाव धम विवाद को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ का धम अबाधित हेतु कैसे हो सकता है क्योकि धर्मी प्रसिद्ध होता है और साध्य तो अप्रसिद्ध धर्म विशेषण से विशिष्ट होता है । इस प्रकार से स्वय आप जैनियो ने ही माना है । अत जो कथचित भी अप्रसिद्ध है वह धर्मी नहीं हो सकता है ।

जैन—यदि आप मीमासक भी सकल देशकालवर्ती श द को धर्मी कहते हैं तब तो आपके यहा भी धर्मी प्रसिद्ध नही रहेगा क्योकि सकल देशकाल वर्ती शब्द अप्रसिद्ध हैं अर्थात भूत भावी शब्द तो विद्यमान ही नही है ।

मीमांसक—दूसरो के स्वीकार करने से ही हम भी सपूण शब्दो को प्रसिद्ध मान लगे अत धर्मी प्रसिद्ध ही हो जावेगा ।

जैन—तो पुन जनो के द्वारा स्वीकत होने से सवज्ञ धर्मी प्रसिद्ध क्यो न हो जावे ? जसे कि हेतु का धर्म प्रसिद्ध माना जाता है ।

भावार्थ— आप मीमासक ने दूसरो के द्वारा स्वीकृत सभी श दो को प्रसिद्ध धर्मी स्वीकार किया है तो फिर हम जैनो के द्वारा स्वीकृत होने से सवज्ञ भी प्रसिद्ध धर्मी हो जावे यह बात क्यो नही स्वीकार करते हैं ।

मीमांसक—दूसरो के प्रति समर्थित ही हेतु धम साध्य को सिद्ध कर सकता है ।

जैन—तब धर्मी (शब्द) भी जन के प्रति समर्थित होवे दोनो मे कुछ भी अतर नहीं है ।

---

१ जनेन । २ जैनस्य । ३ मीमासक । ४ परोपगमात्सकल शब्द प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमासकेन भवताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सवज्ञ प्रसिद्धो धर्मी भवेदिति किं नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात् । ५ हेतुधर्मवासौ धर्मश्चेति । ६ मीमांसकम् । ७ साध्यस्य साधक । ८ शब्दोपि । ९ जन प्रति । १ समर्थितहेतु एवास्तु इति पाठान्तरम् ।

---

(1) प्रसिद्धो भवतु । (2) ननु यदि पर प्रति समर्थितो धर्मी स्यात् तदा प्रकृतधर्मी समर्थनेनैव साध्यसिद्ध किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति चेन्न साधनसमर्थनेऽपि समानत्वात् । शक्य हि वक्तु नासिद्ध विरुद्ध नानैकान्तिकमिति साधनस मर्थनेनैव साध्यसिद्धे किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति अनुमानप्रयोगानतर साधनसमर्थनाददोष इति चेत्तर्ह्यनुमान प्रयोगानतरं धर्मिसमर्थनाददोषोऽस्तु । दि प्र ।

[धर्मिणः सत्ता सर्वथा प्रसिद्धास्ति कथंचिद्वा ?]

[1]किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, [2]तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्[3]। कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत् सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य[4] च धर्मिणोऽभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वं [1]कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात्। स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोऽस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते [6]नान्यथा। [7]ततोऽयमु[2]पालम्भमानो धर्मिस्वभावं न [8]लक्षयत्येव [9]प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च। सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धाः [3]युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाण

[धर्मी की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित ?]

दूसरी बात यह है कि हम आप से प्रश्न करते हैं—धर्मी सर्वथा प्रसिद्ध सत्ता वाला है या कथंचित् ? यदि सर्वथा कहो तो शब्दादि भी धर्मी नहीं होंगे क्योंकि वे शब्दादि अप्रसिद्ध रूप साध्य धर्म से विशिष्ट सत्ता वाले हैं। यदि आप कहें कि कथंचित रूप से प्रसिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे शब्दादि धर्मी हैं तब तो सर्वज्ञ भी धर्मी क्यों नहीं हो जावेगा ? अतः हमारे यहां आत्मत्व आदि विशेषण रूप सत्ता से प्रसिद्ध और सर्वज्ञत्व उपाधि रूप सत्ता से अप्रसिद्ध को धर्मी स्वीकार करने पर सर्वथा अप्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी नहीं है अपितु कथंचित् प्रसिद्ध सत्ता वाला है क्योंकि कोई आत्मा सर्वज्ञ है स्याद्वादी लोग इस प्रकार से पक्ष प्रयोग करते हैं अन्य प्रकार से नहीं। इसलिए आप मीमांसक या बौद्ध जैनियों को उलाहना देते हुये वास्तव में धर्मी के स्वभाव को ही नहीं जानते हैं एवं इस प्रकृत अनुमान 'सूक्ष्मांतरित दूरार्थाः' इत्यादि में हमने सर्वज्ञ को धर्मी माना ही नहीं है। इस अनुमान (कारिका) में सूक्ष्मादि पदार्थ ही धर्मी हैं। वे प्रसिद्ध सत्ता वाले ही हैं। क्योंकि परमाणु आदि भी प्रमाण से प्रसिद्ध हैं। इस बात को विशेष रूप से आगे 'बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं' इत्यादि कारिका के व्याख्यान में कहेंगे।

भावार्थ—मीमांसक ने कहा कि आप जैन प्रमेयत्व अस्तित्व वस्तुत्व हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं। तो यह तो बताइये कि ये हेतु सर्वज्ञ के भाव के धर्म हैं या अभाव के

१ विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिणं विचारयति। २ अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधि (विशेषण) सत्ता यस्य शब्दस्य सः। तस्वात्। ३ यथा शब्दानित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते। ४ अयं सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षणा उपाधिः। ५ सर्वज्ञस्य। ६ एवं चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृते प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्युक्तः प्रयोगः कोऽयमिति, चेन्न तत्राप्यत्रिप्र तस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात्। अनुमेयत्वहेतोरबाधितविषयत्वसमर्थनप्रसङ्गावाले अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्तं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याह। ७ मीमांसकः सौगतो वा। ८ दोषमुद्भावयन्। ९ जानाति। १ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वादित्यनुमाने।

(1) शब्दलोप। (2) उपालंभमानो इति पा। (3) अयुक्ता इति पा।

सिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्[१] ।

धर्म हैं अथवा सर्वज्ञ के भावाभाव के धर्म हैं इन तीनों विकल्पो मे मीमासक ने दोषारोपण कर दिया है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! बौद्ध ने शब्द को अनित्य माना है और कृतकत्व हेतु दिया है। इस कृतकत्व हेतु में भी ये तीनो विकल्प उठाये जा सकते हैं। आप मीमासक ने शब्द को नित्य माना है और उसे नित्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यभिज्ञान हेतु दिया है। तब इस प्रत्यभिज्ञान हेतु मे भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी भी अनुमान वाक्य मे हेतु के प्रति य तीनो विकल्प संभव हैं और इन दोषो के निमित्त से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने मे समर्थ नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार से अनुमान का अभाव होते देखकर बौद्ध का पक्ष लेकर मीमासक कहता है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने मे कृतकत्व हेतु को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है। वह कहता है कि शब्द तो प्रसिद्ध ही है और उस शब्द का जो अनित्य धर्म है वह सदिग्ध है उसी को साध्य की कोटि म रखा गया है और वह अनित्य धर्म ही कृतकत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है किन्तु आपका सर्वज्ञ धर्मी तो प्रसिद्ध ही नही है तो फिर उसी अस्तित्व को सदिग्ध कोटि म रखकर प्रमेयत्वादि हेतु से कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

जैनाचार्य कहते हैं कि आप के यहा भी त्रिकालवर्ती शब्द प्रसिद्ध नही है भूतकालीन शब्द नष्ट हो गये भविष्यत कालीन शब्द अभी उत्पन्न ही नही हुये हैं पुन शब्द भी प्रसिद्धो धर्मी इस सूत्र के अनुसार प्रसिद्ध कहा रहे ?

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि शब्द की सत्ता सभी प्रकार से प्रसिद्ध है या कथंचित ? सभी प्रकार से आप कह नही सकते क्योकि शब्द का अनित्य धर्म असिद्ध है तभी उसे साध्य की कोटि मे रखा है। कथंचित सत्ता सिद्ध है यदि ऐसा कहो तो हमारे सर्वज्ञ की भी सत्ता कथंचित सिद्ध ही है। देखिये ! हम जैनो ने इस कारिका के या अनुमान वाक्य मे सर्वज्ञ को धर्मी नही बनाया है किंतु सूक्ष्मादि पदार्थों को ही धर्मी बनाया है और सूक्ष्म—परमाणु आदि पदार्थ सभी को मान्य होने से प्रसिद्ध ही हैं। वे सूक्ष्मादि पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे ही सर्वज्ञ हैं इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। अत उस सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने मे जो अनुमेयत्व हेतु अथवा प्रमेयत्व आदि हेतु दिए गए हैं। उनमें उपर्युक्त तीन विकल्प नही उठाए जा सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि श्री विद्यानदि महोदय ने अनुमेयत्व हेतु का अर्थ 'श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व' कर दिया है जो कि आज्ञाप्रधानी एव परीक्षा प्रधानी दोनो को मान्य हो जावेगा तथा मीमांसक भी वेद को प्रमाणीक मानता है अत उसे भी सतोष हो जावेगा।

---

१ बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने ।

[सूक्ष्मादिपदार्थाः इन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः संति मानसप्रत्यक्षेण वा ?]

ननु सूक्ष्माद्यर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्याः [1]उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः [3] पक्षः सूक्ष्माद्यर्थाः [4] न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः [5]सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात् [6] । [7]ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टा । यथा घटादयः । सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषया इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात् । न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वमसिद्धं साक्षात्परमाणु[9]धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात् । तथा हि । न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः[1] सम्बध्यते इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष से ?]

मीमांसक—अच्छा तो सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं यह बात तो हम मानने को तैयार हैं किंतु यह तो बतलाइये कि वे सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रिय (मानस) प्रत्यक्ष ज्ञान से ?

प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर तो पक्ष अनुमान के विरुद्ध है । तथाहि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी भी जीव के इन्द्रिय ज्ञान के विषय नहीं हैं क्योंकि सर्वथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित हैं । जो पदार्थ किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं वे पदार्थ सर्वथा इन्द्रिय के सम्बन्ध से रहित नहीं देखे जाते हैं जैसे घट पट आदि । सर्वथा इन्द्रिय सम्बन्ध से रहित सूक्ष्मादि पदार्थ हैं इसलिये वे किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय भी नहीं हैं । इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा आप का पक्ष बाधित हो जाता है । एवं यह सर्वथा इन्द्रियसम्बन्ध रहितत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है । साक्षात् परमाणु धर्म अधर्म आदि के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध का अभाव है । तथाहि—

किसी की भी इन्द्रियां साक्षात् परमाणु आदि से सम्बन्धित नहीं होती हैं क्योंकि वे इन्द्रियां हैं जैसे कि हम लोगों की इन्द्रियां । इस अनुमान से इन्द्रियों से परमाणु आदि का ज्ञान होना असम्भव है ।

[नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इन्द्रियां परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण]

नैयायिक—योगज धर्म अनुगृहीत इन्द्रियां उन परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध कर लेती हैं । अतः उन सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

मीमांसक—इन्द्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होना यह क्या चीज है ?

---

१ मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह । २ अतीन्द्रिय=मन । ३ कालात्ययापदिष्ट । प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम् । ४ अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति । ५ साक्षात् परम्परया वा । ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम् । ७ व्यतिरेकव्याप्तिः । ८ साधनम् । ९ परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम् ।

---

(1) आदिशब्देन स्वभावविप्रकृष्टैर्धर्मादिभिः कालान्तरितैरतीतानागतपदार्थैर्दूरार्थैर्हिमवदादिभिः ।

[नैयायिको ब्रूते योगजधर्मानुगृहीतेन्द्रियाणि परमाण्वादीन् पश्यन्ति तस्य निराकरणं]

योगजधर्मा[1]नुगृही[2]तमिन्द्रियं [3]योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत्[4] कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? [1]स्वविषये प्रवर्तमान[5]स्यातिशयाधानमिति[1] चेत्तदसंभव एव परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात् प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्[4]। तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परम्पराश्रयप्रसङ्ग[6]। 'सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे परमाण्वादिषु प्रवृत्ति सत्या च तस्या योगजधर्मानुग्रह इति । [5]परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रह इति चेन्न स्वविषयातिक्रमेण तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात् [6]अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य[8] सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्[10]। [11]दृष्टविरोधान्नैवमिति चेन् [12]समानमन्यत्र[13]। यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविष

नैयायिक—अपने अपने विषय मे प्रवर्तमान इद्रिया मे अतिशय का कर देना यही अनुग्रह है।

मीमांसक—तब तो वह असभव ही है। परमाणु आदि मे स्वय इद्रियो की प्रवृत्ति नही पाई जाती है। यदि आप प्रवृत्ति मानगे तो योगज धम का अनुग्रह व्यथ ही हो जावेगा। पुन आप कहे कि योगज धम के अनुग्रह से ही इद्रियो की परमाणु आदि मे प्रवत्ति हो जाती है तो परस्पराश्रय दोष आ जावेगा। इद्रियों के योगज धम का अनुग्रह होने पर परमाणु आदि मे प्रवृत्ति होगी और उस प्रवत्ति के परमाणु आदि मे प्रवृत्ति होने पर योगज धम का अनुग्रह होगा।

नयायिक—परमाणु आदि को जब इद्रिया ग्रहण करती हैं तब योगज धम का अनुग्रह सहकारी कारण होता है।

मीमांसक—यह कथन ठीक नही है। अपने विषयो का उलघन करके इद्रियो की परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने मे योगजधर्म का अनुग्रह सहकारी नही हो सकता है। अन्यथा कोई एक ही इद्रिय सपूर्ण रूप रस गध आदि विषयो को ग्रहण करने मे प्रवृत्त हो जावेगी और उसमे भी योगजधर्मानुग्रह ही सहकारी मानना पडगा।

नैयायिक—एक इन्द्रिय दूसरी इद्रिय के विषय को ग्रहण करे इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है

१ नैयायिक। २ ध्यानोत्थ तधमेण। ३ मीमासक पच्छति ४ इद्रियस्य। ५ स्पष्टतापादनम्। ६ परस्पराश्रयं दर्शयति। ७ अङ्गीक्रियमाणे। ८ रूपादिविषयोल्लङ्घनेन। ९ स्पर्शनादे। १० योगजधर्मानुग्रहप्रसङ्गात्। ११ नैयायिक। प्रत्यक्षविरोधात्। १२ मीमांसक। १३ परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्य।

(1) अपकृत। (2) ईश्वरस्य। (3) परमाण्वादौ। (4) इद्रियस्य परमाण्वादौ प्रवृत्त्यर्थं हि योगजधर्मोऽभ्युपगतः। यदीन्द्रियं यदि स्वयमेव तत्र प्रवर्तते किमनेन योगजधर्मानुग्रहेणेति भाव। दि प्र। (5) यौगो वदति (6) अन्यथा इंद्रिय योगजधर्मानुग्रहात् स्वविषयमतिक्रम्य प्रवर्तते कस्यचित् पुस एकस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य रसादिषु पचसु विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात्। तस्यां सत्यां योगजधर्मोपकारप्रसगो घटते। दि प्र।

अपि तु यथानि नाप्रतिनियतसकलरूपादि विषयाणि 'यथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि । 'समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुनः रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, 'इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र जाड्यात् । 'एतेन परम्परया परमाणुरूपादि'ष्विन्द्रियसम्बन्ध प्रतिध्वस्त, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादेरप्यसंभवात्' श्रोत्र सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

[मानसप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मादिपदार्थस्य ज्ञान न भवति]

यदि पुनरेकमेवान्तःकरण योगजधर्मानुगृहीत युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते'

इसलिए ऐसा नहीं हो सकता है ।

मीमांसक—तो फिर परमाणु आदि में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष से ही विरोध तुल्य है क्योंकि जिस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियां अपने-अपने प्रतिनियत रूपादि पदार्थों को विषय करते हुये देखी जाती हैं किंतु अप्रतिनियत सकल परमाणु आदि पदार्थ तथा रूप रस आदि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं । उसी प्रकार से उपलब्धि लक्षण प्राप्त जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं तथा महत्व आदि गुणों से सहित ऐसे जो पृथ्वी आदि द्रव्य हैं एवं उन द्रव्यों में समवेत रूप से रहने वाले जो रूपादि गुण हैं ये सभी पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत प्रसिद्ध हैं । फिर भी परमाणु आदि पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

नैयायिक—समाधि विशेष से उत्पन्न होने वाले धर्म के माहात्म्य से प्रत्यक्ष का भी उल्लंघन करके चक्षु आदि इन्द्रियां परमाणु आदि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं अर्थात् जान लेती हैं परन्तु एक ही इन्द्रिय रस गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती है ।

मीमांसक—चक्षु इन्द्रिय और परमाणु के संयोग सन्निकर्ष का अभाव होने पर भी आप नैयायिक का जो यह कथन है उस कथन में मूर्खता के अतिरिक्त विशेष व्यवस्था का कारण हमें कुछ भी नहीं दिखता है । इसी कथन से परम्परा से परमाणु रूप आदि में इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है इत्यादि मान्यता का भी खंडन हो गया समझना चाहिये । क्योंकि संयोग के अभाव में संयुक्त समवाय संयुक्त समवेत समवाय आदि भी संभव नहीं है । जिस प्रकार से श्रोत्र इन्द्रिय में संपूर्ण शब्दों का समवाय असंभव है तब शब्दत्व रूप से समवेत समवाय भी असंभव ही है ।

---

१ सकलपदेन [illegible] । २ आदिपदेन [illegible] । ३ योगजधर्मानुगृहीतत्वधर्मातिशयात् [illegible] । ४ [illegible] संयोगसन्निकर्षाभावे । ५ [illegible] निराकरणेन । ६ आदिपदेन [illegible] । ७ आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवाय[illegible] ८ भी नैयायिक । ९ तव नैयायिकस्य ।

---

(1) [illegible] । (2) [illegible] ।

तथापि दृष्टातिक्रम[1] एव, [1]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात[2]। तत्र दृष्टाति-क्रमेष्टौ[2] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्त करणनिरपेक्ष साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणेवान्त करणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[3] कस्यचित्प्रत्यक्षा[4] सूक्ष्माद्यर्था संभाव्यन्ते । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[4] कस्यचित्प्रत्यक्षा [5]साध्यन्ते इति [5]चेद अप्रसिद्धविशेषण[6] पक्ष, [6]क्वचिदनीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्ध साख्य प्रति [8]विनाशी शब्द इत्यादिवत् । साध्यशून्यश्च दृष्टान्त स्यादग्न्यादेरनीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नही होता है ।]

पुन यदि आप नयायिक एक अन्त करण (मन) को ही योगज धम से अनुगृहीत स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् सपूण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहा प्रत्यक्ष का उल्लघन हो ही जावेगा क्योकि मन की एक साथ अनेक विषया मे प्रवत्ति नही देखी जाती है युगपत ज्ञानानुत्पत्तिमनसो लिंग ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय मे प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमे कोई बाधा नही है क्योकि समाधि विशेष से उत्पन्न धम का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगहीत मन एक साथ ही सपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई ! स्वय आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धम विशेष (केवलज्ञान) के बल से अत करण से निरक्षप होता हुआ ही साक्षात सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुन इद्रियो के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओ का क्या प्रयोजन है ? अत किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदाथ प्रत्यक्ष नही हो सकने है । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीद्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमे से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार कर कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

---

१ प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव । २ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात । ३ प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । ४ सूक्ष्माद्यर्था । ५ मीमासक । ६ सक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षा इति अप्रसिद्ध विशेषणं यस्य स । अतीन्द्रियप्रत्यक्षत्वं तीर्व विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थ । ७ दृष्टांते । ८ साख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु विक्रियद्विनाशि ।

---

(1) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षण । (2) ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टाविक्रमेष्टी इति पा दि. प्र. । (3) इंद्रियांत करणात् । (4) द्वितीयविकल्प । (5) यौगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियज्ञानेन कस्यचित् पु स प्रत्यक्षा मया साध्यंत इति किं तवाभिप्राय । दि प्र । (6) आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं [illegible] ।

[इंद्रियानिंद्रियानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्था ज्ञायंते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति[1] केचित्तेपि न सम्यग्वादिन, सूक्ष्माद्यर्थानामिंद्रियजप्रत्यक्षेण [1]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[1]। [2]तथा [3]साधयतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[3]। [4]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं [4]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषण पक्ष साध्यशून्यश्च दृष्टान्त स्यात [5]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थाना सामान्यत कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यकस्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिंद्रियानपेक्षत्व सिध्यत्येव। तथा हि। [6]योगिप्रत्यक्षमिंद्रियानिंद्रियानपेक्ष,

---

विशेषण वाला हो जाता है क्योकि दृष्टान्त मे अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व असिद्ध ही है। जिस प्रकार से सांख्य को अनित्य शब्द' असिद्ध है क्योकि सांख्य के मत मे प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है। उनके यहां किसी भी पदार्थ को अनित्य नही माना है।

एव दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नही हैं। यहा अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं।]

जैन—इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमासक भी सम्यग्वादी नही हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नही हैं। इसलिए उस पक्ष मे दिये गये दोष हम जैनों के यहा संभव ही नही हैं। उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिको के लिए हम स्याद्वादियो ने भी उन दोषो का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नही करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एव दृष्टांत साध्य से शून्य होवे। अर्थात हमारे यहा ये दोष नही आते हैं।

मीमांसक—तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं?

जैन—प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन

---

१ स्याद्वादिन आहु 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिन इति। २ जैनानाम्। ३ नैयायिकानाम्। ४ सिद्धान्ती। ५ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं साध्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि। (६) योगी=सर्वज्ञ।

---

(1) इन्द्रियजप्रत्यक्ष। (2) सूक्ष्माद्यर्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवति। इति (3) साधयतां यौगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यते। दि प्र। (4) योगिन इंद्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृह्णाति। (5) अस्माभिः स्याद्वादिभिः।

सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात् । यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं यथास्मदादि-प्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नाव-धिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः ।

की अपेक्षा रहित है यह बात भी सिद्ध हो हो जाती है । तथाहि—

"सर्वज्ञ भगवान का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला है जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित नहीं है । वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भी नहीं है जैसे कि हम लोगों का प्रत्यक्षज्ञान और सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भगवान सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध ही है । इसीलिये वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान के द्वारा भी हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित हैं यह बात सिद्ध है ।

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे तैसे करके इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं । अब वह इस बात को समझना चाहता है कि ये सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ? क्योंकि इन्द्रिय और मन को छोड़कर ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये और कोई साधन ही नहीं है ।

पुनः वह स्वयं ही कहता जा रहा है कि इन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष करना अशक्य है क्योंकि इन्द्रियां वर्तमान-कालीन अपने ग्रहण करने योग्य कतिपय पदार्थों को ही विषय करती हैं । इसी बीच में मीमांसक का पड़ोसी नैयायिक आ जाता है और वह कहने लगता है कि भाई ! योग विशेष से उत्पन्न हुये अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियां परमाणु आदि को जान लेती हैं ।

इस पर मीमांसक ने कहा कि भाई ! योग विशेष का अनुग्रह क्या चीज है ? जब इन्द्रियां अपने विषय में प्रवृत्ति करती हों तब उसमें कुछ विशेषता का हो जाना अनुग्रह है या परमाणु आदि को जानने में इन्द्रियों के लिए सहकारी होना अनुग्रह है ? इन दोनों ही विकल्पों में मीमांसक ने दोष दिखा दिये हैं क्योंकि इन्द्रियों में योगज धर्म या मंत्र तंत्र अंजन गुटिका आदि अथवा आधुनिक यंत्र दूरबीन, खुर्दबीन आदि कैसे भी साधन मिल जावें । चक्षु इन्द्रिय देखने का ही काम करेगी खुर्दबीन जैसे यंत्र से भी सुनने का काम नहीं कर सकेगी । कर्णेन्द्रिय रेडियो टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा लाखों मीलों की बातें को सुन ही सकती है, देख नहीं सकती है । सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं ।

---

१ अतिरिक्तव्याप्ति ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं उनका कहना है कि पहले चक्षु इंद्रिय का घट से संबंध हुआ उसका नाम है, संयोग' पुन उसके रूप से संबंध हुआ है उसका नाम है "संयुक्त समवाय इसके बाद इंद्रिय ने जो उसके रूपत्व को जाना उसका नाम "संयुक्तसमवेतसमवाय ' है।

मीमांसक कहता है कि जब इन्द्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता है तब संयोग संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष भी कैसे बनेंगे ? पुनरपि मीमांसक उस नैयायिक को समझा रहा है कि भाई ! यदि आप कहें कि मन पर योगज धर्म का अनुग्रह होता है और मन ही संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जान लेता है तो यह बात भी घटित नही है क्योंकि मन एक साथ पंचेंद्रियों के विषयो को भी नही समझ सकता है तब सूक्ष्मादि पदार्थो को जानने की बात बहुत ही दूर है। हां ! जैनों ने अवश्य मानस मतिज्ञान के द्वारा मूर्तिक अमूर्तिक छहो द्रव्यों का ज्ञान और उनकी कतिपय पर्यायों का ज्ञान माना है किन्तु फिर भी मन से संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं माना है।

यदि मूल का दूसरा विकल्प लिया जाय कि अतींद्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ संपूर्ण पदार्थों को जानते हैं तो यह बात भी नही बन सकती क्योंकि अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असिद्ध ही है। पहले उसे ही सिद्ध करने मे आपको बहुत शक्ति लगानी पडगी। इस प्रकार से मीमांसक से आमना-सामना करके अपनी शंका का समाधान करने का प्रयत्न करते हुये अपनी ही बात को पुष्ट कर दिया है।

अब जैनाचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं कि भाई ! यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानें तो ये सब दोष हमारे ऊपर आ आवेंगे किन्तु हम तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संपूर्ण पदार्थो का प्रत्यक्षीकरण नही मानते हैं और न आपके द्वारा कल्पित अतींद्रिय प्रत्यक्ष से ही सूक्ष्मादि पदार्थो का साक्षात्कार मानते हैं। इसलिये आप मीमांसक हमारे ऊपर दोषारोपण नही कर सकते हैं प्रत्युत हम जैन सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थो को प्रत्यक्ष जानना मानते हैं।

वह सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन आदि की अपेक्षा से रहित है अत परमार्थ प्रत्यक्ष है। अत्यन्त ही केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का ही निजी स्वभाव है। उसे ही अतींद्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

"सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्य ' इस सूत्र के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री विशेष से अखिल आवरण के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान अतींद्रिय है और मुख्य प्रत्यक्ष है, शेष, मति, श्रुत अवधि मन पर्ययज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान हैं वे मुख्य प्रत्यक्ष नही हैं। आदि का मतिज्ञान न्याय की भाषा मे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सैद्धांतिक ग्रंथों के आधार से इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और वे क्षायोपशमिक होते हुए भी अतींद्रिय हैं। ये दोनों ज्ञान भी इंद्रिय और मन की सहायता से रहित हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष करते आते हैं परमाणु तक सूक्ष्म वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखते हैं, कई भवों की और

[सूक्ष्मादिपदार्थान् क प्रत्यक्षेण जानाति अर्हद् भगवान् बुद्धादयो उभयव्यतिरिक्त: कश्चिद् वा ?
इत्यादिप्रश्नमाला विचार]

[9]ननु च कस्येद सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं [1]साध्यते ? अर्हतोनर्हत[1] सामान्यात्मनो वा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हत साध्यते[1] पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव [2]व्याप्तिर्न[4] सिध्येत । [3]अनर्हतश्चेदनिष्टानुष गोपि[4] । क पुन सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्[4] ? इत्येत[9]द्विकल्पजाल शब्दनित्यत्वेपि[4] समान, न केवल सूक्ष्मादि साक्षात्करणस्य [5]प्रतिषेधने सशीतौ वा । [10]तदयमनमानमुद्रा[6] [1] मिनत्ति* । न कश्चित्सूक्ष्मा

असख्यात द्वीप समुद्रो तक की भी बातें स्पष्ट जान लेते हैं। य भी स्वात्मा से ही उत्पन्न होने से पूर्ण विशद हैं केवलज्ञान से अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान मे अतर केवल इतना ही है कि य द्रव्य क्षत्र आदि की मर्यादा को लिय हुए सीमित है एव केवलज्ञान सपूण लोकालोक को जानने वाला होने से असीमित अनत है। स्पष्टता की अपेक्षा इन तीनो मे कोई अतर नही है। अत मे निष्कष यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है यह बात यहा सिद्ध की गई है।

[सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हत बुद्धआदि या इनसे भिन्न अन्य कोई जन ?]

मीमांसक—यह सूक्ष्मादि पदार्थो का प्रत्यक्षपना आप किसके सिद्ध करते हैं अर्हत (केवली जिन) के या अनर्हत (बुद्धादिक) के अथवा सामान्य आत्मा के ?

यदि विप्रकृष्ट अर्थो—दूरवर्ती पदार्थो का प्रत्यक्षपना अर्हत में सिद्ध करते हो तब तो पक्ष मे अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष आता है इसी से व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं होगी। अर्थात् जहां-जहां अनुमेयत्व हेतु है वहां-वहां किसी अर्हत के प्रत्यक्षपना है यह व्याप्ति नहीं बन सकेगी और यदि आप ऐसा कहें कि अनर्हत (बुद्धआदिक) के परोक्ष पदार्थो का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तब तो आपके यहां अनिष्ट का प्रसग भी आता है क्योंकि आप जनों के यहां अर्हत क अतिरिक्त किसी बुद्ध कपिल आदि में सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं है। पुन अर्हत और अनर्हत क अतिरिक्त सामान्यात्मा और कौन है कि जिसके आप सूक्ष्मादि परोक्ष पदार्थो का प्रत्यक्षत्व सिद्ध कर सक ?

जैन—इस प्रकार के ये विकल्प जाल आपके यहां शब्द को नित्य मानने रूप अनुमान में भी

---

१ मीमांसक । २ बुद्धादे । ३ तर्हीत्यध्याहार्यम् । ४ यत्र यत्रानुमेयत्व तत्र तत्र कस्यचिदर्हत प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिमी स्यत पक्षदोष । ५ अपिशब्दात्पक्षदोषोपि । ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम् । ७ जैन आह । ८ मीमांसकस्येष्टे । ९ तत्रत्याक्षर्य मीमांसक । १० मीमांसक सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसशययो क्रमेणानुमाने द्व रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण) ।

---

(1) सूक्ष्मांतरितदूरार्था कस्यचिदर्हत प्रत्यक्षा । (2) सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः अर्हत प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् । यद्यत्प्रमेयं तत्तदर्हतः प्रत्यक्षमिति व्याप्तेरभावात् । (3) बुद्धादे । (4) समुच्चये । (5) सर्वज्ञस्य निषेधे संशये वा । (6) [illegible] ।

दिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादे[1], रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्न पुरुष सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव 'विप्रकृष्टस्वभावत्वात्[2] पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने सशीतौ वा [3]तावदिद विकल्पजाल समानं सिद्धमेव । [4]स हि तत्र प्रतिषेध सशय वा साधयन् किमर्हत साधयेदनर्हत सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषण पक्षो[2] व्याप्तिश्च न सिध्येद [3]दृष्टान्तस्य[5] साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादे परस्या[6] सिद्धरनिष्टानुषङ्गश्च[4] अर्हतस्तत्प्रत्यक्ष[5]त्वविधाननिश्चयात् । क पुन सामान्यात्मा तदुभय व्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थं प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसशयौ साध्येते ? इति ।

समान हैं न कि केवल सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात् करने वाल सवज्ञ का प्रतिषध करने में अथवा उनमे सशय करने मे । इसलिए आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं ।७

कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थो का साक्षात्कारी नही है क्योकि पुरुष है उन्मत्त पुरुष के समान । विवाद मे आया हुआ पुरुष सूक्ष्मादि पदार्थो को साक्षात करने मे सदिग्ध ही है क्योंकि परोक्ष स्वभाव वाला है जसे कि पिशाचादि । इस प्रकार सूक्ष्मादि को साक्षात् करने वाले सवज्ञ का निषध करने मे अथवा सदेह करने मे आप मीमासक के यहां य विकल्प जाल समान ही सिद्ध होगे । तथाहि—

आप मीमासक सवज्ञ का निषध करते हुए अथवा सर्वज्ञ मे सशय करते हुए इन दोनो बातो को अर्हत मे सिद्ध करते हैं या अनर्हत मे अथवा सामान्यात्मा मे ? यदि आप पहला विकल्प मानें कि हम अर्हत मे सवज्ञत्व का प्रतिषध करते हैं तब तो आपका पक्ष असिद्ध विशेषण वाला है एव उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नही होती तथा दृष्टांत भी साध्यविकल है । यदि अर्हंत से रहित बुद्ध आदि में सर्वज्ञत्व का निषध करते है तब तो आप मीमासको के यहा कपिल बुद्ध आदि की असिद्धि ही नही मानी गई है अत अनिष्ट का प्रसग आ जाता है ।

एव अर्हत में तो सूक्ष्मादि के प्रत्यक्ष का विधान ही निश्चित किया है और पुन इन दोनों को छोड़कर सामान्यात्मा है कौन कि जिसके विवक्षित सूक्ष्मादि पदार्थों के प्रत्यक्षत्व का आप निषध सिद्ध करें या सदेह सिद्ध कर ?

[मीमासक जिन प्रश्नोत्तरो के द्वारा सवज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं जनाचाय उन्ही प्रश्नोत्तरो से उसी के द्वारा मान्य नित्य शब्द का खडन कर देते हैं ।]

---

१ विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य । २ पूर्वोक्तप्रकारेण । ३ तव मीमांसकस्य । ४ मीमांसक । ५ रथ्यापुरुषस्य । ६ मीमांसकस्य । ७ सूक्ष्माद्यर्थानाम् ।

---

(1) पुरुषत्वात् रथ्या इति पा. । दि प्र । (2) अर्हन् प्रसिद्धो न वर्तते । (3) सव्याप्तिकं दृष्टांतवचनमुदाहरणमीहम् विपक्षव्यावृत्त्यभावात् विशेषणेऽर्हत्यभावे सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वस्य रथ्यापुरुषे सद्भावो भविष्यति । (4) मीमांसकस्य । (5) प्रतिषेधन्यायेन ।

[मीमांसको यथा अर्हतोऽनुमानद्वयेन सर्वज्ञाभावं करोति जैनाचार्या अपि तं प्रत्येवं तदनभीष्टपक्षान् दूषयंति]

[1]शब्दस्य नित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम् । तथा हि । [2]एषां शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मना वा ? वर्णानां नित्यत्वसाधकत्वा-दिना[1] सर्वगतानां यदि साधयति [3]स्यादप्रसिद्धविशेषणः[2] [4]पक्षः [5]इतरथानिष्टानुषङ्गः । [6]कीदृक् पुन सामान्यं नाम [7]तदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि [8]समानम् * । तद्धि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मना वा ? अमूर्तानां [9]सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता[1] पक्षस्य । अथ मूर्तानामनिष्टानुषङ्गः[1] । कीदृक् पुन सामान्य नाम [11]तदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्तेतर

इसी प्रकार से आपके मतानुसार शब्द को नित्य सिद्ध करने मे भी ये सभी विकल्प समान ही हैं। तथाहि—आप शब्दो को नित्य सिद्ध करते हुये सर्वगत शब्दो को नित्य सिद्ध करते हो या असर्वगत शब्दो को अथवा सामान्य शब्दो को ?

अकृतकत्व आदि हेतु के द्वारा वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये यदि सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जावेगा और यदि असर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो अनिष्ट का प्रसंग आ जावेगा। पुन इन दोनों से रहित सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको इन दोनों में दिये गये दोषों का परिहार करने के लिये आप कल्पित कर सके अर्थात् नहीं कर सकते हैं एवं सर्वगतत्व को सिद्ध करने में भी ये ही दोष समान रूप से आ जाते हैं।* वह सर्वगतत्व को अमूर्तिक वर्णो मे सिद्ध करते हो या मूर्तिक मे अथवा सामान्यात्मक मे ?

यदि आप कहे 'अमूर्तिक शब्द सर्वगत हैं क्योकि वे अकृतक है तब तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण वाला है। यदि मूर्तिक शब्दो को सर्वगत सिद्ध करे तब तो आपके लिये अनिष्ट है। आप मीमांसक शब्दो को अमूर्त ही मानते हो। पुन सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको दोनो ही दोषो के प्रसंग को दूर करने के लिये आप कल्पित कर सकते हैं ? सर्वगतेतर सामान्यात्मा के समान मूर्तेतर सामान्यात्मा भी

---

१ मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने यथा तथापीति। अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यस्मिन् सम्यगित्यर्थ । २ मीमांसक । ३ अप्रसिद्ध सर्वगतत्वविशेषणं यस्य स । ४ शब्द । ५ असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत् । ६ अनिष्टानुषङ्गत्वलक्षणोऽप्रसिद्धविशेषणत्वलक्षणश्चानुषङ्गदोषो। ७ एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्ध । ८ सर्वगतत्वम् । ९ अमूर्त शब्द सर्वगत, अकृत-कत्वादिति । १० मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात् । ११ पक्षदोषोनिष्टानुषङ्गश्चेति ।

---

(1) अकृतकत्वात् अनुत्पत्तिमत्त्वादित्यादि हेतुना । (2) नित्यसर्वगतत्वस्य क्वचिदप्रसिद्ध अथवा एकान्तवाद्यभिमत-सर्वथा सर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्ध । दि प्र (3) सामान्यात्मनां वा । (4) अमूर्तानामपि अमूर्तत्व सर्वदोषसम्भवमानगुणत्वात् अथवा एकान्तवाद्यभिमतसर्वथामूर्तत्वस्य स्याद्वादिना क्वचिदप्यप्रसिद्ध । दि प्र ।

सामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु[1]। [1]तदयमनुमानमुद्रां [2]सर्वत्र भिनत्तीति नानुमानविचारणा मामधिकृत[2] स्यात्। [3]अविवक्षितविशेषस्य[3] पक्षीकरणे सम [4]समाधिरित्यलमप्रति[4]ष्ठितमिथ्याविकल्पौघै[1] *। यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोष स्यात् नाप्यविवक्षितामूर्तत्वेतरविशेषस्य [6]सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिना सर्वगतत्वे तथवाविवक्षिताहदनहद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न [5]कश्चिद्दोष पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्य [9]प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्य, [1]तेषामप्रतिष्ठितत्वात्[6] [11]साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि [12]स्वाविषयेवतारात। ततो निरवद्यमिद साधन कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्व साधयति।

वर्णो मे असभव ही है। इसलिय आप मीमासक के यहाँ अपने पक्ष मे भी समान ही दोषों का प्रसग आने मे आप मीमासक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते है। अत अनुमान के विचार करने मे आपको अधिकार ही नही है। तथा यदि आप कहे कि—

अविवक्षित है विशेषता जिसकी अर्थात सर्वगतत्व असर्वगतत्व आदि विशेषताओं से रहित सामान्य मात्र को ही हम पक्ष बनाते हैं तो समान ही समाधान है। इसलिये अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह से बस होव।* क्योकि जिस प्रकार से सर्वगतत्व असर्वगतत्व की विशेषता जिसमे विवक्षित नहीं है ऐसे शब्दो को अकृतत्व आदि हेतु के द्वारा नित्य सिद्ध करने मे कोई दोष नही है। एव मूर्त अमूत का भेद विवक्षित नही है जिनमे ऐसे शब्दो को सर्वत्र उपलब्धि को प्राप्त गुणत्व आदि के द्वारा सर्वगत रूप सिद्ध करने मे कोई दोष नही है। अर्थात नित्य शब्द सर्वगत होता है क्योकि द्रव्य रूप होने से अमूर्तिक है जसे आकाश इत्यादि।

उसी प्रकार से जिसमे अर्हंत एव अनर्हत की विशेषता विवक्षित नही है ऐसा कोई पुरुष अनुमेयत्व आदि हेतु के द्वारा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्करण करने वाला है इस विषय म केवल प्रकृत साधन (अनुमेयत्व) के अविरोधी अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पो के समूह के अतिरिक्त हमे कोई दोष नही दिखता है क्योकि य विकल्प (भेद) अप्रतिष्ठित हैं। साधनाभास मे अपने अविषय क समान सम्यक साधन मे भी अपने विषय का अवतार नही होता है। अत हमारा यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और किसी व्यक्ति विशेष को सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी होना सिद्ध करता है।

---

१ यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं तत्तस्मादय मीमांसक। २ स्वपक्षेपि परपक्षवत्। ३ अविवक्षित सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिविशेषो यस्य स तस्य। ४ हे मीमांसक। ५ अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूप ६ सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम्। ७ नित्य शब्द सर्वगतो भवति द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च। ८ विना। ९ प्रकृत साधनमनुमेयत्वम्। १० विकल्पौघात्। ११ अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम्। १२ मिथ्याविकल्पौघाविषये।

---

(1) सामान्यात्मनोरसंभवादिति आ पा०। दि प्र। (2) योग्य। (3) शब्दस्य। (4) अव्यवस्थित। (5) न केनापि कोपदोष इति प्र, दि. प्र। (6) अप्रतिष्ठितत्वं कुत ?

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे-तैसे यहाँ तक तो मंजूर कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और वह प्रत्यक्ष अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसे चैन नहीं पड़ी और वह प्रश्न करने में पुनः आगे बढ़कर कहता है कि अच्छा आप जैन ! यह तो बतलावो कि वह अतींद्रिय प्रत्यक्ष आप अर्हंत के मानते हैं या बुद्ध कपिल आदि के या इन दोनों से रहित किसी सामान्य आत्मा के ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो बनता नही क्योकि कोई भी आत्मा अर्हत रूप से सिद्ध ही नहीं है और अप्रसिद्ध को पक्ष बनाया ही नहीं जा सकेगा। द्वितीय पक्ष में बुद्ध कपिल आदि को अतींद्रियदर्शी मानना आपको इष्ट नही है।

तृतीय पक्ष में इन दोनों को छोडकर और आत्मा है कौन जिसे आप सर्वज्ञ सिद्ध कर सकें ? अत आप अपने अर्हंत को ही सवज्ञ सिद्ध नही कर सकते हैं।

इस पर जैनाचाय कहते हैं कि ये तीन प्रकार के दूषण तो सवत्र ही दिये जा सकते हैं। आप मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध किया है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि आप सर्वगत शब्दो को नित्य सिद्ध करते हैं या असवगत शब्दो को या इन दोनो से रहित सामान्य शब्दो को ? एव शब्दो को सवगत सिद्ध करते हुए आप अमूर्तिक शब्दो को सवगत सिद्ध करते हैं या मूर्तिक शब्दो को या इन दोनो से रहित किन्ही शब्दो को ?

इसी प्रकार से आपकी सभी मा यताओ मे हम इन्ही विकल्पो को उठाकर दूषण देते जावेंगे। तब मीमासक घबड़ाकर बोल पडा कि भाई ! हम विशेष की विवक्षा न करक सामान्य मात्र शब्दो को ही नित्य सर्वगत और अमूर्तिक सिद्ध करते हैं अत हमारे यहा ये कोई दोष नहीं आते हैं।

जैनाचाय ने कहा कि भाई ! फिर मुझ पर ही आपको इतना क्या द्वष है कि जिससे आप इस प्रकार से कुप्रश्नो की भरमार करते ही जा रहे हैं। हम भी तो विशेष रूप से अर्हत अनर्हंत की विवक्षा न करक सामान्य मात्र से ही किसी भी पुरुष को सवज्ञ सिद्ध कर रहे हैं। हमें किसी से भी द्वष नहीं है जो कर्म पर्वत को भेदन करने वाला दोष–आवरण से रहित निर्दोष महापुरुष है वह कोई भी क्यो न हो बस ! हम उसे ही सवज्ञ मान लेते हैं। इसलिये अनुमेयत्व हेतु के द्वारा किसी न किसी आत्मा के संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थोंका साक्षात्कार होना सिद्ध ही हो जाता है। अब अधिक कथन से तो केवल पिष्टपेषण ही होगा ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—इस प्रकार किसी के कमभूमृत् भेदित्व के समान विश्व-तत्त्वों का साक्षात्कारित्व भी हो जावे क्योंकि सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे प्रमाण का सद्भाव पाया जाता

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेत्तृत्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, 'प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्माऽर्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोऽहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति "व्यवसिताऽभ्यनुज्ञानपुरस्सरं[1] भगवतो [2]विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे" सतीवाचार्या प्राहु ।—

स त्वमेवासि [3]निर्दोषो [4]युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो [5]यदिष्टं ते[6] प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो[7] निर्दोषः । "प्रमाणबलात्सिद्ध सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो य स त्वमेवार्हन् युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो "यत्र[8] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक स तत्र निर्दोषो दृष्टो यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे

है । पुनरपि वह परमात्मा अर्हंत ही हैं यह निश्चय कैसे हो सकता है कि जिससे मैं ही आपके लिये महान् नमस्कार करने योग्य होऊं । इस प्रकार निश्चित स्वीकृति पूर्वक भगवान् के विशेष सर्वज्ञत्व के प्रश्न करने पर ही मानो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—हे भगवन् ! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एव युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले वह अर्हत परमात्मा आप ही हैं क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमे प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नही आती है ॥६॥

अज्ञान राग द्वेष आदि तो दोष कहे गये हैं और जो दोषो से रहित हैं वे निर्दोष हैं । पूर्वोक्त चौथी एव पाचवी कारिका मे कहे गये अनुमान प्रमाण के बल से सामान्यतया जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुये हैं । हे भगवन ! वे आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति (तर्क) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं जो जहां पर युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं वे वहां पर निर्दोष देखे गये हैं जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य । मुक्ति और ससार तथा इन दोनो कारणो मे भगवान् युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं इसीलिये वे निर्दोष हैं । इस प्रकार से हमारा निश्चय है । मेरे वचन

१ प्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वलक्षणम् । २ व्यवस्थितेति पाठान्तरम् । ३ व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम् । ४ प्रश्ने । ५ युक्तिस्तर्कः । शास्त्रमागमः । हेतुगर्भित विशेषणमिदम् । ६ यस्मात्ते इष्टं प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोध इत्यर्थः । ७ अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात् । ८ तत्वे ।

(1) निश्चित । ता । अभ्युपगम । (2) अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति विशेषस्य । (3) दोषेभ्योऽज्ञानरागद्वेषादिभ्यो निष्क्रान्तः । दि. प्र. । (4) मत । (5) यस्मात् । (6) तत्वं । (7) भगवान् पक्षो निर्दोषो भवतीति साध्यो धर्मो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । इत्येकमनुमानमेकं । भगवान् पक्षः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक भवतीति साध्यो धर्मः भगवतोऽभिमततत्त्वस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति द्वितीयं । दि.प्र. । (8) यः सामान्यतः सिद्धः स त्वमेव मोक्षसंसारतत्कारणेषु निर्दोषो अविसंवादीति यावत् युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् इति अभिप्रायेणोक्तो द्रष्टव्यः । दि. प्र. ।

भिषग्वर[6] । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक च भगवान् मुक्तिससारतत्कारणेषु[7] तस्मान्निर्दोष इति निश्चय । युक्तिशास्त्राभ्यामविरोध कुतो [3]मद्वाच [4]सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्ट मोक्षादिक ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि । यत्र [5]यस्याभिमत[1] तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक । यथा [2]रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे[6] भिषग्वर । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोभिमत मोक्षससारतत्कारणतत्त्वम । तस्मात्तत्र त्व युक्ति शास्त्राविरोधिवाक । इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्ध विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-

---

शास्त्राविरोधिता युक्ति आगम से अविरोधी किस प्रकार से सिद्ध है ? इस प्रकार से भगवान के प्रश्न करने पर ही मानों समंतभद्र आचाय कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके मोक्षादिक तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नही होते हैं । तथाहि— जहा पर जिस पुरुष का अभीष्ट तत्त्व प्रमाण से बाधित नही होता है वह वहा पर युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाला है जैसे रोग और स्वास्थ्य तथा उनके कारणो मे उत्तम वद्य । भगवान के द्वारा अभिमत मोक्ष ससार और उन उनके कारण कारणभूत तत्त्व प्रमाण से बाधित नही होते है । इसीलिये उस-उस विषय मे भगवान आप ही यक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाले है ।

इस प्रकार मोक्ष ससार एव इन दोनो के कारणभूत इस विषय को यक्ति शास्त्र से अविरोधी पना सिद्ध होने से विषयी भगवान के वचनो को भी युक्ति और शास्त्र से अविरोधीपना सिद्ध हो जाता है ।

भावार्थ—श्री स्वामी समतभद्राचायवय ने देवागम स्तोत्र म देवागमनभोयान इत्यादि कारिका के द्वारा बहिरग विभूतिमान् हेतु से भगवान को महान नही माना है । अध्यात्म बहिरप्येष इत्यादि द्वितीय कारिका के द्वारा अतरग महोदय से भी भगवान को नमस्कार नही किया है तथा तीथकृत्सम यामा इत्यादि तृतीय कारिका से सभी के आम्नाय मे परस्पर विरोध दिखाकर पुन धीरे से ऐसा कह दिया है कि कश्चिदेव भवेदगुरु कोई न कोई एक भगवान् अवश्य ही होना चाहिये ।

इसके पश्चात् चतुथ कारिका मे इस बात को बताया है कि दोष और आवरण से ही प्राणी ससारी कहलाते हैं इनका किसी न किसी मे पूर्णतया अभाव हो सकता है क्योकि ससारी प्राणियो में दोष और आवरण के हानि की तरतमता देखी जाती है । पुन आगे पाचवी कारिका मे यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है ।

---

१ [illegible]युक्त्यविरोधिवाग निर्दोष । २ मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेष । ३ मम वद्ध मानस्य । ४ प्रामस्त्येन । ५ यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्ध । ६ रोगश्च स्वास्थ्य च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्व तस्मिन् । ७ भगवान् ।

---

(1) मोक्षससारतत्कारणेषु त्व युक्तिशास्त्राविरोधिवाग् भवितुमर्हसि तत्र त्वदभिमतस्य तत्त्वस्य स्वरूपस्य प्रमाणेनाबा- ध्यमानत्वात् इति प्रतिज्ञाहेतू द्रष्टव्यौ । दि प्र । (2) रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणे च तान्येव तत्त्वं [illegible] । दि. प्र. ।

[illegible]विरोधित्वसाधनम्[1] । [2]कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्त कथ्यते इति चेत् स्वयं [3]ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात ।

> "त्व सम्भव [4]सम्भवतर्षरोगै[5] सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
> आसीरिहाकस्मिक[6] एव वद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥

इति स्तोत्रप्रसिद्ध । [6]इह दृष्टान्तावचन तु सक्षपोपन्यासान्न विरुध्यते, [1]अन्यथानुपपन्नत्वनियमकलक्षणप्राधान्यप्रदर्शनार्थ वा ।

अब स त्वमेवासि निर्दोषो इस कारिका में यह स्पष्टतया कह रहे हैं कि वह सवज्ञ और निर्दोष भगवान् आप ही हैं । पुन प्रश्न यह होता है कि आप ही निर्दोष क्यो हैं ? क्योकि यहा परीक्षा प्रधानी शिष्यगण केवल आगम मात्र से ही भगवान् को निर्दोष मानने को तैयार नही हैं । उनको आचाय सम झाते हैं कि सवज्ञ भगवान निर्दोष इसलिये है कि उनके वचन तक और आगम से अविरोधी हैं क्योकि आपका शासन प्रत्यक्ष अनमान आदि प्रमाणो से बाधित नही है । लोक व्यवहार मे उत्तम वद्य रोगी के रोग का कारण बता दता है और स्वस्थता के कारण भी बता देता है अब यह स्वस्थ हो चुका है इसके ज्वर आदि विकार निकल चुके है । वद्य के ऐसे निर्णय पर आबाल गोपाल जन विश्वास कर लेते हैं ऐसा देखा जाता है । अब आगे इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि भगवान् के शासन मे मान्य मोक्ष और ससार एव इन दोनो के कारण भी विरोध रहित तक आगम आदि से सिद्ध है ।

प्रश्न—इस कारिका मे दृष्टात न होते हुये भी भिषग्वर का दृष्टात आपने क्यो लिया ?

उत्तर—स्वय ग्रथकार श्री समतभद्राचाय स्वामी ने अन्यत्र स्वयभूस्तोत्र मे भिषग्वर का दृष्टात ग्रहण किया है यथा—

> त्व सभव: सभवतर्षरोग सतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
> आसीरिहाकस्मिक एव वद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजा प्रशात्य ॥

अर्थ—हे सभवनाथ भगवान् ! ससार मे तृष्णा रूपी रोग से पीडित हुये जीवो के लिये आप ही अकारण वैद्य हैं । जिस प्रकार से लोक मे रोगो की शांति के लिये वैद्य होते हैं ।

अत: यहा कारिका मे सक्षेप से कथन होने से दृष्टांत को नही कहने पर भी विरोध नही आता है अथवा हेतु में अन्यथानुपपत्ति ही निश्चित एक लक्षण प्रधान है ऐसा बतलाने के लिये भी दृष्टात नहीं लिया है ।

१ [illegible], [illegible]विरोधोपचारात् । २ तटस्थ शंकते । ३ समन्तभद्राचार्येण । ४ सभव संसार । [illegible] । ५ [illegible] लोक: । ६ [illegible] । ७ पक्षधर्मत्वादि[illegible] विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतो साध्य-सिद्धे: कारिकायां[illegible] ।

---

(१) [illegible] हेतोरन्यथानुपपत्ति[illegible] पक्षधर्मत्वाभावेऽपि [illegible] ।

भावार्थ—नैयायिकोंने हेतुके पांच अवयव माने हैं। १ पक्षधर्मत्व २ सपक्षसत्त्व ३ विपक्षव्यावृत्ति, ४ अबाधित विषयत्व ५ असत्प्रतिपक्षत्व। इसी प्रकार बौद्धो ने उपरोक्त पांच अवयवों में से आदि के तीन अवयव माने हैं किन्तु जैनाचार्यों ने "अन्यथानुपपत्ति एक लक्षण हेतु का माना है। इस अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु में पांचों अवयव नही है। तो भी हेतु साध्य को सिद्ध करने लाला सच्चा हेतु है और यदि हेतु में पांचो या चारों आदि अवयव होकर भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण अविनाभाव हेतु नहीं है तो हेतु अहेतु है साध्य का गमक नही है।

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश

मीमासक यह कहता है कि—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान तो वेद वाक्यो से ही होता है। अतएव जगत मे कोई सवज्ञ नही है। इस पर आचाय समाधान करते हैं कि—

सूक्ष्म परमाणु आदि एव अतरित राम रावणादि तथा दूरवर्ती सुमेरु पवत आदि परोक्ष पदाथ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं—अग्नि आदि के समान। एव हे भगवन ! वे पदाथ जिनके प्रत्यक्ष हैं वह आप ही निर्दोष सवज्ञ हैं क्योकि आप के वचन युक्ति शास्त्र से अविरोधी हैं तथा आपका मत ससार मोक्ष एव उनके उपाय प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होते हैं।

यदि कोई कहे कि अत्यंत परोक्ष पदाथ अनुमेय नही हो सकते अत अनुमेयत्व हेतु भागासिद्ध है। यह कथन ठीक नही है। कारण कि सूक्ष्मादि पदाथ अनुमेय हैं क्योकि श्रुत ज्ञान के विषय हैं एव श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। अतएव श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं। मीमांसक कहता है कि 'कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नही है क्योंकि वह प्रमेय है, या अस्ति रूप है या वस्तु रूप है। जैसे हम लोग। इस पर जनाचार्य कहते हैं कि ये हेतु तो हमारे सर्वज्ञ को ही सिद्ध करते हैं। तथाहि।

'सूक्ष्मादि पदाथ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योकि प्रमेयरूप हैं, अस्तित्व रूप हैं या वस्तु रूप हैं—स्फटिक आदि की तरह।

तथा सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं इन्द्रिय ज्ञान से नही, क्योंकि इन्द्रियां तो वर्तमान के प्रतिनियत पदार्थ को ही विषय करती है सभी को नहीं। अत इंद्रिय ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। इस बात का स्पष्टीकरण सन्निकर्ष खडन में विशेष रूप से है। एवं आप सर्वज्ञ अर्हंत ही निर्दोष हैं। बुद्ध कपिल आदि नहीं है क्योकि उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी नहीं हैं इस प्रकार से आप ही सर्वज्ञ वीतराग हैं यह बात सिद्ध हो गयी।

[मोक्षतत्कारणतत्त्वस्य सिद्धि]

[1]अत्र भगवतोऽभिमत मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य [1]तद्बाधकत्वायोगात् । [2]नास्ति [2]कस्यचिन्मोक्ष सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिवदित्य नुमानेन बाध्यते इति चेन्न मोक्षस्यानुमानादागमाच्च [3]प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थापनात्[4] [4]क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य[5] मोक्षत्वात, बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति वचनात्[5] । तत[6] एव [6]नागमेनापि मोक्षतत्त्व बाध्यते तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थिते । तथा [7]मोक्षकारण तत्त्वमपि[7] न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तरभावात्तेन[9] तद्बाधनायोगात । नानुमानेनापि तद्बाधन, [10]ततो मोक्षस्य [8]कारणवत्त्वसिद्ध । [11]सकारणको मोक्ष प्रतिनियत-

---

अत मोक्ष और ससार तथा मोक्ष और संसार के कारण इन चारों में भगवान के द्वारा प्रतिपादित जो मोक्षतत्त्व है वह प्रमाण से बाधित नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्ष से मोक्षादि तत्त्व मे बाधा नही है।

अब स्वमत मे अनुमान का अभाव होने पर भी चार्वाक परमत की अपेक्षा से अनुमान को ग्रहण करके मोक्ष तत्त्व का नास्तित्व सिद्ध करता है—

[चार्वाक के द्वारा मोक्ष एव उसके कारण का खडन एव जैन के द्वारा समाधान]

चार्वाक— किसी को भी मोक्ष नहीं है क्योंकि वह मोक्ष सत्ता को ग्रहण करने वाले पांचो प्रमाणों का विषय नही है कछुये क रोम के समान' इस प्रकार अनुमान से बाधा आती है। अर्थात प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति ये पांचों ही प्रमाण सत् रूप वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं और यह मोक्ष पाचो ही प्रमाणों का विषय नही है अत मोक्ष है ही नही ऐसा हमारा पक्ष है।

जैन— आपका यह कथन ठीक नही है। प्रसिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान से एव आगम से मोक्ष के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है। किसी जीव में अनत ज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति रूप फल तथा अनुमान एवं आगम से प्रसिद्ध दोष और आवरण का क्षय पाया जाता है उसी का नाम मोक्ष है। कहा भी है—' 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष' अर्थात् बध के हेतु का अभाव एव निर्जरा

---

१ मोक्षससारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये। २ तेषां=मोक्षतत्त्वादीनाम्। ३ स्वमतेऽनुमानस्याभावेपि चार्वाक परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति। ४ अग्र। ५ दोषावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना। ६ एव मोक्षस्य युक्त्यविरोधं प्रतिपाद्य शास्त्रा विरोधं प्रतिपादयति तत एवेति। ७ आगमस्य। ८ सम्यग्दर्शनादि। ९ प्रत्यक्षेण। १० अनुमानात्। ११ सम्यग्दर्शनादिकारणक।

---

(1) तस्य तदविषयत्वात्। (2) नरस्य। (3) प्रसिद्धप्रामाण्यादित्येतदुत्तरत्र सर्वत्र यथावसरमागमशब्देन सह संबन्धनीयं। (4) व्यवस्थापि। (5) एवं मोक्षे सदुपलम्भकानुमानागमप्रमाणद्वय संभवाप्रकारेण परोक्त सदुपलम्भक प्रमाणपञ्चकाविषयत्वं साधनमसिद्धमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यं। दि प्र (6) प्रसिद्धप्रामाण्येन। (7) स्वरूपं। (8) कारणवत्त्वसिद्धे इति पा.।

१कालादिमत्त्वात् पटादिवत् । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषंग परापेक्षा-रहितत्वादिति । २नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्व बाध्यते तस्य तत्साधकत्वात् "सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि 'मोक्षमार्ग' इति वचनात ।

के द्वारा सपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना इसी का नाम मोक्ष है । इस प्रकार तत्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है । उसी प्रकार आगम प्रमाण से भी मोक्षतत्व बाधित नही होता है क्योकि मोक्ष तत्व क सद्भाव का प्रतिपादक आगम उपलब्ध है ।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष इंद्रिय प्रत्यक्ष से नहीं दिखता है तो भी अनुमान एव आगम से सिद्ध है । राज वार्तिक में भी श्री भट्टाकलंक देव ने इसी बात को स्पष्ट किया है । कार्यविशेषोपलभात् कारणान्वेषण प्रवृत्तिरिति चेन्न अनमानतस्तत्सिद्धघटीयत्र भाति निवृत्तिवत ॥६॥ अर्थात

प्रश्न—मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखायी नही देता तब उसके मार्ग का ढू ढना व्यर्थ है ? उत्तर—यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नही है फिर भी उसका अनमान किया जा सकता है । जसे घटीयत्र रहट का घूमना उसक धुरे क घूमने से होता है । और धुरे का घूमना उसमे जुते हुए बल क धमने पर । यदि बल का घूमना बद हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धरे क रुक जाने पर घटी यत्र का घमना बद हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बल क चलने पर हो चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुगति रूपी धुरा हो अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनाय रूपी घटी यत्र घुमाता रहता है । कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुगति का चक्र रुक जाता है । और उसक रुकने से ससार रूपी घटी यंत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है इस तरह साधारण अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है ।

समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके माग का अन्वेषण करते हैं । जिस प्रकार भावी सूय ग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी आगम से उनका यथाथ बोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है । यदि प्रत्यक्ष न होने के कारण मोक्ष का निषध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धांत विरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदाथ मानते ही हैं । आगमात्प्रतिपत्त । प्रत्यक्षोऽनुपलभ्य-मानोऽपि मोक्ष आगमादस्तीति निश्चीयते । प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होत हुए भी मोक्ष है—ऐसा आगम से निश्चय किया जाता है ।

तथव मोक्ष के कारण सम्यग्दशनादि एव सवर निजरा तत्व भी प्रमाण से विरुद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से कारण के बिना मोक्ष की प्रतिपत्ति-ज्ञान का अभाव है क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष के कारणभूत तत्वों

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसामग्रीं विना मोक्षो न भवतीत्यत सकारणको मोक्ष । २ मोक्षकारणमित्यर्थ ।

(1) प्रसिद्धप्रामाण्येन ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं न मन्यते तस्य विचारः]

तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेस्तस्य तद्बाधकत्वाघटनात् । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । स न प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं त बाधेत ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं निराकरोति तस्य समाधानं]

अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावात्[3] । गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्टकायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः[5] पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम् अनुपलब्धे

से बाधा का अभाव है एवं अनुमान से भी बाधा नहीं आती है इसलिए अनुमान से भी मोक्ष कारण सहित सिद्ध है। मोक्ष सकारणक है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारण से होता है क्योंकि प्रतिनियत कालादि की अपेक्षा पायी जाती है अर्थात्—द्रव्य क्षेत्र काल, भाव एवं तीर्थादि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं होता है इसीलिए कारण सहित है जैसे घट आदिक। यदि मोक्ष को अकारणक मानोगे तो सर्वदा, सर्वत्र सभी जीवों के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि अकारणक होने से मोक्ष पर की अपेक्षा से रहित ही रहेगा। और आगम से भी मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में बाधा नहीं है क्योंकि मोक्ष के कारण को सिद्ध करने वाला आगम पाया जाता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रकार सूत्र वचन है।

[संसार तत्त्व पर विचार]

संसार तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से संसार के अभाव की असिद्धि है। वह प्रत्यक्ष संसार को बाधित नहीं करता है अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का होना इसी का नाम संसार है। वह संसार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि जिससे वह प्रत्यक्ष उस संसार को बाधित कर सके।

अर्थात् कर्म के निमित्त से कार्मण तैजस शरीर के साथ आत्मा का जो परलोक में गमन है वह किसी को प्रत्यक्ष से दिखता नहीं है और जो चीज प्रत्यक्ष से दिखती नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निषेध भी कैसे कर सकेगा।

[चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खण्डन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान]

चार्वाक—अनुमान प्रमाण संसार का बाधक है।

जैनाचार्य—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि संसार के अभाव के साथ प्रतिबद्ध (अविनाभावी) लिंग का अभाव है अतः अनुमान प्रमाण से बाधा नहीं आ सकती।

---

१ प्रत्यक्षस्य । २ चार्वाकः । ३ संसाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात् । ४ चार्वाक । ५ चैतन्यविशिष्टं कायं [illegible] ।

---

(1) [illegible] । (2) [illegible] इति न [illegible] [illegible] । दि. प्र. ।
(3) [illegible] दि. प्र. । (4) सहित । (5) भी ।

खपुष्पवदित्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न तस्यासिद्धेः । प्राणिनामाद्यं[1] [1]चैतन्यं [2]चैतन्योपादानकारणकं [2]चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्[4] । तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यं[3], तत एव तद्वत् । इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भाद्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः । गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन [6]व्यभिचारी [5]हेतुरिति चेन्न, [7]तस्यापि पक्षीकरणात् । वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः सम्मूर्च्छनं न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् ।

चार्वाक— गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य से विशिष्ट शरीरधारी पुरुष के जन्म से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई चीज नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है आकाश पुष्प के समान । इस प्रकार संसार के अभाव का ग्राहक अनुपलम्भ हेतु संसार तत्त्व का बाधक है ।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका अनुमान असिद्ध है प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के चैतन्य रूप उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह चैतन्य की पर्याय है जैसेकि मध्यवर्ती युवा आदि की चैतन्य पर्याय के लिए आदि की गर्भावस्था को प्राप्त चैतन्य पर्याय उपादान रूप है । तथा अन्त्य चैतन्य का परिणाम जो कि मरणावस्था लक्षण है वह चैतन्य का कार्य रूप है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है जैसे कि मध्य चैतन्य पर्याय । अर्थात्—मरण अवस्था वाला चैतन्य आगे के चैतन्य का उपादान कारण होने से आगे भी चैतन्य को जन्म रूप से उत्पन्न कराने वाला है । अन्यथा चैतन्य का निरन्वय विनाश हो जावेगा परन्तु निरन्वय विनाश सम्भव नहीं है यदि मानोगे तो सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा । इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से यथोक्त संसार तत्त्व की सिद्धि होती है ।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन से चेतन स्वरूप बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है अर्थात्—चैतन्य रूप उपादान कारण के अभाव में भी गोबर आदि अचेतन पदार्थों से बिच्छू आदि उत्पन्न हो जाते हैं ।

अतः चैतन्य की पर्याय होने से यह हेतु विपक्ष में चला जाने से व्यभिचारी है ।

१ गर्भावस्थाप्राप्तम् । २ आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत् । ३ मध्यो युवादेः । ४ मरणावस्थालक्षणः ५ उत्पत्स्यमानं चैतन्यं कार्यं यस्य सः । एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रे पि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्यात् । न च निरन्वयविनाशः सम्भवति सर्वलोपप्रसङ्गात् । ६ वृश्चिकादेश्चैतन्योपादानकारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोर्दर्शनात् । ७ वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात् । ८ गर्भोपपादरूपद्विप्रकारकजन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्च्छनम् ।

(1) चार्वाकाभिमतभूतचतुष्टयजन्यं आद्यचैतन्यं पक्षः पूर्वभवावसानचैतन्योपादानकारणकं भवतीति साध्यो धर्मः चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत् । दि प्र । (2) पर्याय । (3) बल । (4) अनुमानस्य प्रामाण्यासिद्धेरनुपलम्भ एवेति चेन्न तदप्रामाण्ये भवान्तरप्रतिषेधाघटनात् । अनुपलब्धिर्लिङ्गमित्यानुमाद्धि भवांतर प्रसिद्धं चार्वाकेण तन्न घटत इति भावः । दि प्र । (5) जन्मनः पूर्वं चैतन्यास्तित्वसाधकः ।

[1]खड्गिचरम[1]चित्तेन[2] चित्तान्तरानुपादानेन[2] व्यभिचार [3]साधनस्येत्यपि [4]मनोरथमात्रं [5]तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य [6]प्रतिक्षेपात ।

भावार्थ— नही । उन बिच्छू आदिको को भी हमने पक्ष मे ही लिया है । बिच्छू आदि का जो शरीर है वह अचेतन रूप गोबर आदि से सम्मूच्छन जन्म के द्वारा बना है न कि बिच्छू आदि की चतन्य पर्याय । वह तो पूर्व की चतन्य पर्याय से ही उत्पन्न होती है ऐसा हम जैनो ने स्वीकार किया है । गर्भ जन्म और उपपाद जन्म से रहित जन्म को सम्मूच्छन जन्म कहते हैं ।

चार्वाक—आप जनों का चिद् विवर्तत्व हेतु बौद्धो के द्वारा माने गय खडगी के चरम चित्त से व्यभिचारी है । क्योकि खडगी का चरमचित्त आगे आगे के चित्तक्षण ज्ञानक्षण के लिए उपादान कारण नहीं है ।

जन—यह आपका कथन भी मनोरथ मात्र ही है क्योकि वह खडगी का चरम चित्त उत्तर चैतन्य के लिए उपादान भूत नही है यह बात प्रमाण से सिद्ध नही होती क्योकि निरन्वय क्षण क्षय का हमने आगे चल कर खण्डन किया है ।

भावार्थ—चार्वाक कहता है कि आप जन बिच्छू आदि के चतन्य को उसके पूर्व चतन्य की पर्याय से ही उत्पन्न होना मानते हो और कहते हो कि पूर्व-पूर्व की चतन्य पर्याय उत्तर उत्तर की चतन्य पर्याय को उत्पन्न करने मे कारण है सो आपका यह हेतु खडगी के चरमचित्त से व्यभिचारी है क्योकि खडगी का चरमचित्त आगे-आगे क चित्तक्षण (ज्ञानक्षण) क लिए उपादान नही है ।

इस पर जनाचार्य कहते हैं कि खडगी का चरमचित्त उत्तरचतन्य के लिए उपादान भूत नही है यह बात प्रमाण से सिद्ध नही होती है । इस खडगी चरमचित्त का विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक ग्रथ मे पाया जाता है । तथाहि—

जैन मत मे जिस प्रकार अतकृत केवली होते हैं उसी प्रकार बौद्धो के यहा तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शांति रहित निर्वाण को प्राप्त हो जाते है । उनकी ससार मे स्थिति नही मानी गई है किन्तु उनका निरन्वय मोक्ष माना गया है अर्थात दीपक के बुझने के समान सर्वथा अन्वय रहित होकर जिनकी मोक्ष हो जाती है उन्हे खडगी कहते हैं ।

१ खड्ग इव खड्गो ध्यानम् । सोऽस्यास्तीति खड्गी । खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्तकार्यकत्वाभावेपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतो । २ चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति बौद्धा । ३ खड्गिचरमचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वाभावरूपहेतो । ४ भग्न ।

(1) अंत्यचैतन्यक्षणेन । खड्ग इव खड्गी ध्यान सोऽस्यास्तीति योगी बुद्ध इति यावत् तस्यान्त्यचित्त बौद्धमतापेक्षया चित्तांतरस्य नोपादानं तेन । (2) अनास्रवसौगतचित्तमन्यच्चित्त नोत्पादयति । अन्यच्चित्तोपादानरहितेन सौगतान्त्य-चित्त न । चैतन्योपादानकारणक इत्येतस्य साध्यस्य व्यभिचार इति वदति चार्वाक । दि प्र । (3) ता । अखण्डकुलत्वं चैतन्यादिसाधनसाधकस्य । (4) स्वमनोरथ इति पा ।

[वने प्रथमाग्निः स्वयमेवोत्पद्यते पश्चादग्निपूर्वक एवेति मान्यतायां विचार.]

ननु च यथाद्य [1]पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः [1]परस्त्वग्निपूर्वक एव, तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, [2]परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभा

बौद्धों का ऐसा कहना है कि खडगी के अपने ज्ञान रूप आत्मा का सदा के लिए शमन हो जाता है सर्वथा अन्वय टूट जाता है इस कारण उत्तरकाल—भविष्य में खड्गी की संतान नहीं चलती है अत दीपकलिका के समान निरन्वय होकर ज्ञान संतान का नाश हो जाना रूप मोक्ष खडगी के माना गया है। अत उस खड्गी का चरमचित्त आगे आगे के ज्ञानक्षण के लिए उपादान नहीं है किन्तु इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जैसे बुद्ध ने पूर्वजन्म मे या इस जन्म मे यह भावना भायी थी कि मैं जगत् का हित करने के लिए सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊं इस भावना की शक्ति से अविद्या और तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर भी सुगत की स्थिति संसार में उपदेश देने के लिए हो जाती है ऐसी बौद्धों की मान्यता है। उसी प्रकार से खड्गी के चित्त का शमन नहीं हुआ है अत मैं आत्मा को शांति लाभ कराऊंगा इस प्रकार की भावना का अभ्यास खडगी बराबर कर रहा है। इस प्रकार से सुगत के समान खडगी की भी ज्ञान धारा अनंतकाल तक चलती रहे और वह संसार मे ठहर जावे क्या बाधा है? पुन उसका भी अंतिम ज्ञान क्षण उत्तरोत्तर ज्ञानक्षण के लिए उपादान हो जावे क्या बाधा है? इत्यादि रूप से आचार्यों ने खड्गी के चरमचित्त का निरन्वय विनाश नहीं माना है प्रत्युत आगे-आगे के ज्ञानक्षणों के लिए उपादानभूत माना है अत उससे व्यभिचार दोष नहीं आ सकता है।

[वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्नि पूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार।]

चार्वाक—जिस प्रकार प्रथमत वन की पथिक अग्नि जो अरणि (बांस आदि) के निर्मथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अत अनग्नि पूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूत चतुष्टय से होगा और युवा वृद्धावस्था आदि मे होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्य पूर्वक ही होगा इसमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे जंगल मे चलने वाला पथिक अग्नि के अभाव में अरणि मंथन या चकमक से जो अग्नि उत्पन्न करता है उसे पथिकाग्नि कहते हैं।

जैन—इस प्रकार से जो आप समाधान करते हैं वह स्वपक्ष का घात करने वाला जाति उत्तर रूप अर्थात् (मिथ्या उत्तर) ही है। क्योंकि 'चिद्विवर्तत्व रूप—चैतन्य की पर्याय होना' हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का खण्डन नहीं होता है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने रूप साध्य

1 पाथिकः काष्ठविशेषः। 2 युववृद्धादिचैतन्यम्।

(1) वनाग्निः।

कथम्? इति ¹कश्चिच्चैतन्यमवस्थितम् स्वपक्षघातिनी ²जातिरेव। चिद्विवर्तत्वस्य³ हेतोः ⁴साध्येन व्याप्तेरखण्डनात्। ³प्रथमपार्थिवाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादान-त्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः⁴। तथा हि। येषां परस्परमुपा-दानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम्⁴। यथा ⁵क्षितिविवर्तानाम्। परस्परमुपादानोपादेय-भावश्च⁵ पृथिव्यादीनाम्⁶। इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं ⁷पृथिव्यादिविवर्तमवतिष्ठेत्⁸। अथ⁹ क्षित्यादीनां न परस्परमुपादानोपादेयभावः सहकारिभावोपगमात्¹⁰। ¹कथमपावकोपादानः,

---

की चैतन्य पर्याय होने से इस हेतु के साथ व्याप्ति सुघटित ही है।

प्रथमपथिकाग्नि (वन की अग्नि) को अग्नि के बिना उपादानपना (उत्पन्न होना) स्वीकार करोगे तो जलादिको को भी जलादि उपादान के बिना हो जाने का प्रसग आ जावेगा। पुन पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के भिन्न भिन्न तत्त्व होने का विरोध हो जावेगा। अर्थात् जिस प्रकार प्रथम बासो के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि का उपादान कारण अग्नि जीव नही है तो जल के लिए भी प्रथम उपादान कारण जल नही होगा इत्यादि रूप से भूतचतुष्टय के कारण पृथक पृथक रूप से चार सिद्ध न होने से चारो तत्त्व एक हो जायेंगे क्योकि एक कारण से उत्पन्न हुए हैं। जो जो एक कारण से उत्पन्न होते हैं वे वे भिन्न नही है जसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट शराव उदचन आदि मिट्टी रूप एक कारण जन्य होने से भिन्न भिन्न तत्व नही है तथाहि— जिनमे परस्पर मे उपादान उपादेय भाव हैं उनमे परस्पर मे भिन्न पना नही है जैसे—मिट्टी की पर्याय, स्थास कोश कुशूल शिवक आदि। और परस्पर मे पृथ्वी जल अग्नि वायु मे उपादान उपादेय भाव मौजूद है।' इस प्रकार से पृथ्वी आदि पर्याये एक ही पुदगल तत्त्व रूप ठहरती हैं।

चार्वाक—पथ्वी आदि भूत चतुष्टय मे परस्पर मे उपादान उपादेय भाव नही है क्योंकि हमने उनमे सहकारी भाव माना है।

जैन—पहली पथिकअग्नि अग्निरूप उपादान के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगी कि जिससे उसी प्रकार अचेतन पूर्वक प्रथम चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसग होवे? इसलिए जिस प्रकार प्रथम ही अरणि (बास

---

१ मिथ्योत्तर जाति। २ चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह। ३ एककारणजन्यत्वात। यदेककारणजन्य तन्न तत्त्वान्तरम्। यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते। ४ पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम्। ५ स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम्। ६ जैनः।

---

(1) दूषणं (2) साध्यं चैतन्योपादानकारणक चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्। (3) प्रथमपथिकाग्नेर्यथा नाग्न्युपादानत्वं तद्वत् कथं व्याप्यसंबन्धमित्याह। (4) पृथिव्यादेः। (5) परस्परमुपादेयभावश्च इति पा.। (6) पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं [illegible] पर्यायिः यस्य तद्। दि प्र.। (7) पृथिव्यादीनां पक्षः तत्त्वान्तरत्वं न भवतीति साध्यो— [illegible] परस्परमुपादानोपादेयभावत्वात्। येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वं यथा क्षितिविवर्तानां) घटादीनां। दि. प्र.। (8) जैन। (9) चार्वाकः। (10) परस्परसहकारित्वात्।

प्रथम पथिकपावक प्रसिद्धय यतस्तद्वदचेतनपूर्वक प्रथमचैतन्य प्रसज्येत ? यथव हि 'प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्व[1] तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात ? [2]स्यान्मत [3]सहकारिमात्रादेव प्रथम पथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहि[4]ताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति [5]तदसत अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात ।

आदि) के संघषण से उत्पन्न हुई अग्नि तिरोहित भिन्न अग्नि पूवक होती है। उसी प्रकार से गभ मे चैतन्य का आविर्भाव होने मे तिरोहित चतन्य ही निमित्त है अर्थात चैतन्य रूप उपादान कारण से ही गर्भादि में चतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसी ही व्यवस्था क्यो न मानी जावे ?

भावाथ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मर करके अग्निकायिक नाम कम के उदय से अग्नि मे जन्म लेता है। इसलिए आबाल गोपाल मे जो अग्नि वन मे अग्नि आदि के सघषण से उत्पन्न होती है उसमें अग्नि से उत्पन्न होना नही दिखने पर भी पूर्व पर्याय से च्युत होकर ही जीव अग्निकायिक नाम कम के उदय से उसमे जन्म लेता है अत प्रत्येक अग्नि की उत्पत्ति अग्नि रूप उपादान से ही सुघटित है। तथव कोई भी जीव किसी देव आदि पर्याय से मरण को प्राप्त करके मनुष्य तियच आदि पर्याय में गर्भ अवस्था मे आता है इसलिए चतन्य उपादान पूवक ही चतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

चार्वाक—बासो क सघषण आदि सहकारी कारण मात्र से ही वन की प्रथम अग्नि होती है ऐसा हमने माना है इसलिए तिरोहित हुई भिन्न अग्नि रूप उपादान से अग्नि की उत्पत्ति मानना असिद्ध है।

जैन—यह कहना असत है। बिना उपादान कारण के सहकारी कारण मात्र से किसी की भी उत्पत्ति नही देखी जाती है।

[शब्द और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर]

चार्वाक—शब्द बिजली आदि की उत्पत्ति उपादान कारण के बिना ही देखी जाती है अत कोई भी दोष नही है।

जैन—ऐसा नही है। शब्दादि भी उपादान कारण सहित ही हैं क्योकि कायरूप हैं घटादि के समान' इस अनुमान से उन शब्दादि के अवश्य पुदगल द्रव्य रूप उपादान कारण हैं ही हैं अत इन सभी को उपादान कारणता सिद्ध ही है।

---

१ अरणिमथनकाले। २ चार्वाकस्य ३ अरणिमथनमात्रादेव। ४ प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम्। ५ जैन।

(1.) निदर्शनमिदं परमतानुसारेणाभिहितं प्रतिपत्तव्य। स्याद्वादिना तु पय पावकादीनां पुद्गलविवर्तत्वेनैकद्रव्यतास्वीकरणात् परस्परमुपादानोपादेयताव्यस्य भावात्। दि.प्र।

[शब्दविद्युदादय उपादानमन्तरेणोत्पद्यन्ते इति चार्वाकमान्यतायां प्रत्युत्तर]

शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न शब्दादि सोपादान एव, कार्यत्वाद्[1] घटादिवदित्यनुमानात्तस्याहश्योपादानस्यापि[1] [2]सोपादानत्वस्य साधनात् ।

[भूतचतुष्टयचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वेन पृथक् पृथक् तत्त्वमेवेति कथयति जैनाचार्या]

[2]नन्वस्तु सर्वोग्निरग्न्यन्तरोपादान एव [3]सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थिते । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्त तस्य भूतोपादानत्वघटनात भूतचेतनयो [4]सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेन्न [3]तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्ते, [4]तोयपावकयोरपि तत[5] एव [6]परस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात । तथा हि । तत्त्वान्तर भूताच्चैतन्य तदभिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्त । न तावदसिद्धो हेतु क्षित्यादिभूतेभ्यो [7]रूपादिसामान्यलक्षणेभ्य स्वसंवेदनलक्षणस्य

[भूत चतुष्टय एव चेतन का लक्षण भिन्न भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार]

चार्वाक—तो ठीक है सभीअग्नि भिन्नअग्निरूप उपादान कारण से ही होती है अत उन सभी का उपादान सजातीय ही है ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए किन्तु चेतन द्रव्य भिन्न चतन्य रूप उपादान से होता है यह नियम ठीक नही है। वह चतन्य तो भूत चतुष्टय के उपादान से उत्पन्न होता है। भूत से चैतन्य की उत्पत्ति होने से भूत और चैतन्य मे सजातीयपना सिद्ध होता है अत भूत और चैतन्य मे भिन्न तत्त्व की सिद्धि नही होती है।

जैन—यह ठीक नहीं है भूत और चतन्य इन दोनो का भिन्न भिन्न लक्षण पाया जाता है इसलिए भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है। आप चार्वाक ने भी जल और अग्नि का भिन्न भिन्न लक्षण होने से उन्हे भिन्न भिन्न तत्त्व माना है। तथाहि—

चैतन्य तत्त्व भूत तत्त्व से भिन्न है क्योकि उनके भिन्न भिन्न लक्षणो की अन्यथानुपपत्ति पायी जाती है यह भिन्न लक्षणत्व हेतु असिद्ध भी नही है। रूप रस गध स्पश रूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी जल अग्नि वायु रूप चार भूतो से स्वसंवेदन रूप चैतन्य का भिन्न लक्षण सिद्ध ही है भूत चतुष्टय स्वसवेदन लक्षण वाले नही हैं। क्योकि हम और आप सभी अनेक ज्ञाता जनो के प्रत्यक्ष होते है

---

१ अदृश्यमुपादान पुद्गलरूप यस्य तस्य। २ चार्वाक । ३ कायस्य। ४ भूताच्चैतन्योत्पत्तियतस्ततो भूतचैतन्ययो सजातीयत्वम्। ५ भिन्नलक्षणत्वात। ६ चार्वाके। ७ रूपरसगन्धस्पर्शवन्त पुद्गला।

---

(1) प्रतिपक्षबाधितविषयोऽय हेतुरिति चेन्न। विवादापन्न पर बुद्धियुक्त व्याहारादिकार्यदर्शनादित्यत्रापि तत्प्रसंगात्। अत्र बुद्धेरदृश्यत्वाददोष इति चेत्तत्रापि तत एव सोऽस्तु विशेषाभावात्। यथाज्ञानं चार्वाकेण ज्ञानस्या स्वसंवेदनत्वोपगमात्। साध्यव्यावृत्तौ व्यतिरेको दृश्यत इति न मंतव्यं। समनतरमेव ज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य समर्थयिष्य माणत्वात् दि प्र। (2) सोपादानत्वसाधनात् इति पा—दि प्र। (3) भूतचैतन्ययो—दि प्र। (4) यद्यपि भिन्नलक्षणत्वं तथापि तत्त्वांतरत्वं कुत इत्याह।

चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः । न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात्[1] । यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न तथा प्रतीतं, यथा ज्ञानम्[2] । तथा च भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि । अनेकयोगिप्रत्यक्षेण[3] सुखादिसंवेदनेन[4] व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात्[5] ।

और जो स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह उस प्रकार हम लोगो के प्रत्यक्ष मे नही आता है जैसे हम लोगों का अप्रत्यक्ष ज्ञान और उसी प्रकार भूतचतुष्टय प्रत्यक्ष है इसीलिए स्वसंवेदन लक्षण वाले नही हैं ।

शंका—सुखादिसंवेदन अस्वसंवदन लक्षण वाले होने पर भी अनेक योगी जनों के प्रत्यक्ष हैं इसलिए सुखादि संवेदन से यह हेतु व्यभिचारी है ।

समाधान—ऐसी शंका आपको नही करनी चाहिए क्योकि सुखादि संवेदन-सुखादि का ज्ञान हम लोगो के प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ—चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयो से शरीर का निर्माण होता है उसी मे आत्मा बन जाती है शरीर मन इन्द्रिय ज्ञान और आत्मा सब भूतचतुष्टय से निर्मित है । चैतन्य नाम का कोई भिन्न तत्त्व या द्रव्य नही है जो कि अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहता हो । मतलब शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद आत्मा नाम की कोई चीज नही है ।

इस बात को सिद्ध करने के लिए चार्वाक ने बहुत ही युक्ति प्रत्युक्तियो के द्वारा अपना पक्ष पुष्ट किया है । उसका कहना है कि गोमय आदि से बिच्छू कीचड आदि से कीड मकोड केंचुय आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं । वन मे बाँसों के घषण से अग्नि उत्पन्न होती है उसमे जीवात्मा कहा से आया ? मेघो की गडगड़ाहट बिजली आदि का उपादान कारण क्या है ? इत्यादि मे आत्मा रूप उपादान के बिना ही आत्मा उत्पन्न हो रही है अत आत्मा भूतो से बनती है एव भूतचतुष्टय और आत्मा एक तत्त्व है किंतु भूत चतुष्टय परस्पर मे भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ।

इन सभी बातो को सुनकर जैनाचार्यों ने बहुत ही अच्छा और वास्तविक समाधान किया है । उन्होंने बतलाया है कि बिच्छू कीट मेढक केंचये आदि प्राणियो का शरीर यद्यपि गोमय कीचड आदि भूतचतुष्टय से बना हुआ है फिर भी उनकी आत्मा अन्यत्र कही से तिर्यंच गति और तिर्यंचआयु आदि

---

१ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्ष न प्रतीतम् । २ अस्मदाद्यप्रत्यक्षम् । ३ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षाणि सन्ति । ४ सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात् । ५ अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः ।

---

(1) अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् । इति वा पाठ । एकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षेण स्वसंवेदनेन [illegible] । (2) यदाविवत् इति अधिक पाठ: दि. प्र । (3) अस्मदादिप्रत्यक्षाणि च तानि भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदन[illegible] इति वा पाठ.—दि प्र । (4) तथा च भूतानि च तानीति वा पाठ दि प्र । (5) क्व ।

कर्मों को बांधकर उपादान रूप से यहाँ उत्पन्न हुई है। आत्मा और पुद्गल द्रव्य रूप भूत चतुष्टय सर्वथा भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। वन में जो अग्नि स्वयं लगती है उसमे भी बांसो का परस्पर घषण आदि निमित्त है किन्तु उपादानभूत आत्मा एकेन्द्रियजाति अग्निकायिक स्थावर आदि नाम कम को लेकर अग्नि काय मे जन्मी है। माता पिता के रजोवीर्य के संम्मिश्रण से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। उपपादशय्या से जो जन्म होता है उसे औपपादिक जन्म कहते हैं। तथा यत्र-तत्र से अपने योग्य पुद्गल परमाणुओ के एकत्रित हो जाने पर शरीर की रचना बनकर जो जन्म होता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं।

एकेन्द्रिय से असज्ञीपचेन्द्रिय तक सभी प्राणियो का जन्म सम्मूर्छन जन्म ही है पचद्रिय तियचो मे कुछ प्राणी सम्मूछन जन्म वाले हैं जैसे मेढक मत्स्य आदि। शेष सभी गभज हैं जैसे गाय भस हाथी घोडा आदि। मनुष्यो मे सभी मनुष्य गभज हाते है एव जो सम्मूछन मनुष्य होते हैं वे लब्ध्यपर्याप्तक होते है तथा वे हमको और आपको दीखते नही है। देव और नारकियो का जन्म उपपाद जन्म कहलाता है। इन तीनो प्रकार क जन्म को धारण करने वाली आत्मा एक स्वतत्र द्रव्य है कर्मों क निमित्त से जन्म मरण रूप ससार मे ससरण करना पडता है। कर्मों से मुक्त होने क बाद इस आत्मा मे पूण आनद पूणज्ञान अनतशक्ति आदि अनत गुण प्रगट होते है।

जब तक इस जीव को सम्यग्दशन प्रकट नही होता है तभी तक यह जीव द्रव्य क्षत्र काल भव और भाव रूप पचपरिवतन मे परिभ्रमण करता रहता है। सम्यग्दशन के प्रगट होने के बाद ज्ञान और चारित्र की वृद्धि एव पूर्णता से यह जीव पूण शुद्ध हो जाता है अत आत्मा और भूत चतुष्टय भिन्न भिन्न तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये। और पृथ्वी जल अग्नि एवं वायु ये भूतचतुष्टय पुदगल की पर्याय होने से कथचित द्रव्यदृष्टि से एक ही तत्त्व हैं भिन्न भिन्न नही है। इसलिये विपरीतमान्यता को छोडकर आस्तिकवादी बनना ही उचित है।

चार्वाक मत के खडन का साराश

चार्वाक कहता है कि—

पुरुष के जन्मातर से पहले और मरण के पश्चात् भवातर नाम की कोई वस्तु नही है क्योकि गभ से लेकर मरण पयत ही चतन्य पाया जाता है अत आकाशपुष्प के समान ससार तत्त्व सिद्ध नही है तथैव मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं है।

भूत चतुष्टय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। अचेतन गोमय आदि से बिच्छू आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। चैतन्य उपादान के बिना भी चतन्य का होना सिद्ध ही है जसे वन की अग्नि अरणि आदि के निर्मथन से उत्पन्न हो जाती है पुन आगे-आगे की अग्नि पूर्व अग्नि के उपादान पूर्वक होती है।

[illegible] शब्द, बिजली आदि भी बिना उपादान के देखे जाते हैं। चैतन्य और भूत को भिन्न लक्षण मानकर भी आप भिन्न तत्त्व सिद्ध नही कर सकते क्योंकि कारणभूत महुआ, गुड, धावड आदि मे मद जनन शक्ति नहीं है तथा मदिरा परिणाम में मौजूद है अत इन दोनो का लक्षण भिन्न है फिर भी एक तत्त्व हैं।

इस कथन पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि प्राणियो में आदि का चतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योकि चैतन्य की पर्याय है मध्य युवावस्था की चैतन्य पर्याय के समान। इस अनुमान से पूर्वोत्तर पर्यायो मे चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से ससार तत्त्व सिद्ध ही है। अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के निमित्त से आत्मा को भवातर की प्राप्ति होना इसी का नाम ससार है।

गोमय आदि अचेतन से बिच्छू का चतन्य उत्पन्न नही हुआ है किंतु उनसे शरीर बना है। तिर्यच गति विशेष नाम कर्म के उदय से आने वाला चतन्य जीव ही बिच्छू का उपादान माना गया है। अत भूत चतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योकि इन दोनो का लक्षण भिन्न भिन्न ही है। रूप रस, गध स्पर्श स्वरूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी जल अग्नि वायु रूप भूत चतुष्टय हैं। एव चैतन्य का स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन लक्षण है किन्तु आपने जो मदिरा की उत्पादक सामग्री से मदिरा में भिन्नपना कहा है सो भी ठीक नही है क्योकि महुआ गुड आदि कारणो मे भी मद को उत्पन्न करने वाली मदिरा रूप परिणाम शक्ति विद्यमान है यदि सर्वथा उनमे मद को उत्पन्न करने की शक्ति न मान तो मदिरा बनने पर भी मद जनन शक्ति नही आ सकेगी।

वन की प्रथम अग्नि को आपने अनग्नि पूर्वक कहा है वह भी सर्वथा असत्य है। कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मरण कर अग्निकायिक नाम कम के उदय से अग्नि मे जन्म लेता है इसलिये बासादि के घषण से उत्पन्न हुई अग्नि भी अग्नि के उपादान पूर्वक ही है। तथव शब्द बिजली आदि के भी अदृश्य पुद्गल परमाणु उपादान कारण माने गये हैं अत उनमे अपने सजातीय से ही उपादान उपादेय भाव देखा जाता है।

[ज्ञानमस्वसंविदितमस्तीति मान्यतायां जैनाचार्याः समादधते ।]

ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या[1] तत्स्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धे । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य[1] परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्ति । प्रदीपादिनानेकान्त[2] इति चेन्न तस्य [1]जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, [2]बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्तु प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादेरिव[3] परिच्छेदकत्वोपचारात । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदन विचारचतुरचेतसां कर्तु मुचितम् [4]अतिप्रसङ्गात्[4] ।

[ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

शंका—ज्ञान का स्वसवेदन लक्षण असिद्ध है ।

समाधान—नही बाह्यपदार्थों को जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से ज्ञान स्वसंवेदन लक्षण वाला सिद्ध है क्योकि जो अस्वसवेदन लक्षण वाला है वह बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक (जानने वाला) नहीं है जसे घटादि । इस प्रकार विपक्ष मे बाधक प्रमाण का सदभाव होने से हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही है ।

शंका—प्रदीप आदि बाह्य पदार्थों के प्रकाशक भी हैं और अस्वसंविदित भी हैं । इसलिये प्रदीपादि से आपका हेतु अनैकांतिक है ।

समाधान—नही । प्रदीपादि के जडपना (अचेतनपना) होने से बाह्य पदार्थों का जानना असभव है, किन्तु बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक जो ज्ञान है उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से प्रदीपादि को बाह्य चक्षु आदि इंद्रियो के समान ज्ञान कराने वाले हैं यह उपचार से ही माना है और उपचरित रूप से अर्थ का ज्ञान कराने वाले प्रदीपादि से मुख्य रूप से पदार्थों का परिच्छेदकत्व हेतु व्यभिचारी है । विचारशील व्यक्तियो को ऐसा व्यभिचार दोष देना उचित नही है अन्यथा अतिप्रसग हो जावेगा । अर्थात् अग्नि दहन शक्ति से युक्त है क्योकि वह अग्नि रूप है । जो दहन शक्ति से युक्त नही होता है वह अग्नि नहीं होता है जैसे जलादि । बालक में किये गये अग्नि के उपचार से इस अग्नित्व हेतु में व्यभिचार रूप

१ ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्ते । २ स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च । ३ अज्ञानरूपत्वेन । ४ अग्निर्दहनशक्तियुक्तो अग्नित्वात् । व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचार प्रसङ्गात् ।

(1) स्वार्थपरिच्छेदको इति पा (2) तर्हि बहिरर्थपरिच्छेदक प्रदीपादेरिति व्यवहार कथमित्युक्ते आह । (3) यथा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियस्योपचारात् प्रकाशकत्वं तथाप्रदीपादेरिव—दि प्र । (4) हेतोर्व्यभिचारोत्पादनं क्रियते यदि तदातिप्रसंगो भवति, मुख्यमुपचरितं । उपचरितं मुख्यं भवति—दि. प्र । अग्निर्दहनशक्तियुक्तोऽग्नित्वात् व्यतिरेके जलवत् इत्यत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसंगात् । माणवके उपचरितस्याग्ने दाहादिकार्यकारित्वं मुख्यस्याग्नेः कार्यकारित्वमकं ।

[सुख सुखस्य ज्ञानमपि कथंचित् पृथक पृथक एव]

स्वरूपमात्रपरिच्छेदन यापते[1] सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको [2]हेतुरिति चेन्न [1]तस्यापि [3]स्वतो [4]बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्व सिद्ध [2]कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा [5]स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्त [3]सदाद्यात्मना कुम्भादे सवेदनादभेदप्रतीते[4] [6]अन्यथा [5]तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्व [7]तु सुखादिसवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव सुखादितत्सवेदनयो [6]कारणादिभेदादभेदव्यव स्थिते[8] । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततो यस्य"

अतिप्रसग आता है मतलब बालक को भी अग्निरूप जलाने का काय करना चाहिये ।

[सख और सख का ज्ञान भी कथचित पथक पृथक ही है इस पर विचार]

शका—स्वरूप मात्र के ज्ञान मे व्यापार करने वाले सुखादि ज्ञान मे बाह्य अर्थ को जानने का अभाव है अत आपका हेतु पक्ष मे अव्यापक है ।

समाधान—नही ! वे सुखादि ज्ञान भी अपने स बहिर्भूत सुखादिक के परिच्छेदक (जानने वाले) हैं अत वे बाह्य पदाथ के परिच्छेदक है यह बात सिद्ध है अर्थात यदि कोई कहे कि जिस प्रकार कभादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक है । उस प्रकार सुखादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छदक नही है । यह भी ठीक नही है कु भादि ज्ञान भी सवथा अपने स बहिर्भूत पदार्थों के परिच्छदक नहीं हैं । सत् (अस्तित्व) आदि के स्वरूप के साथ कु भादि पदाथ का सवेदन (ज्ञान) स अभेद प्रतीत होता है । अर्थात जैस कु भादि पदाथ सत् रूप है वैसे ही ज्ञान भी सत् रूप है अत सत की अपेक्षा पदाथ स ज्ञान सवथा भिन्न नहीं है । यदि ऐसा नही मानो तो कु भादि सवथा असत् रूप हो जावेग पर तु ऐसा है नही । अत

---

१ सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद ज्ञानाद्बहिर्भूत सुखादि तस्य सवेदक वमिति बहिरथप[illegible] छदक व सिद्धम । २ यथा कुम्भादिवेदन बहिरथपरि छेदक न तथा सुखादिसवेदनमि याशकायामाह जन कु भाद ति । ३ घट [illegible] न सदिति सदात्मना । ४ कुम्भादियथा सन तथा ज्ञानमपि सत । अतो न सवेदनाज्ज्ञान सवथा भिन्नम् । ५ तस्य कुम्भादे । ६ सद्वेद्योदयो हि सुखकारण ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेद । ७ स्य विज्ञानस्यासम्भवात ।

---

(1) ईप । (2) यौग आह । हे स्याद्वादिन् । बहिरथपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तरिति हेतुस्तव पक्षाव्यापक कुत ? यत सुखादिज्ञान स्वरूप जानाति न तु बहिरथ इति चे न तस्यापि सुखादिज्ञानस्यापि स्वत ज्ञानस्वरूपात् बहिरथभूत सुखदु खादिपरिज्ञानाद्बहिरथपरि छदक व सिद्धयति— दि प्र । (3) स्वकाद्यात । (4) पृथ भूत । (5) स्वस्मात् । (6) ज्ञानाद् घटादिपदाथस्य सत्त्वप्रमेयत्ववस्तु वस्वरूपेण भेदो नास्ति । ब यथा भेदो भवति चेत्तदा तयो ज्ञानघटयो असत्त्वमायाति—दि प्र । (7) 'तु नास्ति । दि प्र । (8) आदिशब्देन स्वरूपभेद । तथा चोक्त—सुखमाल्हादनाकार विज्ञान मेयबोधनं । शक्ति क्रियानुमेया स्याद्यून कातासमागमे ॥ इति । सुखादे कारण वेदनीयकर्मोदय तत्सवेदनस्य कारण ज्ञानावरणक्षयोपशमादि । अत सुखादिज्ञानयो कारणभेदाद्भेदोऽस्ति सत्तादिस्वरूपेणाभेद । एव सति कथंचिद् भेदाभेदात्मकं जातं स्याद्वादिनां । दि प्र ।

विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य सवेदक ज्ञान स्यादिति चेन्न तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्यं 'सत परसवेदकत्वोपगमात स्वसवेदनसिद्धे स्वपरव्यवसायात्मकत्वात सर्ववेदनस्य ।

सुखादि ज्ञान से सुखादि भी कथचित् अपने स भिन्न ही प्रतीति मे आते हैं क्योकि सुख आदि और उनका सवेदन इन दोनो मे कारण आदि के भेद स भेद पाया ही जाता है अर्थात् सुख का कारण सातावेदनीय का उदय है और उस सुख के ज्ञान का कारण ज्ञानावरण कम के क्षयोपशम आदि हैं अतएव कारण के भेद स सुख और सुख के वेदन (ज्ञान) मे भेद सिद्ध ही है ।

शका—तो फिर घटादि के ज्ञान के समान सुखादि का ज्ञान भी अपने स बहिभू त पदार्थों का परिच्छदक हो जाता है । पुन बाह्य पदाथ स भिन्न-जो स्वय है उसका स्वय का ज्ञान न होने स ज्ञान अपने आपका सवेदक (जानने वाला) कस होगा ?

समाधान—ऐसा नही है । वे ही घटादि क ज्ञान और सुखादि क ज्ञान अपने स्वरूप को जानने वाले होते हुये ही पर को जानने वाले होते हैं ऐसा स्वीकार किया गया है इसीलिये उन ज्ञानो मे स्वसंवेदनपना सिद्ध है क्योकि सभी ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक ही माने गये है ।

भावाथ—चार्वाक मीमासक और नयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एव स्वपर प्रकाशी नही मानते है । चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है ।

मीमासक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है पर पदार्थों को ही जानता है आत्मा को नही जानता अत: अस्वसविदित है । नयायिक कहता है कि ज्ञान स्वय स्वय को नही जानता है अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वय को जानता है किन्तु जनाचाय इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते हैं क्योकि जो स्वय मे जड है वह दूसरे को क्या जानेगा ?

इन लोगो का कहना है कि प्रदीप आदि कुछ ऐसे साधन है जो कि स्वय को नही जानते हैं जड हैं फिर भी दूसरे पदार्थों का ज्ञान करा देते हैं । तब आचाय ने इनको समझाया कि भाई ! ये अचेतन पदार्थ ज्ञान के साधन हैं यदि आत्मा का ज्ञान गुण जानने वाला न हो तो ये विचारे किंकर्तव्यविमूढ़ सदृश पडे रहेगे पत्थर को पदार्थों का प्रकाशन नही करा सकते हैं चेतन आत्मा ही अपने ज्ञान गुण से बाह्य दीपक आदि साधनो के द्वारा पदार्थों को जानती है । यह ज्ञान गुण जब तक आवरण कर्म से सहित है तभी तक इन्द्रिय मन प्रदीप प्रकाश आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है । जब आवरण से रहित केवलज्ञान बन जाता है तब स्वय सारे लोकालोक को प्रकाशित कर देता है अत: ज्ञान स्व पर प्रकाशी है यह बात सिद्ध है ।

---

* भवत ।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ज्ञानं स्वं न जानाति अस्य विचार क्रियते।]

[1]स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदक ज्ञानमिति चेत का[2] पुन क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा[3] [4]भवनादिक्रियाया [5]क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात्[6]। [6]परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्ध ति चेत क पुन क्रियाया स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत् कथं तस्यास्तत्र विरोध ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात । [2]अन्यथा सर्वभावाना[7] स्वरूप विरोधा निस्स्वरूपतानुषङ्गात्

[स्वात्मा मे क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वय को नहीं जानता है इस पर विचार]

शंका—अपने मे ही क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप सवेदक अर्थात अपने को जानने वाला नहीं है।

समाधान —यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह बताइये कि कौन सी क्रिया अपने मे विरुद्ध होती है धात्वर्थ लक्षण क्रिया या परिस्पदात्मक क्रिया ? धात्वर्थ लक्षण क्रिया तो अपने मे विरुद्ध नही है अन्यथा भू—अस् आदि धातु की होना ' आदि क्रिया का पृथ्वी आदि मे विरोध होने से उनके अभाव का प्रसग आ जावेगा। अर्थात पृथ्वी अस्ति पृथ्वी है इस वाक्य में अस्ति क्रिया का अपने रूप कर्ता में यदि विरोध होगा तो पथ्वी का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप कहे कि परिस्पदात्मक क्रिया का स्वात्मा में विरोध है तो पुन क्रिया का स्वात्मा कौन है ? यदि कहे कि क्रिया की आत्मा (स्वरूप) ही स्वात्मा है तो उस क्रिया का उसमे कसे विरोध होगा ? क्योंकि स्वरूप अपना विरोधी नही होता है। यदि स्वरूप भी अपना विरोधी होगा तो पुन संपूर्ण पदार्थों का अपने अपने स्वरूप से विरोध हो जाने से सभी पदाथ नि स्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेगे एव नि स्वरूप हो जाने से कोई भी पदाथ सिद्ध नही होगा पुन सर्वशून्य का प्रसग आ जावेगा।

दूसरी बात यह है कि विरोध के द्विष्ठपना है अर्थात् विरोध दो वस्तुओ मे ही होता है एक में नहीं इसलिए भी स्वात्मा में क्रिया का विरोध नही हो सकता। यदि आप कहे कि क्रिया जिसमे पाई जावे ऐसा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वात्मा है तो फिर क्रियावान् में क्रिया का विरोध कैसे होगा ? क्रियावान् द्रव्य मे ही तो सभी क्रियाओ की प्रतीति होती है अत अविरोध सिद्ध ही है। यदि आप कहें कि क्रिया का अथ है करना बनाना। इन अथवाली क्रियाओ का ही स्वात्मा में विरोध होता है तब तो ज्ञान स्वरूप को निष्पन्न करता है ऐसा हम जैनी तो मानते भी नहीं हैं जिससे कि विरोध हो सके अर्थात् विरोध नही है।

भावार्थ—शंकाकार ज्ञान को स्वसवेदक न मानते हुये ऐसा कहता है कि 'स्वात्मनि क्रिया विरो-

१ उत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा। २ स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे।

(1) खड्गे स्वात्मछेदनवत्। (2) धात्वर्थलक्षणा परिस्पदात्मिका वा उत्पत्तिलक्षणा वा इति विकल्प—दि. प्र.। (3) उत्पत्तिलक्षणा ज्ञप्तिलक्षणा परिस्पंदात्मिकाऽपरिस्पदात्मिका वा—दि प्र। (4) अन्यथा। स्वात्म। (5) भूजलादि क्षित्यादिविवर्तत्वात्। (6) क्षितिर्भवति तिष्ठतीत्यादि। (7) भा।

विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च[1] न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः[2]। [3]क्रियावदात्मा[1] क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः ? [2]क्रियावत्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः। अथ क्रियाः करणं निष्पादनं [4]स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं[3] तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते[4] येन [5]विरोधः स्यात्। इत्यसिद्धः स्वात्मनि [6]क्रियाविरोधः [7]स्वकारणविशेषा[5]न्निष्पद्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपर-प्रकाशनरूपत्वात् [8]प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत्[9]। यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते[10] तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ [6]तस्य सहकारित्वात्स्व-रूपोद्द्योतकोपि। ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकं [8]तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वाऽन्यथानुपपत्तेः।

धात् स्वात्मा मे क्रिया का विरोध है। जैनाचार्यों ने तब प्रश्न किया कि धात्वर्थलक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ?

प्रथम पक्ष लेने से पृथ्वी आदि पदार्थों मे अस्तित्व आदि क्रियाओ का विरोध हो जाने से उनका अभाव हो जावेगा। यदि दूसरा पक्ष लेव तो प्रश्न यह होता है कि क्रिया का स्वात्मा कौन है ? उत्तर मे तीन विकल्प हो सकते हैं—क्रिया की आत्मा (स्वरूप) स्वात्मा क्रियावान आत्मा स्वात्मा या करना बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया स्वात्मा है ? पहले विकल्प मे क्रिया का स्वरूप स्वात्मा मानने से स्वात्मा मे विरोध नही हो सकता है क्योकि किसी भी पदार्थ का अपने स्वरूप से विरोध नही होता है। दूसरे पक्ष मे क्रियावान द्रव्य मे ही क्रिया पायी जाती है। द्रव्य को छोडकर क्रिया नही रह सकती अत विरोध नही है। तीसरे पक्ष मे करने बनाने रूप क्रिया को स्वात्मा मे कोई भी नही मानते हैं तब विरोध की बात ही नही है। साराश यह निकला कि ज्ञान रूप आत्मा मे जानने रूप क्रिया का विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी—अपने को जानने वाले हैं और पर को भी जानने वाले हैं।

अत स्वात्मा मे क्रिया का विरोध असिद्ध है। ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप अपने-अपने कारण विशेष से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है जैसे दीपक स्वपर को उद्योतित करता है। जिस प्रकार रूपज्ञान की उत्पत्ति में दीपक सहकारी होने से चक्षु इंद्रिय के रूप का प्रकाशक कहा जाता है उसी प्रकार दीपक अपने स्वरूप के ज्ञान की उत्पत्ति मे भी सहकारी होने से अपने स्वरूप दीपक को भी प्रकाशित करता है इसलिये ज्ञान स्वपर का परिच्छेदक है अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति हो नही सकती है

१ क्रियाऽस्यास्तीति क्रियावान्। स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा। २ द्रव्ये। ३ जैन। ४ अपि तु न। ५ आवरणक्षयोपशमादिविशेषात्। ६ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात्। ७ स्वपररूपयो। ८ स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे।

(1) धीतोऽग्न्यौरिव (2) एकत्वस्वात्। (3) क्रियावत पदार्थस्य स्वरूप स्वशब्दस्य स्वकीयार्थत्वात्। (4) स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपे। (5) काकु। (6) ज्ञान स्वरूपं निष्पादयतीति नोच्यते कुत। (7) क्षयोपशमलक्षण। (8) तैजसादिस्वकारणनिष्पाद्यमानस्य। (9) प्रदीपस्य परप्रकाशकत्वमेव न स्वरूपप्रकाशकत्वं येन दृष्टांत स्यादित्याशंकायामाह। (10) तथा प्रदीप यद विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् स्वरूपस्य प्रतिविशिष्टज्ञान-स्योद्योतको भवति—टि. प्र।

[भूतचतन्ययोलक्षण पृथक पृथगेव]

इत्यविरुद्ध पश्याम स्वसंवेदनम तस्तत्त्वस्य[1] लक्षण [1]भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्व [2]तयो सिद्धयत्येव। तच्च सिध्यत्तत्वान्तरत्व साधयति [2]तच्चाऽसजातीयत्वम्[3]। [4]तदप्यु पादानोपादेयभावाभाव[5] [6]तयोस्त[3]त्प्रयोजकत्वात्। तदेव [4]भूतचत यथोर्नास्त्यु पादानोपादेयभावो[5] विभिन्नलक्षणत्वात्। [6]इति [7]व्यापकविरुद्ध याप्तोपलब्धि[8] [8]उपा दानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वा तरभावेन[1] याप्ताद्भिन्न

क्योकि स्वपर के ज्ञान करने मे अज्ञान निवत्ति रूप हेतु की अयथानुपपत्ति है।

[भूत और चतन्य का लक्षण पृथक पृथक ही है।]

इस प्रकार से स्वसवेदन अतस्तत्त्व (चतन्य) का लक्षण है जो कि पृथ्वी आदि भूतो मे असभवी है। अत भूतचतुष्टय और चतन्य का भि न २ लक्षण सिद्ध ही होता है। इसम हम किसी भी प्रकार का विरोध नही दीखता है और वह भि न लक्षण सिद्ध होता हुआ दोनो को भि न भि न तत्त्व ही सिद्ध करता है। वह भिन्न तत्त्व ही भूत और चत य म असजातीयपने को सिद्ध कर देता है। असजातीयत्व हेतु भी उन दोनो मे उपादान उपादेय भाव के अभाव को सिद्ध करता है अत उन दोना भूत और चतन्य में अथवा उपादान उपादेय भाव म वह सजातीयत्व ही प्रयोजक है। इस प्रकार भूत और चतन्य मे उपादान उपादेय भाव नही है क्योकि व विभिन्न लक्षण वाले है। इसलिये यापक से विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि हो रही है अर्थात उपादान उपादेयभाव व्याप्य हैं सजातीयपना व्यापक है उस सजातीय से विरुद्ध जा भि न भिन्न तत्त्व हैं उससे विभि न लक्षणत्व हेतु व्याप्त है ऐसे हेतु की उपलब्धि हो रही है अत विभि न लक्षण व हेतु व्यापक विरुद्ध या तोपलब्धि नाम से कहा जाता है। उसी को स्वय आगे कहते हैं—

---

१ चेतनस्य। २ भूतचतन्ययो। ३ तत्त्वान्तरत्व च भूतचतन्ययोरसजातीय व साधयति। ४ असजातीय वमपि। ५ साधयतीति सबध। ६ भूतचतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा। ७ तत् सजातीयत्व प्रयोजक ययोरिति बस। ८ उपादानो पादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापक यत्सजातीयत्व ततो विरुद्ध तत्त्वान्तरत्व तेन व्याप्त विभि नलक्षण व तस्योपलब्धि। ९ विभिन्नलक्षणत्वादित्यय हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धि कथ्यते। तदवाग्र दशयति। १ व्याप्ता इति पाठा तरम्।

---

(1) पृथिव्यादिव। (2) तत् भूतचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्व सिद्धयन्ति पाद्यमान तत्त्वांतरत्व साधयति। तत् तत्त्वातरत्व विजातीयत्व साधयति। तत् विजातीयत्वं उपादानोपादेयाभाव साधयति। तयोर्भूतचेतनयो तस्योपादानोपादेयत्वा भावस्य साधकत्वात्—दि प्र। (3) तत्सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरुपादानोपादेययोस्ते तयोक्ते तयोर्भावस्तस्मात्। (4) चेतनयो इति पा—दि प्र। भूतचेतनौ पक्ष उपादानोपादेयभावौ भवत इति साध्यो धम भिन्नलक्षणत्वात— दि प्र। (5) भावोऽविभिन्न—इति पा (6) निवर्तमान सजातीयत्व उपादानोपादेयत्वनिवर्तकमिति वचो भिन्न लक्षणत्वं तन्निवर्तयतीत्यनेन विरुध्यते इत्याशंक्य विरोधं परिहरति। (7) साध्यस्य व्यापक। व्यापकविरुद्ध न तत्त्वांतर भावेन व्याप्तात् भिन्नलक्षणत्वात् भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेयभावाभाव उपलभ्यते—दि प्र। (8) व्याप्य। ता।

लक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात्[1] । नह्यत्र[1] सजातीयत्वविशेष[1]स्योपादानोपादेयभाव-[2] व्यापकत्वमसिद्ध, [3]विजातीयत्वाभिमतयो पय पावकयो सत्त्वादिना सजातीययोरपि [3]तदनुपगमात् [4]कथञ्चिद्विजातीययोरपि [4]मृत्पिण्डघटाकारयो[5] पार्थिवत्वादिना विशिष्ट-सामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्ध । [6]कथं[7]तर्हि[8] सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तर-भावेन विरोध इति [9]चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात् [9]पूर्वाकारापरित्यागा[6]ऽजहद्वृत्तो-[10]त्तराकारान्वय [11]प्रत्यय[12]विषयस्योपादानत्वप्रतीते[7] परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रिय-माणोत्तराकारस्योपादेयत्व[13]निर्ज्ञानादन्यथा[14]नि[8]प्रसङ्गात्[15] ।

उपादान उपादेय भाव व्यापक है वह सजातीय विशेष है। उसके विरुद्ध भिन्न २ तत्त्व रूप से व्याप्त होने से यह 'विभिन्न लक्षणत्व' हेतु प्रतिषध्य (चतन्य) के अभाव को सिद्ध करता है। यहां सजातीयत्व विशेष मे उपादान उपादेय भाव का व्यापकपना असिद्ध भी नही है क्योकि विजातीय रूप से स्वीकृत जल और अग्नि मे सत्त्वादि सामान्य धर्मों से सजातीयपना होने पर भी उपादान उपादेय रूप व्यापकपना आपने नही माना है और जो कथचित् विजातीय भी हैं ऐसे मृत्पिड और घट के आकार मे अर्थात् मत्पिड द्रव्य है और घट का आकार पर्याय है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विजातीय होने पर भी पार्थिव आदि से विशिष्ट सामान्य धम की अपेक्षा से सजातीय भी हैं इस मृत्पिड और घट आकार मे उपादान उपादेय भाव सिद्ध है।

चार्वाक—पुन सजातीय विशेष म तत्त्वातर भाव से विरोध क्यों है ?

जैन—विरोध इसलिए है क्योकि भिन्न २ तत्त्व म वह उपादान उपादेय भाव नही पाया जाता है।

[उपादान का लक्षण]

पूर्वाकार का परित्याग रूप व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनो में अजहदवृत्त (अपने मूल

---

१ प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात्। २ नन्वेव तन्वादर्घटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभाव स्यात्, पार्थिवत्वादि विशिष्टसामान्यसद्भावाविशेषादिति न शङ्कनीय व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोपादेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थाना विरोधात् व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च इत्यादिवचनादित्याशयगर्भमाह नहीति। भिन्नलक्षणत्व' हेतौ। ३ सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभावव्यापकत्वानुपगमात्। ४ मृत्त्वघटत्वप्रकारेण। ५ द्रव्यपर्याययो । ६ चार्वाक.। ७ तर्हि कुत्र सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्कय मन्तग् डसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह आचार्य। ८ जैन । ९ परित्यागो व्यय पूर्वाकारपरि—इति पाठान्तरम्। १ उत्पादरूपेण। ११ अन्वय अनुवर्तनम्। १२ प्रत्ययो ज्ञानम्। १३ पय-पावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु तत । १४ उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे। १५ (भेदकादिषु [illegible])।

---

(1) सजातीयभाव व्यापक (2) उपादानोपादेयभावसाधनं प्रति। ता। (3) सत्त्वेन प्रमेयत्वेन, वस्तुत्वेन इत्यादिना [illegible] सजातीययोरपि तथापि विजातीयत्वेन अङ्गीकृतयोः जलानलयो उपादानोपादेयभावव्यापकत्वं [illegible] [illegible] [illegible] नाङ्गीक्रियते। दि प्र (4) मृद्घटाकारयो इति पा, (5) [illegible] [illegible] सजातीयत्वमाश्रित्य तर्हि विरोधः कथं स्यादित्याशङ्कायामग्रे प्रस्तुतयति। (6) [illegible]। (7) [illegible]। (8) पय-पावकयोरप्युपादानोपादेयत्वप्रसंगात्।

[भिन्नलक्षणत्वहेतुर्भिन्नतत्त्वेन कथं व्याप्तमिति प्रश्ने सति समाधानं]

कथ तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्व व्याप्तमिति चेत [1]तदभावेनुपपद्यमानत्वात[2] । [3]किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य[4] दर्शनात्तस्य[5] तेना-व्याप्तिरिति चेन्न [6]तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्ध , किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत् । सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्ग । [7]नन्वेव [8]भूतातत्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षणत्व मा भूत कायाकारपरिणत भूतविशेषावस्थात प्रागपि क्षित्यादिभूताना चैतन्यशक्तिसदभावान्यथा [1]तदवस्थायामपि चैतन्योदभूतिविरोधादिति न [2]प्रत्यवस्थेय चेतनस्यानाद्यनन्ततत्त्वप्रसिद्धरात्म[3]वादिनामिष्टप्रसि

स्वभाव को न छोडकर) होता हुआ अन्वयरूप से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ है वही उपादान है । क्योकि पूर्वाकार को जिसने छोड दिया है ऐसे द्रव्य के द्वारा आत्मसात (ग्रहण) किया गया जो उत्तराकार है उसे ही उपादेय स्वीकार किया गया है । यदि ऐसा न मान तो अतिप्रसग दोष आजावेगा ।

[भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कसे बनेगी ? इसका समाधान ।]

शंका— भिन्न तत्त्व के साथ भिन्न लक्षण की व्याप्ति कसे है ?

समाधान—भिन्न तत्त्व के अभाव म भिन्न लक्षण भी नही पाया जाता है ।

चार्वाक— किण्वादि (मदिरा के लिये कारण भूत गुड आटा महुआ आदि) और मदिरा परिणाम इन दोनो मे भिन्न तत्त्व का अभाव होने पर भी भिन्न लक्षणपना देखा जाता है अर्थात् कारणभूत गुड महुआ आदि में स्वतन्त्र रूप से मद को उत्पन्न करने की शक्ति नही है और मदिरा परिणाम म मदजनक शक्ति विद्यमान है अत दोनो का लक्षण भिन्न २ पाया जाता है । इसलिये भिन्न लक्षणत्व हेतु की भिन्न तत्त्व के साथ अव्याप्ति है ।

जैन—ऐसा नही कह सकते । किण्वादि और मदिरा में भिन्न लक्षण की असिद्धि है । किण्वादिक (गुड़ महुआ आटा) मे भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति का सद्भाव है मदिरा आदि रूप से परिणत द्रव्य के समान । क्योकि सर्वथा मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होने पर आटा गुड महुआ आदि पदार्थ मदिरा रूप से परिणत अवस्था मे भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जावेंगे ।

चार्वाक—पुन इस प्रकार से भूत और अतत्तत्त्व (चैतन्य) मे भी भिन्न लक्षण न होवे क्योंकि

१ तत्त्वान्तरभावाभावे । २ भिन्नलक्षणत्वस्य । ३ चार्वाक । किण्वादि कारणरूपपिष्टगुडधातक्यादि । ४ मदशक्त्य जनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च । ५ (भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह) । ६ किण्वादिमदिरादिपरिणामयो । ७ (किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण । ८ (भूतस्तत्त्वं हि चित्) ।

(1) अन्यथा चैतन्यशक्त्यसदभावे कायाकारपरिणत भूतविशेषावस्थामपि चैतन्योत्पत्तिर्विरुद्ध्यते इत्युक्तवता चार्वाकं प्रत्याह जैन । इयं प्रतिकूलता न किंतु अस्मदभीष्टसिद्धि कस्मादात्मनामनादिनिधनत्वाभीष्टस्थापनात् । दि प्र. । (2) त्वं पूर्वपक्षीकरणीय । (3) ता ।

व्याघातात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्त्तं, [1]क्षित्यादितत्त्वस्यापि [2]तद्विवर्त्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्य-[1]नन्तत्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साधयत्येव । इति [2]चैतन्यपरिणामोपादान[3] एवाद्यचैतन्यपरिणाम [3]प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च[4] जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणाम सिद्ध[5] ।

शरीराकार से परिणत भूत विशेषावस्था से पहले भी पृथ्वी जल आदि भूतो मे चैतन्य शक्ति का सद्भाव है । अन्यथा शरीराकार परिणत अवस्था मे भी चैतन्य की उत्पत्ति का विरोध हो जावगा ।

जैन—इस प्रकार नही कहना चाहिये क्योकि चैतन्य के अनादि अनंतपना सिद्ध है और सभी आत्मवादियो को यह बात इष्ट है और इस प्रकार चैतन्यतत्त्व भूतचतुष्टय की पर्याय नही है अन्यथा पृथ्वी आदि तत्त्व को भी चैतन्य की पर्याय का प्रसग आ जावगा क्योकि दोना मे ही अनादि अनंतपना समान है । इसीलिये भिन्न लक्षण हेतु भिन्न तत्त्व से व्याप्त है और वह भूतचतुष्टय और चैतन्य को भिन्न भिन्न तत्त्व सिद्ध ही करता है । इस प्रकार प्राणियो का आद्य चैतन्य परिणाम ही पूर्व चैतन्य परिणाम (जन्म) के उपादान पूर्वक है और अन्त्य चैतन्य उपादेय है तथा अगले जन्म मे जन्म के लिये मरण के बाद का चैतन्य ही उपादान रूप है उसे ही आद्य चैतन्य परिणाम कहते है यह बात सिद्ध हुई ।

भावार्थ—चार्वाक चैतन्य और भूत चतुष्टय को एक तत्त्व सिद्ध करने मे लगा हुआ है । उसका कहना है कि भले ही जीव और भूत का लक्षण भिन्न भिन्न हो फिर भी दोनो एक तत्त्व हैं । जैसे गुड़ महुआ आटा आदि मदिरा के लिये साधनभूत पदार्थ हैं । इनमे मादक शक्ति नही है और सभी के सम्मिश्रण से इन्ही का मदिरा रूप परिणमन होकर इनमे मादकता आ जाती है और पीने वालो को वह उन्मत्त बना देती है । पृथक पृथक गुड़ महुआ या आटे की रोटी खाने वालो मे ऐसा विकार या नशा नही होता है । अत ये महुआ आदि पदार्थों का लक्षण भिन्न है और मदिरा का लक्षण भिन्न है फिर भी दोनो एक तत्त्व हैं वैसे ही यद्यपि आत्मा का लक्षण जानना देखना है और भूत चतुष्टय का लक्षण स्पर्श रस गंध वर्ण रूप है फिर भी लक्षण भेद से ये दोनो पृथक न होकर एक ही है ।

इस पर आचार्य ने अच्छी तरह समझाया है कि भाई ! गुड महुआ आटा आदि जड रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं और इनमे मदिरा बनने के पहले भी शक्ति रूप से मादकता विद्यमान है तभी

१ उभयत्रापि । २ पूर्वचैतन्यमुपादानम् । ३ अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणाम ।

(1) अन्यथा । (2) नन्वनादित्वाविशेषेऽपि चैतन्य भूतविवर्तं शक्तित्वात् ननु क्षित्यादिस्तद्विवर्तं शक्तिमत्त्वात् । मदजननविवर्तो न तु मदिरादिस्तद्विवर्तं तत क्षित्यादितत्त्वस्य तत्प्रसगो न स्यादिति नाशकनीय । अभिप्रायविशेषात् । स्वं ह्यभिप्रायविशेष प्राक्प्रबंधेन निरारेकं समर्थितेन स्वसंवेदनाद्यभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वं चैतन्यस्य व्यवस्थापितं । तथापि तस्य क्षित्यादिविवर्तत्वे क्षित्यादेरपि चैतन्यविवर्तत्वप्रसग स्यात् । न चैवं मदजननशक्तेर्मदिरादिविवर्तत्वे मदिरा [illegible] स्यात्तस्याभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वासिद्धेरिति—दि प्र । (3) बस । (4) ता । कार्यभूत (5) [illegible] संसार इत्याह ।

[illegible] होने से मादकता आ जाती है अन्यथा यदि इनमें शक्ति ही नहीं होती तो मिलने पर भी [illegible] से प्रकट होती।

जैनाचार्य तो दूध में घी को शक्ति रूप से एव आत्मा मे परमात्मा को शक्ति रूप से मानते हैं। देखो! जन्म लेते ही बालक मे बरिस्टर डाक्टर इजीनियर मास्टर आदि की शक्ति विद्यमान है इसीलिये बड़ा होने पर निमित्त मिलन से वैसा बन जाता है। अत आटा महुआ आदि मदिरा से भिन्न तत्त्व नहीं है ये सभी अचेतन रूप ही हैं किन्तु आत्मा सवथा ही इन भूत चतुष्टयो से विलक्षण ज्ञान दर्शन स्वरूप चेतन है। आश्चर्य इस बात का है कि यह चार्वाक मत चतुष्टय मे चारो को परस्पर में भिन्न-भिन्न मानता है और आत्मा एव भूत चतुष्टय को एक सजातीय द्र॰य मानता है जबकि ये चारो ही भूतचतुष्टय पुद्गल की अपेक्षा सजातीय एक द्रव्य है एव आत्मा इनसे भिन्न विलक्षण द्रव्य है। यह आत्मा अनादि अनंत है और मरण क बाद आगे गर्भावस्था मे ज्ञान के लिए उपादान भूत है। जसे कि जवानी अवस्था के चैतन्य में बाल्यावस्था का चत॰य उपादान रूप है ऐसा समझना चाहिये।

चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश

अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहता है कि ज्ञान स्वसंविदित नहीं है फिर भी बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है जैसे कि दीपक आदि अस्वसंविदित होकर भी बाह्य पदार्थ के प्रकाशक देखे जाते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि प्रदीप आदि तो अचेतन हैं अत बाह्य पदार्थ को जानने वाले नहीं हैं मात्र ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं किन्तु ज्ञान तो बाह्य पदार्थों को जानने वाला भी है और स्वसंवेदन लक्षण वाला है। सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादि के जानने वाले है कथंचित् वे भी बाह्य ही हैं।

सुखादि सातावेदनीय के उदय से हुए हैं एवं ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है अत सुख और सुख का ज्ञान कथंचित भिन्न ही हैं। एवं सभी ज्ञान स्वपर परिच्छेदक माने गये हैं।

कोई कहे कि स्वात्मनि क्रियाविरोधात' नियम से ज्ञान स्व को कैसे जानेगा ? इस पर आचार्य प्रश्न करते हैं कि स्वात्मा में धात्वर्थ लक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है कारण कि पृथ्वी अस्ति' इत्यादि रूप से अस्तित्व आदि क्रिया का विरोध हो जाने से सभी का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

यदि दूसरा पक्ष लेवें तो क्रिया का स्वात्मा कौन है ? क्रिया का स्वरूप या क्रियावान आत्मा अर्थात् करना बनाना आदि अन्य रूप क्रिया ? यदि क्रिया का स्वरूप कहें तो अपने स्वरूप का कोई विरोधी नहीं है। दूसरे पक्ष में भी क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पाई जाती है। तीसरे पक्ष में करने बनाने रूप क्रिया स्वात्मा में कोई भी मानते ही नहीं हैं। अत ज्ञान रूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ज्ञान स्वपर प्रकाशक है प्रदीपादि के समान। तथा इस ज्ञान लक्षण से ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने से संसार और मोक्ष एवं उनके कारण भी सिद्ध ही हो जाते हैं।

[1]पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च ससार । इति प्रसिद्धेन[1] प्रमाणेन संसारतत्त्वं न [2]बाध्यते, [2]नानुमानेन [3]नाप्यागमेन तस्य तत्प्रतिपादकतया [4]श्रुते 'ससारिणस्त्रसस्थावरा' इति वचनात् ।

[ससारस्य कारणभूततत्त्वाना विचार]

तथा ससारोपायतत्त्वमपि[3] न प्रसिद्धेन बाध्यते प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात । निर्हेतुक ससारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन[5] तदबाध्यते इति चेन्न पर्यायार्थादेशात्[6]ससार स्यानाद्यनन्तत्वासिद्धे दृष्टान्तस्यापि [6]साध्यसाधनविकलत्वात [7]द्रव्यार्थादेशात्तु [6]तस्य [6]तथासाधने सिद्धसाध्यतानुषक्ते । [8]सुखदुःखादि[7]भावविवर्तन[9]लक्षणस्य ससारस्य [10]द्रव्यक्षेत्र

पूर्वभव का परित्याग करके भवातर को ग्रहण करना ही ससार है। इस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से संसार तत्त्व बाधित नही होता है तथा उपयुक्त कथन की सिद्धि से अनुमान के द्वारा भी ससार तत्त्व बाधित नही है और न आगम मे ही बाधित है क्योकि आगम तो ससारिणस्त्रसस्थावरा' इस प्रतिपादक रूप सूत्र से प्रसिद्ध ही है।

[ससार के कारणभूत तत्त्वो का विचार]

तथा ससार के कारणभूत तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही हैं क्याकि प्रत्यक्ष प्रमाण उन कारणो को सिद्ध करने मे अबाधित रूप से पाया जाता है।

शका— ससार निर्हेतुक है क्योकि वह अनादि अनत है जैसे आकाश। इस अनुमान से ससार के कारण बाधित हैं।

समाधान—ऐसा नही कह सकते क्याकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ससार की अनादि अनतता असिद्ध है। और आकाशवत यह दृष्टात भा साध्य साधन विकल है। यदि आप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहें तो ससार अनादि अनत ही है। अत सिद्ध साध्यता का प्रसग आता है और सुख दुःखादि भाव रूप परिणमन लक्षण वाला ससार द्रव्य क्षत्र काल भाव और भव रूप पाच भेद विशेषों से सहेतुक ही प्रतीति मे आ रहा है। अत ससार को अहेतुक सिद्ध करने वाला आपका अनुमान निर्दोष नहीं है इसलिये ससार के कारण तत्त्वा का बाधक कोई भी अनुमान नही है तथा आगम भी

१ प्रत्यक्षेण । २ अनुपलब्धिरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन । ३ उपाय कारणम् । ४ पर्यायार्थिकनयापेक्षया । ५ ससारस्य । ६ नित्यत्वेन । ७ भाव परिणाम । ८ सुखदुःखादय एव भावा परिणामास्तेषा विवर्तन तदेव लक्षण यस्य ।

(1) स्वोपात्तकर्मवशात् । (2) पूर्वं चार्वाकोपन्यस्तेनानुपलब्धिलिङ्गजनितेन । (3) प्रसिद्धप्रामाण्येन । (4) आगमात् । (5) काल । (6) नरनारकादिकथनात् । (7) आत्म । (8) यस । ता बहु । (9) भावपरिवर्तन इति पा० । (10) आत्म ।

कालभावभव[1]विशेषहेतुकत्वप्रतीतेश्च नाहेतुकससारसाधनानुमानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम् । [1]नाप्यागम तस्य तत्साधकत्वात 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति वचनात बन्धहेतूनामेव ससारहेतुत्वात् । तदेव मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्व भगवतोऽभिमत प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्य सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्व साधयति, [2]तच्च [3]निर्दोषत्वम । इति त्वमेव स [2]सर्वज्ञो

उसका बाधक नही है क्योकि आगम तो संसार के कारणो का साधक ही है । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाययोगा बंधहेतव इस प्रकार सूत्र है क्योकि बंध के कारण ही ससार के कारण है ।

भावार्थ—यहा जैनाचार्य ससार को सहेतुक सिद्ध करते है तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब संसार अनादि है तब कारणो से उत्पन्न हुआ कैसे होगा ? और कारणो से उत्पन्न नही होगा तब उस संसार का अंत भी कैसे हो सकेगा ।

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचाय उत्तर देते हैं कि हम ससार को सवथा अनादि अनत नहीं मानते हैं क्योकि हम स्याद्वादी हैं । कथचित् द्रव्यदृष्टि से ससार अनादि अनत है एव पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सात है । यद्यपि आत्मा के साथ कर्मों का सबध अनादिकाल से ही है फिर भी उस कर्म बध के कारण आत्मा के रागादि परिणाम हैं और रागादि परिणामो के लिये कारणभूत वह कम का उदय है अत यह पच परिवतन रूप ससार सहेतुक ही है और जब सहेतुक है तब इसके हेतुओ का नाश करने से ससार का भी नाश हो जाता है । ससार के हेतु मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योग अथवा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र हैं ।

ससार का यह नाश कतिपय भव्य जीवो की अपेक्षा ही कहा गया है क्योकि ससार मे इतनी जीव राशि है कि जिसमें से अनतानत काल से अनतानत जीव मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं और भविष्य में भी अनतानंत जीव मोक्ष जाते रहेगे फिर भी आगामी अनतानत काल तक भी जीवराशि कम नही होगी न सिद्धों में वृद्धि की ही समस्या आवेगी क्योकि यदि अनत का भी अत हो जावे फिर वह अनत कैसे कहा जावेगा । अत यह ससार अहेतुक नही है और न केवल स्वय की भूल से ही है यह तो कर्मोदय निमित्तक भी है और मिथ्या अविरति आदि निमित्तक भी है ।

प्रत्येक कार्यों के लिये अनेक कारण होते हैं । द्रव्य कर्मों का उदय और मिथ्या अविरति आदि रूप परिणाम ये दोनों ही कारण ससार के कारण हैं । यहा जो दिखता है उसे ही ससार नही समझना, प्रत्युत जो भवांतर की प्राप्ति है वह संसार है इसीलिये 'संसरण संसार यह व्युत्पत्ति अर्थ साधक है ।

इस प्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, संसार एवं उन दोनो के कारणभूत तत्त्व भगवान

१ [illegible] संसारः । २ युक्तिशास्त्राविरोधित्वम् । ३ साधयतीत्यध्याहृत्य पदम् ।

(1) [illegible] । (2) [illegible] ।

वीतरागश्च स्तोतु युक्तो नान्य[1] [1]इत्युच्यते ।

[दूरवर्तिपदार्था यस्य प्रत्यक्षा सति सोऽर्हन् भवानेव]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[2] कस्यचित्प्रत्यक्ष सोऽत्र भवानर्हन्नेव[1]* । [2]दृश्यलक्षणाद्भिन्नल[3]क्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम्[4] । तथा वर्तमानात्कालादभिन्न कालोऽतीतोऽनागतश्च तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि[4] । तथा दर्शनयोग्याद्देशादभिन्नदेशो[4]ऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन [4]मकराकरादि । तदभिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[5] स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि[6] कस्यचित्प्रत्यक्ष साधितम् । सोऽत्र[6] भवानर्हन्नेव न पुन कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत [7]**अन्येषां न्यायागम विरुद्धभाषित्वात *** । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा [8]दुर्वैद्यादय, तथा चान्ये

के इष्ट तत्त्व हैं जो कि प्रसिद्ध प्रमाण से एव युक्ति और शास्त्र से अबाधित रूप सिद्ध होते हुये भगवान के वचनो को युक्ति शास्त्र से अविरोधी ही सिद्ध करते हैं एव युक्ति शास्त्र से अविरोधीपना ही भगवान के निर्दोषत्व को सिद्ध करता है। इसलिये हे भगवन ! वे निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग आप ही स्तवन करने योग्य है अन्य बुद्ध कपिल आदि नही है इस प्रकार कहा जाता है।

[दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हत आप ही हैं]

भिन्न लक्षण सबधी आदि रूप से विप्रकर्षी भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यहां व अर्हत भगवान् आप ही हैं।

दृश्य लक्षण (घटादि) से जिनका लक्षण भिन्न है ऐसे अदृश्य स्वभाव वाले पदार्थ अर्थात् अदृश्य स्वभाव सबधी विप्रकर्षी (परोक्ष दूरवर्ती) पदार्थ परमाणु आदिक हैं एव पिशाचादिक स्वभाव विप्रकृष्ट हैं। तथा वर्तमान काल से भिन्न अतीत और अनागत काल हैं उन सबधी रावण शख चक्रवर्ती आदिक काल विप्रकृष्ट हैं तथव देखने योग्य देश से भिन्न देश अनुपलब्धि योग्य हैं तत्सबधी अर्थात् उन दूर देश सबधी लवण समुद्र आदि देश विप्रकृष्ट हैं। उस दृश्य से भिन्न लक्षण सबंधी आदि रूप स्वभाव से काल से एव देश से विप्रकर्षी—दूरवर्ती भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध किया है इस विषय में वे अर्हंत आप ही हैं न कि बुद्ध कपिलादिक।

यह निश्चय आपने कसे किया ? ऐसा प्रश्न होने पर **अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं।** जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं वे निर्दोष नही हैं जैसे **दुर्वैद्य आदि।**

---

१ बुद्धादि । २ भगवानिति पाठान्तरम् । ३ घटादे । ४ आदिशब्देन पिशाचादि । ५ शङ्ख, शङ्खचक्रवर्ती । ६ निरूपित । ७ दूरतामापन्नमपि ।

---

(1) मया । भट्टाकलंकदेव —दि प्र । (2) काल देश । (3) घटादे । (4) वैश्वानरं ।(5)च इति पाठोऽधिक: । दि. प्र. । (6) जगति । (7) कपिलादीनां—दि प्र । (8) कपिलादय पक्ष न भवंतीति साध्यो धर्म न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा दुर्वैद्यदुर्नैमित्तिकादय न्यायागमविरुद्धभाषिणश्चैते तस्मान्न निर्दोषा—दि. प्र. ।

कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोऽर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते । न चान्न्यायागमविरुद्धभाषित्व[1] कपिलादीनामसिद्ध तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात् ।

[सांख्याभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

तत्र कपिलस्य [2]तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं[1] तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्[2] । न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूप, [3]सर्वज्ञत्वादिविरोधात् । [4]प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूप, नात्मन इति चेन्न तस्याचेतनत्वादाकाशवत् । [5]ज्ञानादेरप्यचेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्व युक्तिमेवेति

उसी प्रकार से न्याय-आगम से विरुद्ध बोलने वाले अन्य कपिल आदि हैं। इस अनुमान से न्यायागम—युक्ति और आगम से अविरुद्ध भाषी होने से ही भगवान अर्हत निर्दोष हैं यह निश्चित होता है।

यहां कपिलादि न्याय आगम से विरुद्ध भाषी हैं यह बात असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अभिमत मोक्ष संसार और उन उनके कारण तत्त्वों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है।

[सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन]

सांख्य— अपने चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष का सुषुप्त पुरुषवत् अव्यक्त चैतन्य उपयोग रूप से स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह अभिमत भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि हम जैनों के यहां चैतन्य विशेष अनंतज्ञान आदि रूप स्वरूप में अवस्थान होने को मोक्ष सिद्ध किया है। एवं अनंतज्ञान आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा सर्वज्ञत्व आदि का विरोध हो जावेगा।

सांख्य—सर्वज्ञत्व आदि प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रधान अचेतन है आकाश के समान।

सांख्य—ज्ञानादि भी अचेतन हैं अतः उन्हें अचेतन रूप प्रधान का स्वभाव मानना युक्त ही है।

जैन—यदि ऐसा आपका कथन है तो यह बताइये कि आप किस प्रमाण से ज्ञानादि को अचेतन

---

१ प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानमात्मनो मोक्ष इति सांख्याभिमतम् । २ जैनै । ३ सांख्य ।

---

(1) विरुद्धत्वं इति पा—दि प्र । (2) तावत्स्वरूपेऽवति पा—दि. प्र । (3) अन्यथा । (4) अकर्ता निर्गुणो शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कपिलशासने ॥ (5) तेषां ज्ञानादीनां अचेतनत्वं कस्मात्सिद्धि [illegible] । पर. आह । ज्ञानादयः पक्ष: अचेतना भवन्तीति साध्यो धर्म उत्पत्तिमत्त्वात् । ये उत्पत्तिमन्तस्ते [illegible] यथा घटादयः । उत्पत्तिमन्तश्चैते तस्मादचेतना भवन्ति । आह जैन उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतोरनुभवेन [illegible] भवति । [illegible] ? अत्र अनुभवात् चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वं दृश्यते—दि. प्र । (6) दर्शनादि ।

कैः ? कूटस्थस्यैवाचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेन्न हेतोरनुभवेन[3] व्यभिचारात् तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव इति चेत्परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षोसौ[4] बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं[5] पुरुषश्चेतयते" इति [1]वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तेस्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति [7]मतं तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो[2] हेतुः[8] । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्तह्यनुभववि

सिद्ध करते हैं ?

सांख्य—'ज्ञानादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान हैं घटादि के समान। इस अनुमान से ज्ञान आदि अचेतन सिद्ध हैं।

जैन—यह कथन ठीक नही है क्योकि आपका हेतु अनुभव के साथ व्यभिचारी है। वह अनुभव चेतन होने पर भी उत्पत्तिमान है।

सांख्य—अनुभव उत्पन्न होने वाला कैसे है ?

जैन—यह अनुभव पर की अपेक्षा रखता है इसलिये उत्पत्तिमान है जैसे बुद्धि पर की अपेक्षा रखती है अतः उत्पत्तिमान है। यह साक्षात्कार लक्षण वाला अनुभव पर की अपेक्षा वाला है क्योंकि बुद्धि के अध्यवसाय (निश्चय) की अपेक्षा रखता है। बुद्धि के द्वारा निश्चित हुये पदार्थ को पुरुष जानता है' —इस वचन से जाना जाता है। यदि अनुभव बुद्धि से निश्चित पदार्थ की अपेक्षा न रखे तो सभी जगह सभी काल मे सभी पुरुष के अनुभव का प्रसंग आ जावेगा। पुनः सभी सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) हो जावेंगे और फिर सर्वज्ञ बनने के लिये उपायों के अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेंगे।

सांख्य—आत्मा का जो अनुभव सामान्य है वह नित्य है उत्पत्तिमान नही है।

जैन—यदि आपका यह मत है तब तो ज्ञानादि सामान्य भी नित्य होने से उत्पत्तिमान् न होवें। अतः आपका उत्पत्तिमान् हेतु असिद्ध हो जाता है।

सांख्य—आप जैन के यहां ज्ञानादि सामान्य भले ही उत्पत्तिमान् न होवे किन्तु ज्ञानादि विशेष तो

---

१ सिद्धान्ती। पृच्छति। २ पुरुषस्य बुद्धिप्रतिबिम्बितार्थदर्शनमनुभवः। ३ जैन। ४ साक्षात्करणलक्षणोनुभवः। ५ अर्थं निश्चितं निश्चितं वार्थम्। ६ जानाति। ७ तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम्। ८ सांख्यस्य। ९ उत्पत्तिमत्त्वादिति।

---

(1) इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोऽभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं च पुरुषश्चेतयते इति सांख्यमतक्रमः। (2) अनवस्थसिद्धो इति पा—दि प्र।

शेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनैकान्तिकोऽसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषा सन्तीति [1]चायुक्त, वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि । नानुभवो वस्तु सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्[2] । [3]नात्मनानेकान्त, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्ते । कालात्ययापदिष्टश्चायं [4]हेतु ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्ष[3]त्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तर प्रयुक्तत्वात् ।

उत्पत्तिमान् ही हैं । अत हमारा हेतु असिद्ध नही है ।

जैन—तो अनुभव विशेष भी तो उत्पत्तिमान् ही हैं अत आपका हेतु अनेकातिक क्यों नही हो जावेगा ? अर्थात् अनुभव उत्पत्तिमान् होते हुये भी चेतन है इसलिय आपका उत्पत्तिमान् हेतु अनुभव मे चले जाने से अनैकातिक हो जाता है ।

सांख्य—अनुभव मे विशेष है ही नहीं ।

जैन—यह कथन ठीक नही है अन्यथा वस्तुत्व का विरोध हो जावेगा । तथाहि अनुभव कोई वस्तु नही है क्योकि वह सपूर्ण विशेषो से रहित है गध की सीग क समान । अर्थात् विशेष रहित सामान्य खर विषाण के समान असत् ही हैं ।

सांख्य—आत्मा सकल विशेष से रहित होने पर भी वस्तु है । इसीलिय यह हेतु आत्मा क साथ व्यभिचारी है ।

जैन—नही आत्मा के साथ भी यह हेतु अनैकांतिक नहीं है । आत्मा भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु है अन्यथा अनुभव के समान वह अवस्तु हो जावेगी । आपका उत्पत्तिमत्त्वात् यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि ज्ञानादिक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने से चेतन रूप प्रसिद्ध है और आपका यह हेतु प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया गया है अत कालात्ययापदिष्ट है ।

भावार्थ—जिस प्रकार से यहा साख्य के द्वारा मान्य मोक्ष का लक्षण बताया है वैसे ही भट्टाकलंकदेव

---

१ (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्व हेतो विपक्ष पि हेतुदर्शनात) । २ निर्विशेष हि सामान्य भवेत् खरविषाणवदिति वचनात् । ३ (आत्मन सकलविशेषरहितत्वेपि वस्तुत्वादनेकान्त इति चेन्न) । ४ उत्पत्तिमत्त्वादिति ।

---

(1) चायुक्त इति पा. । कोक अनुभवस्य विशेषा न सति हे सांख्य ! इति त्वदीयवच अयुक्त कस्मात् वस्तुत्व विरोधात् । अनुभवस्य विशेषाभावे वस्तुत्वं न घटते । तर्हि अनुमानत्वेन यः अनुभव पक्ष वस्तु न भवतीति साध्यो धर्म सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् अत्राह पर । सकलविशेषरहितत्वात् अयं हेतु आत्मना कृत्वा व्यभिचारी कोऽत्र विशेषरहितोऽप्यात्मा वस्तित्वस्ति । इति सांख्यमतं । अत्राहार्हत । हे साख्य ! मम हेतो आत्मना व्यभिचारो न । तस्यात्मन सामान्यविशेषात्मकत्वात् अन्यथा सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे आत्मन अवस्तुत्वं समवति—दि प्र । (2) निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥ इत्युक्तत्वात् । (3) प्रत्यक्षाच्चेतनेति वा पाठः ।

[चेतनसंसर्गादचेतना अपि ज्ञानादय: चेतनत्वेन प्रतीयते इति सांख्यमान्यताया: निराकरणं]

ननु[1] चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीति [1]प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव[2] । [3]तदुक्तं

के तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में भी बताया है । यथा—

"गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्ष" गुण—प्रकृति और पुरुष—आत्मा इन दोनों का भेद विज्ञान हो जाने पर सुप्तावस्था मे लुप्त हुये विवेक ज्ञान के समान चैतन्य स्वरूप की प्रकटता के न होने रूप अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है ! अर्थात् सामान्य चैतन्य मात्र में अवस्थान हो जाना मोक्ष है ऐसी उसकी कल्पना है।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है प्रकृति से भेद हो जाने के बाद आत्मा से ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है आत्मा ज्ञान शून्य हो जाती है। आत्मा का स्वरूप अचेतन है जैसे कि आकाशादि अचतन प्रसिद्ध हैं।

इस बात पर जैनाचार्यों ने ज्ञानादि को चतन एव आत्मा के गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पर पुन साख्य का कहना है कि ज्ञान सुख आदि उत्पन्न होते हैं अनित्य हैं अतएव अचतन हैं क्योकि आत्मा तो कूटस्थ नित्य अपरिणामी है उसके गुण अनित्य कसे हो सकगे ?

इस पर जैनाचाय आत्मा को सर्वथा नित्य नही मानते हैं एव गुणो को सर्वथा अनित्य नहीं मानते हैं। वे आत्मा को कथचित् अनित्य सिद्ध करते हैं एव कथचित् गुणो को भी नित्य सिद्ध कर देते हैं। सामान्यतया आत्मा द्रव्य है नित्य है ज्ञान गुण भी नित्य है क्योकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है एव कथचित् मति श्रुत आदि ज्ञानो की अपेक्षा ज्ञान उत्पत्तिमान् भी है और आत्मा भी नर नारकादि पर्यायो की अपेक्षा उत्पत्तिमान है। साख्य अनुभव को आत्मा का स्वभाव मानता है किंतु वास्तव मे देखा जावे तो ज्ञान के बिना अनुभव नाम की चीज भला और क्या होगी ? अत ज्ञान स्वसंवेदन सिद्ध आत्मा का स्वभाव है। वह प्रकृति का धर्म नही है और ज्ञान दशन सुख वीर्य स्वरूप अनंत गुणों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है न कि ज्ञान स शून्य हो जाना। क्योकि ज्ञान से रहित मोक्ष का अनुभव भी भला किसको हो सकेगा और कौन उस प्राप्त करना चाहेगा ? यदि कोई किसी को कहे कि भैया ! तुम हमारा सब राज्य पाट ले लो किंतु अपने प्राण हमे दे दो तब वह तो यही कहेगा कि भाई ! मरने के बाद आपक राज्य सुख का उपभोग कौन करेगा ? ऐसे ही ज्ञान के बिना आत्मिक सुखों का उपभोग भी कौन कर सकगा ? अत ज्ञान को आत्मा का ही स्वभाव मान लेना चाहिए।

[चेतन के ससर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं सांख्य की ऐसी मान्यता का निराकरण]

सांख्य—चतन-आत्मा क ससग स अचेतन ज्ञानादि भी प्रत्यक्ष में चेतन रूप से प्रतीति में आते हैं

---

१ साङ्ख्य । २ आत्मससर्गात् । ३ साङ्ख्यग्रन्थे ।

---

(1) प्रत्यक्षतो वाधमाना प्रतीति । (2) ननु भो जैन ! चतनत्वप्रतीतिर्ज्ञानादीनां परमार्थिकी न भवति किंतु आत्मन चेतनसंसर्गाच्चेतनत्वप्रतीतेरुपचारात् ।

"'तस्मात्तत्संसर्गादचेतन[1] [2]चेतनवदिह[3] [3]लिङ्गम्" इति। [4]तदप्यविचाराभिधान,[4] शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गाविशेषात्[4] । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोऽस्तीति चेत्स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यात, '[6]तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य[5] शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादय, स्वसंविदितत्वादनुभववत्। [7]स्वसंविदितास्ते, [6]परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति [7]प्रतिपादितप्रायम। तथा[8] चात्मस्वभावा[8] ज्ञानादय चेतनत्वादनुभववदेव। इति न चैतन्यमात्रावस्थान मोक्ष अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीते।

परन्तु वह प्रतीति भ्रांत ही है। कहा भी है—

तस्मात्तत्संसर्गादचेतन चेतनवदिह लिंग अर्थात् उस चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि चेतनवत् दीखते हैं ऐसा जानना चाहिये।

जैन—आपका यह कथन भी विचारशून्य है। इस प्रकार से तो शरीरादि मे भी चेतनत्व की प्रतीति का प्रसग आ जावेगा क्योकि चेतन का संसर्ग तो शरीर मे भी है।

सांख्य—शरीरादिको मे नही पाया जाने वाला ऐसा आत्मा का संसर्ग विशेष बुद्धि आदि के साथ मे है। अत ये बुद्धि आदि चेतन रूप प्रतिभासित होते हैं किंतु शरीर चेतन रूप प्रतिभासित नहीं हो सकता है।

जैन—तो भाई! कथचित् तादात्म्य को छोडकर वह कौनसा संसर्ग विशेष है? कहिये तो सही।

सांख्य—उस आत्मा के अदृष्ट (पुण्य-पापादि) कृतकत्व आदि विशेष हैं वे शरीरादि मे असंभवी हैं—नही पाये जाते हैं।

जैन—नही, ये सब शरीरादि मे भी पाये जाते हैं। इसीलिये 'ज्ञानादिक अचेतन नही है क्योंकि वे स्वसंविदित हैं अनुभव के समान। एवं वे स्वसंविदित हैं क्योकि परसंवेदन की अन्यथानुपपत्ति है।' इस प्रकार प्राय प्रतिपादन कर चुके हैं। उसी प्रकार ये ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव हैं क्योकि वे अनुभव के समान चैतन्य रूप हैं अत ज्ञानादि शून्य चैतन्य मात्र सामान्य आत्मा मे अवस्थान होना मोक्ष नहीं है प्रत्युत अनन्त ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में ही अवस्थान होना मोक्ष है ऐसी प्रतीति सिद्ध है।

---

१ आत्मसत्त्वचेतनत्वं लिङ्ग यस्मात्तस्मात्। २ आत्मसंसर्गात्। बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम्। ३ लिङ्गयते ज्ञायते इति लिङ्गं [illegible]। ४ स्याद्वादी। ५ शरीरे ज्ञाने वा। ६ तस्यात्मनोऽदृष्टपुण्यादि तेन कृतकत्वादिविशेष (आदिशब्दात् [illegible]) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते सांख्येन चेत्तन्न, तस्यापि शरीरादौ भावात्। ७ [illegible] परिहरति। ८ स्वसंविदितत्वेऽपि ज्ञानादीनां अचेतनत्वमित्युक्त सत्याह।

---

(1) [illegible]। (2) [illegible] इति पा.। (3) [illegible]। (4) [illegible]। (5) [illegible] इति पा.— [illegible]। (6) [illegible]। (7) [illegible]। (8) [illegible]।

[वैशेषिकाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिरिति कणभक्षाक्षपाद-मतं[1] प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितं पुंसोनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात् स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्ति-त्वसिद्धेः । स्यान्मतं[2] न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपं ततो भिन्नत्वादर्थान्तरवत् । ततो[3] [4]भिन्नास्ते [2]तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वादघटादिवत् । तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं[3] पुनस्तेषामुत्पाद-

भावार्थ—सांख्य कहता है कि चेतन के साथ अचेतन रूप ज्ञान सुख आदि का संपर्क हो रहा है अतः ये ज्ञान और सुख चेतन दिखते हैं वास्तव में ये अचेतन हैं।

इस मान्यता पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि आत्मा स्वयं अचेतन है और ज्ञानचेतना के संपर्क से चेतनवत् दिख रही है फिर तो नैयायिक का ही मत आ जावेगा जो कि आपको इष्ट नहीं है अथवा चेतन आत्मा के संसर्ग से शरीर को भी चेतन कहना पड़ेगा किन्तु यह भी बात नहीं है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञानादि गुण चेतन हैं और आत्मा के स्वभाव हैं। उन अनंतज्ञान आदि चैतन्य गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है कि—

> यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
> तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने पर जिनको स्वयं अपने स्वभाव की प्राप्ति हो गई है ऐसे ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

[वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन]

बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद (नाश) हो करके सामान्य आत्मा मात्र में अवस्थान होना इसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार से कणाद अक्षपाद (वैशेषिक नैयायिक) ने मुक्ति का लक्षण माना है, किन्तु उपर्युक्त खण्डन से इनका भी खण्डन हो जाता है अतः यह कथन भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि पुरुष आत्मा का स्वरूप अनंत ज्ञानादि रूप सिद्ध किया गया है और स्वरूप की उपलब्धि प्राप्ति होना ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक नैयायिक—बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वरूप नहीं है क्योंकि आत्मा से भिन्न हैं जैसे अन्य अचेतन पदार्थ। वे बुद्धि आदि पुरुष से भिन्न ही हैं क्योंकि वे पुरुष से विरुद्ध धर्म के आधार हैं जैसे घट

१ वैशेषिकनैयायिकमतम् । २ वैशेषिकनैयायिकयोः । ३ पुंसः । ४ ततः पुंसः ।

(1) प्रमाणेन सांख्याभिमतमोक्षतत्त्वनिराकरणद्वारेण । (2) अत्राह कश्चित् हे बौद्ध ! ततो भिन्नत्वादिति हेतुः असिद्ध इति न ते बुद्ध्यादयः ततो भिन्ना भवंति इति साध्यो धर्म इत्यादि । दि प्र । (3) स्याद्वादी सांख्यं प्रति पृच्छति बुद्ध्यादीनां तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं कुतः इति प्रश्ने आह । दि प्र ।

विनाशधर्मकत्वादात्मनोनुत्पाद[1]विनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्" इति तदयुक्तं[1], विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा [2]भेदासिद्धेर्मेचकज्ञान[3]तदाकारवत्[1] ।

[चित्रज्ञानमेकरूपमनेकरूपं वेति विचारः]

एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तन्नाकारो [4]नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न[1] भेदोभ्युपगम्यते [2]मेचकज्ञानत्वविरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव[5] न [6]तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्व[3]मभेदेपि स्यादिति [4]मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपदग्रहीति किं वैकया ? यद्यनेकया तदेकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्मा-

आदि । उनका विरुद्ध धर्माधिकरणपना सिद्ध ही है क्योंकि उनमें उत्पाद विनाश धर्म पाया जाता है और आत्मा उत्पाद विनाश धर्म से रहित है यह बात प्रसिद्ध है।

स्याद्वादी—आपका यह कथन अयुक्त है । विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं है जैसे मेचक–चित्रज्ञान और चित्र आकार वर्ण ।

[चित्र ज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार]

चित्रज्ञान एक है और नीलादि प्रतिभास विशेष उसके आकार अनेक हैं । इस प्रकार एकत्व अनेकत्व रूप विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी चित्रज्ञान और उसके प्रतिभास विशेष मेचक वर्णों में भेद नहीं माना गया है अन्यथा चित्रज्ञानत्व का विरोध हो जावेगा ।

यौग—युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान एक ही है । उस चित्रज्ञान में अनेक प्रतिभास विशेष संभव नहीं है जिससे कि अभेद में भी विरुद्ध धर्मों का आधार होवे ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति के द्वारा युगपत् अनेक पदार्थों को ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तब तो एक चित्रज्ञान अनेक शक्त्यात्मक हो गया वह एक चित्रज्ञान ही विरुद्ध धर्मों का आधार रूप हो गया अर्थात् ज्ञान स्वयं एक है और शक्तियां अनेक हैं यही विरुद्ध धर्मपना है ।

१ स्याद्वादी । २ मेचकज्ञानतदाकारयोरिव । ३ ते मेचकवर्णा । ४ अन्यथा । ५ आत्मबुद्ध्यादीनाम् । ६ तव यौगस्य ।

(1) उत्पादविनाश इति पा (2) आत्मनो बुद्ध्यादीनां च विरुद्धधर्माधिकरणत्वं भवतु तस्मिन् सत्यपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति दि प्र । (3) यथामेचकज्ञानमेचकज्ञानाकारयोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति । तथा आत्मबुद्ध्यादिविशेषगुणानां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदाभाव । दि. प्र । (4) [illegible] नीलादि प्रतिभास विशेषाकारो [illegible] ते मेचकस्य पंचवर्णरत्नस्य ज्ञाने नीलादिप्रतिभास विशेषाणां [illegible] [illegible] । (5) युगपदनेकार्थप्रकाशकैकप्रदीपवत् दि प्र । (6) चित्रज्ञाने दि प्र ।

ध्यास[1]। ततोऽनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूताया पृथक्त्वात् तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो[2]भेदादर्थान्तरवत्। सम्बन्धादिति[3] [4]चेत्तर्हि तदनेकया [1]शक्त्या सबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक[1]रूपं न स्यात् ? [1]तस्याप्यनेकरूपस्य ततोऽन्यत्वात्तदेकमेवेति[2] चेत्कथं [1]तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च [3]पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्[4]। यदि पुनरेकेनैव[1] रूपेणानेकया शक्त्या सबध्यते [5]तदानेकविशेषणत्वविरोध[11]। पीतग्रहणशक्त्या[6] हि येन स्वभावेन सबध्यते[11] तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेन पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं[7] स्यान्न नीला

यौग—अनेक धर्मों की आधार भूत अनेक शक्तियां उस चित्रज्ञान से पृथकभूत हैं। वह ज्ञान तो एक धर्म का आधार है इसलिए एक ज्ञान मे विरुद्ध धर्माधार नही है।

जैन—पुन अनेक शक्तियां उस ज्ञान की है यह कथन कैसे बनेगा ? क्योकि वे शक्तियां ज्ञान से भिन्न हैं जैसे दूसरे भिन्न पदार्थ। अर्थात चित्रज्ञान से घट पट आदि पदार्थ जिस प्रकार भिन्न हैं उसी प्रकार से अनेक शक्तियां भी भिन्न हो गई पुन ये शक्तियां एक चित्रज्ञान की हैं यह कैसे कहोगे ?

यौग—शक्ति के साथ चित्रज्ञान का समवाय सबंध होने से ये शक्तियां ज्ञान की हैं ऐसा कहते हैं।

जैन—तब तो वह ज्ञान अनेक शक्तियो से सबधित होने से अनेक रूप हो गया फिर अनेक रूप क्यो नही कहलावेगा ?

यौग—वे चित्रज्ञान से सबधित अनेक रूप भी उस चित्रज्ञान से भिन्न ही है इसलिये वह चित्रज्ञान एक ही है।

जैन—पुन उस चित्रज्ञान के अनेकरूप है यह आप कैसे कहोगे ?

यौग—उस अनेकरूप को भी समवाय सबंध से ही उस ज्ञान का कहेंगे।

जैन—तब तो उपर्युक्त प्रश्नों से जो दोष दिये हैं वे ही दोष विद्यमान रहेंगे। पुन प्रश्नो की अनवस्था ही चली जावेगी कही दूर जाकर भी अवस्थान नही होगा।

१ यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थ युगपद्गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यास। २ मेचकज्ञानात् (चित्रज्ञानात्) घटाद्यर्थान्तरवत्। अनेकशक्तिभेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथ व्यपदिश्यते ?। ३ शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्य युज्यत इति चेत्। ४ जैन आह तर्हीति। ५ (मेचकज्ञानम्। ६ चित्रज्ञानसम्बन्धिनोऽनेकरूपस्य। ७ चित्रज्ञानात्। ८ चित्रज्ञानम्)। ९ अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति। १ तदनेकया शक्त्या सम्बध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वयं कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या सबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह। ११ अनेका शक्तय इति विशेषणत्वविरोध। १२ मेचकज्ञानम्।

(1) सार्द्धं। (2) यौगो वदति तत् चित्रज्ञान एकमेव। कस्मात्। ततश्चित्रज्ञानात् अनेकस्य रूपस्य भिन्नत्वादिति चेत् स्याद्वादी वदति। तस्य चित्रज्ञानस्य तदनेक स्वरूपमिति कथं कथनीय—दि प्र। (3) परिहारस्य। (4) दोष परिहारयोरवस्था भावात्। (5) तदा चानेक इति पा—दि प्र। (6) सह। (7) ज्ञानस्य न इति पा दि. प्र।

दिग्राहित्व विशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम्। अथकया शक्त्यानेकमर्थं[8] [1]तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्प समाश्रीयते तदापि [2]सर्वार्थग्रहणप्रसङ्ग। [3]पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत? [4]अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते[5]। किं तर्हि? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति[6] मत तन्न न कार्यभेद[1] कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतु[8] स्यादित्येकहेतुक[2] विश्वस्य वैश्वरूप्य[3] प्रसज्येत। तथा [4]चाने

यौग—वह ज्ञान एक रूप से ही अनेक शक्तियो से सबधित होता है।

जैन—तब तो शक्तिया अनेक हैं यह विशेषण विरुद्ध हो जावगा।

यौग—ज्ञान जिस स्वभाव से पीत ग्रहण शक्ति से सबधित होता है उसी एक ही स्वभाव से नील आदि को ग्रहण करने की शक्ति से सबधित होता है।

जैन—तब तो पीतग्राही विशेषण रूप ही चित्रज्ञान होगा न कि नीलादिग्राही विशेषण रूप। इस प्रकार वह ज्ञान पीतज्ञान ही रहेगा न कि चित्रज्ञान।

भावार्थ—जैनो ने यौग के प्रति दो विकल्प उठाये थे कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति से? प्रथमपक्ष मे वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से सबधित होता है। पुन दो विकल्प उठाये हैं कि वह चित्रज्ञान अनेकरूप से अनेक शक्ति से सबधित होता है या एक रूप से?

यदि अनेक रूप से सबधित है तो वह ज्ञान अनेक रूप स्वय क्यो नही होगा? यदि कहे कि एक रूप से सबधित होता है तो एक रूप से अनेक शक्ति से सबधित अनेक विशेषण रूप नही होगा। तथा च एक पीतज्ञान रूप या एक नीलज्ञान रूप ही रहेगा न कि चित्रज्ञान रूप। अब मूल का दूसरा पक्ष लेव तो—

यौग—यह चित्रज्ञान एक शक्ति से ही युगपत अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है यह दूसरा पक्ष हमें इष्ट है।

जैन—तब तो फिर सपूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने का प्रसग प्राप्त हो जावगा क्योकि जिस प्रकार एक ज्ञान पीतग्रहण शक्ति से नीलादि पदार्थों को ग्रहण करेगा उसी प्रकार से भूत भविष्यत वर्तमान रूप सपूर्ण पदार्थों को भी ग्रहण कर लेगा उसका निवारण कौन कर सकेगा?

यौग—पीतग्रहण शक्ति से या नीलग्रहण शक्ति से अर्थात किसी भी एक शक्ति से पीत नीलादि

१ मेचकज्ञानम्। २ मेचकज्ञा। नीलपीताद्येव केवल न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहक स्यात्। ३ सर्वार्थग्रहणप्रसङ्ग वि वृणोति। ४ यौग। ५ यौगेन। ६ एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम्। ७ जैन प्राह। ८ घटपटादिकार्यभेद। ९ कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात्।

(1) प्रतिभास। (2) ब्रह्म। (3) नानात्वं। (4) सवि—दि प्र।

ककारणप्रतिवर्णन सर्वकार्योत्पत्तौ [1]विरुध्यते । [1]तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्त्तव्यम्[2] । तेन[3] च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन [3]प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वात्[4] ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत । निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो[5] [3]गुणगुणिनोरन्यतैकान्तस्य[6] न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्ना शक्या प्रतिपादयितु यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत ।

[मुक्तौ क्षयोपशमिकादिज्ञानसुखादीनामभावो न त्वानन्तसुखादीनां]

ननु च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या[4] अन्यथा[5] तदनु

रूप अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है हम ऐसा नहीं मानते हैं।

जैन—तो आप क्या मानते हैं?

यौग—नील पीतादि प्रतिनियत अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उस एक शक्ति से नील पीतादि अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है इस प्रकार मानते हैं।

जैन—तब तो कार्य में होने वाला भेद कारण शक्ति के भेद की व्यवस्था का हेतु नहीं होगा इस प्रकार से तो यह विश्व एक हेतु से ही नाना रूप हो जावेगा। फिर सभी कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का वर्णन करना विरुद्ध हो जावेगा। अर्थात् यौगमत में जितने कार्य हैं उतने ही उनके कारण हैं इस प्रकार की मान्यता है उसमें विरोध आ जावेगा। अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये चित्रज्ञान अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है एवं वह अनेक शक्त्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना ही चाहिये।

इसलिये अनेक विरुद्ध धर्मों के आधारभूत उस एक चित्रज्ञान से विरुद्ध धर्माधिकरणत्वात् हेतु व्यभिचरित हो जाता है अतः ज्ञानादिक आत्मा से भिन्न हैं। इस प्रकार से भेद एकांत की सिद्धि नहीं होती है जिससे कि आत्मा अनंत ज्ञानादि रूप न होवे अर्थात् आत्मा अनंतज्ञानादि रूप सिद्ध हो जाता है और गुण गुणी में एकांत से भिन्नपना है इस पक्ष का आगे चतुर्थ परिच्छेद में निराकरण करेंगे।

आत्मा से ज्ञानादि गुण सर्वथा भिन्न हैं ऐसा प्रतिपादन करना शक्य नहीं है जिससे कि अशेष गुणों

१ यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति यौगमतं विरुध्यते । २ मेचकज्ञानेन । ३ विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य । ४ मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेऽपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः । ५ एकस्यानेकवर्त्तिनस्त्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे । ६ भेदैकान्तस्य । ७ यौग । ८ तस्या मुक्तेः ।

(1) तद्विरोधमङ्गीकुर्वता । तं सर्वकार्यमनेककारणकमङ्गीकुर्वता । दि प्र । (2) शक्तेरेवानभ्युपगमान्न कश्चिद्दोष इत्याशङ्कायां शक्तिरहितेन ज्ञानेन यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्यते इति वक्तव्यं । अथवा तच्छक्तिसमर्थनं प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतरभेदादिति सूत्रव्याख्यानावसरे प्रपंचतः प्रोक्तमत्रावगन्तव्यं । दि प्र । (3) गुणगुणिनोरन्यतैं इति पा । (4) जैन । (5) धर्माधर्मयोरात्यन्तिकी निवृत्तिर्नास्ति चेत् तदा तस्या मुक्तेरुत्पत्तिर्नास्ति दि प्र ।

पपत्ते । [1]तन्निवृत्तौ च तत्फलबुद्ध्[1]यादिनिवृत्तिरवश्यभाविनी निमित्तापाये नमित्तिकस्या प्यनुपपत्त । मुक्तस्यात्मनोऽत करणसयोगाभावे वा न [2]तत्कायस्य बुद्धयादेरुत्पत्ति । इत्य शेषविशेषगुणनिवृत्तिमु क्तौ सिद्धयत्येवेति कचित[3] तेप्यदृष्टहेतुकाना बुध्यादीनामात्मान्त करणसयोगजाना च मुक्तौ निवृत्ति ब्रुवाणा न निवार्यन्ते[4] । [2]कमक्षयहेतुकयोस्तु [3]प्रशम-सुखान तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्था प्रमाणविरोधात्[5] । तत [4]कथञ्चिद्बुध्या दिविशेषगुणाना निवत्ति कथञ्चिदनिवत्तिमु क्तौ यवतिष्ठने । न[4] चव सिद्धा तविरोध [5] "बन्धहेत्वभावनिजगम्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष " इत्यनुवतमाने औपशमिकादिभ य-

का अभाव हो जाना मुक्ति है वह कथन यवस्थित हो सके अर्थात मुक्ति का यह लक्षण सिद्ध नही होता है ।

[मुक्ति मे क्षायोपशमिक ज्ञान सुख आदि का अभाव है न कि अनत सुखादिको का अभाव]

यौग—मुक्ति म धम अधम का ता आत्यतिक अभाव स्वीकार करना ही चाहिये । अन्यथा मुक्ति नही हो सकेगी और धम अधम की निवत्ति हो जाने स उसके फल रूप बुद्धि सुख, दु ख इच्छा द्व ष प्रयत्न और सस्कार आदि विशष गणो का अभाव भी अवश्यभावी है क्योकि निमित्त के अभाव मे नमित्तिक (काय) भी नहा हो सकता है अथवा मुक्त जीव क अत करण (मन) के सयोग का अभाव हो जान पर उस मन क सयोग से उत्पन्न होन वाल काय स्वरूप बुद्धि आदि की भी उत्पत्ति नही हो सकती है इसलिये मुक्त अवस्था मे अशष विशष गुणो का अभाव सिद्ध ही हो जाता है ।

जन—जो अदृष्ट–भाग्य रूप धम अधम के निमित्त से होन वाले है और आत्मा तथा मन के सयोग से उत्पन्न हुय है ऐसे बुद्धि आदिको का मुक्ति मे जो अभाव मानत हैं उनका हम खण्डन नही करते हैं ।

भावाथ—आत्मा के मतिज्ञानावरण आदि कम के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षायोपशमिक बुद्धि एव सातावेदनाय जन्य सुखादि गुणो का अभाव तो हम जन भी मुक्तावस्था में स्वीकार करत हैं ।

जो कर्म के क्षय से उत्पन्न हुय अव्याबाध सुख और अनतज्ञानादि का मुक्ति मे अभाव सिद्ध करते हैं वे स्वस्थ नही है क्योकि वसी मुक्ति मानन मे प्रमाण से विरोध आता है । इसलिय मुक्त जीवो में कथचित् क्षयोपशम की अपेक्षा से बुद्धि आदि विशष गुणो का अभाव है और कथचित क्षायिक गुणो की

१ धर्माधर्मकारणक बुध्यादि । २ अन्त करणसयोगकार्यस्य । ३ यौगा । ४ आत्मभिजैन । ५ मुक्तात्मा गुण-वानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात् । ६ अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्) । ७ कमक्षयहेतुजानाम् । ८ अस्य प्रकरणे इत्यथ ।

(1) धर्माधर्मयोरभावे सति तत्फलबुद्धयादेरपि अवश्यमेवाभाव । यतो लोके कारणापाये कार्यस्योत्पत्तिर्न घटते । दि प्र । (2) ज्ञानावरणादि । (3) मोक्षसुख (4) ज्ञानादीनां निवृत्यनिवत्तिप्रकारेण । (5) सिद्धांतसूत्रे केषांचित् गुणानां कथंचित् निवृत्यनिवृत्तिप्रतिपादनाभावात् विरोध इति चेत् ।

त्वाना 'चा यत्र'[1] केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ' इति सूत्रसद्भावात । [2]तत्रौपशमिक क्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावाना [1]दर्शनज्ञानगत्यादीना[2] [3]भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धा मुक्तौ [4]विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, अन्यत्र [4]केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य इति वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्त तथा वचनम् ।

अपेक्षासे अनत ज्ञानादि रूप बुद्धि आदि का अभाव नही है यह बात व्यवस्थित हो जाती है ।

इस प्रकार से हमारे सिद्धात मे कोई विरोध नही आता है । बंधहेत्वभाव निर्जराभ्या कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्ष इस सूत्र के प्रकरण मे ही औपशमिकादि भव्यत्वाना च अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञान दर्शनसिद्धत्वेभ्य ये सूत्र पाये जाते है अर्थात बंध के हेतु का अभाव और निर्जरा के द्वारा सपूर्ण कर्मो का नाश हो जाना मोक्ष है और औपशमिकादि भव्यत्वादि भावो का भी छूट जाना मोक्ष मे माना है । तथा केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन सिद्धत्व को छोडकर ये औपशमिकादि भाव नष्ट हो जाते है अर्थात ये भाव मुक्ति मे नही पाये जाते है ।

उनमे औपशमिक क्षायोपशमिक औदयिक एव पारिणामिक भाव रूप दर्शन ज्ञान गति आदि तथा भव्यत्व भाव का विप्रमोक्ष—अभाव हो जाना ही मोक्ष है । उपर्युक्त सूत्रो के साथ सबध करने से मुक्ति मे क्षायोपशमिक ज्ञानादि रूप विशेष गुणो की निवृत्ति इष्ट ही है एव अन्यत्र केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य इस सूत्र के कथन से मुक्ति मे अनत ज्ञान दर्शन सिद्धत्व एव सम्यक्त्व रूप क्षायिक विशेष गुणो की निवृत्ति नही है अत ये स्याद्वाद वचन युक्त ही है ।

उन औपशमिकादि भावो मे औपशमिक के सम्यक्त्व चारित्र ये २ तथा क्षायोपशमिक के मति श्रुतादि ४ ज्ञान कुमति आदि ३ अज्ञान चक्षु आदि ३ दर्शन क्षायोपशमिक रूप ५ लब्धियाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चारित्र और सयमासयम ये ३ सब १८ भेद औदयिक के ४ गति ४ कषाय ३ लिग मिथ्यात्व अज्ञान असयत असिद्धत्व ६ लेश्या ये २१ भाव तथा पारिणामिक के भव्यत्व अभव्यत्व एव क्षायिक के दान लाभ भोग उपभोग और चारित्र ये ५ इस प्रकारसे इन ४८ विशेष गुणो भावो का मुक्तावस्था मे अभाव इष्ट ही है । एव अन्यत्र इत्यादि सूत्र से अनतज्ञान दर्शन सिद्धत्व सम्यक्त्व अर्थात

---

१ विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थ । २ विना । ३ औपशमिकादिष । ४ (क्रमश —औपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोग औदयिकी गतिभवान्तरगमनरूपा) आदिपद प्रत्येकमभिसंबध्यते । तेन सम्यक्त्वचारित्र इत्यादिसूत्रोक्ताना सर्वेषां ग्रहणम् । भव्यत्व पारिणामिकम् । अनादिवस्तु रत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलक भव्यत्वम् । (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भव्यत्व क्षीयते—विपच्यते इत्यर्थ न तु नश्यतीति तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्) । ५ विशेषा अदृष्टजबुद्ध्यादय ।

---

(1) सम्यक्त्व । औपशमिकक्षायोपशमिकरूपयोर्दर्शनज्ञानयोग्रहणम् । (2) चतुर्गति । आदिशब्द प्रत्येकमभिसबध्यते तेन सम्यक्त्वचारित्र इत्यादि सूत्र (तत्त्वार्थसूत्र) अभिहितस्य चारित्रस्याज्ञानादे कषायादे परिग्रहो यथाक्रम सेत्स्यति । (3) भूते भव्यत्वाभावात् यथा मृत्पिड घटस्य भव्यत्व वर्तते पश्चाद् भूते सजाते घटे घटभव्यत्वाभाव भवितु योग्य भव्य । तथा रत्नत्रयाविर्भावे योग्यत्व भव्यत्व तदाविर्भावे भव्यत्वनिवृत्ति । (4) केवलसम्यक्त्वदर्शन इति पा ।

[1]कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्धय दिति चेत् [2]सिद्धत्ववचनात्[1] सकलदु खनिवत्ति रात्यन्तिकी हि [2]भगवत सिद्धत्वम् । सव चानन्तप्रामसुखम् । इति सासारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते ।

अनतज्ञान अनतदशन अनतवीय क्षायिकसम्यक्त्व ये क्षायिक भाव के ४ भेद और पारिणामिक का १ जीवत्व भाव इस प्रकार इन ५ विशष गुणो का मुक्ति म अभाव नही है ।

इसी प्रकार से श्री भट्टाकलक दव ने राजवार्तिक म क्षायिक भावा का वणन करते हुये प्रश्नोत्तर रूप मे वणन किया है । यद्यन तदानल ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसक्षयाद भवति सिद्धष्वपि तत्प्रसग नषदोष शरीरनामतीथकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तषा तदभावे तदप्रसग परमानदाव्याबाधरूपेणव तेषाँ तत्र वृत्ति केवलज्ञानरूपण अनतवीयवत्तिवत् ।

अथ—प्रश्न यहहोता है कि दानादि रूप अतराय कम के क्षय मे प्रगट होने वाली दानादि क्षायिक लब्धियाँ है उनके काय विशष अनत प्राणिया को अभयदान रूप अहिसा का उपदेश लाभातराय के क्षय से केवली को कवलाहार के अभाव म भी शरीर की स्थिति म कारणभूत परम शुभ सूक्ष्म दिव्य अनत पुदगलो का प्रतिसमय शरीर म सबधित होना भोगाँतराय आदि के क्षय स गधोदक पुष्पवृष्टि पदकमल रचना सिहासन छत्र चमर अशोक वक्षादि विभूतियो का होना यह सब वभव चार घातिया कर्मों के नाश स प्रगट हाने वाली नव केवल लब्धि रूप है अत ये क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से हाने के कारण सिद्धा मे भी इनके काय होने चाहिय ।

इस पर आचाय कहते है कि ऐसी बात नही है क्याकि दानादि लब्धियो के काय के लिय शरीर नाम और ताथकर नाम कम के उदय की भी अपेक्षा है अत सिद्धो मे य लब्धिया अव्याबाध अनत सुख रूप से रहती है जस कि केवलज्ञान रूप मे अनतवीर्य रहता है । एव किसी का यह प्रश्न भी हो जाता है कि इन उपयुक्त तत्त्वाथसूत्र क सूत्रो स सिद्धत्वभाव का ग्रहण कहा किया गया है ?

इस पर आचाय कहते है कि जसे पोरो के पृथक निदश से अगुली का सामान्य कथन हो जाता है उसी प्रकार से सभी क्षायिक भावो म व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक भावो के कथन म ही हो गया है । अर्थात कर्मों के सदभावतक चौदहव गुणस्थान के अत तक औदयिक भावो का असिद्धत्व भाव पाया जाता है किंतु सवथा सपूण कर्मों के अभाव से सिद्धत्व भाव प्रगट हो जाता है । उसी प्रकार स क्षायिक दान लाभ क्षायिकचारित्र आदि गुणो का सदभाव भी सिद्धो मे सिद्ध ही हो जाता है ।

यौग—इस प्रकार सूत्र के आधार से मुक्ति मे अनंत सुख का सदभाव कैसे सिद्ध होगा ?

जैन—सूत्र मे ' सिद्धत्व वचन है उससे ही अनन्त सुख की सिद्धि होती है क्योकि भगवान के

१ यौग । २ जैन ।

(1) सिद्धत्वशब्देनानतवीर्यसुखे च ग्राह्य । (2) भावत इति पा । परमार्थत ।

[वेदांतिभिमतस्य मोक्षस्य निराकरण]

[1]अनन्तसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमित्यानन्दकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष [1]इत्यपर [2]सोपि युक्त्यागमाभ्या बाध्यते। [3]तदनन्त सुख मुक्तौ पुस सवेद्यस्वभावमसवेद्यस्वभाव[2] वा ? सवेद्य चेत्तत्सवेदनस्यानन्तस्य [3]सिद्धि अ यथानन्तस्य सुखस्य [4]स्वय [4]सवेद्यत्वविरोधात । यदि पुनरसवेद्यमेव तत्तदा कथ सुख नाम ? [5]सातमवेदनस्य सुखत्वप्रतीते । स्यान्मत [5]ते, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसवेदन परमात्मन । केवल बाह्यार्थाना ज्ञान नोपेयते[6] [7]तस्येति तदप्येव सम्प्रधार्यम्- कि बाह्यार्थाभावाद्बाह्याथसवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्ष सुखस्यापि सवेदन मुक्तस्य न स्यात तस्यापि बाह्याथवदभावात[6] । पुरुषाद्व तवादे

सपूण दु खो का आत्यतिक अभाव हो गया है वही सिद्धत्व गुण है और वह सपूणतया दु खा का अभाव ही अनत प्रशम सुख है । इसलिये मुक्तिमे सासारिक सुखोका अभाव है इस कथन म विरोध नही आता है ।

[वेदाती के द्वारा मान्य मुक्ति का खडन]

वेदांती— मुक्त जीव के अनत सख ही है ज्ञानादिक नही है इसलिय आनद रूप एक स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाना ही मोक्ष है ।

जैन—आपका यह कथन भी युक्ति और आगम म बाधित है । मुक्त जीव के अननसुख है वह संवेद्य (अनुभव करने योग्य) स्वभाव वाला है या असवेद्य स्वभाव वाला है ? अर्थात ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञय स्वभाव वाला है या अज्ञय स्वभाव वाला है ? यदि आप कह कि वह सुख ज्ञय स्वभाव वाला है तो अनतज्ञान की सिद्धि हो जाती है अ यथा स्वय आत्मा के द्वारा अनत सुख ज्ञ य रूप नही हो सकेगा। अर्थात ज्ञान का विषयभूत सुख अनत है और ज्ञान उस अन त सुख को वेदन करे—जान इसलिय वह भी अनन्त सिद्ध हो जाता हैं अ यथा अनत सुखो का सवेदन—ज्ञान नही बनेगा।

यदि पुन वह सुख असवेद्य (अज्ञ य) स्वभाव वाला है तब तो उसे सुख यह नाम भी कैसे बनेगा ? क्योकि साता क सवेदन को ही सुख कहते है ।

वेदांती—परमा मा के अनतसख का सवेदन रूपज्ञान तो हम स्वीकार करते है किन्तु उसके कवल बाह्य पदार्थों का ज्ञान नही मानते है ।

१ अत पर वेदान्तवादी प्राह। २ ज्ञय स्वभावम । स्वसवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम् । ३ (विषयरूपस्य सुखस्यानन्त्ये विषयिणस्तद्व दनस्याप्यानन्त्यम्—अ यथा त सवेदनानुपपत्त) । ४ आत्मना । ५ वेदान्तवादिन । ६ अभ्युपगम्यते । ७ परमात्मन । ८ (जन) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण) ।

(1) वेदातवादी भास्करवादी । (2) अत्राह जन । सोपि मोक्षऽनतसुखवादी विचार्यमाण युक्त्यागमेन च विरुद्धयते दि प्र । (3) तद्वचनंत इति पा । (4)सुखस्य सवेद्य वेति पा । स्वसवेद्य इति पा । अन्यथा ज्ञानस्यानंतस्य सिद्ध रभावे अनतस्य सुखस्य सवेद्यत्व विरुद्धयते। (5) रूप। यस । (6) यदि सुख तदेव परमब्रह्म व तदा संवेद्यसंवेदकभावो न स्यादेकस्यानशस्य सवेद्यसवेदकत्वानुपपत्त रित्यभिप्राय ।

हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगतव्यस्तथा सुखाभावोपि अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैतवादावलम्बिना[1] सतोपि [2]बाह्यार्थस्येंद्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतं तदप्यसंगतं [3]तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । [4]अथ न करणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यतां सर्वथा [4]विशेषाभावात् ।

[बौद्धाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

[5]येऽपि [6]निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष[2] इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं [3]युक्त्या

जैन—तब आपको यह विचार करना होगा कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से मुक्त जीव के बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है या मुक्तजीव के इन्द्रियों के न होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो मुक्त जीव के सुख का भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव है। पुरुषाद्वैतवादियों के यहां जैसे बाह्य पदार्थों का अभाव माना है वैसे ही सुख का भी अभाव माना है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आता है अर्थात् पुरुष और सुख दो वस्तु होने से अद्वैत नहीं बन सकेगा ।

द्वैतवादी भाट्ट—बाह्य पदार्थ के होते हुये भी मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है अतः मुक्त जीव के ज्ञान नहीं होता है।

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है क्योंकि इन्द्रिय के अभाव से ही सुख संवेदन—सुख के ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा। यदि कोई कहे कि मुक्त जीव के अंतःकरण का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सुख का संवेदन हम स्वीकार करते हैं तब तो पुनः मुक्त जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं मान लेते क्योंकि दोनों में सर्वथा कोई अंतर नहीं है।

भावार्थ—वेदांती लोग अपनी आत्मा को भगवान को और सारे जगत को एक परम ब्रह्म रूप मानते हैं उनका कहना है कि जो कुछ चर अचर चेतन अचेतन पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब उस परमब्रह्म की ही पर्याय हैं अतः इनके सिद्धांत में मोक्ष की कल्पना तो अघटित ही है फिर भी वे लोग कहते हैं कि एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है और उस मोक्ष में केवल आनंद ही आनंद रह जाता है। ये लोग मोक्ष में ज्ञान को भी नहीं मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि भाई ! यदि आप मोक्ष में ज्ञान को नहीं मानोगे तो अनंत सुख का अनुभव भी कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे आप मोक्ष में अनंत सुख का अस्तित्व मानते हैं वैसे ही अनंतज्ञान का भी अस्तित्व मान लीजिये कोई बाधा नहीं है।

---

१ भाट्टानाम् । २ इन्द्रियापायादेव । ३ परः । ४ सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः । ५ सौगताः । ६ वीतरागद्वादशम सन्तानोत्पत्तिः ।

(1) मन । (2) जीवन्मुक्तः । (3) विस्तारात् तत्त्वतोऽन्विततत्त्वसाधनं संतानोच्छेदानुपपत्तिकथनं च युक्त्या बाधनं सर्वथैकांताभ्युपगमे मोक्षाभ्युपगमो न घटत एवेति समर्थनमभ्युपायेन बाधनं—दि० प्र० ।

भ्युपायेन[1] च बाध्यते [2]प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्[1] चित्तानां[1] तत्त्वतोऽन्वितत्व[2] साधनात्[4] सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च[5] निरन्वयक्षणक्षयकान्ताभ्युपायेन[3] च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

[साङ्ख्यादिमान्यमोक्षकारणतत्त्वमपि निराक्रियते जैनाचार्यैः]

[6]तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् ।

[सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन]

सौगत—आस्रव रहित चित्तसंतान की उत्पत्ति का नाम ही मोक्ष है ।

जैन—आपका भी यह मोक्ष तत्त्व युक्ति और आगम से बाधित है प्रदीप निर्वाणोपम शांत निर्वाण के समान है क्योंकि वास्तव में चित्त ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है । एवं संतानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है तथा च निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है । इस मत का खंडन आगे हम विशेष रूप से करेंगे । अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है वैसे ही निर्वाण के बाद जीव के ज्ञान का अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता है । इस मान्यता में अनेकों बाधायें आती हैं ।

अब जिस प्रकार से अन्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधायें आती हैं उसी प्रकार से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में भी बाधायें आती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

[सांख्यादि अन्य मतावलंबियों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं]

कपिल आदि के द्वारा कहे गये मोक्ष के कारण तत्त्व भी न्याय युक्ति और आगम से विरुद्ध ही हैं । अर्थात् यहाँ तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में दूषण दिखाया है अब मोक्ष के उपायभूत तत्त्वों में जो अन्य लोगों की भिन्न भिन्न मान्यतायें हैं उन पर विचार किया जा रहा है ।

---

१ आगमेन । २ प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तत्त्वं शान्तनिर्वाणं च । यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते । ३ ज्ञानानां सान्वयत्वेन साधनात् । ४ निरन्वयक्षणक्षयैकान्ते सन्तान समुदायश्चेति कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् । ५ मानसानां परमार्थतोनुगतत्वं साध्यते मानसानां सन्तानोच्छेदश्च न सम्भवतीति हेतुद्वयात् । ६ यथा मोक्षतत्त्वम् ।

---

(1) सकलचित्तसंतानोच्छित्तिवत् । परममुक्तवत् । ( ) यसमन्वित । (3) यस ।

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खंडन का सारांश

सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञपना प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं वे प्रधान के ही स्वरूप हैं उत्पत्तिमान होने से घट के समान। एवं आत्मा सकल विशेषों से रहित होने पर भी वस्तु है तथा चेतन आत्मा के संसर्ग से ही वे ज्ञानादि चेतन के समान दीखते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्य का यह कथन असंभव है हमारे यहां तो अनंत ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं जैसे चैतन्य। ज्ञान को अचेतन एवं प्रधान का धर्म आप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। यदि उत्पत्तिमत्वात् हेतु से प्रधान का कहो तो भी ठीक नहीं है। यद्यपि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा उत्पत्तिमान नहीं है फिर भी विशेष श्रुत एवं केवलज्ञान आदि की अपेक्षा उत्पत्तिमान है। ज्ञानादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी चेतन रूप प्रसिद्ध है। तथा आत्मा सामान्य विशेषात्मक होने से ही वस्तु है न कि विशेषों से रहित होने से। विशेष रहित सामान्य खपुष्पवत् असत् ही है अतः आत्मा ही सर्वज्ञ होता है अचेतन प्रधान नहीं होता है।

वैशेषिक कहता है कि बुद्धि सुख दुःखादि आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होकर के सामान्य आत्मा में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं कारण उनमें उत्पाद व्यय पाया जाता है। एवं मुक्ति में धर्म अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव है अन्यथा मुक्ति ही नहीं होगी तथा उनके फलस्वरूप सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न ज्ञान आदि गुणों का अभाव ही हो जाता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानादि को सर्वथा आत्मा से भिन्न मानना ठीक नहीं है क्योंकि वे आत्मा के ही स्वभाव हैं। पुण्य पापादि के निमित्त से होने वाले सांसारिक सुख एवं क्षयोपशम ज्ञान का अभाव मानना तो मुक्ति में युक्ति युक्त है किंतु वेदनीय एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा में प्रगट होने वाले अव्याबाध सुख एवं अनंतज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव मानना कथमपि शक्य नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने ही सुखादि का नाश करने के लिये मुक्ति के लिये अनुष्ठान आदि करे अर्थात् कोई नहीं करेगा। अतएव जीव के औपशमिकादि पांच भावों के अंतर्गत औपशमिक के २ भाव क्षायोपशमिक के १८ भाव औदयिक के २१ भाव पारिणामिक के भव्यत्व अभव्यत्व ये दो भाव तथा क्षायिक के दान लाभ भोग उपभोग और क्षायिकचारित्र ये पांच भाव मिलकर ४८ भाव रूप विशेष गुणों का मुक्ति में सर्वथा उच्छेद है किंतु ४ क्षायिक भाव १ जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ये ५ भाव मुक्ति में पाये ही जाते हैं। कहा भी है—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य इत्यादि। इस प्रकार ससार एव मोक्ष की सिद्धि हो गई।

वेदाती तो मुक्त जीव के अनत सुख संवेदन रूप ज्ञान मानते हैं एव बाह्य पदार्थों का ज्ञान नही मानते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि मुक्त जीव के इद्रियो का अभाव है इसलिये बाह्य पदाथ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदाथ का अभाव कहो तो सख का भी अभाव हो जावेगा कारण कि आप पुरुषाद्वत वादियो के यहा सुख भी बाह्य पदाथ के समान घटित नहा होता है यदि माना तो पुरुष और सुख से द्वत हो जावेगा। यदि इन्द्रियो का अभाव कहो तो बिना इन्द्रिय के सुख का वेदन कसे होगा ? यदि अतींद्रिय से मानो तो बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना होगा।

तथव बौद्ध ने आस्रव रहित चित्तसतति की उत्पत्ति का ही मोक्ष माना है सो भी ठीक नही है क्योकि ज्ञान क्षणो मे अन्वय पाया जाता है तथा निर वय क्षण क्षय को एकात से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।

[साख्याभिमत मोक्षकारणतत्त्व खण्डन]

[1]तद्विज्ञानमात्र न परनिश्श्रेयसकारण [2]प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्[3]। न तावदिहासिद्धो हेतु सर्वज्ञानामपि कपिलादीना स्वय प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्[4]। साक्षात्सकलार्थ ज्ञानोत्पत्त्यनन्तर[1] शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेश [2]प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेश करणविरोधादाकाशवत । [5]तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेन्न[6] तस्याप्रमाणत्व शङ्काऽनिवर्त्तनया[3]ऽज्ञानपुरुषोपदेशवत। यदि पुन शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निश्श्रेयस न गृहीतशरीर निवृत्ति । तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञान कारण न तु[4] गृहीतशरीरनिवृत्त फलोपभोगात्तदुप गमात ।

[साख्य क द्वारा मान्य मोक्ष क कारण का खडन]

सांख्य—विज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है अर्थात प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान मात्र ही परमनिश्श्रयस का कारण है। ऐसा सांख्यो का कहना है। ये लोग चारित्र को बिल्कुल ही मानने को तयार नही है।

जैन—विज्ञान मात्र ही परनिश्श्रयस (मोक्ष) का कारण नही है क्योकि आत्मा मे सपूर्ण पदार्थों को साक्षात करने वाले ज्ञान का प्रकर्ष पर्यत अवस्था चरम सीमा के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। जसे मिथ्याज्ञान के रहने पर भी शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है अर्थात सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनतज्ञान की पूर्णता हो चुकी है फिर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यह हमारा हेतु असिद्ध भी नही है। आपके यहा भी ज्ञान के प्रकर्ष पर्यत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी कपिल आदि सर्वज्ञो का शरीर के साथ अवस्थान माना है। यदि सपूर्ण पदार्थों को जानने मे समर्थ ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति क अनन्तर ही शरीर का अभाव हो जावे तो पुन आप्त का यहा उपदेश देना कसे बनेगा ? क्योकि अशरीरी आप्त को उपदेश करने का विरोध है जसे कि अशरीरी आकाश उपदेश नही दे सकता है।

सांख्य—जिनक निखिल पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नही हुआ है ऐसे आप्त का उपदेश देना बन जावेगा।

जैन—नही जिसक सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नही हुआ है उसक उपदेश मे अप्रमाणत्व की शका दूर नही हो सकगी अज्ञानी पुरुष के उपदेश क समान।

---

१ मात्रशब्देन दर्शनचारित्रयोर्निराश । २ सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम्। ३ विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात्। ४ कापिलादिभि । ५ सांख्य प्राह । आप्तस्य । ६ जन आह ।—अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुस उपदेशस्यासत्यत्व संभवात् । ७ शरीरान्तरानुत्पत्तिलक्षणस्य । निश्श्रेयसस्य । ८ (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्) । ९ (गृहीतशरीरनिवृत्ति फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यै ।

---

(1) ज्ञानोत्पत्त्यानन्तरमिति पा दि प्र । (2) प्रवर्तेत इति पा । (3) कपिलादेरन्यपुरुष । (4) न च इति पा ।

तत पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्त्व[1]ज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मत[1] तदा हेतु सिद्धोभ्युपगतस्तावत[1] । स च परनि श्र यसाऽकारणत्व तत्त्वज्ञानस्य साधयत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवत्त परनि श्र यसत्वात [2] [1]तस्य च [8]तदभावेप्यभावात। [1]फलोपभोगकृतोपात्तकमक्षयापेक्ष[3] तत्त्वज्ञान परनि श्र यसकारणमित्यप्यनालोचिताभिधान[1] फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौ[4]पक्रमिकविकल्पानतिक्रमात[5]। तस्यौपक्रमिकत्वे कुतस्तदु[6]पक्रमो यत्र तपोतिशयात[1] । इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुक परनि श्र यसमायातम[1] । [11]समाधिविशेषादुपात्ता

सांख्य—नये शरीर की उत्पत्ति का न होना ही मोक्ष है न कि ग्रहण किये हुय शरीर का भी छूट जाना। क्योकि मोक्ष साक्षात् सकल पदार्थों क ज्ञान रूप कारण से है न कि गहीत शरीर की निवत्ति (अभाव) होने से। अर्थात गहीत शरीर का अभाव होने मे सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान कारण नही है प्रत्युत गहीत शरीर का अभाव फल क उपभोग से होता है। इसलिय पूर्वोपात्त शरीर क साथ अवस्थान होने से तत्त्वज्ञान से आप्त का उपदेश युक्त ही है।

जैन—तब तो हमारा हेतु सिद्ध ही है क्योकि ज्ञान की प्रकर्ष पर्यत अवस्था (कवलज्ञान) क हो जान पर भी आत्मा का शरीर क साथ अवस्थान पाया जाता है। इसलिय पर नि श्रयस (मोक्ष) क लिये तत्त्वज्ञान साक्षात कारण नही है यह बात सिद्ध हो जाती है क्योकि भाविशरीर क समान उपात्त गृहीत शरीर का भी अभाव होन से ही पर नि श्रयस हाता है अत तत्त्वज्ञान पूर्ण हो जान पर भी मोक्ष का अभाव देखा जाता है।

सांख्य—शुभ अशुभ रूप कम फल का उपभोग (अनुभव) कर लेन क बाद उपात्त कर्मों का क्षय हो जान से जो तत्त्वज्ञान होता है वह मोक्ष का कारण है।

जैन—आपका यह कथन भी विचार शून्य ही है। फलोपभोग के दो भेद हैं—१ औपक्रमिक २ अनौपक्रमिक और फलोपभोग इन दानो भेदो का उल्लघन नही करता है। यदि फल का अनुभवन औप

१ सांख्यस्य। २ अस्माभि स्याद्वादिभिरङ्गीकृत प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्यय हेतु। ३ परनि श्र यसत्वस्य। ४ तत्त्वज्ञानभावेपि। ५ (सांख्य) फलाना शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवन तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणा क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम्। ६ जन प्राह। ७ फलोपभोगस्य। ८ विना। ९ (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्)। १० न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम्। ११ त[त्त्]वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेपि मोक्षस्य स्थिरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति सांख्य।

(1) मानस्य तत्त्व इति पा दि प्र। (2) यथा भाविशरीरस्याभाव परनि श्रयसत्व घटते। तथा गृहीतशरीरस्याप्यभाव। कस्मात्तस्य परनि श्र यसस्य तदभावे तत्त्वज्ञानसद्भावेऽपि सति असभवात्। दि प्र। (3) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवन तेन क्षयो योऽसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्त। (4) अविपाक निर्जरा। सविपाकनिर्जरा। (5) अनौपक्रमिकफलोपभोगस्य परनि श्र यसकारणत्वेन परैरनभ्युपगमादेवात्र तस्य परिहारो नोक्तः— दि प्र। (6) तस्य फलोपभोगस्याविकल्पस सकाशात् अन्यत्रोपक्रम कुत न कुतोऽपि। एतावता तपसा यो विपाक स सकाम इत्यायात—दि प्र।

शेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष[1] इति चेत क[1] पुनरसौ समाधिविशेष ? स्थिरीभूत ज्ञान मेव स इति चेत [2]तदुत्पत्तौ परनि श्र यसस्य भावे स [3]एवाप्तस्योपदेशाभाव[4]। [5]सकलतत्त्व ज्ञानस्यास्थैर्यावस्था[3]यामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोय योगिनस्तत्त्वोपदेश इति [4]चेत्र सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थयविरोधात्तस्य[5] कदाचिच्चलनानुपपत्त [6]अक्रमत्वाद्विष[8]या तरसच रणाभावात अन्यथा सकलतत्त्वज्ञानत्वासभवादस्मदादिज्ञानवत । अथ[9] तत्त्वोपदेशद शायां योगिनोपि ज्ञान विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूप पश्चान्निवत्त सकलव्यापार स्थिर समाधिव्यपदेशमास्क द[5]तीत्युच्यते नहि[1] समाधिश्चारित्रमिति नाममात्र भिद्यते नाथ[11]।

क्रमिक-अविपाक निजरा से होता है तो तपोतिशय को छोडकर वह उपक्रम रूप अविपाक निजरा और अन्य किस कारग से हो सकती है अर्थात तपश्चया आदि ही औपक्रमिक निजरा में कारण है इसलिये तपश्चर्या के अतिशय विशेष से होने वाला तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के लिय कारण है यह बात सिद्ध हा गई।

सांख्य—उपात्त उपार्जित किय गय पूव के अशष कर्मों के फल का उपभोग समाधि विशष से हो जाता है ऐसा हमने माना है इसमे कोई दोष नही आता है।

जन—यह समाधि विशष क्या है ?

सांख्य—स्थिरीभूत ज्ञान का ही नाम समाधि विशष है।

जन—तब तो स्थिरीभूत ज्ञान के उत्प न होते ही मोक्ष हो जावेगा। पुन आप्त के उपदेश का अभाव ही हो जावेगा।

सांख्य—अस्थय अवस्था मे सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान असमाधि रूप है अत योगी का तत्त्वोपदेश करना युक्त ही है। अर्थात जब सपूण तत्त्वज्ञान अस्थिर रहता है तब असमाधि रूप अवस्था है उस समय योगी उपदेश देते है।

जैन—सकल तत्त्वज्ञान मे अस्थिर अवस्था का विरोध है अर्थात् पूणज्ञान म चलायमान अवस्था कदाचित भी नही हो सकती है क्योकि सकलज्ञान युगपत सपूण पदार्थों को जान लेता है अत क्रम से पृथक पृथक विषय मे सचरण करने का अभाव है अन्यथा सकल तत्त्वो का ज्ञान होना असभव हो जावगा हम लोगो के ज्ञान के समान।

---

१ स्याद्वादी। २ सांख्य। ३ चलावस्थायाम्। ४ जन। ५ अस्थयविरोध दशयति। ६ चलनानुपपत्ति कुत ? ७ अक्रम कुत ? ८ विषयान्तरसञ्चरणे सति। ९ सांख्य। १ जन। ११ अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते।

---

(1) समाधिविशेषस्य स्थिरीभूतज्ञानत्वेन तत्त्वज्ञानतपोतिशयद्वयहेतुकत्वाभावाददोष इति भाव। दि प्र। (2) स्थिरी भूतज्ञानोत्पत्तौ सत्यां स परनि श्र यससभव तस्मिन् सति स एव पूर्वोक्त आप्तस्योपदेशाभाव संभवति—दि प्र। (3) परनि श्रे यसे शरीराभावादशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत भाविशरीरस्यैवोपात्तशरीरस्यापि विमुक्ति परनि श्र यसमिति वचनात्। (4) सकलतत्त्वज्ञानस्य विषयांतरसचरणाभावेनास्थैर्याभावादेव परनि श्र यसप्रा प्तिस्तत्तत्त्वोपदेशाभाव इति भाव —दि प्र। (5) स्वीकरोति।

तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्ति[1]फलादन्यस्य[१] परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य [२]समुच्छिन्नक्रिया [2]ऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात् । तथा चारित्रसहित तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धान [3]परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्र[३] व्यवस्थितम् । ततो न्यायविरुद्ध सर्वथैकान्तवादिना ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम । स्वागमविरुद्ध च सर्वेषामागमे [4]प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य[४] सकलदोषोपरमस्य[५] च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात ।

सांख्य—योगियो का ज्ञान तत्त्वोपदेश के समय शिष्य जनो का प्रतिबोधन करने के लिय प्रवृत्त होता हुआ अस्थिर और असमाधि रूप है । पश्चात वही ज्ञान सकल व्यापार से निवृत्त (रहित) होकर स्थिर समाधि नाम को प्राप्त कर लेता है ।

जैन— तब तो इस कथन से समाधि और चारित्र इनमे नाम मात्र का ही भेद रह जाता है अर्थ से भेद कुछ भी नही दीखता है । अशेष अज्ञान की निवृत्ति है फल जिसका ऐसे तत्त्वज्ञान से भिन्न परमोपेक्षा लक्षण स्वभाव वाला समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामक परम शुक्लध्यान जो कि तपश्चर्या का अतिशय रूप है उसी को तुमने समाधि नाम दिया है । तथा जो चारित्र सहित है और तत्त्वार्थ श्रद्धान जिसमे अतर्गभित है एसा तत्त्वज्ञान ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण है इस प्रकार को कपिल आदि स्वीकार नही करते है फिर भी उनके सम्मुख सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यवस्थित हो ही जाते है ।

इसलिय ज्ञान ही मोक्ष के लिय कारणभूत तत्त्व है इस प्रकार सर्वथा एकातवादियो का कथन न्याय से विरुद्ध है और उनके आगम से भी विरुद्ध है क्योकि सभी के आगम मे दीक्षा आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान और सकल दोषो की उपरति रूप आभ्यतर चारित्र मोक्ष के कारण है एसा सुना जाता है ।

विशेषार्थ— जैन सिद्धात मे तेरहवे गुणस्थान मे केवलज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है जिसे अनतज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान भी कहते हैं । यह ज्ञान की पूर्णावस्था है । यहा नव केवललब्धि के प्रकट हो जाने से परमात्मा यह सज्ञा आ जाती है । यहा पर शील के १८ हजार भेद पूर्ण हो जाते है किन्तु ८४ लाख उत्तरगुणो की पूर्णता १४ वे गुणस्थान के अत मे होती है और रत्नत्रय की पूर्णता भी वही पर होती है ऐसा श्लोकवार्तिक मे स्पष्ट किया है ।

समयसार ग्रन्थ मे ज्ञान मात्र से बध का निरोध माना है वहा पर भी श्री जयसेन स्वामी ने टीका मे स्पष्ट किया है यथा—

णादूण आसवाण असुचित्त च विवरीयभाव च ।
दुक्खस्स कारणत्ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥७७॥

---

१ भिन्नस्य । २ नष्टव्यापारोऽविनाशीति स्वरूप तत्शुक्लध्यानस्य । ३ कपिलादीना सम्मुखम् । ४ बाह्यचारित्ररूपस्य । ५ आभ्यन्तरचारित्ररूपस्य ।

---

(1) वस । (2) व्यापार । अविनाशि । (3) निःश्रेयसकारणम इति पा । (4) अनशनादितप ।

[अन्य कल्पित ससारतत्त्वमपि सर्वथा विरुद्धमेव]

तथा ससारतत्त्व चान्येषा न्यायागमविरुद्धम । तथा हि । नास्ति नित्यत्वाद्य कान्ते [1]कस्य चित्ससार [1]विक्रियानुपलब्धे । इति न्यायविरोध । समर्थयिष्यते[2] तदागमविरोधश्च [3]स्वय पुरुषस्य ससाराभावचनाद [4]गुणाना ससारोपपत्त [5]परेषा सवत्त्या[6] ससारव्यवस्थिते ।

तात्पर्यवृत्ति--क्रोधाद्यास्रवाणां सवधि कालुष्यरूपमशुचित्व जडत्वरूप विपरीतभाव न्याकुलत्वलक्षण दु खकारणत्व च ज्ञात्वा तथव निजात्मन संबधि निमलात्मानुभूतिरूपशुचित्व सहजशुद्धाखडकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानतसखत्व च ज्ञात्वा ततश्च स्वसवेदनज्ञानातर सम्यग्दशनज्ञानचारित्रकाग्रयपरि णतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणा निवृत्ति करोति जीव । इति ज्ञानमात्रान्व बधनिरोधो भवति नास्ति साख्यादिमत प्रवश । कि च यच्चात्मास्रवयो सम्बधि भेदज्ञान तद्रागाद्यास्रवभ्यो निवृत्त न वेति निवत्त चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्य पानकवदभेदनयन वीतरागचारित्र वीतरागसम्यक्त्व च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बधनिषधसिद्धि । यदि रागादिभ्यो निवृत्त न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावाथ ।

अथ— क्रोधादि आस्रवो के कलुषता रूप अशुचिपने को जडता रूप विपरीतपने को और न्याकुलता लक्षण दु ख के कारणपने को जानकर एव अपने आत्मा क निमल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड कवलज्ञान रूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनतसुख रूप स्वभाव को जानकर उसक द्वारा स्वसवेदन ज्ञान को प्राप्त होन क अनन्तर सम्यादशन सम्य ज्ञान और सम्यक चारित्र मे एकाग्रता रूप परमसामायिक म स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवो को निवत्ति करता है इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहा साख्य मत जसा ज्ञानमात्र से बध का निरोध नही माना गया है । (किन्तु वराग्यपूण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बध का निरोध होता है ।) किं च हम तुमसे पछते हैं कि आत्मा और आस्रव सबधी जो भद ज्ञान है वह रागादि आश्रवो से निवत्त है या नही ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भदज्ञान म पानक (पीन की वस्तु ठडाई इत्यादि) क समान अभदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बध का निरोध सिद्ध हो जाता है और यदि वह भेद ज्ञान रागादि से निवृत्त नही है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नही है ।

[अन्यो के द्वारा मान्य ससार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही हैं]

उसी प्रकार अन्यमतावलबियो का ससारतत्त्व भी न्यायागम से विरुद्ध है । तथाहि नित्य क्षणिक

१ (येषां मत नित्य एवात्मा तषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूप ससारो न सभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानु पपत्ते) । २ (अस्माभि) । ३ न प्रकृतिन विकृति पुरुष एकमेवाद्वितीय ब्रह्म त्यादि च वदद्भि । ४ सत्त्व रजस्तमसाम् । प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम् । ५ साख्यानाम् । सौगतानामिति टिप्पणान्तरम । ६ कल्पनया ।

(1) आत्मन ।

[सांख्यादिमान्य ससारकारणतत्त्वमपि प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्बाध्यते]

तथा ससारकारणतत्त्व चान्येषां न्यायागमविरुद्धम ।

[सांख्याभिमतससारकारणनिराकरण]

[1]तद्धि मिथ्याज्ञानमात्र तरुररीकृतम । न च तत्कारण ससार [2]तन्निवत्तावपि [1]ससारानिवृत्त । यन्निवत्तावपि यन्न निवत्तते न तत्त मात्रकारणम । यथा [2]तक्षादि

आदि एकात म किसी भी जोव को ससार नही है क्योकि विक्रिया—नर नारकादि पर्याय विशेष रूप क्रिया की उपलब्धि होना सभव नही है । अर्थात जिनक मत म आत्मा सर्वथा नित्य ही है उनक मत म आत्मा क भवातर की प्राप्ति रूप ससार सभव नही है । आत्मा को नित्य रूप मानन से विकार (परिण मन) हो नही सकता है । इस प्रकार यहा याय से विरोध आता है और आगम से विरोध का वणन आगे करगे ।

किन्ही ने (साख्यो ने) स्वय ही पुरुष के ससार का अभाव माना है पुन उनके यहा गुणा (सत्त्व रज तम) को ही ससार सिद्ध हो जाता है तथा बौद्धो ने तो सवत्ति (क पना मात्र) से ही ससार को माना है । इन सबका माना हुआ ससार तत्त्व भी ठीक तरह से सिद्ध नही होता है अत जनो के द्वारा मान्य पचपरावतन रूप या भवातर रूप ससार तत्त्व ही ठीक सिद्ध होता है ।

[अन्या के द्वा ा माय ससार कारण भी विरुद्ध है]

इस प्रकार अन्य जनो के द्वारा मा य ससार कारण तत्त्व भी न्याय आगम स बिरुद्ध हैं । अर्थात अद्वतवादी ससार को काल्पनिक ही मानते है तो उनक यहा ससार के कारण भी काल्पनिक असत्य ही रहेगे । साख्य ने मिथ्याज्ञान मात्र से ही ससार का माना है इसका खडन भी आगे विद्यानन्द आचार्य स्वय कर रहे है । तात्पय यही है कि सभी अ य मतावलबिया के द्वारा कल्पित जितन भी ससार और मोक्ष के कारण हैं वे सभी ससार के ही कारण है ऐसा समझना चाहिये । हमार यहा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग ये पाच कारण माने गये है । अ य सभी के सभी कारण इन्ही मे शामिल हो जाते हैं ।

[साख्य के द्वारा मा य ससार के कारण का खडन]

साख्यो ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही ससार का कारण माना है किन्तु उतन मात्र कारण वाला ससार नही है क्योकि मिथ्याज्ञान की निवत्ति हो जाने पर भी ससार का अभाव नहा होता है । जिसकी निवत्ति हो जाने पर भी जो निवत्त नही होता है वह उस मात्र कारण वाला नही है जसे तक्षादि (बढ़ई सतार) के निवत्त हो जाने पर भी देवगहादिक का अभाव नही होता है इसलिय वे उस मात्र कारणक नही है । तथव मिथ्याज्ञान की निवत्ति हो जाने पर भी ससार का अभाव नही होता है अत ससार मिथ्याज्ञान मात्र कारण वाला नही है । यहा यह हेतु असिद्ध भी नही है ।

१ संसारकारणतत्त्वम । २ मिथ्याज्ञाननिवत्तौ ।

(1) कस्यचिन्मिथ्याज्ञान नास्ति तथापि ससारोऽ न । (2) सूत्रधारादि ।

निवृत्तावप्यनिवर्तमान देवगृहादि न तन्मात्रकारणम । मिथ्याज्ञाननिवत्तावप्यनिवत्तमानश्च ससार । तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति । अत्र न [1]हेतुरसिद्ध सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि [2]दोषानिवत्तौ ससारानिवत्त [3]स्वयमभिधानात्[1] । दोषाणां ससारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च त मात्र ससारकारणतत्त्व न्यायागमविरुद्ध सिद्धम । तदेवम येषा यायागमविरुद्धभाषित्वादहन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक सवज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते । तत स एव [4]सकलशास्त्रादौ प्रक्षावता[2] सस्तुत्य ।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के हो जाने पर तथा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी दोष (राग द्वषादि) की निवृत्ति न होन से ससार का अभाव नही होता है ऐसा साख्यो न स्वय माना है । अर्थात् जन सिद्धात मे भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही चौथ गुणस्थान मे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है फिर भी ससार का अभाव नही हुआ है । सम्यक्त्व छटन के बाद यह जीव अद्धपुदगल परा वतन तक ससार मे भ्रमण कर सकता है और सम्यक्त्व सहित भी ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक ससार मे रह सकता है । अतएव मिथ्याज्ञान मात्र ही ससार का कारण नही है ।

पुन अ य लोगो न भी दोषो को ससार का कारण माना है इस बात को आगम भी स्वीकार करता है । इसलिय मिथ्याज्ञान मात्र से ही ससार होता है यह कथन न्याय एव आगम से विरुद्ध है यह बात सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार स अ य सभी के आप्त भगवान न्यायागम से विरुद्ध भाषी हैं अत अहत ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं एव सवज्ञ और वीतराग हैं ऐसा निश्चित हो जाता है । अत वे ही सकल शास्त्र तत्त्वाथ सूत्र की आदि प्रारम्भ मे बुद्धिमानो के द्वारा स्तवन करन योग्य हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

---

१ तन्निवृत्तावपि संसारानिवत्त रिति । २ दोषा रागद्व षा । ३ सांख्यै । ४ सकल तत्त्वार्थादि ।

(1) सौगतै । (2) गृद्धपिच्छाचार्यादीनां । उमास्वामिप्रसिद्धापरनाम ।

सांख्याभिमत संसार मोक्ष कारण के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहां पर अवस्थान एवं उपदेश आदि नहीं घटेगा। तथा यदि ज्ञान ही एकांत से मोक्ष का कारण होवे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र स्वीकार किया गया है सो व्यर्थ हो जावेगा।

हम जैनों ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस आगम सूत्र में मार्ग को अर्थात् मोक्ष के कारण को माना है। यदि मोक्ष को अकारणक कहेंगे तो सर्वदा सर्वत्र सभी जीव के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा। तथैव अन्य जनों का संसार कारण तत्त्व न्याय आगम से विरुद्ध है।

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है सो ठीक नहीं है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी रागादि दोषों की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने मानी है। अतएव हम जैनों का मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध हैं।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः" ये बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि संसार के कारण अनादि होते हुये भी निर्हेतुक नहीं हैं। ये कारण भव्य जीवों की अपेक्षा अंत सहित हैं एवं अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत हैं। अतएव अर्हंत भगवान के शासन में मोक्ष, संसार एवं दोनों के कारण सिद्ध ही हैं।

[बौद्ध: शंकते यत् वीतरागोऽपि सरागवत् चेष्टां कर्तुं शक्नोति शरीरित्वात्, जैनाचार्या अस्य समाधानं कुर्वंते]

ये[1] [1]त्वाहु — सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येद तया[2] निश्चेतुमशक्तेस्तत्कायस्य व्यापारा-देस्तद्व्यभिचाराद्वीतरागेपि[3] दर्शनात् सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णय संभवति इति तेषामपि [2]विचित्राभिसंबन्ध[4]तया[5] व्या-पारव्याहारादिसांकर्येण [6]क्वचिदप्यतिशयानिर्णये [3]कमयव्याद्विशेषेष्टि , [7]ज्ञानवतोपि विसंवादात्, [5]क्व पुनराश्वास[8] [6]लभेमहि ? ※ न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद्विसंवाद [10]क्व-

[बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि वे शरीर धारी है इस पर जैनाचार्यों का समाधान]

बौद्ध—यथार्थदर्शी वीतराग के होते हुये भी "य ही वीतराग है" इस प्रकार से निश्चय करना अशक्य है क्योंकि वीतराग के काय व्यापारादि अवीतराग मे भी देखे जाते है अत व्यभिचार दोष आता है। सराग भी वीतरागवत चेष्टा कर सकते है उनका निवारण कोई भी नही कर सकता है अत किसी भी जीव म "वे आप ही आप्त है" इस प्रकार से निर्णय नही हो सकता है। अर्थात सराग जीवो मे भी वीतराग के समान चेष्टाय होने पर भी वीतराग जीवो म वचन आदि का अतिशय विशेष देखा जाता है वह सर्वज्ञ आप्त आप ही है ऐसा जैनाचार्यों के कहने पर बौद्ध कहता है कि मानसिक अभिप्रायो की विचित्रता से शारीरिक और वाचनिक क्रियाओ म सकर हो जाता है अत किसी भी पुरुष मे वचनादिको के अतिशय का निर्णय करना असभव है। इसी बात का आगे स्पष्ट कर रहे है।

अत विचित्र अभिप्राय के होने से एव व्यापार व्यवहारादि की सकरता से कहीं पर कपिलादि के समान सुगत मे भी अतिशय का निर्णय न होने पर किस प्रकार से अर्थात किस अर्थ का आश्रय लेकर के विशेष आप्त पने की इष्ट सिद्धि होगी क्योंकि केवल वीतरागी मे ही नहीं बल्कि ज्ञानवान मे भी विसंवाद पाया जाता है पुन हम लोग कहा पर विश्वास करेगे ?※अर्थात अर्हत भगवान आप्त हैं क्योंकि वे सवादक हैं इस पक्ष मे हम लोगो को कही भी विश्वास नही हो सकेगा।

ज्ञानवान वीतराग पुरुष से कही पर किसी विषय मे विसंवाद सभव नही है अन्यथा सुगतादि के

१ सौगता। २ अयमेवेति प्रकारेण। ३ अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचार। ४ विचित्राभिसंबन्धितया इति पाठान्तरम्। ५ अभिप्रायतया। हेतुरय तृतीया तस्यापि हेतुत्वात्। ६ कपिलादाविव सुगतेपि। ७ सरागाणां वीत-रागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन गमनवचनादिसंकरत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यानिश्चये सति विशेषाभिमत (सुगत) स्यानवद्य घटते। एव सति ज्ञानिनोपि असत्यत्व घटते। ८ सुगतस्य। ९ विश्वासम्। १ विषये।

(1) युक्तिशास्त्राविरोधित्वात् तस्य साधनस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चायक विचित्र त्यादिभाष्यवाक्यमवतारयति। (2) सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टासद्भावेऽपि व्याहारादिकार्यातिशयदर्शनात स त्वमेवाप्त इति निर्णय संभवत्येवेति वदत जैन प्रति सौगतेन कथ्यमानस्य विचित्राभिसंधितया व्यापारव्याहारादिसांकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णय इति वचनोद्घाटनपुरस्सर तत्र दूषणमाहु विचित्रेति। दि प्र। (3) किमर्थमाश्रित्येति किं शब्द आक्षेपे। (4) न केवलं वीतरागात्। (5) अर्हन् आप्त संवादकत्वादित्यस्मिन् पक्ष। (6) न क्वापि।

चित्तस्यभवति [1]सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात्[1] [2]तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां [3]तत्र [4]साङ्कर्यं सिध्यति विचित्राभिसन्धितानुपपत्त[2] [5]तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धे प्रक्षीणदोषे भगवति [6]निवृत्तेः अस्य यथार्थ प्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात् । कुतश्चायं सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादि साङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात ? [9]शरीरित्वादेर्हेतो [3]स्वात्मनीवेति चेत् [1] तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्व निश्चयोऽस्तु । [4]तत्रास्य[11] [12]हेतो संदिग्धविपक्ष[5]व्यावृत्तिकत्वान्न[13] तन्निश्चय । [6]शरीरी च

भी अविश्वास का प्रसग आ जावेगा और सुगत को कपिल आदि से विशेष मानने मे अनर्थकता का प्रसंग भी आ जावेगा किन्तु व्यापार व्याहार आकारादि विशेषो का भगवान मे सांकर्य सिद्ध नही होता है। अर्थात सराग वीतरागवत् चेष्टा करे और वीतराग सरागवत चेष्टा करे इसे संकर कहते है। यह संकर दोष भगवान मे सभव नही है क्योकि उनके विचित्र अभिप्राय नही पाया जाता है। अर्थात सराग यथार्थ *अभिप्राय वाले हैं और वीतराग अयथार्थ* विचार वाले हैं *यह बात गलत है।* विचित्र अभिप्रायपना तो रागादिमान अज्ञानी पृथग्जन साधारण मनुष्य मे ही प्रसिद्ध है। सर्वदोष रहित वीतराग भगवान मे उसका अभाव है क्योकि सर्वज्ञ भगवान यथार्थ प्रतिपादन के अभिप्राय वाले है ऐसा निश्चय पाया जाता है। तथा आप सौगत सभी के अदृश्य रूप न दिखने वाले विचित्र अभिप्रायो को व्यापारादि सांकर्य हेतुक कैसे निश्चित करेगे ? अर्थात अभिप्राय तो आंतरिक है अत उनका बाह्य व्यापारादि कार्यों से निर्णय नहीं किया जा सकता है।

सौगत— शरीरित्वादि हेतु से स्वात्मा के समान ही विचित्राभिप्रायता निश्चित है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग मे विचित्राभिप्राय है क्योकि वे शरीर धारी है हम लोगो के समान।

जैन—इसी शरीरित्व हेतु से ही बुद्ध देव के असर्वज्ञपने का निश्चय हो जावे क्या बाधा है ? अर्थात् आपके बुद्ध भी शरीरवान है अत वे भी असर्वज्ञ हैं ऐसा हम कह सकते हैं ?

१ अन्यथा (ज्ञानवतोपि विसंवाद संभवति चेत्) । २ सुगतस्य । ३ ज्ञानवति । ४ सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्कर्यम । ५ (विचित्राभिसंधितायाः) । ६ (विचित्राभिसंधितायाः) । ७ सौगत । ८ सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा । ९ सौगत प्राह।—सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोस्ति शरीरित्वादस्मदादिवत् । १० स्याद्वादी । ११ सुगते । १२ शरीरित्वादेरित्यस्य । १३ शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति संदिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतो स । तस्मात् ।

(1) अविश्वास । (2) सरागवीतरागाभिप्राय यथार्थायथार्थप्रतिपादनाभिप्राय । (3) सौगतोऽनुमान रचयति । भगवान् पक्ष विचित्राभिप्रायवान भवतीति साध्यो धर्म । शरीरित्वादे । य शरीरी स विचित्राभिप्रायवान् यथास्मदादि । दि प्र । (4) तत्र सुगते शरीरित्वादिहेतोरस्य विपक्षान् । व्यावर्तिकत्व सदिग्ध व्यावर्तते न व्यावर्तते चेति संदेह । य विचित्राभिप्रायवान् नास्ति स शरीरी नास्ति । इति विपक्षलक्षण । तत्र संदेह कथ । कश्चिद्विचित्राभिप्रायरहितोऽपि शरीरीति सौगतो वदति अतस्तस्य असर्वज्ञत्वस्य निश्चयो न । शरीरी च भवति सर्वज्ञश्च भवति । अत्र विरोधो नास्ति कस्मात् ? विज्ञानोत्कृष्टत्वे पुरुषे वचनादिविनाशानुपलम्भात् । दि प्र । (5) विचित्राभिप्रायरहितत्व । (6) संदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिकत्व कथमित्याशङ्कायामाह ।

स्यात्सर्वज्ञस्य विरोधाभावात्[1], [1]विज्ञानप्रकर्षे [2]शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्तत[1] एव [3]सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत् तत्रापि प्रोक्तहेतो सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्[4]। [1]सोय विचित्रव्यापारादिकायदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धिता निश्चिनोति न पुन कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति[5] [4]कथमनुन्मत्त ? [6]कमथक्याच्चा[1]स्य[6] स तानान्तरस्वसन्तानक्षण[7]क्षयस्वर्गप्रापणशक्त्या[9]दैर्विशेषस्येष्टि ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात[8] वेद्यवेदकाकाररहितस्य [9]वेत्नाद्वैतस्य वा विशेषस्य[1]

बौद्ध—हमारे बुद्ध मे इस हेतु से असर्वज्ञता की सिद्धि नही है क्योकि यह हेतु बुद्ध मे सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक है। शरीरी भी होवे और सर्वज्ञ भी होवे इस प्रकार से इसमे विरोध का अभाव है क्योकि विज्ञान का प्रकर्ष होने पर शरीरादिक का अपकर्ष नही देखा जाता है।

जैन—इसी हेतु से सर्वज्ञ के विचित्राभिप्रायता का निश्चय भी मत होवे क्योकि सर्वज्ञ मे भी यह हेतु सदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाला है।

आप बौद्ध विचित्र व्यापारादि कार्यों के देखने से सभी के विचित्र अभिप्रायपन का निश्चय तो कर लेते हैं किन्तु किसी जीव मे वचनादि कार्यों के अतिशय का निश्चय देखकर भी सर्वज्ञत्व आदि अतिशय को नही मानते हुये आप उन्मत्त कैसे नही हो सकते है अर्थात् आप बुद्धिमान कैसे कहे जा सकते है ? शारीरिक और वाचनिक कार्यों मे सवादकत्व आदि सफलता के देखने से आप्त निश्चित नही है ऐसा हम नही कह सकते है किन्तु आपके सर्वज्ञ का स्वभाव विप्रकृष्ट है प्रत्यक्ष गम्य नही है। इसलिए अर्हन्त सर्वज्ञ नही हैं ऐसा हम कह सकते है। इस प्रकार बौद्ध के कहे जाने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—

आप सौगत सतानातर (भिन्न २ यज्ञदत्त देवदत्त की सतान) और अपने सतान मे क्षणक्षयी शक्ति का और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि की विशेषता का निश्चय भी किस हेतुसे करेंगे ? क्योकि दोनो मे विप्रकृष्ट दूरवर्ती स्वभाव समान ही है एव वेद्य (ज्ञेय) वेदकाकार (ज्ञानाकार) से रहित सवेदनाद्वैत मे विशेषता का निश्चय भी किस प्रकार से होगा ? अथवा जो विशेष प्रमाणभूत जगद्धितैषी शास्ता रक्षक है और शोभन अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं अथवा सपूर्ण अवस्था को प्राप्त है या पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) के न होने से सुष्ठु सुगति को प्राप्त है ऐसे सुगत हैं। इस प्रकार इन विशेष नाम

१ विरोधाभावे हेतुमाह। २ जैन। ३ सौगत। ४ बुद्धिमान्। ५ किं लिङ्गमाश्रित्येत्यर्थ। ६ सौगतस्य। ७ सन्तानान्तरो देवदत्तयज्ञदत्तस तान। स्वस्य आत्मन सन्तानश्च। तयो क्षणक्षयिणी या शक्ति स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेर्विशेषस्येष्टिनिश्चितिर्निरर्थिका भवति। कुत ? दूरतरस्वभावत्वात् उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्त विशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात्। ८ ज्ञानाद्वैतवादिन प्रति जैनस्योक्ति। ९कमथक्यादिष्टिरिति पूर्वणान्वय।

(1) असर्वज्ञनिश्चयो न शरीरी भूत्वापि सर्वज्ञोऽस्ति। (2) इंद्रिय। (3) सर्वस्य इति पा। (4) शरीरित्वादिहेतोर्विचित्राभिप्रायतां न निश्चिनुमः किन्तु विचित्रव्यापारादिदर्शनादित्यत आह। (5) न निश्चिनोति। (6) व्यापारव्याहारादिकार्यसंवादकत्वादिसांकर्य दर्शनादाप्तत्व न निश्चीयते इति नोच्यते किंतु विप्रकृष्टस्वभावत्वादित्युक्ते। (7) सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। (8) द्वैतवादिन बौद्ध प्रति। (9) संवेदनाद्वैतस्य इति पा।

प्रमाणभूतस्य[1] जगद्धितैषिण शास्त्रुस्तायिन[1] शोभन[2] गतस्य [3]सम्पूर्ण वा गतस्य पुनर नावृत्त्या[4] सुष्ठु वा गतस्य [2]विशेषस्येष्टि ? [3]सवत्रानाश्वासाविशेषात । [4]न चैव वादिन किञ्चिदनुमान नाम [5]निर[6]भिसन्धीनामपि बहुल [6]कार्यस्वभावानियमोपलम्भात, [7]सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे [8]क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायसोनपलब्धस्य मण्यादिकारण कलापेपि सम्भवात् । [8]यज्जातीयो [9]यत सप्रक्षितस्तज्जातीयात्तादगिति दुलभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभाव कथमिव निर्णीयेत ' वक्ष शिंशपात्वादिति[1]

वाले सुगत की विशेषता का निर्णय भी कसे होगा ? पुन कपिल सुगत अहत आदि सभी मे अविश्वास समान ही रहेगा क्योकि सवज्ञत्वादि के अतिशय मे सवेदनाद्व त गुण मे और सुगत के गुण मे निर्णय न होने से समानता हा है ।

इस प्रकार से कहने वाले बौद्धो के यहाँ अनुमान नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अभिप्राय रहित (अचेतन अग्नि आदि) मे भी बहुधा काय हेतु और स्वभाव हेतु का नियम नहीं देखा जाता है । काष्ठादि सामग्री विशेष कारण के होने पर कही अग्नि की उपलब्धि होती है और कारण विशेष सामग्री के अभाव मे प्राय अनुपलब्धि है फिर भी मणि सूयकातमणि आदि कारण कलाप के होने पर अग्नि भी सभव है । जो जिस जाति वाला जिससे उत्प न हुआ देखा जाता है उस जाति वाले से ही वह वसा होता है । इह प्रकार का नियम दुलभ होने पर धमकेतु अग्नि आदि मे भी व्याप्य व्यापक भाव का निणय कसे होगा ? यह वक्ष है क्योकि शिंशपा है इसी प्रकार यह वक्ष है क्योंकि इसमे आम्रत्व है उसी प्रकार आम्रलता मे भी कहीं-कहीं आम देखे जाते हैं । पुन बुद्धिमान का मन किस प्रकार से नि शक (संदेह रहित) हो सकेगा ? अत विदग्ध चतुर मकट जसे अपनी ही पूछ का भक्षण कर लेते हैं उसी प्रकार से आप अदष्ट संशय एकातवादी भी अपने पक्ष का स्वय आप ही खंडन कर लेते हैं । ※

सौगत—काष्ठादि सामग्री से उत्पन्न अग्नि जिम प्रकार की देखी जाती है मणि आदि सामग्री से उदभूत

१ प्रमाणभूताय जगद्धितषिण प्रणम्य शास्त सुगताय तायिने । (इ युक्त गौद्ध) । २ सुगतकपिलाहता मध्ये । ३ सवज्ञत्वाद्यतिशये सवेदनाद्वतगुणे सुगत गुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात् । ४ अनुमानात्तद्विशेषेष्टि स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति । ५ एव वादिन सौगतस्य किञ्चिदनुमान न सम्भवति निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयाना बाहुल्येन कार्यस्व भावरूपयोर्हेत्वोरनिश्चयदशनात् । ६ अभिप्रायरहितानामचेतनाग्नीनामग्न्यादीनामि यथ । ७ कारणभूते । ८ अग्ने । ९ मणि सूयकान्त । १ इत्यनुमान च न भवेद्यत ।

(1) रक्षकस्य । (2) शोभनमविद्यातृ गाशून्य ज्ञानसन्तान सप्राप्तस्य सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात् सुरूपकन्यावत् । (3) सपूर्ण साक्षाच्चतुरायमत्यज्ञान सप्राप्तस्य सुशब्दस्य सपूर्णवाचित्वात् सुपूर्णकलशवत् । (4) सुष्ठ पुनरनावृत्त्या पुनरविद्यातृष्णाक्रान्तचित्तसतानाव तेरभावेन गतस्य सुशब्दस्य पुनरनावत्यथत्वात् सुनष्टाज्वरवत् । (5) प्रायश प्रतिपन्ना निधूमादीनामपि । (6) कार्यानुमानस्वभावानुमान । (7) दुलभनियमता कुन इत्युक्ते तत्र समथन । (8) यत्प्रकार । (9) अग्ने ।

[1]लताचूता[1]देरपि[1] [2]क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव[3] निःशंकं चेतः स्यात् ? [4]तदेतद् बुद्ध[5]संशयैकान्तवादिना विदग्धमर्कटानामिव स्वलाङ्गूलभक्षणम्[6] *। [1]ननु च काष्ठादि सामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्ट स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते [2]तथा यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः [4]स्यात् इति [5]कश्चित्सोपि प्रतीतेरपलापकः [6]कार्यस्य [7]तादृशतया प्रतीयमानस्यापि [1]कारणविशेषातिवृत्ति[7]दर्शनात्[11] ।

अग्नि वैसी नही होती है इसीलिये जिस जाती वाला जिससे होता देखा जाता है वह उस जाति वाले से ही होता है न कि अन्य जाति वाले से। जिससे कि धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय न हो सके अर्थात धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय होता ही है। तथा जिस प्रकार का आम्रत्व वृक्षपने से व्याप्त है उस प्रकार का आम्रत्व लता के साथ व्याप्त नही है जिससे कि शिंशपात्व और वृक्षत्व मे भी व्याप्य व्यापक भाव का नियम दुर्लभ होवे अर्थात दुर्लभ नही है।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप सौगत भी प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप करने वाले है क्योंकि कार्य रूप अग्नि उस प्रकार (सामग्रीजन्य रूप) से प्रतीत होने पर भी कारण विशेष (काष्ठादि) का कही पर उल्लंघन करती है ऐसा देखा जाता है जैसे कि मणि आदि से अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध है।

भावार्थ– बौद्ध कहता है कि व्यवहार मे हम देखते है कि कोई सरागी है परन्तु वचन और काय की क्रियाओ को वीतरागी के समान करता है एवं कोई वीतरागी है वह सरागी के समान प्रवृत्ति कर सकता है अतः ये ही अर्हत है यह निर्णय भी किससे हो सकेगा ? और निर्णय न हो सकने से ही आपके अर्हत सर्वज्ञ है यह कहना असंभव है।

इस पर आचार्यों ने कहा कि सभी के मनोभिप्राय हम और आपको दिखते नही है तो फिर बाह्य क्रियाओ से उनका निर्णय कैसे होगा ? तब बौद्ध कहता है कि आपके वीतराग भगवान के शरीर पाया जाता है अतः वे कुटिल विचित्र मानसिक विचारधाराओ के हो सकते हैं अतएव वे सर्वज्ञ नही हो सकते तब आचार्य ने कहा कि बुद्ध भगवान को भी शरीर सहित ही आपने माना है अतः यह दोष उनमें भी संभव है।

बौद्ध कहता है कि आपके सर्वज्ञ का स्वभाव प्रत्यक्ष गम्य नही है अतः अर्हत सर्वज्ञ नही हो सकते

---

१ न केवलं वृक्षचूतादेः । २ वृक्षो भवितुमर्हति आम्रवल्लतया लतारूपचूतत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते)। ३ परं । ४ स्वभावहेतुं मन्वानः सौगतः । ५ अपि तु न स्यादेव । ६ सौगत । ७ प्रत्यक्षस्य । ८ वह्नेः । ९ काष्ठादिसामग्री जन्यतया । १० कारणविशेषं काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात् । ११ मण्यादेर्वह्निदर्शनात् ।

(1) चूतत्वादित्यर्थः । (2) देशे । (3) न किञ्चिदनुमानं नाम दुर्लभनियमतया वृक्षः शिंशपात्वादिति किमिव निःशंकं चेतः स्यात् दुर्लभनियमतापि कुत इत्युक्ते स्वभावेत्यादि हेतुः सोपि कुत इत्युक्ते लताचूतादिरित्यादिसाधनं । (4) अनुमानं न भवेत् यतः । बौद्ध । (5) दीप । अनुपलब्धवस्तुनि । (6) स्वपक्षक्षतिस्याद्यतः । (7) उल्लंघनं ।

[यत्नेन परीक्षितकार्याणि कारणानुवर्तते]

[1]यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्[2] स्तुतं[1]※ [3]प्रस्तुतं [4]व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः[5]। एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं [2]व्यापकं नातिवर्तते इति [6]ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यं पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वदविशेषात्[7]। [3]**ततोयं प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति**[8]※। [4]मन्दतरधिया धूमाग्निकमपि परीक्षितुमक्षमाणा [1]ततो धूमध्वजादिबुद्ध

यह बात कही जा सकती है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! आपके यहाँ भी प्रत्येक वस्तु की क्षण में क्षय होने वाली शक्ति दिखती है क्या? मतलब जो चीज दिखती नहीं उनके विषय में भी कुछ न कुछ मान्यता आप रखते ही हैं। उसी प्रकार से यद्यपि सर्वज्ञ का स्वभाव दिखता नहीं है फिर भी अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं इसका निर्णय करना ही चाहिये।

[यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं]

बौद्ध—यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं।

जैन—उक्त बात से तो आपने हमारे इष्ट का ही समर्थन कर दिया है।※ व्यापार व्याहार आदि विशेष भी जो कि किंचिज्ज्ञ रागादिमान जीवों में असंभवी है और यत्न से परीक्षित है वे भगवान में सिद्ध ही हैं क्योंकि ज्ञानादि अतिशयों की भगवान में अबाधित रूप से सिद्धि है। इस प्रकार यत्न से परीक्षित व्याप्य हेतु व्यापक का उल्लंघन नहीं करता है ऐसा कहते हुए आपने भी हमारे प्रकृत का ही समर्थन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये। पुरुष विशेषत्व आदि स्वभाव व्याप्य हैं उसका सर्वज्ञत्व व्यापक स्वभाव से अनतिक्रम (अबाधितपना) सिद्ध है जैसे कि यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं उसी प्रकार पुरुष विशेषत्व आदि व्याप्य सर्वज्ञत्व आदि रूप व्यापक स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते हैं। दोनों जगह व्याप्य व्यापक भाव में कोई अंतर नहीं है अर्थात् समानता ही है।

इसलिये यह साध्य का व्यभिचार लक्षण शेष प्रतिपत्ता का अपराध है अनुमान का नहीं अत

१ सौगत। २ जैन प्राह—त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्)। ३ प्रकृतम्। ४ (व्याहारादीति पाठान्तरम्)। ५ अनुल्लङ्घनात्। ६ सौगतेन। ७ यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात्। ८ साध्यव्यभिचारलक्षणः। ९ बौद्धः। १ धूमादिकात्।

(1) समर्थितं। स्याद्वादी वदति हे सौगत! त्वया अस्माकं प्रस्तुतं प्रारब्धं इष्टं वोक्तं। कस्मात्? क्षयोपशमज्ञानिनि रागादिमति पुरुषे असंभवी यत्नतः परीक्षितो व्यापारादिविशेषः भगवति ज्ञानाद्यतिशयं नातिवर्तते यतः। दि॰ प्र॰। (2) शिंशपात्वं। वृक्षत्वं। (3) तेन युक्तिशास्त्राविरोधाद्यनेकप्रकारेण। (4) नराणां।

रपि व्यभिचारदर्शनात । प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिक न व्यभिचरति तथा व्यापारव्याहाराकारविशेष क्वचिद्विज्ञाना[1]द्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम् । एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व भगवतोर्हत एव [2]सर्वज्ञत्व साधयतीत्यभिप्राय ।

[सर्वे सन्यहेतवोऽर्हति भगवति एव सवज्ञत्वं साधयति नान्येष]

'तदेव तत' सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्व साधयति [3]नान्यत्रेत्य विरोध [3]इत्यादिना स्पष्टयति[4] * [4]स्वामीति शेष यद्यस्मादविरोध सुनिश्चितासभवदबाधकप्रमाणत्व त्वय्येव तस्माच्च [5]त्वमेव स इत्यभिधानसबन्धात[6] । स [7]एवाविरोध कुत सिद्ध इत्याशङ्कायां यदिष्ट[8] ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात् ।

आप बौद्ध हमारे अनुकूल ही आचरण करते हैं ।*

मदतर बुद्धि वाले पुरुष धमादि की परीक्षा मे भी असमथ पाये जाते है अत धूमादिक हेतु से धूमध्वजादि अग्नि आदि के ज्ञान मे उन्हे व्यभिचार दोष दिखाई दे सकता है कि तु प्रज्ञातिशय वाले तो सवत्र परीक्षा मे कुशल होते है अत जसे उनके धूमादि हेतु पावक के ज्ञानादि मे व्यभिचार को नहीं प्राप्त होते हैं । तथव व्यापार व्याहार आकार विशेष किसी जीव मे विज्ञानादि अतिशय को सिद्ध ही करते है इस प्रकार आपने हमारे अनुकूल ही कथन किया है । अत युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन भगवान अर्हत मे ही सवज्ञत्व को सिद्ध करते है यह अभिप्राय हुआ ।

[सभी हेतु अर्हत भगवान को ही सवज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नही]

इस प्रकार **वे पूर्वोक्त सभी हेतु सुनिश्चितासभवद बाधक प्रमाण रूप होने से अर्हत मे ही सकलज्ञत्व को सिद्ध करते हैं अन्यत्र नहीं । ऐसा अविरोधो इत्यादि पद से स्वामी समतभद्राचाय स्पष्ट करते हैं*** जिससे कि जो अविरोध रूप सुनिश्चितासभवदबाधक प्रमाणत्व है वह आप मे ही है इसलिये आप ही वे आप्त हैं इस प्रकार से शब्दो का सबध है । वे ही अविरोधी विरोध रहित आप किस प्रमाण से सिद्ध हैं ऐसी आशका होने पर जो आपका इष्ट (मत) है वह प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही होता है इस प्रकार का अथ समझना ।

---

१ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक वाद्यनेकप्रकारेण । २ पूर्वोक्तम् । स त्वमेवेति कारिकोक्तेन । ४ समन्तभद्राचाय ।

---

(1) न व्यभिचरतीति याज्य । (2) एतन अर्हन्नेव सवज्ञ इति निश्चयाभावे बाधक इत्येतदपि निरस्त । एव पूर्वोक्तानां सर्वेषा तीर्थच्छेदसप्रदायाना बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण नि शेषदोषावरणहानि कस्यचिन्निश्चेतु न शक्यते । अत कथ सभाव्यत इति प्रत्यवस्थानस्य बाधकाभावप्रतिपादनप्रकारेण सामान्येन सर्वज्ञसिद्धावपि अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति कथ निश्चय इत्येवविधप्रत्यवस्थानस्यापि बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण—दि प्र । (3) कपिलादौ—दि प्र । (4) तीर्थकृत् समयानां चेति कारिकायां यदस्पष्टतया कथित सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्व तदिदानीं स्पष्टयति स्वामीत्यथ । दि प्र । (5) निर्दोष । (6) कारिकायां । (7) अत्राहाहृन हे समतभद्राचाय ! स अविरोध भवि कुत प्रमाणात् सिद्ध । (8) कारिकास्थितयच्छब्दस्य पदत्रापि सबधोवगतव्य ।

[इच्छामन्तरेणापि भगवत वाच निर्दोषा सति]

[1]तत्रेष्ट [2]मत [3]शासनमुपचर्यते[1], [2]निराकृतवाचोपि [4]क्वचिदविप्रतिषेधात[3] ।* न पुनरिच्छा विषयीकृतमिष्ट, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छाया[5] सभवाभावात् । तथा हि । नेच्छा सर्वविद शासनप्रकाशननिमित्त प्रणष्टमोहत्वात । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्त, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञ । प्रणष्टमोहश्च सर्वविद्भगवान्[6] साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम । इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाच[7] साधयति अव्यभिचारात । न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति वक्तृत्वादस्मदादिवदित्यनेन निराकृतवाचो [4]विप्रतिषेध इति चेन्नाय नियमोस्ति ।

[इच्छा के बिना भी भगवान के वचन निर्दोष हैं]

उन भगवान मे इष्ट मत-शासन अर्थात आगम का उपचार किया जाता है । क्योकि निरभिप्राय वचनों का भी कहीं पर अविरोध देखा जाता है । अर्थात अभिप्राय रहित वचन भी कही कही विरोध रहित पाये जाते हैं ।

इच्छा को विषय करने वाला इष्ट शब्द है ऐसा नही कहना क्योकि प्रक्षीण मोह मोहनीय कर्म रहित भगवान् मे मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा सभव नही है । तथाहि सर्वज्ञ को अपना मत प्रकाशन करने की इच्छा नही है क्योकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है । जिसको शासन प्रकाशन की इच्छा है वह मोहरहित नही है जैसे कि किंचिज्ज्ञ (अल्पज्ञ) पुरुष और सर्वज्ञ मोह रहित है यह बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई है । इसीलिये सर्वज्ञ को शासन प्रकाशन की इच्छा नही है । इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु अभिप्राय रहित वचन को सिद्ध करता है क्योकि इस हेतु मे व्यभिचार दोष नही आता है ।

भावार्थ— इष धातु इच्छा अर्थ मे है और यहा भगवान के शासन को इष्ट शब्द से कहा गया है इसलिये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान के वचन इच्छा पूर्वक ही होते होंगे क्योकि उन्हे अपने मत को प्रकाशित करने की विश्व मे सर्वतोमुखी फैलाने की इच्छा अवश्य होगी तभी तो उनका मत इष्ट शब्द से कहा गया है । इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि सर्वज्ञ भगवान के वचन इच्छापूर्वक नही होते हैं क्योकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है ।

१ भगवति । २ भगवानागम कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमिच्छाविषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । अत्राह नैयायिक ।—भो स्याद्वादिन् इच्छा विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत । तदुपरि जैन प्राह ।—भो नैयायिक निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायाया वाचोपि) क्वचिदविप्रतिषेधात (इच्छा विनापि वचनस्योत्पत्तेर्व प्रमाणत्वात)। ३ आगम । ४ सुषुप्तासुषुप्तादौ । ५ शासनप्रकाशने इच्छाया । ६ दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना । ७ (निरभिप्रायवचनम) । ८ नैयायिक प्राह । ९ जैन प्राह ।

(1) मित्युपचर्यते इति पा । भगवति इच्छाया वचनलक्षणप्रयोजनसद्भावात् इष्टमिति व्यवहारस्य निमित्तत्वात् प्रमुख्यत्वात् चोपचारत प्रयोजन प्रवर्तनं । (2) निरभिप्राया । (3) अनिवारणात् । (4) विरोध ।

[सर्वज्ञवचनानीच्छापूर्वकान्येवेति मन्यमाने को दोषस्तस्य समाधान]

[1]तदभ्युपगमे को दोष इति चेत् नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि [1]निरभिप्रायप्रवृत्तिन स्यात् * । न हि सुषुप्तौ [1]गोत्रस्खलनादौ [2]वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति[3] । [4]प्रतिसंविदिता[ ]कारेच्छा[5] तदा सम्भवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत् * । न [6]ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा सम्भवति या पश्चान्न [4]स्मर्यते । [5]पूर्वकालभाविनीच्छा[6] तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदि-

नैयायिक— सर्वज्ञ भगवान इच्छा के बिना नहीं बोलते हैं क्योंकि वे वक्ता हैं हम लोगों के समान ?" इस अनुमान से निरभिप्राय वचनो का विरोध सिद्ध हो जाता है। अर्थात अभिप्राय रहित कोई पुरुष वचन नहीं बोल सकत।

जैन—यह नियम नहीं है कि वचन इच्छापूवक ही हो।

[सवज्ञ के वचन इच्छापूवक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान]

नैयायिक – वचन को इच्छा सहित मानने मे क्या दाष है ?

जैन—ऐसा नियम स्वीकार करने पर सोये हुये पुरुष आदि मे भी अभिप्राय रहित वचनों की प्रवृत्ति नहीं होगी* ।

सोये हुये पुरुष मे और गोत्रस्खलन आदि मे वचन व्यावहार आदि इच्छा हेतुक नहीं हैं। अर्थात् किसी के दो पुत्र हैं कमल और विमल। सामने खडे हुये कमल को देखते हुये और बुलाते हुये पिताजी ने कहा कि बेटा विमल इधर आओ! उनका अभिप्राय कमल को बुलाने का था किन्तु अकस्मात् मुख से विमल निकल गया इसे ही गोत्र-नाम स्खलन कहते हैं। इस गोत्र स्खलन मे इच्छा रहित वचन देखे जाते हैं।

उस काल मे प्रति संविदिताकार इच्छा होती हुई संभव है पुन भिन्न वाञ्छाओं के समान उसका स्मरण होना चाहिये* ।

अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जिसका कि पश्चात मे स्मरण न किया जावे किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात सम्यग्ज्ञानाकार ही इच्छा संभव है अन्य नहीं! पूर्वकाल संभाविनी—जाग्रत अवस्था मे होने वाली इच्छा उस काल मे वचन आदि की प्रवृत्ति मे हेतु है और वह अप्रतिसंविदिताकार रूप से

१ पर आह। वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे। २ गोत्र नाम। ३ प्रतिवचननियततत्वेन (जाग्रद्दशायां) संविदित आकारो यस्याः सा। ४ किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्या। ५ परः। ६ पूर्वकालो जाग्रदवस्था।

(1) अस्ति च तत्र निरभिप्रायप्रवृत्ति । (2) व्यवहारादि इति पा । व्यापार । (3) सुषुप्तावपि इच्छापुरस्सरत्वेन प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याह। (4) विकल्पद्वयं मनसिकृत्य ब्रूते। भो बौद्ध ! प्रति संविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती वाक्प्रवृत्ति-हेतुरिति चेत् वेदिच्छान्तरवत्तदा स्मर्येत नास्ति च तथा स्मरणं। (5) स्याद्वादी वदति। तदा सुषुप्त्यादौ सम्यग्ज्ञानाकारा इच्छा उत्पद्यमाना पुनरपि स्मर्यते यथा जाग्रदवस्थायां उत्पद्यमाना वांछा स्मर्यते। एतावता किमायातं सुषुप्त्यादौ वाग्व्यापारादी वांछापूर्वको न भवतीत्यर्थः। दि प्र। (6) प्रतिसंविदिताकारेच्छाया अभावे अप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवतीत्युक्ते आह।

ताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत् किं पुनस्तदनुमानम् ? [1]विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्ति

अनुमान ज्ञान के विषयभूत सभव ही है। यदि ऐसा कहो तो वह अनुमान क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध उत्तर देता है। अर्थात यहा दो विकल्पो को मन मे रख कर कहते हैं कि हे बौद्ध ! प्रतिसविदिताकार इच्छा उस काल में सभव होती हुई वचन प्रवृत्ति मे हेतु है यदि आप ऐसा कहते है तब तो भिन्न इच्छाओ के समान उस समय उसका स्मरण होना चाहिये किन्तु उस प्रकार से स्मरण होता नही है। प्रतिवचन रूप नियम होने से जाग्रत अवस्था मे जिसका आकार जाना हुआ रहता है उसे प्रतिसविदिताकार कहते हैं। स्याद्वादी कहता है कि उस समय सोते हुये आदिजनो मे सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा उत्पन्न होती हुई पुन रपि स्मरण मे आती है जैसे कि जाग्रत अवस्था मे उत्प न होती हुई वाछा स्मति मे आती है इससे क्या निष्कर्ष निकला ? सोती हुई आदि अवस्था मे वचन यापार इच्छा पूवक नही होता यह अभिप्राय समझना चाहिये।

कोई कहे कि प्रतिसविदिताकार इच्छा के अभाव मे अप्रतिसविदिताकार इच्छा सभव है ऐसा कहने पर उत्तर देते है कि अप्रतिसविदिताकार इच्छा सभव नही है जो पश्चात स्मरण मे नही आ सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा ही सभव है अ य सम्भव नही है।

विशेषार्थ—उस समय जो पहले इच्छा की थी वही इच्छा हाती हुई वहा (स्वप्न म) या गोत्रस्खलन मे स्मरण की जाती है। जिस इच्छा का सस्कार पहल नही है वह सभव न होन मे वहा स्मरण नही की जाती।

शका—पूवकाल मे होने वाली इच्छा उस समय वचन आदि की प्रवत्ति म कारण है। अत जो इच्छा पहल नही हुई है वह इ छा भी वहा उत्प न हाती है इसका भी हम अनुमान कर सकते हैं।

प्रतिशका—यदि ऐसा है तो बताइये वह अनुमान क्या है ?

समाधान— (वह अनुमान इस प्रकार है) स्वप्न काल म हाने वाला वचन आदि की प्रवत्ति इच्छा पूर्वक होती है क्योकि वह वचन आदि की प्रवत्ति है प्रसिद्ध इ छा पूवक होन वाली वचन आदि की प्रवत्ति के समान।

वादी यह कहना चाहता है कि सवज्ञ बिना इच्छा के उपदेश बिहार आदि नही कर सकता है क्यो कि हम सवसाधारण वक्ता तो इच्छा पूवक ही बालत हुय पाये जाते है। इसके उत्तर मे जैनो का कहना है कि यह कोई नियम नही है क्याकि सोते समय मनुष्य बडबडाता रहता है या हम कहना कुछ चाहते हैं और हमारे मु ह से कुछ निकलता है। इन दानो स्थितियो मे हमारा इच्छा कारण नही है।

ऐसा भी नही समझना चाहिये कि जाग्रत अवस्था मे हमने जो इच्छा की थी वही वहा साकार होकर स्मरण मे आ जाती है। जाग्रत् मनुष्य के जिस प्रकार की इच्छा होती है वसी इच्छा वहा सम्भव नही है अत वादी का यह अनुमान करना कि पूव कालिक इच्छा ही पुन सस्कार मे आकर वागादि प्रवृत्ति का कारण बन जाती है गलत है।

[1] (पर आह) स्वप्नसमयिकी।

रिच्छापूर्विका वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न हेतोरप्रयोजकत्वात्। 'यथाभूतस्य[1] हि जाग्रतोनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्यादृशो[1]ऽतिप्र[2]सङ्गात्[3]। न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता[4] तदवगतेरसंभवात्। [3]सा हि [4]स्वसन्ताने[5] तावन्न [6]संभवति सुषुप्त्यादिविरोधात्। 'सुषुप्तोन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति [7]व्याहतमेतत्। पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि [6]तादृगेव। [7]स्वयमसुषुप्तोनन्यमनाश्च सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन [8]व्याप्तामवगच्छतीति ब्रुवाणः कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते[9]? तदानु

विवाद मे आई हुई (स्वप्न में होने वाली) वचन आदि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक होती हैं क्योंकि वे वचन आदि प्रवृत्तियां हैं संसार मे प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।

जैन—नहीं। आपका हेतु अप्रयोजक है क्योंकि जिस प्रकार जाग्रत मनुष्य या अनन्य मनस्क सावधान मनुष्य की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक मानी गई हैं। वैसे ही देशान्तर और कालान्तर मे भी जीवों की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य है किन्तु अन्य—सोते हुए या अन्यमनस्क जीवों के इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य नहीं है अन्यथा अति प्रसंग दोष आ सकता है। अर्थात्—गोपाल घटिकादि धूम भी अग्नि के गमक हो जावेंगे। अथवा सन्निवेशमात्रत्वात् हेतु पृथ्वी आदि बुद्धिमद् हेतुक हो जावेंगे।

सुषुप्त अथवा अन्यमनस्क जीव की वचनादि प्रवृत्तियां इच्छापूर्वकत्व से व्याप्त नहीं है। उसके साथ उसकी व्याप्ति असंभव है। क्योंकि वह व्याप्ति स्वसंतान सुषुप्त संतान मे सम्भव नहीं है अन्यथा सुषुप्ति आदि का विरोध हो जावेगा। कोई सोता भी अथवा अन्य मनस्क भी हो और वचन प्रवृत्ति—वचनों को इच्छा पूर्वक करे यह बात विरुद्ध है। यदि कहो कि पश्चात् उठकर जानता है तो वह ज्ञान भी उसी प्रकार विरुद्ध ही है।

स्वयं जो जाग्रत अवस्था में है अथवा अनन्यमनस्क—सावधान है ऐसे मनुष्य सुषुप्त और अन्य मनस्क (विक्षिप्त मनस्क) की प्रवृत्ति को इच्छा पूर्वक से व्याप्त मानते हैं ऐसा कहते हुये आप नैयायिक अबाधित वचन वाले हैं। इस प्रकार से स्वस्थ पुरुषों के द्वारा आप आदर कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

---

१ (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति)। २ गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। विषाणिनी वाग् गोशब्दवाच्यत्वादित्यतिप्रसंगे टिप्पणान्तरमिदम्। ३ (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः)। ४ सुषुप्तसन्ताने। ५ विरोधमेवाह। ६ व्याहतमेव। ७ (व्याहतिं दर्शयति)। ८ नैयायिकः। ९ आद्रीयते।

---

(1) यथास्थितस्य। (2) सुषुप्तस्यान्यमनसो वा। (3) सन्निवेशमात्रात् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गात्। (4) क्वचिद्व्यक्तौ। (5) आह सौगतः। सा इच्छा स्वसंताने सुषुप्तस्य सुषुप्तत्वलक्षणे नोत्पद्यते चेत्तदा सुषुप्तादि विरुद्ध्यते एव सति क्रियाभावात्। स्याद्वाद्याह। हे सौगत! सुषुप्तः अन्यमना इच्छापूर्विकां प्रवृत्तिं जानाति इति वचो विरुद्धं अथ पश्चादुत्थितः सन् जानाति। इदमपि विरुद्धं। दि प्र। (6) अन्यथा। (7) विरुद्धं। (8) प्रत्यक्षतया।

मानानतदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात् [1]तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात सुदूरमपि गत्वा [1]प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात । [2]एतेन स तानान्तरे [3]तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात् प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसम्भवाच्च । इति नानुमेया सुषुप्त्यादावपिच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा तदनुमानस्यानुदयात । [4]तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेर्हेतो[5] सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम[6] एव । ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव[2] [7]साधकतमत्वम् ॥ ।

[विवक्षामिच्छापि सर्वज्ञवचने सहकारिणीति मान्यताया निराकरण]

[1] ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकारण

नैयायिक—अनुमान से वचनादि प्रवृत्तियो की ऐसी व्याप्ति को मानने मे दोष नही होगा ।

जैन—ऐसा नही कह सकते अन्यथा अनवस्था का प्रसग आ जावेगा । वह अनुमान भी व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होगा । वह व्याप्ति भी भिन्न अनुमान की अपेक्षा रखेगी । बहुत दूर भी जा करके प्रत्यक्ष से उस व्याप्ति का ज्ञान नही हो सकेगा । इसी कथन स भिन्न सन्तान मे भी उस साध्य-साधन की व्याप्ति का खडन कर दिया गया है क्योकि अनुमान से उस व्याप्ति का निणय करने म अनवस्था समान ही है और प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान असम्भव ही है ।

इस प्रकार से सोते हुये आदि मनुष्यो मे ततकालिक या पूवकालिक इच्छा है यह बात अनुमेय नही है । उसको सिद्ध करने के लिये किसी भी अनुमान का उदय नही है । इसीलिये सवज्ञ की प्रवृत्ति को इच्छा पूवक सिद्ध करने मे वक्तृत्वादि हेतु सुषप्त आदि पुरुष से व्यभिचरित पाये जात है अत इच्छा पूवक ही वचन होवे ऐसा नियम नही रहता है क्योकि चैतन्य और इन्द्रियो की पटता ही वचनादि प्रवृत्ति की साधक है।

[बोलने की इच्छा भी सवज्ञ वचन मे सहकारी है इस मान्यता का निराकरण]

शंका—चैतन्य और इन्द्रियो की पटता के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नही देखी जाती है किन्तु विवक्षा (कहने की इच्छा) भी सहकारी कारण रूप अपेक्षित रहती है ।

समाधान—नही । भिन्न भिन्न सहकारी कारण नियम से अपेक्षित नही हैं ।

तस्कर-उल्लू आदि अथवा अजन आदि से सस्कृत चक्षु वाले प्रकाश की अपेक्षा न रखकर

---

१ अनवस्थां दर्शयति । २ स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन । ३ साध्यसाधनव्याप्ते । ४ इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण । ५ नयायिकोक्तस्य । ६ वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयो (स्वभावकार्यस्वरूपाभ्यन्तरनियमाभाव) । ७ चैतन्य ज्ञानम् । ८ करणं तात्वादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा । ९ वाक्यप्रवृत्तिं प्रति साधकतमत्व सुषुप्त्यादाविच्छापूर्वकत्वाभावेऽपि वक्तृत्वदर्शनात् । १०पर ।

---

(1) अनुमान । (2) यो साधक इति पा ।

एणमपेक्ष्यते एवेति चेन्न सहकारिकारणान्तर न वै [1]नियतमपेक्षणीय, नक्तञ्चरादे [1]संस्कृ तचक्षुषो बाह्यमपेक्षितालोकसन्निधे:[1] रूपोपलम्भात[2]। न चैव* संवित्करणपाटवयोरप्य- भावेविवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्ति प्रसज्यते, सवित्करणवकल्ये [3]यथाविवक्ष वाग्वृत्तेर भावात *। न हि [4]शब्दतोऽर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारण[४] [5]बालमूकादेरपि[6] तत्प्र- सङ्गात । ततश्चैतन्य करणपाटव च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात ।

[कश्चिन्मन्यते दोषसमूह सर्वज्ञवचने हेतुस्तस्य निरास क्रियते जन]

न च [1]दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्ता वाणी[7] नातिवर्तेत [६] तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद

भी रूप की उपलब्धि कर लेते हैं। विवक्षा के अभाव में वक्तृत्व का सद्भाव देखा जाता है। इस प्रकार से ज्ञान और इन्द्रियो की कुशलता के अभाव मे भी विवक्षा मात्र से किसी की वचन प्रवृत्ति का प्रसग नहीं आता है क्योंकि ज्ञान एव इन्द्रियों की विकलता में विवक्षा मात्र से वचन प्रवृत्ति का अभाव है।*

किसी को शब्द स और अर्थ से शास्त्र के परिज्ञान का अभाव है फिर भी उसको व्याख्यान करने की इच्छा के होन पर भी उस शास्त्र विषयक वचन की प्रवृत्ति नही देखी जाती है। इन्द्रिय की कुशलता के अभाव मे स्पष्ट श द का उच्चारण भी नही हो सकता है अन्यथा बालक मूक आदि भी स्पष्ट शब्दोच्चा- रण करने लगगे। इसीलिए चतन्य और इन्द्रिय की पटुता ही नियम से वचन मे हेतु हैं न कि विवक्षा क्यो कि विवक्षा –बोलने की इच्छा के बिना भी सुषुप्त सोते हुए आदि जनों के वचन प्रवृत्ति देखी जाती है।

[कोई कहता है कि दोषो का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने मे हेतु है जनाचार्य इस बात का निराकरण करते है]

तथैव दोष समूह भी वचन प्रवृत्ति मे हेतु नहीं है कि जिससे वाणी उसका उल्लघन न करे। अर्थात् वाणी दोष समूह का उल्लघन करती ही है क्योंकि उस दोष समूह के प्रकर्ष अपकर्ष के अनुविधान का अभाव है बुद्धि के समान।*

अष्टशती दिल्ली प्रति एव मुद्रित प्रति मे वाणीं ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि दोष समूह उस वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे उस वाणी का उल्लघन न कर सक अर्थात् उल्लघन करते ही हैं।

जिस प्रकार से बुद्धि और शक्ति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष अथवा उनके अपकर्ष में भी वाणी का

१ नियमेन। २ प्रकाशनादिना। ३ विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण। ४ (न हीति पूर्वेणान्वय)। ५ देवादि। समूह। ६ किन्तु अतिक्रमेतैव। ७ तस्या दोषजाते।

(1) सन्निधरूपो इति पा। (2) प्रतीते। (3) विवक्षानतिक्रमेण। (4) शब्दमाश्रित्य। (5) अन्यथा (6) अन्यथा सवित्करणपाटवाभावे स्पष्टवाकप्रवृत्तिर्भवति चेत्तर्हि बालमकादेरपि भवतु कोऽर्थ.। तथा न दृश्यते। दि प्र।(7) वाणीं इति पा दिल्ली अष्टशती प्रतौ मुद्रितप्रतौ च।

बुद्धयादिवत्[1]* । न हि यथा बुद्धे[2]शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्या प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते तथा दोषजातेरपि [1]तत्प्रकर्षे[3] वाचोपकर्षात्[4]तदपकर्षे एव [5]तत्प्रकर्षात् [6]यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत[2] । [3]सत्यपि च रागादिदोषे [4]कस्यचिदबुद्धयथार्थव्यवसायित्वादि[7] गुणस्य सद्भावात्[5] सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात् कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थाध्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ।।

इति । ततः साधूपादेशि[8] [9]तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते इति ।

अपकर्ष प्रतीति मे आता है उसी प्रकार से दोष जाति के प्रकर्ष मे वाणी का प्रकर्ष और अपकर्ष मे अपकर्ष प्रतीत नही होता है प्रत्युत दोषो के प्रकर्ष होने पर वचन मे अपकर्ष और दोषो की हानि होने पर वचन मे प्रकर्ष (वृद्धि की विशेषता) देखा जाता है जिससे कि आप वक्ता मे दोषो का अनुमान कर सके अर्थात् वक्ता मे दोषो का अनुमान नही कर सकते हैं। मतलब वचन प्रवृत्ति दोषो का उल्लघन नहीं करती है— दोष सहित होती है क्योकि वह वचन प्रवृत्ति है हम लोगो की वचन प्रवृत्तियो के समान ऐसे अनुमान से आप वक्ता मे दोषो की कल्पना नही कर सकते है क्योकि दोषो के अभाव मे ही वचनो की विशेषता देखी जाती है।

रागादि दोष के होने पर भी किसी की बुद्धि मे यथार्थ जानना आदि गुणो का सदभाव होने से सत्यवाक् प्रवृत्ति की उपलब्धि है और किसी राग द्वेष रहित की भी बुद्धि मे अयथार्थ निश्चय करने रूप दोषो का सदभाव होने पर असत्य वचन देखे जाते हैं इसलिये विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही वचन प्रवृत्ति मे गुण और दोषपना व्यवस्थित होता है न पुनः विवक्षा से अथवा दोषो से। कहा भी है—

श्लोकार्थ—वचन प्रवृत्ति मे विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही गुण व दोषपना देखा जाता है क्योकि शास्त्रो के विषय मे मदबुद्धि रखने वाले जन वक्तृत्व को चाहते हुये भी वक्ता नही बन सकते हैं इसलिये ठीक ही कहा है कि भगवान मे इष्ट मत शासन शब्द उपचरित रूप से है।

भावार्थ—किसी का कहना है कि भगवान के वचन इच्छा पूर्वक ही होते है। इस पर जैनाचार्यों ने

१ (व्यतिरेकी दृष्टान्त)। २ करणपाटवस्य। ३ (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्यप्रकर्षापकर्षौ न हीत्यत्र हेतुमाह।) ४ तस्या दोषजातेः। ५ तस्या वाचः। ६ कुतः? अपि तु न कुतोपि। ७ आदि शब्देन समारोपव्यवच्छेदादिग्रहणम्। ८ वक्तव्यम्। ९ प्रागुपादिष्टम्। १ भगवति।

(1) वर्द्धमानसदभावे वाचः प्रमदभावो घटते। तस्या अमदभावे वाचः सदभावो घटत इति हेतुद्वयात्। वक्तुर्दोषजातिर्यतः कुतः अनुमीयेत न कुतोपि। दि प्र। (2) वाकप्रवृत्तिर्दोषजातिं नातिवर्तते वाक् प्रवृत्तित्वात् अस्मदादिवाकप्रवृत्तिवत्। (3) किञ्च विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता नान्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां समर्थयमान आह। सत्यपि चेति। दि प्र। (4) मु। ता।( )भावे इति पा।(6) गुणदोषौ विद्यते यस्या सा गुणदोषा मत्वर्थे आशीर्वादः।

स्पष्ट कह दिया है कि लोक व्यवहार मे भी सोते हुये मनुष्य के वचन और गोत्रस्खलन आदि के वचन बिना इच्छा के ही देखे जाते हैं। उसने कहा कि सोने के पहले जाग्रत अवस्था मे इच्छा थी तो आचार्य ने इसका भी निराकरण कर दिया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि आत्मा मे ज्ञान और इन्द्रियों की कुश लता ही वचन प्रवृत्ति मे हेतु है। तब फिर शकाकार का कहना है कि ज्ञान और इन्द्रियो की कुशलता के होने पर वचन नही भी देखे जाते हैं। यदि उसके बोलने की इच्छा नही है अत बोलने की इच्छा तो वचन प्रवत्ति मे सहकारी कारण है ही है।

पुनश्च आचार्य इस बात को स्वीकार नही करते हैं। उनका कहना है कि उल्लू बिल्ली आदि प्राणी अजनगुटिका सिद्ध करने वाले अजन चोर आदि बिना प्रकाश के पदार्थों को देख लेते है। हम ससार मे ज्ञान और इन्द्रियो की पटता के बिना बोलने की इच्छा मात्र से भी किसी मे वचन प्रवत्ति नही देखते हैं किसी को बोलने की सभा मे व्याख्यान करने की तो इच्छा बहुत है किन्तु न तो शास्त्रो का किंचित भी ज्ञान ही है और न ही आँखो से अक्षर शुद्ध पढना आता है न कान से स्पष्ट सुनना आता है और न ही स्पष्ट वाणी का उच्चारण ही कर सकता है। अत क्या वह बोलने की इच्छा मात्र से कुशल वक्ता कहलायेगा ? बालको को शब्द से या अर्थ से दोनो तरह से भी शास्त्र ज्ञान नही है अथवा गूगे मनुष्य बहरे या अन्ध मनुष्य पढने लिखने और बोलने मे असमर्थ हैं किन्तु व्याख्यान की इच्छा तो उनमे भी हो सकती है क्या वे कुशल वक्ता कहला सकते है ? इसलिये भाई ! प्रतिभाशक्ति रूप ज्ञान क्षयोपशमज्ञान या पूर्णज्ञान की विशेषता और इन्द्रिया की कुशलता ही वचन बोलन मे उपदेश देन मे हेतु है न कि बोलने की इच्छा मात्र।

कोई और बुद्धिमान निकले तो उन्होने कह दिया कि दोषो का समुदाय ही वचन प्रवत्ति मे हेतु है और आप के भगवान वक्ता हैं इसलिये निर्दोष सर्वज्ञ नही हो सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि भाई ! दोषो के साथ वचनो का अन्वय व्यतिरेक तो है नही। मत लब – दोषों की वद्धि मे वचनो की विशेषता पाई जावे और दोषो के अभाव मे वचनो का अभाव होवे ऐसा नियम तो है नही प्रत्युत इससे विपरीत ही देखा जाता है कि दोषो की मदता—तरतमता मे वचनो की विशेषता और दोषो की बहुलता मे वचनो की असभ्यता–अकुशलता ही व्यवहार मे दिखती है। अत ज्ञान के गुण और दोषो से ही वचनो मे सत्यता असत्यता पाई जाती है इसलिये निर्दोष—राग द्वेष मोह आदि अठारह दोषो से रहित सर्वज्ञ परमेष्ठी ही सच्चे हितोपदेशी हो सकते हैं। एव उनके वचनो मे इच्छा या दोष आदि कारण नही हैं प्रत्युत भव्यो का पुण्य विशेष और सर्वज्ञ के तीर्थकर नाम कर्म का उदय विशेष ही भगवान् की दिव्यध्वनि मे कारण माना गया है अन्यत्र ग्रथो मे भी इसी बात को पुष्ट किया है—

गभीरं मधुर मनोहरतर दोषरपेत हित। कठोष्ठादिवचो निमित्तरहित नो वातरोधोदगतम।
स्पष्ट तत्तदभीष्टवस्तुकथक नि शेषभाषात्मक। दूरासन्नसम सम निरुपम जैन वच पातु न।

॥समव पृ १३६॥

भगवान् के वचन गम्भीर मधुर मनोहरतर हैं दोषों से रहित और हितकर हैं कठ ओष्ठ तालु

[भगवतोऽनेकातमत प्रसिद्धन न बाध्यते]

[1]तत्प्रसिद्ध न न बाध्यते । **प्रमाणत सिद्ध प्रसिद्धम । तदेव कस्यचिद्बाधन[2] युक्तम । विशेषणमे[2]तत्परमतापेक्षम, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्यकान्तधर्मेण [3]बाधाऽकल्पनात[4]* ।** [4]न ह्यनेकान्तशासनस्य [3]प्रत्यक्षत [4]सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधक सवथा नित्यत्वादिधमवत[5] ।

आदि के निमित्त से रहित वायु के निरोध की प्रकटता से स्पष्ट उम उस अभीष्ट वस्तु को कथन करने **वाले** सम्पूण भाषा रूप दूर और निकट से एक सदृश सुनाई देने वाले ऐसे निरुपम जिनद्र भगवान के वचन **सदैव** हम सभी की रक्षा कर ।

तिलोय पण्णत्ति ग्रथ मे भी कहा है—

जोयणपमाण सठिदतिरियामरमणवणिवह पडिवोहो ।
मिदमधरगभीरतराविसदविसयसयल — भासाहि ॥६ ॥
अट्ठरस महाभासा खल्लयभासा वि सत्तसयसखा ।
अक्खर अनक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयनभासाओ ॥६१॥
एदासि भासाण तालुवदनोट्ठकण्ठ वावार ।
परहरिय एक्ककाल भव्वजणाणद कर भासो ॥६२॥

अर्थ—वे अर्हत भगवान मदु मधर अतिगम्भीर और विषय को विशद करने वाली भाषाओ से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा मे स्थित तियच देव और मनुष्या क समूह का प्रतिबोधित करन वाल **हैं** सज्ञी जीवो की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघ भाषाओ मे परिणत हुई **और** तालु दत ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार स रहित हो कर एक ही समय मे भव्यजनो **को** आनन्द करने वाली ऐसी दिव्यध्वनि—दिव्यभाषा के स्वामी है ।

ऐसी दिव्यध्वनि के खिरन मे तीथकर नामकम का उदय विशष ही प्रमुख कारण है क्योकि मोहनीय **कम के अभाव** मे तीथकरा के केवली अवस्था मे इच्छा का होना असभव है ।

[भगवान का अनेकातशासन प्रसिद्ध प्रमाण स बाधित नही होना है]

भगवान का इष्ट (शासन) प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही होना है ।

प्रमाण से जो सिद्ध है वह प्रसिद्ध कहलाता है वही किसी से बाधित होना युक्त है । यह प्रसिद्ध विशेषण परमत की अपेक्षा से है क्योकि अन्यमती जन प्रसिद्ध भी अनित्यत्व आदि एकान्त धम के द्वारा आपके मत मे बाधा नहीं दे सकते हैं ।*

---

१ प्रसिद्धमिति । २ तवेष्टस्य मतस्य । ३ पर । ४ बौद्ध प्रत्याह स्याद्वादी । ५ यथा सवथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा ।

---

(1) परप्रसिद्ध नानित्यत्वाद्यकातेन । (2) बाधक । (3) स्याद्वादी वदति । प्रत्यक्षेण प्रसिद्ध सर्वथा अनित्यस्वरूपएकात अनेकांतमतस्यबाधाकृन्नहि, यथा सर्वथा अनित्यरूप । सौगत आह । तर्हि अनुमानेन सिद्ध एकान्त अनेकातस्य बाधको भविष्यतीति चेत् । स्याद्वाद्याह एव न कस्मात् ?प्रमाण विना तकज्ञाननिष्पत्तरनीकरणात् । दि प्र (4) प्रसिद्धोऽस्य इतिवा ।

अनुमानात्सिद्धो बाधक इति चेन्नर्ते प्रमाणात्प्रतिबन्ध[1]सिद्धेरभ्युपगमात । न खलु परेषा प्रत्यक्षमग्निधूमयो क्षणभगसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्ति प्रति समर्थम, अविचारकत्वा त्सन्निहितविषयत्वाच्च[2]* । अस्मदादिप्रत्यक्ष हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपग न्तव्य[3] न योगिप्रत्यक्षम अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात योगिप्रत्यक्षेण देशत[4] [5]कात्स्न्यतो वा निश्शे षसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयो गायोगात[6] । तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारक १ १०पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वाद

अनेकांत शासन का बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नही है जसे सर्वथा नित्यत्व आदि धर्म अनेकात शासन मे बाधा नही दे सकते है।

सौगत—आप के अनेकातशासन मे अनुमान से बाधा सिद्ध है।

जैन—आप ऐसा नहीं कह सकते क्योकि प्रमाण के बिना अविनाभाव की सिद्धि स्वीकार नहीं की गई है अर्थात नाम के प्रमाण बिना व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है एव व्याप्ति की सिद्धि न होने पर अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि बौद्ध तर्क प्रमाण के बिना भी प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि माने तो उनके यहा अग्नि और धूम मे अथवा सर्व क्षणिक सत्त्वात इस क्षणभंग क्षणिकत्व साध्य और सद्भाव—सत्त्वरूप साधन मे साकल्य रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योकि वह विचारक–निश्चय कराने वाला नहीं है एव सन्निहित–निकटवर्ती विषय को ही ग्रहण करने वाला है।*

अत आप साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला हम लोगो का इंद्रिय प्रत्यक्ष ही स्वीकार कीजिए योगी प्रत्यक्ष नही अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा। योगी प्रत्यक्ष के द्वारा एक देश रूप से अथवा सकल रूप से अखिल साध्य साधन की व्यक्ति (विशेष) को साक्षात करने मे समारोप सशयादि का भी अभाव है। अत उन सशयादि का व्यवच्छेद करने के लिये भी अनुमान का उपयोग नही होगा।

हम लोगो का इंद्रिय प्रत्यक्ष सविकल्प होते हुये भी निर्विकल्प के समान विचारक-व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नही है क्योकि प्रत्यक्ष पूर्वापर परामर्श के विचार से शून्य है और अभिलाप (शब्द) के ससर्ग

१ तर्काख्यप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्ध (व्याप्तिसिद्ध) रनभ्युपगमाद्व्याप्तिसिद्ध्यभावेनुमानायोगात् । २ (तर्काख्य प्रमाणादृतेपि प्रत्यक्षणैव व्याप्तिसिद्धि स्यादित्युक्ते आह नेति)। ३ सौगतानाम। ४ क्षणिकत्वसत्त्वयो साध्यसाधनयो । ५ निर्विकल्पकत्वेन। ६ (ननु योगिप्रत्यक्ष न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्ध न स्याद्वादी प्राह)। ७ सशयादे ८ अस्मदादिप्रत्यक्षम। ९ व्याप्तिग्राहकम। १ (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति)। सर्वत्रधूम स्माज्जातमिद च सर्वज्ञानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति परामर्शशून्यत्वान्निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य।

(1) अविनाभाव। (2) बस (3) सौगत। (4) देशयोगिन। (5) सकलयोगिन। (6) योगी परप्रतिपादनार्थमनुमान करोति इति चेत् न विकल्पानुपपत्त। तथाहि असौ योगी गृहीतव्याप्तिक वा अगृहीतव्याप्तिक वा परं प्रतिपादयेत् ? न तावद् गृहीतव्याप्तिक तस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा व्याप्तिग्रहणायोगात नाप्यगृहीतव्याप्तिकमति प्रसंगात। दि प्र

भिलापसंसर्ग[1]रहितत्वात्[1]। सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात्। [3]तन्न साकल्येन [4]व्याप्तिग्रहणसमर्थम्[2]। **न चानुमानं[5]मनवस्थानुषङ्गात्***। व्याप्तिग्राहिणोऽनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात्। एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? [5]स्याद्वादिना तु, **परोक्षान्तर्भाविना [6]नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत***। तस्य विचारकत्वात्।

[जैनमते तर्कज्ञानं प्रमाणं तत्त्व व्यवसायात्मकमेव]

प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो [7]मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति

से रहित है तथा वह प्रत्यक्ष सन्निहित विषयों को ही ग्रहण करने वाला है किंतु देश काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (परोक्ष) पदार्थों को विषय नहीं करता है इसलिये निर्विकल्प अथवा सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। **न अनुमान ही व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ है अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा***।

व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अनुमान भी व्याप्ति ग्रहणपूर्वक ही होता है तब वह पूर्व की व्याप्ति भी अनुमानान्तर की अपेक्षा रखेगी अतः कहीं पर भी अवस्थान नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से एकांतवादियों के यहां अप्रसिद्ध व्याप्ति वाला अनुमान भी अनित्यत्व आदि एकांत धर्म का साधक कैसे होगा कि जिससे प्रमाण सिद्ध सर्वथा एकांत धर्म अनेकाँतशासन को बाधित कर सके अर्थात् नहीं कर सकता है किंतु इस कथन से यदि आप कहें कि जैनी भी किस प्रमाण से व्याप्ति को ग्रहण करते हैं तो **हम स्याद्वादियों के यहां परोक्ष के अन्तर्गत एक तर्क नाम का प्रमाण है उससे व्याप्ति रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बन जाती है*** क्योंकि वह तर्क ही विचारक—व्याप्ति का निश्चय कराने वाला है।

[जैनमत में तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है]

प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी कारण हैं (अर्थात् जहां-जहां धूम है वहां वहां अग्नि है जैसे

१ निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य (शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम्)। विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापसंसर्गरहितं च बलादापद्यतेऽस्येति वक्ष्यते। २ अविचारकं संनिहितविषयं च यत:। ३ निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा। ४ साकल्येन व्याप्तिग्राहकम्। ५ तर्हि स्याद्वादिना कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह। ६ अस्माकम्। ७ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्क:। ८ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा मठः। यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः। इत्युक्तप्रकारौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणौ यस्य तस्य। ९ मतिज्ञानविशेष एव परोक्षतर्कज्ञानं तदावरणम्।

(1) निर्विकल्पादुत्पन्नत्वात् सविकल्पज्ञानस्य। परमतेऽभिलापसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहि। (2) सर्वमनुमानं व्याप्तिग्राहकं साध्यसाधकत्वान्यथानुपपत्तेरित्युक्ते वक्ति।

[1]शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकं वा[१]त्कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्ति[2]विषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्[3] [4]प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वाभावादनुमानोहान्तरानपेक्षत्वादनवस्थानन [5]षङ्गात्[४], [6]संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च [५]प्रमाणत्वात्[६]। **तदप्रमाणत्वे न [7]लैङ्गिकं प्रमाणमिति [8]शेष, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्** *। तर्कत [9]सबन्धस्याधिगमे[10] समारोप विरोधात्[11]। न [12]हि [13]निर्विकल्पकोधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि[१] स्यात। किं तर्हि ?

मठ। जहाँ-जहा अग्नि नही है वहाँ—वहा धम भी नही है जसे तालाब। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलभ जिसमे सहकारी हैं तात्पय यह है कि धम तो प्रत्यक्ष है और अग्नि अनुपलभ – परोक्ष है उन दोनो के सम्बध को ग्रहण करने वाला व्याप्ति ज्ञान है) ऐसा मतिज्ञान का विशेष (भेद) रूप परोक्ष तक ज्ञान है। उस तक ज्ञान के आवरण एव वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही तक ज्ञान उत्पन होता है और वह तक जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से ही उत्पन हुआ ह अथवा अग्नि के अतिरिक्त अय किसी से उत्पन्न नही हुआ ह इस प्रकार से श द याजना सहित परामर्शात्मक एव कालत्रयवर्ती साध्य-साधन व्यक्ति—विशेष को विषय करने वाला हाने से ही व्याप्ति को ग्रहण करने के प्रति समथ है। तथा जसे आपका प्रत्यक्ष व्याप्ति पूवक नही होता ह वसे तक ज्ञान प्रत्यक्ष के समान व्याप्ति के ग्रहण पूवक नहीं होता ह। भिन्न अनुमान एव तक की अपेक्षा भी नही करता ह अत उसमे अनवस्था का प्रसग भी नही आता ह प्रत्युत वह तक ज्ञान सवादक एव समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण रूप ही ह।

यदि इस तक ज्ञान को प्रमाण न मान तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समारोप का व्यवच्छदकपना दोनों मे समान है*। तक से अविनाभाव सम्बध को स्वीकार करने मे समारोप का विरोध है।

१—२—३—४—५ तर्कस्य। ६ प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम। ७ तर्कानुमानयो। तर्कादिव निर्विकल्पकाद पिनिर्णये जाते समारोपो विहन्यतामित्युक्ते आह। ८ (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम)।

(1) शब्दयोजनारहित इति पा। (2) व्याप्तिं प्रति समर्थमित्यत्रतत साध्ये हेत्वतर। (3) समथत्व कुत यावता तर्कोऽपि स्वविषये व्याप्तिग्रहणमपेक्षते तच्च न प्रत्यक्षात् अनुमानादित्यादि दोषो भविष्यतीत्याशका। (4) अन्वय दृष्टान्त। व्याप्त्यनपेक्ष प्रत्यक्ष स्वविषये यथा। व्यावर प्रतौ अस्य समथनाथ विचारकत्वात कालत्रयवर्ति साध्यसाधन व्यक्ति विषयत्वाच्चेति हेतुद्वयमुपात्त। एतेन प्रत्यक्षवत्तर्को ऽविचारकत्वात सनिहितविषयत्वाच्च व्याप्तिग्रहण प्रति न समथमिति वदन् प्रत्याख्यात प्रत्यक्षस्यादिशब्दयोजनारहित परामर्शकत्वादिति पयत साधनवाक्य देहलीदीपन्यायेन तद हेतुद्वयसमथनं परं प्रतिपत्तव्य। व्याप्तिं प्रति समथनत्वात परोक्षांतर्भाविना नस्तकण सम्बन्धो व्यवतिष्ठतेति सम्बध दि प्र। (5) तर्कस्यविकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वान्न प्रमाणत्वमिति शका। (6) प्रमाणातराविरोधलक्षणेन। (7) अनुमान। (8) समारोपव्यवच्छेदकत्वाल्लैगिक प्रमाणमित्यत आह। (9) अविनाभावस्य। (10) तर्कस्य फले निर्णये। (11) अधिगमो निर्विकल्प स्यादित्याह। (12) अधिगमो हि द्वेधा सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र सविकल्पकाधिगमे सति भवतु समारोपविरोधः स्यादिति सौगतशका निराकुर्वत प्राहुर्नहि इति दि प्र। (13) अथवा अधिगमे समारोपविरोध इति कुत कथ्यते निर्विकल्पकाधिगमे समारोपविरोधाभावादित्याशकायामाह। दि प्र।

अधिगमोपि 'व्यवसायात्मव, तदनुत्पत्तौसतोपि दशनस्य[1] 'साध ना तरापेक्षया[2] सन्नि धानाऽभेदात[3] सुषुप्तचत यवत[४] * । सन्निधान हीन्द्रियाथसन्निकष । तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत तथागत[3] साधनान्तरापेक्षित्वात[4] तस्याथपरिच्छित्तौ ।

[बौद्धाभिमत निर्विकल्पदशनमप्रमाणमेव सन्निकषवत्]

'तत एव दशनस्याप्रमाणत्व सुषुप्तचत यवत [6]स्वय सशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वा त । तद्व्यवच्छेदिनो[5] निश्चयस्य[७] [6]जननात्प्रमाण दशनमिति चेत तत एव सन्निकष

यहा कोई कहता है कि तक क समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी निणय हो जाने पर समाराप नही रहेगा । इस पर जैनाचाय कहते हैं कि **निर्विकल्पकज्ञान तो कोई सिद्ध ही नही होता कि जिससे समारोप भी हो सके अर्थात समारोप विरोध की बात तो दूर ही रहने दीजिये किन्तु उस निर्विकल्प मे समारोप ही नहीं हो सकता है । पुन प्रश्न होता है कि वह निर्विकल्पज्ञान क्या चीज है ? क्योकि वह व्याप्तिज्ञान भी व्यवसायात्मक ही है । (अर्थात यहा व्याप्ति के ज्ञान को अधिगम कहा है वह भी सविकल्पात्मक ही है) उस सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विद्यमान होता हुआ भी दशन साधनातर (सविकल्प ज्ञान) की अपेक्षा रखने से सन्निधान सन्निकष मे अभेद रूप है सुषप्त चतन्य के समान*** ।

भावाथ—निर्विकल्प दशन विद्यमान होते हुये भी स्वय समाराप का व्यवच्छेदक नही है अतएव साधनातर सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा है । उसी प्रकार से सन्निकष भी स्वय समारोप का व्यवच्छेदक नही है किन्तु साधनातर की अपेक्षा करता है इसलिये सन्निकष स निर्विकल्प म कोई विशेषता नही है । जसे सुषप्त पुरुष के चतन्य के स्वय प्रमाणता नही है किन्तु साधना की अपेक्षा देखी जाती है ।

सौगत—इन्द्रियो स पदाथ का सम्बन्ध रूप सन्निकष ही सन्निधान कहलाता है । वह सन्निकष स्वय अप्रमाण है क्योकि पदार्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) मे भिन्न कारणो की अपेक्षा रखता है ।

[बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दशन भी प्रामाणिक नही है जसे कि सन्निकष प्रमाण नही है]

१ व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र । सोपि सविकल्पात्मव । २ सविकल्पकज्ञानमेवात्रसाधनान्तरम । ३ सतोपि दशनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्व स्वय यत साधनान्तर सविकल्पकमपेक्षत । तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदक स्वय किन्तु साधनान्तरमपेक्षते । इति सन्निकर्षान्न विशेष । ४ यथा सुषुप्त चतन्यस्य न स्वय प्रामाण्य साधनान्तरापेक्षित्वात् । ५ (जन) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वात्तेव हे सौगत । ६ दशनस्य । ७ सविकल्पकज्ञानस्य ।

(1) निर्विकल्पकस्य । (2) ज्ञान । साधनांतरापेक्षया सन्निधानाभेदात् य सन्निधानापेक्ष तत अधिगमानुत्पत्ति कृदभवति यथा सुषुप्तचतन्य । साधनांतरापेक्ष चेद तस्मादधिगमानुत्पत्तिकृत । दि प । (3) अत्राह स्याद्वादी । तर्केत सम्बन्धस्य निश्चये जाते सति समारोपो विहन्यते अत्राह पर निर्विकल्पकादपि समारोपो विहन्यते । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । निर्विकल्पकं दशन निश्चयात्मक न हि तत्राधिगमे यत कुत समारोप स्यान्न कुतोऽपि पर आह । तर्हि भवन्मतेऽधिगम किमिति प्रश्ने आह निश्चायकस्वभाव एव । स्याद्वादी अनुमान रचयति । निर्विकल्पकदशन पक्ष अधिगमानुत्पत्तिकृद भवतीति साध्योधम जननादेव सन्निकर्षोऽपि सत्य भवतु दि प्र । (4) सौगत तदिंद्रियार्थसन्निकर्षलक्षणं सन्निधानं स्वय अप्रमाणं कथितवान । कस्मात ? साधनांतरमपेक्ष्य तस्य सन्निधानस्य अर्थनिश्चयघटनात । दि प्र । (5)मिदसमारोपमनसोविरोधइत्युक्तित ।(6) यत्रव जनयेदेना तत्रवास्य प्रमाणता । यत्रवनिर्विकल्पबुद्धि । एना—सविकल्पबुद्धिइत्यथ ।

प्रमाणमस्तु। तस्यासाधक[1]तमत्वान्न प्रमाणत्वमिति चेत्कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतन त्वादघटादिवदिति चेद्दर्शनस्याप्यसाधकतमत्व [2]चेतनत्वात्सुषुप्तचतन्यवर्तिक न स्यात ? यस्य भावेथ परिच्छि नो व्यवह्रियतेऽभावे चाऽपरिच्छि नस्तद्दर्शन साधकतममिति चेत्स निकष साधकतमोस्तु भावाभावयो स्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात। न हि स निकषस्य भावे भाववत्त्वमभावे[1]ऽभाववत्त्वमथपरिच्छित्तरप्रतीतम्। [4]नाप्यथस्यान्यत् परिच्छिन्नत्व [5]तत्परि च्छित्त्युत्पत्त। परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत[6] परिच्छि नाथ उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ [2]सत्या

जन—इसी हेतु से ही दशन भी अप्रमाणीक नही है सुषुप्त चत य के समान क्याकि दर्शन (निर्वि कल्प प्रत्यक्ष) स्वय सशय विपयय एव अनध्यवसाय का व्यवच्छेदक नही है।

बौद्ध—सशयादि क व्यवच्छेदी निश्चय विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होने से वह दशन प्रमाण है।

जन—इसी हेतु से सन्निकष भी प्रमाण हो जावे क्या बाधा है ?

बौद्ध—वह स निकष प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम नही होने से प्रमाण नही है।

जैन—वह स निकष साधकतम क्यो नही है ?

बौद्ध—वह सन्निकष अचेतन है घटादि के समान।

जन— तब तो आपका माना हुआ दशन भी साधकतम नही है क्योकि वह चेतन है सुषुप्त चेतन के समान। एसा भी आप क्या न मान लव ? अर्थात जो चेतन है वह साधकतम हो ऐसा कोई नियम नही है।

बौद्ध—जिसके होने पर पदाथ जान लिये गये हैं ऐसा व्यवहार होता है एव जिसके न हाने पर नही जाने गये है ऐसा व्यवहार होता है वह दशन साधकतम है।

जन—यदि ऐसा कहते हो तब तो स निकष भी साधकतम हो जावे क्योकि भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्व यह न्याय का वचन है अर्थात जिसके होने पर जो होवे और न होने पर न होवे वही साधक तम है। स निकष के भाव म अथ परिच्छित्ति का होना एव अभाव मे नही होना ऐसी प्रतीति नही हो यह बात नही ह।

बौद्ध—फिर भी पदाथ जाना गया है यह यवहार कसे होता ह।

१ प्रमिति प्रति। २ (जन आह) यच्चेतन तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति। ३ (सन्निकषस्य भावाभावयो सतोर थपरिच्छित्तर्भावाभाववत्तास्तीति सव साधकतम वम)। ४ तथापि कथमथ परिच्छि नो व्यवह्रियते इत्याशङ्कायामाह जैन। ५अथपरि छत्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदथपरिच्छिन्नत्व नास्तीत्यथ। ६ तत्परिच्छित्तेरन्यत् परिच्छित्तिरुत्पन्ना इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्काया। ७ (जन आह)।

(1) भावेचाभाव इति पा। (2) स निकषस्य भावेऽपि मध्ये निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामेव परिच्छित्तिरुत्पद्यते नान्यथा तत सन्निकषस्य भावे भाववत्त्वमित्यादि प्रागुक्तमयुक्तमिति ताथागताकूत।

मर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम् । अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति [1]तवाकूतं तदपि न समीचीनं [1]सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात् । कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत् तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा ? [2]चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽ[2]र्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते ? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोऽधिगमो न भवेत् ।

[सन्निकर्षवत् निर्विकल्पदर्शनमपि प्रमाणं नास्तीति प्रसाध्याधुना तर्कस्य प्रमाणतां साधयन्ति जैनाचार्याः]

स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति[3] प्रमाणं तर्कः स्वार्थाधिगमफलत्वात्

जैन—पदार्थ का जानना रूप ज्ञान उससे भिन्न नहीं है क्योंकि अर्थ परिच्छित्ति ज्ञान उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अन्य कोई अर्थ परिच्छित्ति नहीं है ।

बौद्ध—उस ज्ञान से भिन्न परिच्छित्ति उत्पन्न हुई इस प्रकार से अर्थ परिच्छित्ति है । अर्थात् पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ही है ।

जैन—वह जाना हुआ ज्ञान ही अर्थ कहा जाता है ।

बौद्ध—निर्विकल्प दर्शन के होने पर अर्थ परिच्छित्ति होती जो कि निश्चयात्मक पदार्थ के ज्ञान रूप व्यवहार में हेतु है क्योंकि निर्विकल्प दर्शन के नहीं होने पर नहीं होता है अतः वह परिच्छित्ति साधकतम हैं ।

जैन—यह भी कथन समीचीन नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष से ही उस परिच्छित्ति की उत्पत्ति में विरोध नहीं है ।

बौद्ध—अचेतन सन्निकर्ष से पदार्थ के ज्ञान रूप चेतन की उत्पत्ति विरुद्ध कैसे नहीं है ?

जैन—तब तो आप के यहां भी अचेतन इन्द्रियादि से निर्विकल्प दर्शन रूप चेतन की उत्पत्ति अविरुद्ध कैसे होगी ?

बौद्ध—इन्द्रियादि सहकारी कारण जिसके साथ है ऐसे चेतन रूप मनो व्यापार से दर्शन की उत्पत्ति होती है ।

जैन—तब तो जिसमें सन्निकर्ष सहकारी है ऐसे चेतन आत्मा से पदार्थ के निश्चय की भी उत्पत्ति होने में क्या विरोध है ? जिससे कि अधिगम (ज्ञान) स्वार्थ व्यवसायात्मक न होवे अर्थात् ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक ही होता है ।

[सन्निकर्ष के समान निर्विकल्पदर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब जैनाचार्य तर्क की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

और संपूर्णतया वह साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान तर्क से ही होता है इसलिए तर्क ज्ञान प्रमाण

---

१ बौद्धस्य । २ मनोव्यापारात् ।

(1) मध्यवर्तिनिर्विकल्पकदर्शनंविना ।(2) का । (3) सम्बन्धे इति पा । विषये । तर्कादेव-उत्पद्यते इति-तथा च ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत ।

[एकांतवादिनां मतेऽनुमानमपि न सिद्धयति अतस्तेऽनेकांतमते बाधामुद्भावयितुं नार्हंति]

तत [1]स्याद्वादिना व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमान न पुनरेकान्तवादिना[१] [2]यतोनुमान सिद्ध न सर्वथैकान्तेनानेका तस्य बाधाकल्पना स्यात । इत्यप्रमाणसिद्धनापि[3] बाधा कल्प नीयव पर [4]अन्यथा स्वमतनियमाघटनात । तथा सति सूक्त परमतापेक्ष विशेषण प्रसि द्ध न न बाध्यते इति । एतेन[5] यदुक्त भट्ट न ।

नर [6]कोप्यस्ति [7]सवज्ञ स तु सवज्ञ [२]इत्यपि । [३]साधन[8] यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्[9] ॥१॥

है क्योकि वह स्वाथ अधिगम रूप अपने और पर पदार्थ को जानने रूप फल को उत्पन्न करता है, समारोप सशयादि का व्यवच्छेदक है तथा सवादक रूप है अनुमानादि की तरह ।

[एकातवादियो के मत मे अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नही होता है अत वे अनेकात में बाधा की कल्पना भी नही कर सकते हैं]

इसलिये स्याद्वादियो के यहा व्याप्ति की सिद्धि हो जाने से अनुमान प्रमाण व्यवस्थित है न कि एका तवादियो के यहा । अर्थात् तक से सिद्ध व्याप्ति के अभाव मे एकांतवादियो के यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध नही होता है जिससे कि अनुमान से सिद्ध सर्वथा एकांत मत के द्वारा अनेकात शासन मे बाधा कल्पित की जा सके । अर्थात सवथा एकातवाद अनुमान से सिद्ध नही है किन्तु आपको इस प्रकार से अप्रमाण सिद्ध के द्वारा भी अनेकात शासन मे बाधा की कल्पना करना ही चाहिए अन्यथा स्वमत का नियम नहीं घटेगा। अत बहुत ठीक ही कहा है कि प्रसिद्धन न बाध्यते यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है ।

श्लोकाथ—भाट्ट—कोई भी मनुष्य सवज्ञ है और वह सर्वज्ञ आप ही हैं इत्यादि के साध्य करने मे जो सुनिश्चितासभवदबाधकत्वात साधन प्रयोग है वह प्रतिज्ञामात्र है अर्थात् वह कथन मात्र ही है ॥१॥

प्रतिज्ञामात्र क्यो है सो सुनिए—सिद्ध करने की इच्छा से जो अहत आदि पदाथ हैं वे इस प्रतिज्ञा मात्र से नही कहे जा सकते हैं और जो इस अनिर्द्धारित प्रतिज्ञा (पक्ष) के द्वारा कहे जाते हैं उनकी सिद्धि

---

१ तर्कसिद्धाया व्याप्तेरभावे एकान्तवादिनामनुमान प्रमाण । २ नर पक्ष सवज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यथ । ३ सुनिश्चितासंभवदबाधकप्रमाणत्वादिति ।

---

(1) ततस्तकबलात् स्याद्वादिनां व्याप्ति सिद्धयति व्याप्ते सकाशादनुमानमस्ति । तर्कात् सिद्धाया व्याप्तेरभावे एकात वादिनामनुमानप्रमाणं नास्ति । दि प्र । (2) यद्यपि सौगतयौगादीना तर्काभावेनुमान मूलत एव नास्ति तथापि सर्वथैकांतमनुमान सिद्ध सवथकांत वदति । तावशेन अनुमानसिद्धन सवथकांतेन कृत्वानेकातस्य कुतो बाधा अपि तु न कुतोऽपि । दि प्र । (3) अत्राह कश्चित् इति कथितप्रकारेण अप्रमाणसिद्ध नाप्यनुमानादिप्रमाणेन कृत्वा परैरेकांत वादिभि अनेकांतमतस्य बाधा कल्पनीयव अन्यथा स्वमतनिश्चयो न घटते । स्वय प्रमाणसिद्धो नास्ति तथापि बाधा कल्प्यते स्वमतनियमार्थं । दि प्र । (4) बाधाऽकल्पना । (5) स त्वमेवासि इत्यादिसाधनपरेण अयेन (6) सर्वज्ञो पुमान् भवति । (7) पुमान् सर्वज्ञो भवति । (8) पक्षद्वयवचनं । (9) कुत ।

[१]सिसाधयिषितो[२] योर्थ॰ सोनया [1]नाभिधीयते[३] । [४]यस्तूच्यते[2] न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥२॥
[3]यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३॥
यावद्बुद्धो न[4] सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता[५] कुत ॥४॥
[5]अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे [6]वचसोन्यस्य सत्यता । [६]सामानाधिकरण्ये हि [७]तयोरङ्गाङ्गिता[८] भवेत् ॥५॥

इति तन्निरस्त[7] भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन [8]सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात । ततस्त्वमेव महान मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्य॰ कपिलादि । यस्मात्—

में कुछ प्रयोजन नही है ॥२॥

जिसके आगम की सत्यता सिद्ध है उसके ही सर्वज्ञता है इस प्रकार सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मात्र से वह सर्वज्ञता सिद्ध नही होती है ॥३॥

जब तक बुद्ध सर्वज्ञ नही है तब तक उसके वचन असत्य है । जिस किसी अन्य मे सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य बौद्धादि के आगम की सत्यता कैसे हो सकती है ? ॥४॥

अन्य कोई ही सर्वज्ञ होवे और अन्य के वचन मे सत्यता होवे ऐसा नही हो सकता है क्योकि जो सर्वज्ञ है वही आगम का प्रणेता है ऐसा समानाधिकरण होने पर ही सर्वज्ञ और उसके वचनो मे कार्यकारण भाव बन सकता है अन्यथा नही ॥५॥

जैन— प्रसिद्धन न बाध्यते ऊपर इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने से आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए ।

अत युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से और सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण रूप से भगवान् अर्हंत मे ही सर्वज्ञता और वीतरागता सिद्ध हो जाती है इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान हैं अन्य कपिलादि नही हैं । क्योकि—

इसका संदर्भ आगे आने वाली सातवी कारिका से है अर्थात आपके मत से बाह्य सर्वथा एकांत वादी जन जो कि अपने को आप्त मान रहे हैं उनके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित हैं ।

---

१ प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह । २ अर्हदादि । ३ भवद्भिर्जैन । ४ अनिर्द्धारित प्रतिज्ञया । ५ (बौद्धादिभि॰ प्रवर्तमानागमसत्यता) । ६ य सर्वज्ञ स एवागमस्य प्रणतेति । ७ सर्वज्ञतद्वचनयो । ८ कार्यकारणता ।

---

(1) यत । पुरुषसामान्यस्य सर्वज्ञत्वमनया प्रतिज्ञया साध्यते ततश्च प्रतिज्ञामात्रत्वं कथमित्याशंकायामाह । (2) प्रतिज्ञाया अनिर्द्धारित॰ पुरुष सर्वज्ञ । (3) अर्हदागम । (4) यावद्बुद्धो हि सर्वज्ञो न तावद् इति पा । दि प्र । (5) अर्हति । (6) बौद्धस्य । (7) इतिकारिकापञ्चकेन यदुक्तं भट्टेन तन्निराकृतं । दि प्र । 8 अविरोधवाक्त्वस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्तस्यामेव प्रकृताया कारिकायां सद्भावोवगंतव्य । दि॰ प्र॰ ।

नवनीत

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यवर्य अपनी श्रद्धा और गुणज्ञतालक्षण गुणो से सहित होकर देवागम स्तोत्र के द्वारा भगवान की स्तुति करना चाहते है। इस स्तोत्र मे प्रारंभिक कारिकाओ के द्वारा ऐसा ध्वनित हो रहा है कि मानो श्री आचार्यवर्य भगवान् से वार्तालाप ही कर रहे हैं—

सर्वप्रथम आचार्य कहते है कि हे भगवन्! आपके जन्मोत्सव आदि मे देवो का आगमन आदि अतुल्य वैभव पाया जाता है। इस पुण्य वैभव को देखकर हम आपको वद्य नही समझते हैं क्योकि ये वैभव मायावी जनो मे संभव हैं। तब भगवान ने अंतरंग बहिरंग महोदय आदि वैभव से अपनी विशेषता बतलानी चाही तब भी (द्वितीय कारिका मे) आचार्यवर्य ने कहा कि ये अंतरंग बहिरंग वैभव देवो मे पाये जा सकते हैं अत इस हेतु से भी आप वद्य नही। तब भगवान ने अपने तीर्थकरपने को बतलाना चाहा तब भी आचार्य श्री ने (तृतीय कारिका मे) यह कहा कि सभी सम्प्रदायो मे उनके प्रवर्तक अपने को तीर्थंकर मान रहे हैं और सभी तो आप्त हो नहीं सकते क्योकि उनमे परस्पर मे विरोध है।

पुन यह प्रश्न होता है कि आप विश्व मे किसी को भी भगवान–आप्त मानने को तैयार नही हैं क्या? तब स्वामी जी स्वयं (तृतीय कारिका के अंतिम चरण मे) यह ध्वनित कर देते हैं कि इन सभी सप्रदायो मे कोई न कोई आप्त अवश्य है। वह आप्त कौन हो सकता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यवर्य ने झट यह उत्तर नही दिया कि वे सच्चे आप्त हमारे अर्हत ही हैं प्रत्युत (चतुर्थ कारिका मे) यह बताया कि किसी न किसी जीव मे दोष और आवरण का सम्पूर्णतया विनाश हो सकता है।

इतना कहने पर भी यह प्रश्न हो गया कि दोष और आवरण के नष्ट हो जाने पर कोई आत्मा कर्म कलंक रहित अकलंक बन जायगा फिर भी तो वह सर्वज्ञ नही होगा पुन आपको मान्य कैसे होगा? तब आचार्य श्री ने (पांचवी कारिका मे) अनुमान वाक्य से स्पष्ट किया कि सूक्ष्म अंतरित और दूरवर्ती पदार्थों को जानने वाला कोई आत्मा अवश्य है। और जो सभी कुछ जान लेता है वही तो सर्वज्ञ है।

इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वे सर्वज्ञ कौन हैं? अथवा मानो भगवान ही प्रश्न करते हैं कि मुझमे ही दोष और आवरण नही हैं तथा मैं ही सर्वज्ञ हू इस बात को आप कैसे सिद्ध करेंगे? तब आचार्य महोदय कहते हैं कि स त्वमेवासि वे दोष आवरण रहित सर्वज्ञ आप ही हैं क्योकि

आपके वचन युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित हैं आपका शासन (मत) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से बाधित नही होता है।

इस प्रकार से आचार्यवर्य ने चतुर्थ कारिका मे अर्हंत के वीतराग विशेषण को स्पष्ट करके पांचवी कारिका से उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध किया है। पुन छठी कारिका से उन्हे ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले घोषित कर परम हितोपदेशी सिद्ध किया है।

सच्चे आप्त में वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन विशेषण होने ही चाहिए अन्यथा वह आप्त नही हो सकता है। ऐसा अन्य ग्रन्थो मे स्वय आचार्य श्री ने कहा है और यहा चौथी पाचवी एव छठी कारिका के क्रम से भी यही सूचित हो रहा है कि पहले कोई जीव दोष आवरण के अभाव से वीतराग होता है और सर्वज्ञ होन के बाद ही हितोपदेशी हो सकता है।

इस प्रकार छठी कारिका मे आचार्य श्री अन्वय मुख से अर्हत को सच्चे आप्त सिद्ध कर चुके है। आगे सप्तम कारिका मे व्यतिरेक मुख से अन्य कपिलादि को सच्चे आप्त होन का निषेध करगे।

अत इस छठी कारिका से सातवी कारिका का सबध समझ कर इस प्रथम खड का द्वितीय खड से संबध स्थापित कर लेना चाहिए।

अष्टसहस्री भाषानुवाद का प्रथम खण्ड

समाप्त

प
रि
शि
ष्ट

षट्कारिकांतर्गताष्टशती

देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमा[1]प्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतव स्वय श्रद्धागुण ज्ञतालक्षण प्रयोजनमाक्षिप्त लक्ष्यते। तद यतरापायेथस्यानुपपत्त । शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवो प यासात्* [पष्ठ ५]

देवागमनभोयानचामरादिविभूतय ।

मायाविष्वपि दश्यते, नातस्त्वमसि नो महान ॥१॥

[पष्ठ ८]

आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिक परमेष्ठिन परमात्मचिन्ह प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावादित्यागमाश्रयोय स्तव [2]* [पष्ठ ८]

अध्यात्म बहिरप्येषविग्रहादिमहोदय ।

दि य सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स ॥२॥

[पष्ठ ११]

बहिरन्त शरीरादिमहोदयोपि पूरणादिष्वसभवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। ततोपि न भवान परमात्मेति स्तूयते*। [पष्ठ १२]

तीर्थकत्समयानां च परस्परविरोधत ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरु ॥३॥

[पृष्ठ १४]

न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति शक्रादिष्वसभवि सुगतादौ दशनात*। [पष्ठ १५]

न च सर्वे सर्वदर्शिन परस्परविरुद्धसमयाभिधायिन*। [पृष्ठ १५]

---

(१) मुद्रिताष्टशती 'परमात्म इति पाठ हस्तलि प्र० प्र० दि० प्र० परमात्म इत्ययमेवपाठोऽस्ति। (२) 'अय स्तव इति पाठ क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति।

ततोऽनैकान्तिको हेतु *। [पृष्ठ १६]

[1]अतएव न कश्चित्पुरुष सर्वज्ञ *। [पृष्ठ १६]

अतएव न कश्चित्सर्वज्ञ इत्ययुक्त श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्त । [पष्ठ १६६]

तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकवेष्टि *। [पष्ठ १७६]

न खलु प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषय अतिप्रसगात । [पृष्ठ १८]

नानुमानम असिद्ध *।। [पष्ठ १ २]

यदि प्रमाणत सिद्ध नानात्मसिद्ध नाम् ।* [पष्ठ १८४]

अन्यथा परस्यापि न सिद्ध्यत* । [पष्ठ १८५]

तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन सर्व सर्वज्ञरहित पुरुषसमूह सविदन्त एवात्मान निस्स्यन्तीति व्याहृतमेतत* । [पष्ठ १८५]

तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टि *। [पष्ठ १८]

तीर्थच्छेदसप्रदायाना तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति परस्परविरुद्धाभिधानात एकानेकप्रमाणवादिना [3]स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति* । [प ठ २२६]

स्वप्रमाव्यावृत्तरन्यथानैकान्तिकत्वात ।* [पृष्ठ २३८]

सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा सप्रतिपत्त ।* [पष्ठ २४ २४१]

वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिक क्वचिदनाविलज्ञान निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत* । [पष्ठ २४१]

इत्थ सिद्ध सुनिश्चिता सम्भवदबाधकप्रमाणत्वम । तेन क परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोग सस्काराणामावरणनिबधनानामत्यये भवभृता प्रभु *। [पष्ठ २४३]

न हि सर्वज्ञस्य निराकृते प्राक् सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणत्व सिद्ध येन पर प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासभवात्पर प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबधनमस्ति तत्प्रकृतेपि सिद्ध । यदि तत्सत्ता न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शन नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत [पृष्ठ २५६ ८७]

साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात* । पृष्ठ २६७]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात* । [पष्ठ २६६]

चेतनस्य सत सम्बन्ध्यन्तर मोहोदयकारणक मदिरादिवत* । [पृष्ठ २७१]

तदभावे साकल्येन विरतव्यामोह सर्व[5]मतीतानागतवर्तमान पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्ष

(१) अतएव न कश्चित् पुरुष सर्वज्ञ इति पाठ क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति । (२) 'तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टि' इति पाठ क्वचिदपि लिपौ अष्टशतीरूपेण नास्ति । (३) 'स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति' इति पाठ मु० अ० श प्र नास्ति । (४) सुनिर्णीतासभवद् इति पाठांतर ह लि अ श प्र (५) 'अतीतानागतवर्तमान' इति पाठो ह लि मु अ श प्र नास्ति ।

योरकिञ्चित्करत्वात्*। [पृष्ठ २७१]

अतएवाज्ञानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा*। [पृष्ठ २७५]

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ॥४॥

[पृष्ठ २८२]

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोष स्वपरपरिणामहेतु*। [पृष्ठ २८३]

अतएव [1]लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्त सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभिधान साध्यापरिज्ञानात्*। [पृष्ठ २८६ ६]

दोषावरणयोर्हानि[2]रतिशायनान्निश्शेषताया साध्याया बुद्धरपि किन्न परिक्षय स्याद्विशेषाभावादतोनकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षित । चतनादिगुणव्यावृत्त सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात*।

[पृष्ठ २६ ६१]

अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्त परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्त सस्कर्तृणा पातकित्व प्रसङ्गाद बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्*। [पृष्ठ २१२]

व्यापारव्याहाराक रविशेष यावत्तिसमयवशात्तादृश लोको विवेचयति*। [पृष्ठ २६२]

व्यापारव्याहाराकारचिशेषव्यावृत्तारति समयवशात्तत्सिद्धातविल्लोको विवेचयति*।

[पृष्ठ २६३]

यदि पुनरय निबध सवत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धस्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्या व्याप्तेरसिद्धन कश्चिद्धतु । तत शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत् अनुमानोच्छेदप्रसगात*।

पृष्ठ२६४ ६५

[3]यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्ति यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मन । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकल कलकमिति कथमलकसिद्धिन भवेत ?*

[पृष्ठ २६६]

मणेमलादेर्व्यावृत्ति क्षय सतोत्यन्तविनाशानुपपत्त । तादगात्मनोपि [4]कमणो निवत्तौ परिशुद्धि*। [पृष्ठ २६८]

[5]तेन मणे कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् ।* [पृष्ठ ३]

कर्मणोपि वकल्यमात्मकवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते*। [पृष्ठ ३ १]

---

(१) लोष्टादौ' इति पा मु प्र । (२) हानिरति' इति पा मु ब श प्र । (३) तथाहि' इति पाठोधिक हृ लि मु. ब श प्र । (४) कर्मणां इति पा, हृ लि ब श । (५) 'तेन मणे कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्य इति पाठ' हृ लि मु ब श प्र नास्ति ।

प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको मल परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्* । [पृष्ठ ३०३]

ननु निरस्तोपद्रव सन्नात्मा कथमकलङ्कोपि विप्रकर्षिणमर्थ प्रत्यक्षीकुर्यात्* । [पृष्ठ ३१४]

सूक्ष्मांतरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

[पृष्ठ ३१७]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति यावान कश्चिदभाव स सर्व क्षणिक इत्यादि व्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहारायोगादविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात । सत्त्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छता सिद्धमनुमेयत्वमनवयवनेति न किञ्चिद व्याहत पश्याम * । [पष्ठ ३१९ २]

तेऽनुमेया न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्यु कि व्याहन्यते ? इति समानमग्न्यादीनाम* ।

[पष्ठ ३२६]

तथा चानुमानोच्छेद स्यात* ॥ [पष्ठ ३२६]

तदभ्युपगमे स्वमवद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्ष कि न क्षयेत प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न किञ्चि देतत्तया नत तया वा अयमभ्युग तुमर्हति । [पष्ठ ३२६]

तदेव प्रमेयत्वस त्वादियत्र हेतुलक्षण पुष्णाति त कथ चेतन प्रतिषेद्धमर्हति संशयित वा* ।

[पष्ठ ३२]

धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिक वा कथ सकलविदि सत्त्व सिद्धिरितिब्रुवन्नपि दधाना प्रियस्तद्धर्मिस्वभाव न लक्षयति* । [पष्ठ ३३]

शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं विकल्प कि न स्यादिति* । [पष्ठ ३३]

विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिणमन्वे कार्यत्वादरसभवदबाधकत्वादरपि सदिग्धसदभाव धर्मिधर्मत्व सिद्ध बाद्धयम ।* [प ठ १]

यदि विप्रकृष्टाथप्रत्यक्षत्वमर्हत साध्यते पक्षदोषो प्रसिद्धविशेषणत्वम । तत एव व्याप्तिन सिद्धयेत । अनर्हतश्चेदनिष्टानुषगोपि । क पुन सामान्यमा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम ? इत्येतद्विकल्पजालं शब्दनित्यत्वेपि समान न केवल सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा । तदयमनुमानमुद्रा भिनत्ति* । [प ४२]

वर्णाना नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगताना यदि साधयति स्यादप्रसिद्धविशेषण पक्ष इतरथा निष्टानुषग । कीदृक पुन सामान्य नाम यदुभयदोष प्रसगपरिहाराय [४]कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि समानम्* । [पष्ठ ३४४]

(१) नतत्तया इति पा ह लि अ श प्र नास्ति । (२) साध्येत इति पा मु अ श प्र । (३) प्रसग इति पा मु अ श प्र नास्ति । (४) प्रकल्प्येत इति पा मु अ श प्र ।

अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरण सम समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पोघै [1]* [पृष्ठ ३४५]

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

[पृष्ठ ३४७]

विप्रकृष्यपि भिन्नलक्षणसबधि वादिना कस्यचित्प्रत्यक्ष सोत्र भवानहन्नेव* । [पृष्ठ ३७६]

अन्येषा न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्* । [पृष्ठ ७६]

विचित्राभिसबधतया [2] व्यापारव्याहारादिसाकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कमथक्याद्विशेषष्टि ? ज्ञानवतोपि विसवादात् क्व पुनराश्वास लभेमहि ?* [पृष्ठ ८३]

न चव वादिन किञ्चिदनुमान नाम निरभिसन्धानामपि बहुल न्यायस्वभावानियमोपलम्भात सति काष्ठादिसामग्राविशेष क्वचिदुपलब्धस्य तदभाव [3] प्रायसानुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेपि सभवात । यज्जातीया यत सप्रेक्षितस्त जातीयात्तादग्निति दुलभनियमताया धूमधमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभाव कथमिव निर्णीयेत ? वक्ष शिशपात्वादिति लताचतादेरपि क्वचिदेव दशनात प्रेक्षावता किमिव निशङ्क चेत स्यात ? तदेतददृष्टसशयका तवादिना विदग्धमकटनामिव स्वलाङ्गूलभक्षण ।* [पृष्ठ ४६७]

यत्नत परीक्षित न्याय कारण नातिवतते इति चेत स्तुत [4] * । [पृष्ठ ४८]

ततोय प्रतिपत्तु [5] रपराधो नानुमानस्यत्यनुकलमाचरति* । [पृष्ठ ४८]

[6] तदेव तत सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वमहत्येव सकलज्ञत्व साधयति नान्यत्रत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति* । [पृष्ठ ४९]

तत्रेष्ट मत शासनमुपचयते निराकृतवाचोपि क्वचिदविप्रतिषेधात* । [पृष्ठ ५१]

नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्याद्यावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिन स्यात* । [पृष्ठ ४११]

प्रतिसविदिताकारेच्छा तदा सभवन्ती पुन स्मर्येत वाञ्छान्तरवत* । [पृष्ठ ४११]

ततश्चतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वम* । [पृष्ठ ४१८]

सहकारिकारणान्तर न व नियतमपेक्षणीय नक्तञ्चरादे सस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निध रूपोपलम्भात् । न चव सवित्करणपाटवयोरप्यभावे विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवत्ति प्रसज्यते सवित्करणवैकल्ये यथाविवक्ष वाग्वृत्तेरभावात* । [पृष्ठ ४१५]

---

(१) 'विकल्पोपाध' इति पा मु अ श प्र (२) विचित्राभिसधितया विचत्राभिसबधितया इति पा ह लि अ श प्र । (३) प्रायशो' इति पा मु अ श प्र । (४) प्रस्तुत इति अष्टशती सर्वत्रास्ति । (५) प्रतिपत्तेरप इति पा मु अ श प्र । (६) तदेतत् इति पा ह लि अ श प्र । (७) एव पाठो नास्ति मु अ श प्र । (८) व्यभावविवक्षा इति पा मु अ श प्र ।

न च दोषजातिस्तद्धतुर्यतस्ता [1]वाणी नातिवर्तेत [2]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावादबुद्ध्यादिवत्* । [पृष्ठ ४१५]

प्रमाणत सिद्ध प्रसिद्ध । तदेव कस्यचिद्बाधन युक्तम् । विशेषणमेतत्परमतापेक्षम् [3]अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्यनेकान्तधर्मेण बाधाऽकल्पनात्* । [पृष्ठ ४१८]

[4]चन्नर्ते प्रमाणात्प्रतिबधसिद्धरभ्युपगमात । न खल परेषा प्रत्यक्षमग्निधमयो क्षणभङ्ग सदभावयोर्वा साकल्येन व्याप्ति प्रति समथम् अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च* । [पृष्ठ ४१६]

न चानुमानमनवस्थानुषङ्गात* । [पष्ठ ४२]

परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्ब धो व्यवतिष्ठत* । [पष्ठ ४२]

तदप्रमाणत्वे न लङ्गिक [6]प्रमाणमिति शेष समारोपव्यवच्छेदाविशेषात* । [पृष्ठ ४२१]

अधिगमोपि व्यवसायात्मव तदनुत्पत्तौ सतोपि दशनस्य साधनान्तरापेक्षया स निधानाभेदात् सुषुप्तचतन्यवत* । [पष्ठ ४२२]

(१) वाणीं इति पा मु ह अ श प्र । (२) तत्प्रकर्षाप्रकर्षा इति पा मु अ श प्र । (३) प्रसिद्धेना' इति पा मु, अ श प्र । (४) चेत् नास्ति मु अ श प्र । (५) 'न च परेषां इति पा मु अ श प्र । (६) प्रमाणमिति शेष इति पा अष्टशतीरूपेण मु प्र नास्ति । (७) तदनुपपत्तौ इति पा मु अ श प्र ।

उद्धतश्लोका पृष्ठ

त

द

ध

न

प

ब

भ

म

य

व

श

स

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

आप्त—जो अज्ञानादि दोष ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ और युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन बोलने वाले हितोपदेशी हैं।

अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से नही होना जैसे अग्नि रूप साध्य के अभाव मे धूम रूप साधन का न होना।

तथोपपत्ति—उस प्रकार होना जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना।

व्यभिचार दोष—जो हेतु पक्ष सपक्ष मे रहते हुये विपक्ष मे चला जावे जो व्यभिचारी या अनैकांतिक कहलाता है। जैसे आकाश नित्य है क्योकि प्रमेय है यहा प्रमेयत्व हेतु नित्य आकाश मे रहते हुये अनित्य घट मे भी चला जाता है क्योकि घट भी प्रमेय है।

अध्यात्म—आत्मा का आश्रय लेकर होना।

नियोग— नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन मैं इस वेद वाक्य से नियुक्त हुआ हू इस प्रकार के वेद वाक्य के अर्थ को नियोग कहते है।

प्रमाण सप्लव—बहुत से प्रमाणो का एक अर्थ मे प्रवृत होना।

विधिवाद—जगत का एक परब्रह्म रूप ही मानना या सब जगत को एक सत रूप ही मानना इसे ब्रह्मवाद ब्रह्माद्वैत सत्ताद्वैत भी कहते हैं।

अविद्या—अद्वैतवादियो द्वारा कल्पित भेद रूप गलत धारणा को अविद्या कहते हैं।

वासना—पूर्व पूर्व के संस्कार से एक रूप वस्तु को अनेक भेद रूप मानना या एक क्षण मे नष्ट होने वाली क्षणिक वस्तु को कालातर स्थायी मानना। इसे अद्वैतवादी और बौद्ध दोनो ही मानते हैं।

संवृत्ति—कल्पना मात्र। सर्वथा असत्य।

चार्वाक—पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयो से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाला जड़वादी।

बौद्ध— सर्वथा प्रत्येक वस्तु को एक क्षण मात्र स्थिति वाली मानने वाले क्षणिकवादी।

सांख्य—प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वो को मानने वाले सर्वथा प्रत्येक वस्तु को नित्य कूटस्थ अपरिणामी मानने वाले, आत्मा को अकर्ता नित्य शुद्ध कहने वाले नित्यैकांतवादी।

मीमांसक—वेद को अपौरुषेय मानने वाले सर्वज्ञ को न मानने वाले ।

वैशेषिक—द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ मानने वाले समवाय सबंध से वस्तु के अस्तित्व को कहने वाले । ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी ।

नैयायिक—प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानने वाले ईश्वर कर्तृत्व वादी ।

वेदांती—ब्रह्माद्वैतवादी सत्ताद्वैतवादी या विधिवादी सब पर्यायवाची नाम हैं ।

अद्वैत—सर्वथा संपूर्ण चराचर जगत् को एक रूप मानने वाले । इनमे पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत शब्दाद्वैत विज्ञानाद्वैत चित्राद्वैत और शून्याद्वैत ।

तत्त्वोपप्लववादी—तत्वो को कहकर उनका अभाव करने वाले कल्पना मात्र ही तत्त्व को मानने वाले ।

शून्यवादी—संपूर्ण जगत को असत्य या कल्पना रूप कहने वाला बौद्ध का माध्यमिक नामक एक भेद ।

जैन—द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तु को नित्य अनादि निधन एवं पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु को उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सत् रूप मानने वाले स्याद्वादी कर्म शत्रु विजेता ऐसे जिन भगवान के उपासक ।

अन्यापोह—अन्य का अभाव करके कथन करना । बौद्ध शब्दो का अर्थ अन्यापोह करते हैं । जैसे गौ इस शब्द को सुनने पर यह अश्व नही है हाथी नही है इत्यादि अर्थ करना अन्यापोह है ।

प्रतिपत्ति—ज्ञान

संप्रतिपत्ति—विसंवाद रहित जानना ।

विप्रतिपत्ति—विसंवाद का होना ।

सामान्य—अन्वय रूप धर्म या सत् रूप धर्म । जैसे सभी वस्तुयें अस्ति रूप हैं या सभी गायो मे गायपना है यही सामान्य धर्म है ।

विशेष—व्यावृत्ति रूप धर्म जैसे यह गाय काली है यह सफेद है इन धर्मों को विशेष कहते है ।

प्रत्यासत्ति—निकटता का होना ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्ति—जो दिखने उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति —

उपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति का न होना जैसे कमरे मे घट उपलब्ध होने योग्य है उसका न होना । इसे दृश्यानुपलब्धि भी कहते है ।

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य नही है उसकी प्राप्ति का न

होना जैसे कमरे में पिशाच या परमाणु उपलब्ध होने योग्य नहीं हैं इनका न होना। इसे अनुपलब्ध्यानुपलब्धि भी कहते हैं।

प्रतिभास—झलक। पर ब्रह्म तत्त्व। ज्ञान।

अर्थांतर—भिन्न।

अनर्थांतर—अभिन्न।

समवाय—अयुत सिद्ध पदार्थों मे इसमें यह है इस ज्ञान को समवाय कहते हैं। यह नयायिक वैशेषिक की मान्यता है। जैनाचाय इसे ही तादात्म्य नाम देते हैं।

सयोग—युत सिद्ध मे इसमे यह है इसका नाम सयोग है। नयायिक वशेषिक इसे एक गुण मानते हैं। किंत जेनाचाय इसे पृथक गुण नही मानते है।

अभिधान—कहना।

अभिधय—वाच्य। कहे जाने योग्यपदाथ।

अपौरुषयत्व—जो अनादि निधन है नित्य है जिनका कहने वाला रचने वाला कोई नही है इसी लिये जो प्रमाण हैं। ऐसा वेदाता और मीमासक आदि मानते हैं।

प्रत्यक्षकप्रमाणवादी—चार्वाक प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानता है अनुमान आदि को अप्रमाण कहता है।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष— इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा स रहित आवरण कम के अभाव से आत्मा से उत्पन्न होने वाला पूण ज्ञान।

अनवस्था जिसका कही पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यह एक दोष है।

लिंग—जिसके द्वारा साध्य का भान होता है इसे हेत भी कहते है।

अतिप्रसगदोष—अघटित या अनिश्चित बात का होना अतिप्रसग है।

अन्योन्याश्रय दोष—परस्पर मे एक के होने से दूसरे का न होना मतलब एक के बिना दूसरे के न होने से दोनो का ही न होना।

याज्ञिक—क्रियाकाडवादी यज्ञ को अधिक महत्व देने वाले मीमासक।

सुनिश्चितासभवद्बाधक प्रमाण—सम्यक प्रकार से निश्चित है बाधक नही होना जिस प्रमाण मे अर्थात जिस प्रमाण मे बाधा नही होना सम्यक प्रकार से निश्चित है।

निवृत—मन को धारण करने वाले ससारी प्राणी।

सर्वाप्तवादी—सभी को आप्त मानने वाले सभी को आप्त कहने वाले वैनयिक मिथ्यादृष्टि।

दोष—अज्ञानादि भावकर्म ।

आवरण—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकम ।

व्यावृत्ति—पृथक करना ।

निवृत्ति—अभाव

विवेक—ज्ञान । भेद करना ।

विप्रकर्षी—दूरवर्ती पदाथ ।

व्याप्ति—इसके हाने पर ही उसका होना जसे अग्नि के होने पर ही धम का होना ।

व्यवच्छद—दर करना हटाना । निराकरण करना ।

परिच्छद—जानना ।

परमप्रकष—उत्कृष्ट अवस्था चरम अवस्था ।

लक्ष्य—जिसका लक्षण किया जाव ।

लक्षण—मिल हुये अनेक धर्मो म से पृथक करने वाल किसी एक धम को लक्षण कहते हैं जसे जीव का लक्षण उपयोग है ।

अविवक्षित—जिसको कहने की इच्छा नही है जो विद्यमान होते हुये भी अप्रधान है ।
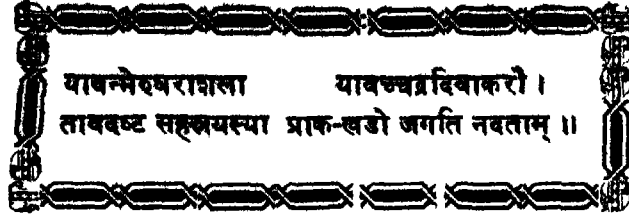
अष्टसहस्री

प्रथम भाग

सम्पूर्ण

***

यावन्मेरुधराशैला यावच्चन्द्र दिवाकरौ । तावदष्ट सहस्रया प्राक् वक्षो जगति भवताम् ॥

प्रशस्ति

¹सद्ध सन्मतिदेवस्य धमचक्रकशासनम । सर्वार्थसिद्धिकर्तार शासन जिनशासनम् ॥ १ ॥
वर्षे चतु शते सप्तत्युत्तरे वीरनिवृ ते । कुन्दकुन्दगणी जातो गौतमानुप्रसिद्धिभाक ॥ २ ॥
तस्य पूतान्वये ख्याते तपोज्ञानपरायणा । बहव ख्यातनामान सम्भूव महर्षय ॥ ३ ॥
क्रमशस्तत्र सञ्जात प्रशान्त सागरोपम । शान्तिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायक ॥ ४ ॥
येन दगम्बरी दीक्षा विधिर्लोके प्रवर्तित । चिरादासोन्निरुद्धोऽसो कालकालप्रभावत ॥ ५ ॥
तत्प्रतिष्ठापद लेभे सूरि श्री वीरसागर । निग्रहानुग्रहे दक्षो व्यवहार विदावर ॥ ६ ॥
तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महौजसा । तत्प्रतिष्ठासम सूरिर्नास्ति सूर इवाम्बर ॥ ७ ॥
महाभागस्य तस्यव गुरो पादयुगान्तिके । आर्यिकाया प्रव्रज्या मे सञ्जाता भवहारिणी ॥ ८ ॥
नाम्ना ज्ञानवती चाह कृतानेनव सूरिणा । तत्प्रसादा मया ल धमात्मज्ञान भवा तकम् ॥ ९ ॥
लब्धमासीदत पूव ब्रह्मचय व्रत मया । देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम ॥ १ ॥
सवत्र विहरन भूमौ वीरवत वीरसागर । आयुरन्ते समाधिस्थ दिव यातो महामुनि ॥ ११ ॥
शिवसागर आचायस्ततस्तत्पट्टमाश्रित । ससारदुखतप्ताना शिव साक्षात् प्रदशयन ॥ १२ ॥
वर्षाणा द्वादश यावत विहार कृतवानसौ । पुन समाधि सप्राप्य स्वगलोक समाश्रित ॥ १३ ॥
तत सघानुसम्मत्या धमवार्द्धिारवापर । धमसागर आचायस्तस्य पट्ट प्रतिष्ठित ॥ १४ ॥
यस्यानशासन पूत श्रावकम निभिस्तथा । मूर्ध्नि सधायते नित्य जिनाज्ञव सुदष्टिभि ॥ १५ ॥
यस्य पार्श्वे मयाधीत श्रत सम्यक जिनोदितम । स महावीरकीर्तिर्मे भूयात मङ्गलदायक ॥ १६ ॥
सवशास्त्रेष निष्णात नकभाषाविशारद । स एवासीत प्रभ सूरि मन्त्रविद्याविचक्षण ॥ १७ ॥
मरुप्रदेशके ग्रामोऽस्ति टोडारायसिहक । तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मदिर जिनसन्निधौ ॥ १८ ॥
रसविष्णदिशा युग्मे वीराब्दे विश्रते शुभ । पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्या शुक्रवासर ॥ १९ ॥
विख्याताष्टसहस्र्या वै गीर्वाण्या राष्ट्रभाषया । गुरुभक्त्यानुवादोय मया सम्यगपूयत ॥ २ ॥
स्थेयादष्टसहस्रीय राष्ट्रभाषा विभूषिता । विदुषा रञ्जन कुर्याद्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ २१ ॥

इति शुभ भूयात्

— —

न्यायसार

विषय दर्पण

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ	पंक्ति
जायेगा	जायेगा	१	२५
तस्यस्व	तस्यव	३	११
अवधिमन पययास्तु	अवधिमन पययययास्तु	१४	७
कतपय	कतिपय	१४	९
निश्चित	अनि चत	२	१८
करा ज्ञान	ज्ञानकरा	२४	१८
धम	धम	२६	१०
वह	वह वह	२६	१३
सयाग	सयोग	२६	२३
निश्चना	निश्चता	२७	६
प्रत्यज्ञ	प्रत्यक्ष	२७	२१
शकट	शकट	३४	६
असत्प्रतिक्षत्व	असत्प्रतिपक्षत्व	३४	१६
का पिड	की पिड	३९	११
कारण	करण	४	१
पराक्ष	पराक्ष	४३	२०
अव्यपपदेश्य	अ-यपदेश्य	४४	२२
आगम मे पाच	आगम ये पाच	४७	१३
पूर्व अन्वय	पूव अन्वय—	४७	२६
अरुप्य	अरप्य	४९	२
हृत्वाभासो	हृत्वाभासो	४९	२०
हतु	हतु	४९	२२
य	ये	४९	२६
के वल	केवल	५०	७

शब्द शाश्वत वेदोत्थ	शाब्द शाश्वत वेदोत्थ	५०	१८
वहीं	वही	५	१२
प्रत्येक	प्रत्यक्ष	५	१४
क्योंकि हैं	हैं क्योकि	५४	७
की	को	५४	६
जीवस्यानानन्धनत	जीवस्यानाद्यनत	५४	१७
जाघट्यते	जाघटघये	५४	१८
निलानिला	निलानला	५५	१
तव चतुष्टय	तत्त्व चतुष्टय	५६	१५
बातों	बात	५९	१
उसे	उन्हे	५९	१
प्रकृति	प्रकृतिरूप	६	१
रुप	रूप	६	१२
रुप	रूप	६१	११
चेतना	चेतन	६	२
प्रामण	प्रमाण	६	२६
तत्त्व	सत्त्व	६१	२
व्यक्त अव्यक्त ।	व्यक्त । अ यक्त	६१	८
आश्रित	आश्रित	६१	९
रुप	रूप	६१	१०
रुप	रूप	६१	११
मानता	मानना	६१	२८
तच्चतर्विध	तच्चतुर्विध	६४	५
नत्रों	नेत्रो	६४	१८
तक	तक	६४	२२
बोधाय	बोधाय	६६	२९
प्रमाण वार्तिक	प्रमाण वार्तिक है	७२	२७
आये	जावे	७४	११
समाहृये	समाह्वये	७६	३
नार्थोपशदेशना	नार्थोपदेशना	७६	६
सृष्टि क	सष्टि को	७७	१८

बर्बीम	बनार्वे	७७	१६
तबो	तब	७७	१६
तयोर्भोक्ति	तयोर्भोक्त	७८	११
श्रति	श्रुत	७६	२६
सवज्ञ	सर्वज्ञ	८०	२६
व्यप्नोति	व्याप्नोति	८३	१
स	से	८३	२
निगम	निर्णय	८४	८
ब्रह्मा	ब्रह्म	८७	४
भी पाच स्कधो से	पाच स्कधों मे भी	८७	८
वन	बन	८७	२१
है	हैं	८७	२६
इसी	इन्हीं	८७	२६
वट	बट	८६	१४
मन पर्यन्न	मन·पर्यय	६०	१
कुश्रत	कुश्रति	६०	२
ससारी है ।	ससारी है	६	११
एवोऽणगात्मा	एषोऽणरात्मा	८६	१६
णिगाद	णिगोद	६३	१५
णिच्चग्घाद	णि चग्घाड	६३	१६
गलत है	गलत है	६५	१६
तक	तक कि	६७	१८
एक	एक	६७	२१
पर्याय हैं	पर्याय हैं	६७	२२
पूर्वोपर्जित	पूर्वोपार्जित	६८	२
त्पत्तरभावात	त्पत्तेरभावात	६६	१३
नवात्मगुणात्यतोच्छेदो	नवात्मगुणानामत्यतोच्छेदो	१००	१२
निर्जराभ्य	निर्जराभ्याम	१०१	१६
थथामिहा	थयमिहा	१०२	१२
वदन्त्येवं	वदन्त्येव	१०२	२६

उपादन	उपादान	१३	२४
होता हैं	होता है	१४	२
ध्वसी है	ध्वसी हैं	१४	७
मूध्व	मूध्व	१४	१०
ज्ञाननामु	ज्ञानानामु	१८	२८
पैंज	पृ	१८	६
अपना	अपनी	११	२६
ज्ञलुम	ज्ञलम	१११	७
पविञ मे	मे पवित्र	११६	११
अस्तित्त	अस्तित्व	११६	२४
नित्य है	नित्य हैं	११८	२५
अनित्य है	अनित्य हे	११६	२५
सदा कर	सदाकर	१२	८
कुशलानी है	कुशलान	१	१
निभय	निभय	१२	१४

ॐ

श्री अकलंकदेवाय नम

न्यायसार

मंगलाचरण

सिद्धान् सर्वान् नमस्कृत्य न्यायशास्त्रानुसारत ।
न्यायशास्त्रप्रवेशाय न्यायसार प्रवक्ष्यहं ।।

जैन सिद्धांत में न्याय शास्त्र कसौटी के पत्थर सदृस हैं जिनके द्वारा सत्य असत्य की परीक्षा की जाती है। कसौटी के पत्थर पर कसा हुआ सुवण शुद्ध कहलाता है उसी प्रकार इन न्याय शास्त्रो में सच्चे आप्त सत्य प्रमाण एव सत्य पदार्थों को तक की कसौटी पर कसकर शुद्ध माना जाता है। श्री समत भद्र स्वामी ने आप्तमीमासा स्तोत्र मे आप्त को तर्क की कसौटी पर कस कर उन्हें सत्य मानकर नमस्कार किया है। अनेकों बडे-बड ग्रन्थों मे स्वामी श्री सिद्धसेन दिवाकर स्वामी भट्टाकलक देव आ० माणिक्यनदि एव अष्टसहस्री के कर्ता आचाय श्री विद्यानन्द आदि महान् महान् आचार्यों ने विशद रीति से आप्त आप्ताभास प्रमाण प्रमाणाभास आदि का वणन किया है। अष्टसहस्री प्रमेयकमल मार्तंड श्लोकवार्तिक न्यायकुमुदचन्द्रोदय सिद्धिविनिश्चय न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थो को सरलता से समझने के लिए श्री माणिक्यनदि आचाय का परीक्षामुख श्री धमभूषणयति विरचित न्यायदीपिका आदि लघु पुस्तक भी विद्यमान हैं। फिर भी आजकल प्राय न्याय ग्रन्थ पढ़ने की रुचि नही रही है। जबकि अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थों में बहुत से प्रकरण स्याद्वाद प्रक्रिया से बहुत ही रुचिकर और सरल हैं। अत इन विशेष ग्रन्थों मे सरलता से प्रवेश कराने के लिये ही आचार्यों के ग्रन्थो के आधार से अतिसक्षेप में प्रमाण अनुमान आगम आदि के लक्षण को समझने के लिए ही यह न्यायसार ग्रथ लिखा गया है। इसमे पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित प्रमाण आदि के लक्षण का संकलन किया जायेगा और अन्य मतावलम्बियों के क्या-क्या सिद्धांत हैं उनका भी संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायेगा एव आत्मा सवज्ञ प्रमाण और तत्वो के विषय में किन किन की क्या-क्या मान्यतायें है ? उनमें क्या क्या दूषण आते हैं ? न्याय की कसौटी से कसी गई शुद्ध वास्तविक व्यवस्था क्या है ? इस पर विचार किया जायेगा।

सर्व प्रथम इसमें ग्रंथ का उद्देश्य लक्षणनिर्देश और परीक्षा का लक्षण बतलाते हुए प्रमाण समीक्षा की जावेगी, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण, भेद प्रभेद, विषय और फल बतलाते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण आदि में दोष दिखलाते हुए प्रमाण की समीक्षा की

जावेगी। अनन्तर दूसरे अधिकार में प्रमेय की समीक्षा करते हुए अन्य मतावलम्बियो द्वारा मान्य सिद्धांत, तत्त्व, आत्मा ज्ञान संसार मोक्ष और इन दोनो के कारणो पर विचार करते हुए निर्दोष सर्वज्ञ कथित मान्यता को स्पष्ट किया जाएगा। इस ग्रंथ मे चार्वाक बौद्ध सांख्य नयायिक वैशेषिक मीमांसक वेदान्ती और वैयाकरण के मत की अधिक रूप से समीक्षा की जावेगी। अंत मे स्याद्वाद शली से वस्तु व्यवस्था को समझने का उल्लेख होगा क्योंकि स्याद्वाद शासन ही सावभौम शासन है।

जैन सिद्धांत मे जीव पुदगल धम अधम आकाश और काल ये छह द्र य माने हैं एव जीव अजीव आस्रव, बंध सवर निजरा और मोक्ष ये सात तत्त्व होते हैं। इन सबको जानने का उपाय प्रमाणनयैर धिगम इस महाशास्त्र तत्त्वाथ सूत्र के छठ सूत्र से कहा गया है। क्योंकि प्रमाण और नयो के द्वारा ही जीवादि तत्त्वो का यथाथज्ञान होता है। किसी का भी वणन करने के लिए तीन बातो की प्रमुख आव श्यकता रहती है। उद्दश लक्षणनिर्देश और परीक्षा।

उद्देश—**विवक्षव्यनाममात्रकथनमुद्देश** । [यायदीपिका पृ ५]

कहने योग्य वस्तु के केवल नाम मात्र कथन को उद्दश कहते हैं।

लक्षण निर्देश—**व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुलक्षण** । [न्या पृ ६]

मिली हुई अनेक वस्तुओ मे से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

श्री अकलक देव ने भी ऐसा ही कहा है—

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्व लक्ष्यते तल्लक्षण [तत्त्व थवा २ ८]

परस्पर मिली हुई वस्तुओ मे किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—**विरुद्धनानायुक्ति प्राबल्यदौबल्यावधारणाय प्रवतमानो विचार परीक्षा। सा खल्वेव चेदेव स्यादेव चेदेवं न स्यादित्येव प्रवतते।** [न्या पृ ८]

विरोधी नाना युक्तियो की प्रबलता और दुबलता का निणय करने के लिए प्रवत्त हुये विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिये और यदि ऐसा हो तो ऐसा नही होना चाहिए' इस प्रकार से प्रवत्त होती है।

इन तीनो मे से अब यहाँ लक्षण के भेद कहते हैं

लक्षण के दो भेद है—आत्मभूत और अनात्मभूत।

आत्मभूत—**यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्ट तदात्मभूत यथाग्नेरौष्ण्य** । [न्या पृ ६]

जो वस्तु के स्वरूप मे मिला हुआ हो उसे आत्मभूत कहते हैं जैसे—अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि से पृथक कर देती है। इसलिये यह उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

अनात्मभूत—तद्विपरीतमनात्मभूत यथा दण्ड पुरुषस्य ।, [न्या०पृ ६]

जो वस्तु के स्वरूप मे मिला हुआ न हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड । 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष का स्वरूप न होता हुआ भी पुरुष को भिन्न पदार्थों से पृथक कर देता है । इसलिये यह दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है ।

लक्षणाभास को बताते हैं ।

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं ।

उसके तीन भेद है—अव्याप्त अतिव्याप्त और असभवी ।

अव्याप्त—लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम् । यथा गो शाबलेयत्व । [न्या पृ ७]

जो लक्ष्य के एक देश मे रहता है उसे अव्याप्त दोष कहते हैं । जैसे गो का लक्षण शावलेयत्व । शावलेयत्व-चितकबरा धर्म सभी गायो मे नही पाया जाता है कुछ ही गायो मे रहता है अत अव्याप्त है ।

अतिव्याप्त—लक्ष्यालक्ष्यवृत्यतिव्याप्तं यथा तस्यस्व पशुत्व । [न्या पृ ७]

जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों मे रहता है उसे अतिव्याप्त कहते है जैसे गो का लक्षण पशु पना । यह पशुपना गाय के सिवाय अन्य अश्व आदि मे भी पाया है अत अतिव्याप्त है ।

असभवी—बाधितलक्ष्यवृत्त्यसभवि यथा नरस्य विषाणित्व । [न्या पृ ७]

जिसका लक्ष्य मे रहना असभव हो वह असम्भव है जसे मनुष्य का लक्षण सींग । सीग किसी भी मनुष्य मे नही पाया जाता है अत यह असम्भविलक्षणाभास है ।

लक्ष्य किसे कहते हैं

जिसका लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य कहलाता है । जसे जीव का लक्षण उपयोग है ऐसा कहने पर जीव तो लक्ष्य है और उसका लक्षण उपयोग है जोकि अव्याप्त अतिव्याप्त और असभवी दोषो से रहित है ।

प्रमाणनयरधिगम इस सूत्र से प्रमाण का उद्दश हो चुका है अब प्रमाण का लक्षण निर्देश करते हैं एव प्रमाण की परीक्षा यथा अवसर होवेगी ।

प्रमाण समीक्षा

प्रमाण का लक्षण

सम्यग्ज्ञान प्रमाणं । अत्र सम्यकपदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति । [न्या पृ ६]

सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यहा जो सम्यकपद है वह सशय विपयय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए है क्योकि ये तीनो ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

सशय—**विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशय यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति** । [न्या पृ ६]

विरुद्ध अनेक पक्षो के स्पश करने वाल ज्ञान को सशय कहते हैं जसे—यह ठ ठ है या पुरुष।

प्राय सध्या आदि के समय मद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनो मे सामान्य रूप से रहने वाले ऊचाई आदि साधारण धर्मा के देखने से और स्थाण का टेढापन आदि एव पुरुष के शिर पर आदि विशष धर्मों के स्पष्ट नही होने से नाना काटियो का अवगाहन करने वाला ज्ञान सशय कहलाता है।

विपरीत—**विपरीतककोटिनिश्चयो विपयय' यथा शक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानं** । [न्या पृ ६]

विपरीत एक पक्ष के निणय करने वाले ज्ञान को विपयय कहते है जसे सीप मे यह चांदी है इस प्रकार का ज्ञान होना। इस ज्ञान म सदशता आदि कारणो से सीप से विपरीत चादी का सीप मे निणय होता है अत यह विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय—**किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम** । [न्या पृ ६]

क्या है इस प्रकार के अनिश्चय रूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जसे—माग मे चलते हुये पथिक के पर म तृण कण्टक आदि के स्पश हो जाने पर ऐसा ज्ञान हाना कि यह क्या है। यह ज्ञान नाना पक्षो का अवगाहन न करने से सशय नहा है एव विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपरीत भी नही है। अत सशय विपयय से रहित हाने स यह तीसरा ही अनध्यवसाय नामक मिथ्या ज्ञान है। ये तीनो ज्ञान सम्यग्ज्ञान मे नही पाये जाते हैं।

श्री माणिक्यनदि आचाय प्रमाण का लक्षण करते हैं—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाण ॥१॥ [परीक्षामुख प्र प]

अपना और अपूव अथ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

इस प्रमाण के लक्षण मे जो ज्ञान पद है वह अज्ञान रूप सन्निकर्ष कारक साकल्य और इन्द्रिय प्रवत्ति की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए है।

जो 'व्यवसाय' पद है वह बौद्धाभिमत निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का खडन करने के लिए है।
'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैत ब्रह्माद्वैत तथा शून्यैकांतवाद को प्रमाण नही मानने के लिए है।
'अपूर्व' विशेषण गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण का निराकरण करने के लिए है।
एवं स्व विशेषण अस्वसंविदित ज्ञान की प्रमाणता के निषेध के लिए है।

ज्ञान ही प्रमाण क्यों है ?

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत ॥२॥ [प मु प्र प]

जो हित सुख की प्राप्ति और अहित दु ख को दूर करने मे समथ होता है वह प्रमाण है और वह ज्ञान ही हो सकता है अन्य नहीं।

प्रमाण क भेद और लक्षण

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षतर भेदात् ॥२॥ विशदं प्रत्यक्षं ॥३॥ [प मु द्वि प]

उस प्रमाण के दो भेद हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष।
विशद-स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।
प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं सान्यवहारिक और पारमार्थिक।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत साव्यवहारिकं ॥५॥ [प मु द्वि प]

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एक देश निमल ज्ञान को सान्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे मति ज्ञान भी कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतींद्रियमशेषतो मुख्य ॥११॥ [प मु द्वि प]

द्रव्य क्षत्र काल और भाव रूप सामग्री की पूणता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे इन्द्रियो की सहायता रहित और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योकि आवरण सहित और इन्द्रियजन्य ज्ञान मे ही बाधा सभव है अन्यत्र नही।

परोक्ष प्रमाण का लक्षण

परोक्षमितरत ॥१॥ [प मु तृ प]

प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सभी प्रमाण परोक्ष है अर्थात् अविशद ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण के भेद

परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष स्मृति आदि आगे-आगे कारण माने गये हैं। इसके पाच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पहले धारणा रूप प्रत्यक्ष हुये पदार्थ का ही स्मरण होता है इसलिए स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्ष

निमित्त है प्रत्यभिज्ञान मे स्मृति और प्रत्यक्ष की आवश्यकता पडती है। तर्क ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान तीनो की आवश्यकता होती है। अनुमान ज्ञान मे प्रत्यक्ष स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन चारो की आवश्यकता रहती है। आगम प्रमाण मे सकेत ग्रहण और उसका स्मरण ये दोनो ही कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पांचो ही प्रमाणो में दूसरे प्रमाणो की आवश्यकता होती है इसलिए उन्हें परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मति प्रमाण का लक्षण

संस्कारोवबोधनिबधना तवित्याकारा स्मति ॥३॥ स दवदत्तो यथा ॥४॥ [प मु तृ प]

सस्कार धारणारूप अनुभव की प्रगटता से होने वाले तथा तत् — वह इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे वह दवदत्त।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

दशनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञान। तवेवेद तत्सावश तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥५॥
[प मु त प]

वर्तमान का प्रत्यक्ष और पव दशन का स्मरण है जिसमे ऐसे जोड रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व सादश्य वलक्षण्य और प्रातियौगिक ये चार भेद है। यह वही है इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह उसके सदश है यह सादश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उससे विलक्षण हैं यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान हैं। यह उसका प्रतियोगी है। उन चारो मे क्रमश इस प्रकार प्रतिभास होता है।

प्रत्यभिज्ञान क उदाहरण

यथा स एवाय दवदत्त गोसदशो गवय गोविलक्षणो महिष इदमस्माद् रं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥
[प मु त प]

यह वही दवदत्त हैं यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह रोझ गौ के समान है यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह भस उस गौ से विलक्षण है यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह प्रदश उस प्रदेश से दूर है यह वही वक्ष है ये सब प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

तक प्रमाण का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमह ॥७॥ [प मु त प]

साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥८॥

यथाग्नावेव धूमस्तवभावे न भवत्येवेति च ॥९॥ [प मु त प]

यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के नहीं होने पर यह साधन नहीं होता है यही व्याप्ति है। जसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है।

अनुमान का लक्षण

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥१०॥ [प मु तृ प]

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

साधन का लक्षण

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु ॥११॥ [प मु तृ प]

जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होवे अर्थात जो साध्य के बिना नहीं हो सकता है उसे साधन–हेतु कहते हैं।

अविनाभाव का स्वरूप और भेद

जो जिसके बिना न होवे उसे उसका अविनाभावी कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव ॥१२॥ [प मु त प]

साध्य और साधन का एक साथ एक समय मे होने का नियम सहभाव नियम अविनाभाव कहलाता है। और काल के भेद से साध्य और साधन का क्रम से होने का नियम क्रमभाव नियम कहलाता है।

सहभाव का लक्षण व उदाहरण

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव ॥१३॥ [प मु त प]

सदा साथ रहने वालो मे तथा व्याप्य और व्यापक में जो अविनाभाव संबध होता है उसे सहभाव नियम नामक अविनाभाव सबध कहते हैं। रूप रस सदा एक साथ रहते हैं। वृक्षत्व व्यापक और शिंशपात्व व्याप्य है। जो तत अतत ऐसे दोनो जगह रहता है वह व्यापक है और जो अल्पदेश में रहता वह व्याप्य कहलाता है।

क्रमभाव का लक्षण

पूर्वोत्तरचारिणो कार्यकारणयोश्च क्रमभाव ॥१४॥ [प मु त प]

पूर्वचर और उत्तरचर मे तथा कार्य और कारण मे जो अविनाभाव सबध होता है उसे क्रमभाव नियम अविनाभाव सबध कहते हैं। कृत्तिका का उदय अन्तर्मुहूर्त पहले होता है और रोहिणी का उदय पीछे होता है। इसलिए इन दोनो में क्रमभाव माना गया है। इसी प्रकार अग्नि के बाद मे धूम होता है, इसलिए अग्नि और धूम में भी कार्यकारणरूप क्रमभाव माना जाता है

व्याप्ति ज्ञान का निर्णय कैसे होता है ?

तर्कात् तन्निर्णयः ॥१५॥ [प मु तृ प]

व्याप्ति–अविनाभाव का निर्णय तर्क प्रमाण से होता है। जैनाचार्यों के सिवाय अन्य किसी ने भी तर्क प्रमाण को नहीं माना है अत सबके द्वारा मान्य प्रमाण की सख्या असत्य ठहरती है।

साध्य का स्वरूप

इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यं ॥१६॥ [प मु तृ प]

जो वादी को इष्ट अभिप्रत है–प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अबाधित है और असिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहा असिद्ध विशेषण का प्रयोजन यह है कि कोई भी सिद्ध अथ को साध्य की कोटि मे नही रखेगा अतएव असिद्ध को ही साध्य की कोटि मे रखकर सिद्ध किया जाता है।

धम और धर्मी के समुदाय का कथन करना पक्ष कहलाता है। धर्मी को भी पक्ष कहते है।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२३॥ [प मु तृ प]

वह धर्मी पक्ष प्रसिद्ध ही होता है। अवस्तु स्वरूप या कल्पित नही होता है।

अनुमान क दो अग होते हैं

एतद्वयमेवानुमानाङ्ग नोदाहरणम ॥३३॥ [प मु तृ प]

पक्ष और हेतु य दो ही अनुमान के अवयव है उदाहरण नही है।

जनाचाय अनुमान के मुख्य रूप स दो ही अवयव मानते है। साख्य पक्ष हेतु और दष्टात मीमासक प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण व उपनय तथा नयायिक–प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ऐसे य लोग क्रम से ३ ४ या ५ अवयव मानते है। जिनका जनाचार्यो ने खण्डन किया है। बौद्ध एक हेतु को ही अनुमान का अवयव मानता है।

कदाचित जनाचाय भी पाच अवयव मान लेते हैं

बालव्युत्पत्त्यथ तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वाद नुपयोगात ॥४२॥ [प मु त प]

बाल बुद्धि वाले अ पज्ञ जनो को समझाने के लिए उदाहरण उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र मे ही है वाद काल मे नही। क्योकि वाद करने का अधिकार विद्वानो को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते है। इसलिए उनको उदाहरण आदि का प्रयोग उपयोगी नही होता।

उदाहरण क भेद

उदाहरण के दो भेद हैं।

दृष्टातो द्व धा अ वयव्यतिरेकभेदात ॥४३॥ [प मु त प]

दृष्टात के दो भेद हैं—अ वय और व्यतिरेक।

अ वय द टात का स्वरूप

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदश्यत सोऽन्वयदष्टांत ॥४४॥ [प मु तृ प]

जिसमें साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है उसे अन्वय दृष्टात कहते हैं। जैसे–जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि अवश्य होती है इस प्रकार साधन का सद्भाव दिखाकर साध्य का सद्भाव दिखाना अन्वय याप्ति है।

व्यतिरेक दृष्टान्त का स्वरूप

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्त ॥४५॥ [प मु त प]

जिसमे साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टात है। जसे-जहां जहां अग्नि नही हाती है वहा वहा धूम भी नही होता है इस प्रकार से साध्य के अभाव मे साधन का अभाव दिखाना व्यतिरेक व्याप्ति है।

उपनय का लक्षण

हेतोरुपसहार उपनय ॥४६॥ [प मु त प]

पक्ष मे साधन के दुहराने को उपनय कहते हैं।

निगमन का स्वरूप

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम ॥४७॥ [प मु त प]

प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते है। जसे धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है।

अनुमान क भेद

तदनुमान द्वधा ॥ ४८ ॥ **स्वार्थपरार्थभेदात** ॥४९॥ [प मु त प]

अनुमान क दो भेद हैं। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थमुक्त लक्षणं ॥५०॥ **परार्थ तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातं** ॥५१॥ **तद्वचनमपि तद्ध तु त्वात** ॥५२॥ [प मु त प]

साधनात साध्यविज्ञानमनुमान इस सूत्र से कहा गया अनुमान का लक्षण ही स्वार्थानुमान का लक्षग है।

स्वार्थानुमान के विषय भूत साध्य और साधन को कहने वाले वचनो से उत्पन्न हुए ज्ञान को परार्थानुमान कहते है। एव परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनो को भी परार्थानुमान कहते है।

हेतु क भेद

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात ॥५३॥ [प मु त प]

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५४॥ [प मु त प]

हेतु के दो भेद हैं उपलब्धि रूप हेतु और अनुपलब्धि रूप हेतु। उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध के साधक हैं एव अनुपलब्धि रूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनो के साधक है। अर्थात उपलब्धि के दो भेद हैं अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। ऐसे ही अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं-अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि।

अविरुद्धोपलब्धि क भेद

अविरुद्धोपलब्धि के विधि मे छह भेद है। अविरुद्धव्याप्योपलब्धि अविरुद्धकार्योपलब्धि अवि-रुद्धकारणोपलब्धि अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि अविरुद्धसहचरोपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि क भेद

विरुद्धोपलब्धि के प्रतिषध को सिद्ध करने मे छह भेद हैं। विरुद्धव्याप्यापलब्धि विरुद्धकार्यो पलब्धि विरुद्धकारणोपलब्धि विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और विरुद्धसहचरोपलब्धि।

अविरुद्धानुपलब्धि क भेद

अविरुद्धानुपलब्धि के प्रतिषध मे सात भेद है। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि अविरुद्धव्यापकानुप लब्धि अविरुद्धकार्यानुपलब्धि अविरुद्धकारणानुपलब्धि अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि अविरुद्धउत्तरचरा नुपलब्धि और अविरुद्धसहचरानुपलब्धि।

विरुद्धानुपलब्धि क भेद

विरुद्धानुपलब्धि के विधि मे तीन भेद हैं—विरुद्धकार्यानुपलब्धि विरुद्धकारणानुपलब्धि विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। यहाँ हेतु के ये बावीस भेद बताये हैं प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण परीक्षा मुख ग्रन्थ से देख लेना चाहिए।

इन बाईस हेतुओ मे से सबसे प्रथम अविरुद्ध व्याप्यापलब्धि का उदाहरण देते हैं—

परिणामी शब्द कृतकत्वात य एव स एवं दृष्टो यथा घट कृतकश्चायं तस्मात्परिणामीति यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा व ध्यास्तनधय कृतकश्चाय तस्मात्परिणामी ॥६१॥

[प मु त प]

अर्थ—शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया हुआ है। जो जो किया हुआ होता है वह वह परिणामी होता है जैसे घडा। घड के अनन्तर शब्द भी किया हुआ है अत वह भी परिणामी होता है। जो पदार्थ परिणामी नही होता वह पदार्थ किया भी नहीं जाता जैसे वन्ध्या स्त्री का पुत्र। उसी तरह यह शब्द कृतक होता है इसी कारण परिणामी होता है। यहा परिणामित्व साध्य से अविरुद्ध व्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है।

परिणामी शब्द यह प्रतिज्ञा है कृतकत्वात यह हेतु है। यथाघट यह अन्वय दृष्टांत है यथा वन्ध्यास्तनधय यह व्यतिरेक दृष्टांत है कृतकश्चाय यह उपनय है। तस्मात् परिणामीति यह निगमन है। इस प्रकार से यहा पहले बतलाये गये जो अनुमान के पाँच अवयव माने गये हैं वे पाचों अवयव दिखलाये गए है। यहा पर कृतकत्वात यह हेतु शब्द को परिणामी सिद्ध करता है वह हेतु परिणामीपने से व्याप्त है अत यह हेतु अविरुद्धव्याप्योपलब्धि" नाम से कहा जाता है। ऐसे ही सभी हेतुओ का लक्षण अन्यत्र ग्रन्थो से समझना चाहिए।

हेतु
उपलब्धि हेतु
अनुपलब्धि हेतु
विरुद्धोपलब्धि
अविरुद्धोपलब्धि
विरुद्धानुपलब्धि
अविरुद्धानुपलब्धि
विरुद्धव्याप्योपलब्धि
विरुद्धकार्योपलब्धि
विरुद्धकारणोपलब्धि
विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
विरुद्धसहचरोपलब्धि
विरुद्धकार्यानुपलब्धि
विरुद्धकारणानुपलब्धि
विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धव्याप्योपलब्धि
अविरुद्धकार्योपलब्धि
अविरुद्धकारणोपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
अविरुद्धसहचरोपलब्धि
अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि
अविरुद्धकार्यानुपलब्धि
अविरुद्धकारणानुपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि
अविरुद्धसहचरानुपलब्धि
६+६+३+७=२२

अन्य हेतु भी इन्ही बाईस हेतुओ मे शामिल है।

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवा तर्भावनीय ॥८६॥ [प मु त प]

गुरु परम्परा से और भी जो हतु सभव हो सकते हो उनका पूर्वोक्त साधनो मे ही अतर्भाव करना चाहिये।

व्युत्पन्न जना की अपेक्षा अनुमान क अवयवो क प्रयोग का नियम

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥९ ॥ [प मु त प]

व्युत्पन्न पुरुषो के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिये।

साध्य के सदभाव मे साधन का होना तथोपपत्ति है एव साध्य के अभाव म साधन का न होना अन्यथानुपपत्ति कहलाती है।

व्युत्पन्न प्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि

अग्निमानय देशस्तथैव धमवत्त्वोपपत्त धमवत्त्वा यथानपपत्त र्वा ॥९१॥ [प मु त प]

यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योकि अग्नि के सदभाव मे ही यह धमवाला हो सकता है यह तथोप पत्ति का उदाहरण है। अथवा अग्नि के अभाव मे यह धमवाला हो ही नही सकता इसलिए इसमे अवश्य अग्नि है यह अन्यथानुपपत्ति का उदाहरण है। इस प्रकार तथोपपत्ति या अ यथानुपपत्ति' का प्रयोग करना चाहिए। इस दृष्टाँत स यह निश्चय किया जाता है कि विद्वाना के लिए उदाहरण वगरह के प्रयोग की आवश्यकता नही है।

यहा तक अनुमान के अगभूत साध्य और हतुआ का वणन किया है।

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादिनिबधनमथज्ञानमागम ॥९५॥ [प मु त प]

आप्त वचन तथा अगुलि सज्ञा आदि से होने वाल अथज्ञान को आगम प्रमाण कहते हैं।

शब्द से वास्तविक अथबोध होन का कारण

सहजयोग्यता सकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव ॥९६॥ [प मु त प]

अर्थो मे वाच्यरूप और श दो म वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है जिसम सकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान मे हतु हो जात है।

यथा मेर्वादय सन्ति ॥९७॥ [प म त प]

जसे समेरु पवत आदिक हैं अर्थात जसे मेरु श द के सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्यस्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार सवत्र श द से अथ का ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार से यहाँ तक परीक्षा मख सूत्र के आधार से प्रमाण का लक्षण उसके दो भेद प्रत्यक्ष के दो भेद एव परोक्ष के स्मृति प्रत्यभिज्ञान तक अनुमान और आगम ऐसे पाच भेदो का लक्षण किया गया है।

न्यायदीपिका ग्रन्थ मे कुछ विशेषता है उसे बताते हैं।

प्रमाण के भेद लक्षण और विशेषतायें

प्रमाण द्विविध प्रत्यक्ष परोक्षं चेति तत्र विशदप्रतिभास प्रत्यक्ष । तत्प्रत्यक्ष द्विविध सांव्यवहारिकं पारमार्थिक चेति । तत्र देशतो विशद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तच्चतुर्विध अवग्रह ईहा अवाय धारणा चेति। [न्या पृ ३१]

प्रमाण के दो भी भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

उसमे विशद–स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते है।

उस प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—साव्यवहारिक और पारमार्थिक। एक देश स्पष्ट ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके चार भेद हैं—अवग्रह ईहा अवाय धारणा। यह ज्ञान पाच इद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है अत चार को छह से गुणा करने से ४×६=२४ भेद हुये हैं इस ज्ञान के विषयभूत पदाथ बहु बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार के हैं अत इन २४ को १२ से गुणा करने पर २४×१२=२८८ भेद हुये।

अवग्रह क दो भद होते है यञ्जनावग्रह अर्थावग्रह। व्यजनावग्रह मे केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि भेद नही होते हैं एव यह चक्षु और मन से नही होता है अत एक यञ्जनावग्रह को ४ इद्रिय से गुणा करके १२ भेदा से गुणित कीजिये १×४=४ ४×१२=४८ पुन उपयु क्त २८८ मे इस सख्या को मिला देने से इस साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ३३६ भद होते हैं। यथा २८८+४८=३३६।

इस साव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते है क्योकि यह उपचार से सिद्ध है। इसी का नाम मतिज्ञान है वास्तव मे यह ज्ञान परोक्ष है जसा कि तत्त्वाथ सूत्र ग्र थ मे श्री उमास्वामि आचाय ने स्पष्ट किया है आद्य परोक्ष ॥११॥ आदि क मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है क्योकि ये इद्रिय मन आदि की अपेक्षा रखते है अत परोक्ष हैं। यहा न्याय ग्र थो मे मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का मतलब यह है कि यह ज्ञान इद्रिय और मन इन दो निमित्तक होते हुये भी लोक के सव्यवहार मे प्रत्यक्ष इस प्रकार से प्रसिद्ध होने से साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वास्तव मे यह मतिज्ञान परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान को तो परोक्ष प्रमाण मे आगम नाम से कहा ही है।

सर्वतो विशद पारमार्थिक प्रत्यक्ष। मुख्यप्रत्यक्ष इति यावत्। तद्द्विविधं विकल सकलं च। तत्र कतिपयविषय विकलं तदपि द्विविधम् अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान च। [न्या पृ ३४]

पूर्णतया विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी का नाम मुख्य प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। उसमें कतिपय विषय को ग्रहण करने वाला विकल प्रत्यक्ष है उसके भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान।

सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलं। [न्या० पृ ३७]

सपूर्णद्रव्य और उनकी सपूर्ण पर्यायो को विषय करने वाला सकल प्रत्यक्ष है। यह घातिकर्म के नाश से प्रगट हुआ केवलज्ञान है। इस प्रकार से अवधिज्ञान मन पययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्णतया विशद होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते है। इन ज्ञानो की पूर्णतया विशदता आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाली है। अर्थात ये तीनो ज्ञान आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्प न होते है अत मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्व अवधि मन पययोस्तु न युक्त विकलत्वात इति चेत न साकल्य वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात। तथा हि सवद्रव्यपर्यायविषयमिति केवल सकल। अवधिमन पर्ययो तु क तिपयविषयत्वादविकलो। नैतावता तयो पारमार्थिकत्वच्युति। केवलवत्तयोरपि वशद्य स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव। [न्या पृ ३७]

शका—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है कि तु अवधिज्ञान और मन पययज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक नही है क्याकि ये दोनो विकल प्रत्यक्ष हैं।

समाधान—ऐसा नही कहना क्योकि सकलपना और विकलपना यहा विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नही है। इसका स्पष्टीकरण—च कि केवलनान समस्त द्र या और पर्यायो को विषय करने वाला है इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। पर तु अवधिज्ञान मन पययज्ञान कुछ पदार्थो को विषय करते है इसलिये वे विकल कहे जाते है। लकिन इतन मात्र से ही इनमे पार मार्थिकता की हानि नही होती है क्योकि पारमार्थिकता का लक्षण सकल पदार्था को विषय करना नहीं है कि तु पूण निमलता है वह पूण निमलता केवलज्ञान की तरह अवधि मन पयय मे भी अपने विषय में विद्यमान है इसलिय य दोनो भी पारमार्थिक हा हैं एव य दोनो भी केवलज्ञान की तरह आत्ममात्र की अपेक्षा रखकर ही उत्प न होते है अत य तीनो ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते ह।

शका—अक्ष नाम चक्ष आदि इद्रिया का है उन इद्रियो की सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है अत मति श्रतज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहना चाहिये अवधि आदि तीनो को नही ?

समाधान—यह शका ठीक नही है। आत्ममात्र की अपेक्षा एव इद्रियो से निरपेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं क्योकि प्रत्यक्षता मे कारण स्पष्टता निमलता ही है इद्रिय ज यता नही है। दूसरी बात यह है कि हम यहा अक्ष का अथ इद्रिय न करके आत्मा करते हैं देखिये ! अक्षणोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा अर्थात् जो व्याप्त करे जाने उसे अक्ष कहते हैं और वह अक्ष-आत्मा ही है। इसलिये आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतएव मतिज्ञान इद्रिय की अपेक्षा रखने से परोक्ष ही है। कथचित उपचार से उसे न्याय भाषा मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है, यह बात स्पष्ट है।

इसी प्रकार से परोक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके भेद भी परीक्षामुख के अनुसार ही किये गये हैं।

इसमें भी हेतु के लक्षण को यहां दिखाते हैं

निश्चित साध्यान्यथानुपपत्तिकं साधन। यस्य साध्याभावासंभवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावा अपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थ। तदुक्त कुमारनदि भट्टारकै — अ यथानुपपत्त्येकलक्षण लिंगमगद्यते। [या पृ ६९]

जिसकी साध्य के साथ अ यथानुपपत्ति (अविना भाव) निश्चित है उसे हेतु कहते है। तात्पय यह है कि जिस की साध्य के अभाव मे नही होने रूप व्याप्ति अविनाभाव आदि नामो वाली साध्यानुपपत्ति—साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव मे नही होना इस रूप से तक प्रमाण के द्वारा निर्णीत है वह हेतु है। श्री कुमारनदि भट्टारक ने भी कहा है— अ यथानुपपत्ति मात्र जिसका लक्षण है उसे लिंग हेतु कहा गया है।

साध्य का लक्षण

शक्यमभिप्रतमप्रसिद्ध साध्य [या पृ ६९]

जो शक्य अभिप्र त और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहते है। यहा शक्य शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अबाधित को लेना अभिप्रत से इष्ट को समझना एव अप्रसिद्ध से असिद्ध को लेना चाहिये। शब्दो मे किंचित अतर होते हुये भी ये सभी लक्षण पूर्वोक्त सूत्रो के अनुसार ही हैं।

उपसहार—यहा तक जन सिद्धात के अनुसार प्रमाण का लक्षण प्रमाण के दो भेद उनके भेद प्रभेद बतलाये गये हैं। प्रमाण के दो भेदो में प्रत्यक्ष और परोक्ष है एव प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। साव्यवहारिक एव पारमार्थिक। साव्यवहारिक मतिज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा से चार भेद है पुन इन्द्रिय मन एव बहु आदि विषयो से गुणा करने से ३३६ भेद हो जाते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल सकल। विकल प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं अवधि मन पयय। सकल प्रत्यक्ष से एक केवल ज्ञान ही लिया जाता है। परोक्ष प्रमाण के पाच भेद है स्मति प्रत्यभिज्ञान तक अनुमान और आगम। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व सादृश्य वलक्षण्य और प्रातियौगिक के भेद से चार भेद हैं। एव अनुमान के मुख्य दो अवयव हैं प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के भी उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद हैं। उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि विरुद्धोपलब्धि एव अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि विरुद्धानुपलब्धि ऐसे भेद होते हैं। अविरुद्धोपलब्धि के ६ भेद विरुद्धोपलब्धि के ६ भेद अविरुद्धानुपलब्धि के ७ भेद एव विरुद्धानुपलब्धि के ३ भेद ऐसे हेतु के २२ भेद माने गये हैं।

इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर उसके पाच भेदो मे से मतिज्ञान को साव्यवहारिक
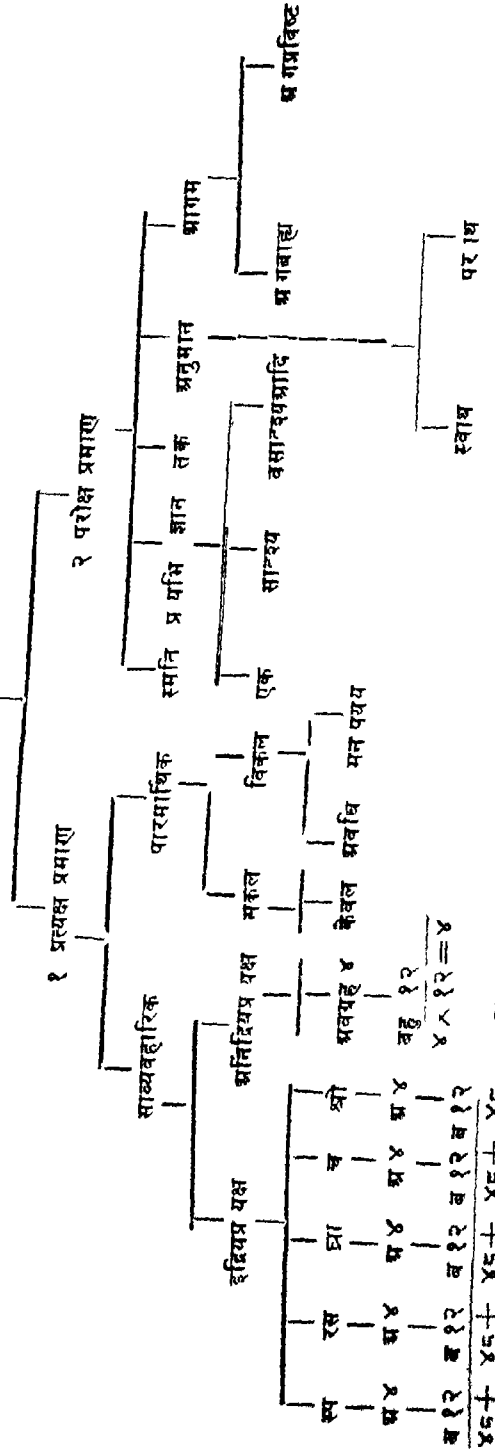
विशेष—अवग्रह के दो भेद हैं अर्थावग्र यजनावग्रह। व्यजनावग्रह के आगे ईहा आन्दि नही होते हैं एव यह चक्षु और मन से नहीं होता है अत व्यजनावग्रह को चार इद्रिय और बहु आदि १२ से गुणा करने पर ४ × १२ = ४८ भेद होते हैं। २ ८+४८=३ ६ इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।

प्रत्यक्ष श्रुतज्ञान को 'आगम' शब्द से परोक्ष अवधि मन पर्यय एव केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है। यहां तक प्रमाण का विवेचन जैन सिद्धातानुसार हुआ है। प्रमाणनयरधिगम इस सूत्र मे नयों के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान होता है अत सक्षेप से यहां नय का लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

नय का लक्षण

प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेष नय । [न्या पृ १२५]

प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं।

उस नय के द्र यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद हैं। अ यत्र नयो के सात भेद भी माने गये हैं यथा—नगम सग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र श द समभिरुढ और एवभूत।

इन नयो का विस्तत विवेचन अ य नयचक्र आदि ग थो से समझना चाहिय। यहा इतना ही पर्याप्त है कि य सभी नय वस्तु के एक एक अश को कहने वाले हैं एव परस्पर मे सापेक्ष हैं यदि य नय परस्पर मे निरपेक्ष हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं। जैसे—द्र यार्थिक नय का विषय परम द्रव्य सत्ता महा सामा य है उसकी अपेक्षा से सभी चेतन-अचेतन वस्तुय सत रूप होने से एक रूप हैं इसी नय को लेकर ब्रह्म वादियो ने एक अद्वितीय परम ब्रह्म तत्त्व मान लिया है। किन्तु ऐसी एकात मा यता गलत है चेतन अचतन कथचित अवातर सत्ता से भिन्न भिन्न हैं। वसे ही ऋजुसूत्र परमपर्यायार्थिक नय है वह भूत भविष्यत के स्पश से रहित शुद्ध केवल वतमान कालीन अथपर्याय रूप वस्तु को विषय करता है। उसका एकात लेकर बौद्धो ने प्रत्येक वस्तु को सवथा एक क्षणवर्ती नश्वर ही सिद्ध कर दिया है अत उसकी भी एकात मा यता सवथा गलत है। इसलिये नयो की परस्पर सापेक्षता ही सम्यक है। जो नय परस्पर निरपेक्ष एकात को ग्रहण कर लेते हैं वे दुनय अथवा नयाभास कहलाते हैं।

प्रमाण की सच्चाई का निर्णय कसे होता है?

तत्प्रामाण्य स्वत परतश्च ॥१३॥ [परीक्षा म प्र प]

उस प्रमाण की प्रमाणता का निणय दो प्रकार से होता है। अभ्यास दशा मे अन्य पदाथ की सहायता बिना अपने आप और अनभ्यास दशा मे अन्य कारणो की सहायता से।

जसे—जहा निरतर जाया आया करते हैं वहां के नदी और तालाब आदि स्थानो के परिचय को अभ्यास दशा कहते हैं। इस स्थान मे ज्ञान की सचाई का निणय स्वत हो जाता है। और जहा कभी गये आये नहीं वहां के नदी तालाब आदि स्थानो के अपरिचय को अनभ्यासदशा कहते हैं ऐसे स्थानो में दूसरे कारणों से ही प्रमाणता का निर्णय होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमाणता की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है किंतु प्रमाणता का निश्चय परिचित विषय में स्वत और अपरिचित विषय में पर से होता है।

प्रमाण का विषय

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय ॥१॥ [प मु च प]

सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होती है। द्रव्य के बिना पर्याय एव पर्याय के बिना द्रव्य किसी भी ज्ञान का विषय नही होता है किंतु द्रव्य और पर्याय इन उभय रूप पदार्थ ही ज्ञान का विषय होता है। एक एक को प्रमाण का विषय मानने मे अनेको दोष आ जाते हैं।

वस्त अनेकान्तात्मक ही है

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥ [प मु च प]

अन्वय–यह वही है ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते है तथा व्यावृत्त—यह वह नही है ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। पदार्थों के काय को अथ क्रिया कहते हैं जसे घट की अथ क्रिया जला हरण करना है। अथ के पूव आकार का विनाश और उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनो सहित स्थिति को परिणाम कहते हैं।

एक ही वस्तु अन्वय ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान का विषय हाती है इसलिये वस्तु अनेकातात्मक है तथा एक ही वस्तु मे पूव आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति इन दानो से सहित स्थिति रूप लक्षण वाले परिणाम से ही अथ क्रिया होती है अत वस्तु अनकातात्मक ही है। अनुवृत्त ज्ञान का विषय सामा`य है और व्यावृत्त ज्ञान का विषय विशेष है अत सामान्य विशेषात्मक पदाथ ही प्रमाण का विषय होता है।

सामा`य के भेद

सामा`यं द्वधा तिर्यगूर्ध्वतामेदात ॥३॥ [प मु च प]

सामान्य क दो भेद हैं—तियक सामान्य और ऊध्वतासामा`य।

तियक सामा`य का लक्षण और दृष्टात

सदृशपरिणामस्तियक खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत ॥४॥ [प म च प]

समान परिणमन को तियक सामा`य कहते है। जसे—खाडो मुण्डो शबलो गायो में गोत्व—यह सदृश परिणमन पाया जाता है।

ऊर्ध्वतासामान्य का स्वरूप और दृष्टात

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ [प मु च प]

पूर्व और उत्तर पर्याय में रहन वाल द्रव्य को ऊर्ध्वता सामा`य कहते हैं। जसे स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायो में मिट्टी रहती है यहा यह मिट्टी द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कही जाती है।

विशेष के भेद

विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ [प मु च प]

विशेष के भी दो भेद हैं। पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का स्वरूप और उदाहरण

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परिणामा पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ [प मु च प]

एक ही द्रव्य मे क्रम से होने वाले परिणामो को पर्याय कहते हैं जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि।

व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण

अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥ [प मु च प]

एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ मे रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे गो से महिष मे एक भिन्न ही परिणमन है।

भावार्थ—इन तिर्यक ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय-व्यतिरेक रूप विशेष से सहित-उभयात्मक वस्तु को ही ज्ञान जानता है अत ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को ही विषय करता है यह बात स्पष्ट हुई।

प्रमाण का फल

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥ [प मु प प]

प्रमाण का साक्षात फल अज्ञान का अभाव है। तथा परपरा फल त्याग, ग्रहण और उदासीनता है। प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान का अभाव होता है पश्चात त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण एव इन दोनो से रहित वस्तु में उपेक्षा भाव होता है।

प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न ?

प्रमाणादभिन्न भिन्न च ॥२॥ [प मु प प]

वह फल प्रमाण से कथचित अभिन्न होता है कथंचित भिन्न होता है।

प्रमाण से फल अभिन्न कसे है ?

य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपक्षते चेति प्रतीते ॥३॥ [प प प]

जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है वही किसी वस्तु को छोड़ता या ग्रहण करता है, या मध्यस्थ हो जाता है। इसलिये एक जानने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों अभिन्न हैं। तथा प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है इसलिये दोनो भिन्न हैं।

उपसंहार—यहा तक प्रमाण का लक्षण उसके भेद प्रभेद प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल ऐसी चार बातों का स्पष्टतया वर्णन किया गया है। अब आगे अन्यमतावलम्बियो द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण उनके भेद-प्रभेद, विषय और फल में दोष दिखाकर निर्दोष स्याद्वाद सिद्धांत पुष्ट करते हैं।

प्रमाणाभास का वर्णन

बौद्धाभिमत प्रमाण लक्षण का विचार

अविसंवादिज्ञान प्रमाण [प्रमाणवार्तिक २ १]

जो ज्ञान अविसवादी है—विसवाद रहित है वह प्रमाण है ऐसा बौद्धो का कहना है । किंतु यह कथन ठीक नही है क्योकि इसमे असभव दोष आता है । अर्थात बौद्धो न प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने हैं । न्यायबिंदु में कहा है सम्यग्ज्ञान प्रमाण के दो भेद है—प्रत्यक्ष और अनुमान । उनमें प्रत्यक्ष में अविसवादीपना सभव नही है क्योकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नही है अत सशय आदि रूप समारोप का निराकरण नही कर सकता है । तथा अनुमान मे भी अविसवादीपना असंभव है क्योकि बौद्धो की मान्यतानुसार वह भी अवास्तविक समान्य को विषय करन वाला है । इस तरह बौद्धो द्वारा मान्य वह प्रमाण का लक्षण असभव दोष से दूषित होन से सम्यक लक्षण नही है ।

भाट्टो के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाणम । [शास्त्र दी पु १२६]

पहले नही जान हुये यथार्थ अर्थ का निश्चय करान वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । ऐसी भाट्ट मीमासको की मान्यता है । किंतु उनका यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है । क्योकि उन्ही के द्वारा प्रमाण रूप मे मान गये धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नही हैं । यदि तुम यह कहो कि धारावाहिक ज्ञान अगले अगले क्षण से सहित अर्थ को विषय करते हैं इसलिये अपूर्वार्थ विषयक ही हैं । तो यह कथन भी ठीक नही है क्योकि क्षण अत्यत सूक्ष्म है । इन क्षणो का जानना सभव नही है । अत धारावाहिक ज्ञानो मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है ।

प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा

अनुभूति प्रमाणं [बृहती १ १ ५]

प्रभाकर मतानुयायी अनुभूति को प्रमाण कहते हैं किंतु उनका भी यह लक्षण युक्ति संगत नही है । क्योकि अनुभूति शब्द को भाव साधन करन पर करण रूप प्रमाण मे अव्याप्ति रहता है एवं अनुभूति शब्द को करण साधन करने पर भाव रूप प्रमाण मे अव्याप्ति दोष आता है । चूकि करण और भाव दोनो को ही उनके यहा प्रमाण माना गया है । जसा कि शालिकानाथ न कहा है—"यदा भावसाधन तदा सविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममन सन्निकर्ष [प्रकरण प० प्रमाण पा पृ ६४]

जब प्रमाण शब्द को प्रमिति प्रमाण इस प्रकार भाव साधन किया जाता है उस समय ज्ञान' ही प्रमाण होता है । और प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाण जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है ऐसा करण साधन करन पर आत्मा और मन का सन्निकर्ष प्रमाण होता है । अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानन मे अव्याप्ति दोष स्पष्ट है । इसलिये यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है ।

नैयायिकों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

'प्रमाकरणं प्रमाणं' [न्याय मं प्रमाण पृ २५]

प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है। ऐसी नैयायिको की मान्यता है किंतु उनकी यह मान्यता भी प्रमादकृत ही है। क्योकि उनके द्वारा प्रमाण रूप से मान गये ईश्वर मे ही वह लक्षण अव्याप्त है। कारण महेश्वर' प्रमाण का आश्रय है करण नही है। ईश्वर का प्रमाण मानने का यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नही कर रहे हैं किंतु उनके प्रमुख आचार्य उदयन ने स्वय स्वीकार किया है कि—

तन्मे प्रमाण शिव [न्याय कु सु ४६]

अर्थात् वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमाण का आश्रय हो वह प्रमाण है।

साधनाश्रययोरन्यतरत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणं [सर्वदर्शनसंग्रह प २३५]

किंतु उनका यह व्याख्यान भी युक्ति सगत नही है क्योकि प्रमा के साधन और प्रमा के आश्रय मे से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर मे अव्याप्ति होती है। जब प्रमा के साधन को प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब प्रमा के आश्रय रूप प्रमाण लक्ष्य मे लक्षण नही रहेगा और जब 'प्रमा के आश्रय को प्रमाण का लक्षण माना जायगा तब प्रमा के साधन रूप प्रमाण लक्ष्य मे लक्षण घटित नही होगा। तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनो को सभी लक्ष्यो का लक्षण माना जाये तो कहीं भी लक्षण नही जायगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमा के आश्रय हैं प्रमा के साधन नही हैं क्योकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नही है अत नैयायिको का उक्त लक्षण सदोष है।

इस प्रकार से कोई-कोई ज्ञान को अस्वसंविदित—स्व को नही जानने वाला कहते है। कोई गृहीत अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं कोई निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण कहते हैं कोई सशय को कोई विपरीत को कोई अनध्यवसाय को ही प्रमाण कह देते हैं किंतु ये प्रमाण नही हैं प्रत्युत प्रमाणाभास ही हैं।

जैनाचार्यों द्वारा मान्य सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है वही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है अन्य नही हैं।

अन्य मतावलबियो द्वारा मान्य प्रमाण के भेदो का विचार

प्रत्यक्षमेकं चार्वाका कणादसौगता पुन ।
अनुमानं च तच्चैव सांख्या शाब्दं च ते अपि ॥१॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन च ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहु प्रभाकरा ॥२॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगु ॥३॥

अर्थ—चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं। सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी इन्हीं दो प्रमाणो को मानते हैं। साख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इन्ही तीन मे उपमान को मिलाकर चार मानते हैं। प्रभाकर इन्हीं चार मे अर्थापत्ति मिलाकर पाच प्रमाण मानते हैं भाट्ट मीमासक और वेदाती प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छ प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इ ही छ प्रमाणो मे सभव और ऐतिह्य मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

इनमें से चार्वाक मती एक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही परलोकादि का निषध और पर मे बुद्धि है इत्यादि का विधान भी नही कर सकता ह क्योकि अनुमान प्रमाण को माने बिना परलोकादि का निषेध असभव है।

बौद्ध साख्य आदि भी अनेको प्रमाण मानकर भी तक प्रमाण नही मानते हैं अत इन सभी की मा य प्रमाण सख्या गलत ह क्योकि तक प्रमाण के बिना याप्ति का निणय न होने से अनुमान का भी अवतार नहीं हो सकता ह।

अतएव जनाचार्यों द्वारा मा य प्रमाण के दो भेद ही सुघटित हैं क्योकि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इन दो प्रमाणो मे सभी प्रमाण शामिल हा जाते है। स्मति प्रत्यभिज्ञान तक अनुमान और आगम य पाच भेद परोक्ष के अतगत होने से सभी व्यवस्था व्यवस्थित हो जाती ह।

इस प्रकार से अ य मतो द्वारा मा य प्रमाण के भेदो का निराकरण कर दिया गया है। विशेष जिज्ञासुओ को विशेष याय ग्र थ दखने चाहिय।

इन प्रमाण के भेदो का लक्षण भी बाधित ही हैं उस पर अब विचार करते हैं।

बौद्धो द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण का खडन

कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्ष [न्याय बि दु प ११]

बौद्ध कल्पनापोढ—निर्विकल्प और भ्राति रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

उनका कहना है कि कल्पनापोढ पद से सविकल्प ज्ञान का और अभ्रान्त पद से मिथ्याज्ञानो का निराकरण होता ह। क्योकि उनके यहा जो समीचीन निर्विकल्प ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

किंतु इस पर जनाचार्यों का यह कहना ह कि निर्विकल्प ज्ञान सशय विपर्यय अनध्यवसाय रूप समारोप का निराकरण करने वाला नही है और किसी भी वस्तु का निश्चय कराने वाला भी नही है अत वह प्रत्यक्ष प्रमाण नही है।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और पुन उसी अर्थ को प्रकाशित करता है अत प्रमाण है क्योकि स्वलक्षण ज य है वास्तविक है। किंतु सविकल्प ज्ञान ऐसा नही है।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥ [प मु द्वि प]

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ॥८॥ [प मु द्वि प]

जैन—पदार्थ और प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं क्योंकि वे विषय हैं जैसे अधकार। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी उस पदाथ को प्रकाशित कर देता है जैसे कि दीपक अथ—घट पट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित कर देता है।

बौद्धों की यह मान्यता है कि ज्ञान अथ से उत्पन्न होकर उसके आकार होकर के ही उस अथ को जानता है अ यथा उस-उस पदाथ की व्यवस्था कैसे करेगा ?

किंतु जनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान न तो अथ से उत्पन्न ही होता है न अथ के आकार का ही होता है फिर भी उसे जान लेता है क्योकि पदार्थ क साथ ज्ञान का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है कि जहा पर पदार्थ होव वही पर ज्ञान होवे और पदाथ के अभाव में ज्ञान का अभाव रहे। अत ज्ञान तो आत्मा का गुण है—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमथ व्यवस्थापयति ॥९॥ [प मु द्वि प]

अपने अपने आवरण कम के क्षयोपशम विशेष रूप—योग्यता से ही ज्ञान यह घट है यह पट है इस प्रकार से पदार्थों की भिन्न भिन्न व्यवस्था कर देता है। अत योग्यता ही वस्तु की व्यवस्था करने मे कारण है। जिस ज्ञान मे जिस अथ को ग्रहण करने की योग्यता है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है अ य को नही। ज्ञान अथ के आकार होकर ही अथ को जानता है यह भी गलत है क्योकि दीपक घट पट के आकार को न धर कर भी उन्ह प्रकाशित कर देता ह। अत बौद्धो द्वारा मा य तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय का खडन हो जाता है।

बौद्धो ने सविकल्प ज्ञान को अवास्तविक माना है क्योकि वह परमाथभूत सामान्य को विषय करता है। आचार्यों का कहना है कि यह भी गलत है चूंकि प्रमाण से बाधित न होने के कारण सविकल्प ज्ञान का विषय परमार्थ ही है। किंतु बौद्धो द्वारा मान्य वास्तविक स्वलक्षण एक क्षणवर्ती पर्यायभूत वस्तु दिखती ही नहीं है अत प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प नही है सविकल्प ही है।

यौगाभिमत सन्निकर्ष का खडन

इंद्रियार्थयो संबंध सन्निकष

इद्रिय और अथ का सबध होना सन्निकष कहलाता है।

सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुत प्रमितिकरणत्वं कुतस्तरां प्रमाणत्वं कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ? [न्या पृ० २९]

अर्थ—नैयायिक और वैशेषिक सन्निकष (इन्द्रिय और पदाथ के सबध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है क्योंकि सन्निकष अचेतन है। वह ज्ञान के प्रति करण कैसे हो सकता है ? और ज्ञान के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नही, तो प्रत्यक्ष कसे ?

दूसरी बात यह है कि चक्षु इन्द्रिय और मन ये दोनो पदार्थों का स्पर्श किये बिना ही पदार्थों का करा ज्ञान देते हैं इसलिये सन्निकष प्रमाण मानना गलत है। इस पर वैशेषिक कहता है कि 'चक्षु इंद्रिय पदार्थों का स्पश करक ही प्रकाशित करती है क्योंकि वह वाह्य इद्रिय है जो वहिरिद्रिय होती हैं वे पदार्थों का स्पश करके ही प्रकाशित करती हैं जसे स्पशन इद्रिय। इस अनुमान से चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी है और वह प्राप्यकारिता ही सन्निकष है। इसलिये **सन्निकष ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।** इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यह अनुमान सम्यक नहीं है।

इस अनुमान मे चक्ष पद से कौन सी चक्षु को पक्ष बनाया है ' लौकिक गोलक रूप चक्षु को या अलौकिक किरण रूप चक्षु को ? पहले पक्ष मे हेतु बाधित विषय नाम का हेत्वाभास है। क्योंकि गोलक रूप चक्ष विषय के पास जाती हुई किसी को अनभव मे नही आती है उसका अग्नि आदि के पास जाकर छूकर उसको जानना प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरा पक्ष लेवो तो भी—किरण रूप आलौकिक चक्ष अभी तक सिद्ध ही नही है। यदि कहो कि चक्षु की तेजस किरण निकल कर बाहर जाकर पदार्थों को छूती है तब ज्ञान होता है तब तो बडा ही अनर्थ होगा—किरण अग्नि के पास जाकर छूकर जानते समय जल जायगी पानी को जानते समय गीली हो जायगी इत्यादि बड ही अनथ हो जावगे अत चक्षु का छूकर जानना गलत है। एक ही समय मे वृक्ष की शाखा और आकाश के चन्द्रमा का अवलोकन हो जाना है यदि चक्ष जाकर छकर जानती है तो पहले निकटवर्ती शाखा का ज्ञान होना चाहिए पुन बहुत दूरवर्ती चन्द्रमा का ज्ञान होना चाहिए था किन्तु ऐसा है नही। अत चक्ष अप्राप्यकारी सिद्ध है। एव सन्निकष प्रमाण मानने वाला के यहा सर्वज्ञ का भी अभाव हो जाता है क्योंकि इद्रिय ज्ञान से कोई भी भूत भविष्यत वतमान ऐसे त्रकालिक पदार्थों को नही जान सकता है।

अत बौद्धाभिमत निर्विकल्प एव यौगाभिमत सन्निकष ज्ञान प्रमाण नही है।

जनाचाय द्वारा मान्य विशद प्रत्यक्ष यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ही सुसगत है ऐसा समझना चाहिये।

जो ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के सदृश मालम पड या कहे जाव किन्तु प्रत्यक्ष आदि रूप न होवें वे ज्ञान ज्ञानाभास कहलाते हैं ऐसे ही सभा में आभास को लगाकर सभी को समझ लेना।

प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण

अवैशद्ये ऽपि प्रत्यक्ष तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनात वह्निविज्ञानवत् ॥६॥ (परीक्षा ६)

अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्ध अकस्मात् धूम को देखकर अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

परोक्षाभास का स्वरूप

वैशद्ये ऽपि परोक्ष तदाभास मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥ (परीक्षा० ६)

स्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहना परोक्षाभास है जैसे मीमासक करणज्ञान को परोक्ष मानता है। वास्तव मे करण ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसको परोक्ष मानना परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का लक्षण

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥ [परी० ६]

जिस पदार्थ को पहले कभी धारणारूप अनुभव नही हुआ था उसके अनुभव को स्मरणाभास कहते हैं। अथवा जो वस्तु वह नही है उसे वह कहकर स्मरण करना स्मरणाभास है जसे जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥ [परी ६]

सदश मे यह वही है ऐसा ज्ञान तथा उसी मे यह उसके सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है जसे एक साथ जन्मे दो बालको मे उल्टा ज्ञान हो जाता है।

तर्काभास का लक्षण

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासः ॥१०। [परी ६]

अविनाभाव रहित ज्ञान मे अविनाभाव का ज्ञान या जिन पदार्थों मे परस्पर मे व्याप्ति नहीं है उनमे व्याप्ति का ज्ञान होना तर्काभास है जैसे किसी के एक पुत्र को काला देखकर व्याप्ति बनाना कि इसके जितने पुत्र होगे वे काले ही होगे इत्यादि ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास का लक्षण

इदमनुमानाभासं ॥११॥ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥१२॥ [परी ६]

अनमान के अवयवो का आभास दिखलाने से अनमानाभास सिद्ध हो जावेगा।

अनिष्ट बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते हैं। अर्थात साध्य के तीन विशेषण थे इष्ट अबाधित और असिद्ध। इनके उल्टे पक्षाभास बन जाते है। क्योकि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान का नाम ही अनुमान है आगे क्रमश साधनाभासो का भी स्पष्ट करेंगे।

अनिष्ट—जो अपने को इष्ट नही है उसे साध्य की कोटि मे रखना।

बाधित—जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो उसे साध्य की कोटि मे रखना।

सिद्ध—सिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास करना। इसमें बाधित पक्षाभास के पाच भेद माने गये हैं।

बाधित के भेद

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥ [परी ६]

बाधित पक्षाभास के पांच भेद हैं। प्रत्यक्षबाधित अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित।

प्रत्यक्षबाधित का दृष्टान्त

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत ।।१६।। [परी ६]

अग्नि ठडी होती है क्योकि वह द्रव्य है जस जल । यहाँ अग्नि को ठडी कहना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से बाधित है क्योकि छूने से अग्नि गरम होती है ।

अनुमान बाधित

अपरिणामी शब्द कृतकत्वात घटवत ।।१७।। [परी ६]

शब्द नित्य होता है क्योकि किया हुआ है जसे घट । यह अनमान बाधित पक्ष है क्योकि ऐसा भी अनमान कहा भी जा सकता है कि शब्द अनित्य होता है क्योकि वह किया गया होता है जसे घट । इस अनमान से बाधा आ जाती है ।

आगम बाधित

प्रेत्यासुखप्रदो धम पुरुषाश्रितत्वादधमवत ।।१८।। [परी ६]

धम परलोक मे दु खदायी होता है क्याकि वह पुरुष के आश्रित होता है । जो जो पुरुष के आश्रित होता ह वह दु खदायी होता है जसे अधम । यह पक्ष आगम से बाधित है क्योकि आगम मे धम को सुखदायी माना है और अधम को दु खदायी कहा है । यद्यपि दोनो ही पुरुष के आश्रित हैं फिर भी भिन्न स्वभाव वाले हैं ।

लोक बाधित

शुचि नरशिर कपाल प्राण्यगत्वाच्छखशक्तिवत ।।१९।। [परी ६]

मनष्य के शिर का कपाल पवित्र होता है क्योकि वह प्राणी का अग है । जो जो प्राणी का अग होता है वह वह पवित्र होता है जसे शख और सीप । यह पक्ष लोक बाधित है क्योकि लोक में प्राणी का अग होते हुये भी कोई चीज पवित्र और कोई अपवित्र मानी गई है ।

स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण

माता मे वध्या पुरुषसयोगेऽप्यगभत्वात प्रसिद्धवंध्यावत ।।२ ।। [परी ६]

मेरी माता वध्या है क्योकि पुरुष का सयोग होने पर भी उसके गभ नहीं रहता है जैसे कि प्रसिद्ध वध्या स्त्री । यह पक्ष अपने ही वचनो से बाधित है क्योकि स्वय पुत्र मौजूद है और माता भी कह रहा है फिर भी मेरी माता वध्या है यह कथन स्ववचन बाधित है ।

इन पाँच प्रकार से बाधित विषयो को पक्ष की कोटि मे रखना बाधित पक्षाभास दोष है ।

अब साधन के आभासो को कहते हैं –

हेत्वाभास के भेद

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानकान्तिकाकिञ्चित्करा ।।२१।। [परी ६]

हेत्वाभास के चार भेद हैं । असिद्ध विरुद्ध अनकान्तिक और अकिंचित्कर ।

असिद्ध हेत्वाभास

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्ध ॥२२॥ [परी ६]

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके स्वरूपासिद्ध और सदिग्धासिद्ध ऐसे दो भेद हैं।

विरुद्ध हेत्वाभास

विपरीतनिश्चताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्द कृतकत्वात ॥२९॥ [परी ६]

साध्य से विपरीत विपक्ष के साथ जिस हेतु का रहना हो वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है जसे शब्द नित्य हैं क्योकि किये हुये हैं यहा यह कृतकत्व हेतु नित्य से विरुद्ध अनित्य मे रहता है। अत विरुद्ध हेतु है।

अनकातिक हेत्वाभास

विपक्षऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक ॥३०॥ [परी ६]

जो पक्ष सपक्ष मे रहता हुआ विपक्ष मे भी चला जाता है वह अनकान्तिक हेत्वाभास है। इसे व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं। इसके शकित विपक्षवृत्ति और निश्चितविपक्षवति ऐसे दो भेद है।

शकितविपक्षवृत्ति— नास्ति सवज्ञो वक्तृत्वात सवज्ञ नही है क्योकि वह वक्ता है। यहा वक्ता है यह हेतु रह जावे और सर्वज्ञत्व भी रह जावे इन दोनो बातो मे कोई विरोध नही है अत यह हेतु शकित व्यभिचारी है क्योकि इसकी विपक्ष मे रहने म शका है।

निश्चितविपक्षवृति— श द अनित्य है क्योकि वह प्रमेय है जसे घट यहा प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द मे और सपक्ष घट मे रहता हुआ विपक्ष रूप नित्य आकाश मे भी चला जाता है अत निश्चित ‍यभि चारी हेतु है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास

सिद्ध प्रत्यक्षबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्कर ॥३५॥ [परी ६]

साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से बाधित होने पर जो हेतु कुछ नही कर सकता है इस लिए वह अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जसे शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है क्योकि वह शब्द है। यहा शब्दत्व हेतु सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। अथवा अग्नि ठण्डी है क्योकि वह द्रव्य है इसमें द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अत ऐसे हतु अकिंचित्कर होते है। ऐसे ही अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्तो का विपरीत प्रयोग करना दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं। साध्य विकल, साधनविकल और उभयविकल। तीनो का उदाहरण— शब्द अपौरुषय है क्योकि अमूर्त है, जैसे इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट ।

यहाँ दृष्टांत में इन्द्रिय सुख पुरुषकृत है अत अपने अपौरुषय साध्य में न रहने से 'साध्य विकल है। परमाणु मूर्तिक है वह अमूर्तिक हेतु मे नही रहता है अत यह दृष्टांत साधन विकल है।

घट पुरुषकृत और मूर्तिक है। वह अपौरुषय साध्य और अमूर्तिक हेतु में नही रहता है अत यह साध्य-साधन विकल दृष्टात है।

व्यतिरेक दृष्टांताभास के भी तीन भेद हैं—

शब्द अपौरुषय होता है क्योकि वह अमूत है जो जो पौरुषय होता है वह अमूर्तिक नही होता है जैसे परमाणु इंद्रियसुख और आकाश।

यहा परमाण असिद्धसाध्य व्यतिरेक है क्योकि वह अपौरुषय है। इसलिये परमाणु के अपौरुषयपना का साध्य से व्यतिरेक नहीं हुआ। ऐसे ही इन्द्रियसुख असिद्ध साधन व्यतिरेक है। एव आकाश असिद्ध साध्य साधन व्यतिरेक है।

बाल प्रयोगाभास का लक्षण

प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन बालको को बोध कराने के लिये शास्त्र मे अनुमान के ये पाच अवयव माने गये हैं। इनमे से कुछ कम अवयवा का प्रयोग करना गलत है। अत बाल प्रयोगाभास कहलाता है।

आगमाभास का लक्षण

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभास ॥५१॥ [परी ६]

रागी द्वेषी अज्ञानी मोही पुरुषो के वचनो से होने वाले आगम शास्त्र को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास के उदाहरण

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशय सन्ति धावध्व माणवका ॥५२॥ अंगुल्यग्रे यूथशत मास्त इति च ॥५३॥ विसवादात् ॥५४॥ [परी ६]

जसे कि—हे बालको ! दौडो नदी के किनार लडडुओ के ढर लगे है ऐसे वचन आगमाभास हैं। अथवा अगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी ठहरे है यह भी अनाप्त वचन है इन सब मे विसवाद देखा जाता है अत ये सब आगमाभास हैं।

उपसहार—जो प्रमाण न होव और प्रमाण सदृश मालूम पड़ें या अन्य लोग जिन्हे प्रमाण मानने लग जाव वे सब प्रमाणाभास कहलाते है। यहा तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य प्रमाणाभास प्रत्यक्ष प्रमाणाभास परोक्ष प्रमाणाभासो का लक्षण बतलाया है। परोक्ष प्रमाण के भेद प्रभेदो का भी गलत लक्षण होने से वे सब उन उन नाम से प्रमाणाभास बन जाते हैं। अत स्मरणाभास प्रत्यभिज्ञानाभास तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभास ऐसे पाच परोक्षाभास के भेद होते हैं। उसमे भी अनुमान के पक्ष और हेतु की अपेक्षा दो भेद होने से पक्षाभास हेत्वाभास ऐसे दो भेद सिद्ध हैं। पुन पक्षाभास के अनिष्ट,बाधित, और सिद्ध ये तीन भेद करके बाधित पक्षाभास के प्रत्यक्ष अनुमान आगम, लोक और स्ववचन से पाँच

भेद होते हैं। पुनः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर ऐसे चार भेदों का वर्णन किया है। ऐसे ही चार्वाक द्वारा मान्य प्रमाण की एक संख्या बौद्ध द्वारा मान्य प्रमाण की दो संख्या, इत्यादि सब प्रमाण संख्याभास कहलाते हैं। आगे प्रमाण का विषय और उसके फल में गलत कल्पना का नाम भी आभास है उसे बताते हैं।

प्रमाण के विषयाभास का लक्षण

विषयाभास सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्र ॥६१॥ [परी ६]

केवल एक सामान्य को ही ज्ञान का विषय मानना या केवल विशेष को ही मानना अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतन्त्रता से प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। एव प्रत्येक ज्ञान भी उभयात्मक वस्तु को ही जानता है तभी वह प्रमाण कहलाता है अन्यथा अप्रमाण कहलाता है। सांख्य पर्याय रहित कवल द्रव्य-सामान्य को ही ज्ञान का विषय कहता है। बौद्ध द्रव्यांश रहित कवलपर्याय विशेष को ही ज्ञान का विषय कहता है एव नयायिक व वशेषिक सामान्य विशेष स्वरूप पदार्थ को मान कर भी सामान्य और विशेष को एक दूसरे कीसहायता से रहित स्वतन्त्रता से प्रमाण का विषय मानते हैं इसलिये वे सब विषयाभास है क्याकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

प्रमाण के फलाभास का वर्णन

फलाभास प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा ॥६६॥ [परी ६]

प्रमाण से उसक अज्ञान निवृत्ति आदि फल को सवथा भिन्न ही मानना या सवथा अभिन्न ही मानना प्रमाण फलाभास ह। क्योकि कथचित जिसक ज्ञान प्रकट होता है उसी को अज्ञान का अभाव त्याग आदि फल मिलते है तथा कथंचित् य फल नाम लक्षण आदि से भिन्न भी है। अत एकांत मान्यता ही आभास कहलाती है।

उपसहार—यहाँ तक प्रमाणस्वरूपाभास प्रमाणसख्याभास प्रमाणविषयाभास और प्रमाणफलाभास का वर्णन हुआ है। अब आगे न्यायदीपिकाकार ने इन विषयो मे कुछ विशेषताय बताई हैं उनका स्पष्टीकरण करते हैं।

परोक्ष प्रमाण

अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। इसके पाच भेद हैं स्मृति आदि।

स्मृति का लक्षण

तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृति स देवदत्तो यथा। [न्या दी पृ ५३]

'वह' इस आकार वाला पहले अनुभव किये गये वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है, जैसे वह देवदत्त। इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अनुभव धारणा रूप कारण से ही होता है क्योंकि

पदार्थ मे अवग्रहादि ज्ञान हो जाने पर भी धारणा के अभाव मे स्मति उत्पन्न नही होती है। धारणा ज्ञान ही आत्मा में उस प्रकार का सस्कार पैदा कर देता है। जिससे वह कालान्तर मे भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है।

शका—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय मे ही स्मरण होता है तो वह गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण हो जावेगा ?

समाधान—नही। ईहा आदि की तरह स्मरण मे भी विषय भेद मौजूद है जिस प्रकार अवग्रह आदि के द्वारा ग्रहण किये गये अथ को विषय करने वाले ईहादि ज्ञानो मे विषय भेद माना गया है वैसा ही यहा समझना। देखिये ! यहा धारणा का विषय इदता—यह शब्द के प्रयोग पूवक जाना जाता है एव स्मृति का विषय तत्ता—वह इस शब्द से निर्दिष्ट होता है। अत स्मृति ज्ञान भी विसवाद रहित होने से प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान का लक्षण

एक ही घट मे घट विषयक अज्ञान को दूर करने लिए होने वाले घट ज्ञान से घट का ठीक से बोध हो गया है फिर भी यह घट है यह घट है यह घट है इस प्रकार उत्पन्न हुये ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं ये ज्ञान अज्ञान को दूर करने मे साधकतम नही है क्योकि पहले यह घट है इस ज्ञान से ही अज्ञान दूर हो चुका है अत गृहीत को ही ग्रहण करने वाला होने से यह ज्ञान अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभव और स्मरण पूवक होने वाले जोड रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। [न्याय दी पृ ५६]

अन्य वशेषिक आदि एकत्व प्रत्यभिज्ञान का स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि जो इन्द्रियो के होने पर होता है और नही होने पर नही होता है वह प्रत्यक्ष है एव इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है अत प्रत्यक्ष मे ही गर्भित है। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि इन्द्रिया वर्तमानकालीन विषय को ही ग्रहण करती है वर्तमान और भूतकाल की अवस्था के एकत्व को विषय नही कर सकती है। उसका कहना है कि इन्द्रिया सहकारी कारणो की सहायता से वतमान और भूत मे रहने वाले एकत्व को जान लेगी किन्तु आचार्यों का कहना है कि चाहे जितने सहकारी कारण मिल जाव इन्द्रियाँ अविषय मे प्रवृत्ति नही कर सकती हैं। अजन से सस्कृत चक्षु सुनने का काम नही कर सकती है देखने मे ही विशेषता ला सकती है। अत एकत्व प्रत्यभिज्ञान पृथक प्रमाण सिद्ध है।

नैयायिक और मीमासक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान नाम से पृथक प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु यह भी ठीक नही है क्योकि स्मृति और अनुभव के जोड रूप ज्ञानों को सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान ही समझना चाहिये अन्यथा विसदृश प्रत्यभिज्ञान को भी एक पृथक प्रमाण कल्पित करना पडेगा।

तर्क प्रमाण

व्याप्तिज्ञानं तर्कः । यत्र यत्र धूमत्वं तत्र तत्राग्निमत्वमिति । [प्र ६२]

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं । जहां जहा धम होता है वहां वहां अग्नि होती है । यह तक ज्ञान का उदाहरण है ।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष विशेष के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है अत तक प्रमाण को पृथक मानने की कोई आवश्यकता नही है । किन्त यह ठीक नही है क्योकि स्मृति प्रत्यभिज्ञान और अनेको बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनो मिलकर एक ऐसे ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति को ग्रहण करने मे समर्थ होता है वही तक है । इस तक का विषय प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा असभव है । बौद्धो का कहना है कि—

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प उत्पन्न होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है । किंत यह भी गलत है हम आप बौद्धो से प्रश्न करते हैं कि वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि अप्रमाण है तो उसके द्वारा ग्रहीत व्याप्ति मे प्रमाणता कैसे ? यदि प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नही सकता क्योकि वह अस्पष्ट ज्ञान है । अनुमान कहो तो भी ठीक नही क्योकि उसमे हेत दशन आदि की अपेक्षा नही है । इसलिए इन दोनो से भिन्न ही कोई प्रमाण है । और वही तो तक है । आपने उसका विकल्प यह दूसरा नाम रख दिया है ।

अनुमान का लक्षण

साधनात्साध्यविज्ञानमनमान । [प्रा प ६५]

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं ।

नयायिक— **लिंगपरामर्शोनुमान** [न्या वा १ १ ५]

लिंग का देखने रूप ज्ञान अनुमान है ।

जन—यह लक्षण ठीक नही है । क्योकि व्याप्ति स्मरण से सहित लिंग ज्ञान अनमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है । अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानमान और परार्थानमान ।

स्वार्थानुमान के अवयव

स्वार्थानमान के तीन अग है—धर्मी साध्य और हेतु ।

धर्मी—साध्य धम के आधार को धर्मी कहते है । जैसे अग्निमान पवत ।

साध्य—हेतु के द्वारा जो जाना जाय वह साध्य है । जसे अग्नि ।

हेतु—जो साध्य का ज्ञापक होता है । जैसे धूम दर्शन । ये तीनो ही अनुमान के अंग हैं ।

अथवा स्वार्थानुमान के दो अग भी माने जाते हैं—पक्ष और हेतु ।

पक्ष—साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते है। जैसे यह पवत अग्नि वाला है पक्ष को ही 'प्रतिज्ञा कहते हैं। यथा—

'धमर्धमिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचन प्रतिज्ञा यथा पवतोऽयमग्निमान । [न्याय ७६]

धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जसे यह पवत अग्नि वाला है।

जब धम और धर्मी मे भेद कथन की विवक्षा है तब तीन अग होत है। जब धम धर्मी के समुदाय की विवक्षा है तब दो अग माने जात हैं। यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है।

परार्थानुमान

दूसरे के उपदेश की सहायता से जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। नैयायिक कहता है कि परोपदेश वाक्य ही परार्थानमान हैं किंतु जैनाचाय वचनो को उपचार से ही प्रमाण मानत हैं वास्तव मे नही। अत मुख्य अनमान तो ज्ञान ही है न कि ज्ञान के कारण वचन। इस परार्थानुमान के भी स्वार्थानमान की तरह दो या तीन अग माने गये है।

नयायिक द्वारा मा य अनुमान क पाच अवयव

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमना यवयवा [या सत्र १ १ ३२]

प्रतिज्ञा हेतु उ ाहरण उ ानय और निगमन य अनुमान के पाच अवयव हैं।

पक्ष के प्रयोग को प्रतिज्ञा कहने है।

पचमी विभक्ति रूप लिग को हतु कहत हैं।

व्याप्ति को दिखलाते हुये दष्टात के कहने को उदाहरण कहते हैं।

दृष्टात की अपेक्षा लेकर पक्ष मे हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

हेतु पुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। इनके उदाहरण—

यह पवत अग्नि वाला है—प्रतिज्ञा

क्योकि धूम वाला है।—हेतु

जसे रसोईघर—अ वय दष्टांत। जम तालाब—व्यतिरेक दष्टात।

इसीलिये यह पवत धम वाला है—उपनय।

धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है - निगमन।

अनुमान प्रयोग पद्धति—

यह पवत अग्नि वाला है क्योकि धूमवाला है। जो जो धूम वाला होता है वह वह-वह अग्नि वाला होता है जसे रसोईघर। जो जो अग्नि वाला नही होता है, वह वह धूम वाला नहीं होता है जैसे तालाब। इसलिये यह पर्वत धूम वाला है। धूमवाला होने से यह अग्नि वाला है।

ये पांचों अवयव अनुमान प्रयोग के हैं इनमें से यदि एक भी न हो तो अनुमान प्रयोग गलत है। यहां तक नैयायिक ने कहा है।

जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह विचार गलत है क्योंकि वीतराग कथा मे शिष्यों के अभिप्राय से अधिक भी अवयव माने जाते हैं किंतु विजिगीष कथा मे प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कहे जाते हैं।

विजिगीष कथा

वादी और प्रतिवादी मे अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत हार होने तक जो परस्पर में चर्चा होती है वह विजिगीषु कथा है उसे वाद भी कहते है। [न्याय प ७९]

वीतराग कथा

गुरु तथा शिष्यो या रागद्वेष रहित विद्वानो म जो तत्त्व का निर्णय होने तक वचन प्रवृत्ति चर्चा होती है वह वीतराग कथा कहलाती है। यह सौम्यचर्चा है। [न्याय ८]

बौद्ध—लिग वचन रूप एक हेतु का ही वादकाल मे प्रयोग करना चाहिए प्रतिज्ञा का प्रयोग अनावश्यक है।

जन—यह कथन ठीक नही है क्योंकि हेतु के प्रयोग से व्युत्पन्न जनो को भी साध्य के सदेह का निवारण नही हो सकेगा अत प्रतिज्ञा का प्रयाग अवश्य करना चाहिये। जन सिद्धान्तानुसार वीतराग कथा मे शिष्यो के आशयानुसार प्रतिज्ञा हतु उदाहरण उपनय और निगमन इनमें से दो तीन चार या पांचो का भी प्रयोग कर सकत हैं। कोई बाधा नही है किन्तु वाद काल मे मात्र प्रतिज्ञा हतु इन दो अवयवी अनुमान ही बोलना चाहिए यह बात सिद्ध हुई।

जैन हतु का एक अविनाभाव लक्षण ही मानत हैं बौद्ध हत का त्ररूप्य एव नयायिक पाच रूप वाला मानत हैं। अब उनका निराकरण करत है।

बौद्ध के त्ररूप्य हेतु का निराकरण

'पक्षधमत्वादित्रितयलक्षणाल्लिंगादनुमोत्थानम । [न्या प ३]

पक्षधर्मत्व आदि तीन लक्षण वाले हेतु से अनुमान की उत्पति होती है ऐसा बौद्ध का कहना है। उसका स्पष्टीकरण—

पक्षधमत्व सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीन रूप हतु के लक्षण हैं।

पक्ष धर्मत्व—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहत हैं जैसे अग्नि के अनुमान मे पवत पक्ष है उस पक्ष मे व्याप्त होकर हतु का रहना पक्षधर्मत्व' है।

सपक्ष सत्त्व—साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहत हैं जैसे अग्नि के अनुमान मे रसोई घर' सपक्ष है। उस सपक्ष मे सब जगह हतु का रहना 'सपक्ष सत्व है।

विपक्षव्यावृत्ति—साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे—अग्नि के अनुमान में तालाब विपक्ष है उन सभी विपक्षों मे हेतु का न रहना 'विपक्ष व्यावृत्ति है।

ये तीनो रूप मिलकर हेतु का लक्षण है। यदि इन तीनो में से एक रूप भी न हो तो हेतु हेत्वाभास बन जाता है। यहाँ तक बौद्ध का पक्ष है। अब जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं।

जैन—यह बौद्ध का कथन ठीक नही है क्योकि पक्ष धमत्व के बिना भी कृतिकोदयादि हेतु शकटोदयादि साध्य को सिद्ध कर देत हैं। तथाहि— शकट मुहूर्तांते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति रोहिणी नक्षत्र का एक मुहूर्त के बाद उदय होगा क्योकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। इस अनुमान में 'रोहिणी नक्षत्र धर्मी पक्ष है। एक मुहूर्त के बाद उदय साध्य है और कृत्तिका नक्षत्र का उदय हेतु है किंतु यह कृतिकोदयात् हेतु अपने पक्ष भूत रोहिणी नक्षत्र मे नही रहता है। इसलिए इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' नही है फिर भी इसमे अयथानुपपत्ति मौजद है। अत यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर देता है। इसलिए बौद्धो के द्वारा मान्य हेत का त्ररूप्य लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

नयायिक सम्मत पांचरूप्य हेतु का कथन

नैयायिक पचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण—पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृति अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। उनमे से प्रथम तीन रूप के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो का लक्षण अबाधितविषयत्व—साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणो का न होना अबाधित विषयत्व है। असत्प्रतिक्षत्व—साध्य के अभाव को निश्चय करान वाले समान बल वाले प्रमाणो का न होना असत्प्रतिपक्षत्व है। उदाहरण द्वारा देखिये— यह पवत अग्नि वाला है क्योकि धूमवाला है जो-जो धूम वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है जैसे रसोई घर। जो जो अग्नि वाला नही होता है वह वह धूम वाला नही होता है जैमे तालाब। चूकि यह धूम वाला है इसलिए अग्नि वाला जरूर ही है। इन पाच अवयव रूप अनुमान प्रयोग मे धमत्वात हेतु है उसमे पक्षधर्मता है क्योकि वह पक्षभूत पवत मे रहता है।

सपक्षसत्त्व भी है क्योकि सपक्षभूत रसोई घर में रहता है। विपक्षव्यावृत्ति भी है क्योकि धूम हेतु तालाब आदि विपक्षो मे नही है। अबाधित विषयत्व भी है क्योकि धूम हेतु का जो अग्नि रूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्ष आदि से बाधित नही है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है क्योकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्यबल वाला कोई प्रमाण नही है। इन पाचो रूप सहित ही धूम हेत अपने अग्नि रूप साध्य का ज्ञान कराता है। इनमे से किसी एक रूप के न होने से एक एक दोष उपस्थित हो जाते हैं। पक्षधर्म के अभाव में असिद्ध दोष सपक्षसत्त्व के अभाव मे विरुद्ध दोष विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में अनकान्तिक दोष अबाधित विषयत्व के अभाव मे कालात्ययापदिष्ट दोष एव असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसम दोष ऐसे पांच रूप के अभाव मे हेतु के पाँच दोष होने से पाच हेत्वाभास प्रसिद्ध हैं। पृथक्-पृथक इनका स्पष्टीकरण—

असिद्ध हेत्वाभास—पक्ष में जिसका रहना असिद्ध हो वह असिद्ध हेत्वाभास है, जैसे—'शब्द अनित्य,

है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है । यहां चाक्षुषत्वात् हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेंद्रिय का विषय है

विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के अभाव के साथ जो हेतु व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे-शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है यहा कृतक हेतु अपने साध्यभूत नित्य से रहित अनित्य में व्याप्त है और सपक्ष आकाश आदि में नही रहता ह अत विरुद्ध हेत्वाभास ह ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—जो हेतु व्यभिचार सहित है साध्य के अभाव में भी रहता है या विपक्ष मे चला जाता है वह अनकान्तिक है । शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है यहा प्रमेयत्व हेतु अपने साध्य अनित्य का व्यभिचारी है । क्योकि आकाश आदि विपक्ष मे नित्यत्व के साथ भी रह जाता है अत विपक्ष से अलग न होने से यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है । जसे—अग्नि ठण्डी है क्योकि वह पदाथ है' यहा पदाथत्व हेतु अपने विषय ठण्डापन मे प्रत्यक्ष से बाधित है । अत अबाधितविषयता न होने से कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है ।

प्रकरणसम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है । जसे—शब्द अनित्य है क्योकि वह नित्यधर्म से रहित है । यहा नित्यधर्म रहितत्व हेतु का विरोधी साधन मौजूद है अर्थात् शब्द नित्य है क्योकि अनित्य धर्मों से रहित है इस प्रकार नित्यता का साधन करना उसका प्रतिपक्षी साधन है । अत असत्प्रतिपक्षता के न होने से नित्यधमरहितत्व हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है ।

इन पाच हेत्वाभास दोषो से रहित पांच रूपता हेतु का लक्षण है । पाचो रूपो मे से किसी एक से रहित होने से हेतु अहेतु है । यहा तक नैयायिक ने कहा है ।

जैनाचार्यों द्वारा पांचरूप्य हेतु का खडन

नैयायिको द्वारा हतु का पाचरूप्य लक्षण भी ठीक नही है क्योकि पक्षधर्मत्व से रहित भी कृत्तिकोदय हेतु' रोहिणी के उदय रूप साध्य का गमक है । अत पचरूपता लक्षण हेतु अव्याप्ति दोष से दूषित है । [न्या पृ ८५ ८८]

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिको ने ही हेतु के तीन भेद माने हैं । केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी । इन तीनो में से पहले के दो हतु में पाचरूपता नहीं है मात्र अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ही पांचरूपता है ।

केवलान्वयी हेतु

"पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहित केवलान्वयी । यथा—अदृष्टादय कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् [illegible] 'यथाग्न्यादि'' । [न्या पृ ८६]

जो पक्ष और सपक्ष मे रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी हेतु है जैसे—'पुण्यपापादि किसी के प्रत्यक्ष है क्योकि वे अनुमान से जाने जाते हैं । जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष होते हैं जैसे— अग्नि आदि । यहा पुण्यपापादि पक्ष है । किसी के प्रत्यक्ष' यह साध्य है अनुमान से जाना जाता है यह हेतु है । अग्नि आदि यह अन्वय दृष्टांत है । यह अनुमेयत्व' हेतु अदष्ट आदि पक्ष में रहता है और सपक्ष अग्नि आदि मे भी रहता है । अत इस हेतु मे पक्षधर्मत्व सपक्ष सत्त्व हैं । किन्तु विपक्ष यहाँ कोई है ही नही क्योकि सभी पदाथ पक्ष और सपक्ष मे आ गये इसलिये विपक्ष यावत्ति है ही नही ।

केवल व्यतिरेकी का कथन

पक्षवर्त्तिविपक्षव्यावृत्त सपक्षरहितो हेतु केवलव्यतिरेकी । यथा-जीवच्छरीर सात्मक भवितु मर्हति प्राणादिमत्त्वात यद्यत्सात्मक न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठ इति ।

[न्या पृ]

जो हेतु पक्ष मे रहता है विपक्ष मे नही रहता है और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवल व्यतिरेकी है । जैसे जिन्दा शरीर जीवसहित होना चाहिए क्योकि वह प्राणादि वाला है । जो जो जीव सहित नही होता है वह वह प्राणादिमान नही होता है जस मिट्टी का ढला । यहा जिदा शरीर पक्ष है जीवसहितत्व साध्य है । प्राणादिमान हेतु है और लोष्ठादिक व्यतिरेक दष्टान्त है । प्राणादिमान् हेतु पक्षभूत जिदा शरीर म रहता है और विपक्ष लोष्ठादिक से व्यावत्त ह । तथा सपक्ष यहा है ही नही क्योकि सभी पदाथ पक्ष और विपक्ष के अन्तगत हो जात हैं । अत इसम भी पचरूपता नही हैं ।

अन्वय व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण

तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात् यद्यत्कृतकं तत्तदनित्य यथा घट यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति यथा आकाश तथा चाय कृतक तस्माद नित्य एवेति । [न्या प ८६]

जो हेतु पाचरूपो से सहित है वह अन्वय व्यतिरेकी है । जैसे शब्द अनित्य है क्योकि कृतक है जो जो किया जाता है वह-वह अनित्य होता है जसे घडा जो जो अनित्य नहीं होता है वह वह किया नही जाता जसे—आकाश और यह शब्द किया जाता है इसलिए अनित्य ही है ।

यहाँ शब्द पक्ष है उसकी अनित्यता साध्य है। कृतकत्व हेतु है । वह हेतु पक्षभूत शब्द का धर्म है अत इस हेतु मे पक्षधमत्व है । सपक्ष घटादिको में रहता है अत 'सपक्षसत्त्व है । विपक्ष आकाश मे नहीं रहता है अत विपक्ष से व्यावृत्त है । हेतु का विषय—अनित्य किसी प्रमाण से बाधित नही है अत अबाधितविषयत्व है । एव प्रतिपक्षी साधन के न होने से असत्प्रतिपक्षत्व भी विद्यमान है । अत कृतकत्वात् हेतु इन पाचो रूपा से विशिष्ट होने से 'अन्वयव्यतिरेकी' कहलाता है ।

इन तीन हेतुओं के लक्षण से आप नैयायिकों द्वारा ही मान्य हेतु की पंचरूपता का निराकरण हो जाता है। क्योंकि केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में पंचरूपता नहीं है।

जो नैयायिक का कहना है कि असिद्ध विरुद्ध आदि पाँचों दोषों को दूर करने के लिये हेतु में पांच रूपता है वह भी गलत है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति लक्षण से विशिष्ट हेतु असिद्ध आदि दोषों का निराकरण कर देता है और यदि ये पांच रूप विद्यमान हैं किंतु अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव नहीं है तब तो वह हेतु हेत्वाभास ही कहलाता है। तथाहि—

[पांचरूप्य त्रैरूप्यहेतु हेत्वाभास क्यों है ?]

गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वात् संप्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्।

[या पृ ६१]

गर्भ मे स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिये क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह। यहां मैत्रीतनयत्वात् हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र मे रहता है अतः इस हेतु मे पक्ष धर्मत्व मौजूद है। सपक्षभूत मौजूद मैत्री पुत्रों मे रहने से सपक्षसत्त्व भी है विपक्षभूत गोरे चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्ष से व्यावृत्ति रूप भी है। कोई बाधा नहीं है इसलिये अबाधितविषयता भी है क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का कालापन किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। विरोधी समान बल वाला कोई प्रमाण न होने से इस हेतु मे असत्प्रतिपक्षत्व भी है। इस प्रकार मैत्रीतनयत्वात् हेतु में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो हजार मे सौ के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं किंतु अन्यथानुपपत्ति न होने से यह हेतु हेत्वाभास है क्योंकि मैत्रीतनयत्वात् हेतु से गर्भस्थ पुत्रों के कालेपन का अविनाभाव निश्चित नहीं है कदाचित गर्भस्थ बालक गोरा भी हो सकता है।

अतः अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ही सम्यक हेतु है। यदि अन्यथानुपपत्ति से सहित ही पांचरूपता हेतु का लक्षण है तो अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण सिद्ध है पांच रूपता नहीं है।

[बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण]

'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१॥

अर्थ—जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां तीन रूपों के मानने से क्या ? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहां तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना हेतु की तीन रूपता अभिमत फल का संपादक नहीं है। बौद्धों के लिये यह उत्तर है।

[नैयायिक के पांचरूप्य हेतु का खंडन]

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥२॥

[प्रमाण प पृ ७२]

अथ—जहाँ हेतु मे अन्यथानुपपत्ति है वहा पाच रूपो के मानने से क्या प्रयोजन है ? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नही है वहाँ पाच रूपो के सदभाव से भी क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पाच रूप सवथा निष्फल है। अन्यथानुपपत्ति -जो साध्य के साथ अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नही होता है वह अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु है।

हेतु के दो भेद हैं—विधि रूप और निषध रूप। विधि रूप हेत के भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक ऐसे दो भेद है एव निषध रूप हेत के भी दो भेद हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक।

इन सबके भेद प्रभेदो के नाम बताये जा चुके है।

विशेष लक्षण अन्य ग्रथा से देख लेना चाहिये।

जैनाचार्यों ने हेत्वाभास के चार भेद ही माने हैं जिनका वणन पहले किया जा चुका है।

[आगम का लक्षण]

"आप्तवाक्यनिबधनमथज्ञानमागम। [या प ११३]

आप्त के वचनो से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

[आप्त का लक्षण]

आप्त प्रमितिसकलाथत्व सति परमहितोपदेश। [न्या पृ ११]

जो प्रत्यक्ष ज्ञान मे समस्त पदार्थों का ज्ञाता—सवज्ञ है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है।

नयायिक आदि के द्वारा माने गये आप्त सवज्ञ न होने मे आप्ताभास है—सच्चे आप्त नहीं हैं। क्योकि उनके द्वारा माने गये आप्त का ज्ञान स्वय को नही जानता है। पुन उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानातर भी नही है। जब वह ईश्वर विशेषण भूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञान विशिष्ट आत्मा को कि मैं सवज्ञ ह। ऐसा कमे जानेगा ? और जब अनात्मज्ञ है तब असवज्ञ ही है सर्वज्ञ नही है। एव बद्ध आदि भी सच्चे आप्त नहा है। इसका स्पष्टोकरण आगे किया जायगा।

[प्रमाण का विषय]

'अनेके अन्ता धर्मा सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्त। [न्या ११७]

जिसमे अनेको अत धम सामान्य विशेष पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकात कहते हैं। मतलब सामान्य आदि अनेक धम वाले पदाथ को अनेकात कहते हैं।

तत्र सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम। तद्धि घटत्व पृथुबुध्नोदराकार गोत्वमिति सास्नादिमत्वमेव।

[न्या ११७]

अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक घटत्व' गोत्व आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं। वह घटत्व स्थूल कम्बु ग्रीवादि स्वरूप तथा गोत्व सास्ना आदि स्वरूप ही है।

विशेषोऽपि स्थूलोऽयं घटः सूक्ष्मः इत्यादि व्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं घटादिस्वरूपमेव ।'

[न्या पृ १२]

विशेष भी सामान्य की ही तरह यह स्थूल घट है यह छोटा है। इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्ति स्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यनंदि भट्टारक ने भी कहा है कि 'प्रमाण का विषय सामान्य विशेष रूप है।

पर्याय—परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं अर्थपर्याय व्यंजन पर्याय।

उसमे भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने रूप अर्थक्रियाकारिता का नाम व्यक्ति-व्यंजन है उस व्यंजन से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे—मिट्टी आदि को पिंड स्थास कोश कुशूल और कपाल आदि पर्यायें ह।

गुण—जो सपूर्ण द्रव्य मे व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायो के साथ रहने वाले ह उन्ह गुण कहते ह। और वे वस्तुत्व रूप गध स्पर्श आदि हैं। गुण के भी दो भेद ह—सामान्य और विशेष। जो सभी द्रव्यो मे रहें वे सामान्य गुण ह जैसे अस्तित्व वस्तुत्व आदि। जो उसी एक द्रव्य मे रहते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे—रूपरसादि। इन सामान्य विशेष रूप गुण और पर्यायो का आश्रय द्रव्य है। ऐसी अनेकान्तात्मक द्रव्य रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है। एव अनेक धर्मात्मक वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण है। वस्तु के एक धर्म को सापेक्ष ग्रहण करन वाला नय है। वस्त के एक धम को निरपेक्ष रूप से ग्रहण करन वाले नय नयाभास या कुनय कहलाते हैं।

यहा तक सक्षेप से प्रमाण और प्रमाणाभास को बताया है आगे कुछ विशेष समीक्षा करते हैं।

प्रमाणो के बारे मे विशेष समीक्षा

प्रमाण विचार

दार्शनिक परम्परा में सवत्र प्रमीयते येन तत्प्रमाण इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं।

नास्तिक वादी चार्वाक ने मान त्वक्षजमेव हि' इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है।

वैशेषिक-नैयायिक

दार्शनिक लोगों में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। अदुष्ट विद्या' [वैशेषिक सूत्र ९-२-१२] निर्दोष विद्या को प्रमाण कहा है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्याय सूत्र में तो प्रमाण का सामान्य लक्षण उपलब्ध नहीं है पर

उनके टीकाकार वात्स्यायन ने अवश्य ही लक्षण किया है— उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि [न्याय भा पृ १८] उपलब्धियो के साधन को प्रमाण माना है।

उद्योत कर ने भी उपलब्धिहेतु प्रमाण [याय वा प ५] उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहा है।

जयतभट्टने प्रमाकरण प्रमाण [न्याय म प २५] प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।

उदयन ने यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते [या कुसु ४ १] यथाथ अनुभव को प्रमाण कहा है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखना कि उदयन के पहले याय वशेषिक दशन मे अनुभव पद दृष्टि गोचर नही होता है।

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक दशन मे प्रमा के करण को प्रमाण माना गया है। उन्होने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने हैं—इन्द्रिय इद्रियाथ सन्निकष और ज्ञान। किन्तु इद्रिय और इन्द्रियाथ सन्निकष को प्रत्यक्ष प्रमा का कारण मानना ठीक नही है क्योकि इन्द्रिय और सन्निकष अज्ञान रूप हैं अत वे अज्ञान की निवत्ति रूप प्रमा के करण कसे हो सकते हैं? अज्ञान निवत्ति मे अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही होना चाहिए। सन्निकष को प्रमाण कहने मे पहले दोष दिखाया है।

वृद्ध नयायिको ने कहा है कि— अ यभिचारिणीमसदिग्धामर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाण। [न्याय म प १२]

अ यभिचारिणी असदिग्ध अथ की उपलब्धि को कराने वाली ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनो प्रकार की सामग्री ही प्रमा का करण है वही प्रमाण है। अत वे कारक साकल्य इद्रिय मन पदाथ प्रकाश आदि कारणो की समग्रता को प्रमाण कहते हैं। इस विषय मे यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि अथ की उपलब्धि मे साधकतम कारण तो ज्ञान है और कारक साकल्य की साधकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने मे है क्योकि ज्ञान को उत्पन्न किये बिना कारक साकल्य अर्थ का बोध नही करा सकते। अत प्रमा का करण रूप प्रमाण ज्ञान ही है इन्द्रिय सन्निकष कारक साकल्य आदि नही हैं क्योकि ये अचेतन हैं।

मीमांसक —

मीमांसा दशन मे प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं—उनमे से प्राभाकरो ने— अनुभूतिश्च न प्रमाणम [बहती १ १ ५] अनुभूति ही प्रमाण का लक्षण है ऐसा कहा है। एव ज्ञातृ व्यापार को भी प्रमाण कहा है।

कि तु एक ही अथ की अनुभूति विभिन्न यक्तियो को अपनी अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है इसलिये केवल अनुभूति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानने मे उनका मतलब यह है कि अथ प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता हैं अत ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञाता का व्यापार अर्थ प्रकाशन मे या उसके जानने मे प्रमाण तभी माना जा सकता है जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु के बोध मे कारण हो। जहां पर यथार्थ वस्तु के ज्ञान में कारण न होकर विपरीत ही अर्थ ज्ञान करा रहा है वहां प्रमाण कैसे होगा?

भाट्टों ने 'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाणम्' [शा दी पृ १२३]

अज्ञात यथावस्थित अर्थ के जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है किंतु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योकि उन्होंने स्वय गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना है।

कुमारिल भट्ट ने प्रमाण के सामान्य लक्षण मे पाच विशेषण दिये हैं—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् । [प्रमाण वा पृ २१]

जो अपूर्व को जानने वाला हो निश्चित हो बाधाओ से रहित हो निर्दोष कारणो से उत्पन्न हुआ हो और लोकसम्मत हो वह प्रमाण कहलाता है।

उक्त प्रमाण लक्षण में यद्यपि कोई बात आपत्ति जनक प्रतीत नही होती फिर भी अन्य दार्शनिको ने इस लक्षण की आलोचना की है। विशेष दूषण यह है कि—मीमासको ने ज्ञान को परोक्ष माना है किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नही है क्योकि जो ज्ञान स्वय परोक्ष है वह प्रमाण कैसे हो सकता है?

बौद्ध—

बौद्ध दर्शन मे **अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्** [प्रमाण स टी पृ ११] अज्ञात के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

दिग्नाग ने— **स्वसंवित्ति फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चय ।**

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ।। [प्रमाण स पृ २१]

विषयाकार को प्रमाण तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण मे अविसंवादी पद को जोडकर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण का ही समर्थन किया है। तत्त्वसंग्रहकार शांतरक्षित ने सारूप्य और योग्यता को प्रमाण माना है। तथा विषयाधिगति और स्वसंवित्ति को फल माना है। मोक्षाकार गुप्त ने—**प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्** [तर्क भा मोक्षाकार गुप्त प १]

अपूर्व अर्थ को विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस प्रकार बौद्धो ने अज्ञातार्थ प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है।

बौद्धो के यहां प्रमाण और फल मे अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञान रूप है तथापि विषयाकारता को ही इन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञान गत सारूप्य ज्ञान स्वरूप ही है फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है क्योकि अमूर्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थों के आकार होना संभव नही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को विषयो के आकार होना ही मानने से सशय विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार हैं।

सांख्य—

साख्यो ने इन्द्रियवृत्ति प्रमाणम् [योगद व्या पृ २७]

श्रोत्रादि इन्द्रियो की वत्ति–व्यापार को प्रमाण माना है। किन्तु इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण मानना उचित नही है क्योकि इन्द्रियो के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञान रूप ही होगा। अत अज्ञान रूप व्यापार जानने रूप क्रिया का साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

उपसंहार—यौग (नयायिक वशेषिक) इन्द्रिय इन्द्रियाथ सन्निकष और ज्ञान को प्रमा का करण मानते हैं। प्राभाकर ज्ञाता के व्यापार को मीमासक इन्द्रिय को बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को जानने रूप क्रिया का करण मानते हैं किन्तु ये सब मान्यताए दूषित हैं। इनको विशेष समझने के लिए प्रमेयकमल मातड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जनाचाय ज्ञान को ही प्रमा—जानने रूप क्रिया का करण कहते हैं। उसीका स्पष्टीकरण—

जन—

जैन दशन मे आचाय श्री समन्तभद्र महोदय ने तत्त्वज्ञान प्रमाण तत्त्व ज्ञान को प्रमाण कहा है [अष्ट स] अन्यत्र स्वयभूस्तोत्र म—स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षण स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

आचाय सिद्धसेन दिवाकर ने प्रमाण स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम [न्यायावतार श्लो १]

स्वपर अवभासी तथा बाधारहित ज्ञान को प्रमाण कहा है। श्री अकलक देव ने व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम अपने और अथ के ग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

[लघीयत्रय का ६०]

अन्यत्र श्री अकलक देव ने ही — प्रमाणमविसवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्

[अष्टशती का ३६]

अनधिगत अथ को जानने वाले अविसवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा है

श्री विद्यानन्द महोदय ने सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम [प्रमाणपरी पृ ५१] पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहकर पुन स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञानत्वात [प्रमाण प]

सम्यग्ज्ञान स्वाथ व्यवसायात्मक है क्योकि वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसा स्पष्ट किया है।

इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूव विशेषण नहीं दिया है। क्योकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अथ को जाने या गृहीत अर्थ को स्वार्थ व्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है किन्तु माणिक्यनन्दि आचाय महोदय ने— स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् [परीक्षा मु सू १]

स्व और अपूर्व अथ के व्यवसायात्मक—निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। एवं स्वयं ग्रन्थकार ने अपूर्वार्थ पद का लक्षण किया है—अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥ [प मु प्र प.]

जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया है वह अपूर्वार्थ है। अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थ ग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नही गई है वह अपूर्वार्थ है। क्योकि जो किसी ज्ञान से जान ली गयी है उसका जानना व्यर्थ है इस वास्ते अपूव विशेषण सूत्र मे दिया है। इसलिए यहां पर ईहा आदि ज्ञानो का विषय भूत पदाथ अवग्रह आदि ज्ञानो के द्वारा ज्ञात होने पर भी पूर्वार्थ नही है, अपितु अपूर्वाथ ही है क्याकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है। अन्य प्रकार से भी अपूव का लक्षण करते हैं -

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक ॥५॥ [प मु प्र प]

दृष्ट—अन्य किसी प्रमाण के द्वारा जाने गये पदाथ म भी समारोप-सशय विपयय या अनध्यवसाय आ जाता है तो वे भी अपूर्वाथ हो जाते है।

इस प्रकार से जनाचार्यों द्वारा कथित सभी प्रमाण के लक्षणो मे विरोध नही है। ये लक्षण एक दूसरे के समर्थक है क्योकि वास्तव में ज्ञान ही प्रमाण कहलाने योग्य है। उस ज्ञान से ही हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमथ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है अन्य इन्द्रिय सन्निकष आदि अचेतन से नही हो सकता है। अत स्वपर प्रकाशी सम्यक तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। यह समझना चाहिए।

प्रमाण के भेद का विचार

चार्वाक ने एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना है।

बौद्ध और वशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। सांख्य ने प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन भेद माने हैं। नयायिक ने उसमे उपमान और मिला दिया है। मीमांसक इसी मे अर्थापत्ति और अभाव मिलाकर छह भेद कर देते हैं।

जनाचार्यों ने सवत्र प्रमाण के दो भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदो मे ही उपर्युक्त प्रमाण के भेद गर्भित हो जाते हैं।

सिद्धान्त ग्रन्थो मे आचाय श्री उमास्वामी आदि ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये है विकल और सकल विकल में अवधि मन पर्यय एवं सकल मे केवल ज्ञान है।

परोक्ष प्रमाण के मति श्रुत दो भेद करके मतिज्ञान के पर्यायवाची नामो मे श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि—'मति स्मृति संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम ॥१३॥ मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान ये पाँचो मतिज्ञान के ही पर्याय वाची नाम है। [तत्त्वार्थसूत्र प्र अ]

न्याय ग्रन्थो में आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये है सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है। और उसके अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा रूप से चार भेद करके पांच इन्द्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि पदार्थ के १२ भेदो से भी गुणित

करके ३३६ भेद कर दिये है। जिनका स्पष्टीकरण पहले आ चुका है। पारमार्थिक के विकल सकल भेद करते हैं। तथा मति के पर्याय वाची स्मति आदि चारो को परोक्ष मे ले लेते हैं। उन चारो में श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण से मिलाकर के परोक्ष के पाच भेद कर देते हैं यथा—स्मृति प्रत्यभिज्ञान तक अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पाच भेद है।

क्योकि स्मृति आदि मतिज्ञान के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही हैं। यही कारण है कि इन्हे परोक्ष मे लिया गया है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण मे ज्ञान के पाचो भेद आ जाते है।

अन्य दार्शनिको ने स्मति प्रत्यभिज्ञान और तक को पृथक से प्रमाण मे नही लिया है। अत सभी के द्वारा मान्य प्रमाण सख्या अपूर्ण है।

जनाचार्यों ने अन्य जनो द्वारा मान्य उपमान प्रमाण को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान म अन्तभू त कर लिया है। अर्थापत्ति प्रमाण तो अनुमान मे हो शामिल हो जाता है। एव अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो मे अन्तर्भाव हो जाता है ऐसा बताया है। क्योकि—

गृहीत्वा वस्तुसदभाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम।
मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ [कुमारिल मीमासा श्लोक]

यहाँ वस्तु का सदभाव घट रहित केवल भूतल को देखकर और प्रतियोगी घट की याद कर बाह्य इन्द्रियो की अपेक्षा से रहित नही है इस रूप जो मानस ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है ऐसा मीमासक मत मे कुमारिल भट्ट का कहना है। अत भूतल को देखना प्रत्यक्ष में शामिल है। घट का स्मरण स्मति ज्ञान मे अन्तभू त है। इत्यादि।

प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार

दार्शनिक जगत् मे प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है।

नयायिक और वशेषिक— इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्प नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। [न्याय स १ १ ४]

इन्द्रिय और पदाथ क सन्निकष से उत्पन्न होने वाला अव्यपदेश्य अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

मतलब सामान्यतया ये लोग इन्द्रिय और अथ के सन्निकष को प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्य—श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम। ये लोग निर्विकल्प श्रोत्र आदि इन्द्रियो के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।

मीमांसक—'तत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियाणां बुद्धिजन्म तत प्रत्यक्षम्। [जैमिनि १ १ ४]

इन्द्रियो का आत्मा के साथ सयोग होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्ध—

बौद्धदर्शन मे तीन मान्यताय हैं—वसुबन्धु दिग्नाग और धर्मकीर्ति। वसुबन्धु ने— **अर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्** [प्रमाण स पृ ३२] अर्थजन्य निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

दिग्नाग ने—**प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्** [प्रमाण स १ ३]

नाम जाति आदि रूप कल्पना से रहित निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

धर्मकीर्ति ने—**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्** [न्यायबिन्दु प ११]

निर्विकल्प तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

सामान्यतया सभी बौद्ध तार्किको ने निर्विकल्प को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।

जैनाचार्य—

जैनाचार्यों ने **प्रत्यक्ष विशद ज्ञानं** [लघीयस्त्रय का ३] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्पष्ट निर्मल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। सिद्धान्त ग्रन्थो मे तो आत्मा से उत्पन्न हुये ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है किन्तु न्याय मे इन्द्रिय मन निमित्तक ज्ञान का भी सान्व्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है।

अकलक देव ने प्रत्यक्ष लक्षण मे उपात्त वैशद्य का खुलासा कर दिया है यथा—

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्य मत बुद्धेरवैशद्यमत परम्॥ [लघी का ४]

जो अनुमान आदि की अपेक्षा से रहित ज्ञान का विशेष प्रतिभास है वह वैशद्य—विशदता है इससे भिन्न अवैशद्य है।

ज्ञान के कारण—

बौद्ध ज्ञान के प्रति अर्थ और आलोक को कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययो—कारणो से सपूर्ण ज्ञानो (स्वसवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये हैं—समनतरप्रत्यय आधिपत्य प्रत्यय आलम्बनप्रत्यय और सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण होता है इस लिये वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है।

चक्षुरादिक इन्द्रिया आधिपत्य प्रत्यय कही जाती है।

अर्थ—विषय 'आलबन प्रत्यय कहा जाता है। आलोक आदि सहकारी प्रत्यय है।

इस तरह बौद्धो ने इन्द्रियो के अलावा अर्थ और आलोक को भी कारण स्वीकार किया है। अर्थ की कारणता पर तो यहा तक कह दिया है कि ज्ञान यदि अर्थ से उत्पन्न न हो तो वह अर्थ को जान भी नहीं सकता है। उनका यह सिद्धान्त है कि नाकारण विषय जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण नही है वह ज्ञान का विषय भी नही है। इसीलिय ये बौद्ध अर्थ से ज्ञान का तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय रूप मानते हैं और इसी से प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध करते हैं।

नैयायिक भी अर्थ को ज्ञान का कारण मानते हैं परन्तु अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। क्योंकि ये लोग ज्ञान के प्रति सीधा कारण सन्निकर्ष को मानते है। इसीलिए जैनों ने नैयायिक आदि के अर्थकारणतावाद पर इतना विचार नहीं किया है जितना कि बौद्धो के अर्थालोक कारणतावाद पर किया है। जैनाचार्य आवरण के क्षयोपशम को ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। इस विषय पर श्री अकलंक देव ने संक्षेप में कह दिया है कि—

अयमर्थ इति ज्ञान विद्यान्नोत्पत्तिरर्थत ।
अन्यथा न विवाद स्यात कुलालादिघटादिवत ॥ [लघीय ५३]

यह अर्थ है ज्ञान तो यह जानता है किन्तु अर्थ से मैं उत्पन्न हुआ हू इस बात को वह नहीं जानता है यदि जानता तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिये था। अत ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष

सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम [लघीय स्वोप का ४]

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मन से जन्य ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। साव्यवहारिक उसे इसलिये कहते है कि लोक मे दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय मन सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव मे तो जो ज्ञान पर निरपेक्ष एव आत्म मात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अत लोक व्यवहार की दृष्टि से अक्षजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने मे कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा मे तो उसे परोक्ष ही कहा गया है।

मुख्य प्रत्यक्ष

दार्शनिक जगत मे प्राय सभी ने एक ऐसा प्रत्यक्ष स्वीकार किया है जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष या योगिज्ञान के नाम से कहा गया है। यद्यपि किसी किसी ने इस प्रत्यक्ष मे मन की अपेक्षा वर्णित की है तथापि योगजधर्म की प्रमुखता होने के कारण उसे अलौकिक ही कहा है। कुछ ही हो यह अवश्य मानना पडेगा कि आत्मा मे एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन दर्शन मे ऐसे ही आत्म मात्र सापेक्ष साक्षात स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण का विचार

जैन दर्शन मे प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धो ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषय भूत अर्थ मे किया है। यथा— **द्विविधो अर्थ प्रत्यक्ष परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषय साक्षात्क्रियमाण प्रत्यक्ष । परोक्ष पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषय ।** [प्रमाण प पृ ६५]

अर्थ के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उसमे प्रत्यक्ष का विषयभूत साक्षात् किया गया अर्थ प्रत्यक्ष है। परोक्ष अर्थात् असाक्षात किया गया पदार्थ परोक्ष है वह अनुमेय रूप होने से अनुमान का विषय है।

किन्तु जैनदर्शन में परोक्ष शब्द का प्रयोग परोक्षज्ञान में ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। प्राय लोक व्यवहार मे इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को परोक्ष कहा गया है जबकि जैन दर्शन में इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है। यथा—
उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्'॥६॥ उपात्त इन्द्रिय और मन अनुपात्त प्रकाश उपदेश आदि ये पर हैं इनकी प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। [तत्त्वार्थ वा पृ ५२]

श्री अकलंक देव ने ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।

[लघीय स्वो का ३]

विशद निर्भासी ज्ञान ही प्रत्यक्ष है एव इससे भिन्न परोक्ष है ऐसा कहा है बौद्ध सांख्य आदि किसी ने भी परोक्ष प्रमाण नही माना है किन्तु अनुमान आगम उपमान आदि को प्रमाण मानते हैं संख्या के प्रकरण मे इस बात को स्पष्ट किया है कि परोक्ष प्रमाण को माने बिना प्रमाणों की व्यवस्था पूरी नही होती है। बौद्ध ने अनुमान को मान लिया किन्तु स्मृति आगम आदि को प्रमाण नही माना है। निष्कर्ष यही निकलता है कि स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगम मे पाच प्रमाण ही परोक्ष है। न्याय ग्रन्थ मे आचार्यों ने मतिज्ञान के अंशरूप मति —इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर शेष स्मृति आदि को परोक्ष कहा है क्योंकि स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये ज्ञान भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं।

परोक्ष के भेद प्रभेद पर विचार

बौद्ध—

त्रिरूप वाले हेतु से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है। अनुमान के दो भेद हैं— स्वार्थ परार्थ।

वैशेषिक-नैयायिक—

तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च यह न्याय दर्शन का सूत्र है। प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होता है उसके तीन भेद हैं पूर्ववत शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

कोई इस प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इनमे से केवलान्वयी को पूर्ववत् कहते हैं क्योंकि पूर्वमन्वय। जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है उसे केवलान्वयी पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। केवलव्यतिरेकी को शेषवत् एवं अन्वय व्यतिरेकी को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं।

उपमान—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौ के समान गवय होता है।

मीमांसक—

मीमांसक ने चतुलक्षणलिंग से उत्पन्न साध्य ज्ञान को अनुमान कहा है। नियत संबंध का एक देश देखना संबंध नियम का स्मरण करना अबाधक होना और अबाधित विषय वाला होना इत्यादि।

[प्रकरण प० पृ ६४ ७६]

ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम् साध्य और साधन के अविनाभाव का यथार्थ परिज्ञान रखने वाले पुरुष को एक देश साधन के देखने से साध्य अर्थ का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है। ऐसे ही आगम उपमान अर्थापत्ति और अभाव ये सब परोक्ष प्रमाण हैं किन्तु इन सभी के यहां स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण न होने से अनुमान आदि का लक्षण असंभव है। स्मृति और तर्क के बिना हेतु से साध्य का ज्ञान कैसे हो सकता है। किसी ने कभी अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा है तभी तो वह केवल धूम देखकर पहले के संबंध का स्मरण करके तर्कज्ञान से धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव समझ कर धूमहेतु से अग्नि का अनुमान लगाता है।

अनुमान के अवयव

नैयायिक हेतु के पांच अवयव मानते हैं यथा— **प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः**

[तर्कसंग्रह]

प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन। न्याय सूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने नैयायिकों की दश अवयव मान्यता का भी उल्लेख किया है— **दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन संशयव्युदास इति** [न्यायवात्स्या भाष्य १ १ ३२]

उपर्युक्त पांच में जिज्ञासा संशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन और संशयव्युदास मिला देने से दश अवयव हो जाते हैं।

बौद्ध—

बौद्धों ने अनुमान का हेतु रूप एक ही अवयव माना है। धर्मकीर्ति ने हेतु और दृष्टांत ऐसे दो अवयवों को स्वीकार किया है। दिग्नाग ने पक्ष हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव भी मान लिये हैं। मुख्य रूप से बौद्ध के यहां केवल एक हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना गया है। उसका कहना है कि केवल हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का बोध हो जाता है। **मीमांसक** तीन अवयव मानते हैं—पक्ष हेतु दृष्टांत। कहीं पर चार भी मानते हैं। **सांख्य** भी तीन अवयव मानते हैं। मतलब यह है कि बौद्ध एक दो और तीन अवयव मानते हैं नैयायिक पांच ही मानते हैं। मीमांसक चार और तीन मानते हैं एवं सांख्य तीन अवयव मानते हैं।

जैनाचार्यों ने मात्र **एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्** [परीक्षामुख] इस सूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा और हेतु ऐसे दो ही अवयव मानते हैं उनका कहना है कि दृष्टांत उपनय और निगमन इन तीनों की स्वीकारता शास्त्र में बालबुद्धि वालों को समझाने के लिये होती है किन्तु वाद काल में नहीं होती है वहाँ पर विद्वान पुरुषों को दो ही अवयव प्रयुक्त करने चाहिये।

हेतु के लक्षण पर विचार

बौद्ध सांख्य और वैशेषिक हेतु का त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अधिकाशतः बौद्धों का ही प्रसिद्ध है फिर भी त्रैरूप्य की मान्यता साख्य और वैशेषिकों की भी है। इनकी ये परंपरा बौद्धो से प्राचीन है दिग्नाग के पहले होने वाले प्रशस्तपाद ने अपने प्रशस्तपादभाष्य मे [पृ० १०० में काश्यप और (कणाद) कथित] दो पद्यो को उद्धृत किया है जिनमे पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। नैयायिक ने पाँच अवयव माने हैं यथा— पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति एतै पचभिल क्षणैरुपपन्न लिंगमनुमापक भवति

[न्याय म प १०१]

इन तीन रूप और पाच रूप की मान्यता अति प्रसिद्ध है किंतु इनके अलावा भी हेतु के द्विलक्षण चतुर्लक्षण और षडलक्षण एव एकलक्षण की मान्यताओ का उल्लेख तक ग्रन्थो मे पाया जाता है। इनमे चतु लक्षण की मान्यता सभवत मीमासको की मालूम होती है। जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमासक विद्वान प्रभाकरानुयायी शालिकानाथ ने किया है।

इन सबका खडन करते हुये जैनाचार्यों ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जिसका नाम है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य साधन का अविनाभाव। इसका भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

हेत्वाभास पर विचार

नैयायिक हेतु के पाच रूप मानते हैं अत उन्होने एक एक रूप के अभाव मे पाच हेत्वाभास माने हैं। असिद्ध विरुद्ध अनैकांतिक कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। [न्यायक प १४]

वैशेषिक और बौद्ध हेतु के तीन रूप स्वीकार करते है इसलिये उन्होने तीन हेत्वाभास माने हैं— असिद्ध विरुद्ध अनैकांतिक। साख्य ने भी त्रैरूप्य हेतु के विपरीत ये ही तीन हेत्वाभास माने हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासो के अलावा एक चौथे हेत्वाभास की कल्पना भी की है जिसका नाम है अनध्यवसित [प्र भा पृ ११६]

जैन विद्वान हेतु का केवल एक ही अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं अत उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिये। इस सबध मे सूक्ष्मप्रज्ञ श्री अकलक देव ने बडी योग्यता से उत्तर दिया है साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्न ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसदिग्धा अकिंचित्करविस्तरा। [न्याय वि का २६६]

वस्तुत हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध असिद्ध और संदिग्ध ये उसी के विस्तार हैं। चूं कि अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है अत हेत्वाभास के असिद्ध विरुद्ध व्यभिचारी और अकिंचित्कर ये चार भेद भी मानेगये हैं।

आगम प्रमाण का विचार

यद्यपि चार्वाक आगम प्रमाण नही मानता है फिर भी बृहस्पति गुरु को चार्वाक मत प्रवर्तक मानता है अत उन बृहस्पति के द्वारा कहे गये वचन और तत्त्व ही आगम सिद्ध होते हैं अन्यथा वे अपने गुरु

कथित तत्त्वों का वर्णन या गुरु का नामोल्लेख भी कैसे कर सकेंगे ?

बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को ही प्रमाण माना है अत ये लोग भी आगम को प्रमाण नही मानते हैं। फिर भी आगम आदि अप्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान मे अतभू त है क्योंकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थ को विषय करने वाले प्रमाणहैं । ऐसा कहा है [षट दशन प ५७]

एव बौद्धो ने त्रिपिटक ग्रन्थ को भी माना है। उनका कहना है कि महात्मा बुद्ध के वचनो का सकलन उनके निकटतम शिष्यो द्वारा त्रिपिटको मे ही हुआ है। उनके नाम—विनयपिटक सुत्त पिटक और अभिधम्मपिटक हैं। इनकी भाषा पालि है। इन ग्रथो मे केवल प्राचीन बौद्ध धम का वणन मिलता है। अस्तु ! बुद्ध भगवान वक्ता ही प्रमाण नही हैं तब उनके आगम भी प्रमाण कसे होगे ? बुद्ध की प्रमाणता—आप्तता का निराकरण आप्तसमीक्षा मे किया जावेगा।

न यायिक—

नयायिको ने कहा है कि शाब्दमाप्तोपदशस्तु [षडद प १ ६]

आप्त के उपदेश को आगम प्रमाण कहते हैं। जो एकात से सदा सत्यवादी और हितकारी है वही आप्त है। आप्त के वचन को आप्तोपदेश कहते है।

वशषिक ने प्रत्येक अनमान दो ही प्रमाण मान हैं अत आगम को प्रमाण नही माना है किंत आगम अवश्य माना है।

सांख्य न आप्त और वेदो के वचनो को शाब्द—आगम प्रमाण कहा है। रागद्वषादि से रहित वीतराग ब्रह्म सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रु ति—वेद इन्ही के वचन आगम हैं। (षडद)

मीमांसक शाब्दशाब्दवतवदोत्थ —नित्यवेद से उत्पन्न होन वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।

(षडद पृ ४४)

वास्तव मे इन नयायिक वशषिक न जो ईश्वर का लक्षण किया ह उसका आप्त समीक्षा मे विचार किया जावेगा। जब इनका मा य आप्त ही सिद्ध नही ह तब उनके वचन आगम कसे हो सकेंग ?

यही हाल साख्या का है उ होन भी कपिल को आप्त माना ह परतु उनकी मान्यता ठीक नही है। अत उनके आगम प्रमाण का लक्षण गलत सिद्ध होता ह।

अपौरुषेय वेद का विचार

मीमांसक ने तो वेद को अपौरुषय सिद्ध करने मे बडा पुरुषाथ लगाया है। इनका कहना है कि 'वेद अपौरुषय है इसलिये वे प्रमाण हैं क्योकि उनके कर्त्ता का स्मरण नही है अत वेद वाक्यों से ही धर्म अधम आदि अतीद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है। जनाचाय उनस ऐसा पूछते हैं कि भाई ! उन वेद वाक्यो का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? यदि व्याख्याता रागी है तो विपरीत अर्थ भी कर देगा। यदि वीतरागी कहो तो आप सवज्ञ मानते नही। इत्यादि रूप से वेद प्रमाणीक नहीं हैं क्योंकि उनमे परस्पर विरोधी वचन पाये जाते हैं।

यद्यपि मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय कहा है फिर भी उन्हीं के यहां किन्हीं किन्ही ने वेद के कर्ता भी मान लिये हैं। काणाद वशेषिक लोग अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता कहते हैं पौराणिक लोग ब्रह्मा को एव जैन कालासुर को वेद का कर्ता कहते हैं। यदि आप कहे कि वेद मे विशेष शक्तिशाली मंत्रादि पाये जाते हैं अत वेद प्रमाण हैं। इस पर भी हम जनों का उत्तर है कि उन विशेष मन्त्रो की उत्पत्ति हम जैनो के विद्यानुवाद पूव से हुई है। अनेको रत्न राजा के भडार मे हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति समुद्र, खान आदि से हुई है न कि भडार से। यदि अपौरुषय होने से ही वेद प्रमाण हैं तो म्लेच्छो के यहा मातृ विवाह मांसाहार आदि क्रियाये भी प्रमाण हो जावगी क्योकि उनका कर्ता कोई पुरुष भी स्मृति मे नहीं है वे क्रियायें भी पुरुषकृत् प्रतीत न होने से अपौरुषय ही हैं किंतु ऐसा है नहीं। अत वेद प्रमाण नहीं हैं।

जनो द्वारा मान्य आगम का लक्षण

आप्त के वचन आदि निमित्त से होने वाला अथ ज्ञान ही आगम है। एव सर्वज्ञ से ही आगम सिद्ध होता है और उसके अर्थ अनुसार अनुष्ठान करने से ही सवज्ञ बनते हैं। इस प्रकार बीजाकुर न्याय से सवज्ञ और आगम की सिद्धि होती है।

अभाव का विचार

मीमांसक ने स्वतत्र एक अभाव प्रमाण माना है। इसलिये उनका कहना है कि— अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नोवस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्य अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसगात

[षडद पृ ४४६]

अभाव प्रमाण का विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव प्रध्वसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यताभाव। यदि ये चार अभाव न हो तो ससार में कारण काय घट पट जीव अजीव आदि की प्रतिनियत व्यवस्था का लोप होकर समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा।

वशेषिकों द्वारा मान्य सात पदार्थों मे एक अभाव नाम का पदार्थ है उसके भी उन्होने चार भेद किये हैं। यथा—'अभावश्चतुर्विध —प्रागभाव प्रध्वंसाभावोत्यताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ॥

[तक सग्रह]

अभाव के चार भेद हैं प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

नैयायिक लोग अभाव के चार भेद करके भी उन्हें सर्वथा तुच्छाभाव रूप कहते हैं।

सांख्य इन अभावों को सर्वथा भावरूप ही सिद्ध करते हैं।

—किंतु जैनाचार्यों ने इन भावैकांतवादी सांख्य का खडन करके एवं नैयायिक के तुच्छाभाव का भी निषेध करके चारों अभावों को भावांतर रूप स्वीकार किया है। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव।

कारण में कार्य का न होना प्रागभाव है जैसे--मिट्टी मे घट नही है उस प्रागभाव का अभाव होने के बाद घट बनता है।

कार्य का विनाश न होना प्रध्वसाभाव है जैसे—घट मे प्रध्वंसाभाव है उसका अभाव न होवे तो घट अनत काल तक बना रहगा किंतु उसका अभाव प्रध्वस होकर घट से कपाल आदि बन जाते हैं।

एक पर्याय का दूसरी पर्याय मे अभाव अन्योन्याभाव है जसे घटपर्याय मे पट आदि पर्याये नहीं हैं। यदि इसको न मानो तो सभी पर्याय एकमेक हो जावगी—सभी पदाथ सर्वात्मक हो जावेंगे।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अभाव होना अत्यताभाव है जसे—जीवद्रव्य में अजीव पुदगल आदि द्रव्यो का अभाव है इसको न माने तो भी सभी वस्तुय अपने स्वभाव से रहित सर्वात्मकया नि स्वरूप हो जावेंगी।

इन चारो ही अभावो का वणन अष्टसहस्री मे कारिका ९ १ ११ मे बहुत ही विस्तृत रूप से किया गया है।

इन अभावो को ग्रहण करने के लिये अभाव नामक प्रमाण की आवश्यकता नही है क्योंकि ये प्रत्यक्ष आदि से ही जाने जाते हैं। अत मीमासको द्वारा मान्य अभाव प्रमाण व्यर्थ है।

इस प्रकार से प्रमाण समीक्षा प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रमेयसमीक्षा

प्रमाणेन ज्ञानेन प्रमीयते ज्ञायते यत वस्तुतत्त्व तत सव प्रमय ज्ञयमित्यथ।

प्रमाण—ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय ज्ञय कहलाता है। अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदाथ ज्ञय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अत प्रमाण से जाने गये सभी पदाथ प्रमेय कोटि म आ जाते हैं। ससार मे कोई भी एसा पदाथ नही है जो ज्ञान का विषय न हो चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन अचेतन पदाथ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नही हैं वे पदाथ ही नही है वे ता आकाशकमलवत् असत् ही हैं। अत प्रमेय शब्द से सम्पूण चेतन अचेतन पदाथ आ जाते हैं। यहा तक कि प्रमाण भी कथ चित प्रमेय है जैन दशन मे ज्ञान को स्वसवेदी सिद्ध किया है अत ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वय के द्वारा स्वय जाना जाता है अत ज्ञय भी है। यथा— **ज्ञानपदेन प्रमातु प्रमितेश्च व्यावृत्ति। ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातु प्रमितेश्च व्यावृत्ति कृता तथा प्रमेयस्य कथ न कृता तस्यापि ज्ञानस्वाभावात् इति चेत्तस्यापि चशब्दात् ग्रहणं बोध्यं। यद्यपि स्वपरिच्छद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटा दिबहिरर्थापेक्षया नास्तीत्यतो युक्त च शब्दात्तस्य ग्रहण।** [न्याय दी॰ टि॰ पृ १]

आचार्य कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण सूत्र मे ज्ञान शब्द से प्रमाता—आत्मा और प्रमिति-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है इस पर शंकाकार कहता है कि जसे ज्ञानपद से प्रमाता और प्रमिति का निरा करण किया है वैसे ही प्रमेय का निराकरण क्यो नही किया, क्योंकि प्रमेय भी ज्ञानरूप नहीं है। इस पर

जैनाचार्य कह रहे हैं कि च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हुआ समझना चाहिये। यद्यपि स्व को जानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमेय ही है फिर भी घट पट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अत च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। यहा इस बात को समझ लेना चाहिये कि ये प्रमाता प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नही हैं फिर भी इनमे सम्यक्पना सिद्ध है। इसलिये सच्चे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदाथ सच्चे ज्ञय प्रमेय कहलाते हैं। ये ही ज्ञयभूत जीवादिपदाथ द्रव्य तत्त्व आदि सम्यक्त्व के विषयभूत हैं।

इसलिये यद्यपि प्रमेय शब्द से प्रमाण को भी लिया जा सकता है फिर भी इस ग्रथ में प्रमाण की समीक्षा करने के बाद प्रमेय की समीक्षा की गई है क्योंकि न्याय शास्त्रो मे प्रमाण का विषय ही मुख्यतया प्रतिपाद्य है और य न्याय शास्त्र प्रमाण शास्त्र भी कहलाते हैं।

इस प्रमेय समीक्षा मे सबसे प्रथम दशन शब्द का निरुक्ति अथ करते हुय सभी दशनों की सक्षिप्त समीक्षा की जाती है।

दशन शब्द का महत्त्व और आधार

दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दशनम अथवा दृश्यत निर्णीयत इव वस्तुतत्त्वमिति दशनम व्याकरण शास्त्र की इन दोनो व्युत्पत्तियो के अनुसार दृश धातु से दशन शब्द बना है। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाय निर्णीत किया जाय वह दशन है या दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर दशन शब्द का अथ उल्लिखित विचारधारा के द्वारा निर्णीत तत्त्वो की स्वीकारता होता है। एव पहली व्युत्पत्ति के आधार पर दशन शब्द तक-वितक मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचार धारा का नाम है जो तत्त्वो के निणय मे प्रयोजक हुआ करती है। जसे—यह ससार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नही ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनजन्म होता है या नही ? ईश्वर की सत्ता है या नही ? इत्यादि प्रश्नो का समुचित उत्तर देना दशन शास्त्र का काम है।

शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओ से हुई है–शास–आज्ञा करना तथा शस वणन करना। "शासनात् शसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार शासन अथ मे शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्म शास्त्र के लिय किया जाता है। शसक शास्त्र–बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाय। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकतव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष परतन्त्र है। किन्तु दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु परतन्त्र है।

दर्शनों को दो भागो में विभक्त किया गया है—

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दशन मे भी वैदिक दशन और अवदिक दशन से दो भेद हो गये हैं।

वैदिकदर्शन में—मुख्यत सांख्य, वेदांत मीमासा, योग न्याय तथा वैशेषिक दर्शन लिये जाते हैं।

अवैदिक दर्शन में—जैन बौद्ध और चार्वाक माने जाते हैं। वेद परम्परा के पोषक वैदिक एवं वैदिक परंपरा से भिन्न दर्शनों को अवैदिक दर्शन कहते हैं।

न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनो को आस्तिक एवं जैन चार्वाक तथा बौद्ध दर्शनो को नास्तिक कहा जाता है। यहां वेदो को मानने वालो को आस्तिक एवं वेदों को न मानने वालो को नास्तिक कहा है किंतु यह ठीक नही है क्योंकि प्राय प्राणियो को जन्मान्तर रूप परलोक स्वर्ग नरक तथा मुक्ति को न मानने वालो को नास्तिक कहा जाता है इससे जैन और बौद्ध दोनो अवैदिक दर्शन नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाते क्योंकि हैं ये दोनो दर्शन परलोक स्वर्ग आदि को स्वीकार करते है। यदि जगत् के कर्ता अनादि निधन ईश्वर को मानने मे आस्तिकता है तब तो सांख्य मीमांसक भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानने से नास्तिक बन जावेंगे क्योंकि ये दोनो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नही मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन नास्तिक नही है परलोक स्वर्ग नरक मुक्ति आदि मानते है ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मान कर भी निरीश्वरादि नही है क्योंकि अनन्त ईश्वरा सर्वज्ञो को स्वीकार करते हैं।

अब यहा भारतीय दर्शनो की संक्षिप्त मान्यता दिखाकर उनकी समीक्षा करना है। इनमे सबसे पहले चार्वाक दर्शन को स्पष्ट करेंगे।

चार्वाक मत

चार्वाक—ननु अनाद्यनन्तरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते। कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं जायते। जलबुद्बुदवदनित्या जीवा इत्यभिधानात। न केषामपि मते जीवस्यानाद्यनन्तत्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते। [विश्व त प्र १]

आत्मा का अनादि अनन्त विशेषण कैसे बन सकता है? शरीर के आकार को प्राप्त हुये पृथ्वी जल अग्नि वायु इन भूत चतुष्टयो से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जीव पानी के बुदबुद् के समान अनित्य है। जीव को अनादि अनन्त कहने वाला कोई भी प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल वर्तमान काल से संबद्ध पदार्थों का ही ज्ञान होता है। अत प्रत्यक्ष प्रमाण जीव को अनादि अनन्त सिद्ध नही कर सकता। जन्म समय के पहले माता पिता का चैतन्य होता ही है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अत उससे भिन्न अन्य चैतन्य की कल्पना करना व्यर्थ है। इत्यादि

ये चार्वाक काम और अर्थ इन दो ही पुरुषार्थों को मानते हैं एवं स्वर्गादि पारलौकिक सुख का निराकरण कर देते हैं अतएव चार्वाक का 'लोकायत यह दूसरा नाम अन्वर्थ है क्योंकि ये लोक प्रसिद्ध के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं मानते हैं।

'अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्य खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्य समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूल कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यत' ॥१॥
देह स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापर ।
मम देहोयमित्युक्तिः संभवेदोपचारिकी ॥२॥

[सवद प ५]

अथ—चार्वाक के यहां पृथ्वी जल अग्नि वायु ये चार तत्त्व हैं। किण्वादिमादक द्रव्य के समुदाय से उत्पन्न मदशक्ति के समान इन्ही तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। मैं स्थूल हू कृश हू इत्यादि से देह और जीव में समान अधिकरण होने से शरीर ही आत्मा है मेरा देह' इत्यादि व्यवहार उपचार मात्र से होता है। सक्षपत इस मत का सिद्धान्त है कि कण्टक आदि से उत्पन्न हुआ दु.ख ही नरक है लोक प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है मरण ही मुक्ति है।

ये चार्वाक जडवादी हैं इनके यहा प्रत्यक्ष एक ही मात्र प्रमाण है अनुमान शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं वे सभी भ्रममूलक हैं। अत प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओ के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नही माना जा सकता है। यह जड जगत् चार भौतिक तत्त्वो से बना हुआ है इन पृथ्वी आदि तत्त्वो का ज्ञान हमे इद्रियो से प्राप्त होता है।

एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न अवस्थाओ में नय नय गुणो की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रग न तो पान मे है न सुपारी मे न चूने मे है फिर भी उनको एक साथ चबाने से लाल रग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड मे मादक गुण नहीं है फिर भी सड जाने से उसमे मादकता आ जाती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वो का जब विशेष ढग से मिश्रण होता है तब जीव और शरीर का निर्वाण होता है और उसमे चैतन्य का सचार हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद चैतन्य भी नष्ट हो जाता हैं। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नही रहता है अत मृत्यु के बाद कर्मों के फल भोग की कोई सम्भावना नहीं है । [भारतीयद प १६]

'चारु-सुन्दर वाक—बातों को अर्थात् लोगो को प्रिय लगने वाली बातो को कहने के कारण अथवा आत्मा परलोक आदि को चर्वण-भक्षण कर जाने के कारण इनका चार्वाक नाम सार्थक है। चार्वाक दर्शन के संस्थापक बृहस्पति गुरु ह अत इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक का इष्ट कथन—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचर' ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

[सर्व दर्शन संग्रह]

मृत्यु से कोई नही बच सकते अत जब तक जीवो सुख से जीवो भस्मीभूत हुये शरीर की पुन उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

विचित्रता यह है कि यह चार्वाक जड से चतन्य की उत्पत्ति मानकर आत्मा ईश्वर और पर लोक सबको समाप्त कर देता है।

उपसहार—चार्वाक आत्मा को अनादि अनन्त एव अजीव से भिन्न जीव नाम का द्रव्य नही मानते हैं किंतु वास्तव मे जाति स्मरण सस्कार व्यतर आदि के निमित्तो से पुनज म सिद्ध है। ये एक प्रत्यक्ष ही मानते हैं किंतु अनुमान के बिना परलोकादि का निषध और पर मे ज्ञान आदि के अस्तित्व को कहना भी असभव है। य जड पृथ्वी आदि से चतन्य की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं यह तो सवथा असभव है। पूवज म के मनुष्य गति आयु आदि कम के निमित्त से जाव माता पिता आदि निमित्तो से जन्म लेता है। अचेतन चेतन की उत्पत्ति मानना सवथा गलत है अत शुभ कार्यों से अपनी आत्मा को नरकादि से बचाकर सुखी बनाने का प्रयत्न करो।

बौद्ध दशन

बौद्ध दशन का मौलिक सिद्धा त है सव क्षणिक सत्वात सभी पदाथ क्षणिक हैं क्योकि सत्‌रूप हैं।

बौद्धाना सुगतो देवो विश्व च क्षणभगुरम्।
आय्यसत्त्वाख्यया तवचतुष्टयमिद क्रमात ॥
दु खमायतन चव तत समुदयो मत।
मागश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामत ॥
दु ख संसारिण स्कधास्त च पच प्रकीर्तिता।
विज्ञान वेदना सज्ञा संस्कारोरूपमेव च ॥
पचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पच मानसम।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु ॥ [सर्वद पृ ४६]

अथ—बौद्धो के भगवान बुद्ध है। ससार क्षणिक है। दु ख समदय तन्निरोध और मार्ग ये सूत्रोक्त चार ही तत्त्व हैं। विज्ञान वेदना सज्ञा सस्कार और रूप य पाच स्कध सासारिक दु ख है। शब्द स्पर्श रूप रस और गध ये पाच विषय हैं। य पांच विषय पाचज्ञानद्रिय मन और बुद्धि ये द्वादश-आयतन हैं। इत्यादि।

माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिकवभाषिक सज्ञाभि प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रम सवशून्यत्वबाह्य शून्यत्वबाह्यार्थानमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठत। [सर्वद० पृ० १६]

माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिक और वभाषिक के भेद से बौद्धो के चार भेद हैं। माध्यमिक बाह्य अभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य मानते हैं। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानते हैं। एव वैभाषिक लोग बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष कहते हैं।

"दुःखसमुदयनिरोधमार्गाणा इति चत्वारः पदार्था एव मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्या" ।

[विश्वत० प्र० पृ० ३ २]

बौद्धो का कथन है कि दुःख समुदय निरोध तथा मार्ग ये चार (आर्य सत्य) पदार्थ ही मोक्ष के लिये जानने योग्य हैं। शारीरिक, मानसिक आगतुक और सहज से उत्पन्न हुये 'दुःख कहलाते हैं। इन दुःखों के उत्पादक तथा कर्मबंध के कारण दो हैं अविद्या तृष्णा इन्हे ही 'समुदय' कहा है। अविद्या और तृष्णा के नाश से निरास्रव चित्त उत्पन्न होना या चित्त के सतान का उच्छेद होना 'निरोध' है इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष माग के आठ अंग हैं। सम्यक्त्व आदि जिनके नाम हैं।

चार आर्य सत्य – (१) सांसारिक जीवन दुःखो से परिपूर्ण है। (२) दुःखो का कारण है। (३) दुःखो का अन्तसम्भव है। (४) दुःखों के अन्त का उपाय है। इन्हें क्रमश दुःख दुःखसमुदय, दुःख निरोध तथा दुःखनिरोध मार्ग कहते हैं। [भारतीय द प ७७]

बौद्धो के यहां त्रिपिटक ग्रन्थ हैं—

त्रिपिटको के अन्तर्गत विनयपिटक सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक हैं। प्रत्येक पिटक मे अनेक ग्रथ हैं इसलिये पिटक' (पेटी) नाम पडा। विनयपिटक मे सघ के नियमों का सुत्त पिटक में बुद्ध के वार्तालाप और उपदेशो का तथा अभिधम्म पिटक मे दार्शनिक विचारों का सग्रह हुआ है। इन पिटको मे केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पालि है। [भारतीय द० पृ ७५]

बौद्धो के कुछ प्रमुख सिद्धान्त ये हैं—अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणभगवाद विज्ञानवाद शून्य वाद अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन मे आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नही है किन्तु रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कधो के समुदाय को ही आत्मा माना गया है।

बौद्धों के प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। य स्मृति तर्क आदि को प्रमाण नही मानते हैं।

प्रत्यक्ष क चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष स्वसवेदन प्रत्यक्ष और योगि प्रत्यक्ष।

स्पर्शन आदि पांच इद्रियो से उत्पन्न हुआ ज्ञान इद्रिय प्रत्यक्ष है।

मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है।

सब चित्त और चैत्तों का जो आत्म संवेदन है वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। [न्यायबिन्दु]

दुःख समुदय आदि चार आर्य सत्यों की भावना करते करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा तक पहुच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है वही योगि प्रत्यक्ष है।

इनके यहां ये चारो प्रत्यक्ष निर्विकल्प (अनिश्चायक) हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक स्वलक्षण मात्र को (एक समय की पर्याय को) ही जानता है।

अनुमान प्रमाण भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थ को विषय करता है।

अनुमान का लक्षण

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूप वाले लिंग-हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है। वह अनुमान दो प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ।

हेतु के तीन भेद हैं—अनुपलब्धि हेतु स्वभाव हेतु और कार्यहेतु।

अनुपलब्धि के ४ भेद हैं—विरुद्धोपलब्धि विरुद्धकार्योपलब्धि कारणानुपलब्धि और स्वभावानुपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि—यहा शीत स्पर्श नही है क्योकि शीतस्पर्श की विरोधी अग्नि मौजूद है।

विरुद्धकार्योपलब्धि—यहा शीत स्पर्श नही है क्योकि शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है।

कारणानुपलब्धि—यहां धूम नही है क्योकि यहा धूम का कारण अग्नि नहीं पाई जाती।

स्वभावानुपलब्धि—यहा धूम नही है क्योकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अन्यत्र अनुपलब्धि के सात भेद भी माने हैं।

स्वभावहेतु— यह वृक्ष है क्योकि शिंशपा है।

कार्यहेतु— यहा अग्नि है क्योकि धूम का सद्भाव है। [षट्दर्शन पृ० ६७]

सौत्रान्तिक और वैभाषिको के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमे से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है। प्रत्येक वस्तु मे दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। एक असाधारण दूसरा साधारण। स्वमसाधारणलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणं। [न्यायबिन्दु]

वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है इसे ही विशेष कहते हैं। अन्यत् सामान्यलक्षण जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्य लक्षण है। [न्यायबिन्दु]

प्रत्येक गो मे गो स्वलक्षण है और अनेक गायो मे जो गोत्व रूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्य लक्षण है।

बौद्धो के यहा विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है वे कहते हैं कि मुद्गर की चोट से घट फूटा तो घट के विनाश मे मुदगर कारण नही है विनाश स्वय स्वभाव से हुआ है। हा! कपाल की उत्पत्ति मे मुदगर कारण अवश्य है।

इनकी एक मान्यता और भी बडी विचित्र है कि शब्द अपने अर्थ को न कहकर 'अन्यापोह' को कहते हैं जैसे—आपने गो शब्द कहा तो इसका अर्थ होता है अश्व का अभाव ऊट का अभाव इत्यादि गो से भिन्न पदार्थों का अभाव ही अर्थ होता है न कि गो शब्द का अर्थ गाय वाचक कोई पशु। ऐसे ही ये बौद्ध पदार्थों से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है और उसे ही जानता है।

उनके यहाँ एक सवृति सत्य भी मजेदार है जो कि हरएक बातों को कल्पित कह देता है।

माध्यमिक लोग बाह्य और अभ्यन्तर चेतन अचेतन सभी को अभाव कहकर जगत् को शून्य रूप सिद्ध करते हैं इसलिए ये शून्याद्वैतवादी हैं।

योगाचार—विज्ञान को ही तत्त्व मानते हैं अन्य कुछ भी बाह्य पदार्थ नही मानते हैं। अत ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। ये दोनो ही अनेको पदार्थों के सद्भाव को सवति—कल्पना रूप कहते हैं।

अष्टसहस्री आदि ग्रन्थो मे स्थल स्थल पर इन बौद्धोकी मान्यताओ का निराकरण किया गया है।

उपसहार—बौद्धो ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है यह कथन असभव है। हा पदार्थों की अर्थ पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है किन्तु व्यजन पर्याय बहुत काल तक भी स्थाई रहती है। देखो सुमेरु पर्वत आदि अनादि निधन हैं उनमे अर्थपर्याय का परिणमन प्रतिसमय चल रहा है किन्तु व्यजनपर्याय और ध्रौव्य की अपेक्षा हम उसे नित्य कहते हैं। ऐसे ही आत्मा आदि कथचित द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं। इन्होने विज्ञान आदि स्कधो को सासारिक दु खरूप सिद्ध किया है परन्तु विज्ञान कभी दु खरूप नही होता कुज्ञान अवश्य दु खरूप हैं। कोई विज्ञानाद्वैतवादी लोग सर्वथा ज्ञान मात्र ही जगत सिद्ध करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष मे ज्ञान और जडरूप दो तत्त्वगोचर हो रहे हैं। स्मृति आदि को प्रमाण माने बिना भी प्रात घर से निकलकर वापस वही आना अशक्य होगा। हेतु के तीन रूप का भी पहले खण्डन किया गया है। इनक यहा शब्द का अन्यापोह अर्थ तो बहुत ही हास्यास्पद है।

विनाश को अहेतुक कहना भी प्रत्यक्ष बाधित है एव वस्तु के स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष ग्रहण नही कर सकता है। अत इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय भी व्यजन पर्याय ही हैं। सिर्फ दो प्रमाण से एव आगम प्रमाण अप्रमाणिक होने से बौद्धो का क्षणिक सिद्धात भी किस पर निभर रहेगा। अत कथचित नित्य कथचित् अनित्य रूप अनेकान्त शासन ही जयशील होता है।

सांख्य मत

सांख्या निरीश्वरा केचित् केचित ईश्वरदवता ।
सर्वेषामपि तेषा स्यात्तत्त्वानां पंचविंशति ॥ [षड् द पृ १४२]

कुछ साख्य ईश्वर को नही मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ साख्य ईश्वर को ही देवता मानते हैं। सभी सेश्वर तथा निरीश्वर साख्य साधारण रूप पच्चीस तत्त्वो को स्वीकार करते हैं।

साख्य के मत में सत्त्व रज और तम ये तीन गुण है। प्रसाद ताप तथा दीनता आदि कार्यों से क्रमश उनका अनुमान होता है। एक दूसरे का उपकार करने वाले परस्पर सापेक्ष इन सत्त्वादि तीन गुणो से समस्त जगत् व्याप्त है। इन सत्त्वादि गुणो की समस्थिति ही प्रकृति कही जाती है। प्रकृति और आत्मा के सयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

"संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रस्य चतस्रो विधा संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थ प्रकृतिरेव कश्चिद् विकृतिरेव, कश्चित् विकृति प्रकृतिश्च कश्चिदनुभय इति' [सर्व द० पृ० २५६]

संक्षेप से सांख्यशास्त्र में पदार्थ के चार क्रम हैं। कोई पदार्थ केवल प्रकृति ही है कोई केवल विकृति रूप हैं कोई प्रकृति विकृति रूप एवं कोई प्रकृति विकृति से भिन्न अनुभय रूप हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सांख्य का० ३]

अर्थ—इनमें प्रकृति किसी का विकार कार्य नहीं है अतः मूल प्रकृति विकृति रहित है। महान् अहंकार और पांच तन्मात्रायें ये सात प्रकृति और विकृति दोनों रूप हैं—अर्थात् कारण कार्य रूप हैं। षोडश गणमात्र विकृति रूप ही हैं क्योंकि वे कार्य हैं। पुरुष तो न किसी को उत्पन्न करता है न किसी से उत्पन्न होता है अतः कारण कार्य रूप न होने से प्रकृति विकृति से रहित है।

सांख्य के २५ तत्त्व

प्रकृति से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होती है बुद्धि से अहंकार अहंकार से सोलहगण उत्पन्न होते हैं।

षोडशगण—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच बुद्धीन्द्रियाँ पायु उपस्थ वाणी, हस्त पाद ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये ग्यारह इन्द्रिया तथा रूप रस गंध स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्राय मिलकर सोलह गण कहलाते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है यथा—रूप से अग्नि रस से जल गंध से पृथ्वी शब्द से आकाश और स्पर्श से वायु उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार से सांख्य मत मे प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूप मे परिणत होने वाला प्रधान तत्त्व है। स्वयं प्रकृति महान अहंकार ये तीन सोलह गण और पांच भूत मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। इनसे भिन्न पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है जो अकर्ता निर्गुण भोक्ता नित्य और चैतन्य स्वरूप है।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने॥

अर्थ—आत्मा अमूर्त चेतन भोक्ता नित्य सर्वगत निष्क्रिय अकर्ता निर्गुण और सूक्ष्म है ऐसा सांख्यमत में कहा है।

सांख्य के यहां मोक्ष—प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है वह प्रकृति तथा पुरुष में विज्ञान रूप तत्त्वज्ञान से होता है।

सांख्यमत मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य के प्रमाण का लक्षण—

'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं' अर्थोपलब्धि मे जो साधकतम कारण है वह प्रमाण है। उसमें निर्विकल्प श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के भेद से अनुमान के तीन भेद हैं।

आप्त और वेदों के वचन आगम प्रमाण हैं इनके यहां 'पतञ्जलि' सेश्वरसांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं। इनके यहां छब्बीसवा तत्त्व 'ईश्वर' है।

"प्रकृति इस ससार का आदि कारण है, वह एक नित्य तथा जड़ वस्तु है सर्वदा परिवर्तनशील है। सत्त्व रज, तम ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं, ये संसार के विषय सुख दु:ख या मोहजनक हैं, सुख दु:ख या विषाद होने के कारण हम इन तीन गुणों का अनुमान करते हैं पुरुष और प्रकृति के सयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। पुरुष न तो किसी का कारण है न कार्य है वह निरपेक्ष तथा नित्य है। [भारतीय द० पृ २०]

इनके यहा चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। सेश्वर साख्य ने ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम आसन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि-योगसे आठ अगों का प्रतिपादन किया है।

इनके यहा प्रधान के दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त अव्यक्त। प्रधान कारण है और व्यक्त प्रधान काय है। इनमे व्यक्त प्रधान हेतुमान अव्यापि सक्रिय अनेक आश्रित लिंग सावयव और परतन्त्र है। लेकिन अव्यक्त इनसे विपरीत अहेतुमान एक इत्यादि रुप है। ये दोनो ही प्रधान त्रिगुणात्मक हैं—सत्त्व, रज तम रुप हैं। अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी हैं। परन्तु पुरुष मे त्रिगुण आदि नहीं हैं। प्रधान से उत्पन्न हुआ सारा जगत् प्रधान रूप है।

सांख्य किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नही मानते हैं। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं ये कूटस्थ अपरिणामी नित्य एकांत को स्वीकार करते हैं।

इनके यहां सत्कार्यवाद की मान्यता बड़ी ही विचित्र है। इनका कहना है कि कारण मे कार्य सर्वव विद्यमान रहता है कारणो से उत्पन्न नही होता है। काय कारणो से अभिव्यक्त—प्रगट होता है। मिट्टी में घट विद्यमान है कुभार दण्ड चक्र आदि निमित्तों से प्रगट हो गया है आदि। नित्यकात की ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं।

साख्यो के यहा ज्ञान पुरुष का गुण न होकर अचेतन प्रकृति का परिणाम है। मोक्ष मे प्रकृति का सयोग समाप्त होते ही ज्ञान का भी अभाव हो जाता है।

उपसहार—सांख्य ने अचेतन को सृष्टि कर्त्री माना है यह सर्वथा असम्भव है। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से उसमे रागादि परिणाम न होने पर जडकर्मों का बंध असम्भव है एव ज्ञान और सुख आत्मा के स्वभाव हैं न कि जडप्रकृति के। इसलिये सांख्य के २५ तत्त्वों की मान्यता बिल्कुल असंगत है। आत्मा को निर्गुण निष्क्रिय, अकर्ता मानना नितांत भूल है। प्रकृति के अपराध से आत्मा ससार में दुःख उठावे यह बात तो स्वयं उनके कूटस्थ नित्य मत का निराकरण कर देती है। इनके द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व का भी कथन विरुद्ध है क्योंकि ये ज्ञानमात्र से मोक्ष मानते हैं क्या आज तक कोई औषधि के जानने मात्र से स्वस्थ हुये हैं। इनका सत्कार्यवाद भी बड़ा विचित्र है मिट्टी मे सदा घट को विद्यमान कहना और कुंभार आदि से उसकी प्रकटता मानना बिल्कुल गलत है। हां! शक्तिरूप से मिट्टी में घट को हम जैन भी मान लेते हैं। जैसे कि संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से है। इनके प्रमाण और प्रमेय दोनों की व्यवस्था भी अघटित है। ये सर्वथा नित्य एकांतवादी हैं यदि कथंचित् आत्मा को कर्ता, भोक्ता मान लें तो बहुत ही अच्छा हो जावे। तब तो स्याद्वाद शासन ही उन्हें श्रेयस्कर हो जावे।

नैयायिक दर्शन

नैयायिक मत के प्रस्थापक गौतम मुनि है। इस याय दर्शन का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन है।

'प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम यह न्याय शास्त्र का प्रथम सूत्र है। प्रमाण प्रमेय इत्यादि तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'तच्चतर्विध प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात। प्रमेयं द्वादशप्रकार आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन -प्रवत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु खापवर्गभेदात । [सर्व दर्शन स पृ २ १]

प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आगम।

प्रमेय के बारह भेद हैं—आत्मा शरीर इ द्रिय अथ, बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष प्रत्यभाव, फल, दु ख और अपवर्ग।

नयायिक के मत मे सोलह तत्त्व हैं–१प्रमाण २ प्रमेय ३ सशय ४ प्रयोजन ५ दृष्टात ६ सिद्धात ७ अवयव ८ तक ९ निर्णय १ वाद ११ जल्प १२ वितण्डा १३ हेत्वाभास १४ छल १५ जाति १६ निग्रहस्थान। इ हे पदाथ भी कहत हैं। [षटदर्शन पृ ८२]

प्रमाण के १६ भेद प्रमेय के १२ सशय के ३ प्रयोजन के २ दष्टान्त के २ सिद्धान्त के ४ अव यव के ५ तक के ११ निणय के ४ वाद का १ जल्प का १ वितण्डा का १ हत्वाभास के ५ छल के ३ जाति के २४ एव निग्रह स्थान के २२ भेद है। इनके नाम और लक्षण सर्वदर्शन सग्रह और षडदशन समुच्चय ग्रन्थो से देखना चाहिये। [सर्व द पृ २ १से २ ४]

अक्षपादमते देव सष्टिसहारकृत शिव ।
विभर्नित्यकसवज्ञो नित्यबद्धिसमाश्रय ॥१३॥ [षड द पृ ७८]

नयायिक मत मे जगत की सृष्टि तथा सहार को करने वाला व्यापक नित्य एक सर्वज्ञ नित्य ज्ञानशाली शिव देवता हैं।

अक्षपाद नाम के आदिगुरु ने नैयायिक मत के मूल सूत्रो की रचना की है इसलिये नयायिक अक्षपाद कहलाते है।

नयायिक ने अनुमान के पाच अवयव माने है प्रतिज्ञा हतु उदाहरण उपनय और निगमन। हेतु के पाच अवयव माने हैं—पक्षधमत्व आदि।

अनुमान के तीन भे माने हैं—केवला वयी केवलव्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी।

इनके यहा— जिसके द्वारा प्रमिति-उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञान के जनक कारण को प्रमाण कहते हैं। एव अक्षपाद ने स्वय यायसूत्र में कहा है कि– इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकष से होने वाला अव्यपदेश्य अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है।

वशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनो दशनों का यौग' नाम से उल्लेख किया गया है। कुछ बातों को

छोड़कर न्याय और वैशेषिक में समानता पाई जाती है। शिवादित्य (११ शताब्दी) के सप्तपदार्थों में उक्त दोनों का समन्वय किया गया है। मालूम पड़ता है कि दोनो के योग—जोड़ी को यौग नाम दे दिया गया है। न्याय सूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद है। विशेष नामक पदाथ की विशिष्ट कल्पना से इस दर्शन का वैशेषिक नाम हुआ है। ऐसा माना जाता है। वैशेषिक ने सात पदाथ मान हैं— द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा. सप्तपदार्था ।

द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं।

इनमें से द्रव्य के नव भेद हैं—पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन।

गुण चौबीस हैं—रूप रस गन्ध स्पर्श सख्या परिणाम पृथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह शब्द बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और सस्कार।

कर्म के पाच भेद हैं— उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण और गमन।

सामान्य के दो भेद हैं—परसामान्य अपरसामान्य। विशेष केवल नित्य द्रव्यो मे रहता है और वह अनन्त है।

पूर्वोक्त नव द्रव्य और परमाणु नित्य द्रव्य हैं।

'समवायस्त्वेक एव' समवाय एक ही है।

अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव प्रध्वसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यताभाव। [तर्क स०]

आत्म द्रव्य का लक्षण और भेद—

ज्ञानाधिकरणमात्मा स द्विविध —जीवात्मा परमात्मा चेति तत्रेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

जिस द्रव्य मे समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योकि आत्मा मे ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ और एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है व्यापक और नित्य है।[तर्क सग्रह]

वैशेषिक के यहा द्रव्य गुण आदि परस्पर मे भिन्न भिन्न हैं। समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

ये लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक दोनो ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते है— पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं क्योकि वे कार्य हैं।' इस अनुमान के द्वारा ये लोग बुद्धिमान् ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करते हैं।

इन्होंने कारण को तीन प्रकार से माना है—

'कारणं त्रिविधं-समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्' ।

कारण तीन प्रकार के हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण होता है। जैसे—तन्तुओं में पट समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है अत तंतु पट के समवायिकारण हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है (जिसे जैन उपादान कारण कहते हैं)। तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। असमवायिकारण संयोग रूप गुण ही होता है।

जो इन दोनों कारणो से भिन्न है वह निमित्तकारण है जैसे—तुरी वेम, शलाका आदि वस्त्र के निमित्तकारण हैं। यहा ईश्वर भी पृथ्वी आदि सृष्टि को बनाने में निमित्तकारण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष तद् द्विविध निर्विकल्पक सविकल्पकं चेति।

जो ज्ञान इन्द्रिय और पदाथ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है उसके दो भेद हैं—निर्विकल्प और सविकल्प।

सन्निकर्ष के ६ भेद

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्ष षड्विध—सयोग· सयुक्तसमवाय· सयुक्तसमवेतसमवाय· समवाय समवेतसमवाय· विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

जो इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सम्बन्ध है वही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है उस सन्निकर्ष के ६ भेद हैं—

सयोग—नत्र से जो घट पट आदि का प्रत्यक्ष होता है वह सयोग है।

घट पट आदि क रूप का नत्रो से ज्ञान है-वह सयुक्तसमवाय है।

घट क रूप मे जो रूपत्व है उसका नत्रो स प्रत्यक्षज्ञान सयुक्तसमवेतसमवाय है।

कर्ण इन्द्रिय से शब्द के प्रत्यक्ष मे समवाय सन्निकर्ष है।

श्रोत्र से शब्दत्व का साक्षात्कार करने में समवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

एव अभाव को—घटाभाव पटाभाव आदि को इन्द्रियो से प्रत्यक्ष करने में विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है। [तर्क संग्रह]

वैशेषिक ने बुद्धि सुख दु ख आदि आत्मा क नव विशेष गुणों क विनाश को मुक्ति माना है।

इन वैशेषिक नैयायिको ने ज्ञान को अस्वसंविदित माना है।

एव धारावाहिकज्ञान को भी प्रमाण माना है। तथा पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। समवाय की कल्पना तो इनक यहा बहुत ही विचित्र है।

"य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।
सबध इह प्रत्ययहेतु स हि भवति समवायः॥" [[illegible]]

अर्थ—अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थों का 'यह इसमें है' इस प्रकार प्रत्यय में कारणभूत

सम्बन्ध समवाय कहलाता है। एवं प्रागभाव आदि अभावो को इन लोगो ने सर्वथा तुच्छाभाव रूप सिद्ध किया है।

वैशेषिक न नैयायिक के समान चार प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष और अनुमान य दो ही प्रमाण मान हैं। सर्वदशनसग्रह मे इस वैशेषिक दर्शन को औलुक्य दर्शन कहा है।

उपसहार—नैयायिक और वशेषिक का बहुत से विषयो मे एक मत हैं पदाथ गणना प्रमाणसंख्या आदि में ही अतर है। दोनो ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं किन्तु आगे ईश्वर परीक्षा मे इसका अच्छा समाधान किया जायगा। वास्तव मे कृतकृत्य ईश्वर विश्व की रचना मे राग द्वष क बिना कसे प्रवृत्त होगा? रागद्वष सहित होने से सवज्ञ हितोपदेशी और इष्टदेव कसे कहलायगा? अत सर्वज्ञ सष्टि के ज्ञाता द्रष्टा है कर्ता नही है। इनक द्वारा मान्य पदाथ द्रव्य गुण आदि की व्यवस्था भी ठीक नही है। समवाय सम्बन्ध तो सिद्ध नही हो सकता हा! यदि उस तादात्म्य सम्बन्ध कह दो तब तो ठीक होगा। मुक्ति मे सुख ज्ञान आदि गुणो का नाश मानना ज्ञान को अपने सवेदन से रहित मानना द्रव्य से गुणो को भिन्न मानकर समवाय से उसमे स्थापित करना सवथा अशक्य है। इनका सन्निकष प्रमाण भी अव्याप्त है मन और चक्ष से पदाथ को छूकर ज्ञान नही होता है प्रत्युत दूर से ही हो जाता है। एव सन्निकष को प्रमाण मानने से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नही है क्योकि भूत भविष्यत् पदार्थों का सन्निकष होगा नहीं और सन्निकर्ष से विश्व का ज्ञान हुये बिना सर्वज्ञ होगा नही। आत्मा को व्यापक कहना दिशा और मन को द्रव्य कहना बिल्कुल गलत है आत्मा शरीर प्रमाण है मन आत्मा मे ज्ञानावरण की नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है। अत सवज्ञ को वीतराग एव निर्दोष मानना उचित है उनके तत्त्वो पर श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है।

मीमांसा दशन

मीमासा शब्द का अथ है किसी वस्तु स्वरूप का यथाथ विवेचन। मीमासा करने वालो को मीमासक कहते हैं इसे ही जमिनीय मत भी कहते है। मीमासा के दो भेद हैं—कममीमासा ज्ञानमीमासा। यज्ञ विधि कमकाण्ड अनुष्ठान आदि का वणन कममीमासा का विषय है एव जीव जगत ईश्वर के स्वरूप सम्बन्ध आदि का निरूपण ज्ञानमीमासा का विषय है। कममीमासा को पूवमीमासा और ज्ञानमीमासा को उत्तर मीमासा कहते है किन्तु वतमान मे मीमांसा शब्द का प्रयोग केवल कममीमासा के लिए है और ज्ञानमीमासा या उत्तरमीमांसा को वेदान्त शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमासादशन के सूत्रकार हैं। मीमासको मे कुमारिलभट्ट के शिष्य भाट्टो ने छह प्रमाण माने हैं एव प्रभाकर मिश्र के शिष्य प्राभाकरो ने अभाव के बिना पाच प्रमाण माने हैं। इस प्रकार से मीमांसादर्शन मे भाट्ट और प्राभाकर य दो सप्रदाय हो जाते हैं। सूत्रकारो ने मीमासक प्राभाकर और जैमिनीय इन तीनों नामों से इस दशन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर की मान्यतानुसार पदार्थ आठ हैं—

द्रव्य गुण कर्म सामान्य परतन्त्रता शक्ति सादृश्य और सख्या।

भाट्टो के अनुसार पदाथ पांच हैं—द्रव्य गुण कम सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्र य मानते हैं—वैशेषिक के नव द्रव्यो मे अंधकार और शब्द ये दो द्रव्य मिलकर ग्यारह होते हैं।

प्राभाकर—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम और अर्थापत्ति य पांच प्रमाण मानते हैं एव भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसको ने ज्ञान को परोक्ष माना है। ज्ञान न तो स्वय वेद्य है न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतएव वह परोक्ष है। मीमांसक कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं है।

'जमिनीया पुन प्राहु सवज्ञादिविशेषण'।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मान वचो भवत् ॥६८॥
तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टरभावत।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चय ॥६९॥ [षड द पृ ४३२]

जैमिनीय कहते हैं कि-सर्वज्ञत्व आदि विशेषण वाला कोई सर्वदर्शी दव नही है कि जिसक वचन प्रमाणीक माने जा सकें। इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात्कार करने वाला ही नही है तब नित्य वेद वाक्यो से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का यथावत ज्ञान हो सकता है अ यथा नहीं।

इनक यहां नही जाने गये अनधिगत पदाथ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है।

विद्यमान पदार्थों से इद्रियो का सम्ब ध होने पर जो आत्मा मे बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'लिंग से उत्पन्न होने वाले लैंगिक ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

नित्य वेद वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान आगम है।

सादृश्य ज्ञान को उपमान कहते हैं।

इष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति क बल से किसी अदृष्ट अथ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों क निमित्त से अर्थापत्ति क भी छह भेद हो जाते हैं—प्रत्यक्षपूर्विकाअर्थापत्ति अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति उपमानपूर्विका अर्थापत्ति आगमपूर्विका अर्थापत्ति अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति अभाव पूर्विका अर्थापत्ति।

अभाव प्रमाण का लक्षण—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता' ॥७०॥

वस्तु की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते, उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण जिस भूतल आदि आधार में घटादि रूप आधेय के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होते उस घटादि आधेय से शून्य शुद्ध भूतल के ग्रहण करने के लिये अभाव की प्रमाणता है।

अभाव प्रमाण का विषय भूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव। [षड्दर्शन स]

मीमांसक वेद को अपौरुषय मानते हैं। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतीद्रिय धर्म का प्रतिपादक है और अतीद्रिय दर्शी कोई पुरुष सभव नही है। इसलिये इन लोगो ने प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध कर दिया है।

अत इन मीमासको ने धर्म में वद को ही प्रमाण माना है। एव वद के दोषो से मुक्त रखने के लिए ही अपौरुषेय माना है और इसीलिए उन्हे शब्द मात्र को नित्य मानना पडा क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषय मानना पडता जो कि अभीष्ट नही है।

उपसहार—मीमांसक ने सवज्ञ का अभाव कर दिया है एव वद को अपौरुषेय मानकर शब्द को नित्य एक अमूत सवव्यापी मानते है किंतु अनुमान एव आगम से सर्वज्ञ का स्वभाव सिद्ध है शास्त्र कथंचित् अथ की अपेक्षा अनादि अनन्त है फिर भी रचना की अपेक्षा सादि सांत है। शब्द वर्गणाये पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा नित्य-अनादि अनन्त होते हुये भी पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं अनेक हैं मूर्तिक अव्यापि हैं। इन मीमांसको द्वारा मान्य प्रमाणो के लक्षण पदार्थों के लक्षण गलत हैं। कही अभाव को प्रमाण कहा जा सकता है? जनो के मान्य प्रागभावो का लक्षण इनके द्वारा मान्य अभाव के लक्षणों को बाधित कर देता है। मीमांसको के ज्ञान को परोक्ष कहा है किंतु ज्ञान स्वय का अनुभव स्वय कर रहा है। इसलिए ज्ञान स्वसवदन प्रत्यक्ष है। अत मीमासा दशन की मीमासा करने से इनका प्रमाण प्रमेय तत्त्व बाधित हो जाने से जैनसिद्धांत ही अबाधित सिद्ध होता है।

वेदांत दशन

सव व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चन ॥

[छांदोग्योपनिषत् ३ १४ १]

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है, यहा अन्य कुछ भी नही है सब उसके प्रभाव को देखते हैं उसे कोई नही देख सकता।

"ये तूत्तरमीमांसावादिन ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यंत। उत्तर मीमासावादी वेदांती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं, यह उनका मूल सिद्धान्त है कि 'सर्व वै खल्विदं ब्रह्म इत्यादि। इनके यहां

ध्यान करने के लिये आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य " अरे भक्त ! तुम आत्मा को देखो सुनो मानो और ध्यान करो। [सर्वदर्शन ११६] उनका यह कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियो के शरीर मे भासमान होता है। यथा— एक ही भूतात्मा सिद्ध ब्रह्म प्रत्येक प्राणियो में व्यवस्थित है वही एक रूप से तथा अनेक रूप से जल मे चन्द्रमा की तरह चमचमाता है ।

[षड दर्शन ४३०]

उपनिषदो के सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वदान्त (वद का अन्त उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है। ब्रह्मसूत्र वदात सूत्र के रचियता महर्षि बादरायण व्यास हैं। शकर रामानुज और मध्व ये ब्रह्म सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार है। मीमासको की तरह वदाती भी छह प्रमाण मानते हैं। इनके मतानुसार ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है इस ससार मे जो भी चेतन अचेतन पदार्थ दिखते हैं व सब अविद्या से जनित है। एक ही तत्त्व स्वीकार करने से ये अद्वत वादी सत्ताद्व तवादी भी कहलाते हैं। ये अपौरुषय वद के आधार से ही ब्रह्म की सिद्धि करते है उक्त श्रति के समथन मे ये लोग प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी देते है। फिर इन प्रमाणा को भी अविद्या का विलास कह देते है। अत उनका मान्य तत्त्व ही अविद्या का विलास प्रतीत होता है।

उपसंहार—यदि अद्वततत्त्व को आगम से माना जाता है तो आगम और ब्रह्म दो होने से द्वत आ जाता है यदि प्रत्यक्ष से कहो तो बाधा आती है क्योकि एक को सुख अन्य को दु ख आदि विचित्रताय दृष्टिगोचर हैं अनुभव गोचर हैं। यदि एक ही ब्रह्म सबमे है तो सभी को एक साथ सुख दु ख का अनुभव होना चाहिये किंतु ऐसा तो है नही। बड आश्चय की बात है कि चेतनस्वरूप ब्रह्म से चेतन अचेतन रूप जगत् मान लिया जावे। क्या आप स्वय चेतन ब्रह्म अचेतन बनना अच्छा समझगा ? वास्तव मे अस्तित्व रूप से सभी चेतन अचेतन कथचित एक रूप हैं। इसी का विपर्यास करके वेदातवादियो ने सारे जगत को ब्रह्म रूप से एकरूप मान लिया है किंतु यह मान्यता कथमपि शक्य नही है। किसी भी तरह से इस अद्वत को सिद्ध करने मे द्वत आ ही जाता है। यदि सब द्वत को अविद्या का विलास कहो तब तो यह अद्वत भी अविद्या का ही विलास सिद्ध होगा।

जैन दर्शन

यह जैन धम अनादि निधन धर्म है इसकी स्थापना किसी ने भी नही की है। स्याद्वाद अहिंसा अपरिग्रह आदि इसके मौलिक सिद्धात हैं। जेन सिद्धात मे— सात तत्त्व नव पदाथ छह द्रव्य और पाच अस्तिकाय माने गये हैं। **जीवाजीवास्रवबधसंवरनिजरामोक्षास्तत्त्वम्** इस सूत्र से जीव अजीव आस्रव बध सवर निजरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्ही मे पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

जीव पुदगल धम अधम आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इनमे काल को छोडकर पांच अस्तिकाय कहलाते हैं। **सम्यग्दशनज्ञानचारित्राणि मोक्षमाग** इस सूत्र से सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

चारित्र की एकता ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। एवं संपूर्ण कर्मों से आत्मा का छूट जाना ही मोक्ष है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही सच्चे शास्त्र हैं एवं घातिया कर्म मल से रहित शुद्ध हुई आत्मा ही अर्हंत सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी है। उन सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६॥ [गोम्मटसार जी]

छह द्रव्य पांच अस्तिकाय और नव पदार्थ इनका जिनेंद्रदेव ने जिस प्रकार वर्णन किया है उस ही प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह दो प्रकार से होता है—एक तो केवल आज्ञा से दूसरा अधिगम से।

जिनेंद्रदेव ने जो भी वस्तु तत्त्व का वर्णन किया है वह ठीक है क्योंकि जिनदेव असत्यवादी नहीं हो सकते ऐसा केवल आज्ञा मात्र से श्रद्धान करना आज्ञा सम्यक्त्व है। तथा इन द्रव्यादिकों का प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण नय आदि से निर्णय करके श्रद्धान करना अधिगम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने के बाद जो यथार्थ ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है उसके भी प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बाद रागद्वेष को दूर करने के लिये जो चारित्र ग्रहण किया जाता है वह सम्यक्चारित्र है। इसके पंचमहाव्रत आदि रूप से सकल चारित्र और पंच अणुव्रत आदि रूप से विकल चारित्र ऐसे दो भेद होते है।

इस जैन सिद्धांत में सप्तभंगी नय पद्धति आदि विशेष बातें बहुत ही उत्तम हैं वस्तु तत्त्व को ज्यों की त्यों समझाने वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से आत्मा आदि पदार्थ नित्य हैं किंतु पर्यायार्थिक नय से ये अनित्य भी हैं। इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था सुघटित सिद्ध है। यह अनेकांत शासन आत्मा सर्वज्ञ परलोक मोक्ष आदि की व्यवस्था करते हुये सदा जयशील हो रहा है।

सभी दार्शनिकों के मुख्य मुख्य सिद्धांत

चार्वाक—भूतचैतन्यवाद प्रत्यक्षैक-प्रमाणवाद।

बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद साकारज्ञानवाद क्षणभंगवाद चित्राद्वैतवाद विज्ञानाद्वैतवाद शून्यवाद त्रैरूप्यहेतुवाद अपोहवाद।

सांख्य—प्रकृतिकर्तृत्ववाद अचेतनज्ञानवाद इंद्रियवृत्तिवाद सत्कार्यवाद नित्यैकांतवाद।

नैयायिक वैशेषिक षोडशपदार्थवाद सप्तपदार्थवाद सन्निकर्षवाद कारकसाकल्यवाद ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद ईश्वरकर्तृत्ववाद पांचरूप्यहेतुवाद समवायवाद।

मीमांसक—वेद अपौरुषेयवाद परोक्षज्ञानवाद अभावप्रमाणवाद शब्दनित्यत्ववाद।

वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद स्फोटवाद।

वेदांती—ब्रह्मवाद अविद्यावाद ।

इन सबके प्रमुख गुरु एव मतों के नाम

१—चार्वाक को लौकायतिक भी कहते हैं इनके गुरु बृहस्पति हैं ।

२—नैयायिक—न्याय दशन के प्रवत्तक महर्षि गौतम हैं ।

इन्ही का नाम अक्षपाद भी है अत इसे अक्षपाद दशन भी कहत हैं इनका मूलग्रन्थ न्यायसूत्र है। न्याय भाष्य के अनेको ग्रन्थ हैं ।

जसे—वात्स्यायन का यायभाष्य उद्योतकर का न्यायवार्तिक वाचस्पति की 'न्यायवार्तिक तात्पय टीका उदयन की न्याय वार्तिक तात्पय परिशुद्धि तथा कुसुमाञ्जलि जयन्त की न्याय मजरी आदि । ऐसे ही श्रीकण्ठ अभय तिलकोपाध्याय विरचित न्यायालकार वृत्ति आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं। भासर्वज्ञ कृत यायसार की अठारह टीकाय हैं । इनमे यायभूषण नाम की टीका सवप्रमुख है ।

प्राचीन समय के न्याय को प्राचीन याय एव आधुनिक काल के न्याय को नव्य न्याय कहते हैं। प्राचीन न्याय के अतगत गौतम का न्यायसूत्र उसके भाष्य आदि हैं । नव्य याय का प्रारभ गगेश की तत्त्वचिंतामणि से हुआ है इसे न्यायदशन या शव दर्शन भी कहते है एव योग भी कहते हैं ।

३—वैशेषिक—वशेषिक दशन के प्रवतक महर्षिकणाद है । कहा जाता है कि ये इतने बड सन्तोषी थे कि खेतो से चने हुये अन्नकणो के सहारे ही जीवन यापन करते थे । इसलिये इनका उपनाम कणाद पडा है । उनका वास्तविक नाम उलूक था अतएव वशेषिक दशन कणाद या औलूक्य दशन नाम से प्रसिद्ध है । इस दशन मे विशेष नामक पदाथ की विशद विवेचना है अत इसे वशेषिक भी कहते हैं । अन्यत्र भी यही बात है ।

मुनिविशेषस्य कापोतीं वत्तिमनुतिष्ठवतो रथ्यानिपतांस्तंडलानादायादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात्कणादसज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य पर शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत्प्रकाशितम तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वन पाशपत चोच्यत ।

कापोत सदृशवृत्ति का अनुसरण करने वाले माग मे पतित तदुल कणो को खाने वाले होने से इन्हे कणाद सज्ञा हुई इनके आगे शिव ने उल्ल का शरीर धारण करके इस मत को चलाया अत औलूक्य' हैं । वैशेषिक लोग पशुपति शिव क भक्त है अत यह दशन पाशुपत भी कहलाता है । वैशेषिक कणाद के शिष्य हैं अत काणाद भी कहलाते हैं । [षडद ४ ६]

इनक यहा कणाद कृत मूलग्रन्थ षटपदार्थी वशेषिक सूत्र नाम से है। इसपर प्रशस्तपाद का पदाथ धम सग्रह है इस प्रशस्तपाद भाष्य पदाथ धमसंग्रह पर दो उत्तम टीकाय हैं, उदयन आचार्य की किरणावली और श्रीधराचाय की न्यायकदली । इसक बाद का जो वशेषिक साहित्य है वह न्याय और वशषिक इन दोनो का समिश्रण है। ऐसे ग्रन्थो मे शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी'

लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' वल्लभाचार्य की "न्यायलीलावती और विश्वनाथ पचानन का भाषा परिच्छेद (सिद्धांत मुक्तावली टीका के साथ) प्रमुख है। [भारतीयद० पृ १४६]

व्योमशिवाचार्य कृत व्योमवती टीका श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तक आत्रयतन्त्र आदि

४—मीमांसक—मीमांसा का मूल ग्रन्थ है जैमिनिसूत्र इस जैमिनि के सूत्र पर शबरस्वामी का विशद भाष्य है जिसे 'शाबरभाष्य' कहते हैं। उनके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतंत्र ग्रन्थकार हुये उनमे दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। इन दोनो के नाम पर मीमासा में दो प्रधान सम्प्रदाय चल पड़ जिनका नाम है—भाट्ट मीमासा और प्रभाकर मीमासा। [भारतीयद पृ १६६]

मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्व मीमासा उत्तर मीमासा। पूर्व मीमासावादी यजन याजन अध्ययन-अध्यापन दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हैं ब्रह्म सूत्रधारी हैं यज्ञादि क्रिया काण्ड मे मुख्य रूप से प्रवृत्ति करते है। इनके साधु एक दण्डी त्रिदण्डी गेरुआ वस्त्रधारी मृगछाला कमण्डलु आदि रखते हैं सिर मुडाते हैं। इनका वेद ही गुरु और भगवान है ये लोग वेद के सिवा किसी को सर्वज्ञ मानने को तैयार नही हैं। इनमे कुमारिल का मीमासाश्लोकवार्तिक प्रभाकर का बृहती आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

५—उत्तर मीमांसावादी वेदांती—कहलाते हैं ये केवल अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। इनके साधु कुटीचर बहूदक हस परमहस ऐसे चार तरह के होते हैं। जो त्रिदण्डधारी शिखाधारी ब्रह्म सूत्रधारी हैं यजमानो के यहा भोजन करते हैं गृह त्यागी हैं कुटिया बनाकर जंगल मे रहते हैं वे कुटीचर कहलाते हैं। बहुत जल वाली नदी मे स्नान करने से बहूदक होते है। हस साधु ब्रह्मसूत्र शिखा नही रखते कषायवस्त्र दण्डधारी ग्राम मे एक रात नगर में तीन रात निवासी हस कहलाते हैं।

इन हस साधु को तत्त्वज्ञान होने के बाद परमहस कहते हैं। इस ही वेदात दर्शन कहते है।

वेदात का अर्थ है वेद का अंत। उपनिषदो को भिन्न भिन्न अर्थों मे वेद का अंत कहा जाता है। वैदिक काल मे तीन तरह के साहित्य होते हैं। सबसे प्रथम वैदिक मन्त्र जो भिन्न भिन्न सहिताओ—ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद मे सकलित हैं।

तत पर ब्राह्मण भाग जिसमे वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है अत मे उपनिषद जिसमे दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनो मिलकर श्रुति या वेद कहलाते हैं। अध्ययन के विचार से उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। लोग सहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने पर गृहस्थोचित यज्ञादि कर्म करने से ब्राह्मण वानप्रस्थ या संन्यास लेकर वन मे रहने पर आरण्यक नाम होता है।

उपनिषदों का विकास आरण्यक साहित्य से हुआ है। स्वयं उपनिषदो में कहा है कि वेद-वेदांग सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर जब तक ज्ञान पूर्ण न हो जावे तब तक मनुष्य उपनिषदों की

शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता उपनिषद् (उप+नि+सद्) जो ईश्वर के समीप या गुरु के समीप पहुंचावे वह उपनिषद है। भि न भिन्न उपनिषदो के विचार भेद का परिहार करने के लिये बादरायण ने ब्रह्म सूत्र ग्रन्थ की रचना की। इस वेदात सूत्र शारीरिक सूत्र शारीरिकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर अनेको भाष्य है शकर रामानुज, मध्वाचाय वल्लभाचाय निबार्काचार्य आदि के भाष्यों से उनके नाम पर भि न भि न-सप्रदाय चल पड हैं। आजकल शकराचाय का अद्वैतवाद और रामानुजाचाय का विशिष्टाद्वैतवाद अधिक प्रसिद्ध है।

६ सांख्य—

कुछ साख्य ईश्वर मानते हैं कुछ निरीश्वरवादी है जो निरीश्वर हैं उनके नारायण ही देवता ह। इनके आचाय विष्णु प्रतिष्ठाकारक चैत य आदि शब्दो से कहे जाते हैं।

साख्य दशन के रचियता महर्षि कपिल हैं। साख्य अत्यन्त प्राचीन मत है इसमे पचीस तत्त्वो की सख्या होने से इसे साख्य मत कहते है। साख्य दशन का मूल ग थ है कपिल का तत्त्वसमास । इसमे निरीश्वर साख्य का दशन है। योगदशन मे ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है अत इसे सश्वर साख्य कहते हैं। इस सेश्वर साख्य मत के प्रवतक पतञ्जलि ऋषि हैं अत इसे पातञ्जल दर्शन भी कहते हैं।

कपिल आसुरि पचशिख भार्गव तथा उलूक आदि साख्य मत के प्रमुख प्रवक्ता ह । इसलिए इसे साख्य या कपिलमत भी कहते हैं। कपिल को परमर्षि कहने से इस मत को पारमष भी कहते हैं। साख्यो का प्राचीन ग थ है ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका गौडपाद का साख्यकारिकाभाष्य वाचस्पति की तर्क कौमुदी विज्ञान भिक्ष का साख्य प्रवचन भाष्य और साख्यसार आदि ग थ ह। एव इनके षष्टितत्र का पुन सस्करण रूप माठर भाष्य साख्यसप्तति तत्त्व कौमुदी आत्रयतत्र आदि हैं।

७ बौद्ध—

बौद्ध धम के प्रवतक गौतम बुद्ध हैं। इ हे सुगत भी कहते हैं अत इनके अनुयायी बौद्ध या सौगत कहलाते हैं इनमे चार भेद हैं—सौत्रातिक वभाषिक योगाचार और माध्यमिक।

बौद्धो के ज्ञान पारमिता आदि दश ग थ ह—तकभाषा हेतुबि दु अचटकृत हेतुबिदु की अच लक नाम की टीका प्रमाणवार्तिक तत्त्वसग्रह न्यायबिंदु कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह पजिका यायप्रवेश आदि ग्रथ हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश के तीन पिटक इनके यहा माने गये हैं उनमे विनयपिटक सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक ये नाम हैं। इन पिटको मे केवल प्राचीन बौद्ध धम का वर्णन मिलता है।

धमकीर्ति का प्रमाणवार्तिक उसकी टीका में प्रभाकर गुप्त का प्रमाणवार्तिकालकार है। शातरक्षित का तत्त्वसग्रह' दिग्नाग का यायप्रवेश धर्मकीर्ति का न्यायबिंदु आदि।

षड्दर्शन समुच्चय मे बौद्ध नैयायिक साख्य जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इनको षडदशन कहा है । आगे चलकर नैयायिक और वशेषिक दशनो को दो न कहकर एक कहने से आस्तिकवादी के पांच ही दर्शन कह देते हैं एव उसमें नास्तिक चार्वाक की सख्या मिलाकर 'षडदशन कहते हैं । इस षड दर्शन मे मीमांसक और वेदाती को भी एक ही में लिया है ।

८ जैनधम में किसी को इस जैनधर्म का प्रवर्तक नही माना गया है क्योकि यह जनधम अनादि निधन धम है । अनादि काल से जीव कर्मों का नाशकर सवज्ञ होते रहे हैं और वतमान से लेकर अनंतानन्त काल तक सवज्ञ होते रहेंगे । जन दशन मे ससार पूवक—बधपूवक ही मोक्ष माना गया है । अत ससारी जीव ही आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धि प्राप्त करके भगवान बन जाते हैं कर्मारातीन जयतीति जिन जिनो देवता अस्य स जन ' जो कर्म शत्रुओ को जीतते है वे जिन कहलाते हैं एव जिन देवता जिसके उपास्य हैं वे जैन कहलात है यह धर्म अहिंसामय है अत सर्वेभ्यो हित साव प्राणिमात्र का हित कारी होने से सावधम कहलाता है । जिन भगवान के ही सार्व सर्वज्ञ अहत जिनेन्द्र शिव परमेश्वर महेश्वर महादेव आदि साथक नाम हैं । जनधम मे मनुष्य रत्नत्रयरूप उपाय तत्त्व से मोक्षरूप उपेयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है जनधर्म मे—सभी वस्तुय द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं एव पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं सत् रूप—महासत्ता से एक एव पृथक-पृथक अवातरसत्ता से अनेक हैं किन्तु इस मम स्याद्वाद को न समझकर बौद्धो ने वस्तु को सवथा क्षणिक कह दिया है । साख्य ने ही सवथा नित्य कह दिया है । वेदाती ने एक ब्रह्मरूप एव अन्यो ने अनेक रूप कह दिया है । ऐसे ही कर्मों की विचित्रता से ससार का वचित्र्य देखकर वैशेषिको ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया है किन्तु जनाचार्यों ने सृष्टि को अनादि निधन एव जीव पुद्गल सयोग से उत्पन्न हुई सिद्ध किया है । मीमासक ने वेद को अनादि कह दिया है किन्तु वास्तव में अर्थ की अपेक्षा आगम अनादि हैं एव सवज्ञ की वाणी द्वारा गणधर ग्रथित होने से परम्परा कृत आचाय प्रणीत होने से सादि भी है । अनेकात शासन मे कुछ भी दोष नही है । इसलिए इन अन्य मतावलबियो के ग्रथा का पठन मनन कुश्रुत का पठन मनन है इससे मिथ्यात्व का आस्रव होता है ऐसा समझना चाहिये । जैनाचार्यों ने इन ग्रन्थो का अवलोकन केवल उनके तत्त्वो की मान्यताओ का खण्डन करने के लिये ही किया है । जब बौद्ध परपरा मे दिडनाग के पश्चात धमकीर्ति जसे प्रखरतार्किको की तूती बोलती थी तो ब्राह्मण परम्परा मे कुमारिल जसे उदभट विद्वानो की प्रतिध्वनि मद नही हुई थी दोनो ही विद्वानो ने अपनी अपनी कृतियो मे जन परम्परा के मतव्यो की खिल्ली उडाई थी और समतभद्र जैसे तार्किको का खण्डन किया था । उस समय अकलक देवने आजीवन ब्रह्मचयव्रत लेकर बौद्धदशन आदि पढने का सकल्प किया उस समय श्री अकलक दव ने न्याय प्रमाण विषयक अनेको ग्रन्थ रचे, लघीयस्त्रयी न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, अष्टशती प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थो मे दिङनाग धर्मकीर्ति जैस बौद्ध तार्किकों की एव उद्योतकर भर्तृहरि कुमारिल जैसे ब्राह्मण तार्किको की उक्तियो का निरसन करते हुये जैन मन्तव्यो की

स्थापना तार्किक शली स की है। इन अकलक दव स पूर्व श्री समतभद्र स्वामी ने भगवान की स्तुति करते हुये न्याय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री उमास्वामी आचार्य के महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के मगलाचरण पर आप्तमीमासा स्तुति बनाकर तो एक अलौकिक प्रतिभाशाली कहलाये हैं। श्री विद्यानद महोदय ने आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा एव अष्टसहस्री श्लोक वार्तिकालकार टीका आदि ग्रंथो मे न्याय का विशद वर्णन किया है। श्री माणिक्यनदि के परीक्षामुखसूत्र ग्रथ पर प्रमेयरत्नमाला प्रमेयकमल मार्तण्ड आदि विस्तृत टीकाय हुई है। जन न्याय का मतलब यही है कि 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय प्रमाणो के द्वारा अथ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये सभी शास्त्रकारो ने उसका यही अथ किया है नीयत ज्ञायत विवक्षितार्थोऽनेनेति न्याय न्यायकु । नितरामीयत गम्यते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात ज्ञायतऽर्था अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्याय तकमाग [न्याय प्रवेश प पृ १] जिसके द्वारा विवक्षित अथ का ज्ञान हो उसे न्याय कहते है। अतिशयरूप से जिसके द्वारा अनित्यत्व अस्तित्व आदि अथ जाने जाये वह न्याय-तक माग है। न्यायविनिश्चयालकार मे जैनाचार्यों ने भी विशेष रूप से कहा है कि—

निश्चित च निर्बाध च वस्तुतत्त्वमीयतऽनेनेति न्याय [न्यायविनिश्चयालकार भा १ पृ ३३] जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तु तत्त्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। इसमे निर्बाध पद जन न्याय की निर्दोषता को प्रगट करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणो के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रन्थों का मुख्य विषय प्रमाण होता है। प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि माने गये हैं किन्तु प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षा मे हेतु और युक्तिवाद का अवलम्बन लना पडता है। इसी से न्याय को तकमाग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। जनधम के बारहव दृष्टिवाद अग मे ३६३ मिथ्यामता का स्थापनापूवक खडन किया गया है। न्यायविनिश्चय के प्रारम्भ में श्री अकलक देव ने लिखा है—

बालानां हितकामिनामतिमहापाप पुरोपार्जित ।
माहात्म्यात तमस स्वय कलिबलात प्रायो गुणद्वेषिभि ।।
न्यायोऽय मलिनीकत कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते ।
सम्यग्ज्ञानजलवचोभिरमल तत्रानुकपापर ।।

कल्याण के इच्छक अज्ञजना के पूर्वोपार्जित पाप के उदय से एव स्वय कलिकाल के प्रभाव से गुण द्वेषी एकातवादियो ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्यायशास्त्र को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं। इसी भावना से ही श्री अकलक देव ने छ महीने तक बौद्धों की अधिष्ठात्री तारादेवी से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित करके जनधम के स्याद्वाद की विजय पताका लहराई थी। और आज भी वीरप्रभु का अनेकांत शासन जयशील हो रहा है। तीथकर श्री वृषभदेव या महावीर प्रभुने इस जनधर्म की स्थापना नहीं की है,

प्रत्युत सभी तीर्थंकर धर्मतीर्थ के प्रकाशक उपदेशक मात्र होते हैं स्याद्वादमय धर्म तो वस्तु का स्वरूप होने से किसी के द्वारा प्रस्थापित नही है। जैनधम मे वतमान मे दो भेद दिख रहे हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर सप्रदाय मे स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार सवस्त्रमुक्ति आदि माने गये हैं किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे स्त्रियो को उसी भव से मुक्ति का निषध केवली के कवलाहार का निषध एव सवस्त्रमुक्ति का निषध किया गया है।

जनधम के मम को समझने के लिये महापुराण पद्मपुराण भद्रबाहुचरित्र आदि प्रथमानुयोग तत्त्वार्थ सूत्र गोम्मटसार त्रिलोकसार षडखडागम आदि करणानुयोग रत्नकरण्डश्रावकाचार वसुनदि श्रावकाचार पुरुषार्थसिद्ध युपाय मूलाचार आचारसार आदि चरणानुयोग एव समाधितत्र पचास्ति काय परमात्मप्रकाश समयसार आदि द्र यानुयोग ऐसे चारो अनुयोगो के ग्र थो का गुरुमुख स पठन स्वाध्याय करना चाहिये।

इस प्रकार से सवदशन के सिद्धान्त की सक्षिप्त समीक्षा की गई है।

ईश्वर सृष्टि कत त्व खण्डन

वशेषिक कहते हैं कि— सदाशिव नाम का एक महेश्वर है जो सदा ही मुक्त है कभी भी कममल से लिप्त नही था अनादिकाल से ही मुक्त है और सम्पूण सृष्टि का कर्ता है यथा—

तनुभुवनकरणादिक विवादाप न बुद्धिमन्निमित्तकम कायत्वात्। यत्कार्यं तद बुद्धिमन्निमित्तक दृष्ट यथा वस्त्रादि। काय चेद प्रकत तस्माद बुद्धिमन्निमित्तक योऽसौ बुद्धिमांस्तद्वतु स ईश्वर इति।

शरीर जगत इन्द्रिय आदि विवाद की कोटि मे आये हुये पदाथ बुद्धिमान निमित्त कारण से हुये हैं क्योकि वे काय ह। जो काय होता है वह बुद्धिमान निमित्त कारण से ही होता है जसे वस्त्रादि। और कार्य प्रकृत शरीर आदि हैं इसलिये बुद्धिमान निमित्त कारण से हुये है। जो बुद्धिमान उनका कारण है वह ईश्वर है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनादि सिद्ध ईश्वर ही सम्पूण विश्व का बनाने वाला है।

जैनाचार्यों का कहना है कि **तनुभवनकरणादयो न बुद्धिमन्निमित्तका दृष्टकतृकप्रासादादि विलक्षणत्वात आकाशादिवत्।** शरीर जगत् और इन्द्रिय आदि बुद्धिमान कारण जन्य नही हैं क्योकि जिन मकानादि के कर्ता देखे जाते है उनस भिन्न है। जस आकाशादि।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सष्टिकर्ता शरीर सहित है या रहित ? यदि रहित कहो तो अन्य मुक्त जीवो के समान वह भी सृष्टि नही बना सकता। यदि शरीर सहित कहो तो वह कर्मसहित होने से अज्ञानी ससारी प्राणी के समान सृष्टि नही कर सकेगा।

इन वैशेषिकों ने एक सदाशिव ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है उसमे ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ऐसी तीन शक्तियां मानी हैं। पुन प्रश्न यह भी होता है कि कर्म के बिना इच्छा शक्ति कस होगी ? यदि ज्ञान शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य करना मानो तो भी असंभव है। यदि वैशेषिक कहे कि—

समीहामंतरेणापि यथा वक्ति जिनेश्वर ।
तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशलम ॥१४॥
सति धर्मविशेष हि तीर्थकरत्वसमाह्वये ।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात् ॥१५॥
सिद्धस्यापास्तनि शेष कर्मणो वागसंभवात् ।
बिना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना ॥१६॥

जिस प्रकार से आप जैनो का जिनेश्वर बिना इच्छा के मोक्ष माग का उपदेश देता है वसे ही हमारा महेश्वर बिना इच्छा के सृष्टि बनावे क्या बाधा है ? आचाय ने कहा कि भाई ! हमारे जिनेश्वर की तीथकर नामा नाम कम विशेष से उपदेश मे प्रवत्ति होती है और व तीथकर तो कम सहित हैं शरीरसहित हैं। हा ! मोहकम के नष्ट हो जाने से इच्छा रहित अवश्य है। पूर्णकम रहित सिद्धो का उपदेश हम नही मानते हैं।

यदि आप भी ईश्वर के योग विशेष मानो तो शरीर अवश्य मानना पडेगा पुन प्रश्न माला चलती जायगी। वह सष्टि रचने के पहले अपना शरीर बना लेता है या शरीररहित ही सष्टि बनाकर अपना शरीर बनाता है ? यदि कहो ईश्वर स्वय अपना शरीर नही बनाता है वह स्वय बन जाता है तब तो जसे ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न के बिना उसका शरीर बन गया वसे ही सारी सृष्टि बन जाव।

यदि ईश्वर अपने पूव शरीर का कर्ता पूव पूववर्ती शरीर से होता है तब तो शरीर परम्परा अनादि सिद्ध होने से अनवस्था दोष आ जाता है एव ससारी प्राणी और ईश्वर म काई अ तर नही दिखता है। कामणशरीर से सहित ही ससारी प्राणी अनादि काल से शरीरो का निर्माण करता चला आ रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि उस ईश्वर का ज्ञान नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहो तो सारे कार्य एक साथ हो जावगे क्योकि ज्ञान सदा काल एक नित्य है अनित्य कहो तो भी अनेको दूषण आते हैं। यहा ईश्वर का ज्ञान व्यापी है या अव्यापी ? स्वसविदित है या अस्वसविदित ?

वह ज्ञान महेश्वर से भि न है या अभि न ? इत्यादि प्रश्न चलते ही रहेंगे।

वैशेषिक महेश्वर के ज्ञान को महेश्वर से भि न मानकर समवाय से महेश्वर को ज्ञानी कहता है तब आचार्य कहते हैं कि यह समवाय एक है तो यह समवाय महेश्वर मे ही ज्ञान को जोड़ अन्यत्र आकाशादि मे नही ऐसा क्यो ? यदि कहो आकाश अचेतन है ईश्वर चेतन है तो भी ठीक नही है क्योंकि आपने ईश्वर को चेतन नही माना है चेतन के समवाय से ही चेतन माना है।

नेशो ज्ञ ता न चाज्ञाता स्वय ज्ञानस्य केवल।
समवायात्सदा ज्ञाता यद्यात्मव स किं स्वत ॥६५॥

यदि कहो कि ईश्वर न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु ज्ञान समवाय से ज्ञाता है तब तो बताओ ईश्वर आत्मा है या नही ? तब उसने कहा ईश्वर न आत्मा है न अनात्मा हैं। आत्मत्व के समवाय से आत्मा है। तब तो बताओ उस आत्मत्व समवाय के पहले वह क्या है ? द्रव्य है ? तब वह कहता है कि नहीं। ईश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य है द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य है तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व समवाय के पहले वह सत् रूप तो अवश्य होगा ? उसने कहा नही। ईश्वर न स्वत सत है न असत् है सत्ता के समवाय से सत् है तब तो बडी आफत आ गई सत्ता समवाय के पहले ईश्वर असत् ही रहेगा। अर्थात उस ईश्वर का कुछ भी स्वरूप समझ मे नही आता है। समवाय की सिद्धि तो असभव है। क्योकि जीव में या ईश्वर मे ज्ञान समवाय के पहले व ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी हैं तो समवाय ने क्या किया ? यदि अज्ञानी हैं तो पत्थर आदि अज्ञानी अचेतन मे भी ज्ञान का समवाय क्यो नही होता है अत समवाय सम्बन्ध नाम से तादात्म्य सम्बन्ध मानकर स्वरूप का स्वरूपवान के साथ तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए अग्नि मे उष्ण का जीव मे ज्ञान का जो तादात्म्य सम्बन्ध है उसे ही समवाय भले ही कह दो।

इसलिए उपयुक्त दोषो के निमित्त से आपका महेश्वर देहसहित कमसहित सवज्ञ एव मोहरहित सिद्ध नही होता है।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टि क्यो बनाता है किसी अन्य पुरुष की प्रेरणा से या दया से क्रीड़ा से या स्वभाव से ?

यदि अन्य से प्ररित होकर बनाता है तब तो उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। यदि दया से बनाता है तो उसने दुखी प्राणी को क्यो निर्माण किये ? यदि कहो पापियो को दण्ड देना पडता है तब तो उसने पाप की सष्टि क्यो की ? परम पिता परमकारुणिक ईश्वर पाप और पापीजनो की सृष्टि क बवॆान फिर उन्हें दुख देव यह तो उचित नही है। यदि कहो क्रीडा से सृष्टि का निर्माण करता है तबो तो वह प्रभु महान् कसे रहेगा प्रत्युत क्रीडा प्रिय होने से बालकवत् नादान समझा जावगा। यदि कहो स्वभाव से वह सृष्टि का निर्माण करता है तब तो ईश्वर का स्वभाव नित्य है सदा काल है अत सदा काल एक जैसी सष्टि बनती रहेगी तरह तरह की विचित्रता का अनुभव नही होना चाहिये।

इत्यादि अनेको दोष आते हैं अत ईश्वर को अनादि सिद्ध एव सष्टि का कर्ता मानना अनुचित है। यह ससारी प्राणी अनादि काल से कम सहित होने से स्वय ही पुण्य पाप का कर्ता है और भोक्ता है। जब पुरुषाथ से कर्मों का भेदन कर देता है तो ईश्वर महेश्वर ब्रह्मा महात्मा परमात्मा सिद्ध शिव अक्षय अच्युत आदि अनेको नाम से पूज्य बन जाता है।

सांख्य की आप्त समीक्षा

'कपिल एव मोक्षमार्गस्योपदेशक क्लेशकर्मविपाकाशयानां भेत्ता च रजस्तमसोस्तिरस्करणात ।

[आप्त प पृ १५६]

कपिल ही मोक्ष माग का उपदेशक तथा क्लेश कम विपाक और आशयो का भेद करने वाला है, क्योकि उसके रज और तम का सवथा अभाव है। यह कथन सांख्यो का है। इस पर आचार्य कहते हैं कि कपिल सवज्ञ नही है क्योकि वह स्वय अपने ज्ञान से सर्वथा भिन्न है इसलिये सर्वज्ञ नही है। सांख्य का कहना है कि मुक्त होना ससारी होना पुरुष का धर्म नही हैं। प्रधान के ही ससारीपना मुक्तपना ज्ञान और सुख का होना सभव है।

प्रधान ज्ञत्वतो मोक्षमागस्यास्तूपदशकम।
तस्यव विश्ववविस्वात भेवित्वात कमभूभृताम् ॥८ ॥
इत्यसभाव्यमेवास्याचेतनत्वात पटादिवत।
तदसंभवतो नूनमन्यथा निष्फल पमान ॥८१॥
भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविशषत।
विरोध तु तयोर्भोक्ति स्यादभुजो कत ता कथ ॥८२॥

प्रधान ही मोक्ष माग का उपदेशक है क्याकि वह ज्ञानी है और ज्ञानी इसलिये है कि वह विश्व वेदी-सवज्ञ है तथा सवज्ञ भी इसलिये है कि कम पवतो का भेत्ता है। जैनाचाय कहते है कि साख्यो का यह मत असभव है क्योकि वह प्रधान वस्त्रादि की तरह अचेतन हैं। इसलिय प्रधान को कर्मा का नाशक विश्वज्ञानी मोक्षमाग का उपदेशकत्व आदि मानना असम्भव है। यदि मानोग तो पुरुष की कल्पना ही व्यथ हो जावेगी। अगर कहो कि पुरुष भोक्ता है तब तो वही कर्ता भी हावे क्योकि कतृ त्व और भोक्तृत्व दोनो एक जगह सभव है। यदि क्रिया के कर्तापने का विरोध कहा जावे तो भोक्ता पुरुष भज क्रिया का कर्ता कसे रहा ? आश्चय तो इस बात का है कि प्रधान सवज्ञ है और मुमुक्षु जन स्तुति पुरुष की करते हैं। तात्पय यह है कि कपिल ने ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान के ससग से ही ज्ञान माना है वह पुरुष स्वय तो ज्ञान रहित है किंतु यह सिद्धात सवथा गलत है अचेतन म ज्ञान हो और उसके ससर्ग से ससार मे पुरुष ज्ञानी बन एव मुक्त मे अज्ञानी रह यह कल्पना गलत है अत ज्ञानदशन स्वरूप पुरुष विशेष ही कर्मो का नाशक विश्व का ज्ञाता सवज्ञ और मोक्ष माग का उपदेष्टा आप्त है किंतु कपिल आप्त नही है।

बुद्ध की आप्त समीक्षा

सुगत ही सवज्ञ है क्योकि वह सपूण तृष्णा से रहित है एव सपूण गत सुगत अथवा शोभन गत सुगत यदि वा सुष्ठुगत सुगत इस नियम मे जो सपूणता को प्राप्त है या शोभन अवस्था को प्राप्त है या अच्छी गति को प्राप्त है वह सुगत है एव उस सुगत की जगत के लिये महती कृपा है बुद्धो भवेयम् जगते हिताय मैं जगत् का हित करने के लिये बुद्ध होऊ इत्यादि भावना से ही बुद्ध भगवान् सच्चे आप्त हैं और मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। यह सौगतो का कहना है किंतु जैनाचाय उत्तर देते हैं कि—

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः ।
विश्वतत्त्वज्ञतापायात् तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥८४॥
संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि ।
बुद्धो वन्द्यो न तु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितं ॥८५॥

सुगत भी मोक्ष मार्ग का उपदेशक नही है क्योकि वास्तव मे उसके सवज्ञता नही है जैसे कपिल आदि में नही है ॥ यदि कहो बद्ध संवृति-कल्पना से सवज्ञ है और मोक्ष माग का उपदेष्टा भी है। फिर भी संवति से सवज्ञ होते हुये भी बुद्ध भगवान तो वंदनीक होव और कल्पित स्वप्न आदि वद्य न होवें यह क्यो ? यह तो अज्ञानी का ही पक्षपात है।

आपके द्वारा मानी गई तत्त्व व्यवस्था ही ठीक नही है पुन उसके उपदेशक बद्ध सवज्ञ कसे होगे ! आपके यहा प्रत्येक पदाथ को प्रतिक्षण विनाशी एव परमाणु रूप मानते हैं। जो कि प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव में नही आते ह।

इन बौद्धो मे योगाचार बौद्ध केवल विज्ञानमात्र तत्त्व को मानत है बाह्य पदार्थों को नही मानते हैं। उनकी इस मान्यता से सुगत की सिद्धि ही असभव है क्योकि ज्ञान से भिन्न सुगत को मानन स द्व त आता है और सवत्ति से सुगत की कल्पना करने स वह स्वप्न के सदृश होने स नमस्कार योग्य नही रहता। तथव चित्राद्वैतवादी की मान्यता भी गलत है क्योकि चित्र ज्ञान भी कह और उस एक अद्व त भी कह यह असभव हैं। चित्रज्ञान का अथ ही है अनक ज्ञान न कि एक ज्ञान। यदि आप कह कि क्षणभगुर वस्तु मे और अद्व त मे जो स्थायी रहना या द्व त रूप दिखना है वह सवति मात्र है। तब तो आपका बुद्ध भी कल्पना स ही सवज्ञ होगा पुन वास्तव मे सवज्ञ न होने स कल्पित-असत्य मान्यता अपने आप मे कल्पित असत्य ही है।

ब्रह्माद्वैतवादी के ब्रह्म की समीक्षा

ब्रह्माद्वतवादी इस जगत को एक परम ब्रह्म स्वरूप मानते हैं उस ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से ब्रह्म की सिद्धि कर रहे हैं। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस ब्रह्म का ग्राहक है ही क्योकि आख खोलने के अनतर सवविकल्पो से रहित शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म ही झलकता है। अनुमान भी परम ब्रह्म को ही सिद्ध करता है। ग्रामारामादय पदार्था प्रतिभासान्त प्रविष्टा· प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्त प्रविष्टम यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासंते च विवादापन्ना· इति ग्राम और उद्यान आदि सभी दिखलाई देने वाले पदाथ प्रतिभास परम ब्रह्म के अत प्रविष्ट हैं क्योकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जो प्रतिभासित होता है वह सब प्रतिभास के अत·प्रविष्ट है जसे कि प्रतिभास का स्वरूप । विवादापन्न ग्राम और उद्यान आदि प्रतिभासित होते है इसलिये वे सभी परमब्रह्म के ही स्वरूप हैं। इस परमब्रह्म को सिद्ध करने के लिये श्रुति वाक्य भी अनेकों पाये जाते हैं।

सब व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आराम तस्य पश्यति न त पश्यति कश्चन' ।।

सभी दश्यमान पदाथ ब्रह्म स्वरूप हैं इससे भि न जगत मे नाना पदाथ कुछ नही हैं। हम सभी लोग उस ब्रह्म की पर्यायो को ही देखते हैं किंतु उसे कोई नही देखते हैं ।। इत्यादि रूप से ब्रह्मवादी अपना पक्ष स्थापित करते हैं। अब आचार्य कहते है कि आपने जो परमब्रह्म को प्रत्यक्ष का विषय कहा है वह गलत हैं क्योकि विशेष से निरपेक्ष सामान्य मात्र का प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव होना ही अशक्य है। जो आपने अनुमान से ब्रह्म को सिद्ध किया है उसमे प्रश्न यह होता है कि प्रतिभासित होने वाले धर्मी हेतु दृष्टात आदि प्रतिभासरूप ब्रह्म के अत प्रविष्ट होकर (भीतर घुसकर) प्रतिभासित होते हैं या ब्रह्म से बहिभूत रहकर ही प्रतिभासित होते हैं ? यदि अदर होकर प्रतिभासित होते है तब तो अनुमान नहीं बनेगा। अनुमान मे साध्य हेतु उदाहरण अवश्य होने से द्वत आ जावेगा। यदि बहिभत होकर प्रतिभासित होते है कहो तो स्पष्ट ही द्वत हो गया। आपने अद्वत को सिद्ध करने के लिये अनुमान बनाया उसने द्वत को ही सिद्ध कर दिया।

आगम आदि भी ब्रह्म से भि न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्प उठते रहने से आपका ब्रह्माद्वत सिद्ध नही होगा। एव उस ब्रह्म से सृष्टि की मान्यता कहना तो बिल्कुल ही असभव है। एक परमब्रह्म रूप चत य आत्मा से अनेको चेतन अचेतन रूप जगत को उत्पन्न हुआ मानना गलत है। अत परमब्रह्म को आप्त भगवान कहना सवथा गलत है।

उपसहार—इस प्रकार महेश्वर कपिल सुगत और परमब्रह्म इनके सवज्ञत्व और आप्तपने का अभाव होने से मोक्षमाग का प्रणयन नही बनता है और जो सवज्ञ हैं कम पवतो के भेत्ता हैं मोक्ष माग के प्रणता हैं वे अहत ही है वे ही सच्च आप्त है।

चार्वाक—

चार्वाक कहता है कि कोई पुरुष सवज्ञ है यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नही हैं। आगम प्रमाण से सवज्ञ का अस्तित्व बतलाना योग्य नही है क्योकि जब सवज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही तब उसका कहा हुआ आगम कसे होगा ? एव असवज्ञप्रणीत आगम से सवज्ञ को सिद्ध करना गलत है क्योकि अल्पज्ञ का कहा हुआ आगम प्रमाणिक नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सवज्ञ का ज्ञान नही होता है क्योकि इस समय यहा सवज्ञ नही है यह बात प्रत्यक्ष से स्पष्ट है। अनुमान से भी सवज्ञ का ज्ञान नही होता क्योकि सर्वज्ञ के साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई साधन नही है अत कोई पुरुष तीर्थंकर आप्त सवज्ञ भगवान नही है। न उनके द्वारा कथित आत्मा और परलोक आदि ही हैं।

इसपर जनाचाय कहते हैं कि आज भले ही इद्रिय प्रत्यक्ष से यहां पर सवज्ञ न हो फिर भी सवज्ञ के प्रतिपादक आगम एव अनुमान सिद्ध हैं यथा— कश्चित पुरुष सकलपदाथसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्व भावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबधप्रत्ययत्वात यद् यद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबधप्रत्यय तत् तत्

सकलपदार्थसाक्षात्कारी यथा अपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि तथा चायं पुरुष तस्मात्सकलपदार्थ साक्षात्कारी इति [विश्वत प्र पृ ४]

कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अवश्य है क्योकि उसके पदार्थों का ग्रहण स्वभाव होने से ज्ञान के प्रतिबधक कारण नष्ट हो चुके हैं। जो-जो पदाथ के ग्रहण स्वभाव वाला होने पर प्रतिबधक कारण से रहित है वह वह सकल पदार्थों को साक्षात करने वाला है जसे तिमिर दोष से रहित नेत्र रूप का साक्षात्कार करने वाले है और उसी प्रकार से यह कोई पुरुष है इसीलिय सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला है।

दूसरी बात यह है कि जब चार्वाक प्रत्यक्ष से सारे विश्व को देखकर आवे कि कोई सर्वज्ञ नही है तभी वह निणय दे सकता है कि विश्व मे कही भी कोई पुरुष सवज्ञ नही है अ यथा सारे विश्व को देखे बिना कसे निर्णय देगा ? और जब सारे विश्व को देखकर आयेगा तब वही तो सवज्ञ बन जायेगा क्योकि जो सारे विश्व को जाने वह सर्वज्ञ है। पुन सवज्ञ का निषध वह कसे करेगा अर्थात् नही कर सकेगा।

मीमांसक —

मीमासक भी यही कहते हैं कि अतीन्द्रियदर्शी कोई भी सवज्ञ नही है अत नित्य वेदवाक्यो से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है किन्तु जनाचार्यों ने इन मीमासको के मत की भी मीमांसा करके सवज्ञ की सिद्धि की है।

कुमारिल भट्ट कहता है कि — **धमज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सवमन्यद विजानान परुष केन वायते** अर्थात् हम तो मनुष्य का केवल धमज्ञ होने का निषध करते हैं। धम को छोडकर यदि मनुष्य सबको भी जान ले तो कौन मना करता है ? मतलब यह है कि ये मीमासक किसी को सब कुछ जाननें वाला कहकर भी धमज्ञ का निषध कर देते हैं इनको वेद के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना सिद्ध करना है क्योकि ये क्रियाकाडी लोग वेद को अपौरुषय कहकर उसकी प्रमाणता को सिद्ध करने मे बहुत ही प्रयत्नशील हैं। खर ! सूक्ष्म अ तरित दूरवर्ती आदि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अतीन्द्रिय धर्म अधर्म आदि सभी को स्पष्ट करने वाला सवज्ञ अवश्य है।

अकलकदेव ने सवज्ञत्व के साधन मे अनेको युक्तियो के साथ एक युक्ति बहुत विशेष दी है कि सर्वज्ञ के सद्भाव में कोई बाधक प्रमाण नही हैं अत उसका अस्तित्व होना ही चाहिए एव दूसरी युक्ति यह दी है कि— **ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञ य किमवशिष्यते। अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥**

[न्यायविनिश्चय]

आत्मा 'ज्ञ —ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं। अत आव रणो के विछिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिये फिर ज्ञय-जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात

कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ परिज्ञान होना अवश्यंभावी है। इसलिये सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक शून्यवादी और मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व ही नही मानते हैं एव सांख्य बौद्ध वैशेषिक वेदांती ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं किन्तु उनकी मान्यताय सुघटित नही है इसलिए सबका निराकरण करते हुये जैनाचार्य युक्तिपूवक सवज्ञ की सिद्धि कर रहे हैं।

जैन—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वद्य समवतिष्ठते।
तत्सद्भाव प्रमाणस्य निर्बाध्यस्य विनिश्चयात् ॥८७॥
ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा।
प्रमेयत्वाद्यथास्मादक प्रत्यक्षार्था सुनिश्चिता ॥८८॥ [आप्तपरीक्षा]

जो सवज्ञ हैं कम पवतो के भेत्ता हैं मोक्षमाग के प्रणता हैं वे अर्हंत ही हैं और इसीलिये वे ही मुनीश्वरो के वदनीय प्रसिद्ध हैं क्योकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिय अबाधित और निश्चित प्रमाण पाय जाते हैं। एव ईश्वर आदि सर्वज्ञ नही हैं इसलिये सूक्ष्मादि अन्तरित पदाथ अर्हंत के परमार्थत प्रत्यक्ष हैं क्योकि वे प्रमेय है जसे हम लोगो के द्वारा जाने गये प्रत्यक्ष पदाथ।

शका— आत्मा का इन्द्रियो के साथ समीचीन सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। अत हम लोगो का प्रत्यक्ष ज्ञान उन देशकाल और स्वभाव से अन्तरित (दूरवर्ती) पदार्थों को नही जानता है अत धर्मी असिद्ध होने से हेतु आश्रयासिद्ध है।

समाधान—नही क्योकि स्फटिक आदि अन्तरित कितने ही पदार्थों का सदभाव हम लोग देखते हैं। और दीवाल आदि से ढकी हुई अग्नि आदि को भी धूमादि हेतु से निश्चित कर लेते हैं। काल से अन्तरित वर्षा आदि को भी विशिष्ट मेघ आदि के द्वारा जानते हैं तथा स्वभाव से अन्तरित इन्द्रिय शक्ति आदि कितने ही पदाथ अर्थापत्ति से सिद्ध होने से धर्मी प्रसिद्ध है अत हेतु आश्रयासिद्ध नही है।

शका—आप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अन्तरित पदार्थों को अहत के सिद्ध करते हो या इंद्रिय प्रत्यक्ष से ?

समाधान— अहत भगवान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से धर्मादिक सूक्ष्म पदाथ एव सुमेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों को जानने मे समथ नही है। अत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स ही जानते हैं।

शका—जो अहत के प्रत्यक्ष नही है वह प्रमेय नही है जसे प्रत्यक्ष से बहिर्भूत मिथ्या एकान्त।

समाधान— जो मिथ्या एकान्त ज्ञान हैं वे सभी परमागम और अनुमान से हम लोगो के प्रमेय हैं और अहत के प्रत्यक्ष हैं अत वे विपक्ष नही है।

शका—धर्मादिक पदाथ किसी के प्रत्यक्ष नही हैं क्योकि सदैव अत्यन्त परोक्ष हैं। जो किसी के प्रत्यक्ष हैं वे सदैव अत्यन्त परोक्ष नही हैं। जैसे घटादिक पदार्थ।

समाधान—"अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा अर्थात् जो व्याप्त करे जाने उसे अक्ष कहते हैं और अक्ष नाम आत्मा का है। अत आत्मा के आश्रय स जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्हंत का प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है वह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायो को विषय करने वाला है। क्योंकि वह क्रम रहित है। और वह क्रम रहित इसीलिए है कि उसमे मन तथा इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। इन्द्रिय मन की अपेक्षा भी इसीलिए नही है कि वह समस्त दोष रहित है तथा मिथ्यात्व अज्ञानादि दोषो से रहित भी इसीलए है कि वह इन दोषो के कारण भूत मोहनीय ज्ञानावरण दर्शना वरण तथा अन्तराय इन चार कर्मों का नाश कर चुके हैं जो दोष रहित नही है वह कम रहित भी नहीं है जैस हम लोगो का प्रत्यक्ष। मोहादि कम रहित अर्हंत का प्रत्यक्ष है इस कारण वह समस्त दोष रहित है।

शंका—अर्हंत के मोहादि का नाश कसे सिद्ध है?

समाधान—अहृत के मोहादि चार कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व आदि के प्रतिपक्षियो का प्रकष देखा जाता है। यथा—मोहादि चार कम किसी आत्मा विशेष मे सवथा नष्ट हो जाते हैं क्योकि जहा उनके कारणो के प्रतिपक्षी का प्रकष पाया जाता है वहा उसका नाश हो जाता है। जसे आख का तिमिरदोष।

मोहादि चार कर्मों के कारणो के प्रतिपक्षियो का प्रकष केवली मे पाया जाता है इस कारण वहा उनका सर्वथा नाश हो जाता है।

शंका—मोहादि चार कर्मों का कारण क्या है?

समाधान—मिथ्यादशन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनो मोहादि चार कर्मों के कारण हैं।

शंका—मिथ्यादशनादि के प्रतिपक्ष (विरोधी) क्या ह?

समाधान—सम्यग्दशनादि तीन मिथ्यादशन आदि तीन के विरोधी हैं। क्योकि उनके प्रकर्ष होने पर उन मिथ्यादर्शन आदि की हानि देखी जाती है। जिसके प्रकष में जिसका अप्रकष देखा जाता है वह उसका विरोधी है। जैसे—ठढ का प्रतिपक्षी अग्नि है एव सम्यग्दशन आदि तीनो वृद्धिगत होने वाले है।

जो बढ़ने वाला है वह कही पर प्रकर्ष के अन्त को प्राप्त होता है। जैसेपरिमाण परमाणु से लेकर आकाश में चरम सीमा को प्राप्त है। अतएव सम्यग्दशनादि के पूर्ण प्रकष को प्राप्त होने पर मिथ्या दर्शन आदि अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाते हे। उनके नाश होने पर मोहादि चार कर्मों का अत्यन्त क्षय होने से अर्हंत भगवान् दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग सिद्ध हो जाते हे। और मिथ्या एकांतों का अभाव तो अनेकांत की सिद्धि से ही हो जाता है।

शंका—अर्हंत सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह वक्ता है पुरुष है जैसे ब्रह्मा वगैरह।

समाधान—ज्ञान के बढ़ने पर वक्तापन की हानि नहीं देखी जाती है। अत वक्तापन सर्वज्ञता का

विरोधी नहीं है । सवज्ञ का जो समस्त पदार्थों को विषय करने वाला वक्तापन है वह युक्ति एव शास्त्र से अविरोधी सिद्ध है । तथा स्पष्ट है कि समस्त अज्ञानादि दोष रहित पुरुषपना परमात्मा सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ समस्त ज्ञानादि गुणो के परम प्रकर्ष की प्राप्ति को ही सिद्ध करता है । अत आपका अनु मान सवज्ञ का बाधक नही है ।

दूसरी बात यह है कि सवज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई व्यक्ति पहले तीनो लोको में एव तीनो कालो मे सबको देख कर यह निणय करे कि कोई भी सवज्ञ नही है तब तो वह स्वयं ही तीनो लोको एव तीनो कालो का जान लेने से सवज्ञ सिद्ध हो जाता है । यदि उसने तीनो लोको एव तीनों कालो को नही जाना तब वह यह निगय ही कसे करेगा कि तीनो जगत मे सवज्ञ नहा है । अत आप सवज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकते है ।

शका— कम काय कारण रूप प्रवाह से प्रवतमान हैं इसलिए व अनादि है । उनका विनाशक कारण न होने से कोई सवज्ञ भी कम पवत का भेत्ता नही हो सकता है ?

समाधान—नही क्योकि अहन मे विराधी सम्यग्दशन आदिका की वद्धि चरम सीमा को प्राप्त हो जाती है तब प्रवाहरूपमेअनादि हाने पर भी कर्मों का सवथा नाश हो जाता है । बीजाकुर की अनादि सतान भी प्रतिपक्षी अग्नि से जलकर खाक हुई देखी जाती है ।

शका—कम पवता का विपक्ष क्या है ?

समाधान—आगामा कर्मों का विपक्ष सवर है और सचित कर्मों का विपक्ष तप से होन वाली निजरा है । अर्थात् कर्मो के आन क द्वार का रुक जाना सवर है । और कर्मों के वे द्वार पाँच हैं—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग । इनके हाने पर कम आते हैं अत ये आश्रव है । आस्रव का निराध सपूणतया ता गुप्तिया मे हाता है । एक देश रूप समिति धर्म परीषहजय अनुप्रक्षा और चारित्र म हाता है । और सपूण रूप से योग निरोध रूप सवर तो अयोग केवली के अतिम समय म हाता है क्योकि वही समस्त कर्मों के निरोध का कारण है । इसीलिए अयोग केवली के अतिम समयवर्ती सम्यग्दशन आदि तीनो साक्षात् माक्ष के कारण माने जाते हैं । निर्जरा भी दो प्रकार की है —

(१) अनुपक्रमा (२) औपक्रमिकी ।

अनुपक्रमा निजरा तो यथा समय हर एक ससारी जीवो मे पाई जाती है और औपक्रमिकी बारह प्रकार के तपो से प्राप्त (सिद्ध) होती है । अत सवर और निजरा से कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

शका—कम पवत क्या हैं ?

समाधान—कम के दो भद हैं—द्रव्य कम और भाव कर्म ।

जीव के जो द्रव्य कम हैं वे पौद्गलिक हैं उनके अनेक भेद हैं । और जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणाम रूप हैं क्योकि आत्मा से कथचित अभिन्न हैं वे औपाधिक हैं ।

ये द्रव्य भाव कर्म ही पर्वत नाम से कहे जाते हैं। उनको जीव से पृथक करना ही उनका भेदन है।

शंका—ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अतराय ये चार घातिया कर्म जीव के अनतज्ञान अनंतदर्शन अनतसुख अनतवीर्य रूप गुणो के घातक हैं। किंतु नाम गोत्र वदनीय और आयु ये चार कर्म जीव के स्वरूप के घातक न होने मे अघाति कर्म कम नही हैं क्योकि ये परतत्रता के कारण नहीं हैं।

समाधान—नही। नामादि अघाति कम भी जीव के स्वरूप सिद्धत्व रूप के प्रतिबधक हैं अत परतत्रता के कारण प्रसिद्ध ही है।

शका—पुन इन्हे अघाति क्यो कहा है ?

समाधान—य जीव मुक्त उत्कृष्ट आर्हंत्य लक्ष्मी अनन्त चतुष्टयादि विभूति के घातक नही हैं इसी लिए इन्हे हम अघाति कम कहते ह।

शका—कर्म धम अधम रूप हैं और व आत्मा के गुण हैं अत कम औदयिक एव पुदगल रूप नही ह।

समाधान—यदि कम आत्मा के गुण हैं तो आत्मा की परतत्रता मे कारण नही हो सकते ह और इस तरह आत्मा के कभी भी बध न हो सकन स उसके मुक्ति का प्रसग आ जावगा किंतु ऐसा है नही।

शका— मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

समाधान—समस्त कर्मों की सवर और निजरा होकर जो अपने स्वरूप का लाभ होता है उसे ही आस्तिक पुरुषो ने मोक्ष कहा है। क्योकि आत्मा का स्वरूप अनत चतुष्टय आदि रूप है न कि अचेतन रूप।

शका—मोक्ष मार्ग क्या है ?

समाधान—मोक्ष की प्राप्ति का उपाय सम्यग्दशन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता ही है। और चौदहवे गुणस्थान के अन्त मे परम शुक्ल ध्यान रूप तपोविशेष जो कि चारित्र के अतगत है उसकी पूर्ति होने पर ही मोक्ष होता है रत्नत्रय की पूणता चौदहव गुणस्थान के अन्त मे ही होती है अत तीनों की एकता ही मोक्ष माग है।

अत मोक्ष मे ज्ञानादि गुणो का उच्छेद नही होता है प्रत्युत अनत ज्ञान अव्याबाध सुखादि गुणो की पूर्ण प्रगटता हो जाने से यह जीव कृतकृत्य सिद्ध हो जाता है इस प्रकार स अर्हंत में सर्वज्ञता की सिद्धि बाधित होती है अन्यत्र नहीं होती है।

इस प्रकार आप्तकी समीक्षा करते हुये अर्हंत को ही आप्तता सिद्ध होती है।

तत्त्व समीक्षा

तत्त्व विचार

चार्वाक पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन चार भूतो को ही चार तत्त्व मानता है इन भूत चतुष्टय से ही आत्मा इन्द्रिय ज्ञान और मन आदि की उत्पत्ति मानता है इसलिए जडवादी है।

बौद्ध कहता है कि आकाश चित्त सतान की उत्पत्ति तथा चित्तसतान की उच्छित्ति ये तीन तत्त्व असस्कृत तथा नित्य हैं। बाकी सब तत्त्व सस्कृत क्षणिक कर्ता से रहित हैं। [विश्व तत्त्व पृ २८५]

एवं इनके यहा रूप वेदना विज्ञान सज्ञा और सस्कार ये पाच स्कध माने गये हैं इन पांच स्कधो से ही सब काय होते हैं। और ता क्या इनके समूह से ही इन्होने आत्मा की उत्पत्ति मानी हैं। जब तक इनकी समष्टि रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस सघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। [भारतीयद पृ ६]

सांख्य—

साख्य के यहा पच्चीस तत्त्व हैं—प्रकृति प्रकृति से महान (बुद्धि) बुद्धि से अहंकार अहकार से सोलह तत्त्व—पाच ज्ञानेंद्रिय—स्पशन रसना घ्राण चक्ष श्रोत्र पाच कर्मेंद्रिय—वायु उपस्थ वाणी हस्त पाद एव मन ये ग्यारह इन्द्रिया एव रूप रस गध स्पश और शब्द ये पांच तन्मात्राए ऐसे सोलह गण हैं। इन पाच तन्मात्राओ से पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश ये पाच महाभूत होते हैं। ऐसे ये प्रकृति महान अहकार सोलह गण पाच महाभूत मिलकर चौबीस तत्त्व हुये ये अचेतन हैं एवं पुरुष तत्त्व चेतन है। ये चतन-अचेतन मिलकर पच्चीस तत्त्व होते हैं।

नयायिक—

नयायिक के मत मे सोलह पदाथ या तत्त्व हैं—

प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तक निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति एव निग्रहस्थान ये सोलह तत्त्व हैं। इनके भी भेद प्रभेद अनेक हैं।

वैशेषिक—

वशेषिक मत मे द्रव्य गुण कम सामान्य विशेष समवाय और अभाव ये सात पदाथ हैं। इनमें से द्रव्य के नव भेद गुण के २४ कर्म के ५ भेद आदि पाये जाते हैं।

मीमांसक के दो भेद हैं प्राभाकर और भाट्ट।

प्राभाकर आठ पदाथ मानते हैं—

द्रव्य गुण कम, सामान्य परतन्त्रता शक्ति सादृश्य और सख्या।

भाट्टों ने पांच पदाथ माने हैं-द्रव्य गुण कर्म सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी जल अग्नि, वायु, आकाश दिशा, काल, आत्मा, मन, अधकार और शब्द।

वेदान्ती—

वेदान्ती लोग ब्रह्मवादी हैं—ये लोग "सर्व वै खल्विदं ब्रह्म" इस कथन से 'एक ब्रह्ममात्र' ही तत्त्व मानते हैं, अन्य कुछ भी नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् में जितने भी चेतन अचेतन पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये हैं इत्यादि।

जैन—

जैनाचार्यों ने इन सबकी मान्यता का न्यायदर्शन मे निराकरण किया है। देखिये ! चार्वाक के द्वारा मान्य भूत चतुष्टय से विजातीय चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति असभव है।

बौद्धों द्वारा मान्य भी पाच स्कधो से चेतन अचेतन कार्य मानना नितात गलत है।

सांख्य के पच्चीस तत्त्वो में महान् शब्द से बुद्धि को लेकर उसे प्रकृति अचेतन से उत्पन्न होना कहा है और पुरुष को अकर्ता मानकर एकात से अकेली जड प्रकृति को ही सारे विश्व का कर्ता कहा है यह ठीक नहीं है।

नैयायिक के द्वारा मान्य सोलह पदार्थों में संशय प्रयोजन दृष्टान्त छल हेत्वाभास जल्प वितण्डा आदि को पदाथ मे शामिल करना गलत है।

वैशेषिक के सात पदार्थों में कर्म समवाय आदि चीजें पदाथ नही हैं। गुण धम सबध क्रिया आदि को पदाथ कहना ठीक नही है।

मीमांसक ने तो परत त्रता अधकार सदृशता आदि को भी पदार्थ कह दिया है। वास्तव मे अधकार आदि पदाथ न होकर पर्याय हैं।

वेदांती के द्वारा मान्य एक ब्रह्मतत्त्व तो असभव ही है। अत जैनाचार्यों द्वारा मान्य द्रव्य छह हैं—

जीव, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल। तत्त्व सात हैं—जीव अजीव, आस्रव बध सवर निर्जरा और मोक्ष। इन्ही तत्त्वो मे पुण्य पाप मिला देने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

आत्मसमीक्षा

आत्मा का विचार

चार्वाक—आत्मा का पृथक रूप से अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं इनका कहना है कि भूत चतुष्टय से आत्मा का जन्म हुआ है। मरने के बाद आत्मा कोई चीज नहीं है अत परलोक गमन पुण्य पाप आदि कार्य ये लोग नहीं मानते है इसीलिये ये नास्तिक' कहलाते हैं। वास्तव मे स्वय अपनी आत्मा के अस्तित्व को न मानकर उसका घात करना महा मूढ़ता है।

बौद्ध—

'विज्ञान स्कंध चित्त हैं इसी को आत्मा कहते हैं' [सर्व द पृ १६] विज्ञान क्षणो का नाम आत्मा

है। काय चित्त और विज्ञान के समूह को आत्मा कहते हैं। मनुष्य एक समष्टि का नाम है जिस तरह चक्र धुरी नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं उसी तरह बाह्य रूप युक्त मानसिक अवस्थायें और रूपहीन सज्ञा (विज्ञान) के समूह या सघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जाता है। इस सघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवतनशील तत्वो का एक सग्रह है। इसे पच स्कध कहते हैं उनके नाम हैं रूप वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान । [भारतीयद ६] बौद्ध की यह कल्पना भी कल्पित होने से गलत है।

सांख्य—

सांख्य आत्मा को चेतन पुरुष मानते है एव कूटस्थ नित्य निरतिशय अपरिणामी मानत हैं कर्मों का कर्ता नही मानत किन्तु भोक्ता अवश्य मानत हैं इनक यहा पुरुष को—अमूर्त निगण भोक्ता नित्य सवगत निष्क्रिय अकर्ता सूक्ष्म और चेतन माना है। तथा ज्ञान स रहित माना है एव ज्ञानसहित प्रधान क ससग स ज्ञानी माना है। आत्मा को सवथा निष्क्रिय अमूत आदि मानना एव ज्ञानरहित मानना गलत है।

नयायिक—

नैयायिक का कहना है कि आत्मा सुख दु ख इच्छा द्वष प्रयत्न तथा ज्ञानादि गुणो का आश्रय होता है चेतनत्व कतृ त्व सवगतत्व आदि धर्मों से आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग के साधन भूत पाच इद्रिया ह। रूप रस आदि पचेद्रिया के विषय रूप अर्थ है। [षड द पृ १ ७] इतना सब कुछ मान करके भी नयायिको ने आत्मा मे द्रव्यत्व के समवाय स आत्मा को द्रव्य माना है एव ज्ञान के समवाय से ज्ञानी माना है यह समवाय सम्बन्ध की व्यवस्था गलत है क्योकि समवाय के पहले आत्मा क्या है और ज्ञान कहा है ? यदि दोनो ही पृथक २ कभी भी किसी के दृष्टि गोचर होव तब तो उनका सबध भी माना जावे। एव आत्मा को सवगत मानना भी असम्भव हैं क्योकि आत्मा स्वदेह परिमाण ही है।

वशेषिक—

आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुद्रव्य च [षड द पृ ४ ६] आत्मा जीव है अनेक है नित्य अमूर्त और व्यापक द्रव्य है। ज्ञानाधिकरणमात्मा स द्विविध -जीवात्मा परमात्मा चेति । जिस द्रव्य मे समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योकि आत्मा मे ज्ञान समवाय सबंध से रहता है। आत्मा के दो भेद हं—जीवात्मा परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न भिन्न है व्यापक और नित्य है। [तर्क संग्रह]

अर्थात् नैयायिक के समान वैशेषिक ने भी आत्मा में स्वत ज्ञान गुण नहीं माना है किन्तु समवाय से माना है अत उसके यहां भी आत्मा ज्ञान शून्य ह एव आत्मा को सर्वथा व्यापक और नित्य मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

मीमांसक—

मीमासक जन जीव का लक्षण पूर्वोक्त मानकर भी समवाय नही मानते हैं एव अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इस नियम से स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ करे ऐसे क्रिया काण्ड यज्ञ अनुष्ठान आदि से आत्मा को स्वर्ग मानते हैं किन्तु जीव का कर्म से रहित होकर शुद्ध होना नही मानते हैं ये लोग जीव को हमेशा कलक कालिमा सहित अशुद्ध ही मानत ह । अतएव इन्होने सवज्ञ का अभाव सिद्ध करके अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद वाक्यो से मान लिया है।

इन मीमासको में भाट्ट प्राभाकार और वेदांती ऐसे तीन सप्रदाय हो गए हैं। भाट्ट प्राभाकर क्रियाकाण्ड को प्रमुख कहते हैं। किन्तु वेदाती सारे जगत को एक परमब्रह्म रूप ही मानते हैं और चेतन अचेतन को उस ब्रह्म की पर्याय सिद्ध करते हैं। किन्तु यह मान्यता गलत है आत्मा शुद्ध हो सकती है एव एक ब्रह्म की पर्याय न होकर प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से परम ब्रह्म स्वरूप है।

किन्ही किन्ही ने आत्मा को वटकणिका मात्र' माना है किन्तु यह ठीक नही है क्योकि यदि आत्मा को बट बीज के समान मानकर सारे शरीर में सचार माना जाए तब ऐसे मानने वालों को मन के माध्यम से सुख का अनुभव होगा। शरीर के जिस प्रदेश में आशुगति से आत्मा का सचार होगा उस समय उस प्रदेश मे मन का नया–नया सम्बन्ध मानना पडगा।

अणु परिमाण ज्ञानाश्रय जीव है। तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम। बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते। आराग्रमात्र पुरुष एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य।

आत्मा का अणुत्वश्रुति प्रसिद्ध है। केश के अग्रभाग के प्रथम सौ टुकड करके पश्चात् एक एक के सौ–सौ टुकड करने स एक भाग का जो परिमाण हो वह जीव का परिमाण है ऐस जीव अनन्त हैं और जीव रूप पुरुष आरे क अग्र भाग क समान सूक्ष्म हैं। आत्मा–जीव अणु परिमाण चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य कवल मन स जानने योग्य है। [सर्वदर्शन से रामानुजदशन पृ० १ ६] यह सब मान्यता विवेक शून्य है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण है यह बात अनुभव सिद्ध है।

जैन—

जैनाचार्यों ने उपर्युक्त मान्यताओ का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण स्थापित किया है। यथा—'उपयोगो लक्षणं स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद। [तत्त्वार्थसूत्र द्वि अ० सूत्र ८ ९]

जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मति, श्रुति अवधि मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान एव कुमति कुश्रुत, कुअवधि ये ३ कुज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदशन और केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग ह ।

जीव का लक्षण चेतना है ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहते है। जैनाचार्यों ने अन्यत्र जीव का लक्षण किया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥ [द्रव्यसग्रह]

जीव—जो तीनो कालो मे इन्द्रिय बल आयु और श्वासोच्छवास रूप द्रव्य प्राणों से एव चेतना लक्षण भाव प्राणो से । अजीवत जीवति जीविष्यति इति जीव जीता था जीता है जीयेगा वह जीव है यह उपयोगमयी है—ज्ञान दशन स्वरूप है कथंचित् अमूर्तिक है कर्ता है स्वशरीर प्रमाण है भोक्ता है ससारी है। सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है ॥

ससारिणो मुक्ताश्च [तत्त्वार्थ सूत्र]

जीव के ससारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं कर्म सहित जीव ससारी हैं कर्म बधन से रहित जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। जैन सिद्धात मे कर्मों के निमित्त से जीव का ज्ञान गुण ढका रहता है पूण प्रगट नहीं होता है धीरे धीरे अपने आवरण कम का क्षयोपशम होते होत ज्ञान गुण प्रगट होता चला जाता है जब पूण ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूण ज्ञान प्रगट होकर यह आत्मा सर्वज्ञ सवदर्शी ज्ञाता द्रष्टा कहलाने लगता है।

बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सवदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिस्त्यजेत ॥४॥ [समाधितन्त्र]

बहिरात्मा अतरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन भेद होत हैं। उसमें परमात्मा उपादेय-प्राप्त करन योग्य है एव अतरात्मा उपाय भूत है—परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है। और बहिरात्मा त्यागने योग्य है। इस प्रकार अह प्रत्यय से अनुभव में आने वाला आत्मा सभी जीवों को स्वसवेदन अनुभव से सिद्ध है।

ज्ञान का विचार

चार्वाक—

'तदिह विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति स न प्रेत्यसंज्ञास्तीति तद् एतत्न्यविशिष्टदह एव आत्मा [सवदश० पृ ३]

विज्ञान स्वरूप आत्मा इन चार भूतों से उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है, मरने पर परलोक

में कोई नाम नहीं रहता चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है। अर्थात् भूत चतुष्टय से आत्मा उत्पन्न होता है ज्ञान भी भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ है वह अस्वसंविदित है।

सांख्य —

'तत संजायते बुद्धिमहानिति यकोच्यत [षड् द पृ० १४५]

"इस प्रकृति से महान्—बुद्धि उत्पन्न होती है

इससे स्पष्ट है कि सांख्य ज्ञान को अचेतन प्रधान का धर्म कहते हैं उनका कहना है कि ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान का जब आत्मा मे ससर्ग होता है तब आत्मा ज्ञानी दिखता है। वास्तव म सर्वज्ञता प्रधान को ही है। मुक्ति मे प्रधान का ससर्ग छूट जाने से आत्मा मे ज्ञान नही रहता है आत्मा सुषुप्त चैतन्यवत् हो जाती है।

नैयायिक —

एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानं [षड् द १३७]

आत्मा मे ज्ञान के समवाय स ज्ञान रहता है और वह भी ज्ञानान्तर वेद्य है। ज्ञान स्वय अस्वसविदित है अ य ज्ञानो स जाना जाता है। नयायिक ज्ञान को दूसर ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष हाना मानत हैं उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है इसलिये ज्ञानान्तर वेद्य है जो प्रमेय होता है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है जैस घट पट आदि प्रमेय। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान ज्ञानान्तर स वेद्य माना जावे तो महेश्वर के ज्ञान से अनकान्तिक दोष आवेगा। जन सिद्धात में तो ज्ञान स्वय सबको जानता है अत ज्ञान है एव स्वय को भी जानता है अत ज्ञय प्रमेय भी है कोई बाधा नही है एव वह समवाय से आत्मा मे नही आता है बल्कि आत्मा का ही गुण है। ज्ञान से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

वैशेषिक—

नैयायिक और वैशेषिक दोनो ने ही ज्ञान को अस्वसवेदी माना है। इनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है किंतु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों लोग धारा वाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। य दोनो ही पदाथ और आलोक को ज्ञान का कारण कहते हैं। किंतु जैनाचार्यों ने ज्ञान को स्वसविदित ही सिद्ध किया है।

प्राभाकर—

प्राभाकर मतानुयायी ज्ञान को अप्रत्यक्ष ही मानते है उनका कहना है कि ज्ञान न तो स्वय जाना जाता है, और न ज्ञानान्तर से ही जाना जाता है। ये प्राभाकर आत्मा और ज्ञान दोनो को अत्यन्त परोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि प्रमिति जानना यह क्रिया और जानने योग्य घट पट आदि पदार्थ कर्म है वे ही प्रत्यक्ष हैं आत्मा, कर्ता और ज्ञान करण है वह परोक्ष ही है। किंतु जैनाचार्यों ने आत्मा और ज्ञान दोनों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष सिद्ध किया है।

मीमांसक—

मीमासक भी ज्ञान को परोक्ष कहते हैं किंतु आत्मा को प्रत्यक्ष मान लेते हैं इनका कहना है कि ज्ञान करण है इसलिए परोक्ष है। ज्ञान के द्वारा पदाथ जाने जाते हैं किंतु ज्ञान स्वय नहीं जाना जाता है।

अहं ज्ञानेन घट वेद्मि मैं ज्ञान से घट को जानता हू यहा कर्ता कम और क्रिया प्रत्यक्ष हैं ज्ञान यह करण होने से परोक्ष है। किंतु जैनाचाय कहते हैं कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो ज्ञान को परोक्ष कैसे कहना ? क्योंकि भावन्द्रिय रूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है जो कि आत्मा रूप है आत्मा से भिन्न नहीं है अत आत्मा को प्रत्यक्ष कहने से ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध हो जाता हैं।

बौद्ध—

बौद्ध ज्ञान को साकार कहते है उनके यहा ज्ञान पदाथ से उत्पन्न होकर उसके आकार को धारण करके ही उसको जानता है इसलिये ज्ञान तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसायरूप है। उनकी मान्यता है कि जसे पुत्र पिता स उत्पन्न होकर पिता के आकार को धारण करता है। उसी तरह ज्ञान पदाथ से उत्पन्न होकर उसी के आकार को धारण कर उसी को जानता है अन्य को नही यदि ऐसा न मानो तो पदार्थों की यवस्था कसे बनेगी ? इन्होंने विज्ञान स्कध को ही आत्मा माना है। एव विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने ज्ञान परमाणुओं का पथक पथक ही माना है। किंतु जनाचार्यों ने इस तदुत्पत्ति तदाकार ज्ञान का निराकरण कर दिया है। क्योकि यदि ज्ञान पदाथ से उत्पन्न होता है तो पदाथ के साथ ही ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक होना चाहिए किंतु नही है मतलब पदाथ के बिना भी ज्ञान होता है और पदार्थ के रहते हुये भी नही होता है इसलिए ज्ञान की तदुत्पत्ति सिद्ध नही होती तदाकार का भी निराकरण इसी से होता है तदध्यवसाय की कल्पना भी निमूल है। ज्ञान अपने क्षयोपशम विशेष से आत्मा मे उत्पन्न होकर पदार्थों को अवग्रह आदि विकल्पो से जानता है अत सविकल्प साकारोपयोग भी कहलाता है। एव क्षयोपशम विशेष से ही पदार्थों की व्यवस्था कर दता है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी इन्द्रिय के आकार का न होकर इन्द्रिय को नही जानता है। अत आपका कथन दोष पूण है।

जैन—

ज्ञानपदेन प्रमातृप्रमितश्च व्यावृत्ति अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

[न्याय दी पृ १०]

सम्यग्ज्ञानं प्रमाण मे सम्यक पद से मिथ्याज्ञानो का निराकरण किया है और 'ज्ञान' पद से प्रमाता-आत्मा प्रमिति—जानना और 'च' शब्द से प्रमेय-ज्ञेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से ये प्रमाता प्रमिति प्रमेय ज्ञाता ज्ञप्ति ज्ञेय सम्यक तो हैं किंतु इनमें ज्ञानत्व नहीं है।

'ज्ञानदर्शनयो करणसाधनत्व कर्मसाधनत्वादिवत्"

ये ज्ञान और दर्शन व्याकरण में करण साधन से बने हैं और चारित्र शब्द कर्म साधन है। अर्थात दृश्यते अनेनेति दर्शनं। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। चर्यत यत्तच्चारित्र जिसके द्वारा श्रद्धान किया जाय वह दर्शन है। जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र है।

कर्तृ करणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवत इति चेत न तत्परिणामादग्निवत ।

[राजवार्तिक पृ ४]

प्रश्न—यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करण को ज्ञान कहते हैं तो 'जसे कुल्हाडी से लकडी काटते हैं यहा कुल्हाडी और काटने वाले दोनो भिन्न हैं वसे ही कर्ता आत्मा और करण ज्ञान इन दोनो को भिन्न मानना होगा ?

उत्तर—नहीं ! जसे अग्नि उष्णता से पदाथ को जलाती है यहा अग्नि का उष्णत्व गुण अग्नि से पथक न होकर भी करण अथ मे प्रयुक्त है। अत कथचित अभेद मे भी कर्ता करण व्यवहार देखा जाता है। एव भूतनय की दृष्टि से ज्ञान क्रिया मे परिणत आत्मा ही ज्ञान है। अत द्रव्य दष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नही है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है जो कि सबसे निकृष्ट सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव मे भी कुछ अश मे मौजूद रहता है। तथाहि—

सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाद णिरावरण ।।३२ ।।

[गोम्मट सार जी पृ १६६]

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय मे सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय कहते हैं। इतना ज्ञान सदा ही निराबरण तथा प्रकाशमान रहता है। यदि इस ज्ञान पर भी आवरण आ जावे तब तो ज्ञान के बिना जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावगा। अत अतिसूक्ष्म ज्ञान वहा भी विद्यमान रहता है। एकेन्द्रिय पृथ्वी जल वायु अग्नि वनस्पति वृक्ष आदि मे भी आत्मा के ज्ञान दशन गुण मौजूद है कर्मावरण से ढके हुये हैं कुछ कुछ अश प्रकट हैं ये ही बढते बढते एक दिन पुरुषाथ से पूर्ण हो जाते हैं। तब आत्मा केवली सर्वज्ञ कहलाने लगता है। अत ज्ञान गुण आत्मा का है इसी से आत्म ज्ञानी है। सभी मतावलम्बियो ने ज्ञान को अचेतन अथवा अस्वसविदित माना हैं किंतु जैनाचार्यों ने ही ज्ञान को चेतनारूप स्वपर प्रकाशी सिद्ध किया है। आत्मा के अनन्त गुणो में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो सारे गुणो का महत्व बताता है यदि ज्ञान गुण न हो तो अनन्त गुणो का मूल्यांकन और अनुभव कौन कराव ? अत सभी गुणो मे श्रेष्ठ ज्ञान गुण है। इसे ही प्रमाण कहते हैं। इसका फल—

'ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं' श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतभक्ति मे ज्ञान का फल अच्युत सुख को प्राप्त करना कहा है।

जैसे न्याय ग्रन्थो में— अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं'

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी' ।

पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।। [आप्त मीमांसा]

ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव होना है एव परम्परा फल हेय वस्तु का त्याग उपादेय का ग्रहण एव इन दोनो से रहित मे उपेक्षा रखना है । श्री समतभद्र स्वामी ने भी यही कहा है कि—

केवल ज्ञान का फल उपेक्षा है शेष ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि का होना है । अथवा शेष ज्ञानों का भी फल उपेक्षा और अपने विषय मे अज्ञान का अभाव होना है ।

अत ज्ञान को अचेतन भूत चतुष्टय का धर्म या अचेतन प्रकृति का धम न मानकर चेतन आत्मा का ही धम मानना चाहिये । एवं अस्वसविदित न मानकर स्वसवदी स्वपर प्रकाशी मानना चाहिये ।

ससार तत्त्व का विचार

चार्वाक—

त च जीव पुण्यपापादिक न मन्यत । चतुर्भूतात्मक जगदाचक्षत । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाश पचम भूतमभिमन्यमाना पञ्चभूतात्मक जगदिति निगदन्ति । [षड्द पृ ४५]

ये चार्वाक लोग आत्मा पुण्य पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के झगड मे न पडकर इनकी सत्ता का सवथा लोप करत ह । इस ससार को पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टय रूप ही मानत हैं । कोई चार्वाक आकाश को भी पाचवा तत्त्व मानकर जगत को पाचभौतिक कहत हैं ।

यह जड जगत चार प्रकार के भौतिक तत्त्वो से बना हुआ है । इस भूतचतुष्टय को आत्मा या ससार कहना गलत है । [भारतीय द पृ १६] यह बात पहले आ चकी है ।

बौद्ध—

ससरन्ति स्थानात स्थानांतर भवाद भवांतर वा गच्छन्तीत्येवंशीला ससारिण स्कंधा सचेतना अचेतना वा परमाणप्रचयविशेषा । त च स्कधा वाक्यस्य सावधारणत्वात पचवाख्याता न त्वपर' कश्चिदात्माख्य स्कधोऽस्तीति [षडदशन पृ ४]

जो स्थान से स्थानान्तर को अथवा भव से भवान्तर को ससरण कर गमन करे वे ससारी स्कध है वे सचेतन या अचेतन परमाणुओ के प्रचय विशष कहलात ह । वे स्कध पाच ही होते ह । इन पांच स्कधो से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कध नही है । अर्थात् इन पाच स्कधो में ही आत्मा नाम का व्यवहार होता है । ये पाचो स्कध एक स्थान से दूसरे स्थान को या भव से भवान्तर को गमन स्वभाव वाले होने से-ससरणधर्मा होने से 'ससारी कहलाते ह । इन्ही ससारी पाच स्कंधो को दु ख सत्य' कहते हैं। रूप वेदना संज्ञा सस्कार और विज्ञान इनके नाम हैं । ये पाचो स्कध क्षणिक हैं एक क्षण तक ही ठहरते हैं ।

जिससे लोक मे मैं हू यह मेरा है इत्यादि अहकार रूप ममकार रूप समस्त रागादि समूह उत्पन्न होता है उसे समुदय कहते हैं । बौद्ध के मत मे चार आर्य सत्य हैं । दु ख, समुदय, मार्ग, निरोध । इनमें

से आदि के दो तत्त्वो से संसार है एवं अत के दो से मोक्ष होता है ये दु ख तत्त्व' और समुदय तत्त्व संसार की प्रवृत्ति में निमित्त भूत है। [षड् दर्शन पृ ४३]

'य पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वत स्नेह ।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत स संसारे ॥ [प्रमाण वा १।२१९ २]

जो पाँच स्कधो मे आत्मा को देखता है उसे यह मेरा है ऐसा नित्य स्नेह होता है स्नेह से तृष्णा तृष्णा से आत्मा के दोषो पर दृष्टि न जाना गुण दिखाई देना आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनो में ममकार होना उन्हें ग्रहण करना इत्यादि रूप से जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तभी तक संसार है।

कि तु जैनाचाय कहते हैं कि पचस्कध रूप आत्मा नही है ये बौद्ध एक ओर पृथ्वी आदि भूतो से आत्मा को मानने वाले चार्वाक का खण्डन कर रहे हैं। और दूसरी ओर रूप वेदना आदि स्कधों से भिन्न आत्मा को मानना नहीं चाहते हैं। इनमें वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये चार स्कध चेतनात्मक हो सकते हैं क्योकि अचेतन मे ये चारो बात असम्भव हैं। कि तु रूपस्कध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई अ तर नही रखता है। अर्थात बुद्ध भगवान का कहना है कि आत्मा क्या है इत्यादि कुछ मत सोचो दु ख दु ख के कारण उनके निरोध का ही विचार करो। इत्यादि रूप से बौद्ध अनात्मवादी ही हैं। उनका मा य ससार गलत हैं क्योकि एक क्षण स्थिर रहने वाले दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाने वाले स्कधो से क्या भवान्तर गमन होगा ? और क्या ससार बनेगा ? समझ मे नही आता है।

सांख्य—

मूल सांख्य तो हर एक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले प्रधान को भी भिन्न–भिन्न मानते हैं अत इनके यहां अनन्त पुरुषों की तरह प्रधान–प्रकृति भी अनन्त है। किन्तु उत्तरकालीन सांख्य सभी आत्माओ से सम्बन्ध रखने वाला एक नित्य ही प्रधान मानते हैं। प्रकृति और आत्मा के सयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। [षडद पृ १४५]

पुरुष तथा प्रकृति के सयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति के तीन गुणो की साम्यावस्था पुरुष के सयोग स नष्ट हो जाती है। जगत् की रचना इस क्रम स होती है सत्त्व की अधिकता होने से प्रकृति से महान्—बुद्धि होती है यह महान ही विश्व का अकुर है इस बुद्धि के आठ रूप होते हैं धर्म ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप हैं। तथा अधर्म अज्ञान विषयाभिलाष और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं। पुरुष का चतन्य प्रकाश महान् पर पड़ने स महान भी चेतन मालूम पड़ता है। इसी बुद्धि तत्त्व से मैं 'सुन्दर हू इत्यादि अहकार, अहँकार से षोडशगण और पाच तन्मात्रा से पचमहाभूत बन जाते हैं। इसी का नाम संसार है।

किन्तु विचार करके देखा जाये तो यह संसार का लक्षण प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि जब आत्मा अकर्ता निर्गुणी निष्क्रिय और व्यापक है तब उसका प्रकृति से सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं उसमें परिणमन हुये बिना दोनों के संयोग से संसार भी कैसे बनेगा ? आत्मा को व्यापक मानने से तो सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि वह अखण्ड आत्मा व्यापक है तब सब आत्माओं का सम्बन्ध सबके शरीरों के साथ है पुनः अपने अपने सुख दुःख और भोग का नियम कैसे बनेगा ? एवं कूटस्थ नित्य निष्क्रिय आत्मा का परलोक गमन आदि असम्भव होने से संसार किसे कहेंगे ?

नैयायिक वैशेषिक —

नैयायिक और वैशेषिक ईश्वर को संसार का कर्ता पोषक और संहारक मानते हैं। उनका कहना है कि —

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।। [महा भा वनप ३ ।२८]

अर्थात यह विचारा संसारी अज्ञ प्राणी असमर्थ है अपने सुख दुःख भोगने के लिये ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक में जाता है।

इनके यहां भी प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में से प्रमेय तत्त्व में आत्मा शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव परलोक फल दुःख और मोक्ष ये बारह भेद किये हैं आत्मा को व्यापक नित्य भोक्ता आदि माना है। किन्तु बुद्धि—ज्ञान को आत्मा से पृथक प्रमेय कहा है उसका आत्मा में समवाय मानते हैं।

ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया है किंतु परमाणु दिक काल आकाश मन तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने अपने पुण्य या पाप कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपयोग कर सकें इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है । [भारतीय द प २३]

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह प्रत्येक प्राणी अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख का भोक्ता है किसी ईश्वर को उसमें निमित्त मानना गलत है इसका वर्णन ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खंडन में पहले किया जा चुका है। अतः नैयायिक वैशेषिक इन दोनों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व गलत है।

मीमांसक—

मीमांसक लोग भौतिक जगत को मानते हैं। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। किंतु ये लोग किसी को जगत् का स्रष्टा परमात्मा ईश्वर नहीं मानते हैं जगत अनादि तथा अनंत है न इसकी कभी सृष्टि हुई है न प्रलय होगा। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है

जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है, तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अत इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपयोग परलोक में किया जाता है। [भारतीय द प० १]

ये मीमांसक भी परलोक को मानते हैं एवं अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम स्वग का इच्छुक अग्नि होत्र यज्ञ को करे। ऐसा प्रतिपादन करते हैं इसलिय य आस्तिकवादी हैं किंतु य ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या सर्वज्ञ नहीं मानते हैं ईश्वर क अस्तित्व को समाप्त करने वाले हैं इनक यहा सभी आत्मा सदा अशुद्ध संसारी ही रहते हैं।

किंतु वास्तव मे यह कथन भी गलत है क्योकि जीव कमबध से छूटकर मुक्त होता है एवं वही ईश्वर सवज्ञ कहलाता है भले ही वह सृष्टि का कर्ता नही है अत मीमासको द्वारा मान्य भी ससार तत्त्व गलत है।

वेदान्तवादी—

उत्तर मीमासावादी वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं **'सवमेतदिदं ब्रह्म'** यह सब कुछ ब्रह्म है उनका कहना है कि ब्रह्म ही सभी प्राणियो मे भासमान है एव अचेतन पदार्थों में भी वही ब्रह्म है। उपनिषदो म उसे सत ब्रह्मन वा आत्मन् कहते हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी मे विलीन हो जाता है। ससार का नानात्व-असत्य है उसकी एक मात्र एकता ही सत्य है। कुछ उपनिषदो मे यह उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा ससार की सृष्टि हुई है किंतु अन्य उपनिषदो मे यहा तक वेदो मे भी संसार की सृष्टि की तुलना इद्र जाल से की गई है। ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया से ससार की रचान करता है।

[भारतीय द पृ ३१]

परतु जैनाचार्यों का कहना है कि एक अकेला ब्रह्म सब चेतन अचेतन रूप विश्व मे व्यापक है सभी विश्व उस ब्रह्म की पर्याय हैं। यह कथन सवथा असत्य है अन्यथा एक को सुख-दु ख होने पर दूसरे को भी सुख दु ख उसी समय होना चाहिये था अत प्रत्येक आत्मा की भिन्न भिन्न सत्ता मानकर उनका ससरण मानना ही ससार है।

जैन—

जैन सिद्धांत के अनुसार उपयु क्त सभी के ससार तत्त्व के लक्षण बाधित हैं क्योकि यह संसार अनादि निधन है, इसका कर्ता धर्ता पोषक एव सहारक कोई भी ईश्वर परमात्मा आदि नही है। यह जीव स्वयं अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है, कर्म सहित होने से गतिनामकम के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में परिभ्रमण करता रहता है। इस जीव के 'ससरण' का नाम ही संसार है। कहा भी है—

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्ति संसार । [अष्ट स पृ ६३]

अपने पूर्वोपर्जित कम के निमित्त से आत्मा के भवातर की प्राप्ति का नाम ससार है।

पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च ससार । [अष्टसहस्री पृ ६६]

पूर्वभव का परित्याग करके भवातर का ग्रहण करना ही ससार है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार कम के आठ भेद है। और उनमे भी प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश के बध से बध के चार भेद हैं। इन कम बध के निमित्त से आत्मा की भवांतर प्राप्ति को ससार कहते हैं।

ससरण ससार परिवतनमित्यथ । स एषामस्ति ते ससारिण । तत्परिवतन पचविध द्रव्यपरिवतन क्षेत्रपरिवतन कालपरिवतन भवपरिवतन भावपरिवतन चेति।' [सर्वार्थसिद्धि प १६४]

ससरण करने को ससार कहते हैं जिसका अथ परिवतन है। यह जिन जीवो के पाया जाता है वे ससारी हैं। परिवतन से पाच भेद है– द्र यपरिवतन क्षत्रपरिवतन कालपरिवतन भवपरिवतन और भावपरिवतन। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि ग्र थ मे देखिये।

अष्टसहस्री मे ऐसा कहा है कि चार्वाक ने तो ससार माना ही नही है क्योकि भवातर गमन रूप ससार उनके यहाँ है ही नही। अ य जनो के द्वारा मा य ससार की व्यवस्था भी ठीक नही है क्योकि बौद्धो ने सर्वथा सब कुछ क्षणिक—एक क्षण रहने वाला माना है एव साख्यो ने सवथा नित्य अपरिणामी माना है अत इन लोगो के यहा भी भवातर गमन रूप ससार की व्यवस्था असभव है। स्याद्वाद मत मे जीव को कथचित् नित्य माना है और कमबध से सहित होने से मर्तिक स्वशरीरप्रमाण माना है। एव पर्यायार्थिक नय से ज म मरण सहित अनित्य भी माना है। जमे—एक जीव मनु य पर्याय से मरकर देवगति मे ज म लेता है वहा वही जीव है जो यहाँ मनष्यगति म था अत जीव द्रव्य की अपेक्षा वह ध्रौव्य है नित्य है कि तु मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय का उत्पाद हुआ है अत पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य भी है। जीव के ज म मरण का यवहार एव परलोक गमन भी लोक मे सिद्ध है क्योकि किसी को पूव जन्म स्मरण हो जाता है या पूव के सस्कार विशष देखे जाते हैं। इस प्रकार से जनाचाय सम्मत ससार तत्त्व प्रसिद्ध है।

मोक्ष तत्त्व का विचार

चार्वाक—

इनका कहना है कि भूतचतुष्टय से शरीर आत्मा इन्द्रिय और मन बन जाते हैं एव शरीर के नष्ट होने के बाद समाप्त हो जाते हैं जीव नाम की कोई वस्तु अनादि अनन्त है ही नही पुन मोक्ष की बात ही कहा रही ? आगमोऽपि न तत्प्रतिपादयितु समथ तत्र प्रामाण्याभावात आप्तो ह्यवंचकोऽभिमत सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वाल्लौकिकार्थानेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिभिरुपलभ्य प्रतिपादयति न तु जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिक। [विश्वत प्र पृ ४]

आगम प्रमाण से भी जीव का अनादि अनन्त होना सिद्ध नहीं है क्योंकि आप्त पुरुष के वचन आदि को आगम कहते हैं तथा जो ज्ञानी है अवचक है उसे आप्त कहते हैं वह आप्त चक्षु आदि इन्द्रियो से अन्वय व्यतिरेक को समझकर लौकिक विषयो का ज्ञान प्राप्त कर दूसरो को बतलाता है। जीव के अनादि अनन्त तत्व का प्रतिपादन नही करता है। अत जब न कोई सर्वज्ञ है न उनका आगम सत्य है तब मोक्ष का विचार करना सर्वथा गलत है क्योकि जब आत्मा और परलोक गमन ही सिद्ध नही है तब मोक्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार से यह चार्वाक मोक्ष तत्व को स्वीकार नही करता है।

बौद्ध—

निरोधो निरोधनामक तत्व मोक्षोऽपवर्ग उच्यते । चित्तस्य नि क्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यते । [षड द पृ ५]

मोक्ष या अपवर्ग को निरोध तत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्या तृष्णा रूप क्लेश से रहित चित्त की नि क्लेश अवस्था रूप निरोध मुक्ति कहा जाता है। बौद्धो द्वारा मान्य चार आर्य सत्यो मे यह निरोध चौथा आर्य सत्य है।

आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपम निर्वाण भवति। उत्तरचित्तस्योत्पत्तरभावात यदप्युक्त —

दीपो यथानिवृ समभ्यपैति नवावनि गच्छति नान्तरिक्ष।
दिश न काचिद् विदिश न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शांति ॥
जीवस्तथा निव तिमभ्यपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्ष।
दिश न कांचित विदिश न कांचित मोहक्षयात्केवलमेति शांति ॥

[सौन्दरनन्द १६ २८ २९]

सौगतो के यहा आयु के क्षय हो जाने पर उत्तर चित्त की उत्पत्ति नही होती है अत दीपक बुझने के समान चित्तसतति का निर्वाण होता है। कहा भी है— जिस तरह दीपक बुझता है वह न पृथ्वी मे जाता है न आकाश मे जाता है। दिशा या विदिशा मे भी नही जाता है सिर्फ तेल के खतम होने से शांत हो जाता है। उसी प्रकार जीव का निर्वाण होता है वह न पृथ्वी मे जाता न आकाश में जाता है एव न दिशा विदिशाओं मे जाता है सिर्फ मोह के खतम हो जाने से शांत हो जाता है।

रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्ष इति। [राज वा १ २]

ये बौद्ध लोग रूप वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान इन पांच स्कधो के निरोध को मोक्ष कहते हैं।

इस बौद्ध की मान्यता के अनुसार अभाव को मोक्ष कहना सर्वथा गलत है क्योकि जब आत्मा और ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा तब सुख किसको मिलेगा ? वास्तव मे मोक्ष की इच्छा सुख के लिए है न कि सर्वनाश के लिए। अत विचार की कोटि में बौद्ध का मोक्ष तत्त्व ठीक नहीं है। फिर इनके यहां क्षणिकवाद में आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की कल्पना सुतरां समाप्त हो जाती है।

सांख्य—

'प्रकृतेर्वियोगो मोक्ष पुरुषस्य [षड्दर्शन पृ १५३]

प्रकति के वियोग का नाम मोक्ष है। यह पुरुष के होता है। गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नसुप्त विवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्ष इत्यपरे–सांख्या । [तत्वार्थवा० प० २]

सांख्य लोग प्रकति और पुरुष मे भेद विज्ञान होने पर सुषुप्तपुरुष के विवेक के लुप्त हो जाने के समान अनभिव्यक्त चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा के अवस्थान को मोक्ष कहते हैं।

साख्यो द्वारा मा य यह मोक्ष लक्षण भी गलत है क्योकि चैत य विशेषस्वरूप की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है यह मा यता सत्य है। देखो ! प्रकृति का सयोग छूटने के बाद प्रकृति का ज्ञान और सुख मुक्ति मे नहीं रहा ऐसा ये ल।ग कहते हैं किन्तु यह गलत है। वास्तव मे ज्ञान दशन सुख वीय आदि गुण आत्मा के हैं इन विशेष गुणो को प्रगट करके ज्ञाता द्रष्टा पूर्ण सुखी हो जाना मोक्ष है।

नैयायिक वैशेषिक—

बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यंतोच्छवो मोक्ष इत्यन्ये' (वशषिका) [तत्वार्थवा प० २] नैयायिक और वशेषिक लोग बुद्धि सुख दु ख इच्छा द्वेष प्रयत्न धम अधम और सस्कार इन नव गुणो के अत्यन्त अभाव को मोक्ष कहते हैं।

यह मा यता तो बिल्कुल ही गलत है क्योकि बुद्धि ज्ञान और सुख का यदि मुक्ति मे अभाव हो जावे तो बौद्धो के समान शू य रूप ही मुक्ति कल्पना सिद्ध हो गई। और कौन ऐसा बुद्धिमान पुरुष होगा जो कि अपने ज्ञान और सुख को समाप्त करने के लिये मुक्ति को प्राप्त करना चाहेगा अर्थात अपने सुख और ज्ञान को तिलाजलि देकर मोक्ष जाना कोई भी नही चाहेगा। हा ! इतना अवश्य है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान एव साता वेदनीयजन्य इन्द्रिय सुख का मुक्ति मे अभाव होकर अनतज्ञान और अव्याबाध-बाधारहित सुख प्रगट हो जाता है यह बात वास्तविक है।

मीमांसक—

मीमासक लोग न सवज्ञ मानते हैं न कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर मानते हैं वे तो वेद वाक्यो से ही अतीन्द्रिय धर्म-अधम आदि पदार्थों का ज्ञान होना घोषित करते हैं एव इनके यहा भी जीवात्मा हमेशा अशुद्ध ससारी ही रहता है कभी पूर्ण शुद्ध मुक्त नही होता है। अत इनके यहा मुक्तितत्त्व का अभाव है।

वेदांतवादी—

ये लोग भी सारे विश्व को परमब्रह्म स्वरूप मानते हैं अत उस ब्रह्म की उपासना करके कोई भी व्यक्ति उसी ब्रह्म मे लीन हो जाता है पुन किसी के मुक्ति की कल्पना ही असम्भव है। इसलिये इन वेदातवादियो के यहा भी मोक्ष तत्त्व अघटित है। अथवा—

'अनंतसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यपरे सोऽपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते । [अष्टस० पृ ६६]

'मुक्ति में अनंत सुख है ज्ञानादि नहीं हैं ऐसे आनन्द रूप एक स्वभाव की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है ऐसा इन वेदान्तियो ने कहा है किन्तु यह मोक्ष लक्षण भी युक्ति और आगम से बाधित होता है ।

प्रश्न यह होता है कि अनत सुख लक्षण मोक्ष को मानने पर ज्ञान के बिना उसका अनुभव कैसे होगा ? यहा भी देखा जाता है कि यदि किसी को मूर्च्छित कर दिया जाय पुन उसका ऑपरेशन किया जाय तो उसे दु ख का अनुभव नही आता है अथवा यदि किसी का उपयोग दूसरी तरफ लगा हो और सुख साधन सामग्री रखी हो तो भी उसे सुख का अनुभव नहीं आता है अत ज्ञान के बिना सुख का अनुभव न होने से मुक्ति मे सुख मानना कैसे सिद्ध होगा ? क्या उनके सुख का अनुभव हम और आप को अपने ज्ञान से आ रहा है ? अनुभव नाम ज्ञान का है यदि उन्हे सुख का अनुभव है मतलब सुख का ज्ञान है पुन ज्ञान रहित मोक्ष कसे रहा ? दूसरी बात यह है कि ब्रह्मवादियो के यहा मोक्ष की व्यवस्था कहने पर ससार की व्यवस्था भी माननी पडगी पुन द्वत हो जाने से अद्वैत तत्त्व समाप्त हो जावेगा ।

जैन—

'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति । [सर्वार्थ सिद्धि पृ० २]

जब आत्मा कर्ममल कलक और शरीर को अपने से जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।

'बंध हेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष [तत्त्वार्थ सूत्र दशम अ] मिथ्यादर्शन आदि बध के कारणो का अभाव और संचित कर्मों की निर्जरा इन दोनो कारणो से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यतिक वियोग हो जाना मोक्ष है ।

जैन सिद्धान्त मे मुक्ति मे अनंत गुणों का विकास माना है एव अपने स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा है । मतलब आत्मा अनंत गुणो का पुज है । सिद्धि स्वात्मोपलब्धि यह भी पूज्यपादस्वामी का वाक्य है अत अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाना ही सिद्धि है उसे ही मोक्ष कहते हैं ।

यद्यपि यह मोक्ष प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता है फिर भी आगम और अनुमान से उसका ज्ञान हो जाता है यथा—घटीयंत्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुये बैल के घूमने पर । यदि बैल का घूमना बन्द हो तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बंद हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चारगति

रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेद नाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसक रुकने से ससाररूपी घटीयत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है।

इसी प्रकार से आगम से भी मोक्ष की सिद्धि स्पष्ट है सभी शिष्टवादी—आस्तिकवादी लोग किसी न किसी रूप मे मोक्ष का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करते हैं। एव सभी वादियो ने सामान्यतया मोक्ष में दु खो का विनाश हो जाना या कमबधन से छूट जाना ही स्वीकार किया है अतएव मोक्ष सामान्य मे किसी को विवाद नही है। मोक्ष क विशेषलक्षण मे ही विसवाद है जिसका यहा विचार किया गया है।

ससार कारण त व

चार्वाक—

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मति ।
मतत्रयामिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते ॥

[प्रमाण वा भा प ५३]

देहात्मको जीव देहाद यत्रानुपलब्ध शिरादिवदिति पुरदर । देहकार्यो जीव देहा वयव्यतिरका नुविधायित्वात उच्छ्वासवदित्युदभट । दहगणो जीव दहाश्रितत्वात दहस्य रूपादिवदित्यविद्धकरण ।

[विश्रत प्र प ८]

शिरा इत्यादि के समान जीव भी देहा मक है क्योकि देह को छोडकर अ यत्र कही जीव पाया नही जाता ऐसा पुरदर आचाय ने कहा है। जीव शरीर का काय है क्योकि देह के साथ अन्वय व्यति रेक पाया जाता है जसे कि उ छवास का अन्वय व्यतिरेक शरीर के साथ पाया जाता है यह उदभट विद्वान आचाय का कथन है। जीव शरीर का गुण है क्योकि शरीर के आश्रित है जसे कि शरीर के रूप आदि। यह अविद्धकण आचाय का कथन है। मतलब चार्वाक मत के प्ररूपक तीन आचार्य प्रमुख हैं पुरदर उदभट और अविद्धकर्ण। पुरदर जीव को देहात्मक कहते हैं उदभट जीव को देह का कार्य कहते हैं एव अविद्धकण जीव को शरीर का गुण कहते हैं।

चार्वाक के साथ कापालिको की तरह हाथमे कपाल रखते हैं और शरीर मे भस्म लगाते हैं। ब्राह्मणो से लेकर अ त्यज तक सभी जातियो के लोग चार्वाक यागियो मे मिलते हैं।

लोकायता वदन्त्येव नास्ति जीवो न निवृ ति ।
धर्माधर्मौ न विद्य ते न फल पुण्यपापयो ॥ ८ ॥ [षड्द पृ० ४५२]

चार्वाक कहते हैं कि जीव मोक्ष धर्म अधर्म पुण्यपाप और इनका फल कुछ भी नही है। स्वगनरक की कल्पना हास्यास्पद है। इनका सिद्धात है कि **लौकिक यद्विषयज सुख तस्य परित्यागाददृष्टे परलोक-सुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रिया साध्ये यत्प्रवर्तन प्रवृत्ति तल्लोकस्य विमूढत्व ।** [षड्द० पृ० ४५६]

चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषय सुखो को छोड़कर अदृष्ट परलोक के सुख के लिये तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओ मे प्रवृति करना महामूढता तथा अज्ञान की पराकाष्ठा है। धर्म कामात्परो नहि उनका कहना है कि काम सेवन से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नही है। जैसे गुड़ महुआ आदि वस्तुओं के संमिश्रण से मदिरा बनती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय से चतन्य बन जाता है अत इनके यहां संसार के कारण भूत मिथ्यात्व आदि कोई चीज ही नहीं हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनकी जड़ता-मूढता ही महामिथ्यात्व होने से अनंत संसार का कारण है।

बौद्ध—

इन विज्ञान आदि स्कधो से भि न सुख दु ख इच्छा द्वष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र पदाथ नही है। न स्कधो से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष स अनुभव होता है और न अनुमान स ही होता है अत ये पाचो स्कध क्षणिक हैं दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते हैं मात्र एक क्षण स्थायी हैं इस प्रकार स पचस्कध रूप दु ख तत्त्व है। दु ख तत्त्व का कारण भूत समुदय तत्त्व माना है— मैं हू यह मेरा है पर है पराया है इत्यादि रूप स रागद्वषादि दोष समुदय उत्प न होते हैं अहकार और ममकार रूप स आत्म भाव आत्मीय भाव परभाव परकीयभाव आदि उत्प न होते हैं इन भावो स रागद्वेष समूह उत्पन्न होते हैं ये दु ख और दु ख समुदय दो तत्त्व संसार के कारण हैं

अविद्या प्रत्यया सस्कारा इत्याविवचन केषाञ्चित । ४६ ।

अविद्या निमित्तक ही सस्कार होते हैं ऐसा बौद्धो का कहना है। अनित्य अनात्मक अशुचि और दु खरूप पदार्थों को नित्य सात्मक पवित्र और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादि सस्कार उत्प न होते हैं संस्कार के तीन भेद हैं—

पुण्योपग शुभ अपुण्योपग-अशुभ और आनेज्योपग अनुभय रूप वस्त का प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान है इन सस्कारो से वस्तु मे इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है इन पुण्य अपुण्य और अनुभय मे विज्ञान होता है। अत सस्कार निमित्तक विज्ञान है विज्ञान से चार स्कध उत्पन्न होते हैं वे नाम हैं एव चार महा भूत रूप कहलाते हैं अत विज्ञान के निमित्त मे नाम रूप होते हैं। नामरूप से पाच इद्रिय और मन ये छह आयतन होते हैं। छह आयतन द्वारो का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान ततुओ को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पश से वेदना वेदना से आसक्तिरूप तृष्णा की वृद्धि से उपादन होता है। यह इच्छा होती है कि यह मेरी प्रिया सदैव मुझ मे सानुराग रहे इत्यादि। इस उपादान से पुनभव को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है इसे भव कहते हैं यह कर्म मन वचन कायपूर्वक होता है इससे परलोक मे नया शरीर ग्रहण करना जाति है शरीर स्कध का पक जाना जरा है और उस स्कध का विनाश मरण है ये जरा मरण जाति कारणक हैं। इस तरह यह द्वादशाग वाला चक्र परस्पर हेतुक है इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य एक को निमित्त करके समुत्पाद-उत्पन्न होना प्रतीत्य समुत्पाद है। अत अविद्या से संस्कार संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप नामरूप से षडायतन षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना वेदना से

तृष्णा, तृष्णा से उपादान उपादान से भव, भव से जाति जाति से जरा और मरण ऐसा कर्म चलता है। इसके कारण भव चक्र बराबर चलता रहता है। अत: अविद्या से ससार होता है संसार का कारण अविद्या है।

बौद्धो की यह संसार कारण पद्धति ठीक नही ह क्योंकि जब प्रत्येक स्कध और संस्कार क्षणिक हैं दूसरे क्षण टिकते ही नही तब यह सब उपयु क्त परम्परा कसे चलेगी क्योकि क्षणिका सर्वे सस्कारा" [का ७] ऐसा वचन है अत बौद्धों द्वारा मान्य ससार कारण तत्त्व गलत है। एक तो आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है दूसरे सभी पदार्थ प्रतिक्षण ध्वसी है। अत ससार के कारण होना असभव हैं। वास्तव में यह क्षणिक सिद्धान्त ही दीर्घससार का कारण है ऐसा समझना चाहिये।

साख्य—

धर्मेण गमनमूर्ध्व गमनमधस्तात भवत्यधर्मेण।

ज्ञानेन चापवर्गो विपययादिष्यते बध ॥ [साख्य का ४४]

धम से ऊर्ध्व गति एव अधम स अधोगति होती ह एव ज्ञान स मोक्ष और अज्ञान स बध होता है जब तक कोई भी मनुष्य आत्मा को महान अहकार पांच तन्मात्रा पाच इन्द्रिय पाच भौतिक शरीर आदि अनात्मीय पदार्थों मे मैं सुनता हू देखता हू यह कल्पना करता है तभी तक उसको ससार है अत ससार का कारण अज्ञान या अविद्या ही है।

इस पर आचार्यों का कहना है कि ऐसा एकात मानना गलत है क्योकि आपके यहा पुरुष को सर्वथा अपरिणामी निष्क्रिय अकर्ता आदि कहा है पुन उसके यहा ससार के कारण मोक्ष के कारण आदि कसे बनेंगे ? एव सर्वथा अविद्या ही ससार का कारण नही ह। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी ससार में कुछ दिन रहना देखा जाता है। अत ससारकारणतत्त्व अज्ञान मात्र ही नही है राग द्वष आदि परिणाम भी ससार के कारण हं।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना ह कि मिथ्याज्ञान का कार्य दोष दोष का काय प्रवत्ति प्रवति का काय ज म और जन्म का काय दु ख ह। इसलिये मूल मे ससार का कारण मिथ्याज्ञान ही ह। वसे इनके यहां सदाशिव ईश्वर ही सष्टि रचना करके जीव में मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान आदि को भर देता है कोई जीव स्वय स्वतन्त्र समथ नही है। यही कारण है कि इनकी ससार कारण मान्यता भी ठीक नहीं है।

वैशेषिक—

इच्छा और द्वष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति होती है। उनसे सुख और दु ख रूप संसार होता है संसार में नये शरीर और मन का सयाग होता है ज म होता है एवं कर्मों का सचय होता। अत इच्छा और द्वेष ही संसार के कारण हैं। इनके यहा भी ईश्वर सृष्टि का कर्ता है अत यह सब कल्पनायें व्यर्थ प्रतीति होती हैं।

मीमांसक—

ये मीमांसक लोग भले ही 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम' यह रटते रहें या लाखो बार यज्ञ आदि अनुष्ठान जप तप दीक्षाविधि सन्यास आदि मे विशेष-विशेष क्रिया काण्ड करते रहें लेकिन ये लोग जीव का ससार से छूट कर मुक्त होना मानते ही नहीं हैं अत इनके यहाँ के सब क्रिया काण्ड ससार के ही कारण हैं। वास्तव मे मिथ्यात्व युक्त वेद विहित यज्ञादि का अनुष्ठान ससार का ही कारण है क्योकि वेदो मे हिंसादि में भी धर्म माना है। वैसे ही वेदातियो की ब्रह्मवाद व्यवस्था भीठीक नही है एव उनके अनुसार 'परमब्रह्म' का ध्यान मनन भी ससार का ही कारण है।

जैन—

जैनसिद्धात में ससार के कारण मुख्य रूप से पाच हैं—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बधहेतव'। [तत्वार्थ सू] मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग इन पांच कारणो से कर्मों का बध होता है अत ये कर्म बध के कारण ही ससार के कारण हैं क्योकि कर्मों से बधा हुआ जीव ही ससार में परिभ्रमण करता है। यह कर्म का सम्बन्ध कब से हुआ ?

पयडी सील सहावो जीवंगाएा अणाइसबधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सय सिद्ध ॥

[गोम्मटसार कर्म]

प्रकृति शील और स्वभाव ये प्रकृति के नाम हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जसे कि स्वर्ण पाषाण मे किट्ट आदि प्रारम्भ से ही मिश्रित रहता है। एव इन जीव और कर्मों का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। अह प्रत्यय से जीव का अस्तित्व जाना जाता है। दीन दरिद्री धनी आदि होने से कर्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। यह जीव कर्मों के उदय से राग द्वष आदि रूप परिणत होता है। राग द्वष से कर्मों का बध कर लेता है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर मे कार्य कारण भाव सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यह कर्म बध कतिपय भव्यो की अपेक्षा अनादि होकर भी सांत है एवं अभव्य जीवो की अपेक्षा अनादि अनत है।

पूर्वोक्त सूत्र का विशेष अर्थ—

अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं उसके दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। जो परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है वह नैसर्गिक है। इससे जीव एकान्त से क्षणिक या नित्य तत्त्व मान लेता है या यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धान नही करता है। परोपदेश से होने वाला मिथ्यात्व चार प्रकार का है—क्रियावादी, अक्रियावादी अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यात्व के पांच भेद भी हैं—एकांत, विपरीत, विनय, सशय और अज्ञान।

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तह य होइ चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं।' क्रियावादियों के १८० अक्रियावादियों के ८४ अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२ ऐसे ३६३ मिथ्यामत माने गये हैं।

छह काय के जीवो की दया न करने से एव पांच इन्द्रिय और मन को वश में न रखने से अविरति के १२ भेद हैं।

चार विकथा चार कषाय पचइन्द्रिय विषय निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं। कुशल कार्य में अनादर करना प्रमाद है।

अनतानुबधी क्रोध मान माया लोभ आदि सोलह कषाय और हास्य रति आदि नव नोकषाय ये २५ कषाय हैं। चार मनोयोग चार वचनयोग और सात काय योग ऐसे १५ योग होते हैं। ऐसे ये ५ मिथ्यात्व १२ अविरति १५ प्रमाद २५ कषाय और १५ योग सब मिलकर ५+१२+१५+२५+१५=७२ भेद हो जाते हैं।

प्रथम गुण स्थान मे जीवो क पाचों ही बध क कारण मौजूद हैं द्वितीय से चतुर्थ तक मिथ्यात्व क सिवा चार कारण होत हैं पाचव मे त्रस की विरति और ग्यारह की अविरति इस निमित्त से विरताविरत परिणाम होने से चार कारण हैं। छठे में प्रमाद होने से तीन कारण ह सातवें से दसवें तक कषाय और योग ये दो ही कारण होते ह ग्यारहवे से तेरहवें तक मात्र योग ही एक कारण है एव चौदहवें में योग न होने स बध क कारण नही हैं अत चौदहव गुण स्थान क अन्त मे बध क हेतु का पूणतया अभाव और पूर्वकर्मों की निजरा हो जाने स मोक्ष हो जाती ह।

जो जीव कर्मों से बधे हैं वे ही मुक्त होते ह यह जैनसिद्धान्त का अटल नियम ह।

मोह और योग क निमित्त स होने वाले आत्मा क परिणामों का नाम गुणस्थान है। ये गुणस्थान चौदह माने गये ह। इनका विवरण गोम्मटसार जीवकाण्ड स देखिय।

कोई ससार को अहेतुक कहते हैं। कोई प्रकति मात्र को ससार का कारण कहते हैं कोई केवल अज्ञानादि दोषों को ससार का कारण कहते हैं।

किन्तु ससार अहेतुक नही ह यद्यपि अनादि ह फिर भी उसक कारण कर्म मौजूद हैं। आगम और अनुमान आदि से ससार सहेतुक ही सिद्ध है तभी तो कोई जीव उन ससार के हेतुओ का नाश करके मुक्ति प्राप्त कर सकते ह। साख्य ने प्रधान को ही ससार का हेतु माना ह किन्तु आत्मा को ससर्ग से ससार का होना, जीव को जन्म मरण आदि दुखो का होना जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है वह नहीं बनेगा। बौद्ध अज्ञान आदि जन्य ही ससार मानते हैं किन्तु कर्मोदय बिना अज्ञान, द्वेष आदि परिणाम हो नहीं सकते हैं इसलिये संसार के कारण मिथ्यात्व आदि प्रसिद्ध हैं।

मोक्ष के कारण का विचार

चार्वाक—

'सुख दुःख के कारण धर्म, अधर्म, उत्कृष्ट धर्म, अधर्म के फल भोगने के स्थान स्वर्ग नरक पुण्य और पाप दोनों के नाश से होने वाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों की कल्पना उसी तरह हास्यास्पद और उपेक्षणीय है जिस तरह आकाश में अनेक रंगों से विचित्र चित्र बनाने की भावना हास्यास्पद है।'

साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते नरे।

निरर्था सा मतं तेषां धर्मः कामात्परो न हि ॥८६॥ [षड्दर्श प ४५६]

कर्तव्य कार्य मे प्रवृत्ति और न करने योग्य अकार्य से निवृत्ति होने पर जो मनुष्यों को आत्म सन्तोष या प्रीति उत्पन्न होती है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते हैं उनके यहां तो काम पुरुषार्थ से बढ़कर कोई धर्म ही नही है। अर्थात् चार्वाक लोग जप तप संयम साधना आदि कार्यों में प्रवृत्ति करने और विषय सुख इंद्रिय लंपटता हिंसा असत्य आदि पाप कार्यों के त्याग करने को मूढ़ता समझते हैं। इसलिये इनके यहां आत्मा परलोक मोक्ष और मोक्ष के कारणो की वार्ता ही समाप्त हो जाती है।

बौद्ध—

निरोधहेतु नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः। मार्गणं अन्वेषणं मार्ग्यतेऽन्विष्यते याच्यते निरोधार्थिभिरिति चुरादिणिजन्तस्येनात्प्रत्ययः। निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः [षड द ३९]

निरोध निर्वाण मार्ग के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूंढते हैं जिसकी याचना करते हैं वह मार्ग है (अन्वेषण अर्थ में मार्गण्—धातु से चुरादिगण में णिच् प्रत्यय के बाद अल् प्रत्यय से मार्ग शब्द बना है) निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावनायें ही निर्वाण में कारण होने से मार्ग कही जाती हैं। एवं चित्त की क्लेश रहित अवस्था को निर्वाण कहते हैं। अर्थात् दुःख दुःख समुदय मार्ग और निरोध ऐसे चार आर्य सत्य माने हैं। दुःख का नाम संसार है, दुःख समुदय संसार का कारण है मार्ग मुक्ति का कारण है एवं निरोध का अर्थ मुक्ति है।

'सर्वभावेषु विपरीतज्ञानं विद्या। यतस्तु भावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचिदुःखदर्शनं सा विद्या। ततो मोक्षः। [तत्त्वार्थ वा पृ ११]

जब सब पदार्थों मे अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि का नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्ध मत मे अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष माना गया है। अर्थात् बौद्धो के यहां अनित्य अशुचि आदि पदार्थों को नित्य शुचि आदि समझना अविद्या है। अविद्या से रागादि संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप (पंचस्कंध) नाम रूप से षडायतन षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा-मरण होते हैं। यह संसार के कारणों की परंपरा बताई है। वैसे ही विद्या से अविद्या का अभाव, अविद्या के अभाव से

सस्कार का निरोध संस्कार के अभाव से विज्ञान का अभाव विज्ञान के अभाव से नाम रूप का अभाव, नाम रूप के अभाव से षडायतन का अभाव षडायतन के अभाव से स्पश का स्पर्श के अभाव से वेदना का, वेदना के अभाव से तृष्णा का तृष्णा के अभाव से उपादान का उपादान के अभाव से कर्म का कम के अभाव से जाति का जाति के अभाव से जरा मरण का अभाव हो जाता है। मतलब विद्या से मोक्ष होती है किंतु यह बौद्ध मान्यता बिल्कुल गलत है पदाथ सवथा क्षणिक न होकर नित्य भी हैं उन्हें क्षणिक समझना विद्या नही है प्रत्युत महा अविद्या है। इस क्षणिक मत की बुद्धि के अभाव से सम्यक्त्व और ज्ञान आदि प्रगट होने से ही मोक्ष होती है।

सांख्य—

विपययाद् बधस्यात्मलाभ सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्त स्त्रित्वानुपपत्ति ॥४१॥ [तत्वार्थ वा पेज ११]

शका—मिथ्याज्ञान से ही बध होता है अत मोक्ष भी ज्ञान मात्र स ही होना चाहिय इसलिय मोक्ष के लिय तीन कारण नही बनते हैं। यथा—जब तक पुरुष को महान् आदि के क्रम से उत्पन्न होने वाले पाँच भौतिक शरीर मे अहपने का मिथ्याज्ञान रहता है तभी तक शरीर को आत्मा मानने से विपर्यय ज्ञान से बध होता है। और जब इसे प्रकृति और पुरुष मे भेद विज्ञान हो जाता है वह पुरुष के सिवाय यावत् पदार्थों को प्रकृति कृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर इनमे मैं नही हू य मेरे नही हैं यह परम विवेक जाग्रत होता है तब ज्ञान मात्र से मोक्ष हो जाता है। अत ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है।

जैनाचाय कहते हैं कि ज्ञान मात्र से मोक्ष माना जाय तो पूण ज्ञान की प्राप्ति के द्वितीय क्षण मे ही मोक्ष हो जानी चाहिये। पुन एक क्षण भी ससार मे ठहरने से उपदेश तीथ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नही हो सकेंगे। यह सम्भव नही कि दीपक भी जल जाय और अ धेरा भी रह जाय। उसी तरह से ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने पर यह सम्भव नही है कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि कहा कि पूर्णज्ञान होने के बाद भी कुछ सस्कार शेष रह जाते हैं जिनके क्षय हुये बिना मोक्ष नही होती एव जब तक उन संस्कारो का क्षय नही होता तब तक उपदेश आदि प्रवृत्ति होती है तब तो यह स्पष्ट अथ हुआ कि संस्कार क्षय से मुक्ति होती है न कि ज्ञान मात्र से। पुन यह बताओ ! सस्कारो का क्षय ज्ञान से होता है या अन्य कारणों से ? यदि ज्ञान से कहो तो ज्ञान होते ही सस्कार का क्षय हो जाना चाहिये। पुन वही उपदेश नहीं हो सकेगा। यदि अ य कारण कहो तो उसी का नाम चारित्र है। एव ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने से तो सिर मु डाना गेरुआ वेष यम नियम जप तप दीक्षा आदि सब व्यर्थ हो जावेंगे।

नैयायिक—

दु खादिनिवृत्ति इत्यन्येषां ।४५। दु खजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादप-वर्ग इति । [न्याय सूत्र १।१।२]

दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है ऐसा नैयायिकों का कहना है। अर्थात् मिथ्या ज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति प्रवृत्ति का कार्य जन्म और जन्म का कार्य दुःख है। मिथ्या ज्ञान का अभाव होने पर क्रमश दोष प्रवृत्ति जन्म और दुःख नष्ट हो जाते हैं उसी का नाम मोक्ष है।

इनके द्वारा मान्य सात पदार्थ और नव द्रव्य की कल्पना ईश्वर सृष्टि की और समवाय की कल्पना ही गलत है तब उनके यहा मिथ्याज्ञान का अभाव असम्भव है। अत इनके द्वारा मान्य मोक्ष के कारणों से जप तप दीक्षा आदि कुत्सित चारित्र से मोक्ष प्राप्त करना अशक्य है।

वैशेषिक—

इच्छाद्वेषाभ्यामपरवां ।४४। [तत्त्वार्थवा० प ११] वैशेषिक का कहना है कि इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति उनसे सुख दुःखरूप ससार। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते इनके न होने से धर्म अधर्म नही होते इनके न होने से नये शरीर और मन का सयोग नहीं होता जन्म नही होता और सचित कर्मों का निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जाने से प्रकाश का अभाव हो जाता है उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धन के हट जाने से जन्म-मरण चक्ररूप ससार का अभाव हो जाता है। अत षट पदार्थ का तत्त्व ज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नही होगी और सचित धर्माधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अत वैशेषिक मत मे भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना है।

वास्तव में इन वैशेषिक के मोक्ष कारण तत्त्व भी गलत है तत्त्वज्ञान मात्र से मोक्ष होना असम्भव है यह बात ऊपर कही जा चुकी है तथा इनके सोलह पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान नही है क्योकि सोलह पदार्थ वास्तविक नही है कल्पना से कल्पित है अत इनके द्वारा मान्य भी मोक्ष कारण तत्त्व बाधित है।

इनका कहना है कि अदृष्ट के दो भेद है–धर्म अधर्म। धर्म पुरुष का गुण है कर्ता के प्रियहित और मोक्ष मे कारण है अतीन्द्रिय है अन्तिम सुख का यथार्थ विज्ञान होने से इसका नाश होता है। जब तक तत्त्वज्ञान की पूर्णता नही होती तब तक धर्म का कार्य सुख बराबर चालू रहता है। तत्त्वज्ञान होने के बाद प्रारब्ध कर्मों के फल रूप अन्तिम सुख तक बराबर धर्म ठहरता है अन्तिम सुख के प्राप्त होने के बाद धर्म का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान श्रुति स्मृति विहित मार्ग का पालन करने से अहिंसा आदि एव विशेष रूप से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के पूजन अध्ययन आदि से उत्पन्न होता है अत तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। यह मान्यता पूर्वोक्त प्रकार से गलत ही है।

मीमांसक—

'कुमारिल भट्ट ने कहा है कि पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते है यथा—

'श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।

चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता (मी श्लोक चोदना सूत्र श्लो०१९१)

पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं यह प्रीति वेद वाक्यों से प्रतिपादित यज्ञादि में उपयुक्त होने वाले

द्रव्य, गुण और क्रियाओं से उत्पन्न होती है अतः स्वर्गादि रूप प्रीति के साधन द्रव्य, गुण आदि में ही घटता है। मतलब ये मीमांसक सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते ह तब मोक्ष और उसके कारणों की बात ही खतम हो जाती हैं। ये सदा ही आत्मा को धर्म से स्वर्गादि सुख और अधर्म से नरकादि दुःख की व्यवस्था कर देते है। बस इनके यहा बुद्धि मे मीमासा करने का ही अभाव हैं।

"आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् मे वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है मृत्यु के बाद भी यह अपने कर्मो के फलो का उपभोग करने के लिए विद्यमान रहता हैं चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही ह किन्तु औपाधिक ह। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता क्योंकि उसके उत्पादक कारणो का अभाव हो जाता है जितने जीव ह उतने ही आत्मा हैं। जीवात्मा बन्धन में आत ह और उससे मोक्ष भी पा सकत ह। [भारतीय द पृ २११]

वास्तव में मोक्षावस्था मे जीवात्मा को चतन्य शू य मानना मतलब जीव के मोक्ष का अभाव सिद्ध कर देना है।

प्राचीन मीमासको के मत में स्वर्ग ही जीव का चरम लक्ष्य माना गया है इसलिए कहा गया है 'स्वर्गकामो यजेत सभी कर्मों का अतिम उद्देश्य है स्वग प्राप्ति। पर तु धीरे धीरे मीमासक गण अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष—सांसारिक बधनो से छटकर मुक्ति को सबसे बडा कल्याण—नि श्रेयस मानने लगे हैं।

निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूव कर्मों के सचित सस्कार भी क्रमश लुप्त हो जाते हैं। तब इसके बाद पुनर्ज म नहीं होता और कम का ब धन छूट जाता है पर तु मीमासक का यह मोक्षकारण तत्त्व ठीक नही है।

वेदान्तवादी—

ब्रह्म स्वरूप मे लय हो जाना ही मुक्ति है इस ब्रह्मालयावस्था के सिवाय अ य किसी प्रकार की मुक्ति वेदान्तियों को इष्ट नही है। ये भगवत् शब्द से पुकारे जाते हैं। इनके कुटीचर बहूदक, हस और परमहस ये चार भेद होते हैं। हस साधको को तत्त्वज्ञान हो जाता है तब य परमहस कहलाते हैं। परमहसादित्रयाणा च कटिसूत्र न कौपीन न वस्त्र न कमडलुन दण्ड सावर्णैकभक्षाटनपरत्व जात रूपधरत्व विधि ॥ [ना प उ ५।१] परमहसादि तीनों के कटिसूत्र कौपीन वस्त्र क मंडलु नही होते हैं सभी वर्णों मे भिक्षा ले लेते हैं जातरूपधारा होते हैं। इनके अध्ययन का एक मात्र विषय है वेदान्त। ये चारों ही मात्र ब्रह्माद्व त की सिद्धि मे अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। [षड्द पृ ४३२]

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं हर एक भाष्यकार एक-एक वेदान्त संप्रदाय के प्रवर्तक बन गये हैं इस तरह शकर, रामानुज मध्वाचार्य, वल्लभाचाय निंबार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न सप्रदाय चल पड़ हैं।

शकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है। अत इनके मत का

नाम 'अद्वैत' है। रामानुजाचार्य अद्वैत को स्वीकार करते हुये भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेष रूप है, अनेक विशेषण विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है 'विशिष्टाद्वैत'। मध्वाचार्य ब्रह्म और जीव को दो मानते हैं अत इस मत का नाम 'द्वैत' है। निबार्काचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है शकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमिविश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्व यद्भूत यच्च भव्य ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुष ।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

[ऋग्वेद १। ६]

पुरुष के सहस्रमस्तक सहस्रनेत्र सहस्र पर हैं वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दश अंगुल परे भी है। जो कुछ है जो कुछ होगा सो सब वही पुरुष है, वह अमरत्व का स्वामी है जितने अन्न से पलने वाले जीव हैं सबमें वही है उसकी इतनी बडी महिमा है वह उससे भी बडा पुरुष है उसके एक पाद से संपूर्ण विश्व व्याप्त है और तीन पाद अमृत हैं जो द्युलोक में हैं वही चारों ओर चराचर विश्व मे व्याप्त ह।

आश्चर्य तो इस बात का है कि वैशषिक और नयायिक, ईश्वर को सृष्टि की रचना मे निमित्त मानते हैं। सर्वेश्वरवादी ईश्वर को जगत का उपादान कारण मानते हैं किंतु ये वेदान्ती तो ईश्वर को जगत् का निर्माण करने मे उपादान और निमित्त दोनों कारण मान लेते हैं। वदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुच गई है कि एक ही मत्र मे उन्होने अद्वैत जगदैक्यवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिये हैं।

इस तत्त्व को कभी ब्रह्म कभी आत्मा कभी केवल सत् कहा गया है। अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि वास्तविक आत्मा नही है वे उसके बाह्य रूप है। सबका मूल आधार आत्म तत्त्व ह, आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सत्य अनन्त और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सब भूतों में है। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को श्रेष्ठ विद्या कहते हैं। आत्म ज्ञान का साधन है काम क्रोधादि वृत्तियो का दमन करना एवं ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उपनिषदों का मत है कि कर्मकाण्ड के द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ की—अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य क्लेशों का अन्त

हो सकता है। जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है।

विषयों को भोग करने की वासनाय वे बेडियां ह जो हमे जकड़कर सांसारिक बधन में रखती हैं और जिनसे जन्म और मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। जब मनुष्य का हृदय वासना से रहित निष्काम हो जाता ह तब वह इस जीवन मे ब्रह्म मे लीन हो जाता ह।

शैव पाशुपत कापालिक और कालामुख मतो के अनुसार जगत का उपादान कारण पचभूत है एव निमित्त कारण ईश्वर है किंतु वेदान्तियो के अभिप्राय से जगत का उपादान और निमित्त दोनो ही कारण चित्रूप परमब्रह्म आत्मा ही ह।

इस प्रकार से कोरे वेदात के अध्ययन से मुक्ति नही मिल सकती है यद्यपि उपनिषदो मे ज्ञान मात्र से मुक्ति कही है फिर भी ज्ञान श द का अथ श्रुति का कोरा शब्द ज्ञान नहीं है। श्रवण—गुरु के उपदेश सुनना। मनन—उन उपदेशो पर युक्ति पूवक विचार करना। निदिध्यासन—उन सत्यो का बारम्बार ध्यान करना। पूव सचित सस्कारो का नाश बारबार ब्रह्म विद्या के अनुशीलन तदनुकूल आच रण से होता है। आगे बढ़ते बढ़ते जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाने से उसी के साथ बधन कटकर मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है। [भारतीय द]

यह वेदांतियो द्वारा मान्य मोक्ष का कारण प्रारभ मे बडा सु दर लगता है कित जनाचार्यों का कहना है कि जब एक अद्व तरूप ब्रह्म ही सिद्ध नही है नाना जीवो की सत्ता पृथक पृथक है तब उस ब्रह्म का श्रवण मनन चिंतन ध्यान भी अविद्या का ही विलास है। इसलिये वेदातियो द्वारा मा य मोक्ष के कारण तत्त्व भी ठीक नही हैं।

जन—

सम्यग्दशनज्ञानचारित्राणि मोक्षमाग [तत्वाथ सूत्र]

जनाचार्यों ने सम्यग्दशन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनो की एकता को मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दशनमस्मयम् ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

सच्चे आप्त आगम और गुरु का श्रद्धान करना एव तीन मूढता रहित आठ अंग सहित आठ मद रहित होना सम्यग्दशन है। तत्त्वाथश्रद्धानं सम्यग्दशनम् तत्त्वाथ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दशन के होने के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है पुन रागद्व ष को दूर करने के लिए सम्यक चारित्र ग्रहण किया जाता है। उसके दो भेद हैं। सकल विकल चरण पूर्ण पापों के त्यागी महा व्रती साधु सकल चारित्र धारण करने वाले है एवं श्रावक अणुव्रत रूप विकल चारित्र पालन करते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व पूर्ण हो गया केवलज्ञान की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान मे पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है, चारित्र के अतर्गत व्युपरतक्रिया निवृत्ति ध्यान की पूर्ति चौदहवें

गुणस्थान के अंत में होकर चौदहवें गुणस्थान के बाद जीव मुक्त-सिद्ध होता है। अर्थात् इस मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अंत में होती है तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इसी बात को आप्त परीक्षा में श्री विद्यानंद आचार्य महोदय ने स्पष्ट किया है। 'सर्वथायोगकेवलिचरम-समयवर्तिकृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षमार्ग साक्षान्मोक्षमार्गत्वं सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभिचरति तपोविशेषस्य परमशुक्लध्यानलक्षणस्य सम्यक्चारित्रेऽन्तर्भावादिति ।

[आप्तपरीक्षा पृ० २६०]

इसी प्रकार अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में होने वाले समस्त कर्मों के नाश रूप मोक्ष के मार्ग में वर्ति 'साक्षात मोक्षमार्गपना' सम्यग्दर्शन आदि तीन रूपता का व्यभिचारी नहीं है क्योंकि परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेष का सम्यक्चारित्र में समावेश होता है।

जो मात्र ज्ञान से या सम्यक्त्व से या चारित्र से या दोके मेल से मुक्ति मानते हैं वह मान्यता गलत है। यहां यह बात निश्चित है कि रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है' एक दो आदि नहीं। कहा भी है—

हत ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जैसे अंधा व्यक्ति इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है वैसे ही पंगु देखता हुआ भी जल जाता है।

इसलिये मोक्ष की प्राप्ति का सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो से अविना भाव है वह मुक्ति इन तीनों के बिना नहीं हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष के कारण तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये।

अद्वैतवाद विचार

अद्वैतवादियों में पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत शब्दाद्वैत विज्ञानाद्वैत चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

ब्रह्माद्वैतवादी वेदांती हैं ये सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप ही मानते हैं।

शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण कहलाते हैं ये भी सम्पूर्ण चराचर जगत को शब्दब्रह्म रूप मानते हैं।

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध हैं ये सारे विश्व को एक विज्ञान मात्र ही मानते हैं।

चित्राद्वैतवादी भी बौद्ध हैं ये सम्पूर्ण जगत् को 'चित्रज्ञान रूप एक मानते हैं।

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक बौद्ध हैं ये सारे जगत् को एक शून्य रूप ही स्थापित करते हैं।

इनमें से शब्दाद्वैतवादी का मत स्पष्ट करते हैं।

शब्दाद्वैतवाद निराकरण

ननु च शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्वं मन्यंते

[प्रमेय क० मा० पृ० ४६]

जो भर्तृ हरि और शब्दाद्वैतवादी हैं वे सम्पूर्ण ज्ञानो को शब्द से अनुविद्ध सविकल्प ही मानते हैं।

मतलब उनका कहना यह है कि-ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थों का ज्ञान कराता है-जगत् में जितने भी ज्ञान हैं वे सब शब्दो के द्वारा ही होते ह। एवं जगत् मे जितने भी पदार्थ हैं वे सब शब्द ब्रह्म की पर्याय ह।

शब्द ब्रह्म तो अनादि निधन है अक्षरादि उसकी पर्यायें ह एव सम्पूर्ण पदार्थ आदि इसी के भेद प्रभेद हैं।

इस पर श्री प्रभाच द्र आचाय ने विशद वणन के द्वारा शब्द ब्रह्मवाद का निराकरण कर दिया है क्योंकि शब्द से अनुविद्ध होकर ही ज्ञान हो यह बात असम्भव है नेत्रादि से जो ज्ञान होता है उसमे शब्दानुविद्धत्व कहां है ? एक कणज्ञान को छोडकर किसी भी ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व नही है।

यदि पदार्थों का शब्द से अनुविद्धत्व-सम्ब ध मानो तो भी ठीक नही है अन्यथा अग्नि आदि शब्द सुनते ही कान जलने लगेगा। जगत को शब्दरूप मानना तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है फिर भी आप मानें तो प्रश्न यह होता है कि शब्दब्रह्म जब जगत् रूप परिणमन करता है तब अपने स्वरूप को छोड कर या बिना छोड ? यदि अपने स्वरूप को छोडकर परिणमन किया तो अनादिनिधनता कहा रही ? नहीं छोडा तो सारे पदाथ शब्दमय होने से बहरे को भी शब्द सुनायी देने लगेंगे। पुन प्रश्न होगे कि शब्द ब्रह्म से उसकी जगत रूप पर्याय भि न ह या अभिन्न ? भिन्न कहो तो अद्वैत पक्ष समाप्त हुआ। यदि अभिन्न कहो तो श दमय पदाथ हो गये पुन गिरि शब्द छोटा सा होकर बड से पर्वत का वाचक कैस होगा ? एव बिना सकेत के भी बाल मूक आदि को उनका ज्ञान होने लगेगा आदि अनेको दोष आते ह अत जगत का शब्द ब्रह्ममय मानना गलत है। य शब्दवर्गणाय ता पुग्दलद्रव्य की पर्याय हैं मूर्तिक हैं तभी इन्हे आज यत्रो द्वारा लाखो मीलो तक भेजा जाता है सुना जाता है टेपरेकाड आदि यत्रो में भरा जाता है। यदि अमूत और एक हो तो य सब बात असम्भव हो जावगी। इसलिय इन अद्वैतवादों की मा यताय गलत ह। ब्रह्माद्वैत आदि का खण्डन इसी मे पहले कर दिया है।

स्फोटवाद का विचार

स्फोटवादी मीमासका का मत है कि ध्वनियां क्षणिक हैं क्रमश होती हैं और अनतर क्षण में विनष्ट हो जाती है वे स्वरूप का बोध कराने मे ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं अत भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने मे समथ नही हैं। उन ध्वनियो स अभिव्यक्त होने वाला अथ प्रतिपादन में समर्थ अमूर्त नित्य, अतीन्द्रिय निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिये। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह मत ठीक नहीं है क्योकि ध्वनि और स्फोट में व्यग्य-व्यजक भाव नहीं बनता है। जिस शब्द स्फोट को व्यग्य मानते हो वह स्वरूप में रहता है या नहीं ? यदि स्वरूप से रहता है, तब तो ध्वनियों से पहले और बाद में उसके उपलब्ध न होने का क्या कारण है सूक्ष्मता या किसी प्रतिबन्धक का होना ? यदि

सूक्ष्मता कारण है तो आकाश की तरह ध्वनिकाल मे भी उपलब्ध नही रहना चाहिये। एव प्रतिबन्धक कारण भी कोई दिखता नहीं है।

यदि स्फोट स्वरूप से अनवस्थित है तो वह व्यंग्य नही हो सकता है और न ध्वनिया व्यञ्जक हो सकती हैं। जब ध्वनियाँ उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे करेगा ? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोट की अभिव्यक्ति कर सकती हैं तो सीधा अर्थ बोध कराने मे क्या बाधा है जिससे कि एक निरर्थक स्फोट माना जाय ?

अत शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिय। वह पुद्गल दृष्टि स नित्य है श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालातर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा स क्षणिक भी है। [राजवा० पंचम अ प ४८६]

स्फोटवादी वयाकरणो का कहना है कि वर्ण पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नही हैं किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है। [न्या कु च प ७४५]

मीमासक और वैयाकरणो का कहना है कि एक शब्द को भी सम्यकरीति से जानकर शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करने से इस लोक और परलोक मे इच्छित फल की प्राप्ति होती है। अर्थ का ज्ञान कराने मे सस्कृत भाषा के शब्द ही कारण हो सकते हैं प्राकृत भाषा के नही। अत व्याकरण के अनुसार सिद्ध गौ आदि शब्द ही साधु हैं और वे ही अर्थ के वाचक हो सकते हैं गौ शब्द के अपभ्रश गावी' गोणी आदि शब्द अर्थ के वाचक नही हैं क्योकि वे शुद्ध नही हैं।

तात्पर्य यह है कि वैयाकरणदर्शन को पाणिनिदर्शन भी कहते हैं। सर्वदर्शनसग्रह' मे इसका वर्णन आता है।

ये लोग शब्द ब्रह्म को एक और विश्व व्याप्त मानते हैं अत शब्दाद्वैतवादी है। इन्ही मे कोई लोग वर्णों को अर्थ बोधक न मानकर स्फोट से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं वे शब्द स्फोटवादी हैं। मीमासक भी शब्द को नित्य मानते हैं एव कोई स्फोटवाद भी मानते हैं।

हरिणामाणि ब्रह्मकाण्डे— 'अनादिनिधन शब्दब्रह्मतत्त्व यदक्षरम। विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगत यत' ॥ [सर्व द० प २४५]

अनादि निधन अक्षराख्य शब्द तत्त्व ब्रह्म घटादि अर्थाकार विवर्त होता है जिससे जगत्प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

'पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्यापि स्फोटोऽभ्युपगतव्य' अर्थ प्रतीति के बल से भी स्फोट पदार्थ मानना होगा क्योंकि वर्ण से ही अर्थ बोध होता है यह मानना गलत है। जिससे अर्थ प्रतीति होती है वह वर्ण से अतिरिक्त वर्ण से अभिव्यग्य नित्य शब्दस्फोट है। अतएव— 'स्फुटयते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यंग्यः स्फुटो भवत्यस्मादर्थ इति स्फोटो अर्थप्रत्यायक इति '' । [सर्व द० पृ० २४६]

अतएव वर्णों से जो स्फुटित हो प्रकाशित हो वह स्फोट है। वर्णों से अभिव्यंग्य अर्थ जिससे स्फुटित होता है वह अर्थ की प्रतीति कराने वाला स्फोट है।

जैनाचार्यों ने वर्णों से ही अर्थ बोध माना है किंतु स्फोट नाम का कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया है इसके ऊपर 'तत्त्वार्थवार्तिक के आधार से कहा जा चुका है अत मीमासक एवं वैयाकरणों की यह शब्द स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

भर्तृहरि के वचनो से निरवयव स्फोट होता है क्योकि वे कहते है कि यह सब परमार्थ संवित् रूप सत्ता जाति ही सभी शब्दो का अथ है।'

ये लोग कहते हैं कि जीव से अभिन्न सच्चिदानद परब्रह्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर ब्रह्मस्वरूपावस्थिति रूप मोक्षप्राप्त होता है। अभियुक्तो ने भी शब्द ब्रह्म मे निपुण होने से परब्रह्म की प्राप्ति कही है इसलिये शब्द शास्त्र को मोक्ष साधनत्व सिद्ध हुआ।

वचन मल को हटाने वाला व्याकरण शास्त्र अपवर्ग का द्वार सपूण विद्या पवित्र मे और श्रेष्ठ कहा जाता है। सिद्धि की प्रथम सीढी एव मोक्षमाग का सीधा सरल राजमार्ग व्याकरण शास्त्र है

[सव द पृ० २५५]

इस प्रकार स इन वैयाकरण पाणिनि आदि ने शब्द को परब्रह्म माना है और व्याकरण को ही मोक्ष माग मान लिया है किंतु यह गलत है जैनाचार्यों ने बताया है कि व्याकरण के बिना केवल वृद्धजनो के व्यवहार स भी शब्दों में वाचकत्व का नियम बन जाता है क्याकि वाच्यवाचकभाव लोक व्यवहार के आधीन है। शब्द धम के साक्षात् साधन नही हैं। व्याकरण पद्धति स शुद्ध भी काव्य शास्त्र, कोकशास्त्र, कुत्सित इतिहास आदि विषयभोग और चारित्र मलिनता के भी कारण बन जाते हैं। यदि एकात से शब्द को ही मोक्ष का मार्ग माना जावे तब तो व्रत अनुष्ठान ध्यान समाधि सब व्यर्थ हो जावेंगे। हां! परपरा स द्रव्यश्रुत भावश्रुत के लिए कारण है एवं भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है अत संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत आदि शब्द भी परंपरा से धर्म के साधन हैं क्योंकि विशिष्ट वक्ता के द्वारा कहे गये, विशिष्ट पुरुष द्वारा रचित विशिष्ट अर्थ को कहने वाले वचन ही शुद्ध हैं। अत द्रव्य दृष्टि से 'द्रव्यश्रुतरूप शब्दब्रह्म अनादि निधन है एव पर्याय दृष्टि से पुद्गल की पर्याय होने से सादि सांत है और भावश्रुत क लिए यथार्थ ज्ञान के लिए कारण होने से उपास्य भी है इसे जिनवाणी सरस्वती भी कहते हैं। द्वादशाग या उसके अशरूप परपरागत आचाय आदि प्रणीत शब्दशास्त्र और उनसे होने वाला श्रुतज्ञान मोक्ष के लिये कारण होने से ग्राह्य है बाकी अन्य शास्त्र संसार वर्धक होने से अग्राह्य हैं। ऐसा समझना चाहिय।

स्याद्वाद सिद्धि

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥ [आप्तमीमांसा]

अर्थ—'स्यात्' यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकांत का त्यागी होने से कथंचित् कथंचन आदि शब्दों के अर्थ का वाची है । जिसे हिन्दी भाषा मे भी शब्द से स्पष्ट समझ लेते हैं । जैसे-जीव नित्य भी है, अनित्य भी है इत्यादि । इसमें बताया है कि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखता है एवं हेय और उपादेय को बतलाने वाला है ॥

सप्तभंगी का स्पष्टीकरण—

'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी'—प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी है । यथा—स्यादस्ति जीवः । स्यात् नास्ति जीवः । स्यादस्ति नास्ति जीवः । स्यादवक्तव्यो जीवः । स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः, । स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीवः ।

स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से जीव अस्तिरूप ही है । पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीव नास्तिरूप ही है । क्रम से स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अस्ति नास्ति रूप है । युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अवक्तव्य रूप है । स्वचतुष्टय को कहने से एव युगपत् स्वपर चतुष्टय को न कह सकने से जीव अस्ति अवक्तव्य है । पर चतुष्टय की विवक्षा करने से एव युगपत् दोनो धर्मों को न कह सकने से जीव नास्ति अवक्तव्य है । स्वपर चतुष्टय की विवक्षा से एव युगपत दोनो धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ।

यहां पर प्रथम भंग मे अस्तित्व की प्रधानता होने से शेष छह भंग गौण हैं । द्वितीय मे नास्तित्व की प्रधानता से बाकी छह भंग गौण हैं ऐसे ही सर्वत्र समझना ।

यदि कोई कहे कि एक ही जीवादि वस्तु में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते अतः उन अनन्त धर्मों की कल्पना तो 'अनंतभंगी' बनेगी न कि सप्तभंगी । आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों मे एक-एक धर्म के प्रति सप्त भंगी का प्रयोग करना पड़ेगा अतः अनन्त सप्तभंगी बनेंगी न कि अनन्त भंगी । जैसे—एक जीव में अस्ति, नित्य, भेद, एक आदि अनेकों धर्म हैं उन सबमें सप्तभंगी अलग अलग घटेगी । इनके प्रतिपक्षी धर्म स्वयं द्वितीय भंग में आ जाते हैं । 'जीव अस्ति रूप है' यह प्रथम भंग है तो 'जीव नास्ति रूप भी है' यह द्वितीय भंग बन जाता है ।

प्रश्न—वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं ?

उत्तर—शिष्यों के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं।

प्रश्न—शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न क्यो किये जाते हैं ?

उत्तर—क्योकि सूत्र में प्रश्नवशादेव ऐसा पद है।

प्रश्न—सात ही प्रश्न क्यो है ?

उत्तर—सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है।

प्रश्न—सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यो हैं ?

उत्तर—उस सशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। एव यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषय नहीं है क्योकि इन सात प्रकारो से ही वस्तु का यथाथ ज्ञान उसमे प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव श्री भट्टाकलंकदेव ने इस सप्तभगी को स्याद्वादामृतगर्भिणी' कहा है।

शका—एक ही वस्तु मे विरुद्ध दो धम शीतउष्णस्पशवत् संभव नही हैं। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं है अन्यथा अनर्थ हो जावेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि जिस समय जीव द्रव्यदृष्टि स नित्य है उसी समय वही जीव पर्याय की दष्टि स अनित्य है। देखो ! जीव नित्य न होवें तो पुनजन्म में वही जीव नहीं जाव और यदि अनित्य नही होवें तो मनुष्य पर्याय का नाश और देव पर्याय का उत्पाद नही हो सकता है किंतु सभी आस्तिकवादी जीव का पुनजन्म एव उत्पाद विनाश मानते हैं ऐसे अनेकों विरोधी धम अपेक्षा की शैली स एक ही वस्तु मे रह जाते हैं बाधा नही आती है।

प्रश्न—यदि अनेकान्त मे भी यह विधि प्रतिषध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्त में नास्तिभग प्रयुक्त होगा उस समय एकान्तवाद का प्रसग आ जावेगा और अनेकान्त मे भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था आ जाती है अत अनेकान्त को अनेकान्त नही कहना चाहिये।

उत्तर –अनेकान्त मे भी प्रमाण और नय की दष्टि स अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं।

एकान्त और अनेकान्त दोनों ही सम्यक और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं—सम्यक एकान्त मिथ्या एकान्त। सम्यक अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त।

सम्यक एकान्त—प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अश को युक्ति सहित नय की विवक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक एकान्त है। जैस—जीव निश्चयनय से शुद्ध है या व्यवहार नय से अशुद्ध है। इस सम्यक नय भी कहते हैं।

मिथ्या एकान्त—वस्तु के एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है जैस वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, या सर्वथा नित्य ही है, यह दुर्नय है।

सम्यक अनेकान्त—एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों का ग्रहण करने

वाला सम्यक अनेकान्त है। जैसे जीव अनन्त धर्मात्मक है।

मिथ्या अनेकान्त—वस्तु को अस्ति नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है।

इन चारों में सम्यक एकान्त नय कहलाता है एवं सम्यक अनेकांत प्रमाण कहलाता है।

[तत्वार्थ वा]

यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जाय और एकात का लोप किया जावे तो सम्यक एकांत के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकात का भी अभाव हो जावगा और यदि एकांत ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जावगा। अत —

अनेकान्तोऽप्यनेकान्त· प्रमाणनयसाधन ।
अनेकान्त प्रमाणात्त तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

[स्वयंभूस्तोत्र]

अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है क्योकि प्रमाण और नय से सिद्ध है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकात अनेकान्त रूप है एव अर्पित विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप है। इस प्रकार से अनेकांत में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—

अनेकान्त कथञ्चित् अनेकान्त रूप है क्योकि प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथञ्चित एकान्त रूप है क्योकि सम्यक नय की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथञ्चित् उभय रूप है।

अनेकान्त कथञ्चित् अवक्तव्य है इत्यादि। अनेकान्त छल रूप एव संशय रूप नही हैं।

कोई कोई अनेकान्त को सर्वधर्म समन्वयवाद कहकर सभी मिथ्या एकान्त धर्मों को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं किंतु वास्तव में ऐसी बात नही है क्योकि कथञ्चित् शली स एक वस्तु मे अनेकों धर्मों को प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि से अविरुद्ध सिद्ध करना अनेकान्त है न कि मिथ्या एकान्तो का समन्वय करना। इसलिये सामान्य सत् की अपेक्षा से सभी वस्तुयें एक रूप हैं।

अवांतर सत्ता की अपेक्षा स सभी वस्तुयें पृथक पृथक अस्तित्त्व वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से सभी वस्तुयें नित्य है। पर्यायार्थिक नय से सभी वस्तुयें अनित्य है। इत्यादि।

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

इस प्रकार से प्रमेय समीक्षा नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

—०—

समाप्तोऽयं ग्रन्थ·

● श्री वीतरागाय नमः ●

रचयित्री विदुषी रत्न पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी
(प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज संघस्था)

❀ मगल स्तुति ❀

जिनने तीन लोक त्रैकालिक सकल वस्तु को देख लिया।
लोकालोक प्रकाशी ज्ञानी युगपत सबको जान लिया॥
रागद्वेष जर मरण भयावह नहिं जिनका संस्पर्श करें।
अक्षय सुख पथ के वे नेता जग में मगल सदा करें॥१॥

चन्द्र किरण चन्दन गंगा जल से भी जो शीतल वाणी।
जन्म मरण भय रोग निवारण करने में है कुशलानी है॥
सप्तभंग युत स्याद्वाद मय गंगा जगत पवित्र करें।
सबकी पाप धूली को धोकर जग में मगल नित्य करें।२।

विषय वासना रहित निरंबर सकल परिग्रह त्याग दिया।
सब जीवों को अभय दान दे निभय पद को प्राप्त किया॥
भव समुद्र में पतित जनों को सच्चे अवलम्बन दाता।
वे गुरुवर मम हृदय विराजो सब जन को मंगल दाता।३।

अनंत भव के अगणित दुःख से जो जन का उद्धार करे।
इन्द्रिय सुख देकर शिव सुख में ले जाकर जो शीघ्र धरें।
धर्म वही है तीन रत्नमय त्रिभुवन की सम्पत्ति देवे।
उसके आश्रय से सब जन को भव भव में मंगल होवे॥४॥

श्री गुरु का उपदेश ग्रहण कर नित्य हृदय मे धारें हम।
क्रोध मान मायादिक तजकर विद्या का फल पावें हम॥
सबसे मैत्री दया क्षमा हो सबसे वत्सल भाव रहे।
सम्यक 'ज्ञानमति' प्रगटित हो सकल अमंगल दूर रहे।५।